संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी — कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, एल० एन० गिरधारीलाल हाइअर सैकण्डरी स्कूल, दिल्ली।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, वाइस-प्रिंसिपल, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, बेलूर।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, डी० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम०ए०, बी० काम०, भू० लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०, लोहारदगा।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०, डी०एस-सी० (लंदन), प्रोफ़ेसर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्स् एण्ड क्राफ़्ट्स्, लखनऊ।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास, बिड़ला कालेज, पिलानी।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास टेकनालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

डा० इबादुर रहमान ख़ाँ, पी-एच० डी० (लंदन), भू० प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ भू० जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

श्री० भैरवनाथ झा, बी० एस०-सी, बी० एड० (एडिन०), सेक्रेटरी, बोर्ड ऑफ हाईस्कूल एण्ड इंटरमीडिएट एजूकेशन, यू० पी०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी,

चारबाग़, लखनऊ.

पृथ्वी की कहानी

पृथ्वी की रचना

पेड़-पौधों की दुनिया

जानवरों की दुनिया

मनुष्य की कहानी

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

साहित्य-सृष्टि

पृष्ठ

देश और जातियाँ

मानव विभूतियाँ

अमर कथाएं

विश्व
की कहानी

पाश्चात्य पद्धति के अनुसार बारह राशिचक्र और उनको सूचित करनेवाले तारा-समूह-भारतीय राशियों की संख्या और क्रम भी बिल्कुल यही है, तथा उनके प्रतीक भी इनसे मिलते-जुलते ही हैं। हाँ, यहाँ की तरह पाश्चात्य राशिमंडल बराबर-बराबर राशियों में विभाजित नहीं माना जाता।

सौर जगत् से परे—नक्षत्रों की दुनिया या तारा-समूह

इस स्तंभ के अंतर्गत पिछले प्रकरणों मे अब तक हमने सूर्य और सौर परिवार के अन्य सदस्यों का ही परिचय पाया है, किन्तु आकाश में तो प्रत्येक स्वच्छ रात्रि में हम अनगिनत ज्योतिष्पिण्ड चमचमाते हुए देखते हैं! तो वे सब क्या है? आपको यह जानकर अचरज होगा कि हमारा सूर्य और उसका परिवार तो विशद ब्रह्माण्ड का एक अत्यन्त लघु भाग है—उससे परे उस जैसे न जाने कितने और सूर्य अंतरिक्ष में चक्कर काट रहे हैं, जो दूर से हमें तारो के रूप में टिमटिमाते हुए दिखाई पड़ते हैं। अब हमें इन्हीं का अध्ययन करना है।

किस हिन्दू ने मेष, वृष आदि राशियों का, या मृगशिरा, आर्द्रा आदि नक्षत्रों का, या ध्रुव, अगस्त्य आदि तारो का नाम नहीं सुना होगा? ये राशियाँ, ये नक्षत्र, ये तारे आकाश मे कहाँ हैं, यह जानना अवश्य ही रोचक होगा। तारो की पहचान व्यावहारिक रूप से भी उपयोगी होती है। उनसे दिशा, समय आदि का ज्ञान हो सकता है। इसके अतिरिक्त उल्काओं के मार्ग का सूक्ष्म रूप से वर्णन करने के लिए भी तारों का परिचय आवश्यक है। कई ज्योतिष-प्रेमी प्रायः प्रत्येक रात को अपना बहुत-सा समय उल्का-मार्ग-निरीक्षण मे लगाते हैं। उन्हें अधिकाश तारों का नाम ज्ञात रहना आवश्यक है।

तारा-समूह

तारों को अत्यंत प्राचीन काल से ही विशेष समूहों में बाँट दिया गया है, जिन्हें 'तारा-समूह' कहते हैं। इन तारा-समूहों का नाम भी रख दिया गया है। इनमे से अधिकांश नाम परिचित पशु-पक्षियों के हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष तारा-समूह के तारे ऐसी स्थितियों मे हैं कि उन्हे देखने पर उनके नामवाले जंतु का ही बोध होता है। उदाहरणतः, सिह और कन्या नामक तारा-समूहों पर आपकी दृष्टि कभी-न-कभी अवश्य पड़ी होगी, परंतु आपको कभी भी यह न सूझा होगा कि उनकी आकृति सिह या कन्या-सी है। बात यह जान पड़ती है कि
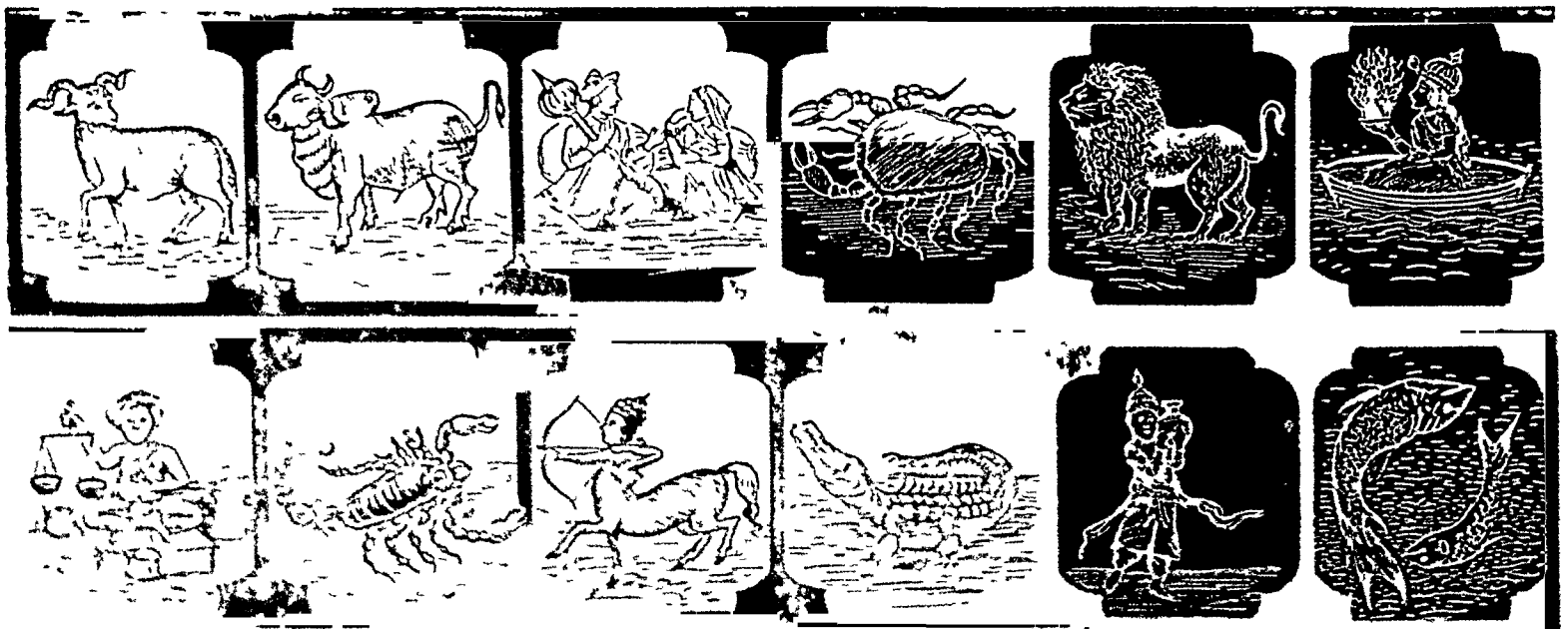
भारतीय पञ्चाङ्ग में प्रयुक्त बारह राशियों के प्रतीक या चिह्न
प्रथम पंक्ति—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या। द्वितीय पंक्ति—तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन।
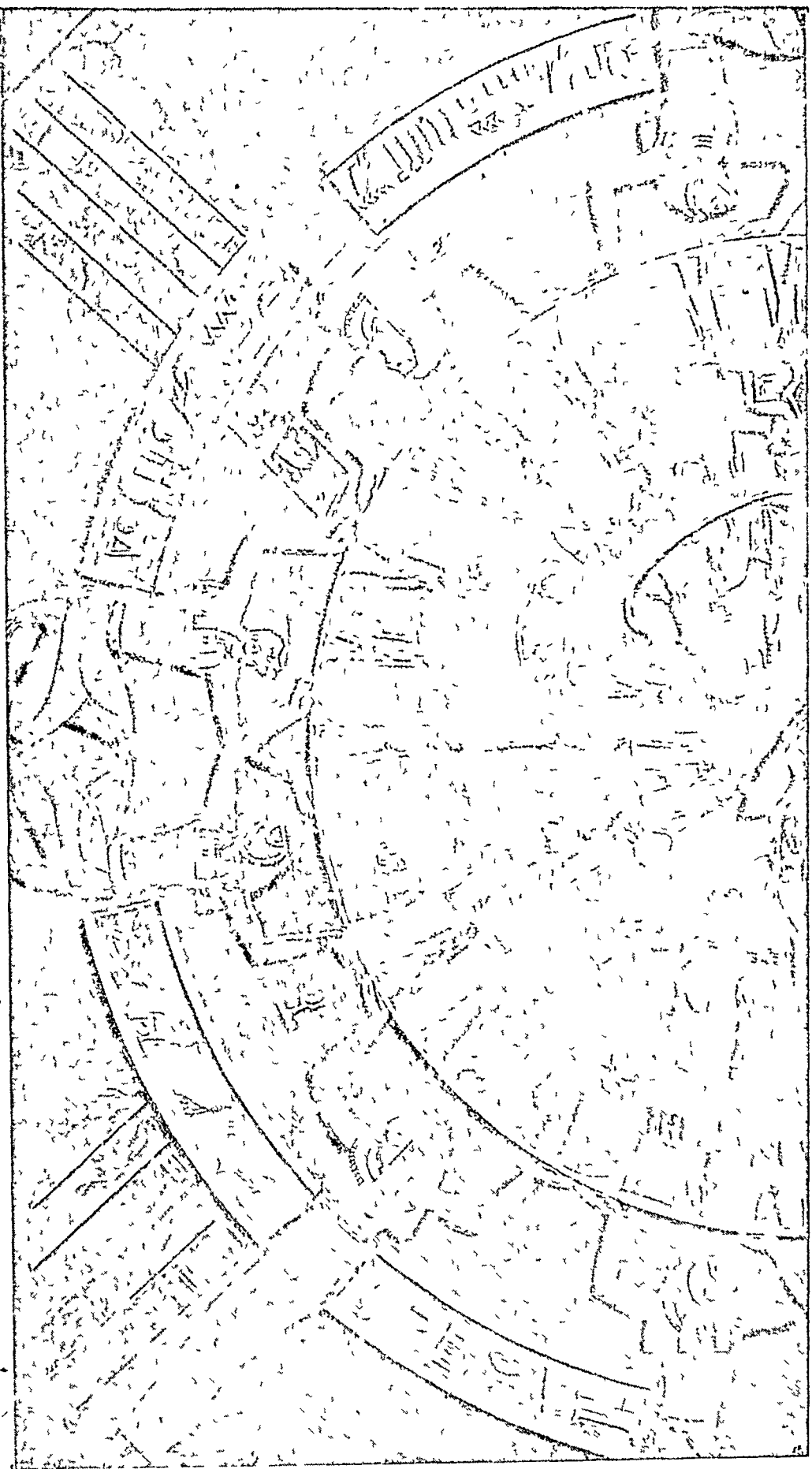
मिस्री राशिचक्र का द्योतक एक पाषाण-चित्र—(१) मेष से कन्या राशि तक

यह देन्देरा नामक स्थान में प्राप्त मिस्र के एक सुप्रसिद्ध वर्त्तुलाकार राशिचक्र के पाषाण-चित्र का आधा अंश है, इसका शेष अर्ध-भाग अगले पृष्ठ पर दिया गया है। कृपया इन दोनो भागों को मिलाकर देखिए। राशियो तथा अन्य तारा-समूहो के प्रतीक इस पाषाण-चित्र के मध्य भाग मे अंकित गोल घेरे में छोटी-छोटी प्रतिमाओं के रूप में दिए गए है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत अंश मे मेष से कन्या तक की राशियाँ तथा अन्य कुछ तारा-समूहो के चिह्न दिग्दर्शित हैं। इन चित्रो मे राशियो अथवा तारा-समूहों के प्रतीको की स्थिति, आकार-प्रकार आदि एकदम सही नहीं हैं, जैसा कि इस बात से प्रकट है कि मेष और वृष दोनो उलटे दिए गए हैं और वृष की आकृति आधी न होकर पूरी है। सबसे मनोरंजक चित्र तो 'कन्या' का है, जो सिंह की दुम को पकडकर उस पर खडी दिखाई गई है।

जब तारा-समूहों को कोई-न-कोई नाम देना ही था तो निरर्थक नवीन गढ़े हुए शब्द न लेकर परिचित शब्द ही चुने गए। हॉ, कहीं-कहीं तारों की स्थितियॉ ऐसी अवश्य हैं कि उनको देखकर किसी भावुक ज्योतिषी को किसी विशेष जीवधारी का स्मरण हो आया होगा।

इस तरह रखे गए सभी नाम पशु-पक्षियों के ही नही हैं, कुछ नाम देवी-देवताओं के हैं और कुछ निर्जीव वस्तुओं के भी। यह बात तारा-समूहों की वर्त्तमान पाश्चात्य नामावली के बारे मे है। भारतवर्ष मे सारा आकाश विधिवत् तारा-समूहों मे बॉट दिया गया था या नहीं, और यदि बॉट दिया गया था तो उनके नाम क्या थे, यह सब अब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भारत के प्राचीन साहित्य को देखकर अब इतना ही ज्ञात किया जा सकता है कि विशेष तारों और तारा-समूहों के पृथक्-पृथक् नाम अवश्य थे। उन १२ तारा-समूहों के नाम, जिनके बीच होकर सूर्य अपने वार्षिक मार्ग पर चलता है, ठीक ठीक वे ही हैं, जो पाश्चात्य देशों मे प्रचलित हैं।*

पाश्चात्य देशों की सूची टॉलमी (Ptolemy) नामक ज्योतिषी से मिली। यह प्रसिद्ध ज्योतिषी लगभग सन् १४० मे अलेक्ज़ेंड्रिया मे रहता था। वह बहुत अच्छा लेखक था और अपने समय के ज्योतिष-ज्ञान को अपनी पुस्तक मे ऐसे परिमार्जित रूप मे वह लिख गया कि वह बहुत समय तक ज्योतिषियों पर अपना सिक्का जमाए रहा। यवन भाषा मे लिखी उसकी मूल पुस्तक का तो लोप हो गया, परंतु उस पुस्तक का अरबी अनुवाद बचा रह गया है। इस पुस्तक का नाम 'अलमैजेस्ट' (Almagest) है, जिसका अर्थ है 'अतिश्रेष्ठ'। इस शब्द को अरबवालो ने एक यवन (ग्रीक) शब्द के पूर्व अपना उपसर्ग 'अल' लगाकर गढ लिया था। अरबी 'अल' का वही अर्थ होता है, जो अंग्रेजी में 'दी' (the) का।

प्रसिद्ध ज्योतिषी टॉलमी, जिसके तारा-समूहों की सूची बहुत दिनों तक पश्चिम मे मान्य रही।

इस पुस्तक मे ४८ तारा-समूहों का वर्णन है। इन समूहों मे ही सारे आकाश का बॅटवारा नहीं हो पाया था, क्योंकि दक्षिणी तारे सब के सब छूट गए थे। वे यूनान से दिखलाई भी नहीं पड़ते थे। उत्तरी आकाश मे भी कहीं कहीं स्थान छूट गया था। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे ये त्रुटियॉ प्रत्यक्ष होने लगी, परंतु बहुत समय तक टॉलमी की कृति में उधेड़बुन करना मानों पाप समझा जाता था। अंत मे कोई १५०० वर्ष बाद प्रसिद्ध ज्योतिषी टाइको ब्राही ने उसमें दो तारा-समूह और बढ़ा दिए। फिर तो मार्ग खुल गया और प्रत्येक यशस्काम ज्योतिषी उसमें एक-दो तारा-समूह बढ़ाने लगा—तीन ने तो क्रमानुसार १२, ११ और १४ तारा-समूह बढ़ा दिए। इस प्रकार सन् १८०० मे तारा-समूहों की संख्या ११२ हो गई। इस नामकरण-प्रथा से बड़ी गड़बड़ी मची, क्योंकि लोगों में एक मत नहीं था। एक ही तारा किसी के अनुसार एक समूह में था, तो किसी के अनुसार दूसरे मे। फिर कुछ समूहों के नाम ऐसे थे, जिन्हें दूसरे राष्ट्रवाले कभी मान ही नहीं सकते थे। धीरे-धीरे कई नाम छोड़ दिए गए और अब केवल ८८ तारा-समूह ही माने जाते हैं। इनकी सूची आगे दी गई है।

इतिहास

ऊपर कहा गया है कि तारा समूहों की योरपीय सूची के अधिकांश नाम टॉलमी से मिले हैं, परंतु स्वयं टॉलमी ने इन्हे नहीं गढ़ा था। उसने प्रायः सभी नामों को हिपार्कस की सूची से लिया था, जो लगभग ३०० वर्ष पुरानी थी। हिपार्कस की सूची स्वयं आराटस (Aratus) की एक कविता से ली गई थी, जो सन् २७० ई० पू० लिखी गई थी। यह कविता यूडॉक्सस की पुस्तक के आधार पर बनी थी, जो सन् ३८० ई० पू० लिखी गई थी। यूडॉक्सस ने अपनी पुस्तक मे तारा-समूहों का वर्णन उस खगोल-प्रतिमा से लिया था, जिसे वह मिस्र देश से ख़रीद लाया था। यूडॉक्सस के सैकड़ों वर्ष पहले लिखे होमर आदि के काव्य-ग्रंथों मे भी कहीं-कहीं विशेष तारा-समूहों की चर्चा है और वह भी उसी प्रणाली के अनुसार है, जो यूडॉक्सस की पुस्तक मे मिलती है। मिस्र देश मे यही प्रणाली और पहले से विद्यमान थी।

यह प्रणाली आई कहॉ से? लोगों का विश्वास है कि मिस्र और यवन देशों को यह प्रणाली बाबुल लोगो (Babylonians) से मिली और स्वयं बाबुलों को यह प्रणाली सुमेर लोगों (Sumerians) से मिली। कूगलर (Kugler) के अन्वेषणों से अब इसमे कोई भी संदेह नहीं रह गया है। ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व की मिट्टी की कई तख्तियॉ मिली हैं, जिनके लेखों मे उन तारा-

समूहों की ही चर्चा मिलती है, जो पीछे ग्रीस मे प्रचलित हुए। परंतु ध्यान रखना चाहिए कि समानता केवल उनकी आकृतियों मे है—मछली के स्थान पर मछली, मनुष्य के स्थान पर मनुष्य और स्त्री के स्थान पर स्त्री है; परंतु नामो मे बहुत भेद है। उदाहरणतः 'लीओ' (सिंह) और 'इक्वूलियस' (टट्टू) के बदले सुमेरी भाषा मे 'उरगुला' (= बड़ा कुत्ता) और 'सिसु' (= अश्व) शब्दों का प्रयोग किया गया है।

राशि और नक्षत्र

तारों के बीच सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह आकाश के जिस भाग मे चलते हैं, वह सँकरा मेखलाकार प्रदेश 'राशिचक्र' या 'राशिमंडल' (Zodiac) कहलाता है। इस चक्र को बारह बराबर भागो मे बाँटने पर प्रत्येक भाग को एक 'राशि' कहते हैं। यही भारतीय प्रथा है। इन राशियो के नाम क्रमानुसार मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ और मीन हैं। वस्तुतः ठीक-ठीक बराबर बारह भागो मे राशिचक्र को बाँटने की प्रथा पीछे पड़ी होगी। आरंभ मे संभवतः भारतवर्ष मे भी ये बारह भाग मोटे ही हिसाब से बराबर रहे होगे और मेष, वृष, मिथुन आदि केवल तारा-समूहों के नाम रहे होंगे। पीछे गणना की सुविधा के लिए भाग बराबर मान लिये गए होंगे। विदेश मे आज भी राशिचक्र के बारह भाग बराबर नही हैं; वे मेष, वृष आदि तारा-समूहों की छोटाई-बड़ाई के अनुसार ही छोटे-बड़े हैं। जब कभी कोई योरपीय ज्योतिषी कहेगा कि बृहस्पति वृष में है तो उसका अर्थ यह होगा कि बृहस्पति ग्रह कहीं उस तारा-समूह मे है, जिसका नाम वृष है; परतु जब कोई भी ज्योतिषी भारतीय पद्धति के अनुसार कहेगा कि बृहस्पति वृष मे है तो उसका अर्थ यह होगा कि राशिचक्र के १२ बराबर खंडो मे से बृहस्पति द्वितीय खड मे है।* इसीलिए यदि प्रथम अर्थ का सकेत करना हो तो उचित होगा कि

* प्रथम खंड तारों के हिसाब से कहाँ आरंभ होता है, इस पर विभिन्न भारतीय ज्योतिषियों में कुछ मतभेद है; परंतु इस प्रश्न पर कभी फिर विचार किया जायगा।
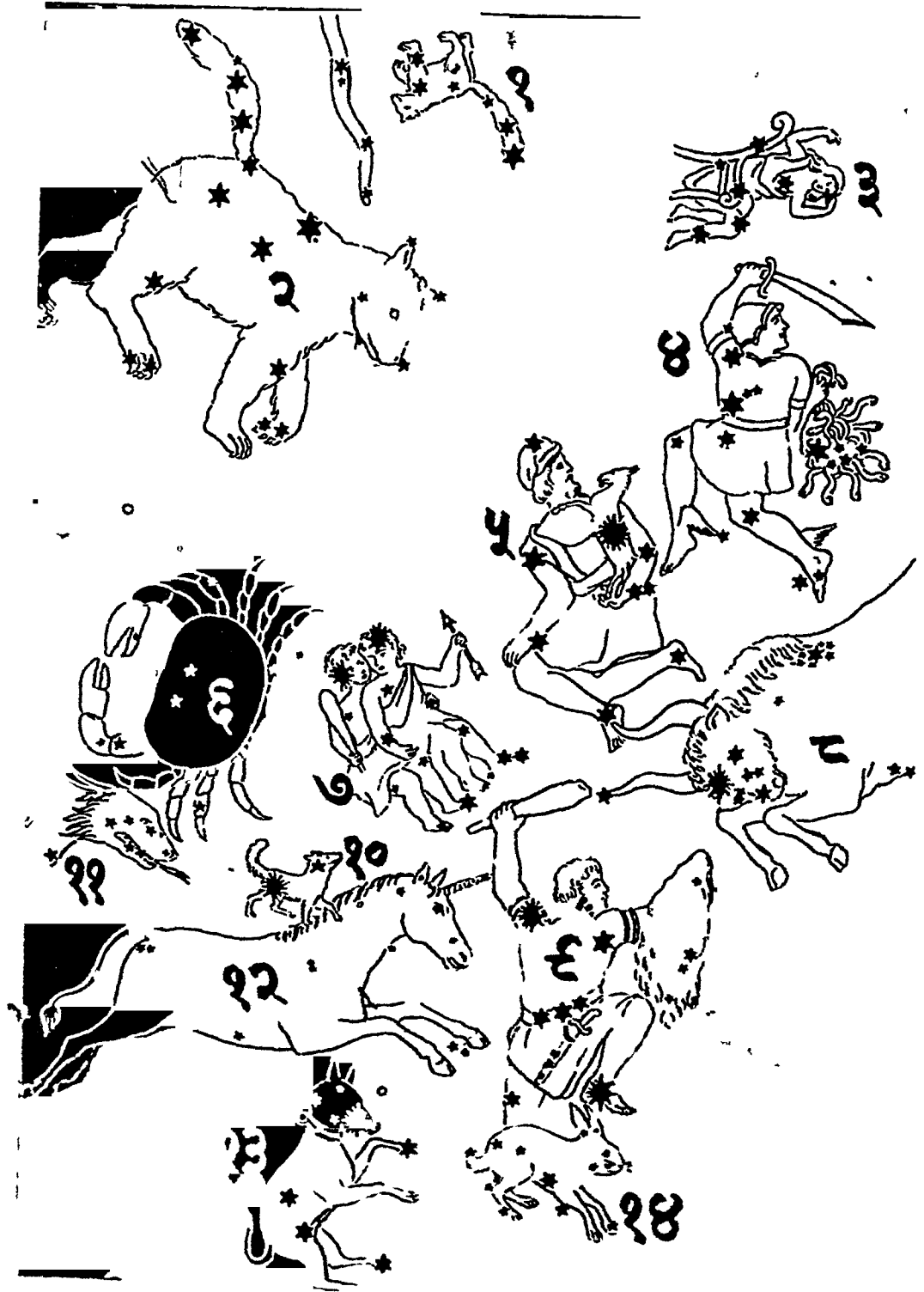
तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—( ) जाड म
१. लघु सप्तर्षि (Ursa Minor), २. सप्तर्षि (Ursa Major), ३. कश्यपी; ४. पारसीय; ५. रथी; ६. कर्क ७. मिथुन; ८. वृष; ९. आग्रहायण; १०. लघु कुक्कुर; ११. सर्प; १२. एकशृङ्ग; १३. बृहत् कुक्कुर; १४. शशक।

कहा जाय कि बृहस्पति बृष तारा-समूह (constellation) में है, या बृष राशिचिह्न (sign of the Zodiac) में है। जब भारतीय अर्थ को सूचित करना हो तभी कहना चाहिए कि बृहस्पति बृष राशि में है।

भारतवर्ष की प्राचीनतम पुस्तकों में राशियों की चर्चा नहीं है। उनमें इस मेखलाकार प्रदेश को, जिसे हम अब 'राशिमंडल' कहते हैं, २७ (कभी-कभी २८) बराबर भागों में बाँटकर प्रत्येक को एक नक्षत्र कहा गया है, परंतु यह निश्चित है कि आरंभ में 'नक्षत्र' शब्द उन २७ या २८ छोटे-छोटे तारा-समूहों के लिए ही प्रयुक्त होता था जो चंद्रमा के मार्ग के आसपास पड़ते हैं। इन छोटे तारा-समूहों को 'तारका-समूह' (asterism) कहते हैं। इनमें से किन्हीं भी दो सन्निकट तारा-समूहों को चुनने पर उनके बीच की दूरी कहीं कम, कहीं अधिक निकलने के कारण गणना करने में जब असुविधा हुई होगी तो नक्षत्र शब्द में लगभग वैसा ही अंतर आ गया होगा जो ऊपर राशि-चिह्न और राशि में बतलाया गया है। उपरोक्त दो अर्थों के अतिरिक्त नक्षत्र का एक अर्थ तारा भी है। केवल प्रसंग से ही पता चलता है कि किसी विशेष स्थान में नक्षत्र शब्द का क्या अर्थ है। चंद्रमार्ग के पास स्थित तारा-समूह के अर्थ में नक्षत्रों की चर्चा २५०० वर्ष ई०पूर्व के भारतीय ग्रंथों में वर्तमान है और राशियों की चर्चा ज्योतिष वेदांग में भी नहीं है, जिसका समय लगभग बारहवीं शताब्दी ई० पू० है। राशियों की चर्चा प्रथम बार सन् ५५० ईस्वी में लिखी वराहमिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में मिलती है और उनकी सूची ठीक यवनों की-सी है। इसी से समझा जाता है कि राशियों की प्रथा भारतवर्ष में ग्रीस से आई।

तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—(२) शरदकाल में
१. कश्यपी ; २. सप्तर्षि , ३. लघु सप्तर्षि ; ४. अजगर ; ५. मृगया-कुक्कुर ; ६. उत्तर किरीट; ७. हरकुलीश ; ८. वीणा ; ९. हंस ; १०. गरुड़ ; ११. सर्पधर ; १२. तुला ; १३. वृश्चिक ; १४. धनु।

राशिचक्र को १२ भागों में बाँटने का कारण यह है कि वर्ष में साधारणतः १२ बार पूर्णिमा होती है। चीनियों ने भी राशिचक्र को १२ भागों में बाँटा था, परंतु उनके नामों के अर्थ थे श्वान, कुक्कुट, वानर, मेघ, अश्व, सर्प, अजगर, शशक, व्याघ्र, वृष, मूषक और शूकर। गत तीन-चार सौ वर्षों से वहाँ भी मेष, वृष, मिथुन आदि राशिचिह्न चल रहे हैं।

राशिचक्र (वस्तुतः चंद्रमार्ग) को २७ या २८ भागों मे बॉटने का कारण यह है कि चंद्रमा तारो के हिसाब से एक चक्कर २७⅓ दिन मे लगाता है, और २७⅓ से निकटतम पूर्ण सख्याएँ २७ और २८ हैं। चीनियों और अरबनिवासियों मे भी २७ या २८ भागों मे राशिचक्र को बॉटने की प्रथा थी।

एक कठिन प्रश्न

हिंदी-लेखकों के लिए एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि नवीन तारा-समूहों के नामों के लिए क्या किया जाय; उनको ज्यों-का-त्यों उनके लैटिन रूप मे रखा जाय, अथवा उनका हिंदी या संस्कृत मे अनुवाद कर दिया जाय। लैटिन नामो के उपयोग में लाभ यह है कि अंग्रेज़ी पुस्तकें पढ़ते समय पाठक उनसे अपरिचित न रहेंगे। इस लाभ को कुछ लोग इतना महत्वपूर्ण समझते हैं कि वे लैटिन नामों को ही पसंद करते हैं, परन्तु दूसरी ओर यह देखना पड़ता है कि ८८ निरर्थक शब्दों से परिचित हो जाना हिंदी-पाठकों के लिए सुगम नहीं है। केवल इतना ही नहीं, इन शब्दों का षष्ठी रूप लेटिन व्याकरण के नियमों के आधार पर बनता है और इसलिए लगभग ८८ शब्दों को और याद रखना पड़ता है। उदाहरणतः मीन, कन्या और कुंभ नामक तारा-समूहों के लैटिन नाम क्रमानुसार पिसीज़ (Pisces), वर्गो (Virgo) और अक्वेरियस (Aquarius) हैं, परन्तु यदि यह कहना हुआ कि 'पिसीज़वाला वह तारा जो यूनानी अक्षर ज़ीटा द्वारा सूचित किया जाता है' तो ज़ीटा पिसियम (Piscium) कहा जायगा, न कि ज़ीटा पिसीज़। पिसियम का अर्थ है 'पिसीज़ का' और इस प्रकार ज़ीटा पिसियम का अर्थ है 'पिसीज़ का ज़ीटा'। यदि अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तकों को ठीक-ठीक समझना हो और अंग्रेज़ी मे ज्योतिष-संबंधी बातों को लिखना हो तो निस्संदेह पिसीज़ और पिसियम दोनो रूपों को जानना चाहिए और दोनों के भेदों को समझना चाहिए। परंतु प्रश्न यह है कि क्यों हिंदी के पाठकों के सिर पर यह झंझट मढ़ी जाय और ज्योतिष-ज्ञान की प्राप्ति से उत्पन्न उनके आनंद को इस प्रकार क्यों किरकिरा कर दिया जाय। लैटिन

तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—(३) ग्रीष्म में
१. रथी ; २. लघु सर्पधर ; ३. अजगर ; ४. पारसीय ; ५. कश्यपी ; ६. वीणा ; ७. हंस ; ८. अंतरमदा ; ९. खगाश्व ; १०. मेष ; ११. मीन ; १२. कुंभ और दक्षिण मीन ; १३. मकर ; १४. तिमि ; १

जानने से उन्हे क्या लाभ होगा ? यदि पाठकों मे से कभी किसी को अंग्रेजी मे ज्योतिष की पुस्तके पढनी ही पड़ेंगी तो वह चाहेगा तो इन्हे अपना सीख लेगा। उपरोक्त कठिनाइयॉ कोरी कल्पना मात्र नहीं हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' के श्रीशुकदेव पाडे, एम० एस-सी०, द्वारा सपादित ज्योतिष-सबधी खड मे प्रथमा और षष्ठी रूपों मे ख़ूब गडबडी हो गई है, तारा-समूहों के नाम मे कहीं एक रूप है तो कहीं दूसरा। यदि लैटिन मे हिंदी की तरह केवल एक विभक्ति लगाने से काम चल जाता—जैसे मीन का, कन्या का, इत्यादि, तब तो एक रूप जानने पर दूसरे के जानने मे कोई कठिनाई न पडती, परतु लैटिन मे सस्कृत के मीनस्य, कन्यायाः इत्यादि की तरह षष्ठी रूप बनाने के नियम शब्दानुसार पृथक्-पृथक् हैं।

लैटिन नामो को ज्यों-का-त्यों रखने मे एक छोटी-सी कठिनाई और भी है, और वह है उन शब्दो के शुद्ध उच्चारण की। उच्चारणो को हिंदी मे कैसे लिखा जाय ? यह निश्चय है कि रोमन अक्षरो मे लिखे एक ही लैटिन शब्द को अंग्रेज़, फ्रासीसी और जर्मन एक हो तरह से नही उच्चारण करेंगे, विभिन्न अग्रेजों के उच्चारणो मे भी कभी-कभी भेद रहता है (भिन्न-भिन्न पुस्तको मे दिए उच्चारणो से यह बात प्रत्यक्ष है)। फिर, एक ही उच्चारण को सुनकर या कोष मे देखकर विभिन्न प्रातो के भारतीय एक ही तरह से उस शब्द को न लिखेंगे। एक ही प्रात के लोगों मे भी समानता न होगी। उदाहरणतः, नागरी-प्रचारिणी सभा के उपरोक्त कोष मे वलपेक्युला (Vulpecula) को 'भल्पेक्यूला' लिखा है, केनीज वेनैटिसी (Canes Venatici) को 'केनेभिनाटीसी' और सिगनस (Cignus) को 'साइगनस' लिखा है। 'वी' के लिए 'भ' या 'इ' के बदले 'आई' लिखने से कितने लोग सहमत होंगे ?

लैटिन को ज्यों-का-त्यों लेने पर 'सर्प' अर्थवाले 'Serpens' को सरपेन्स (या ऐसा ही कुछ) लिखना पड़ेगा और उपरोक्त कोष मे ऐसा किया भी गया है, परतु इस कोष के भी सपादक की हिम्मत नहीं पडी है कि मेष, वृष, आदि प्राचीन नामों के बदले लैटिन नाम रक्खे। अब प्रश्न यह है कि जब 'एरिईज़' को मेष किया जा सकता है तो 'सरपेन्स' को सर्प या सर्पः क्यों न लिखा जाय ? हमारे आचार्यों ने जब कभी किसी विदेशी तारा-समूह को अपनाया था तो उसका नाम अपनी भाषा के अनुसार रख लिया था। बाबुलों ने सुमेरी नामों का अनुवाद कर लिया था, और मिस्रवालों ने बाबुल नामों का। यवनों ने भी अपनी ही भाषा के नाम रक्खे थे, तो फिर हिंदी मे हिंदी ही नाम क्यो न रक्खे जायॅ ?

ऊपर के कई कारणो पर विचार करके हमने यही निश्चय किया है कि यथासभव लैटिन शब्दों का हिंदी रूपातर कर लिया जाय। इस लेख के साथ जो नक्षत्र-सूची दी गई है, उसमे ये रूपातर दिए गए हैं। ठेठ हिंदी शब्दों के बदले अधिकतर सस्कृत शब्द इसलिए चुने गए हैं कि वे बॅगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं मे भी लिये जा सकें।

तारा-समूहों की सूची

(उच्चारण देवनागरी अक्षरों मे दिए गए है, परंतु बिना ' के ए, ऐ, ओ, ऑ के स्वरो को ह्रस्व और प्रत्येक शब्दखंड के अंतिम मात्रा-रहित अक्षर को हलन्त-युक्त समझना चाहिए।)

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिन्दी नाम	टिप्पणी
Andromeda	ऐन-ड्रॉम इ-डा ×	Andromedae	अंतरमदा † –	आयोपानरेश की लड़की !
Antlia	ऐण्ट'लि-आ	Antliae	पंप	वायु निकालने का यत्र (संस्कृत—'रिक्तीकर')।
Apus	ए'पस	Apodis	खग	
Aquarius	अ-क्वे'रि अस	Aquarii	कुंभ *	
Aquila	ऐक'वि-ला	Aquilae	गरुड़	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Ara	ऐ'रा	Arae	वेदी	
Aries	ए'रि-ईज़	Arietis	मेष *	= मेढा।
Auriga	ऑ-राइ'गा	Aurigae	रथी	
Bootes	बो-ओ'टीज़	Bootis	भूतेश †	बोओटीज़ = गौ चरानेवाला।
Caelum	सी'लम	Caeli	टंक	= पत्थर गढने की टॉकी।
Camelopardus	कै-मेल'ओ-पार्ड-अस	Camelopardi	जिराफ़	ऊँट की तरह चित्तीदार पशु (संस्कृत—'चित्रोष्ट')।
Cancer	कैन'सर	Cancri	कर्क *	= केकड़ा।
Canes Venatici	के'नीज़ वे-नैट'इ-सी (या इ की)	Canum Venaticorum	मृगयाकुक्कर	
Canis Major	के'निस मे'जर	Canis Majoris	वृहत् कुक्कुर	
Canis Minor	के'निस माइ'नर	Canis Minoris	लघु कुक्कुर	
Capricornus	कैप-रि कॉर'नस	Capricorni	मकर *	मकर = मगर; कैप्रिकॉर्नस= बकरा; परतु प्राचीन चित्रो मे इस बकरे का पिछला शरीर मछली सा बना रहता था। अंग्रेज़ी मे इसे 'Sea-goat' कहते हैं।
Carina	क-री'ना	Carinae	नौतल	नौका का तल। नौतल, दिक्-सूचक, नौपृष्ठ और नौवस्त्र मिलकर पहले नौका (Argo) कहलाते थे।
Cassiopeia	कैस-इ-ओ-पी'या	Cassiopeiae	कश्यपी –	आयोनानरेश की पत्नी।
Centaurus	सेन-टॉ'रस	Centauri	किन्नर	सेटॉरस(ग्रीक शब्द 'केएटॉरस' से)=घोड़ा, जिसके सिर और गरदन के बदले मनुष्य का सिर, धड़ और हाथ होना माना जाता था।
Cepheus	सी'फ़्युन; सी'फ़ीयस	Cephei	सुपूज्य	आयोनानरेश।

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिन्दी नाम	टिप्पणी
Cetus	सी'टस	Ceti	तिमि †	(संस्कृत) तिमि = ह्वेल। इसको पारसीय ने मारा था।
Chamaeleon	का-मी'लि-अन	Chamaelontis	गिरगिट	(संस्कृत) कृकलास।
Circinus	सर'सि-नस	Circini	परकार	= वृत्त खींचने का यंत्र।
Columba	को-लम'बा	Columbae	कपोत	
Coma Berenices	को'मा वेरे-नाइ'सीज़	Comae Berenices	केश	
Corona Australis	को-रो'ना ऑस-ट्रे लिस	Coronae Australis	दक्षिण किरीट	
Corona Borealis	को-रो'ना बो-रि-ऐ'लिस	Coronae Borealis	उत्तर किरीट	
Corvus	कॉर'वस	Corvi	काक	
Crater	क्रे'टर	Crateris	चषक	= प्याला।
Crux	क्रक्स	Crucis	स्वस्तिक	
Cygnus	सिग'नस	Cygni ‡	हंस †	
Delphinus	डेल-फाइ'नस	Delphini	उलूपी	एक प्रकार का मत्स्य ; सूँस।
Dorado	डो-रा'डो	Doradus	खड्गमत्स्य	नागरीप्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' से।
Draco	ड्रे'को	Draconis	अजगर	नागरीप्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' से।
Equuleus	इ क्वू'लि-अस	Equulei	टट्टू	
Eridanus	ए-रिड'आ-नस	Eridani	वैतरणी	
Fornax	फॉर'नैक्स	Fornacis	भट्ठी	(सस्कृत) भ्राष्ट्र या अग्निकुंड।
Gemini	जेम'इ-नाइ	Geminorum	मिथुन *	एक साथ उत्पन्न बच्चे। पश्चिम के चित्रों मे दो भाई और भारतवर्ष मे एक स्त्री और दूसरा पुरुष बना रहता है।
Grus	ग्रस	Gruis	बक	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Hercules	हर'क्यू-लीज़	Herculis	हरकुलिश †	यवन वीर, जिसने १२ अद्भुत कर्म किए थे। आराटस की सूची में नाम कुछ और ही था। नवीन नाम पीछे पड़ा।
Horologium	हॉर-ओ-लो'जि-अम	Horologii	होरामाप	= घड़ी
Hydra	हाइ'ड्रा	Hydrae	जलसर्प	
Hydrus	हाइ'ड्रस	Hydri	जलसर्पिणी	पहले यह समूह जलसर्प वाले समूह में सम्मिलित था। हाइ-ड्रस और हाइड्रा प्रायः पर्याय-वाची हैं।
Indus	इन'डस	Indi	सिंधु	
Lacerta	ला-स'रटा	Lacertae	सरट	= छिपकली।
Leo	ली'ओ	Leonis	सिंह ❊	
Leo Minor	ली'ओ माइ'नर	Leonis Minoris	लघु सिंह	
Lepus	ले'पस	Leporis	शशक †	= खरगोश।
Libra	लाइ'ब्रा	Librae	तुला ❊	
Lupus	ल्यू'पस	Lupi	वृक	
Lynx	लिङक्स	Lyncis	विडाल	= बनबिलाव।
Lyra	लाइ'रा	Lyrae	वीणा	
Mensa	मेन'सा	Mensae	पठार	पूरा नाम है मॉन्स मेन्सा, अर्थ है पठारी पहाड़।
Microscopium	माइ-क्रो-स्को'पि-अम	Microscopii	सूक्ष्मदर्शक	
Monoceros	मो-नॉस'एर-ऑज़	Monocerotis	एकशृङ्ग	एक सींगवाला काल्पनिक जंतु।
Musca	मस'का	Muscae	मक्षिका	
Norma	नॉर'मा	Normae	गोनिया	बढ़ई का समकोणमापक यंत्र।

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Octans	ऑक'टैन्ज़	Octantis	अष्टमाश	(ना० प्र० वै० शब्दावली से) एक कोणमापक यत्र।
Ophiucus	ऑफ-इ-यू'कस	Ophiuchi	सपधर	
Orion	ओ राइ'अन	Orionis	आग्रहायण *	एक शिकारी जिसकी चर्चा यवन साहित्य मे है। ब्राउन को सदेह है कि यह शब्द ग्रीक न होकर अक्कादी भाषा के 'उरु-अत' का रूपातर है। 'आग्रहायण' प्राचीन सस्कृत शब्द है, अर्थ है वर्षारभवाला। जब पूर्णिमा के समय चद्रमा इस समूह मे रहता था तो वर्ष आरभ होता था।
Pavo	पे'वो	Pavonis	मयूर	
Pegasus	पेग'आ-सस	Pegasi	खगाश्व	=उडनेवाला घोडा। एक कथा के अनुसार पारसीय (Perseus) इसी पर चढकर अतरमदा को बचाने आया था। दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने इसका नाम 'उच्चैश्रवा' रक्खा है, परतु यह उचित नही जान पडता, क्योकि यह इद्र का घोडा था।
Perseus	पर'स्यूस या पर'सी-अस	Persei	पारसीय †	यवन वीर, जिसने आयोपानरेश की लडकी को तिमि (Cetus) से बचाया था और तब उससे विवाह किया था।
Phoenix	फी'निक्स	Phoenicis	गृध्र	काल्पनिक गृध्र, जो अमर माना जाता है और जलकर भस्म हो जाने पर फिर जी उठता है।
Pictor	पिक'टॅर	Pictoris	चित्रकार	
Pisces	पिस'ईज़	Piscium	मीन *	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Piscis Australis	पिस'इस ऑस-ट्रे'लिस	Piscis Australis	दक्षिण मीन	
Puppis	प्यूप'इस	Puppis	नौपृष्ठ	= नौका का पिछला भाग।
Pyxis	पिक'सिस	Pyxis	दिक्सूचक	= नाविकों का दिक्सूचक यंत्र। पहले इसका नाम था मे'लस (Malus)= (नाव का) मस्तूल।
Reticulum	री-टिक'यु-लम	Reticuli	जाल	
Sagitta	सा-जिट'आ	Sagittae	सायक	= बाण।
Sagittarius	साज-इ-टे'रि-अस	Sagittarii	धनु *	
Scorpio	स्कॉर'पि-ओ	Scorpii	वृश्चिक *	= बिच्छू।
Sculptor	स्कल्प'टर	Sculptoris	शिल्पी	= पत्थर गढकर मूर्त्ति बनानेवाला।
Scutum	स्क्यू'टम	Scuti	ढाल	
Serpens	सर'पेन्ज	Serpentis	सर्प	
Sextans	सेक्स'टैन्ज	Sextantis	षष्ठमांश	एक कोणमापक यंत्र।
Taurus	टॉ'रस	Tauri	वृष *	= सॉड।
Telescopium	टेले-स्को'पि-अम	Telescopii	दूरदर्शक	
Toucan	टू'कन	Toucanis	चक्रवाक	वस्तुतः टूकन अमेरिका का एक पक्षी है, जिसकी चोंच बहुत बडी होती है। यह तारा-समूह बहुत दक्षिण मे है। इसका नाम वेयर ने रक्खा था।
Triangulum	ट्रि-ऐन'ग्यु-लम	Trianguli	त्रिकोण	
Triangulum Australe	ट्रि-ऐन'ग्यु-लम ऑस्ट्रे'ली	Trianguli Australis	दक्षिण त्रिकोण	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Ursa Major	उर'सा मे'जर	Ursae Majoris	सप्तर्षि *	उर्सा = भालू ; मेजर=बड़ा। सुमेर लोग इसे मरगिड्डा = (रथ) कहते थे। भारतीय 'सप्तर्षि' कहते हैं।
Ursa Minor	उर'सा माइ'नर	Ursae Minoris	लघु सप्तर्षि †	उर्सा = भालू ; माइनर = छोटा। सुमेर लोग इसे छोटा रथ मानते थे।
Vela	वी'ला	Velorum	नौवस्त्र	= नौका का पाल
Virgo	वर'गो	Virginis	कन्या *	
Volans	वो'लैन्ज़	Volantis	उड्डंकू	= उड़नेवाली। पूरा नाम Piscis Volans = उड़नेवाली मछली।
Vulpecula	वल-पेक'यु-ला	Vulpeculae	लोमश	= लोमड़ी।

× उच्चारण नार्टन के 'नक्षत्र-मानचित्र' (Norton's Star Atlas) से लिये गए हैं। जहाँ दो उच्चारण हैं, वहाँ दोनों इसी पुस्तक से लिये गए हैं। स्थानाभाव के कारण षष्ठी रूपों के उच्चारण यहाँ नहीं दिए गए हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे उपरोक्त पुस्तक में देखें।

† जिन नामों के आगे ऐसा चिह्न है, वे श्री० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव की पुस्तक (सूर्यसिद्धांत विज्ञानभाष्य) से लिये गए हैं।

* जिन नामों के आगे ऐसा चिह्न है, वे अत्यंत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं।

– प्रॉक्टर (Proctor) के अनुसार ये नाम प्राचीन हैं। अपने 'Star Lessons' में वह लिखता है कि विल्फोर्ड का कथन है कि "[An Indian astronomer] brought me a very rare and curious work in Sanskrit with drawings of *Capuja* (Cepheus) and *Casyapi* (Cassiopeia) seated and holding a lotus flower in her hand, of *Antarmada* chained with the fish (Cetus) beside her, and of *Parasiea* (Perseus) who held the head of a monster which he had slain" इससे पता चलता है कि उस समय 'सीफ़ियस' के लिए संस्कृत में 'कपूज' शब्द था। क और स का अंतर कई शब्दों में है, क्योंकि ग्रीक का 'क' लैटिन में अकसर 'स' हो जाता है। उदाहरणतः, केण्ट्रॉन (ग्रीक), सेण्टर (लैटिन द्वारा केण्ट्रान से ही निकला अंग्रेज़ी शब्द) और केन्द्र (संस्कृत) शब्दों की तुलना कीजिए। इसी प्रकार सीटस (Cetus) का अरबी नाम केतस था। कोई आश्चर्य न होगा यदि कभी प्रमाण मिले कि संस्कृत केतु (सूर्य और चंद्रमा को निगलनेवाला राक्षस) भी वस्तुतः यही शब्द है। उपर्युक्त समता के कारण और इस बात से भी कि प्रसिद्ध यवन विद्वान् पिथागोरस भारतवर्ष आया था, प्रॉक्टर का विश्वास था कि ग्रीस में राशियों का ज्ञान भारतवर्ष से गया था।
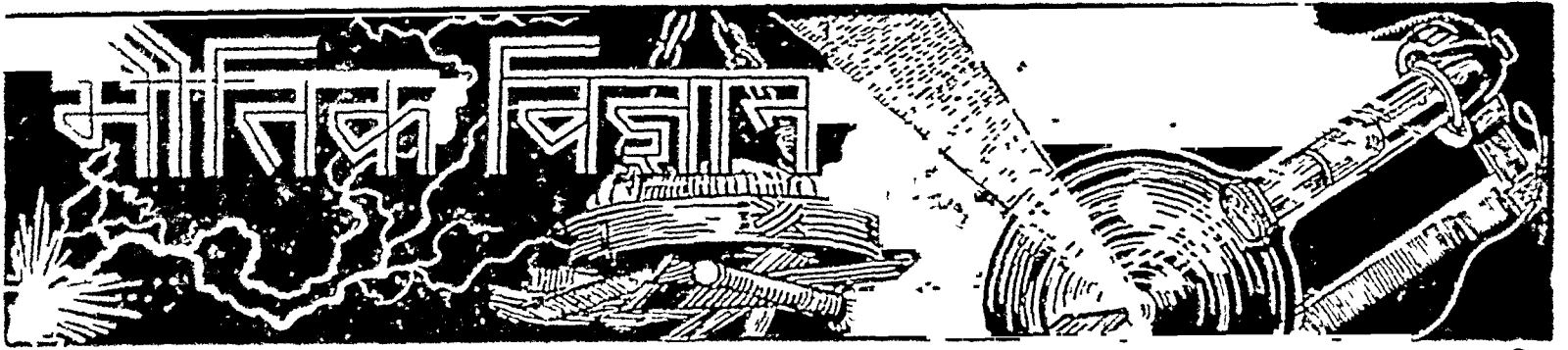
संगीतमय ध्वनि का उत्पादन और वाद्ययंत्र

इस स्तंभ के अन्तर्गत पिछले कुछ प्रकरणों में यह बताया जा चुका है कि ध्वनि क्या चीज़ है, किस प्रकार कंपन द्वारा उसकी लहरें उत्पन्न होती हैं और किन नियमों के अनुसार उसका गमनागमन और परावर्त्तन होता है। आइए, प्रस्तुत प्रकरण में यह जानने का यत्न करें कि विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों द्वारा जो सुरीली ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं, वे किस प्रकार पैदा होती हैं।

संगीतमय ध्वनि और निरे कोलाहल का अन्तर तो संगीतकला से अनभिज्ञ व्यक्ति भी काफी समझता है। संगीत की सुरीली ध्वनियाँ किसके मन को नहीं मोह लेतीं? किन्तु आपने कभी यह भी सोचा है कि अनाड़ी के हाथ से हारमोनियम में से कर्कश ध्वनि क्यों निकलती है, जबकि उसी वाद्ययंत्र से गुणी संगीतज्ञ ऐसी सुमधुर ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, जिन्हें सुनकर हमारा मन मोर की तरह नाच उठता है?

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। सायकिल को उसके स्टैण्ड पर खड़ी करके उसके पिछले पहिए को धीरे-धीरे घुमाइए। तब लकड़ी के एक पतले डण्डे के सिरे को पहिए की तीलियों पर टिका दीजिए—तुरन्त 'कट' 'कट' की आवाज आपको एक के बाद दूसरी सुनाई पड़ेगी। अवश्य ही यह आवाज़ निरी कर्कश लगती है। अब पहिए को खूब तेजी के साथ घुमाइए। आप देखेंगे कि तीलियों की 'कट' 'कट' भी अब जल्दी-जल्दी होने लगती है, साथ ही यह आवाज अब अलग-अलग न सुनाई देकर एक मधुर ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। अतः कर्कश ध्वनि और संगीत में हम यह अन्तर पाते हैं कि सुरीली ध्वनियों के लिए ध्वनि उत्पादक का कम्पन नियमित रूप से प्रति सेकण्ड समान संख्या में देर तक होते रहना चाहिए। कोलाहल का बोध हमें उस दशा में होता है जबकि ध्वनि-उत्पादक का कम्पन अनियमित तथा क्षणिक होता है। हाथ से कांच का गिलास फर्श पर गिरकर [illegible] आवाज़ उत्पन्न करता है, और यह आवाज तुरन्त ही मर-सी जाती है। इसके विपरीत सितार के तार को उँगली से एक बार छेड़ कर छोड़िए, आप देखेंगे कि काफी देर तक तार का नियमित कम्पन जारी रहेगा और उससे उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरें हमारे कानों तक पहुँचती रहेंगी। इसी कारण उसकी ध्वनि हमें सुरीली मालूम होगी।

कोलाहल में विभिन्न कम्पन-संख्याओं की ध्वनियाँ बिना किसी क्रम में मिली-जुली रहती हैं। उनका कोई हिसाब नहीं होता। किन्तु सुरीली ध्वनि यदि शुद्ध स्वर की हुई तो उसकी कम्पन-संख्या कोई एक निश्चित् संख्या ही होगी अथवा यदि मिश्रित स्वर की सुरीली ध्वनि में ऐसी ध्वनियाँ मिली होंगी तो उनकी कम्पन-संख्या में पूर्णांकों का अनुपात होगा।

संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करने के निमित्त विभिन्न प्रकार के अनेक वाद्ययंत्र का निर्माण किया गया है। इन वाद्य-यंत्रों को हम मुख्यतः तीन श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं—वायुजनित स्वरयंत्र, रज्जुनिर्मित स्वरयंत्र तथा चमड़े से मढ़े हुए यंत्र। प्रथम श्रेणी में बाँसुरी, अलगोजा, हार-मोनियम तथा ऑर्गन आते हैं: द्वितीय में बेला, सारंगी और सितार आदि; तीसरी श्रेणी में ढोल, नगाड़ा और तबला।

वायुजनित स्वरयंत्रों के सिद्धान्त को समझने के लिए निम्न प्रयोग सहायक हो सकता है। एक चौड़े मुँह की नली लीजिए, जिसके मुँह दोनों ओर से खुले हों। अब एक ओर इसके मुँह पर हथेली से आघात करके उसे बन्द कर दीजिए—आप 'पप' की-सी आवाज़ सुनेंगे। यदि तेज़ी से बार-बार ऐसा आघात आप करें, तो नली के भीतर की वायु में उतनी ही बार कम्पन होगा और फल-स्वरूप एक मधुर संगीतमय ध्वनि नली में से बाहर की हवा में फैलेगी। यही बाँसुरी की ध्वनि का सिद्धान्त है।

बाँसुरी के मुँह पर, जहाँ उसमें हवा प्रवेश करती है, लगभग आधा इंच की दूरी पर एक तिरछी कटी रहती है।

इस झिरी की पतली धार वायु के वेगपूर्ण आघात के कारण कम्पन करने लगती है। इसकी निरन्तर कम्पन ही बाँसुरी के अन्दर की वायु में कम्पन उत्पन्न करके सुरीली ध्वनि की लहरे उत्पन्न करती है। वस्तुतः नली की लम्बाई पर उसके अन्दर की वायु मे उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरों की कम्पन-गति और लहर-लम्बाई निर्भर करती है। फिर ध्वनि की तीक्ष्णता तथा कोमलता भी उसकी कम्पन-गति तथा लहर-लम्बाई पर ही आश्रित होती है। कम्पन-गति यदि प्रति सेकण्ड अधिक हुई तो उसकी लहर-लम्बाई उसी अनुपात मे कम हो जाती है (देखो पृष्ठ २२८२), और स्वर की तीक्ष्णता बढ जाती है। बाँसुरी की कम्पित वायु की लम्बाई को कम-अधिक करने के लिए उसमें कई सूराख़ बने रहते हैं। आरम्भ के सूराख़ों को बन्द करके बाँसुरी की कम्पित वायु की लम्बाई बढाई जा सकती है। ऐसा करने से बाँसुरी के स्वर की तीक्ष्णता कम हो जाती है, उससे अपेक्षाकृत कोमल स्वर निकलता है। इसके प्रतिकूल यदि सभी सूराख़ खोल दिये जॉय तो बाँसुरी मे प्रवेशद्वार से प्रथम सूराख़ तक की ही वायु कम्पित होगी और उसका स्वर ऊँचा चढ जायगा। अतः इच्छानुसार इन सूराख़ों को बन्द करके या खोलकर भिन्न-भिन्न स्वर निकाले जा सकते हैं। कम्पित वायु की लम्बाई आधी करने से स्वर दूना ऊँचा चढ जाता है, और तिहाई करने से तीन गुना ऊँचा।

पाश्चात्य देशों के वाद्ययन्त्रों मे 'ऑर्गन' नामक यत्र को एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। एक बड़े आकार के 'ऑर्गन' मे बाँसुरी के सिद्धान्त पर कई हज़ार छोटी-बडी नलियाँ लगी रहती हैं। इन नलियों मे हवा फूँकने के लिए हारमोनियम की भाँति 'भाथी' (Bellows) लगी रहती है। विभिन्न 'वाल्वों' की सहायता से सगीतज्ञ चाहे जिस ऑर्गन-नली मे बारी-बारी से वायु को वेग के साथ भेज सकता है। अमेरिका के अटलान्टिक नगर मे ससार का सबसे बडा ऑर्गन है—इस विशालकाय वाद्ययत्र मे ३२८८२ नलिकाएँ लगी हुई हैं। इसकी भाथी मे हवा आने के लिए ४०० अश्वबल के विद्युत् मोटर काम में लाये जाते हैं।

वायुजनित स्वरयन्त्रों की एक और जाति होती है—इनमे वायु की कम्पन को जारी रखने के लिए यत्र के मुँह पर नरकुल की या पीतल की पत्ती लगी रहती है। शहनाई के अलगोजे के मुँह पर ऐसी ही नरकुल की पत्ती लगी आपने देखी होगी—मुँह से फूँकने पर इन पत्तियों पर निरन्तर कम्पन होता है, फलस्वरूप अलगोजे के अन्दर की वायु कम्पित होकर ध्वनि उत्पन्न करती है। हारमोनियम मे भी 'भाथी' मे से हवा 'रीड' की पतली-सी झिरी में से होकर ऊपर निकलते ही पीतल की पत्ती मे कम्पन उत्पन्न करती है—इसी कम्पन से हमे ध्वनि मिलती है। पत्ती के कम्पन से हारमोनियम के बक्स की हवा मे कम्पन उत्पन्न होती है। क़तार मे लगी हुई इन पत्तियों में से प्रत्येक पत्ती की स्वाभाविक कम्पन-गति नियत होती है, अतः प्रत्येक पत्ती एक नियत स्वर ही उत्पन्न कर सकती है। इसी कारण से ऊँचे दर्जे के सगीतज्ञ हारमोनियम को सितार आदि की अपेक्षा एक निम्न कोटि का वाद्ययन्त्र मानते हैं।

बाँसुरी के स्वर की तीक्ष्णता या कोमलता कपित वायु की लहर-लम्बाई पर आश्रित होती है और उस लहर-लम्बाई को कम-अधिक करने के लिए बाँसुरी की नली मे कई सूराख बने रहते हैं, जिन्हे इच्छानुसार बंद करके या खोलकर भिन्न-भिन्न उतार-चढाव के स्वर निकाले जा सकते है। प्रस्तुत चित्र मे 'अ' मे उस अवस्था की लहर-लंबाई प्रदर्शित है जब झिरी के अलावा सब छिद्र बद करके धीरे से बाँसुरी बजाई जाय—इस दशा मे सप्तक का सबसे मंद स्वर उत्पन्न होगा, आखिरी छिद्र खोलकर शेष को बद किए रहने की अवस्था मे भीतर की लहर लंबाई कम हो जाने के कारण पहले से अधिक तीव्र स्वर सुनाई देगा (देखो 'ब'), और सभी छिद्रो को बद करके ज़ोर से बजाने की दशा मे सप्तक का उच्चतम स्वर सुनाई पडेगा (देखो 'स')।

अब हम रज्जुकम्पित वाद्ययन्त्रों पर आते हैं। मेज़ पर दो कीलें गाड़कर पीतल का एक तार इनके बीच बाँध
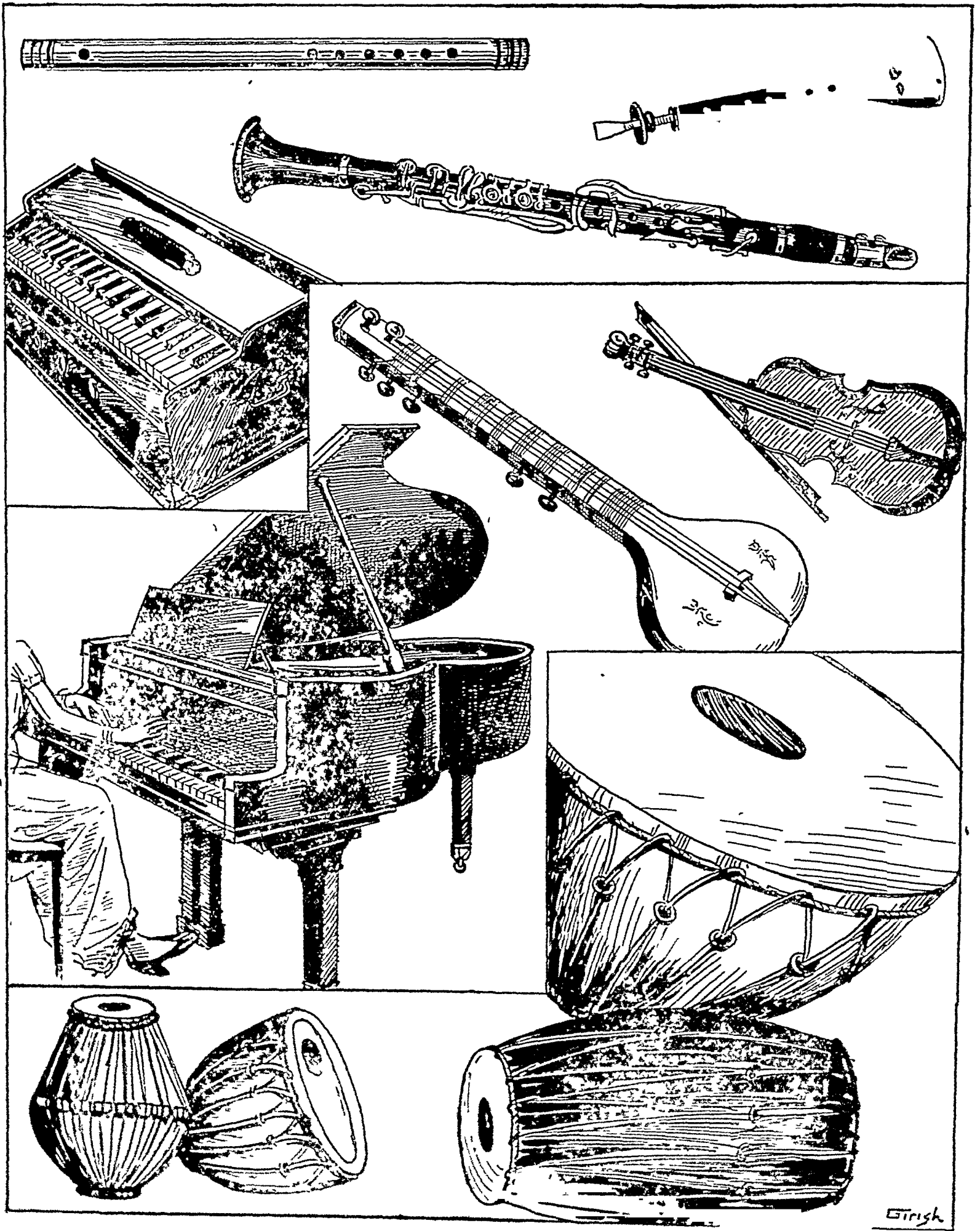
तीन प्रकार के वाद्ययंत्र

१ वायु द्वारा परिचालित यंत्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, क्लेरिओनेट, हारमोनियम आदि (दे० चित्र का शीर्षभाग); २ रज्जु-निर्मित यंत्र, जैसे बेला, सितार, पियानो आदि (दे० चित्र का मध्यभाग); ३. चमड़े से मढ़े जानेवाले यंत्र, जैसे नगाड़ा, ढोलक, तबला आदि (दे० चित्र का निचला भाग)।

दीजिए। सितार की तरह तार को उँगली से बजाइए—तुरन्त ही मीठा स्वर सुनाई पड़ेगा। अब तार को ज़रा और कस दीजिए, फौरन ही इसका स्वर ऊँचा चढ़ जायगा। यदि तार की लम्बाई कम की जाय, तो भी इसका स्वर ऊँचा चढ़ता है। तार यदि मोटा लिया जाय, तो इसका स्वर भी अपेक्षाकृत मोटा हो जाता है। बाँसुरी की भाँति तार की लम्बाई आधी होने पर स्वर दूना ऊँचा हो जाता है और लम्बाई के तिहाई होने पर स्वर तीन गुना ऊँचा चढ़ जाता है।

वेला, सितार, सारंगी आदि इसी सिद्धान्त के आधार पर हमें मीठे स्वर सुनाते हैं। निश्चय ही अब आपकी समझ में आ गया होगा कि क्यों साज़ मिलाने के लिए संगीतज्ञ सारंगी की खूँटियों को कसता और ढीला करता है। विभिन्न स्वर उत्पन्न करने के निमित्त ही सारंगी के तार विभिन्न धातुओं के बने होते हैं और कुछ रज्जु तो निरे ताँत के बने होते हैं। रज्जु-वाद्ययंत्रों को भी हम दो श्रेणी में रख सकते हैं—एक सारंगी और वेले की जाति के यंत्र जो धन्वा से विकम्पित किए जाते हैं और दूसरे सितार तथा तानपूरा की जाति के, जो अँगुली के स्पर्श से विकम्पित किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त रज्जु-यंत्रों की एक तृतीय जाति में पियानो नामक यंत्र है—इसके रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करने के लिए नन्हीं-नन्हीं मुँगरियों से इन रज्जुओं पर आघात किया जाता है। अवश्य ही इन अगणित मुँगरियों का परिचालन यांत्रिक साधनों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक रज्जु-यंत्र एक लकड़ी के बक्स या ढाँचे पर आरूढ़ किया गया होता है। इसका कारण यह है कि अकेले रज्जु के कम्पन से इतनी शक्ति नहीं उत्पन्न होती कि ढेर-सी वायु उसके ज़ोर से कम्पित होकर इतनी ज़ोर की आवाज़ पैदा करे कि हम उसे आसानी के साथ सुन सकें। वेला में चार रज्जु एक सिरे से दूसरे सिरे तक चढ़े रहते हैं। यद्यपि ये रज्जु लम्बाई में लगभग बराबर ही होते हैं, पर मुटाई में ये भिन्न होते हैं। प्रथम रज्जु सबसे पतला, द्वितीय उससे मोटा, तृतीय उससे अधिक मोटा तथा चौथा सबसे अधिक मोटा होता है। चौथे का वज़न बढ़ाने के लिए उस पर चाँदी या 'निकल' का मुलम्मा चढ़ा देते हैं, या कभी-कभी चौथे रज्जु के स्थान पर चाँदी या ताँबे का तार काम में लाते हैं। खूँटियों द्वारा इनके तनाव को घटा-बढ़ाकर इनके स्वर को घटा-बढ़ा सकते हैं। फिर संगीतज्ञ अपनी उँगलियों से रज्जुओं को दबाकर उनकी कम्पित लम्बाई को घटा-बढ़ाकर उनसे उत्पन्न हुए स्वर को इच्छानुसार नीचा-ऊँचा करता रहता है।

तन्तु-वाद्यों का सिद्धान्त

चित्र में प्रदर्शित यंत्र में लकड़ी के एक खोखले बक्स पर दो स्तंभों पर एक कसा हुआ तार लगा है जो सिरे के चित्र की भाँति उँगली द्वारा छेड़ने पर उसी प्रकार सारा का सारा झंकृत हो उठता है जैसा कि उसके बाद के दूसरे चित्र में दिग्दर्शित है। यदि दोनों स्तंभों के ठीक मध्य में एक और स्तंभ लगा दिया जाय तो केवल आधा ही तार झंकृत होगा जैसा कि तीसरे चित्र में प्रदर्शित है। यदि उँगली के बजाय धन्वा से तार को छेड़ा जाय तब भी दोनों स्तंभों के बीच वह उसी तरह झंकृत होगा और ऐसा करते समय यदि बीच में उँगली द्वारा तार छू लिया जाय तो वह छूने की जगह से नीचे की ओर ही कंपित होगा, शेष भाग में नहीं।

वेले का पेंदा मज़बूत किन्तु हलकी लकड़ी के बक्स का बना होता है। इस पेंदे के ऊपरी धरातल पर चारों रज्जु आड़े स्तम्भ के सहारे टिके होते हैं। इन रज्जुओं का तनाव इतना अधिक होता है कि यदि बक्स के अन्दर 'ध्वनि-स्तम्भ' (पृ० २३७८ का चित्र) का सहारा मौजूद न हो तो बक्स का ऊपरी धरातल टूट जाय। वेला

के रज्जुओ को विकम्पित करने के लिए घोडे के बालो से बनाई गई धन्वा का प्रयोग किया जाता है। धन्वा की डोर पर 'रेज़िन' रगड लेते हैं। ऐसा करने से डोर के रेशे खडे हो जाते हैं और वेले के रज्जुओ को आसानी के साथ अपनी पकड मे ले आते हैं। वेले के रज्जु आड़ी कम्पन करते हैं। इनकी कम्पन ऊपरी स्तम्भ मे कम्पन उत्पन्न करती है। फिर यह कम्पन ध्वनि-स्तम्भ के सहारे नीचे पहुँचकर बक्स की वायु को विकम्पित करती हैं। बक्स मे कटे हुए सूराख़ों के रास्ते यह कम्पन बाहर की वायु मे पहुँचकर चारो ओर वेले की सुरीली ध्वनि फैलाती है। बक्स के अन्दर लगे हुए 'ध्वनि-स्तम्भ' को वेले की जान कहे तो अतिशयोक्ति न होगी। वेले की धन्वा के लिए बडी सावधानी के साथ घोडे के बाल चुने जाते हैं—एक धन्वा मे क़रीब २०० बाल लगते हैं। रेज़िन लग जाने पर धन्वा के नन्हे-नन्हे रेशे जब उठ जाते हैं तो यह वास्तव मे एक नन्ही-सी आरी जैसा काम देती है। धन्वा की पकड की इस विशेषता के ही कारण वेले की ध्वनि देर तक खिचती चली जाती है।

इसराज मे भी धातु के चार मुख्य तार लगे होते हैं। वेले की अपेक्षा इसका आकार लम्बा होता है। ऊपर सिरे पर लगी हुई खूँटियों की सहायता से तार का खिचाव घटा-बढाकर उनका स्वर साधते हैं। इसके ढाँचे की रीढ पर लोहे की लगभग १५ आडी तीलियाँ लगी रहती हैं। संगीतज्ञ धन्वा से इसराज बजाते समय अपनी उँगलियो को नचाकर इन्ही तीलियो पर इच्छानुसार तार को दबाता है, जिससे तार के स्वर बदलते रहते हैं। इसराज मे १५ अतिरिक्त तार भी विभिन्न लम्बाइयो के लगे रहते हैं—ये स्तम्भ के निचले भाग में बने सूराख़ों में से होकर गुज़रते हैं। मुख्य तार के बजने पर उनके स्वर के प्रभाव से अतिरिक्त तारों मे से कुछ तार स्वय झकृत हो उठते हैं। अतः इसराज की ध्वनि मीठी और गूँजती हुई निकलती है।

वाद्ययत्रों के क्षेत्र मे सबसे विशाल साथ ही सबसे पेचीदा यंत्र 'ऑर्गन' होता है, जिसके भीतर विभिन्न स्वरो के उत्पादन के लिए हज़ारो बाँसुरी जैसी नलिकाएँ लगी रहती हैं। प्रस्तुत चित्र मे लंदन के अल्बर्ट हॉल के विशाल ऑर्गन का भीतरी दृश्य है, जिसमे १०,४६१ ऐसी नलियो का जमघट है!
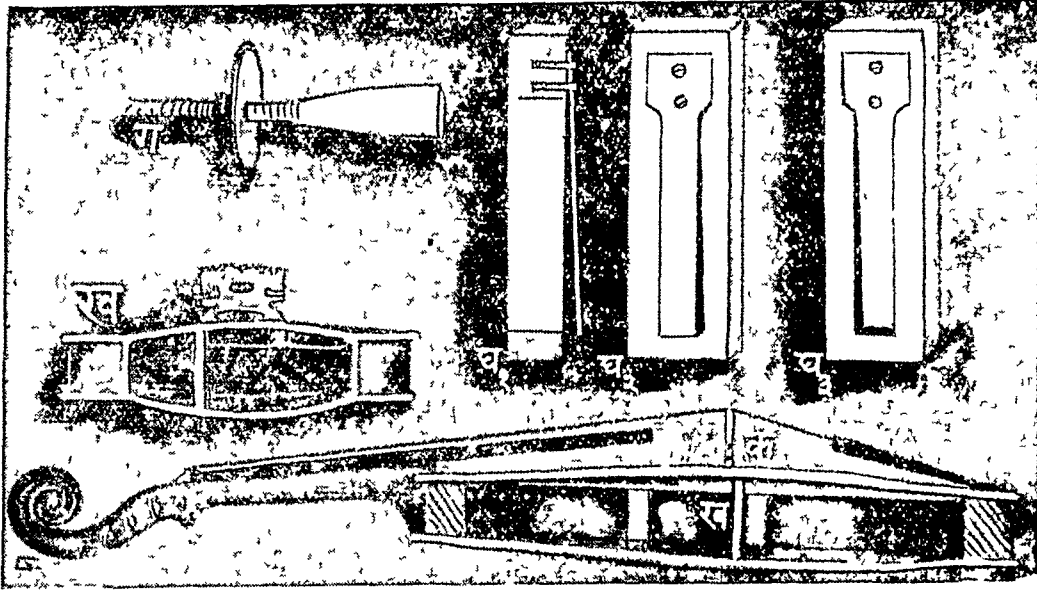
अलगोजे, शहनाई, क्लेरिओनेट, आदि वायुजनित वाद्ययंत्रों मे यंत्र के मुँह पर नरकुल या बाँस की एक पतली पत्ती लगी रहती है, जो मुँह से वेगपूर्वक बजाने पर थरथराती है और फलतः इन यंत्रों की नली में की हवा में कंपन उत्पन्न कर देती है। प्रस्तुत चित्र में 'ग' ऐसी ही पत्ती से युक्त एक शहनाई का मुखभाग है। इसी सिद्धान्त पर हारमोनियम मे अलग-अलग स्वर के लिए ऐसी झिरियों से युक्त कई 'रीड' लगी रहती है, जिनके ऊपर एक पतली पीतल की पत्ती चिपकी हुई लगी रहती है। जब भाथी के द्वारा परिचालित होकर वायु इस पत्ती पर जोर मारती है तो यह कपन करती हुई उठ जाती है (दे० घ १ और घ २), और जब हवा निकल चुकी होती है तो उसके पिछले दबाव के कारण वह पुन: अपने गट्टे पर चिपक जाती है (दे० घ ३)। इस तरह अलगोजे के सिद्धान्त पर ही हारमोनियम के भी विभिन्न स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। चित्र के निचले हिस्से मे एक मानचित्र द्वारा वायलिन की आंतरिक रचना प्रदर्शित है। 'क' बेले का वह स्तंभ है, जिस पर तार टिके रहते हैं और 'ख' उसके ढाँचे के नीचे लगा हुआ 'ध्वनि-स्तंभ' है, जिसकी रचना और भी स्पष्ट रूप से अलग से समझाई गई है।

तानपूरा मे धातु के चार तार लगे होते हैं जो उँगलियो से आघात पहुँचाकर बजाए जाते है। तानपूरा मे इसराज की तरह लोहे की आडी तीलियाँ नही होती। इसके अनुस्वारमय स्वर को आपने अवश्य ही सुना होगा। जिस स्तम्भ पर इसके तार टिकते हैं, उसकी धार बेले या इसराज के स्तम्भ की भाँति सीधी और पतली नही होती, बल्कि चिपटी और ढालुवाँ होती है, जिससे तार कुछ दूर तक इसे छूते हुए इस पर टिके रहते हैं। तार के झकृत होने पर इसी कारण उसका स्वर अनुस्वार लिये हुए निकलता है।

पियानो मे एक बडे आकार के लकडी के बक्स मे खीचकर ताने गए बहुत-से तार लगे रहते हैं। इन तारो को झकृत करने के लिए प्रत्येक पर नमदा चढी हुई एक-एक नन्हीं-नन्ही मुँगरी से आघात पहुँचाया जाता है। आघात पहुँचने के बाद तार को शीघ्र ही शान्त करने के लिए उससे नमदे की एक गद्दी आ लगती है, जिससे तार की ध्वनि बन्द हो जाती है।

ढोल के चमड़े पर एक ओर हाथ से थपकी लगाने पर उसमे जो कम्पन पैदा होती है वह हवा को विकम्पित करती हुई दूसरी ओर के चमड़े पर पहुँचती है, इस प्रकार दोनों ओर के मढे हुए चमडे के पर्दे एक दूसरे को कम्पन करने में सहायता पहुँचाते हैं और उनसे एक थरथराती-सी आवाज़ उत्पन्न होती है। ढोल की डोरियों को कसने मे ढोल की ध्वनि का स्वर ऊँचा चढाया जा सकता है।

तबला भी ढोल की जाति का ही एक वाद्ययत्र है, किन्तु ढोल की अपेक्षा भारतीय सगीत के क्षेत्र मे तबले को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, क्योंकि उससे नियत तालयुक्त स्वर निकाले जा सकते है। ढोल मे ऐसा गुण नही हैं, इसी कारण चमडे से मढे हुए वाद्ययत्रों मे सबसे अधिक सफलतापूर्वक अकेला तबला ही गाने को सँभाल सकता है। तबले मे एक ही ओर चमडा चढा रहता है और चमडे के पर्दे के केन्द्र पर लौहचूर्ण की एक तह गोद की सहायता से जमा दी जाती है। तबले का स्वर-गुण इसी लौहचूर्ण की तह के कारण है। तबले के पर्दे मे खिचाव बढाने के लिए बगल के चमडे के तस्मों को उनमे फँसे हुए लकड़ी के गट्टों की सहायता से तान सकने का भी प्रबन्ध रहता है। तबला मानो सेनानायक की तरह परेड करते हुए सैनिको को कदम मिलाने के लिए 'लेफ़्ट' - 'राइट' का ताल देता रहता है!

फ़ास्फ़रस

एक उपयोगी और मनोरंजक तत्त्व की कहानी

डिबिया की बग़लवाली कत्थई पट्टी पर रगड़ते ही दियासलाई फ़ुरफ़ुराती हुई जल उठती है—क्यों ? 'विश्व-भारती' के प्रथम अंक में ही एक चित्र के नीचे यह प्रश्न पूछा जा चुका है, तथापि हमारे बहुतेरे पाठक कदाचित् अब भी इसका उत्तर न दे सकेंगे। इस प्रश्न का उत्तर आपको इस लेख मे मिलेगा।

दियासलाई के सिरे मे आग लगा देनेवाला पदार्थ एक रासायनिक तत्त्व—फास्फरस—होता है, जिसका लाल रूपान्तर घिसे हुए शीशे और सरेस से मिला हुआ डिबिया के पार्श्वों पर पुता रहता है। गंधक और कार्बन की भाँति फास्फरस भी बहुरूपिया होता है और कई रंगबिरंगे—सफेद, लाल, सिन्दूरवर्ण, वाले—रूपान्तरों मे परिणत किया जा सकता है। इनमे सफेद और लाल रूपान्तर सबसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। लाल फास्फरस दियासलाई बनाने मे और सफ़ेद आधुनिक युद्धो मे आग लगानेवाले बमों को बनाने तथा धूम्र-पटो के उत्पादन आदि मे व्यवहृत होता है।

दो प्रधान रूप

एक ही तत्त्व के रूपान्तर होते हुए भी सफेद और लाल फास्फरस के गुणों—विशेषतः भौतिक गुणो—मे महान् अंतर होता है। यदि आप पहले ही से परिचित नही हैं, तो आपको दोनों रूपो को देखकर यह सरलता से विश्वास ही न होगा कि वे दोनों एक ही वस्तु हैं। एक सफेद छड़ों के रूप मे पानी मे डूबा हुआ तो दूसरा साधारण प्रकार से रक्तवर्ण चूर्ण के रूप मे बोतल मे रक्खा होता है। सफेद फास्फरस हवा के संसर्ग मे आते ही सफेद धुआँ देते हुए सुलगने अर्थात् ऑक्सिजन से संयुक्त होकर 'फास्फरस पेण्टॉक्साइड' (P_2O_5) मे परिणत होने लगता है। यदि हवा ठंडी न हुई तो वह हवा मे रखने से जल उठता है। हमारे शरीर की गर्मी उसे प्रज्वलित करने के लिए पर्याप्त होती है, अतएव सफेद फास्फरस को भूलकर भी छूना अथवा शरीर या कपडो पर न लगने देना चाहिए। हमारे शरीर का सामान्य तापक्रम ९८.४^0 F (३६.९^0 C) होता है, किंतु सफेद फास्फरस ९३.२^0 F (३४^0 C) पर पहुँचते ही जल उठता है। जलते हुए फास्फरस द्वारा होनेवाले घाव बडे ही दुःखदायी होते हैं और जल्दी अच्छे नही होते। यदि आपको सफेद फास्फ़रस का एक छोटा-सा टुकड़ा किसी प्रयोग के लिए निकालना हो तो चिमटी द्वारा उसकी एक छड़ निकालकर एक चीनी के प्याले मे पानी मे डुबाकर रख लीजिए और फिर चाक़ू से उस टुकडे को पानी के अंदर ही काट लीजिए। उसका मटर के बराबर एक टुकडा किसी भी साधारण प्रयोग के लिए पर्याप्त होगा। आप देखेंगे कि फास्फ़रस मोम-सरीखा एक नरम अर्द्धपारदर्शक पदार्थ होता है। शुद्ध और ताज़ा फास्फरस श्वेत होता है, किंतु कुछ समय तक रखने पर वह प्रकाश के प्रभाव से कुछ-कुछ पीला हो जाता है।

आजकल युद्ध में फास्फरस की इतनी अधिक माँग है कि उसकी बचत के लिए दियासलाई की डिबिया की पट्टी को छोटा कर देना आवश्यक हो गया है (दे० ऊपरवाली डिबिया)।

इसीलिए उसे बहुधा पीला फास्फरस कहते हैं। यदि आपको फास्फरस जलाकर देखना हो तो उसके टुकड़े को चिमटी द्वारा पानी से निकालिए और सोख़्ते पर रखकर सुखा लीजिए। फिर उसे चीनी की प्याली अथवा टाइल पर रखकर एक गर्म तार की नोक से छू दीजिए।

सफेद फास्फरस मे लहसुन की-सी एक हलकी गध होती है। यह गध वास्तव मे फास्फरस ट्राइऑक्साइड की होती है, जो मद ऑक्सीकरण द्वारा बनती रहती है। सफेद फास्फरस और फास्फरस ट्राइऑक्साइड दोनों बहुत ही विषाक्त पदार्थ हैं, जिनकी थोड़ी-सी ही मात्रा प्राणघातक होती है।

सफेद फास्फरस पानी मे अघुलनशील, परन्तु कुछ कार्बनिक द्रवो यथा कार्बन डाइसल्फाइड, बेञ्जीन, क्लोरोफार्म आदि मे घुलनशील होता है। कार्बन डाइसल्फाइड मे वह सबसे अधिक सरलता से घुलता है। कार्बन डाइसल्फाइड मे बने हुए घोल को यदि एक सोख़्ता अथवा छन्ना काग़ज के टुकड़े पर छोड़ दिया जाय तो कार्बन डाइसल्फाइड के वाष्पशील होने के कारण वह शीघ्र ही सूख जाता है और फास्फरस के नन्हे रवो से भिदा हुआ वह काग़ज स्वतः जल उठता है। न जाननेवालो के सामने यह प्रयोग रासायनिक जादू के रूप मे दिखाया जा सकता है। इस बात का ध्यान सदैव रखना चाहिए कि यह घोल शरीर अथवा कपड़ो पर कदापि न लग सके।

सफेद फास्फरस अँधेरे मे हवा मे खुला हुआ रखने पर हलके हरे प्रकाश के साथ चमकता है। यह प्रकाश इसके मंद ऑक्सीकरण के कारण उत्पन्न होता है। इसी चमक के कारण इस तत्त्व का नाम फास्फरस पड़ा। यूनानी भाषा में 'फॉस' का अर्थ प्रकाश और 'फ़रस' का अर्थ वाहक होता है, अतएव फास्फरस का अर्थ हुआ 'प्रकाशवाहक'। फास्फ़रस का यह प्रकाश जुगनू की चमक की भॉति ठढा होता है। यह ठढा प्रकाश "ठढी लौ" के मनोरजक प्रयोग द्वारा प्रयोगशाला मे प्रदर्शित किया जा सकता है। एक फ़लास्क मे सफेद फास्फरस के कुछ टुकड़े लेकर उसमे कॉच के रेशे (ग्लास-वूल) भर दीजिए और फ्लास्क को जलकुडी के ऊपर गर्म करके उसमे कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित कीजिए। इस गैस के साथ निकलता हुआ फास्फरस-वाष्प हवा द्वारा ऑक्सीकृत होकर अँधेरे में एक हरी लौ के रूप में दिखाई देगा। यह लौ न आपकी उँगली को गर्म प्रतीत होगी और न उसमें रखने से दियासलाई ही जलेगी (दे० बगल का चित्र)। सफेद फास्फरस ४४°C पर पिघल जाता है। एक परीक्षा-नली मे थोड़ा-सा पानी लेकर उसमे सफेद फास्फरस का एक टुकड़ा छोड़ दीजिए। पानी से दुगने से कुछ ही कम भारी होने के कारण वह नीचे बैठ जायगा। अब उसे गर्म कीजिए। पानी के कुनकुना होते ही वह पिघल जायगा। हवा (ऑक्सिजन) की अनुपस्थिति मे २८७°C तक गर्म करने पर वह उबलने लगता है।
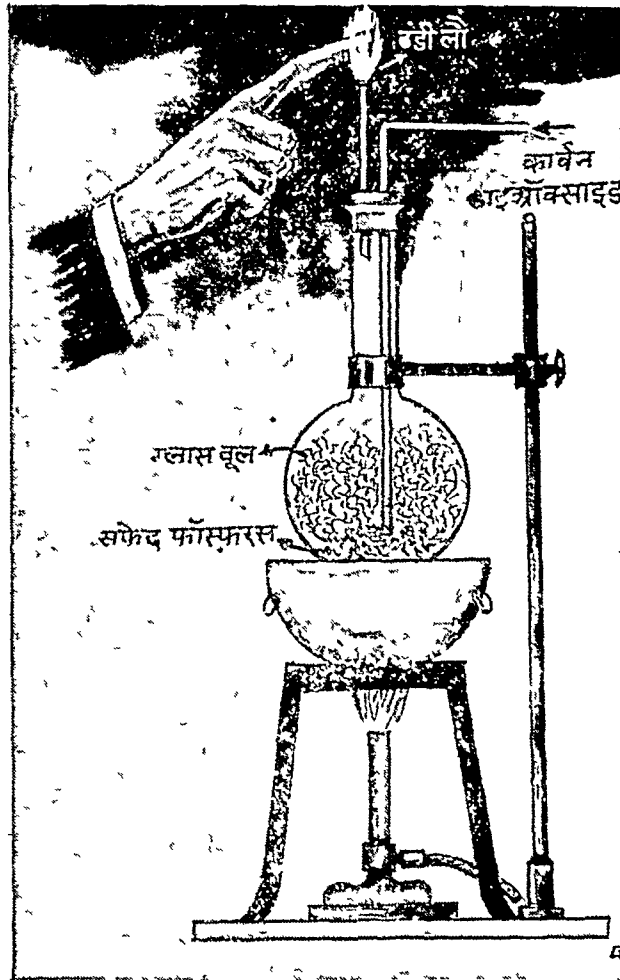
फास्फरस की "ठढी लौ"

सफेद फास्फरस इस तत्त्व का स्थायी रूप नही होता। साधारण दशाओ मे भी उसकी प्रवृत्ति लाल रूपान्तर मे बदलते रहने की होती है। ताप अथवा प्रकाश के प्रभाव से उसकी यह परिवर्त्तन-गति बढ जाती है, यहॉ तक कि उसे २३०°C और २५०°C के बीच तक गर्म करने पर वह शीघ्रता तथा सुविधा के साथ अपने लाल रूपान्तर मे परिणत हो जाता है। दियासलाई बनाने के लिए इस लाल रूपान्तर की बड़े परिमाणों मे आवश्यकता होती है,

अतएव यह परिवर्त्तन पृष्ठ २३८२के चित्र मे प्रदर्शित विधि से कर लिया जाता है। एक लोहे के बंद पात्र में लगभग १ टन सफेद फास्फ़रस गर्म किया जाता है। इस पात्र के ढक्कन मे दो लोहे की नलियाँ लगी होती हैं और फ़ास्फरस के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए इन नलियो मे दो थर्मामीटर लगे रहते हैं। ताप का नियन्त्रण इस प्रकार किया जाता है कि तापक्रम लगभग २४०°C रहे। फास्फरस के सफेद से लाल रूप मे परिवर्त्तित होने से ताप का उद्भव होता है और यदि घटनावश तापक्रम २६०°C हो जाय तो यह परिवर्त्तन और फलतः ताप का उत्पादन इतनी तीव्र गति से होगा कि सारा का सारा फास्फरस वाष्पीभूत होकर लोहे के पात्र तथा भट्टी को विदीर्ण करके बाहर निकल जा सकता है। अतएव इस सभाव्य दुर्घटना के अवसर पर कारखानों और कार्यकर्त्ताओ की रक्षा के निमित्त पात्र के ढक्कन मे एक लंबा लोहे का नल लगाकर उसके मुँह को एक अभय-वाल्व द्वारा ढक दिया जाता है। ऐसी दुर्घटना तापक्रम के नियन्त्रण द्वारा यथासाध्य होती ही नहीं, लेकिन यदि हो भी जाय तो फास्फरस का वाष्प अभय-वाल्व को धक्का देकर उसे खोल देता है और बाहर निकल जाता है। इस प्रकार बनाए हुए लाल फास्फरस में तब भी कुछ न कुछ अपरिवर्त्तित सफेद फास्फ़रस रह जाता है। अतएव इस मिश्रण को कॉस्टिक सोडा के घोल के साथ उबाला जाता है। सफेद फास्फरस उसकी क्रिया द्वारा परिवर्त्तित होकर निकल जाता है और लाल फास्फरस, जिस पर कॉस्टिक सोडा की कोई क्रिया नहीं होती, शेष रह जाता है। उसे धोकर सुखा लिया जाता है।
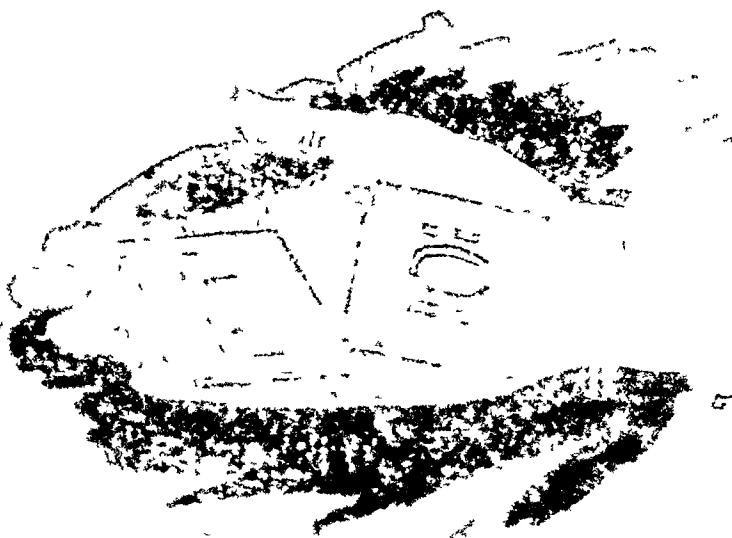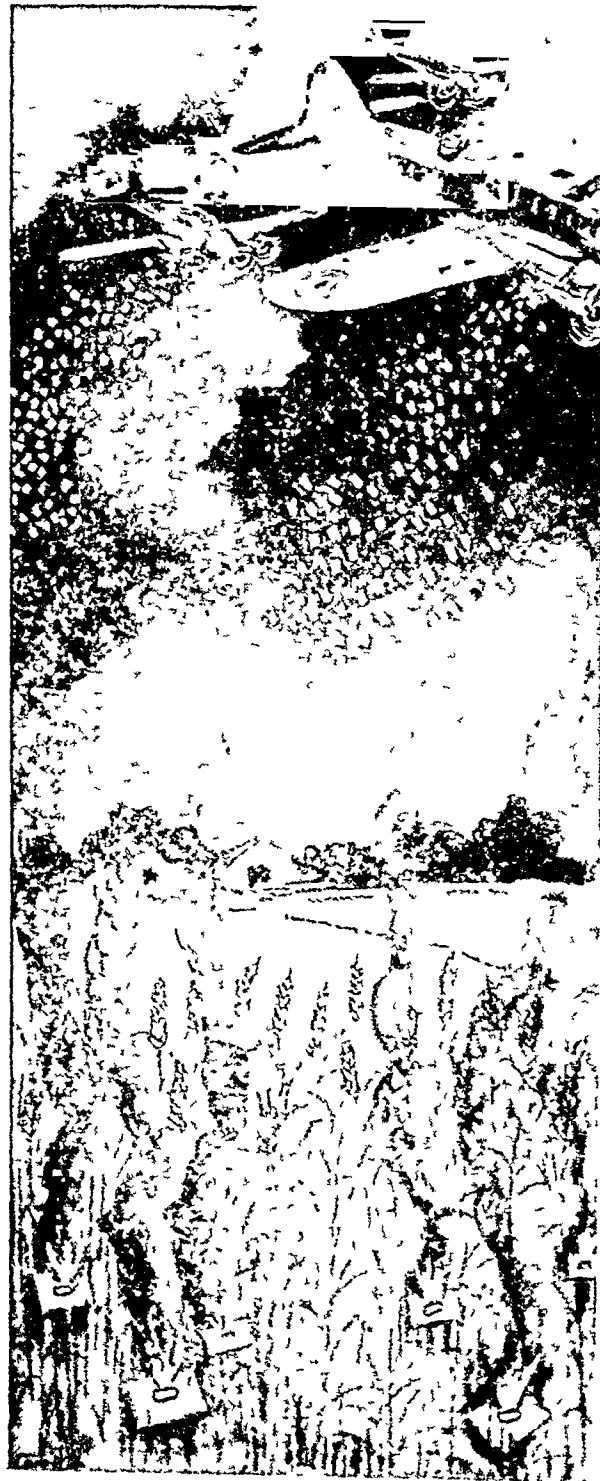
लाल फास्फरस को पानी मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं। न वह हवा मे रखने से धुआँ ही देता है और न जलता ही है। अँधेरे मे वह चमकता भी नहीं। उसे प्रज्वलित करने के लिए २६०°C तक गर्म करने की आवश्यकता होती है। उसमे न कोई गंध होती है और न वह विषाक्त ही होता है। वह कार्बन डाइसल्फाइड मे घुलता भी नही। हवा की अनुपस्थिति मे २८०°C तक गर्म करने पर वह बिना जले ही वाष्पीभूत होकर सफेद फास्फरस के रूप में घनीभूत हो जाता है। सफेद फास्फरस से वह कुछ अधिक अर्थात् पानी से २·१ गुना भारी होता है।

(ऊपर) वायुयानों द्वारा युद्धक्षेत्र में आग लगानेवाले 'कालिग कार्डों' की वर्षा। (नीचे) हथेली पर रक्खे हुए ऐसे ही दो कार्ड। गद्दी के प्रदर्शन के लिए एक कार्ड खुला हुआ दिखाया गया है।

दियासलाई

अब आप दियासलाई के जलने की क्रिया को समझ सकते हैं। आधुनिक दियासलाई (जिसे 'निरापद दियासलाई' या 'सेफ्टी मेच' कहते हैं) का सिरा निम्न वस्तुओं के मिश्रण से बना होता है—

(१) जलनेवाला पदार्थ—ऐंटिमनी सल्फाइड (Sb_2S_3)

(२) ऑक्सीकारक पदार्थ—पोटैशियम क्लोरेट (ClO_3) लेड परॉक्साइड (PbO_2), रेड लेड (Pb_3O_4), और पोटैशियम डाइक्रेमेट ($K_2Cr_2O_7$)

(३) खुरदरा पदार्थ—पिसा हुआ शीशा।

(४) चपकानेवाला पदार्थ गोंद।

इस सिरे को जब डिबिया के बगलवाले पृष्ठ पर रगड़ते हैं तो इस रगड़ से तनिक-सा लाल फ़ास्फ़रस सफेद रूप मे परिणत होकर जल उठता है और दियासलाई के सिरे मे आग लगा देता है। सिरे मे रहनेवाला ऐंटिमनी सल्फाइड ऑक्सीकारी पदार्थों की ऑक्सिजन की सहायता से तीव्रता से जल उठता है, अर्थात् उसमे के ऐंटिमनी और गंधक अपनी-अपनी ऑक्साइड मे लौ के रूप मे ताप का उत्पादन करते हुए बदल जाते है।

सफेद फास्फरस एक लोहे के पात्र मे गर्म करके लाल रूपांतर मे परिवर्तित किया जाता है। इसमे लगभग १ टन फास्फरस एक बार मे गर्म किया जाता है।

हमारे प्रौढ और वयोवृद्ध पाठकों ने उन पुरानी चाल की दियासलाइयों का भी व्यवहार किया या देखा होगा जो किसी भी खुरदरी सतह पर रगड देने से जल उठती थीं। उनकी डिबियो के बगल की पट्टी पर केवल एक सैण्ड-पेपर लगा रहता था। यदि मै भूला नहीं हूँ तो वे अधिकतर नार्वे से बनकर आती थी। उन दियासलाइयों (... ल्यूसिफर दियासलाईयाँ कहते थे) का बनाना सन् १... से क़ानून द्वारा निषिद्ध कर दिया गया, १९२० तक व्यवहृत होती देखी गई। उन पुरानी दियासलाइयो के सिरो मे ऐंटिमनी सल्फाइड के स्थान मे विषाक्त सफेद फास्फरस रहा करता था, जिसके कारण दियासलाई के कारखानों के मजदूरो को जबडे की हड्डियों के क्षय की बीमारी हो जाती थी। दूसरे, इस प्रकार की दियासलाइयों के किसी भी खुरदरी तह पर रगड जाने के कारण आग लगने की दुर्घटना भी हो सकती थी।

साधारणतः सफेद फास्फरस अपने ही रूप में या तो फास्फर कॉसा और फास्फरस पेण्टॉक्साइड बनाने के काम मे आता है या चूहों को मारने के लिए विष के रूप में प्रयुक्त होता है, अथवा प्रयोगशाला मे रासायनिक प्रयोगों के प्रदर्शन में व्यवहृत होता है। फास्फर कॉसा ताँबे, राँगे और अल्पाशों मे (० २ – ४ प्रतिशत) फास्फरस का मिश्रण होता है। फास्फरस की उपस्थिति के कारण यह धातु-मिश्रण कठोर और दृढ हो जाता है और जल द्वारा उसका क्षादन नहीं होता। फास्फरस पेण्टॉक्साइड सबसे प्रबल जल-ग्राहक पदार्थ होता है और गैसों को सुखाने या पानी के शोषण के निमित्त अधिकतर व्यवहृत होता है।

युद्ध में फ़ास्फ़रस

किन्तु आधुनिक महायुद्ध मे सफेद फास्फरस का महत्त्व बहुत बढ गया है। आपने वर्त्तमान महायुद्ध के समाचारो मे आग लगानेवाले बमों के विषय मे बहुधा पढा होगा। इन बमो मे भरा हुआ आग लगानेवाला पदार्थ सफेद फास्फरस ही होता है, जो बम के फटते ही छिटकता हुआ इधर-उधर गिरकर जलने लगता है और आग लगा देता है। बहुधा शत्रु-सेनाओ भी ... बम सिपाहियो को घायल करने के लिए ... ए ५ ... के कण सिपाहियो के ... १९ घायल कर देते

हैं। युद्ध के समाचारों मे आपने धूम्र-पटों का भी उल्लेख बहुधा देखा होगा। सफ़ेद धूम्रपट प्रायः फास्फरस को ही जलाकर उत्पन्न किया जाता हैं और उससे शत्रुओं की दृष्टि से सेना, जहाज़ आदि छिपा लिये जाते हैं। उन पटों का धुआँ फास्फरस पेण्टॉक्साइड के कणों का बना होता है और लगभग दस मिनट तक फैला रहता है। ब्रिटिश सेना ने शत्रुओ की फसलों, जंगलों, आदि मे आग लगाने के लिए एक प्रकार के कार्डों का उपयोग किया है जिन्हें "कालिंग कार्ड" कहते हैं। ये कार्ड तीन वर्ग इंच के आकार के होते है और उनके बीच मे पानी से भीगी हुई एक छोटी-सी रुई की गद्दी लगी रहती है, जिसमे सफ़ेद फ़ास्फरस भिदा रहता है। ये कार्ड हवाई जहाज़ों से बरसा दिए जाते हैं। एक-एक हवाई जहाज ऐसे ढाई-ढाई लाख कार्डों को लेकर उड़ता है। उपर से छोड़ने के बाद प्रायः दस मिनट में ये कार्ड सूख जाते हैं, जिससे फास्फरस लगभग ८ इंच की लौ का उत्पादन करते हुए स्वतः जल उठता और फसल आदि को जलाकर भस्म कर देता है (दे० पृ० २३८१ का चित्र)। सेना की भाषा मे सफ़ेद फ़ास्फ़रस को W. P. (ह्वाइट फॉस्फ़रस का संक्षेप) कहा जाता है।

प्रकृति और फ़ास्फरस

हमारे पाठको के मन मे कदाचित् अब यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी कि इस तत्त्व का अस्तित्व प्रकृति मे किस प्रकार और कहाँ होता है और वह किन वस्तुओं से और कैसे निकाला जा सकता है। संयोगशील होने के कारण फास्फरस प्रकृति में स्वतंत्र रूप में नहीं रह सकता। संयुक्त रूप मे वह प्राणियों तथा उद्भिजों के कलेवर—जीव-कोषो के तरल पदार्थ प्रोटोप्लाज्म—का एक आवश्यक अंग होता है। प्राणि-शरीर मे वह विशेषतः अस्थियों, मस्तिष्क और रुधिर में रहता है। हड्डियों मे वह कैल्शियम फास्फेट के रूप में रहता है। कच्ची हड्डियों में ६० प्रतिशत तक और हड्डियो की राख में ८० प्रतिशत तक कैल्शियम फास्फेट मिलता है। प्रकृति में जीव और जड जगत् के बीच नाइट्रोजन-चक्र की भाँति एक फ़ास्फरस-चक्र भी चला करता है। प्राणियों को अपने शरीर के लिए आवश्यक फास्फरस उद्भिजों अथवा जन्तुओ के मांस से मिलता है; उद्भिजो को वह मिट्टी से मिलता है, और इस मिट्टी मे वह जीवावशेषो के रूप मे लौट आता है। मिट्टी मे कुछ फ़ास्फरस कैल्शियम फ़ास्फेट के रूप मे फास्फेटयुक्त चट्टानो के जलवायु-संबधी कारणो द्वारा घिसने से भी मिला करता है और कुछ कृत्रिम प्रयास द्वारा खनिज कैल्शियम फास्फेट को कैल्शियम सुपर फास्फेट मे परिणत करके मिला दिया जाता है (देखिए पृ० २१७८)। किसी राष्ट्र के स्वास्थ के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कृषि-संबंधी उपज स्वस्थ हो और स्वस्थ उपज के लिए मिट्टी मे आवश्यक परिमाणों में फास्फेटों का रहना आवश्यक है। आवश्यक परिमाणों मे ये फ़ास्फेट मिट्टी में तभी रह सकते हैं जब इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि
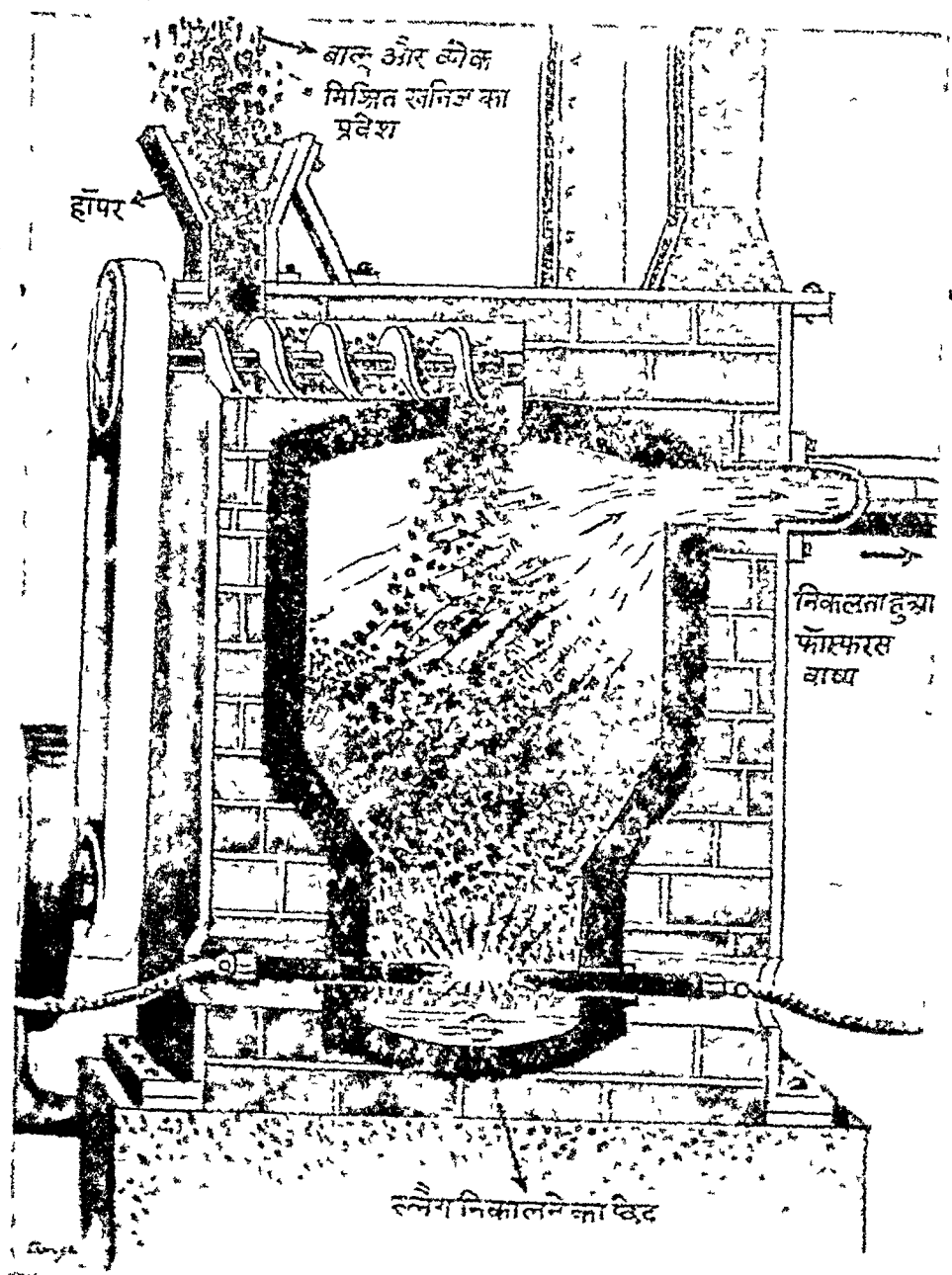
हड्डी की राख अथवा खनिज कैल्शियम फास्फेट से फास्फरस निकालने की भट्टी (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २३८४ का मैटर)
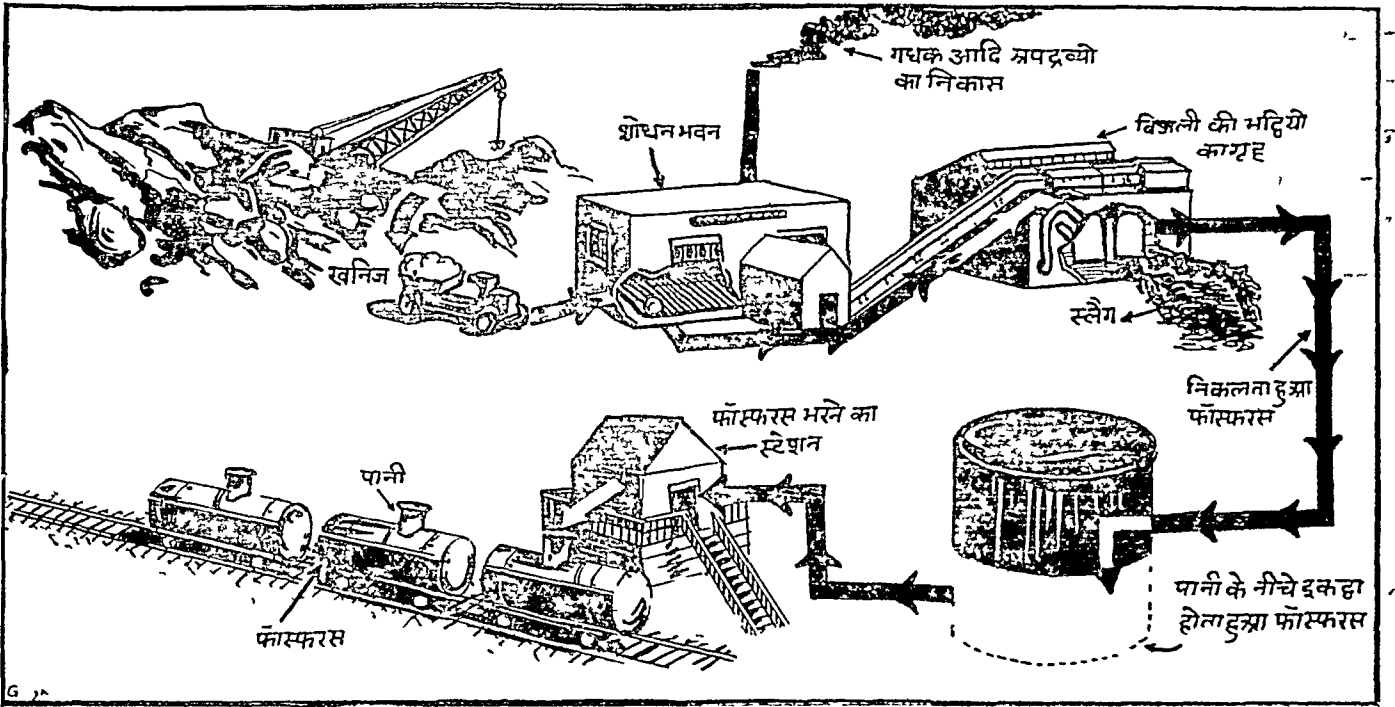
खदान से रेलवे स्टेशन तक की फास्फरस की यात्रा

फसलों को उपजाने के बाद फास्फेटो के अभाव की पूर्त्ति या तो हड्डियो की राख अथवा पिसी हुई हड्डियों को खेत मे छितराकर या खनिज कैल्शियम फास्फेट से बनाकर कैल्शियम सुपर फास्फेट को खेत मे मिलाकर कर दी जाय। यदि कोई देश इस अभाव की पूर्त्ति मे असमर्थ होता है तो वह वास्तव मे मृत अस्थियो को ही नही बल्कि अपने राष्ट्र की उतनी ही जीवित अस्थियो को ही खो बैठता है।

खनिज रूप मे भी अधिकतर फास्फरस कैल्शियम फास्फेट के रूप मे और कुछ फेरस फास्फेट और अलुमीनियम फास्फेट के रूप मे मिलता है। इसके प्रमुख खनिज चार है। (१) फास्फराइट, $Ca_3(PO_4)_2$, (२) क्लोरैपटाइट, $3Ca_3(PO_4)_2 CaCl_2$, (३) फ्लोरैपटाइट, $_3Ca_3(PO_4)_2 CaF_2$, और (४) विवियनाइट, $Fe_3(PO_4)_2 \cdot H_2O$। पहले को छोडकर अन्य तीनों खनिजों मे फास्फेट के साथ क्रमशः कैल्शियम क्लोराइड, कैल्शियम फ्लोराइड और पानी सयुक्त रूप मे मिले रहते हैं। भारतवर्ष मे बिहार, उडीसा, तथा कुछ अन्य स्थानो मे अधिकतर क्लोरैपटाइट ही मिलता है।

निर्माण

फास्फरस अपने श्वेत रूप मे हड्डियों की राख अथवा खनिज कैल्शियम फास्फेट से निकाला जाता है। इसके लिए जिस बिजली की भट्ठी का उपयोग होता है, वह २३८३ पृ० पर प्रदर्शित है। महीन रेत और कोक से मिलाकर हड्डियों की राख अथवा शोधित खनिज फास्फेट बिजली की मिट्टी मे एक घूमते हुए पेच द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। यह मिश्रण कार्बन के विद्युत्-शिरो के बीच मे बनते हुए वैद्युत् 'आर्क' द्वारा गर्म होता है। इस ताप के कारण कैल्शियम फास्फेट और रेत (सिलिकन डाइऑक्साइड) के बीच होनेवाली रासायनिक प्रतिक्रिया से कैल्शियम सिलिकेट और फास्फरस पेण्टॉक्साइड उत्पन्न होने लगते हैं, किन्तु फास्फरस पेण्टॉक्साइड तुरत कोक के कार्बन की क्रिया द्वारा फास्फरस मे अवकृत हो जाता है। यह फास्फरस वाष्प रूप मे बाहर निकल जाता है और पानी के नीचे द्रवीभूत करके इकट्ठा कर लिया जाता है। कैल्शियम सिलिकेट गलकर भट्ठी की तह पर बैठ जाता है, जहाँ से वह बाहर निकाल लिया जाता है। रासायनिक निर्माण मे इस प्रकार के गलकर निकल जानेवाले सिलिकेट आदि उपपदार्थों को 'स्लैग' कहते हैं।

यदि फास्फरस पेण्टॉक्साइड बनाने की आवश्यकता हुई तो केवल खनिज और बालू का ही मिश्रण भट्ठी मे छोडते हैं, कोक नही मिलाते। निकलते हुए फास्फरस पेण्टॉक्साइड की वाष्प को घनीभूत कर लेते हैं, अथवा यदि फास्फरिक ऐसिड की आवश्यकता हुई तो उसे गर्म पानी मे शोषित कर लेते हैं। फास्फरस कार्बन, गधक आदि की भाँति एक अधातु होता है और ऑक्सीजन से मिलकर अम्लीय ऑक्साइडें बनाता है। फास्फरस पेंटॉक्साइड

पानी में घुलकर फास्फोरिक अम्लों (यथा H_3PO_4) का उत्पादन करता है। इन्हीं फास्फोरिक अम्लों के लवणों को फ़ास्फेट कहते हैं। ये लवण फास्फरिक ऐसिड पर क्षारों की क्रिया द्वारा बनाए जा सकते हैं।

खनिज की खुदाई से लेकर फास्फरस के निर्यात तक की आधुनिकतम अमेरिकन प्रणाली पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में प्रदर्शित है। एक भीमकाय विद्युत्-सचालित क्रेन द्वारा खुदाई का काम होता है। उससे एक बड़ा भारी डोल लटकता रहता है, जो एक ही बार में १५,००० पौण्ड खनिज को काटकर अपने मे भर लेता है। एक-दूसरे खनिज को क्रेन द्वारा उठाकर डोल से मोटर ट्रेलर मे भर दिया जाता है। इस प्रकार यह खनिज, जिसे 'मैट्रिक्स' कहते हैं, शोधन-भवन में ले जाया जाता है। यहाँ पहले उसे खूब धोकर बेकार मिट्टी, पत्थर आदि निकाल डाले जाते हैं, फिर उसमें कोक मिलाकर वह पीस डाला जाता है। यह मिश्रण एक आठ फीट चौड़ी घूमती हुई अन्तहीन एकहरी जाली के सिरे पर छोड़ा जाता है और उसमे आग लगा दी जाती है। पंखों द्वारा ऊपर से इस जाली की ओर हवा आती रहती है, जिससे जाली के दूसरे सिरे तक पहुँचते पहुँचते सारा कोयला जल जाता है और खनिज का वांछित शोधन हो जाता है अर्थात् उस के शोधन [illegible] फोरिक [illegible] आदि उत्पन्न [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]
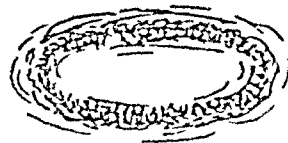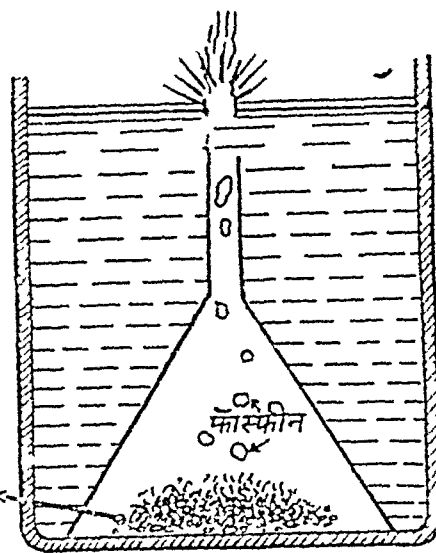
कैल्शियम फास्फ़ाइड पर पानी की क्रिया द्वारा फास्फीन का उत्पादन

और संसक्त हो जाता है। यहाँ से वह बिजली की भट्टियों के गृह मे पहुँचकर भट्टियों मे प्रविष्ट होता है। ये भट्टियाँ उसी प्रकार की होती हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस गृह मे चार भट्टियाँ एक क़तार में लगी होती हैं और एक-एक भट्टी मे १०,००० वोल्ट से भी अधिक बिजली का व्यय हुआ करता है। कार्बन मोनॉक्साइड-मिश्रित फास्फरस इन वाष्प-भट्टियो से निकलकर एक कक्रीट के बने हुए हौज़ में पहुँचता है। इसमे फास्फरस द्रवीभूत होकर पानी के नीचे और कार्बन मोनॉक्साइड गैस पानी के ऊपर इकट्ठा हो जाती है। एक-एक हौज़ मे दस-दस लाख पौण्ड तक फास्फरस इकट्ठा किया जा सकता है। इन हौज़ों से फास्फरस पंपों द्वारा 'भरने की स्टेशन' तक पहुँचाया जाता है, जहाँ से वह ढोलों मे पानी के नीचे भरकर यदि विदेश भेजना हुआ तो बंदरगाहों को अन्यथा अन्य निर्दिष्ट स्थानों मे पहुँचा दिया जाता है (दे० पृ० २३८४ का चित्र)।

फास्फरस से पृथक् होने के बाद कार्बन-मोनॉक्साइड गैस शोधन-भवन में ईंधन की भाँति काम में लाई जाती है। कार्बन-मोनॉक्साइड ऑक्सिजन मे सयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड मे परिवर्तित होती हुई जलती है।

फास्फरस के रासायनिक यौगिक सैकड़ों हैं। कुछ महत्वपूर्ण यौगिकों का उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। [illegible]
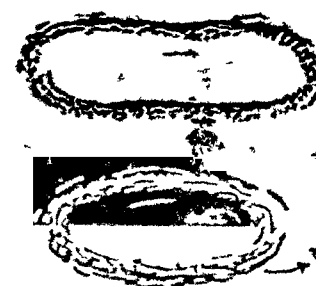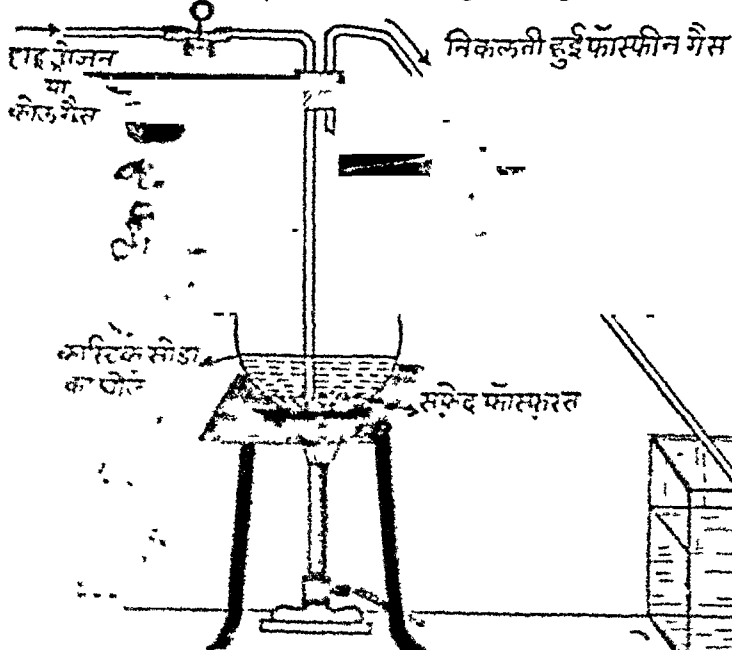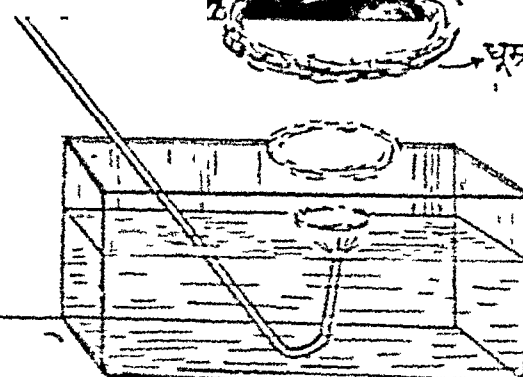
प्रयोगशाला में फास्फीन तैयार करने की सामान्य विधि

संयुक्त होने में अधिकतर दो सयोजन-शक्तियो को प्रदर्शित करता है—अर्थात् ३ और ५। पहली के अनुसार फास्फरस ट्राइऑक्साइड (P_2O_3) फास्फरस ट्राइक्लोराइड (PCl_3), फास्फीन (PH_3) आदि, और दूसरी के अनुसार फास्फरस पेण्टॉक्साइड (P_2O_5), फास्फरस पेण्टाक्लोराइड (PCl_5) आदि यौगिक बनते हैं। फास्फरस नाइट्रोजन के कुटुम्ब का एक तत्त्व है, अतः सयोजन-शक्ति आदि अनेक गुणों मे उससे मिलता-जुलता है। इन तत्त्वों के अनेक यौगिकों मे भी सादृश्य होता है, यथा नाइट्रोजन का यौगिक अमोनिया और फास्फरस का यौगिक फास्फीन गुणों मे बहुत-कुछ समान होते हैं। यहाँ मै फास्फीन गैस-सबधी कुछ बातों का, उसकी मनोरजकता के कारण, उल्लेख करूँगा।

अगिया बैताल

प्रयोगशाला मे फास्फ़ीन प्रायःसफेद फास्फरस और कॉस्टिक सोडा के घोल की प्रतिक्रिया द्वारा तैय्यार की जाती है (पृष्ठ२३८५ का चित्र देखिए)। इस प्रकार बनती हुई गैस हवा अथवा ऑक्सिजन के ससर्ग मे आते ही जल उठती है, इसलिए उक्त मिश्रण को गर्म करने के पहले फ्लास्क मे हाइड्रोजन अथवा कोल गैस या आयल-गैस को प्रवाहित करके उससे हवा निकाल दी जाती है। निकलती हुई फास्फीन पानी को हटाकर गैस-जारों मे इकट्ठी की जा सकती है। इस गैस का बुलबुला जैसे ही पानी के ऊपर उठकर फटता है वैसे ही वह जलकर फास्फरस पेण्टॉक्साइड के कारणों से बना हुआ एक सफेद धुएँ का कुडल उत्पन्न कर देता है। ये धूम्रकुडल हवा मे उठकर आकार मे बढते जाते और अत मे हवा मे विलीन हो जाते हैं। पानी के पृष्ठ पर आग लगने और इस प्रकार धुएँ के कुडलों के उठने से एक अत्यत मनोरजक दृश्य उपस्थित हो जाता है। वास्तव मे, फास्फीन नहीं बल्कि उसमे मिला हुआ एक दूसरा ही यौगिक—तरल हाइड्रोजन फास्फाइड (P_2H_4)—स्वतः जल उठनेवाला होता है और जलकर फास्फीन मे भी आग लगा देता है।

बमों में सफेद फ़ास्फरस भरा जा रहा है।

फास्फीन को उत्पन्न करने की दूसरी विधि में कैल्शियम फास्फाइड पर पानी की क्रिया का उपयोग होता है। एक बीकर मे थोडे से कैल्शियम फास्फाइड के टुकड़े लेकर उन्हें कीप से ढक दीजिए। अब बीकर में इतना पानी छोड़ दीजिए कि वह कीप के सिरे से ऊपर हो जाय। फास्फीन के बुलबुले उसी प्रकार निकलकर जलने लगेंगे (पृ० २३८५ का ऊपरी चित्र देखिए)। इस क्रिया का उपयोग समुद्र पर रात्रि मे सकेत देने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के सकेतों को 'होम्स सिग्नल' कहते हैं। लकड़ी के प्लव में लगे हुए एक टीन के डब्बे मे कैल्शियम फास्फाइड और कैल्शियम कार्बाइड का मिश्रण भर दिया जाता है। जब आवश्यकता होती है तो इस डब्बे के दोनों ओर एक-एक सूराख़ कर दिया जाता है और वह समुद्र में फेक दिया जाता है। पानी के अदर पहुँचते ही कैल्शियम फास्फाइड की प्रतिक्रिया द्वारा फास्फीन और कार्बाइड की प्रतिक्रिया द्वारा एसेटिलीन गैस का उत्पादन होने लगता है। इन दोनो गैसो का मिश्रण डब्बे से निकलते ही जल उठता है। एसेटिलीन बड़े ही तीव्र प्रकाश के साथ जलती है, अतएव समुद्र पर उजाला हो जाता है।
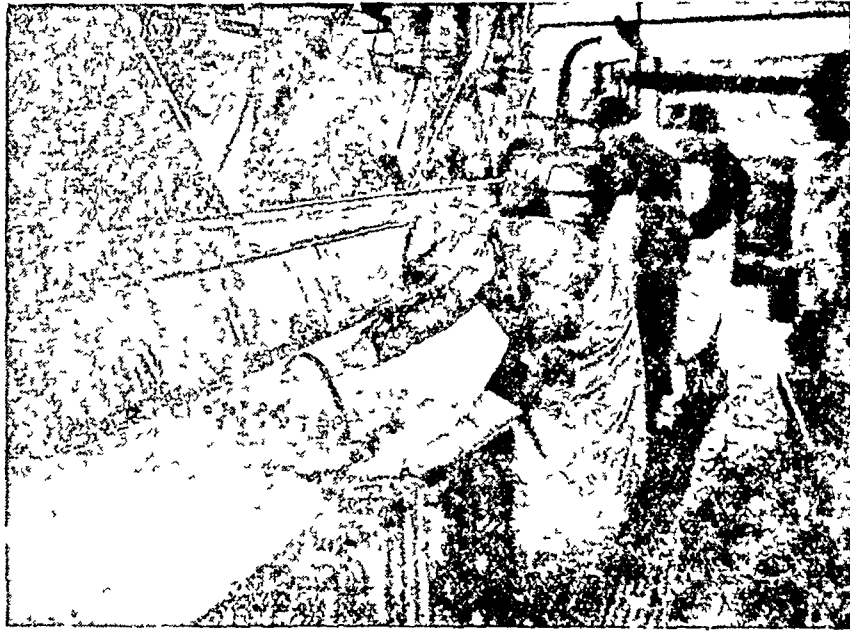
आपने कदाचित सुना होगा कि मरघटो मे पड़े हुए शवों पर कभी-कभी आग की ज्वालाएँ दिखाई पड़ती हैं। यदि ऐसा हो भी तो उसमे न तो कोई आश्चर्य और न भय ही की बात है। 'अगिया बैताल' वस्तुतः सड़ते हुए शव से निकलकर जलती हुई फास्फीन का ही एक दृश्य मात्र है।

पृथ्वी की कहानी
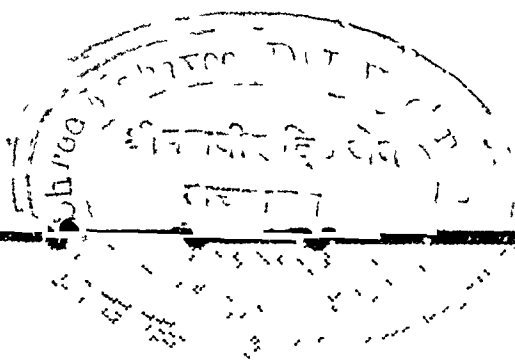
खनिजों का मिलना असम्भव-सा है, क्योकि मैदान तो शिलाखण्डो की ऐसी महीन चूरचार से बने होते हैं कि उसमे खनिज अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते हैं। अतएव उन जंगलों और पहाडो मे हमे ऐसे ही साधनों का उपयोग करना चाहिए जो हमे वहाँ सुलभ हों। नीचे हम खनिजों के केवल उन्हीं भौतिक गुणों का वर्णन करते हैं, जिनके द्वारा सरलतापूर्वक बिना किसी प्रकार के यत्रों के उपयोग के उनकी पहचान की जा सकती है।

(१) खनिजो का रवादार होना—लगभग सभी खनिज रवादार होते हैं और विभिन्न खनिजो के रवे विभिन्न आकार-प्रकार के होते हैं, क्योंकि प्रत्येक खनिज के अणुओं की एक निश्चित आन्तरिक रचना होती है, जिसके अनुसार खनिजों के निम्नतम अश चिकने समतल फलकों से घिरे रवों के रूप मे पाए जाते हैं। रवो के फलक सरल रेखाओं से सीमित होते हैं। जहाँ दो फलक मिलते है, वहाँ एक धार बन जाती है। रवों मे सबसे सुन्दर और पूर्ण रवा स्फटिक (Quartz) या बिल्लौर का होता है, जिसे स्फटिक मणि के नाम से भी पुकारा जाता है। स्फटिक मणि मे छः चतुर्भुजाकार समपार्श्व होते हैं और प्रत्येक पार्श्व के दोनों सिरों पर एक-एक त्रिभुजाकार पार्श्व पाया जाता है। उन छहों त्रिभुजाकार पार्श्वों के एक बिन्दु मे मिलने से रवे के दोनो सिरों पर छः फलकवाले दो शकुओं की रचना हो जाती है। स्फटिक मणि का कोई भी रवा आप लें, प्रत्येक की रचना इसी प्रकार की होगी। इसी प्रकार कैलसाईट (Calcite) नामक खनिज का रवा भी एक आदर्श रवा है। इस खनिज के रवो की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक रवे का चूर्ण करने पर वह वैसे ही असख्य छोटे रवों में बिखर जाता है और ऐसे प्रत्येक छोटे रवे का आकार-प्रकार उसी बडे रवे के समान होता है जिसका कि वह खण्ड होता है।

रवे विभिन्न आकार के और असख्य होते हैं। परन्तु प्रत्येक खनिज के रवे सदैव एक ही आकार-प्रकार के होते हैं। इस प्रकार रवो द्वारा खनिजो की पहचान बडी सरलता से की जा सकती है। कुछ ऐसे भी खनिज हैं, जिनके रवे नहीं होते। ये रवाहीन (Amorphous) खनिज कहलाते हैं। परन्तु ऐसे खनिज कम ही हैं और अनुकूल अवस्था मे इनके भी रवे बन जाते हैं।

(२) खनिजों के रवों की तडकन—ऊपर हमने कैलसाईट के रवे के जिस विशेष गुण का वर्णन किया है, अन्य खनिजों मे भी उसी तरह एक विशेष प्रकार से खण्डित होने का गुण होता है। इस गुण को रवों की तडकन (cleavage) कहते हैं। रवों की इस विशेषता के कारण खण्डित होने पर भी उनके फलको की चिकनी तल बनी रहती है और चकनाचूर हो जाने पर भी उनके खण्ड रवों के रूप में पहचाने जा सकते हैं। कैलसाईट के रवे समबाहुविषमकोणीय छः चतुर्भुजों से घिरे ठोस होते हैं। खण्डित होने पर उन रवों का पैत्रिक रूप बना ही रहता है। इसी प्रकार साधारण लवण के रवे घनाकार होते हैं। इन रवों की तडक परस्पर समकोण पर झुकी तीन दिशाओं मे होती है और प्रत्येक दिशा घनाकार रवे के एक फलक के समानान्तर होती है। अब्रक (Mica) के रवों की तडक एक फलक के समानान्तर की दिशा में होती है। फलस्वरूप अब्रक सदैव पतले-पतले परतों के रूप मे चीरी जा सकती है। यह अब्रक की एक अनोखी विशेषता है।

(३) खनिजो और उनकी लकीरों के रंग—खनिजों के रग भी बहुधा निश्चित होते हैं। एक प्रकार का खनिज सदैव एक ही रंग का होता है और उसका रंग बहुधा दूसरे खनिजों के रगों से विभिन्न होता है। परन्तु कभी-कभी एक ही खनिज कई रंग की जातियों मे भी पाया जाता है, जैसे साधारणतः स्फटिक रगविहीन अथवा दूधिया रग का होता है, परन्तु इसके हल्के गुलाबी, हरे, भूरे तथा कत्थई रंग के भी नमूने मिलते हैं। यह तो हुई खनिजों के ऊपरी रंग की बात। पर बहुधा ऐसा भी होता है कि ऊपर से देखने में खनिज जिस रग का प्रतीत होता है उसका चूर्ण उससे विभिन्न रंग का होता है। सोनामाखी (Chalcopyrite) नामक ताँबे के गन्धक मिश्रित खनिज का रग ऊपर से सोने जैसा पीला होता है, परन्तु उसका चूर्ण काला होता है। इसी प्रकार काले रग के लौहपाषाण (Hematite) का चूर्ण लाल रग वाला होता है। चूर्ण का रंग जाँचने के लिए खनिज द्वारा खींची गई लकीर का रंग जाँचा जाता है। यह लकीर चीनी मिट्टी की एक खुरदरी पटिया की कसौटी पर खनिज को खुरेचकर बनाई जाती है।

(४) खनिजों की आभा—कुछ खनिजों में एक विशेष प्रकार की आभा होती है, जो अन्य खनिजों मे नहीं होती। कुछ खनिज एकदम आभाविहीन भी होते हैं। जिन खनिजो मे आभा होती है, उनमे से कुछ तो हीरे के समान दमकते हैं, कुछ मोतियों के समान चमकते हैं। कुछ खनिजों की चमक काँच के भग्न खण्ड की-सी होती है और कुछ की रेशम के समान। किसी-किसी मे मोरपख

जैसी चमक होती है। पर हर हालत मे प्रत्येक खनिज की आभा भिन्न होती है।

(५) खनिजों की कठोरता—कठोरता द्वारा भी खनिजों की पहचान की जाती है। प्रत्येक खनिज की कठोरता भिन्न होती है। कुछ इतने नरम होते हैं कि हाथ के नाख़ून से खुरेचे जा सकते है और कुछ इतने कठोर कि उन पर लोहे की धार भी नष्ट हो जाती है। खनिजो की कठोरता की जॉच के लिए विभिन्न कठोरतावाले १० खनिजों को उनकी कठोरता के क्रम से रखकर एक माप निर्धारित कर लिया गया है। उदाहरणार्थ सबसे कम कठोरतावाले खनिज सेलखरी की कठोरता को एक के बराबर और सबसे कठोर खनिज हीरे की कठोरता को दस के बराबर माना जाता है। बीच की कठोरताओं के लिए अन्य खनिजो के मापदण्ड का उपयोग किया जाता है। जिन खनिजों का उपयोग कठोरता की माप के लिए किया जाता है क्रम से उनके नाम निम्न तालिका में दिए जाते है :—

१—सेलखरी (Talc), २—हरसोठ (Gypsum); ३—कैल्साइट (Calcite); ४—फ्लुओराइट (Fluorite, ५—एपेटाइट (Apatite); ६—फैल्सपार (Felspar, ७—स्फटिक (Quartz); ८—पुखराज (Topaz), ९—कुरंद (Corundum); १०—हीरा (Diamond)।

उपरोक्त सूची मे से प्रत्येक खनिज क्रमानुसार अपने पूर्ववाले खनिज को खुरेंच सकता है. और अपने से अधिक कठोर आगेवाले खनिज से खुरेंचा जा सकता है। इन खनिजों के अतिरिक्त कठोरता की जॉच पैसे, नाख़ून, चाक़ू की नोक, कॉच की धार आदि से भी की जाती हैं।

(६) खनिजों का भारीपन—कुछ खनिज हल्के और कुछ भारी होते हैं। बहुधा धातुमिश्रित खनिज भारी होते हैं। प्रत्येक खनिज का आपेक्षिक घनत्व निश्चित होता है, जिसके कारण अन्य खनिजों से वह अलग किया जा सकता है। किसी खनिज का घनत्व २ और किसी का २० तक होता है। साधारणतः खनिजों के छोटे-छोटे खण्डों को हाथ मे तौलकर ही उनके भारीपन का अन्दाज़ा लगाया जाता है। परन्तु खनिजों के आपेक्षिक घनत्व की जॉच सरलतापूर्वक 'वाकर्स बैलेन्स' नामक यत्र से की जा सकती है। यह एक लम्बी तराज़ू सा यत्र होता है, जो एक धुरी पर एक किनारे के पास सधा रहता है। इसके छोटे पलड़े मे एक निश्चित वज़न बॅधा रहता है और बडे मे खनिज खण्ड को आगे-पीछे खिसकाकर पैमाने को समतल रखते हुए लटकाया जाता है। पहले खनिज को हवा मे लटकाया जाता है और फिर जल मे डुबाकर। दोनों बार की माप से खनिज का आपेक्षिक घनत्व सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है।

उदाहरणार्थ यदि पैमाने को समतल रखने के लिए पहले खनिज को 'अ' स्थान पर लटकाया गया था और जल मे डुबाकर फिर उसको समतल करने के लिए पुनः 'ब' स्थान पर लटकाया गया तो खनिज का आपेक्षिक घनत्व निम्नलिखित अनुसार होगा :—

$$\text{आपेक्षिक घनत्व} = \frac{\text{ब}}{\text{ब} - \text{अ}}$$

खनिजो के उपरोक्त भौतिक गुण ऐसे हैं, जिनकी जॉच के लिए किसी प्रकार के यन्त्रों आदि की आवश्यकता नहीं पडती और इन गुणों की पहचान करने से खनिजों की पहचान सरलता से की जा सकती है। परन्तु जब तक खनिजो की पहचान का अभ्यास खनिजों के नमूनों को स्वय अपने हाथ में लेकर न किया जाए तब तक केवल पुस्तको के आधार पर उनकी पहचान नहीं की जा सकती, चाहे उन पुस्तकों मे इन खनिजों का कितने ही विस्तार से वर्णन क्यों न किया जाय।

अब हम भूपृष्ठ के कुछ ऐसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण खनिजो का वर्णन करेंगे, जो बाहुल्यता से पाए जाते हैं तथा चट्टानो की रचना मे जो विशेष रूप से काम आते हैं। चिप्पड़ की चट्टानों की रचना के अध्ययन के लिए इन खनिजों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भूपृष्ठ जिन तत्त्वों से मिलकर बना है, खनिज पदार्थ उन्हीं तत्त्वों के रासायनिक यौगिक रूप हैं। पृष्ठ ४१७ पर हम बता चुके हैं कि भूपृष्ठ की रचना मे जिन तत्त्वो का समावेश है उनमें ऑक्सीजन, सिलिकन, अल्यूमिनियम तथा लोहा नामक चार तत्त्वो का बाहुल्य है। यही कारण है कि भूपृष्ठ के खनिजों मे भी इन्हो तत्त्वो से बने खनिजो की प्रचुरता है। ये तत्त्व अधिकाश आक्साइडों के रूप मे मिलते हैं। कुछ तत्त्व गन्धक से सम्मिलित सल्फाईडो के रूप मे भी पाये जाते हैं, परन्तु ऐसे खनिजो की बाहुल्यता नही है। अकेले एक तत्त्व के रूप मे मिलनेवाले खनिज (प्राकृतिक रूप मे पाए जानेवाले सोना, गन्धक प्रभृति खनिज) अत्यन्त ही अल्प मात्रा मे मिलते हैं। पहले हम भूपृष्ठ के ऑक्सीजन-प्रधान खनिजों का अध्ययन करेगे।

ऑक्साइड अथवा ऑक्सीजन-प्रधान खनिज

स्फटिक (Quartz)—यह सिलिकन का ऑक्साइड

है और धरातल पर प्रचुर रूप मे पाया जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २ ६५ है और यह रवादार होता है। इसके रवे यदि पूर्ण होते हैं तो दर्शनीय होते हैं। स्वच्छ निर्मल रवे को 'स्फटिक मणि' (Rock Crystal) अथवा बिल्लौर कहते हैं। स्फटिक मणि एकदम पारदर्शक कॉच की भॉति होता है और बहुधा रगविहीन होता है, परन्तु कभी-कभी उसके रगीन रवे भी पाये जाते हैं। रगीन स्फटिक गुलाबी, पीला, लाल, हरा, भूरा, कत्थई और काला आदि कई रगों का होता है। जो स्फटिक सिलिकन का विशुद्ध ऑक्साईड होता है, वह सदैव रगविहीन ही होता है। अन्य तत्त्वों की मिलावट से रगीन स्फटिक की रचना होती है। बैंजनी रगवाले स्फटिक को 'याक़ूत' (Amethyst) कहते हैं। काले रग के अपारदर्शक खनिज को 'सूर्यकात' (Jasper) मणि के नाम से पुकारते हैं। गोमेदक (Agate) भी इसी खनिज की एक जाति है। इस खनिज की ओपल (Opal) आदि अन्य कई बहुमूल्य जातियॉ हैं, जो मणियों की श्रेणी मे गिनी जाती हैं।

स्फटिक की पहचान करना कठिन नहीं है। इसकी चमक कॉच के सदृश्य होती है और कठोरता कॉच से भी अधिक। इसकी नोक से कॉच पर खरोंचा जा सकता है, और चाकू की नोक द्वारा इस पर खरोंच नही होती। साधारण अम्लो (तेज़ाबो) मे यह घुलनशील नहीं है। यह खनिज भूपृष्ठ की अधिकाश चट्टानों का आवश्यक अग है। जल की प्रक्रिया से यह प्रायः ठोस चट्टानो की दरारो मे भर जाता है और चट्टानो में यह बहुधा धारियो के रूप मे पाया जाता है।

लोहे के ऑक्साइड खनिज—भूपृष्ठ पर सिलिकन के उपरोक्त खनिज के अतिरिक्त लोहे के ऑक्साइड खनिजो की भी बाहुल्यता है। लोहे के ऑक्सीजन-मिश्रित तीन खनिजों के नाम महत्त्व के हैं—लाल गेरू या हेमेटाइट (Hematite), रामरज अथवा पीला गेरू या लिमोनाइट (Limonite), तथा चुम्बक पत्थर या मैग्नेटाइट (Magnetite)। लालगेरु मे ७० प्रतिशत भाग लोहा तथा ३० प्रतिशत भाग ऑक्सीजन का होता है। अन्य तत्वो के मिश्रण से बहुधा इस अनुपात मे अन्तर पड़ जाता है। इसके रवे विषमकोण-समचतुर्भुजाकारी फलक वाले होते हैं। चाकू की नोक द्वारा इस खनिज पर खरोंच करना कठिन है। रवादार गेरू बहुत कम पाया जाता है। बहुधा यह पिण्डाकार तथा पर्तो के रूप मे मिलता है। इसका आपेक्षिक घनत्व ५ १६ से ५ २८ तक होता है। रग मे यह लाल, भूरा तथा इस्पात के समान काला होता है। इसका चूर्ण तथा खरोंच की लकीर सदैव लाल होती है। कभी-कभी इस खनिज का अबरक के समान चमकदार और परतीला रूप भी पाया जाता है। रेशेदार गेरू भी कभी-कभी देखने मे आया है। इस खनिज का उपयोग लोहे के उत्पादन मे सर्वत्र होता है। साधारण चट्टानों मे लाल रग बहुधा लोहे के इसी खनिज के कारण पाया जाता है। गेरू का उपयोग रग बनाने में बहुत होता है। भारत मे मयूरभञ्ज राज्य मे इस खनिज की बाहुल्यता है।

पीला गेरू अथवा रामरज खनिज गेरू की ही एक जाति है। जल की प्रतिक्रिया द्वारा लोहे के अन्य खनिजों के परिवर्त्तन से इस खनिज की रचना होती है। इस खनिज मे ६० प्रतिशत भाग लोहा, २५ प्रतिशत भाग ऑक्सीजन और शेष भाग जल होता है। इसकी रचना जलाशयों, क़न्दराओ तथा झीलो की तली मे होती है। क़न्दराओं मे स्टैलकटाइट और स्टैलगमाइट नामक विचित्र रचनाओं के रूप मे भी यह खनिज पाया जाता है। इसका रग पीला परन्तु बहुधा भूरापन लिये हुए होता है। वार्निश और पेंट बनाने के उद्योग में यह बहुत काम आता है। इसका भारीपन अधिक नहीं है और आपेक्षिक घनत्व ३·६४ होता है। कठोरता भी लाल गेरू की अपेक्षा कम होती है। यह भुरभुरा होता है और बहुधा पिण्डाकार मिलता है। इसकी खरोंच पीली अथवा भूरी होती है और चूर्ण मटीला अथवा पीला। हमारे देश में इसे रामरज कहते हैं और यह दीवालो को पीला करने तथा पीले रग के कपडे रगने के काम आता है।

चुम्बक पत्थर, जिसे अगरेजी मे मैग्नेटाइट कहते हैं, लोहे का ऑक्सीजन-मिश्रित तीसरा महत्वपूर्ण खनिज है। इसमे लोहे का अश ७२ ४१ प्रतिशत तथा शेष भाग ऑक्सीजन होता है। चुम्बक पत्थर रवादार जाति का भी पाया जाता है तथा रवाहीन पिण्ड के रूप मे भी। इसका रग लोहे के समान होता है। खरोंच भी लोहे के समान काली होती है और चूर्ण भी वैसा ही। चुम्बकत्व इस खनिज की विशेषता है। इसीलिए इसका नाम चुम्बक पत्थर पडा है। चुम्बक की सुई द्वारा इसकी पहचान सरलता से की जा सकती है।

भूपृष्ठ पर लोहे के खनिजो के अतिरिक्त अल्युमिनियम और सिलिकन के खनिजो की भी बहुतायत है। इन तत्वो के खनिजों मे सबसे महत्वपूर्ण खनिज फेलस्पार है, जिसकी कई जातियॉ हैं। आगे के लेख मे हम इसी खनिज के सम्बन्ध मे लिखेंगे, साथ ही अन्य खनिजों का भी वर्णन करेंगे।

कीटाशी अथवा क्रान्तिकारी हिंसक पौधे—नाइट्रोजन-एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीक़े—(२)

३. वे कीटाशी पौधे जिनका एक-न-एक अंग स्पर्श से उत्तेजित हो उठता है

इस समूह मे वे पौधे हैं, जिनकी पत्तियों अथवा पत्तियो के एक-न-एक भाग मे कीडों-मकोड़ों तथा दूसरे नाइट्रोजनीय द्रव्यों के स्पर्श से हरकत होने लगती है। परिणाम यह होता है कि बेचारा जीव वहीं फँस जाता है। उत्तेजित अंग से एक तरह का रस निकलता है, जिसमे नाइट्रोजनीय द्रव्य पचाने का गुण होता है। कनकपर्णा (*Drosera*) (चि० १), कपाटपर्णी (*Dionæa*) (चि० २) आदि इस वर्ग के विख्यात पौधे हैं।

किसी-किसी जाति की तूँबिलता की तूँबियो पर एक प्रकार की मकडी आ डटती है, परन्तु केवल अपने स्वार्थ के लिए। सुखमय जीवन बिताने की इससे अधिक सुविधा इस जीव को और कहीं नही प्राप्त हो सकती है और यह तूँबिद्वार पर अपना जाल बिछाकर कीडे फँसाने मे पौधे की मदद करती है, साथ ही साथ अपना हिस्सा बँटाकर स्वय भी शिकार करती रहती है।

चि० १—कनकपर्णी

इस वर्ग के कीटाशी पौधो के अन्तर्गत एक छोटा-सा पराश्रयी पौधो का समूह है। पत्तियो के नाते इनमे भी दूसरे पराश्रयी पौधो की तरह वल्कपत्र ही होते हैं (चि० ३)। इन पत्तियो की बनावट ऐसी होती है कि इनमे घुमावदार सुरंगे बन जाती हैं (चि० ४)। उन सुरगो के द्वार इतने सकुचित होते है कि केवल अत्यन्त छोटे कीडे ही उनमे प्रवेश कर सकते हैं। यद्यपि इन सुरंगो के द्वार पर कोई विशेष ढग के पर्दे नहीं होते, फिर भी यहाँ जो कीडे एक बार दाख़िल हुए वे बाहर नहीं आ पाते। कारण यह है कि इन सुरंगो की अधित्वक् के कोशो मे दो प्रकार की ग्रन्थियाँ होती है—एक सनाल (चि० ४) और दूसरी नाल-रहित। कहते हैं, कीडो के स्पर्श से सनाल ग्रथियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। लोगो का यह भी मत है कि यही कीडो के मार्ग मे बाधा पहुँचाती हैं और उन्हे सुरग से बाहर नही होने देती। इन कीडो के अगो के खाद्य पदार्थ—मास, वसा, रुधिर आदि—जज़्ब हो जाते है और रोये तथा जबडे जैसे पदार्थ पडे रह जाते हैं। सम्भव है, शोषण-क्रिया मे

नालरहित ग्रन्थियों का विशेष लगाव हो। रदनपर्णी (Toothwort) (चि० ३) इन्हीं विचित्र पौधों में से एक है। हमारे देश में कनकपर्णी की दो जाति के पौधे होते हैं। ये हिमालय पर्वत के शिमला, मसूरी, नैनीताल आदि स्थानों में तथा बंगाल, बिहार और दक्षिण भारत में उगते हैं।

कनकपर्णी में शिकार पकड़ने और भोजन पचाने की क्रिया बड़ी तत्परता से होती है। इसकी पत्ती पर रक्तवर्ण के छत्रधारी रोम होते हैं (चि० ५) और प्रत्येक रोम पर ओस की बूँद जैसी नन्हीं-सी रसबूँदें रहती हैं, जिससे प्रकाश में कनकपर्णी के बूटे ऐसे जगमगा उठते हैं जैसे मोतियों से लदे नन्हें-नन्हें झाड़ चमक रहे हों! एक जाति की कनकपर्णी में पत्तियाँ गुच्छे के रूप में भूमि पर बिछी रहती हैं। सूरज की किरणें पड़ने पर इनकी ऐसी छटा हो जाती है मानों छोटी-छोटी लाल मख़मली गद्दियों पर हज़ारों सुनहली आल्पीनें लगी हों!

चि० २—कपाटपर्णी

कनकपर्णी की पत्तियों पर किनारे की ओर के रोम सबसे बड़े होते हैं और अन्दर की ओर को वे क्रमशः छोटे होते जाते हैं। पत्ती के मध्यभागवाले रोम सबसे छोटे होते और वे बिल्कुल सीधे खड़े रहते हैं। इन पत्तियों से प्रकाश में ठीक फूल का-सा भ्रम होता है, जिसे मधु से परिपूर्ण समझ पतिंगे अनायास ही उन पर टूट पड़ते हैं; परन्तु ज्योंही अग्रसर हो रसबूँदों को शहद के धोखे में चखने के लिए वे बढ़ते हैं, त्योंही उनके अंग इस चिपचिपे रस में फँसने लगते हैं और चौकन्ने हो वे पंख-पंजे रगड़ते हुए जब अपने को मुक्त कर भागने की चेष्टा करते हैं तो ऐसी हरकत से उनके अंग और भी फँसने लगते हैं! इधर पतिंगे के अंग की रगड़ से ग्रन्थियों में से रस और भी अधिक तेज़ी से बह चलता है, साथ ही पत्ती के रोम चारों ओर से झुककर एक-एक करके शिकार को आ जकड़ते हैं (चि० ५ ब), जिससे उसका निकल भागना असंभव हो जाता है। फलतः उस बेचारे का दम घुटने लगता है और वह जहाँ का तहाँ पड़ा-पड़ा ही जान खो देता है। इन रोमों की हरकत बड़े नियमित ढंग से होती है। जैसे ही इनका कीड़े या अन्य नाइट्रोजनीय द्रव्य से स्पर्श होता है, वैसे ही वे नीचे को झुकने लगते हैं। इस क्रिया में लगभग १० मिनिट लगते हैं। कोई २० मिनिट पश्चात् उत्तेजित रोमों के पड़ोसवाले रोम भी वैसी ही हरकत करने लगते हैं और लगभग तीन घंटे में पत्ती के सारे रोम शिकार पर आ जुटते हैं। यदि कीड़ा पत्ती की कोर की ओर हुआ तो सारे रोम उस ओर को झुकते हैं; पर यदि वह बीच में आ बैठा तो चारों ओर के रोम वहीं उसे आ जकड़ते हैं! जब कभी दो कीड़े एक साथ पत्ती पर आ बैठते हैं तो सब रोम इन दोनों पर एक ही साथ इधर-उधर को झुकते हैं। तात्पर्य यह है कि अवस्थानुसार पत्ती के रोम दाएँ-बाएँ सब के सब इकट्ठे अथवा बँटकर शिकार पर आक्रमण करते हैं। कभी-कभी रोमों के मुड़ने के साथ ही साथ पत्ती की सतह पर भी प्रभाव पड़ता है, जिससे पत्दल खाली होकर हमारी हथेली जैसा हो जाता है, जो किनारे के रोमों के बीच की ओर मुड़ने के कारण बंद मुट्ठी जैसा दिखाई देता है।

कनकपर्णी का शिकार अधिकतर छोटे-छोटे कीड़े ही होते हैं; परन्तु कभी-कभी मक्खियाँ और छोटी तितलियाँ भी उनके चंगुल में आ फँसती हैं। ऐसी दशा में इस पौधे की दो या दो से अधिक पत्तियाँ मिलकर शिकार को क़ाबू में लाती हैं।

शिकार के आकार और वज़न के अनुसार ही उसे हज़्म करने में समय लगता है। छोटे-छोटे कीड़ों को जज़्ब करने में लगभग दो दिन लगते होंगे; पर बड़ी जाति के पतिंगों में इससे अधिक समय लगता है। इस क्रिया की समाप्ति के बाद पत्ती के रोएँ फिर उठकर सीधे खड़े हो जाते हैं।
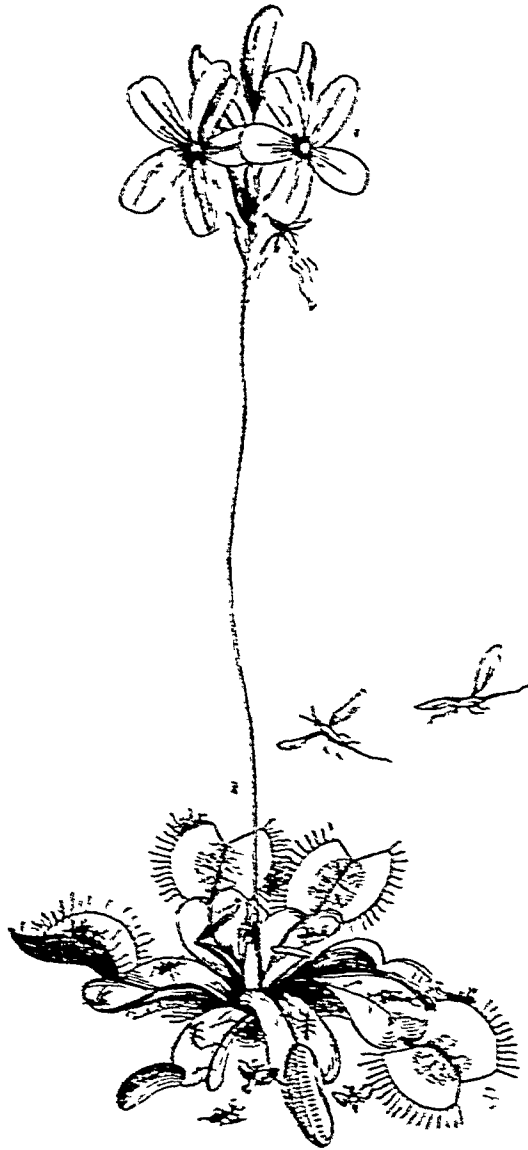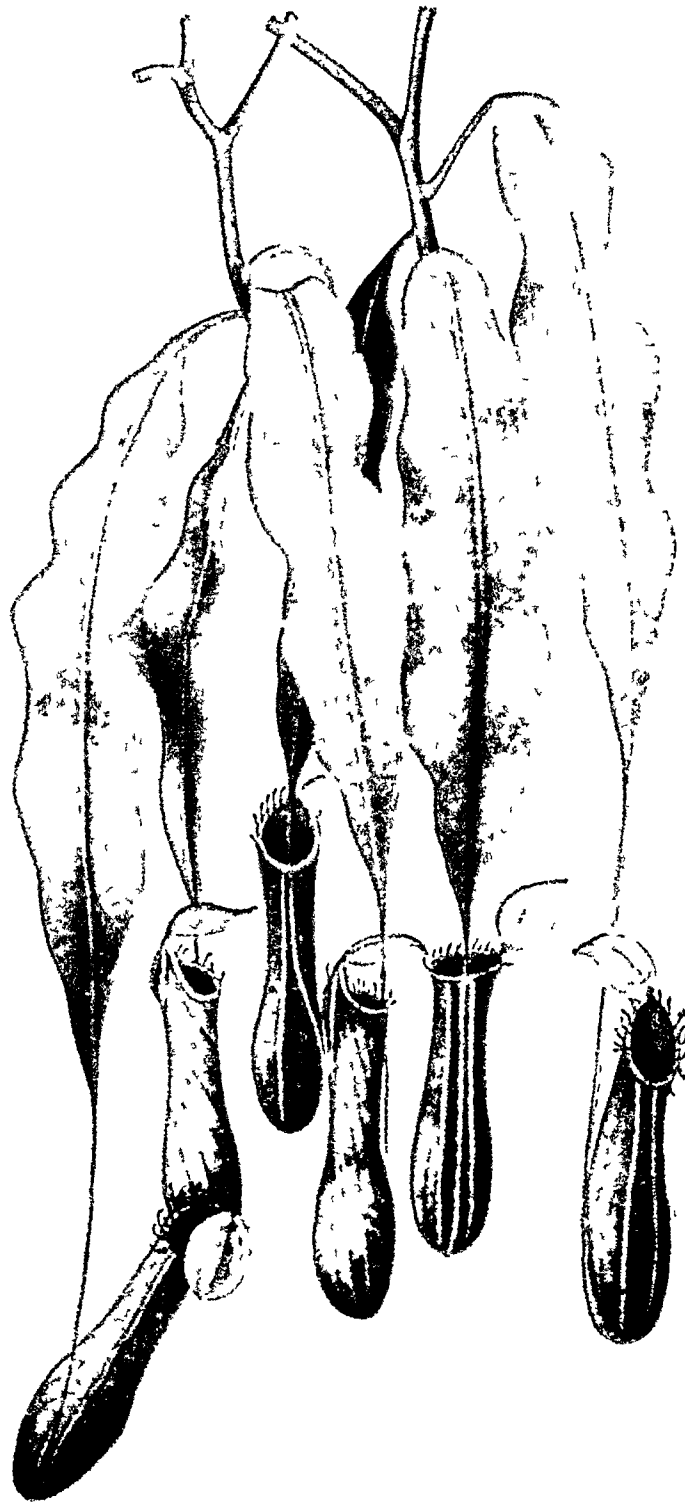
वनस्पति-संसार का एक प्रसिद्ध कीटाशी पौधा—घटपर्णी

जिसमें शिकार फँसाने के लिए विशेष प्रकार की तूँबियाँ होती हैं, जैसी कि चित्र में लटकते हुए देखी जा सकती है ।

पचनक्रिया के समाप्त होने पर कीडे के जबडे, आँखे, पजे जैसे अंग तो जैसे के तैसे पडे रहते हैं, पर रुधिर, मास, मल-मूत्र आदि सब जज्ब हो पौधे के अंगों मे जा मिलते हैं। इसके साथ ही साथ जो रस पत्ती मे से निकले थे उनका भी शोषण हो जाता है और पत्ती पर अब रस की एक बूँद भी नहीं रह जाती। कीडे के वे अंग जो जज्ब नहीं होते हवा मे उडकर इधर-उधर फैल जाते हैं। दो-तीन दिन गुजर जाने के बाद फिर शिकार पकडने के लिए तैयार हो जाती है।

कपाटपर्णी (*Dionæa*) (चि० २) इस वृन्द का दूसरा पौधा है। यह केवल उत्तरी अमेरिका के कुछ पूर्वी भागों मे दलदलों के निकट उगता है। दूसरे कीटाशी पौधों की तरह इसमे भी पत्तियाँ गुच्छे के रूप मे पुष्पनाल के इर्द-गिर्द भूमि के निकट ही रहती हैं (चि० २)। इसकी सम्पूर्ण पत्ती अथवा उसका कुछ भाग भूमि पर रक्खा रहता है और पत्रनाल साधारण पत्ती जैसा चौड़ा तथा चमसाकार होता है। इसके ऊपर गोलाई लिये हुए छोटा-सा पत्रदल होता है, जो सीपी के दो पल्ले जैसा होता है और उन पल्लों के बीच मे प्रधान नस होती है। साधारण दशा मे ये पल्ले खुली किताब की तरह एक दूसरे से ६०°—९०° का कोण बनाते हैं। पत्ती के दोनों पल्लो की कोर पर कुछ लबे तीक्ष्ण कॉटे-जैसे रोम तथा उनके बीचो-बीच तीन बडे रोम होते हैं (चि० ६)। पत्रदलवाले कॉटों से सटी एक छोटी-सी बेलनाकार तन्तुओ की गद्दी होती है। इस गद्दी के कोश कोमल होते हैं और इनकी यह विशेषता है कि उनसे सटे हुए कॉटे झुक और उठ सकते हैं। पत्ती की सतह पर कुछ अर्गवानी ग्रथियॉ होती हैं, जिनसे गोदीला रस आया करता है।

आहार की खोज मे निकले पतिगे जिस समय कपाटपर्णी की पत्तियो पर रेंगते हैं, उस समय उनके दोनो पल्ले, जो अभी तक खुले थे, मुडकर मिल जाते हैं, जिससे कीडा इनके बीच चपक जाता है। इस क्रिया मे पत्ती किनारे के कॉटे आपस मे ऐसे फँस जाते हैं जैसे हमारे हा की उँगलियॉ पजा भिड़ाने मे फँसजाती हैं। पत्रदल के दोन कपाट, जो अब तक समतल थे, अब कटोरी के समान खाल हो जाते हैं और उनके सम्पुटाकार स्थान के बीच आगन्तुक कीडा क़ैदी हो जाता है। कीड़ा फँसाते समय ये पल्ले सदैव एक गति से नही मुडते। अगर कीड़ा पत्ती पर ऐसी जगह बैठता है जहाँ साधारण ग्रथियॉ होती हैं तो वे धीरे धीरे मुडते हैं, पर यदि कहीं वह कटोरी के बीचवाले रोमों से छू गया तो पत्ती के दोनों हिस्से तुरत ही आ मिलते हैं। इसके पश्चात् कटोरी के अन्दर क्या होता है, यह उस वस्तु पर निर्भर है जो उस पौधे के रोमों को उत्तेजित करती है। वैसे तो पत्ती किसी भी वस्तु के लगने से उत्तेजित हो जाती है और उसके कपाट आपस मे आ लगते हैं, परतु अनाइट्रोजनीय द्रव्य के लगने से बंद होने के बाद पत्ती के दल तुरंत ही पूर्व दशा मे आ जाते हैं और नाइट्रोजनीय वस्तु के लगाव से वे उसे कुछ समय तक ढके रहते हैं। इस दशा मे वे समतल होकर ऐसे ज़ोर से परस्पर चिपटते हैं कि बीच मे दबा हुआ पदार्थ यदि कोमल हुआ तो तुरंत ही पिस जाता है। साथ ही पत्ती की वे ग्रथियॉ जो अभी तक सूखी पड़ी थीं एकाएक क्षारीय लसलसा रस बहाने लगती हैं। यह रस पत्ती की सारी ग्रथियों से, चाहे उनका अन्दर दबे शिकार से लगाव हो या न हो, बहने लगता है। अगर पत्ती की सम्पुट-क्रिया के बीच मे उसे खोल कर देखा जाय तो उसमे चारों ओर रस की बूँदे दिखाई देंगी। यही रस क़ैदी जीव को गला-घुला लेता है और बाद मे शोषण से इन्ही ग्रथियों के रास्ते कपाटपर्णी के अन्दर प्रवेश करता है। जब पत्ती फिर खुलती है तो वह शुष्क नज़र आती है। इस प्रकार कीडो का मास, रुधिर, वसा आदि सभी कुछ पौधे के काम आते हैं। कुछ दिन बाद पत्ती फिर शिकार के लिए तैयार हो जाती है।
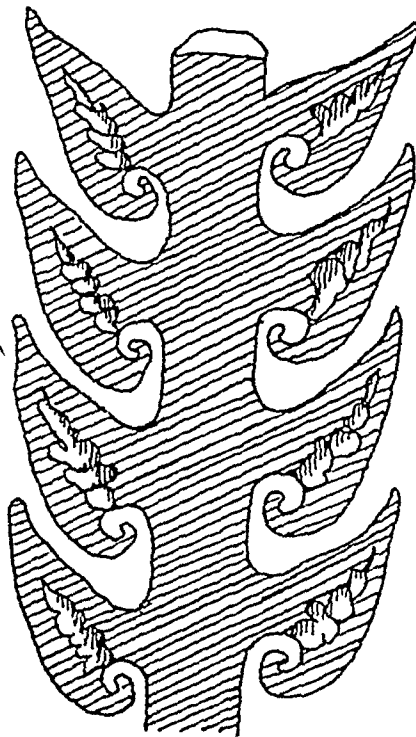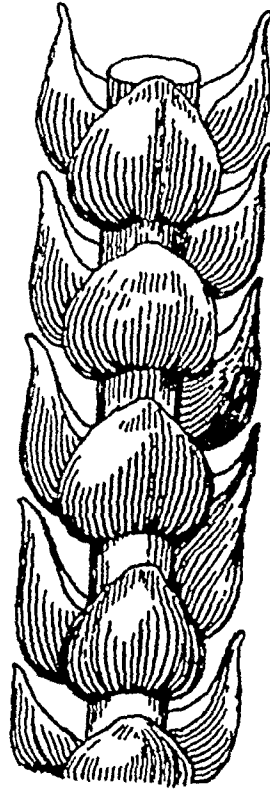
चि० ३—रदनपर्णी
(ऊपर) शाख का एक भाग; (नीचे) उसी के कत्तल का चित्र।

शिकार पचाने मे जो समय लगता है, वह शिकार के डील-डौल पर निर्भर रहता है। प्रायः इस क्रिया मे पत्ती को एक सप्ताह या पखवाड़ा लग जाता है, पर कभी-कभी इससे कम या अधिक दिनो मे भी यह क्रिया समाप्त होती है। अगर शिकार मे पकड़ा गया कीड़ा अधिक बड़ा हुआ और वह पूरा-पूरा पत्ती के अन्दर न बद हो पाया तो वह बाहर फिसल भी जाता है, परतु छोटे जीवों के लिए तो ये पत्तियाँ बद होते ही कालकोठरी हो जाती हैं।

यद्यपि कपाटपर्णी और कनकपर्णी दोनों ही का पतिगे फँसाने का ध्येय एक ही है, फिर भी इनके कीड़े पकड़ने के ढग मे भेद है। कपाटपर्णी की पत्तियो मे यह क्रिया अधिक सुभीते से होती है। उसमे प्रत्येक काम के लिए मानों अलग-अलग श्रम-विभाग है। उसमे दलों के बीचवाले रोम विशेषकर उत्तेजनीय होते हैं, जिनके स्पर्श मात्र से सम्पुट बंद हो जाता है। उसकी पत्ती की कोर पर के रोम शिकार को फिसलने से रोकते हैं और उसकी सतह पर की ग्रथियाँ रस उँडेलकर शिकार को हज़म करती हैं। कनकपर्णी मे ये सारी क्रियाएँ एक ही भाँति के रोमों द्वारा होती हैं।

चि० ४—यह चि० ३ में प्रदर्शित रदनपर्णी की शाख के कत्तल के एक भाग का चित्र है, जो परिवर्द्धित करके दिखाया गया है। इन पत्तियों मे विशेष जाति की सुरगें बन जाती हैं जिनमे कीडे आ घुसते है। यहाँ लसलसे रोम होते है, जिनमे वे फँस जाते है। इन सुरंगो में पाए जानेवाले सनाल रोमों में से एक का परिवर्द्धित चित्र ऊपर से अलग प्रदर्शित है।

चोरगड्ढो की बनावट तथा कीड़े पकड़ने के व्यापार मे कपाटपर्णी ही जैसा बडा भ्रंगी (*Aldrovandıa*) (चि० ७) नामक एक और पौधा भी है। यह पुटकी जैसा जलवासी पौधा है, जिसकी भिन्न-भिन्न जातियाँ दक्षिणी योरप, आस्ट्रेलिया और हमारे देश के बगाल प्रान्त मे मिलती हैं। यह उथली झीलों और तालाबों मे होता है। यह भी पानी पर तैरनेवाला जड़हीन पौधा है, जिसकी प्रत्येक पर्व से कई पत्तियाँ निकलती हैं। कपाटपर्णी की भाँति इसकी पत्ती में भी दृढ सदलक वृन्त और गोलाकार फलक होता है और उसी की तरह इसमें भी पत्रदल दो समान भागों मे बँटा रहता है, जो खुली पुस्तक की भाँति एक दूसरे के प्रति ६०°–९०° का कोण बनाते हैं। पत्ती की मध्य-रेखा के सिलसिले मे नतशिखर के ऊपर इसमें एक तीक्ष्ण शूलसम रोम होता है (चि० ८)। इसे मध्य-रेखा का आगे बढा हुआ भाग कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पत्रदल और वृन्त का जोड़ होता है, वहाँ भी दोनों ओर दो-दो काँटे जैसे रोम होते हैं। ये रोम भी पत्ती से आगे निकले रहते हैं और इन पर महीन-महीन काँटे होते हैं। इन काँटों के भय से बडी जाति के कीडे इसकी पत्ती के पास नहीं आते। इसकी पत्ती की कोर ऊपर को उठी रहती है और उस पर बहुत-से छोटे-छोटे दाँत होते हैं। साथ ही पत्ती की सतह पर, विशेषकर प्रधान नाडी के आस-पास, अनेक नुकीले रोम और ग्रथियाँ होती हैं। छोटे-छोटे जीव पानी के बहाव से या योही घूमते-फिरते जब वहाँ आ पहुँचते है तब इनकी रगड से पत्ती के रोम उत्तेजित हो उठते है और उसके दोनो भाग कपाटपर्णी की पत्ती की तरह मुड़कर बद हो जाते हैं (चि० ८), जिससे पत्ती पर रेंगने वाले जीव क़ैद हो जाते हैं। यदि कहीं आगतुक जीव पत्ती के बीच वाले रोमो को छू गया तो यह क्रिया बडी तेजी से होती है। पत्ती की मुडी कोर और उसके किनारे वाले दाँते फँसे जीव को बाहर निकलने मे बाधा पहुँचाते हैं। इसके पश्चात् की

चि० ५—कनकपर्णी की पत्ती और उसके रोम
(अ) बाईं ओर साधारण दशा में;
(ब) दाहिनी ओर शिकार के लिए उत्तेजित।

क्रिया अर्थात् शिकार को हज़्म करने और शोषण की क्रिया इस पौधे मे किस भॉति होती है, इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं; परन्तु अन्त में कीड़ों का चलना-फिरना बंद हो जाता है और यदि लगभग १५ दिन बाद पत्रदल खोलकर जॉच की जाय तो शिकार की ठठरी को छोड़कर उसके शेष अंगों का पता भी नहीं चलता! इससे स्पष्ट है कि इस पौधे में भी कीटाशी पौधों की तरह गलकर नाइट्रोजनीय द्रव्य का शोषण हो जाता है। नवनीतपर्णी (Butterwort) (चि० ६) इस वर्ग का अन्य एक पौधा है। इसकी लगभग चालीस जातियॉ हैं। कनकपर्णी की भॉति ये पौधे भी नम वातावरण मे सोतों और चश्मो के निकट ही उगते हैं। इनमे पत्तियॉ पौधे के निचले भाग मे होती हैं और ज़मीन पर बिछी रहती हैं। उनके किनारे कुछ-कुछ ऊपर को उठे रहते हैं और उन पर ऊपर की ओर ग्रथियॉ होती हैं, जिनसे शहद-जैसा लसलसा रस निकला करता है। कीड़ों तथा अन्य नाइट्रोजनीय द्रव्यों के स्पर्श से यह रस और भी तेज़ी से बह चलता है। इसके साथ ही साथ इन्हीं ग्रन्थियो से एक दूसरा रस भी आने लगता है, जो नाइट्रोजनीय वस्तुओ को पचा सकता है। पत्ती पर किसी कीड़े के आ बैठने पर वह बाहर की ओर से अन्दर को ओर मुड़ने लगती है, जिससे वह बेचारा बीच मे आ पहुँचता है। ग्रन्थियॉ पत्ती के मध्य भाग मे अधिक होती हैं और इसलिए वहॉ उस पर रस अधिक मात्रा मे आ लगता है। इस पौधे की पत्ती मे हरक़त बहुत धीमी गति से होती है। जब कीड़ा गलकर हज़्म हो जाता है तब पत्ती फिर फैल जाती है।
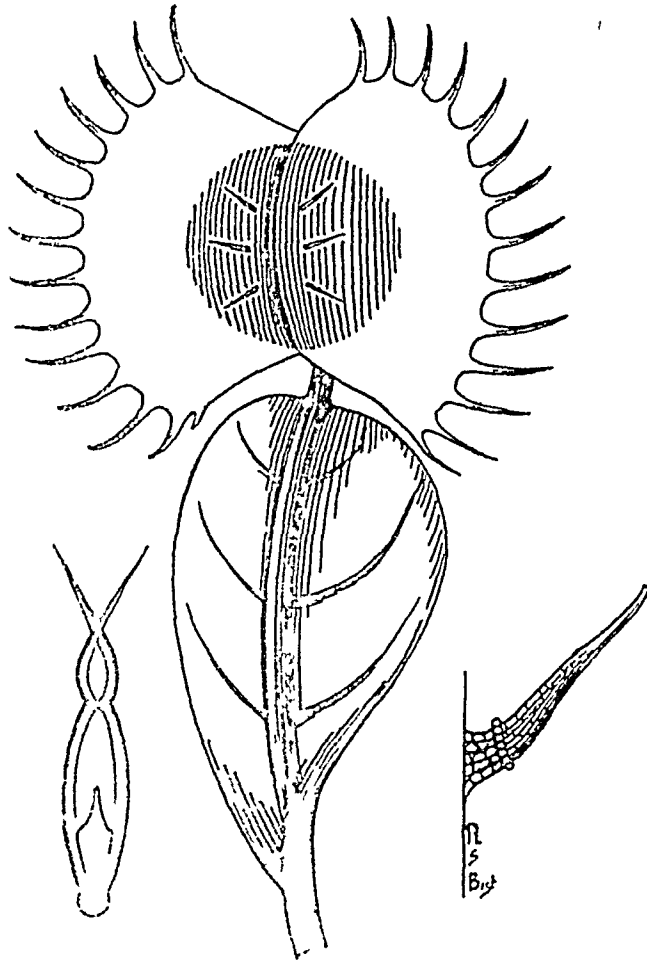
चि० ६—कपाटपर्णी की एक पत्ती
दाहिनी बाजू में संपुट के काँटों में से एक काँटा बड़े आकार में दिखाया गया है और बाईं ओर बंद संपुट के आड़े कत्तल का चित्र है।

यहॉ पर केवल सत्तेप मे कीटाशी पौधों का उल्लेख किया गया है। यदि विचार करके देखा जाय तो इनके लक्षण बहुत-कुछ पशुओं से समानता रखते हैं। इस सम्बन्ध मे कपाटपर्णी सबसे अधिक विचारणीय है। इसकी पत्तियो मे स्पर्श मात्र से उत्तेजना हो उठती है और शिकार फँसने पर उसमे पाचक रस स्रवित होते हैं, जो उसे हज़्म और जज़्ब करते हैं। फिर भी सभी हिंसक पौधों मे वनस्पतियो की भॉति हरी पत्तियॉ होतीं और वे साधारण वनस्पतियो की भॉति ही कार्बन-संश्लेषण द्वारा

स्टार्च की रचना करते हैं तथा भूमि के लवणों के संयोग से प्रोटीन की भी रचना करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि तो फिर बात क्या है कि ये पौधे वनस्पति-जगत् के सभी नियमो को तोडकर अपनी कुल-मर्यादा के विरुद्ध पृथ्वी के खादों का आश्रय छोड़-कर इस प्रकार हिंसक वृत्ति धारणकर मास, रुधिर, वसा जैसी वस्तुओ के प्रेमी बन गए ?

जैसा कि आपको स्मरण होगा प्राणियों के अग का एक परम आवश्यक अश नाइट्रोजन है। इसके बिना जीवन-मूल की रचना नहीं हो सकती। यद्यपि वायु मे ७९ प्रतिशत के हिसाब से (अर्थात् १०० घनफीट वायु में ७९ घन फीट) नाइट्रोजन का अश रहता है, फिर भी कुछ इने-गिने कीटाणुओं को छोडकर शेष जीव इसका उपभोग नही कर सकते। वनस्पतियो को नाइट्रोजन खनिज लवणों ही से मिलती है और भूमि मे इन लवणों की कमी ही बनी रहती है और पेड़-पौधे इसके लिए क्षुधित से रहते हैं।
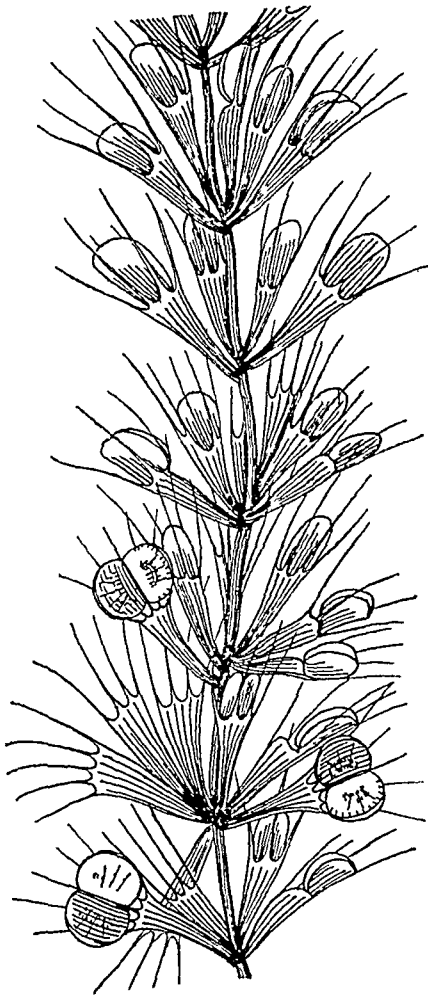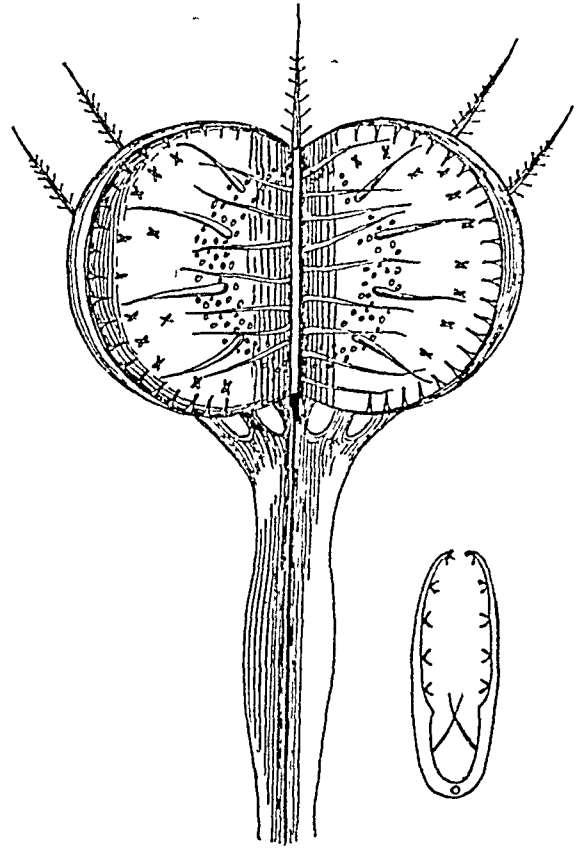
चि० ८—बड़ी भंगी की एक पत्ती

दाहिनी ओर वद संपुट के आडे कत्तल का चित्र है।

चि० ७—बड़ी भंगी

भूमि मे वनस्पतियों के काम आनेवाले नाइट्रोजन के खनिज नमकों की कमी को समझने मे आपको विशेष कठिनाई न होगी। जैसा कि आप पहले ही देख चुके है, पेड-पौधे सदैव इन नमकों को खींचते रहते और उनसे प्राप्त नाइट्रोजन और अन्य तत्त्वों के सयोग से प्रोटीन की रचना करते रहते हैं। समय पर पौधे भी मरते-खपते या जीव-जन्तुओं द्वारा नष्ट हो जाते है। इसी तरह जीव-जन्तु भी एक न एक दिन मरते और सडते-गलते हैं। इस क्रिया मे जीवो के अगो के कार्बनिक यौगिक कुछ विशेष कीटाणुओ के प्रभाव से अमोनिया और नाइट्रोजन मे परि-वर्त्तित हो जाते हैं। वह नाइट्रोजन तो सीधे वायु मे आ मिलती है, परन्तु अमोनिया या तो वायु मे मिल जाती है या एक भाँति के दूसरे कीटाणुओ के संयोग से नाइट्रेटों मे बदलकर भूमि मे रह जाती है और इस भाँति फिर पौधो के काम आती है। भूमि मे कुछ ऐसे भी कीटाणु हैं, जो नाइट्रेटो को अमोनिया मे पलटकर वायु मे मिलाते हैं। इस प्रकार निरन्तर एक नाइट्रोजन-चक्र चलता रहता है। नाइट्रेटों की विदारक क्रियाओं के कारण भूमि मे नाइट्रोजन जैसे परम आवश्यक तत्व के उन नमकों की, जिनको वन-

स्पतियाँ काम में ला सके, कमी पड़ जाती है, जिसके प्रभाव से पृथ्वी की सारी वनस्पति और जीव-सृष्टि के सामने नाइट्रोजन की कमी का प्रश्न सदैव बना रहता है। इसे हम नाइट्रोजन-समस्या कह सकते है।

कोई-कोई जीव ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस जटिल प्रश्न को उत्तम प्रकार से हल कर लिया है। नाइट्रोजनग्राही कीटाणु इन्ही जीवो में गिने जा सकते हैं। इन कीटाणुओं की प्रधानता यह है कि ये वायुमंडल की स्वतंत्र नाइट्रोजन को ही अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर काम में लाते हैं। इनमे से कुछ बैसीलस एमाइलोबैक्टर (*Bacillus amylobacter*), अज़ोटो बैक्टर (*Azotobacter*) की भाँति भूमि मे स्वतंत्र रहते हैं और कुछ बैसीलस रैडिसिकोला (*Bacillus radicicola*) की तरह शिम्बी वर्ग (चना, मटर, मूँग-मसूर जैसे फलीवाले पौधे) तथा अन्य कुछ पौधों की जडो मे गुत्थियों (tubercles) के अन्दर रहते हैं। ये कीटाणु भूमि के अन्तर्गत नाइट्रोजन को ऐसे नमकों मे बदल देते हैं, जो पौधो के खाद्य हैं। इन कीटाणुओं के कारण ही शिम्बीवर्ग अथवा दूसरे गुत्थियों वाले पौधे नाइट्रोजन की कमी वाली भूमि पर भी ज़ोर पकड़ते हैं। प्रायः ऐसे पौधोको नाइट्रोजन की कमी पूरी करने के लिए साधारण नाइट्रोजनवाले खाद-पाँस के बजाय खेतों मे बोते है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इस अभिप्राय से बोई गई वनस्पतियों को फूल-फल आने के पूर्व ही जोतकर खेतो में सडा-गलाकर मिट्टी मे मिला देना चाहिए।

चि० ६—नवनीतपर्णी

इसकी लगभग चालीस जातियाँ है। कनकपर्णी की भाँति ये पौधे भी नम वातावरण में सोतों और चश्मों के निकट ही उगते हैं। इनमें पत्तियाँ पौधे के निचले भाग में होती है और ज़मीन पर बिछी रहती है। उनके किनारे कुछ-कुछ ऊपर को उठे रहते हैं और उन पर ऊपर की ओर ग्रंथियाँ होती है, जिनसे शहद-जैसा लसलसा रस निकला करता है। पत्ती पर किसी कीड़े के आ बैठने पर वह अन्दर की ओर मुडने लगती है, जिससे वह बेचारा फँस जाता है।

कीटाशी पौधों ने नाइट्रोजन-समस्या को अपने विचित्र जीवन द्वारा हल कर लिया है। जिस परिस्थिति मे ये उगते हैं, उसमे इन्हें भूमि से नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा मे नहीं मिल पाती। यही कारण इनके इस पैशाचिक कर्म का समझा जाता है; परन्तु सबसे आश्चर्य्य की बात जो कि समझ मे नही आती है वह यह है कि इनको यह पता कैसे चलता है कि जिसकी इन्हें इतनी क्षुधा है, वह नाइट्रोजन पतिंगो के शरीर मे अधिक मात्रा मे उपस्थित है! जो कुछ भी हो, ऐन्द्रिय व्यापार के विचार से कीटाशी पौधों की कीड़ो-मकोडो के शरीर मे खाद्यद्रव्य ग्रहण करने की क्रिया केवल नाइट्रोजन-प्राप्ति का असाधारण ढग ही समझा जा सकता है। यही कारण है कि इस संबंध मे इतनी चर्चा की गई है। डार्विन की कीटाशी पौधो की पुस्तक मे इनका सविस्तर वर्णन है।

हिन्सक पौधो की कभी-कभी अद्भुत कहानियाँ सुनने मे आती हैं। ऐसी कहानियो मे प्रायः विशाल हिंसक पेड़ो द्वारा कुत्ते, हिरण अथवा ऐसे ही पशुओ की दर्दनाक हत्या का विस्तृत वर्णन रहता है। इन्हे हमे केवल "सहस्ररजनीचरित्र" जैसे उपन्यासो की गल्पें ही समझना चाहिए, क्योंकि यथार्थ मे न तो ऐसे वृक्ष देखे गए हैं और न इनके होने की सम्भावना ही है।

उसके भार पर तनिक ध्यान दीजिए। उसका भार लगभग ४२०० मन तक पहुँचता है। यदि आप किसी ऐसी तराजू की कल्पना कर सकें जिसके एक पलड़े पर इतनी ही भारी ह्वेल रक्खी जा सके तो दूसरे पलडे पर उसके सतुलन के लिए डेढ-डेढ मनवाले २८०० मनुष्यों की आवश्यकता पडेगी। अर्थात् उस पलडे पर एक मेला-सा लग जायगा। जानवरों में ह्वेल का मुँह सबसे बड़ा होता है। उसके जबडों की लम्बाई १६ फीट के लगभग और चौडाई लगभग ७ फीट होती है। दो लम्बे आदमी उसके भीतर एक दूसरे के ऊपर सीधे खडे हो सकते हैं। जब ह्वेल अपने मुँह को फैलाती है तो उसमे १२ फीट ऊँचा एक द्वार-सा खुल जाता है और उसके मुँह की गुफा मे सवारियोंसहित एक छोटी मोटी नाव सुविधा से प्रवेश कर सकती है।

इन विशालकाय ह्वेलों के सम्मुख स्थल का सबसे बड़ा प्राणी हाथी भी बच्चे के समान जान पड़ता है। स्थल-निवासी पृष्ठवंशियों का शरीर टॉगों की हड्डियो के कारण अधिक बड़ा नहीं हो सकता। हड्डी की वजन साधने की शक्ति उसकी मोटाई पर निर्भर है और थोडे-से विचार से ही आप समझ सकते हैं कि यदि किसी पशु के समस्त शरीर का भार टॉगो ही को साधना पडे तो उसकी हड्डियों का बोझ उसके शरीर के सम्पूर्ण बोझ की अपेक्षा अधिक बढता जायगा। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि जीवित पेशियॉ और रक्त एक सीमा तक ही सहारा देनेवाले अवयवों को गति दे सकते हैं और उनका पोषण कर सकते हैं।

जल मे रहनेवाले जन्तुओं के साथ यह कठिनाई नहीं है। उनमे हड्डियों की आवश्यकता बोझ को साधने के लिए नहीं होती, बल्कि वे केवल एक टेक और ढॉचे का काम देती हैं। जल के कारण ह्वेल के भारी शरीर को वैसा ही सहारा मिल जाता है जैसा हाथी को भूमि पर अपनी टॉगों से मिलता है। ह्वेल को यदि स्थल पर जीवन व्यतीत करना पड़ता तो उसको अपना शरीर साधने के लिए कितनी मोटी टॉगों की आवश्यकता होती, इसका अनुमान सहज नहीं है। इतना विशाल शरीर होने पर भी ह्वेल उतनी ही फुर्ती से तैरती, गोता लगाती और ऊपर आती है, जैसे कि एक छोटी-सी मछली करती है। तात्पर्य यह है कि जलवासी पृष्ठवंशियों के शरीर स्थल-वासियों की अपेक्षा बहुत बडे हो सकते हैं। और इन जलवासियों के डील-डौल उनकी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त भोजन मिलने और उनकी पाचन शक्ति पर निर्भर हैं।

स्थलचर प्राणियो में सबसे विशाल—हाथी

यह जानवर जगली दशा मे केवल अफ्रीका और भारत मे ही पाया जाता है। अफ्रीका और भारत के हाथी की शक्ल में काफी अंतर होता है। प्रस्तुत चित्र में ऊपर अफ्रीका का हाथी दिखाया गया है और नीचे भारतीय हाथी। दोनो के कान, माथा आदि की तुलना करके आप उनका अंतर देख सकते है।

संसार का सबसे ऊँचा प्राणी—जिराफ

जिराफ हाथी से भी अधिक ऊँचा होता है। उसको सृष्टि का सबसे ऊँचा जन्तु होने का गर्व प्राप्त है और उसका रूप भी (जैसा कि चित्र को देखने से ज्ञात होगा) अजीब है। जन्तु-जगत् के किसी भी प्राणी से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उसको देखने से यह बोध होता है कि प्रकृति

ने उसे ऊँट, हिरन और बैल तीनों के अंगों के एक अनोखे सम्मिश्रण का उदाहरण करके रचा है। कदाचित् आपने उस बुढिया की कहानी सुनी हो, जिसने एक जतुशाला मे पहले-पहल जिराफ़ को देखकर कहा था, "क्या यह असली जानवर है ? मुझे तो विश्वास नही होता !" सम्भव है कि आप भी पहले-पहल इस विचित्र जीव को देखकर यही विचार करेगे क्योकि वास्तव मे वह ऐसा ही है। उसकी लम्बी-पतली टॉगो; अत्यन्त लम्बी गर्दन, हास्यजनक छोटे-छोटे सींग और बड़ी-बडी भूरी ऑखों को ध्यान से देखिए। दौडते समय तो वह और भी अजीब दिखाई देता है। उस समय वह अपनी पिछली टॉगों को सामनेवाली टॉगों के आगे डालता है और अपनी लम्बी गर्दन को नीचे-ऊपर कर एक अजीब मसखरे ढग से हिलाता जाता है।

जिराफ़ इतना ऊँचा होता है कि यदि एक दूसरे पर दो हाथी भी खडे हो जायँ तब भी वह उनके ऊपर गर्दन ऊँची कर सकता है। उसकी ऊँचाई १६ या २० फीट होती है और हाथी के समान वह भी झुडों मे रहा करता है। जिराफ अफ्रीका के मध्य भागो मे ही पाया जाता है। उसकी लम्बी गर्दन और चित्तीदार नारगी रग उसको वहॉ के बबूल के जगलों मे रहने मे विशेष सहायता देते हैं। उसे इन वृक्षों की पत्तियॉ बहुत प्रिय हैं, परन्तु वे भूमि से काफी ऊँचाई पर होती हैं। कहा जाता है कि जिराफ़ युगों से अपनी गर्दन उन पत्तियो तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहा, इसीलिए धीरे-धीरे उसकी गर्दन लम्बी होती गई, यहॉ तक कि उसने अपना वर्त्तमान रूप धारण कर लिया।

जिराफ के मनोहर रग की उपयोगिता का वर्णन एक प्रसिद्ध शिकारी गौर्डन कोमिग ने बहुत अच्छा किया है। हम उसके कुछ शब्द यहॉ उद्धृत कर रहे हैं। "मुझे जान पडता है कि सृष्टि को सुशोभित करने के लिए जो नाना प्रकार के जीव रचे गए हैं उनमे और उनके निवास-स्थानो के दृश्यो मे कुछ अद्भुत समानता है। उदाहरण-स्वरूप जिराफ़ ही को ले लीजिए। वह अफ्रीका के बडे पुराने जगलो मे रहता है, जहॉ बहुत-से हरे और सूखे वृक्ष होते हैं। मै प्रायः वहॉ पहुँचकर धोखा खा जाता था। मैने अपने जगली नीग्रो साथियों की भी परीक्षा की, परन्तु वे भी भ्रम मे पड़कर दूर से जिराफ़ को कभी पेड़ का तना समझते थे और कभी वृक्षों के तनों को जिराफ बतलाते थे।" इससे स्पष्ट है कि उसके शरीर का हलका नारंगी रंग और उस पर पडे हुए धूमिल धब्बे वृक्षों की छाया मे उसे अदृश्य बना देते हैं और शत्रुओं से उसकी रक्षा करने मे सहायक होते है।

स्थल का सबसे भारी जन्तु—हाथी

जिस प्रकार जिराफ़ स्थल के जीवों मे सबसे ऊँचा होने का गर्व कर सकता है वैसे ही हाथी को धरती के प्राणियो मे सबसे विशाल होने का गौरव प्राप्त है। सभी लोग जानते हैं कि उसके एक विचित्र सूँड होती है, जिससे वह हाथ का काम लेता है। वह उससे वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर नीचे नहीं गिराता, बल्कि उसे ऊँची उठाकर उससे ही अपने चारे को उठाकर मुँह मे रख लेता है। प्यास लगने पर उसी मे पानी भरकर वह मुँह मे उँडेल लेता है। उससे वह जहॉ भारी-भारी

जानवरो का सम्राट्—सिह
वज़न मे छः मन का होने पर भी जो बिजली की तरह हाथियों तक पर आक्रमण करता है।

शहतीरों तक को उठाकर इधर-से-उधर रख देता है, वहाँ पैसे-जैसी नन्ही-सी वस्तु को भी उठाकर अपने महावत को पकड़ा देता है।

आजकल हाथी केवल अफ्रीका और दक्षिणी एशिया में ही पाए जाते हैं। हम भारतवासी हाथी को देखकर सहज ही बतला सकते हैं कि वह देशी है अथवा विदेशी। अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी की अपेक्षा बड़ा और बलवान् होता है और उसके कान बहुत बड़े होते हैं। जब वह उन्हे पीछे को मोड़ लेता है तो उसके कन्धे बिलकुल ढक जाते हैं। सूँड पर ग़ौर करने से भी दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अफ्रीका के हाथी की सूँड़ के छोर पर नीचे और ऊपर दो उँगलियाँ-सी निकली रहती हैं। एशियाई हाथी मे उसकी ऊपरी छोर पर केवल एक ही उँगली-सी होती है। इसके अतिरिक्त अफ्रीकावाले हाथी की पिछली टाँगों में तीन-तीन उँगलियाँ-सी होती हैं और एशियावालों मे चार-चार। अफ्रीका का सबसे ऊँचा हाथी ११ फ़ीट ८॥ इंच तक ऊँचा नापा गया था और एशिया के हाथियों मे अब तक जो सबसे ऊँचा मिला है वह १० फ़ीट ६ इंच ही ऊँचा था। हाथियो का शिकार उनके बहुमूल्य दाँत के लिए किया जाता है। नर और मादा दोनों ही में दाँत होते हैं, किन्तु मादाओं में वे छोटे ही रह जाते हैं और मुँह के बाहर निकले नहीं दिखलाई पड़ते। हाथी का एक-एक दाँत ११-११॥ फ़ीट तक लम्बा पाया गया है, जिसका कि भार २ मन से कुछ ही कम था। हाथी दाँत की बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे चूड़ियाँ, बिलियर्ड की गेंदें, शतरंज के मोहरे, खिलौने इत्यादि बनाये जाते है।

अमेरिका का यह भूरा भालू, जो 'ग्रिजली बेअर' कहलाता है, एक भयंकर जीव होता है। यह एक अजीब ढंग से मछलियो का शिकार करता है।

दरियाई घोड़ा और गैंडा

हाथी के बाद सबसे भारी स्थलचर जानवर दरियाई घोड़ा या हिप्पोपोटेमस है, जो अपनी छोटी-सी दुमसहित १६ फ़ीट लम्बा होता है। हिप्पो चर्बी और मांस का ऐसा भंडार होता है कि उसके पेट के घेरे का नाप लगभग उसकी लम्बाई के ही बराबर होता है। पूर्ण जवान हिप्पो ऊँचाई मे तो लगभग ५ फ़ीट का ही होता है, परन्तु उसका बोझ लगभग ११२ मन होता है। स्थल के प्राणियों में सबसे बड़ा मुँह हिप्पो को ही प्राप्त हुआ है। उसमें दो भयानक फाड़नेवाले दाँत होते हैं। मुँह खोलने पर उसकी आकृति बड़ी डरावनी होती है।

हिप्पो दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका के अतिरिक्त दुनिया मे और कहीं नहीं पाया जाता। इस विशाल जन्तु को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसको पृथ्वी पर चलने-फिरने मे अवश्य ही कठिनाई होती होगी, किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। वह स्थल पर मनुष्य के बराबर ही दौड़ सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह अपना समय अधिकतर पानी में ही व्यतीत करता है।

गैंडा भी हाथी और हिप्पो के समान एक भारी-भरकम पशु है। इसकी दो उपजातियाँ भारतवर्ष में भी मिलती हैं। गैंडे की नाक पर एक या दो विचित्र सींग होते हैं। इस सींग का स्थान जैसा अनोखा है वैसी ही उसकी रचना भी अद्भुत् है। अन्य पशुओं के सींगों के समान उसमे हड्डी नहीं होती। वह एक बहुत मोटे और लम्बे बाल की नाई खाल से उगता है। एशिया में मिलनेवाले गैंडों में एक सींग-वाला भारतीय गैंडा सबमें बड़ा होता है। उसकी ऊँचाई कंधे तक ६ फ़ीट होती है। जनरल किनलौख़ ने एक बार एक ऐसा गैंडा मारा था जिसकी लम्बाई दुम को छोड़कर ८ फ़ीट १ इंच थी। अफ्रीका का गैंडा भारतीय गैंडे से बड़ा और भारी होता है। उसके शरीर का बोझ ८० मन से भी अधिक होता है। उसकी दो जातियाँ मिलती हैं, एक काली और दूसरी श्वेत। श्वेत गैंडा कभी-कभी १२ फ़ीट लम्बा और ६ फ़ीट ऊँचा तक देखने मे आया है।

जंगल का राजा—सिंह

उपर्युक्त बड़े डील और मोटी खाल वाले सब जीव शाकाहारी हैं। अब आइए, मांसाहारियों मे सबसे विशाल पशु जंगल के सर्दार शेर बबर का आपको परिचय दें, जिसको जन्तुओं का राजा भी कहते हैं। शेर बबर अब गुजरात को छोड़कर सिर्फ़ अफ्रीका मे ही पाया जाता है, किन्तु कुछ समय पहले वह अरब, पूर्वी योरप और मध्य एशिया में भी मिलता था। वह ७ फ़ीट या इससे

भी अधिक लम्बा होता है और उसकी दुम लगभग गज़ भर लम्बी होती है। उसका भार ६ मन के लगभग होता है। बब्बर शेर की गर्दन अत्यन्त भयप्रद होती है। रात के सन्नाटे मे जब वह घने वन में गरजता है तो छोटे-बड़े सभी जीव भय से कॉप उठते हैं। बलवान से बलवान बैलों और भैंसों के ऊपर छलॉग मारकर वह जा कूदता है और उनकी गर्दन मे अपने तीक्ष्ण दॉत घुसेड़ देता है, जिससे विवश होकर वे तत्काल ही धराशायी हो जाते हैं। सृष्टि का कोई भी जीव उसके शारीरिक बल की समता नहीं कर सकता। उसकी शान्त और गम्भीर आकृति, राजसी चाल एवं अतुलनीय बल और पौरुष जानवरों की दुनिया मे उसके उच्च पद के प्रमाण हैं। बाघ या चीता भी ऊँचाई मे शेर के बराबर ही होता है। उसकी लम्बाई ६ या १० फीट होती है और शरीर का भार ५-६ मन से कम नही होता। उसकी अगली टॉगों का घेरा २ फीट के लगभग होता है और गर्दन वृक्ष के तने के समान मोटी होती है। ऐसा विशाल जन्तु तडपकर जब गाय, बैल, हिरन आदि पर आक्रमण करता है तो उसके धक्के से ही वे मूर्छित हो जाते हैं। बाघ सिंह की भॉति अपने पंजों से थप्पड नही मारता। वह दोनों पंजों से शिकार को जकड़ लेता है और तब अपने दॉतों से उसे चीर-फाड़ डालता है।

एक ओर तो ऐसे-ऐसे दीर्घकाय स्तनधारी हैं और दूसरी ओर बहुत से ऐसे छोटे और हल्के शरीरवाले स्तनधारी भी इस पृथ्वी पर विराजमान हैं, जैसे कि चूहा और छछूँदर। इनमे से कोई-कोई को तो ४ ६ इंच से अधिक बडा शरीर प्राप्त नहीं होता। एक ही वर्ग मे कोई जीव मनों भारी है तो कोई कठिनता से २-३ छटॉक का ही है। ऐसा क्यों है? यह प्रकृति का एक रहस्य है जिसको जानना मानव की शक्ति से परे है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पशुओं के शरीर में कुछ ऐसी नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ हैं, जिनके प्रभाव से उनके शरीर की वृद्धि और बडाई-छोटाई निश्चित होती है।

सबसे बड़ा पक्षी—शुतुरमुर्ग

पक्षियों मे सबसे बडा शरीर उन जीवों का ही है, जिन्होंने अपने को वायु-मडल की सैर से वचित रक्खा है, अर्थात् जो उड नहीं सकते। इनका विस्तृत वर्णन हम पहले के लेखों में कर ही चुके हैं।

इन्ही मे से सबसे बड़ा अफ्रीका के मैदानों मे मिलनेवाला शुतुर्मुर्ग है, जो घोड़े से भी तेज़ दौड़ सकता है और अपनी

गैंडा

जो हाथी और हिप्पोपॉटेमस के बाद स्थलचर जीवों मे सब से बडा प्राणी होता है। इसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता इसके नाक पर उगनेवाला वह अनोखा सींग है जिसे आप चित्र में देख सकते है। इसकी भी हाथी की तरह भारतीय और अफ्रीकन ये दो जातियाँ पाई जाती है।
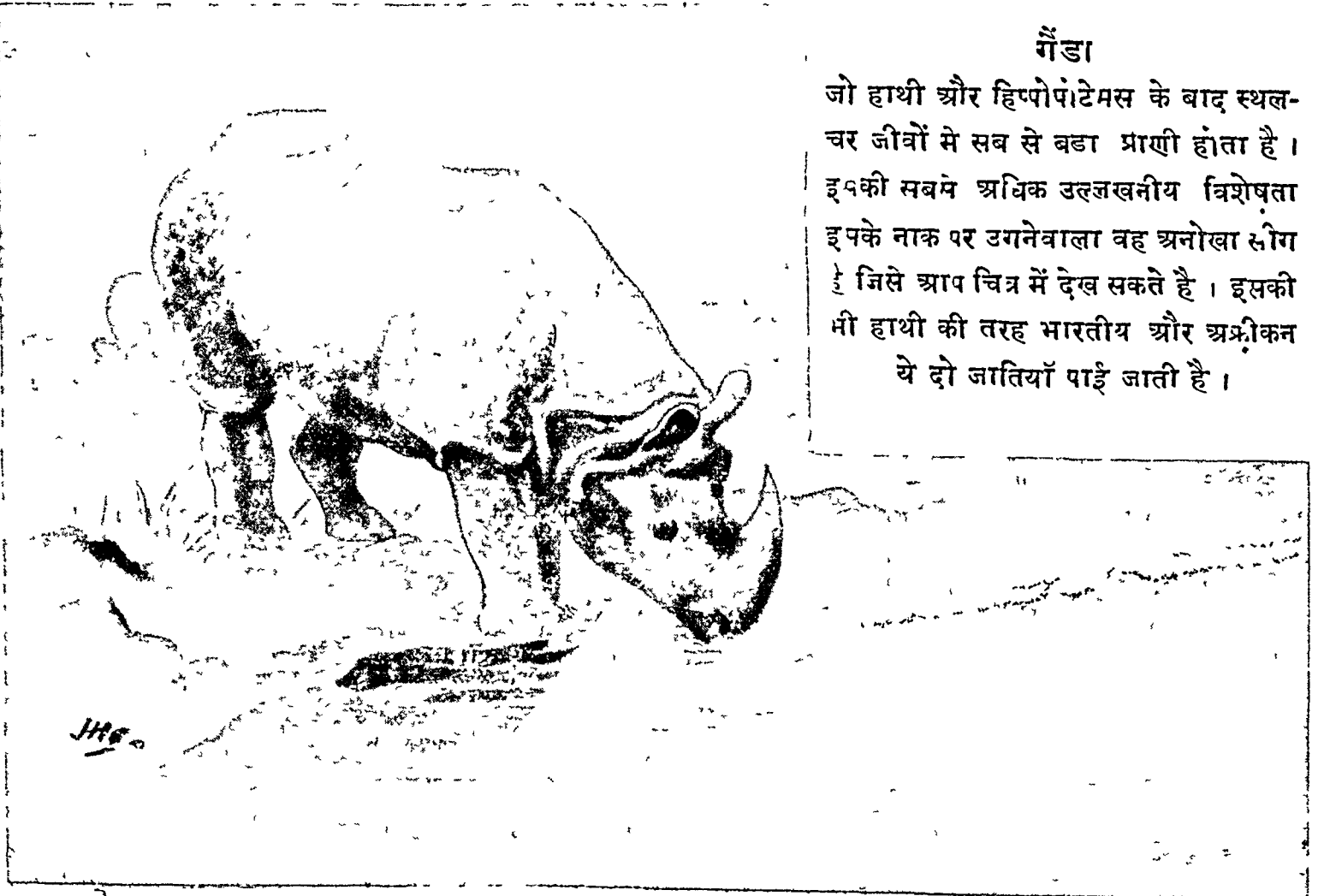
मज़बूत टाँगो और पैने नखो से चौपायो की-सी कड़ी ठोकर मार सकता है। दौड़ते समय वह एक छलाँग मे २५ फीट तक की दूरी पार कर डालता है। वह ऊँचाई मे कभी-कभी ८ फीट तक पहुँचता है और उसका बोझ ३॥ मन से भी अधिक होता है। उसका अडा लगभग १॥ सेर भारी होता है।

उड़नेवाले पक्षियों मे सबसे बड़ा और ज़बरदस्त प्राणी सुनहला उकाब है, जो शिकारी पक्षियो का राजा माना जाता है। यह उत्तरी गोलार्द्ध मे ही मिलता है। इसके परों का फैलाव ६ फीट और चोच से दुम तक की लबाई ३ फीट होती है। अपनी वीरता और उच्च पद के कारण ही बहुत-से प्राचीन और अर्वाचीन राज्यों के झडों पर उसे स्थान मिला है।

इन बड़ी चिड़ियो के मुक़ाबले मे दूसरी ओर अनेकों अत्यन्त नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ भी मिलती हैं, जिनमें सबसे छोटी जाति की चिड़ियाँ अमेरिका मे पाई जाती हैं। उन्हें भिनभिनानेवाली चिड़िया या शकरखोर कहते हैं। इनमे से कोई-कोई लम्बाई मे ३ इच से भी छोटी होती हैं, परन्तु चमकदार और चटकीले रगों की सुन्दरता मे वे ससार के सब पक्षियों से बढकर हैं।

उड़नेवाली चिड़ियाँ वायु के गति-सबधी कारणों से एक निश्चित परिमाण से अधिक बड़े शरीरवाली नहीं होती। वही चिड़ियाँ डील-डौल मे बड़ी हो सकी हैं, जिन्होंने कि अपने पखो और उड़ने की शक्ति का त्याग कर दिया है। इसीलिए पखोवाले फरिश्तों का होना वास्तव में जीव-विज्ञान की दृष्टि से असम्भव है। पखों को फड़फड़ानेवाली प्रेरक शक्ति के लिए औसत शरीर के फरिश्ते के लिए भी इतनी बड़ी छाती की हड्डी और मास-पेशियों की आवश्यकता होगी जो कि उसके सीने से ४ फीट आगे को निकली रहे।

सबसे बड़ा सर्प—अजगर

उरगमों मे भी अजगर-जैसे भारी सर्प, बड़े-बड़े कछुए और ऐसे बड़े-बड़े गोह आदि पाए जाते हैं, जिन्हें देखकर आप आश्चर्य मे पड़ जायँगे। अजगरों में कोई-कोई ३० फीट या इससे भी अधिक लम्बे और एक स्वस्थ मनुष्य की जाँघ से भी अधिक मोटे होते हैं। इनके विषय में यात्रियों द्वारा बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हुई हैं। रोमनों के ज़माने मे कहा जाता था कि एक दैत्याकार सर्प ने किसी हाथी को गला घोंटकर मार डाला था। अजगर कितने बड़े जानवर खा लेता है, इस विषय मे लोगों ने बहुत-सी ऐसी बातें हाँकी हैं। उनके द्वारा पूरे क़द के बैल निगल लिये जाने की बात सरासर झूठ है। हाँ, बड़ी-बड़ी जतुशालाओं में कभी-कभी अजगरों को सुअर के बच्चे तथा छोटी बकरियाँ खाने को दी जाती हैं। एक समय एक भारतीय अजगर ४ फीट लम्बा तेंदुआ खाते देखा गया था। डाक्टर बार्नेट ने लिखा है कि उन्होंने स्वय बोआ जाति के ११ फीट के एक अजगर को एक जवान हिरन को, जिसके सींग न निकले थे, खाकर अचेत पड़े हुए देखा था। ऐसे बड़े जीवों को निगलकर अजगर उन्हें एक सप्ताह या दस दिन मे हज्म कर डालता है। इन साँपों की एक विशेषता यह है कि वे बिना खाए भी बहुत दिनों तक जीवित रह सकते हैं। प्रसिद्ध ही है कि 'अजगर करे न चाकरी।'
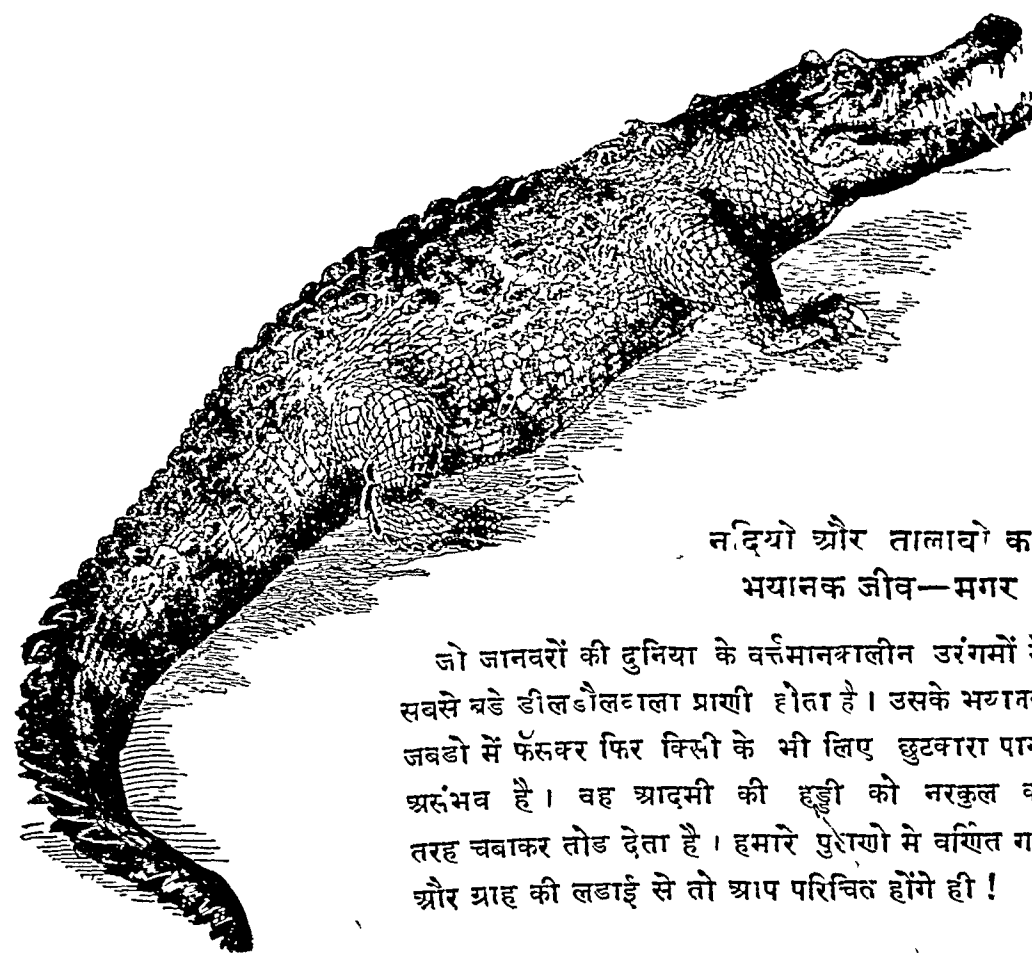
नदियो और तालाबों का भयानक जीव—मगर

जो जानवरों की दुनिया के वर्तमानकालीन उरगमों मे सबसे बड़े डीलडौलवाला प्राणी होता है। उसके भयानक जबड़ो में फँसकर फिर किसी के भी लिए छुटकारा पाना असंभव है। वह आदमी की हड्डी को नरकुल को तरह चबाकर तोड देता है। हमारे पुराणो मे वर्णित गज और ग्राह की लड़ाई से तो आप परिचित होंगे ही!

मगर और घड़ियाल

मगर और घड़ियाल वर्त्तमान उरगमों मे सबसे बडे हैं। ये बडी-बडी नदियों मे निवास करते हैं और मनुष्य के घोर शत्रु होते हैं। प्रायः नदो मे नहानेवालो को अपनी बॉह या टॉग उनको अर्पण करना पडती है। पानी पीते हुए चौपायो को ये कभी-कभी टॉग पकड़कर घसीट ले जाते हैं और उस समय तक पानी मे दबाये रहते हैं जब तक कि वे मर न जाएँ। उनके जबड़ों की पकड़ ऐसी कडी होती है कि जो वस्तु उनके मुँह मे आ जाती है, उसका छूटना असम्भव है। ये साधारण मनुष्य को सुगमता से निगल सकते हैं। अफ्रीका और भारतवर्ष मे नदियों पर पानी भरने जानेवाली स्त्रियो का प्रायः मगर द्वारा घातक अन्त हो जाना कोई असाधारण घटना नहीं है। मगर की सबसे बड़ी जाति हिन्दमहासागर मे—बगाल की खाड़ी से लेकर ऑस्ट्रेलिया के तट तक—पाई जाती है। इसकी लम्बाई ३३ फ़ीट तक पाई गई है। अमेरिका का सबसे बड़ा मगर अमेजन नदी मे पाया जाता है, किन्तु वह २० फीट से अधिक बड़ा नही होता। नील नदी मे मिलनेवाले अफ्रीका के मगर १५ फोट लबे होते हैं और भारतीय मगर प्रायः १२ फोट के।

छिपकलियो का राजा

छिपकलियों की भी एक बहुत बडी जाति डच पूर्वीय द्वीपसमूह के कोमोडो नामक द्वीप मे पाई जाती है, जा ८ या ६ फोट लम्बी होती है। प्राचीन काल की बड़ी-बड़ी छिपकलियों और गोहों के ये बचे खुचे नमूने ही अब रह गए हैं। इनकी संख्या बहुत कम है, इसलिए इनको बडी रक्षा की जाती है। जहॉ तक हमे मालूम है, इनके केवल चार ही प्रतिनिधि अभी तक पकड़-कर जन्तुशालाओ मे लाए गए हैं।

मेढक और मछलियों मे भी अत्यन्त नन्हें से लेकर बहुत बडे-बड़े जीव पाए जाते हैं। मेढकों मे सबसे बडा अफ्रीका महाद्वीप के कैमेरून नामक वनो मे पाया जाता है। वह छोटे कुत्ते के बराबर होता है। उसके बाद अमेरिका के 'बुल' मेढक का नम्बर आता है, जो खाया भी जाता है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) मे वेचने के लिए इनको पाला भी जाता है!

संसार की सबसे बड़ी मछलियाँ

सागरो मे प्रायः ऐसी बडी-बडी मछलियॉ पाई जाती हैं, जिनका विश्वास करना सहज नहीं है। सबसे बडी जाति

संसार का सबसे बड़ा सर्प —अजगर
यह भयंकर प्राणी ३० फ़ीट तक लबा और एक तगड़े मनुष्य की जॉघ से भी ज़्यादा मोटा पाया जाता है। यह हिरन जैसे बड़े जीवों को भी समूचा ही निगल जाता है। देखिए प्रस्तुत चित्र में किस प्रकार पेड़ से लिपटकर उसने एक पशु को जकड़ रक्खा है!

की मछलियाँ शार्क और रे के नाम से प्रसिद्ध हैं। शार्कों में सबसे बड़ी ह्वेल शार्क है, जो ७५ फीट तक लम्बी पाई गई है और १२५ मन या उससे भी अधिक भारी होती है। ज़रा सोचिए तो सही कि उसके ७००० दाँत उसको कैसा भयकर जीव बना देते होंगे। इससे छोटी एक शार्क नर-सहारक होती है और मनुष्य के अतिरिक्त बड़े-बड़े समुद्री जानवरों पर भी आक्रमण करती है। वह ४० फीट से भी अधिक लम्बी होती है और देखने में बड़ी डरावनी लगती है। 'रे' या सिकची नामक मछली अपने डैनों सहित १५ फीट चौड़ी होती हैं और वजन मे ५५ मन तक पाई गई है। ये बड़ी मछलियाँ दिन में समुद्र-तल में बालू में आधी गड़ी हुई पड़ी रहती हैं, किन्तु रात होने पर बालू झाड़कर वे इधर-उधर समुद्री चमगादड़ों की तरह तैरने लगती हैं।

बड़े अपृष्ठवंशी

अपृष्ठवंशियों के ससार मे भी बड़े और छोटे दोनों ही प्रकार के जीव पाए जाते हैं, किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, पृष्ठवंशियों के समान बड़े जीव इनमें नहीं होते। इनमें सबसे बड़े डीलवाले जीवधारी मृदुलागो समुदाय के कुछ जन्तु घोंघा, सीप, शख इत्यादि हैं जिनसे आप परिचित हो चुके हैं। सबसे बड़े मृदुलांगी समुद्र में रहते हैं और वे तैरते भी खूब हैं। इनकी एक जाति, जो अंग्रेज़ी में "स्क्विड" नाम से प्रसिद्ध है, एटलान्टिक महासागर में मिलती है, जिसकी भुजाओं की लम्बाई ३० फीट तक पाई गई है। इसकी भुजाओं में बहुत से चूषक बने रहते हैं, जिनसे वे अपने शत्रु या शिकार को पकड़ लेते हैं। इन्हीं की एक जाति अष्टपाद है, जो कभी-कभी बहुत ही विशालकाय होते हैं। आस्ट्रेलिया का बड़ा अष्टपाद बहुत ही भयकर होता है। उसकी भुजाओं का फैलाव ४० फीट तक होता है और उन पर पैसे से लेकर बड़ी रकाबी जितने बड़े कोई २५०० चूषक होते हैं। ये जीव सहज में ही समुद्री पनडुब्बों के प्राण ले सकते हैं और उनके बल और निष्ठुरता के विषय में बहुत सी भयानक कहानियाँ लिखी गई हैं। एक बार का ज़िक्र है कि सिंगापुर के बन्दरगाह मे कोई एक पनडुब्बा एक बड़े स्क्विड के उन दिनों वहाँ रहने के कारण जल में नहीं उतरता था।

पक्षियों की दुनिया का सबसे बड़ा जानवर—शुतुर्मुर्ग
यद्यपि यह एक पक्षी है, परन्तु उड़ने में यह बिलकुल असमर्थ है। इसके विपरीत यह दौड़ता इतनी तेजी से है। कि सरपट दौड़नेवाले घोड़े को भी मात कर सकता है। यह पक्षी अफ्रीका के मैदानों मे पाया जाता है और वहाँ पाला भी जाता है।

मृदुलांगियों के बाद सबसे भारी अपृष्ठवंशी सीलैन्ट्रेट वर्ग में पाए जाते हैं। इनमें समुद्री एनीमोन और मूँगा उत्पन्न करने वाले जन्तु भी शरीक हैं। उत्तरी महासागर में पाए जानेवाले जेली-मत्स्य—जो वास्तव मे मछली नहीं होते—इसी समूह के नर्म गुदगुदे जीव हैं, जिनका अधिकाश शरीर पानी से भरा रहता है। इनका बोझ १३-१४ मन तक होता है।

इनके पश्चात् खडपदीय (जोड़दार पैरवाले) जीवों की बारी आती है, जिनमें कीड़े, मकोड़े, कीट झींगे, केकड़े इत्यादि शरीक हैं। इस वर्ग मे नन्हें-नन्हें केकड़ों से लेकर जापान के विशालकाय मकड़ी-केकड़े तक (जो लगभग २५-३० सेर भारी होते हैं) पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी समूहों में अत्यंत

बड़े और अत्यन्त छोटे जीव देखने मे आते हैं। प्राणियों की आँतों के अन्दर रहनेवाला सबसे बड़ा कद्दूदाना कृमि ७० फीट से भी लम्बा होता है, परन्तु उसका शरीर फीते की तरह चपटा और पतला होने के कारण उसका बोझ अधिक नही होता। ब्रह्मा और दक्षिणी भारत में गज़ भर लम्बे और मनुष्य की बाँह जैसे मोटे केंचुए पाए जाते हैं। स्थान की कमी के कारण इन सबका वर्णन न करके इस विषय के एक और पहलू की ओर अब हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

पतिंगे बडे क्यों नहीं होते ?

जोडदार टाँगोवाले जीवों की खाल कडी होती है, इसीलिए उन्हे बढने के लिए अपनी केंचुली बदलनी पडती है। यह बात वल्कवाले जीव तथा कीटो मे विशेष रूप से लागू होती है। इसलिए जब तक परदार कीटों और पतिगों के पर नही निकलते, तभी तक वे बढ सकते हैं, क्योंकि परो के बहुत पतले होने के कारण उनकी केंचुली नहीं बदली जा

दैत्याकार 'रे' या सीखची मछली

यह भीमकाय मछली अपने इस प्रकार के भयभीत करनेवाले स्वरूप के कारण अंग्रेज़ी मे 'डेविल फ़िश' (Devil Fish) के नाम से पुकारी जाती है। अपने डैनो सहित यह मछली १५ फ़ीट चौडी होती है। प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित गाडी पर लदे हुए नमूने का वज़न ५५ मन के लगभग था, इसीलिए इसे उठाकर ले जाने के लिए एक बडी-सी गाडी की जरूरत पडी थी! किन्तु इतने बड़े आकार की होने पर भी यह मनुष्य के लिए ख़तरनाक नहीं है, क्योंकि इसके मुँह मे शार्क जैसे दाँत नहीं होते।
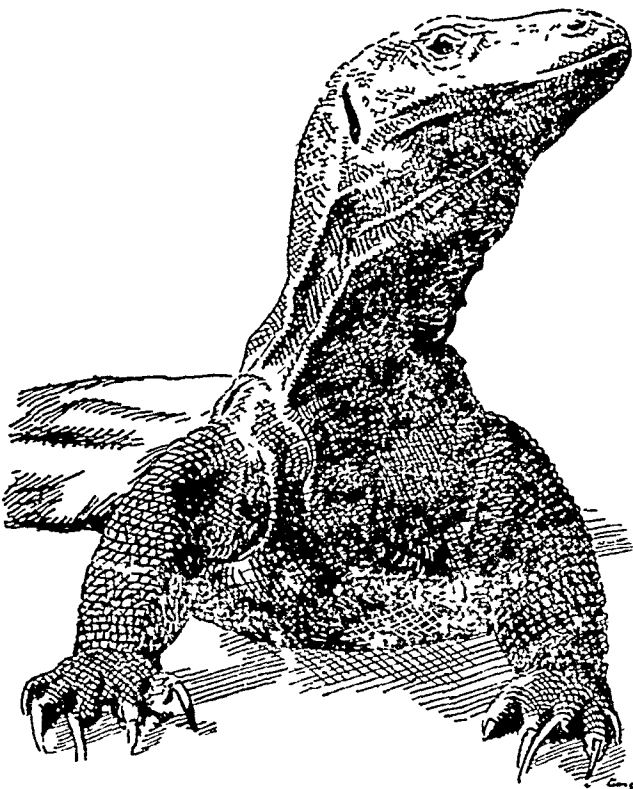
दुनिया की सबसे बड़ी छिपकली

बडी गोह या छिपकली जैसे जिस जीव की तस्वीर बाईं ओर दी गई है वह पूर्वीय द्वीपसमूह के कमोडो द्वीप में पाया जाता है। इसीलिए इसे 'कमोडो ड्रैगन' कहते है। इसकी लंबाई ८ या ९ फीट होती है और देखने मे इतना भयानक होने पर भी यह मनुष्य के लिए ख़तरनाक नहीं होता। अब इस जीव के कुछ ही नमूने बचे रह गए है।

सकती। परवाले जीवों के अधिक नहीं बढ सकने का यह एक प्रमुख कारण है। इनके अधिक बडे शरीर न प्राप्त कर सकने का दूसरा कारण यह भी है कि साँस लेने के लिए इन जीवों के फेफडे नहीं होते, वरन् वायु इनके सारे अगों में सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा जाती है। साँस लेने का यह प्रबन्ध बडे शरीरो के लिए उपयुक्त नहा है- क्योंकि इस रीति से वायु को सारे शरीर मे फैलने मे बहुत देर लगती है। रक्त द्वारा शरीर मे श्वासोच्छ्वास की क्रिया बहुत जल्दी हो जाती है, परन्तु कीटों मे ऐसा नही होता।

प्रकृति ने बहुत कुछ सोच-विचार करके ही कीटों की ऐसी रचना की है, अन्यथा जीवन के सग्राम मे कोई और प्राणी उन पर विजय न पा सकता। जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि जन्तु-जगत् मे मनुष्य के सबसे हानिकारक शत्रु न तो उसे खा लेनेवाले शेर और चीते हैं न उसे जल मे घसीट ले जानेवाले मगर और घडियाल इत्यादि ही, वरन् यही छोटे छोटे कीड़े-मकोडे हैं, जो परिश्रम से उपजाई गई कृषि को नष्ट करके उसे लाखों रुपयों का नुकसान पहुँचाते हैं। अनाज को काटकर गोदामों में भर देने पर भी ये हानि करने से नहीं चूकते! बहुत-से प्राण-घातक रोग, जिनके कारण लाखो मनुष्य प्रति वर्ष मृत्यु के मुँह मे चले जाते हैं, विभिन्न प्रकार के कीटों द्वारा ही फैलते हैं। ज़रा सोचिए कि यदि ये छः टाँगवाले फुर्तीले मानव-शत्रु आकार मे कहीं चूहे या बिल्ली के बराबर बढ जाते तो न केवल पृष्ठवंशियों के लिए ही, बल्कि क्या छोटे और क्या बड़े सभी जानवरों के लिए विकास की सीढी पर आगे बढना कितना असम्भव हो जाता और मानव-जाति उस परिस्थिति में इस वर्त्तमान उच्च पद पर पहुँच सकती या नहीं यह कौन कह सकता है!
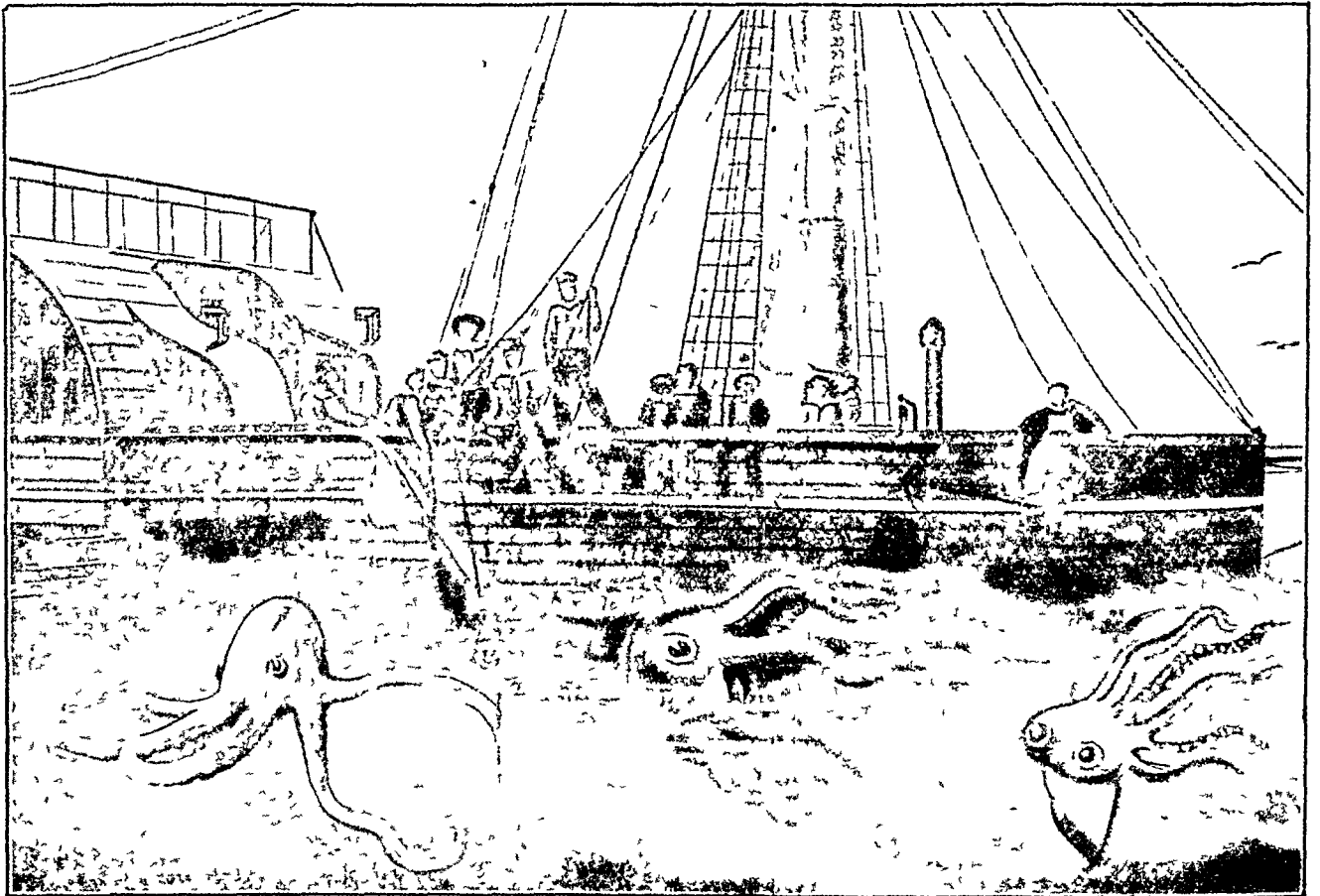
अपृष्ठवंशियों के वर्ग का एक दैत्याकार प्राणी—'स्क्विड'

यह जीव मृदुनांगी समुदाय के प्राणियों मे सबसे बडा होता है। इसकी सूँड जैसी अत्यन्त भयानक भुजाओं की लंबाई ३० फीट तक पाई गई है। इन भुजाओं मे बहुत-से चूषक बने रहते है, जिनके द्वारा यह अपने शत्रु या शिकार को पकडकर असहाय बना देता है। जैसा कि प्रस्तुत चित्र मे आप देख सकते है, यह एक जलजीव है। यह बहुत तेजी के साथ तैर सकता है, परन्तु इसके संबन्ध मे एक विचित्र बात यह है कि यह तैरते वक्त आगे की ओर बढने के बजाय पीछे हटते हुए उलटा तैरता है! चित्र की पृष्ठभूमि मे इनका शिकार करनेवालो का एक जहाज़ दिखाई दे रहा है।

मनुष्य
की कहानी
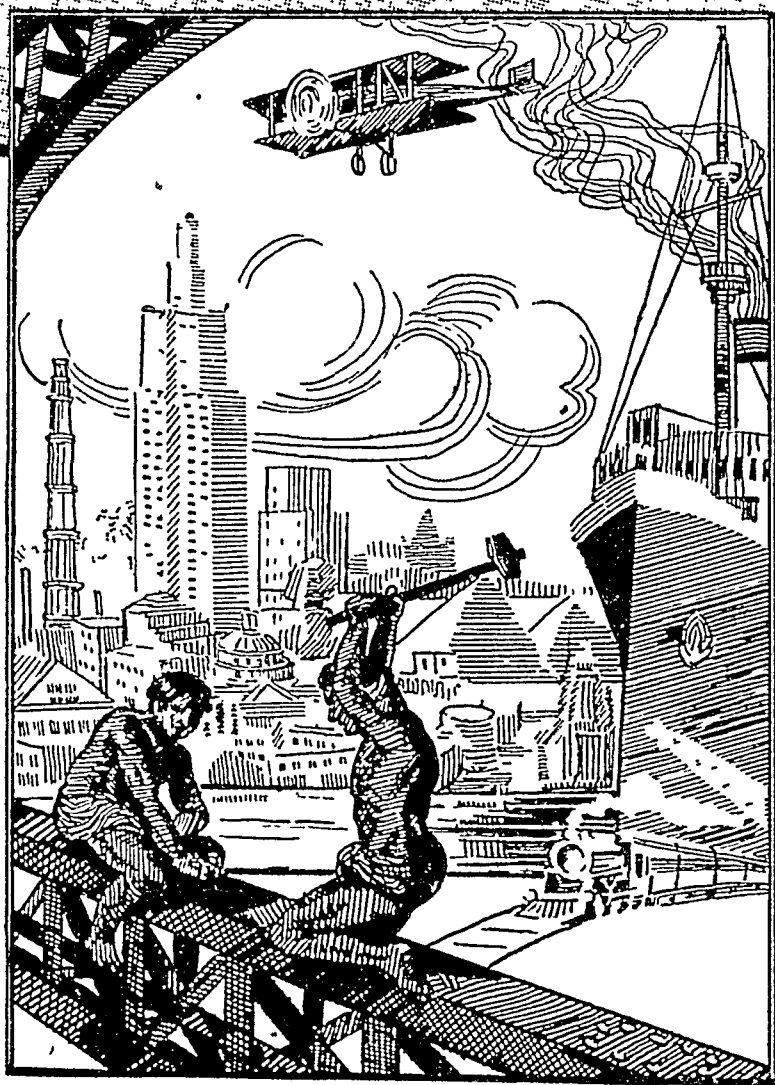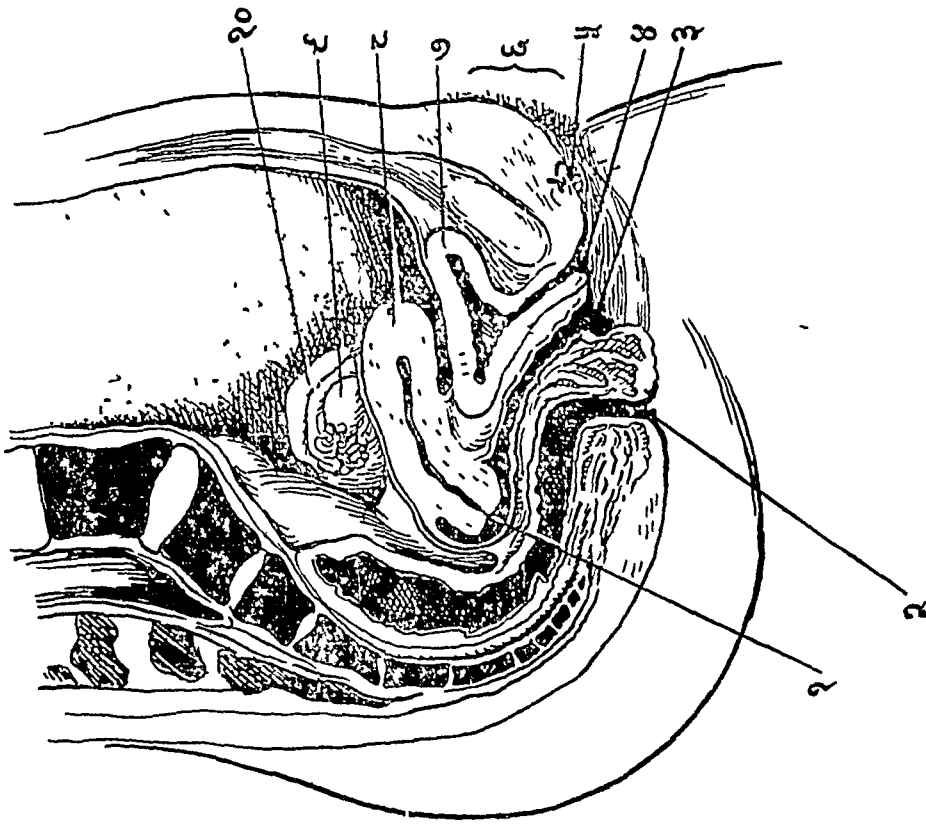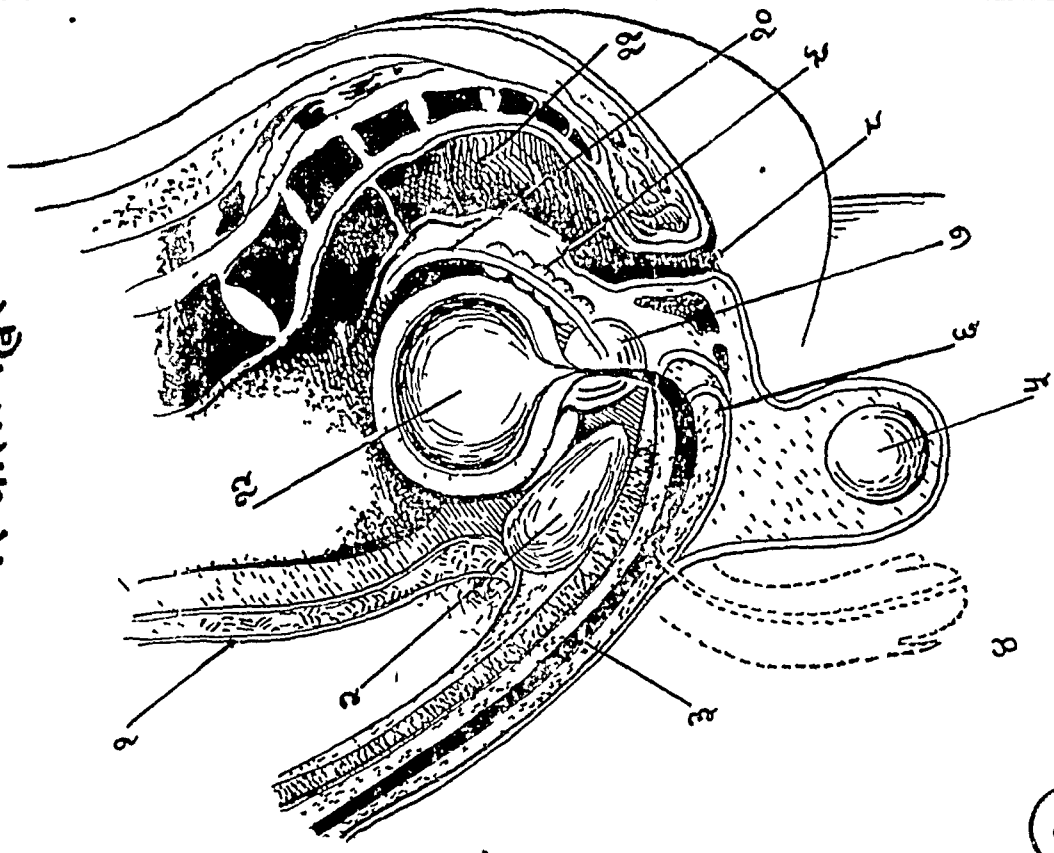
भाग १ में लंबाई के रुख कटा हुआ नारी-वस्तिगह्वर और भाग २ में नर-वस्तिगह्वर दिखाया गया है। दोनों में जननेन्द्रियों की स्थिति और भीतरी रचना प्रदर्शित है। (चित्र १) १ गर्भाशय का मुख, २ मलद्वार, ३ योनिद्वार, ४ मूत्रवाहिद्वार; ५. भगनासा, ६. कामाद्रि, ७ मूत्राशय, ८ गर्भाशय, ९. डिम्ब-ग्रंथि, १० डिम्ब-प्रनाली। (चित्र २) १ उदर की दीवार २ विटप संधि, ३. शिश्न (प्रहर्ष के समय दृढावस्था में)—बीच की काली रेखा मूत्रमार्ग है, ४ शिश्न (साधारण शिथिलावस्था में), ५. अंड, ६ मूत्रमार्ग का स्थूल भाग, ७ शिश्नमूल-ग्रंथि (प्रोस्टेट), ८ मलद्वार, ९ शुक्राशय; १० शुक्र-प्रनाली, ११ बृहत् अंत्र, १२ मूत्राशय।
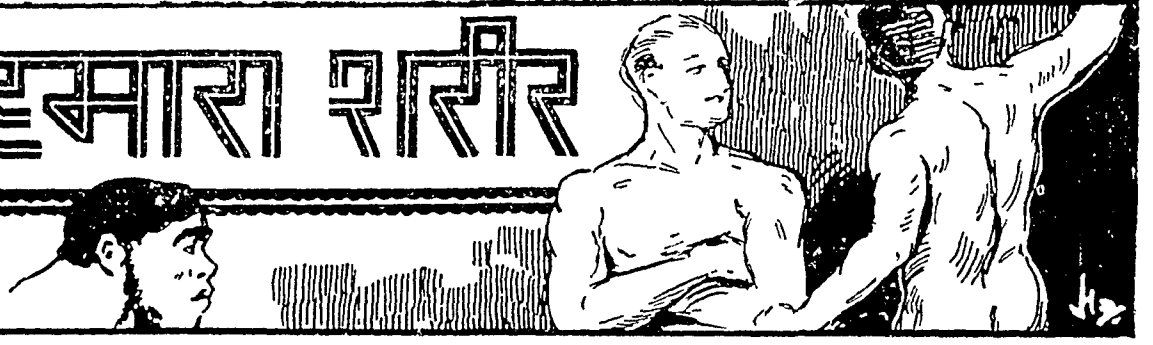
मनुष्य अपना उत्पादन कैसे करता है ?

१. हमारी जननेन्द्रियाँ और उनका कार्य

इस स्तंभ के अन्तर्गत पिछले कुछ प्रकरणों मे हम आपको अपने विचित्र शरीर-यत्र के कल-पुर्जे-रूपी कई महत्त्वपूर्ण अगों की रचना और कार्य प्रणाली के सबंध में आवश्यक जानकारी करा चुके हैं। अब आइए, इस देहरूपी मशीन के उन अनूठे अंगो का परिचय दें, जिनके द्वारा आपका जन्म हुआ है, साथ ही इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न का भी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे कि आखिर हमारी उत्पत्ति क्योंकर होती है—किस प्रकार हम इस ससार मे अवतीर्ण होते हैं ? यह विषय इतना गहन और लबा है कि एक ही लेख मे उस पर पूर्ण प्रकाश डालना संभव नही है, अतएव प्रस्तुत प्रकरण मे हम मानवीय जनन-प्रणाली के प्रधान अगों की रचना तथा उनके विविध कर्त्तव्यो का ही विवेचन करेंगे। तदनन्तर अगले लेख में मानव-शिशु के जीवन के आरंभिक नौ मास तथा उसके जन्म की कहानी सुनाएँगे।

यह तो आप जानते ही हैं कि मनुष्य-जाति शरीर-विज्ञान की दृष्टि से दो भिन्न प्रकार के प्राणियों से मिलकर बनी है—एक वे जिन्हे हम 'पुरुष' या 'नर' कहते हैं और दूसरे वे जिन्हे 'स्त्री' या 'नारी' के नाम से अभिहित किया जाता है। अपने जन्म के समय से ही इन दोनों वर्गो के प्राणियो के शरीर मे कुछ ऐसे भेदसूचक लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिनसे वे स्पष्टतया एक-दूसरे से
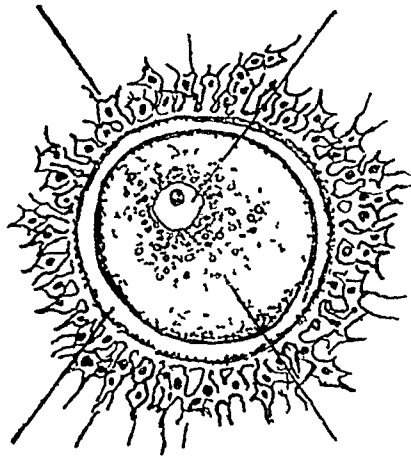
चित्र मे बाईं ओर एक नारी-बीजकोश या डिम्ब, और दाहिनी ओर एक नर-बीजकोश या शुक्रकीट आकार की तुलना के लिए दिग्दर्शित है। डिम्ब का वास्तविक आकार ०.२ मिलीमीटर से भी कम होता है और शुक्रकीट तो उससे भी कई गुना छोटा होता है, किन्तु उन्हीं के सम्मिलन से ५॥ फ़ीट का आदमी पैदा हो जाता है।

विभिन्न प्रतीत होते है, और एक छोटी-सी बालिका अथवा बालक के बढकर पूर्ण वयस्क होने पर न केवल वे जातीय भेदसूचक लक्षण और भी अधिक सुस्पष्ट हो जाते हैं, बल्कि इनके अलावा कुछ और नए भेद भी प्रकट होने लगते हैं। ग्यारह से चौदह वर्ष की आयु के बीच की अवधि मे लड़के-लड़की दोनों ही मे ऐसे कई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होने लगते हैं, जिनसे वे (कमसे कम शरीर की दृष्टि से) बाल्यावस्था की सीमा को लॉघकर वयस्क स्त्री-पुरुषों मे परिणत हो जाते हैं। वयस्कता की ओर क़दम बढाने की यह अवस्था और उसकी कालावधि 'किशोरावस्था' (Adolescence) कहलाती है। इस अवधि मे बालक-बालिका दोनों ही के जीवन मे इतना अधिक रद्दोबदल हो जाता है कि प्रत्येक के संबंध मे उसका अलग-अलग विवरण देना अधिक उपयुक्त होगा। तो फिर आइए, पहलें लड़कियो का ही अध्ययन करें और फिर लड़कों का।

बालिका से पूर्ण वयस्क स्त्री

जिस तरह सभी बच्चे ठीक एक ही उम्र मे पैरों पर खड़े होकर चलना या बोलना नहीं सीखते, उसी प्रकार सभी लड़कियॉ भी एक ही उम्र मे किशोरावस्था को पारकर यौवन की सीमा मे प्रवेश नही कर जाती। किसी लडकी मे दस वर्ष की आयु मे ही परिवर्त्तन का यह क्रम आरभ हो जाता है तो कोई चौदह वर्ष की अवस्था मे पहुँचने पर ही ऐसा अनुभव

करती है। सामान्यतः इस प्रकार के परिवर्त्तन की औसत आयु १२ या १३ वर्ष की मानी जाती है। जब इस परिवर्त्तन का समय समीप आने लगता है तो उसके शरीर में जो लक्षण सबसे अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है वह है उसके स्तनो का क्रमशः उभरकर दिन पर दिन बड़ा होते जाना और जब तक वह पूर्ण वयस्क नही हो जाती उनका बढ़ना लगातार जारी रहता है। साथ ही उसके शरीर का सामान्य डील-डौल भी तेज़ी से बढ़ने और बदलने लगता है। उसकी बाँहें और पिंडलियाँ अब अधिक गोल, सुडौल और भरी हुई दिखाई देने लगती हैं तथा नितम्ब भी बड़े और चौड़े होने लगते हैं, ताकि समय आने पर जब उसे मातृत्व का वरदान प्राप्त हो तो उसके शरीर में गर्भस्थ शिशु को रखने के लिए यथेष्ट स्थान उपलब्ध हो सके। इसके अतिरिक्त इस अवस्था मे पहुँचकर एक और लक्षण उसके शरीर मे स्पष्ट होने लगता है, अर्थात् उसके जघन-स्थल, काँख, आदि मे अब बारीक़ बारीक रोम जमकर क्रमशः बढने लगते हैं।

किन्तु केवल यहीं इस परिवर्त्तन का क्रम समाप्त नहीं हो जाता—वस्तुतः बाहरी अगों के साथ-साथ उसके शरीर के भीतर के भी कुछ अंग अब तेजी से बढ़ने लगते हैं और फलतः कई नवीन बाते अब उसके शरीर मे होने लगती हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि पिछले लेखों में मानव-शरीर के हृदय, अत्र, पक्वाशय आदि-आदि, जिन विविध महत्त्वपूर्ण अगो का परिचय आप पा चुके हैं, उनके अतिरिक्त स्त्रिया के शरीर मे कुछ और भी विशेष अग होते हैं जो ऐसे कोशों का निर्माण करते हैं, जिनसे कि मनुष्य के सतान पैदा होती है। ये विशिष्ट उत्पादक अग सामान्यतया प्रत्येक लड़की के शरीर मे जन्म से ही रहते हैं, परन्तु वे अपना काम करने के लिए तैयार तभी जाकर होते हैं जब कि कन्या की आयु ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग हो जाती है। इसके उपरान्त उन अगों का पूर्ण विकास होने मे लगभग चार से छः वर्ष तक का समय और लग जाता है। यही कारण है कि अब इस बात पर विशेष रूप से ज़ोर दिया जाने लगा है कि लड़कियों का विवाह तब तक न किया जाय जब तक कि वे कम से-कम सोलह से बीस वर्ष तक की आयु की न हो जायँ, ताकि इस अवधि में उनके ये अग पूर्ण रूप से विकसित हो सकें।

शुक्राणु

प्रस्तुत चित्र मे एक शुक्रकीट को १३०० गुना बड़ा दिखलाकर उसका सामने और बग़ल का दृश्य दिग्दर्शित किया गया है। यद्यपि इसकी रचना केवल एक ही कोश द्वारा होती है, तथापि इसके सिर (न० १), ग्रीवा (न० २), धड़ (न० ३), और पूँछ (न० ४) आदि कई भाग होते है। यह एक अत्यन्त चंचल और क्रियाशील जीव-कोश होता है और अपने तरल माध्यम मे सदैव दुम हिलाते हुए तैरता रहता है।

रजोदर्शन

किशोरावस्था को लाँघकर कन्या जब क्रमशः युवावस्था की ओर बढ़ने लगती है तो मानो इस बात को जाहिर करने के लिए कि उसके प्रजनन सबधी आन्तरिक अगों ने उसके भावी दाम्पत्य जीवन के हेतु तैयारी शुरू कर दी है, प्रति मास लगभग २८ दिनों के अतर से उसकी गुप्तेन्द्रिय के मार्ग से कुछ तरल रक्त निकलना शुरू होता है, जिसे 'आर्त्तव' कहते हैं। कन्या को इस प्रकार पहले पहल आर्त्तव निकलना 'रजोदर्शन' कहलाता है और तदनन्तर नियमित रूप से प्रति मास ऐसा ही जो रक्त-स्राव होता है, वह 'ऋतु' या 'मासिक धर्म' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्राकृतिक घटना का ठीक-ठीक महत्त्व और उसकी आवश्यकता आप तब समझ सकेंगे, जबकि जनन-प्रणाली की रचना और कार्य के सबध में आपको ठीक-ठीक जानकारी हो जायगी।

प्रायः प्रथम बार ऋतुमती होने पर बहुतेरी लड़कियाँ घबड़ा जाती और अपनी मानसिक शान्ति खो बैठती हैं। वे सोचने लगती हैं कि उन्हें यह कोई एक रोग या बीमारी लग गई है और फलतः वे भयग्रस्त हो जाती हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि ऐसी प्रत्येक लड़की को जो कि रजोदर्शन की अवस्था के समीप पहुँच रही हो, उसकी माता, शिक्षिका या अन्य कोई बड़ी-बूढ़ी स्त्री आनेवाली घटना की पहले ही से जानकारी करा दे और उक्त नवीन अनुभव के लिए उचित रूप से तैयार कर उस अवस्था मे स्वच्छता के विधि-निषेध-विषयक किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए यह भी बतला दे। जिन दिनों आर्त्तव निकलता रहता है, उन दिनों ऋतुमती कन्या या स्त्री साधारण दिनो की भाँति शरीर में चुस्ती का अनुभव नही करती और कुछ-कुछ मलिन या सुस्त हो जाती है। किन्तु कोई विशेष प्रकार

प्रस्तुत मानचित्र में 'अ' में एक साधारण देहकोश से क्रमशः चार नर-बीजकोश या शुक्राणुओं की रचना तथा 'ब' में उसी प्रकार देहकोश से नारी बीजकोश या डिम्बों की रचना का क्रम दिखाया गया है, साथ ही किस प्रकार बीजकोश में वर्णकणों की संख्या आधी रह जाती है उसका भी क्रम दिखाया गया है। ऊपर के चित्र (अ) में अंड के एक मूलकोश के विभाजन के फलस्वरूप अंत में चार शुक्रकीटों के उत्पादन की क्रमागत स्थितियाँ प्रदर्शित है। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले शुक्राणुओं मे से दो मे बृहत् या X लिङ्ग वर्णकण है और दो में लघु या Y लिङ्ग वर्णकण है। नीचेवाले चित्र (ब) में दिखाया गया है कि किस प्रकार डिम्ब-ग्रंथि का एक मूलकोश कुछ अतिरिक्त डिम्बों (polar bodies) को बाहर त्यागकर क्रमशः एक परिपक्व डिम्ब में परिणत हो जाता है। इस प्रकार त्यागे गए अतिरिक्त डिम्बों में से पहला डिम्ब मातृकोश से बाहर फेंक दिए जाने पर दो भागों में बँट जाता है और फलतः अब मातृकोश के बाहर ऐसे अतिरिक्त डिम्बों की संख्या तीन हो जाती है, जैसा कि चित्र (ब) के दाहिने सिरे पर दिग्दर्शित है। अतएव हम यह देखते है कि जहाँ प्रत्येक शुक्रोत्पादक मातृकोश से चार क्रियाशील शुक्रकीटो की उत्पत्ति होती है, वहाँ प्रत्येक डिम्बोत्पादक मातृकोश से केवल एक ही क्रियाशील डिम्ब की रचना होती है, शेष त्याग दिए जाते है। मनुष्य-जाति की लाक्षणिक विशेषताओं के सूचक २४ जोडे वर्णकणों मे से प्रस्तुत मानचित्र मे केवल एक ही जोडा दिखाया गया है। यहाँ एक और दिलचस्प बात की ओर हम आपका ध्यान दिलाना चाहते है और वह यह है कि डिम्ब सभी एक-जैसे होते है, परन्तु शुक्रकीट दो जाति के होते है---एक बृहत् लिङ्ग-वर्णकण से युक्त और दूसरे लघु लिङ्गवर्णकण से युक्त। यदि प्रथम जाति के शुक्रकीट का डिम्ब से सम्मिलन हो जाता है तो लडका पैदा होता है और यदि दूसरी जाति के शुक्रकीट से डिम्ब का संयोग होता है तो लडकी।

का दर्द या और कोई शिकायत न हो तो इसमे चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। वस्तुतः कन्या के मन पर यह बात दृढ़ रूप से जमा देना चाहिए कि किसी भी अर्थ में यह कोई बीमारी या रोग नहीं, बल्कि शरीर से कुछ निरर्थक मल पदार्थ निकाल बाहर करने का प्रकृति का एक विशेष तरीका मात्र है। जब लडकी नियम से प्रति मास ऋतुमती होने लगती है तब धीरे-धीरे उसका भय कम हो जाता है और कालान्तर मे वह इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि पहले ही से उसके आने का समय जानकर अपने आपको तैयार कर लेती है।

इन दिनो ऋतुमती के लिए यह बात ध्यान मे रखने की है कि साधारण दिनो की अपेक्षा वह अपने

स्वास्थ्य की अधिक सावधानी रक्खे—अपने को सर्दी जुकाम लगने से बचाए, कोई तरह का थका देनेवाला परिश्रम न करे और विशेषकर किसी भी प्रकार का भारी वज़न न उठाए। किन्तु इसके यह भी मानी नहीं कि वह उन दिनों अपने को एकदम रुग्ण बनाकर चारपाई ही पकड़ ले।

हमारे शरीर का निर्माण करनेवाले करोड़ों देहकोशों में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें जीवन के नवसृजन का कार्य सिपुर्द रहता है। ये कोश "सन्तानोत्पादक बीजकोश" या 'गैमेट" (Gametes) कहलाते हैं। पुरुष के बीजकोश आकार-प्रकार मे स्त्री के ऐसे ही कोशों से काफी विभिन्नता रखते हैं। पुरुष के बीजकोश 'शुक्राणु' (Sperms) और स्त्री के 'डिम्ब' (Ova) के नाम से पुकारे जाते है। स्त्री का बीजकोश या डिम्ब पुरुष के बीजकोश या शुक्राणु से आकार मे बहुत बड़ा होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुक्राणु की तुलना मे डिम्ब एक बडे गोले जैसा प्रतीत होता है (देखिए पृष्ठ २४१२ का चित्र) और बिना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के ही नगी आँखो से देखा जा सकता है। उसका व्यास इन्च के १२५ वे अश के लगभग होता है और उसके भीतर एक ओर को एक बडा-सा गोलाकार नाभिक (Nucleus) रहता है, जिसके अतराल में एक या अधिक अणुनाभिक छिपे रहते हैं। इस डिम्बकोश का अधिकांश भाग एक प्रकार के चर्बीले पीतवर्ण द्रव्य से भरा रहता है, जोकि समय आने पर उक्त कोश के भावी विकास के लिए शक्ति की आवश्यकता पूर्ति करने मे मानों ईंधन का काम देता है। पूर्ण रूप से विकसित प्रत्येक डिम्ब के आसपास एक मोटी पारदर्शी झिल्ली का आवरण चढा रहता है।

पुरुष के सन्तानोत्पादक बीजकोश अर्थात् शुक्राणु एक अद्भुत आकार-प्रकार के अत्यन्त ही सूक्ष्म जीवाणु होते हैं, जिनकी लम्बाई एक इंच के ५०० वें अश के लगभग होती है। प्रत्येक शुक्राणु के शरीर के तीन भाग होते हैं—सबसे ऊपर एक चपटा-सा अण्डाकार सिर या माथा, तदनन्तर एक नलिकाकार धड़ या मध्यभाग, और सबसे अन्त में एक लम्बी पतली-सी दुम या पूँछ। इनमें सिर सब से महत्वपूर्ण और आवश्यक भाग है और उसी मे शुक्रकीट का नाभिक या केन्द्रीय द्रव्य रहता है। यदि हम ताज़ा हालत में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा शुक्रकीट की पूँछ की जाँच करें तो वह हमे लगातार फड़फड़ाते और हिलते हुए दिखाई देगी। इस पूँछ की बदौलत ही शुक्राणु रेंगते या तैरते हुए आगे बढने मे समर्थ होता है।

पुरुष के बीजकोशों की तुलना में (जो कि लाखों की सख्या में बनते हैं) स्त्री के बीजकोश या डिम्ब बहुत ही कम सख्या और बड़ी मितव्ययता के साथ उत्पन्न होते हैं। किन्तु उन दोनों में एक बात, जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण है, सामान्य पायी जाती है, और वह यह है कि पुरुष और स्त्री के देहकोशों में प्रत्येक मे वर्णकणों (Chromosomes) की सख्या निश्चित होती है।

बीजकोशों में देहकोशो की अपेक्षा वर्णकणों की संख्या आधी क्यो होती है ?

यह प्रकृति का नियम है कि किसी भी एक वर्ग के सभी प्राणियों में वर्णकणों की सख्या सदैव समान रहती है। चाहे भिन्न भिन्न जातियों के लिए भिन्न-भिन्न सख्या क्यों न हो, किन्तु एक ही जाति में सदैव एक ही निश्चित सख्या पाई जायगी। साथ ही यह भी आश्चर्यजनक व्यवस्था पाई जाती है कि पूर्ण रूप से परिपक्व बीजकोशों मे वर्णकणों की सख्या साधारण देहकोशों के वर्णकणों की सख्या से ठीक आधी ही पाई जाती है, यद्यपि ये बीजकोश उन देहकोशों ही से बनते हैं। क्या कारण है कि इनमें वर्णकणों की सख्या आधी ही रह जाती है ?

बात यह है कि जब कोई एक देहकोश और अधिक कोशों की रचना करने के उद्देश्य से विभाजित होता है तो प्रत्येक विभाजन में उसके नाभिक में विद्यमान प्रत्येक वर्णकण खड़े ढंग से चिरकर दो टुकड़ों में बँट जाता है और फलतः विभाजित कोश के प्रत्येक नवजात अर्द्धांश के हिस्से में वर्णकण का आधा-आधा भाग आ जाता है। इस प्रकार वर्णकणों की कुल सख्या बिना किसी परिवर्त्तन के ज्यों-की त्यों समान बनी रहती है। किन्तु जब साधारण देहकोशों से बीजकोश की रचना होती है तब वह यदि स्त्री का बीजकोश हो तो मूलकोश से प्राप्त वर्णकणों का आधा अश तो परिपक्व डिम्ब में ग्रहण कर लिया जाता है और शेष आधा बाहर फेंक दिया जाता है। और यदि उक्त बीजकोश पुरुष का हो तो मूल देहकोश से बीजकोश का इस प्रकार विभाजन होगा कि उक्त कोश मे उत्पन्न होनेवाले प्रति चार शुक्राणुओं मे से प्रत्येक को विभाजित वर्णकणों का केवल अर्द्धांश ही प्राप्त होता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों ही के बीजकोश मे देहकोश की अपेक्षा वर्णकणों की सख्या केवल आधी ही रह जाती है (विशेष स्पष्टीकरण के लिए पृष्ठ २४१५ का चित्र देखिए)।

अब जिस बात की ओर हम आपका ध्यान दिलाना

चाहते हैं वह यह है कि एक नए मानव प्राणी तभी सम्भव है जब कि ऊपर उल्लिखित .... मे से कोई एक पुरुष-कोश या शुक्रकीट किसी एक स्त्री-कोश या डिम्ब के साथ मिल जाय। किन्तु यह हो कैसे ? वस्तुतः ये दो प्रकार के कोश दो विभिन्न व्यक्तियों के शरीरों में ही पाए जाते हैं। तो फिर एक नवीन व्यक्तित्व के सृजन के लिए किस प्रकार उन दोनो का सयोग हो ? इस प्रश्न का समाधान आप शरीर के उन अगों की रचना का अध्ययन करने के बाद सहज ही पा सकेंगे, जिनमे कि ये कोश बनते है। बहरहाल यहाँ जो बात ध्यान मे रखने की है वह यह है कि जब पिता के शुक्रकीट या पुरुष-कोश का माता क डिम्ब या स्त्री-कोश से सम्मिलन होता है तो वे एक-दूसरे से सयुक्त होकर (जहाँ तक कि उनके मुख्य-मुख्य अवयवों का सबध है) एकाकार हो हो जाते हैं और उनके इस संयोग द्वारा निमित नवीन कोश मे वर्णकणों की संख्या पुनः पूर्ववत् अर्थात् उतनी ही हो जाती है जितनी कि मूल देहकोश मे थी।

कोशों के इस अनोखे आचरण का क्या कारण है ? क्यों पहले तो बीजकोश मे परिणत होते समय मूल देह-कोश के वर्णकणों की सख्या आधी हो जाती और पुनः दो बीजकोशों के सयोग के उपरान्त वह पूर्ववत् सपूर्ण हो जाया करती है ? इसका उत्तर यही है कि इस प्रकार की योजना द्वारा प्रकृति का ध्येय इस बात का पक्के तौर से प्रबंध कर लेना है कि प्रत्येक नवीन पीढी की सृष्टि के समय माता-पिता के बीजकोशो के सम्मिलन द्वारा जिस नवीन देहकोश का निर्माण हो, उसमे वर्णकणों की सख्या मूल कोश के वर्णकणों की सख्या से प्रति बार दुगनी न होती चली जाय। एक और महत्त्वपूर्ण बात इन वर्णकणों के सबध में यह है कि वे अपने साथ-साथ कुछ ऐसे विशिष्ट कण एक से दूसरे कोश में ले जाते हैं, जिनमे नई सतान मे आकार-प्रकार आदि संबधी वही लक्षण उत्पन्न करने का सामर्थ्य रहता है, जो कि माता-पिता मे मौजूद रहते हैं। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि किसी भी जाति व जातीय लक्षणों को एक से दूसरी पीढी मे ले जाने और उन्हें सुरक्षित रखने का कार्य इन वर्णकणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

बालक से पूर्ण वयस्क पुरुष

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, लड़कियों की तरह लडकों को भी पूर्ण रूप से विकसित पुरुष में परिणत होने के पहले अनेक प्रकार के परिवर्त्तनों मे से होकर गुजरना पडता है। किन्तु किशोरावस्था मे लड़कों मे जो परिवर्त्तन होते हैं उनमें और लडकियों मे होनेवाले परिवर्त्तनों में बहुत अधिक अतर होता है। लड़कों की वयस्कता-प्राप्ति का आरंभ भी लगभग उसी उम्र मे होता है, जिसमे कि लडकियों का, किन्तु लडकों मे प्रजनन-सबधी अगों का विकास १८ से २० वर्ष की आयु में अथवा उससे भी कही बाद मे जाकर ही हो पाता है और उनका पूर्ण विकास तो लगभग पचीस वर्ष की आयु में जाकर होता है। इसीलिए
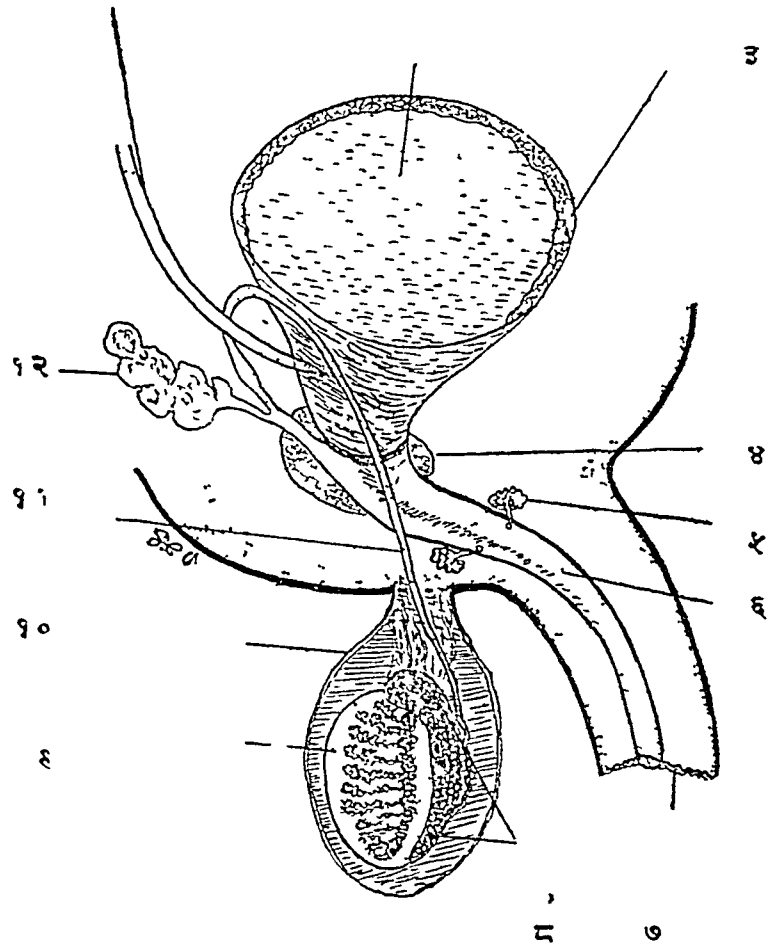
नर-जननेन्द्रियों की भीतरी रचना

१. मूत्रनली; २. मूत्राशय का गर्त्त; ३. मूत्राशय की भित्तिका; ४ शिश्नमूल ग्रन्थि (प्रोस्टेट); ५. काउपर की ग्रन्थि; ६ मूत्रमार्ग; ७ शिश्न; ८. उपांड, ९. शुक्र-ग्रन्थि; १०. अण्डकोश; ११. शुक्र-प्रनाली; १२. शुक्राशय। प्रस्तुत मानचित्र मे उपर्युक्त अङ्गो को लंबाई के रुख काटकर उनकी भीतरी रचना दिग्दर्शित की गई हैं। अण्डकोश का परदा हटाकर उसके भीतर के अण्ड और उपांड की बल खाई हुई नलिकाओ को गेंडुरियाँ दिखाई गई है। क्या आप जानते है कि यदि ये गेंडुरीनुमा नलिकाएँ एक सीधी रेखा मे फैलाई जायँ तो लगभग एक फर्लाङ्ग या २६७ गज़ लंबी होगी ?

इस बात पर जोर दिया जाता है कि उस उम्र तक पहुँचने से पहले लड़को का विवाह नहीं होना चाहिए।

किशोरावस्था से युवावस्था की ओर पदार्पण करते समय लड़को मे जो एक ख़ास नया परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वह उनकी आवाज मे होता है। इस परिवर्त्तन को लड़के की आवाज खुलना कहते हैं। क्रमशः उसका बालोचित कोमल स्वर बदलकर वयस्क पुरुष की गभीर और मोटी आवाज़ मे परिणत हो जाता है। साथ ही उसके चेहरे पर भी पुरुषत्व के सुस्पष्ट चिह्न और लक्षण निखरने लगते हैं, जैसे कि मूँछो की रेखा का बँधना, दाढ़ी पर भी बाल उगने लगना, आदि। लड़कियों की तरह लड़के के भी काँख तथा उपस्थ के आसपास रोमावली उभरने लगती है और इसके अलावा हाथ-पैर तथा सीने पर भी मोटे रोम उग आते हैं। लड़कियों के शरीरो मे जहाँ इन दिनो एक विशेष लुनाई आने लगती है, वहाँ लड़का अधिक दृढ और हट्टा-कट्टा होना शुरू होता है। उसकी भुजाओ की मासपेशियाँ उभरने लगती हैं, सीना चौड़ा हो जाता है और ललाटास्थि की कोर उभरकर स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इधर जहाँ शरीर के बाहरी आकार-प्रकार मे ये सब परिवर्त्तन होते हैं, वहाँ किशोरावस्था के पाँच-छः वर्षों की इस अवधि में लड़के के शरीर के भीतर भी दूसरे कई विशेष परिवर्त्तनो का क्रम जारी रहता है। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन उसके अण्डकोशों मे अवस्थित विशिष्ट ग्रन्थियों द्वारा बीजकोशो अर्थात् शुक्राणुओ के उत्पादन के श्रीगणेश के रूप मे होता है। जब लड़का वयस्क हो जाता है तब ये बीजकोश या शुक्राणु निरतर बनने लगते हैं और इकट्ठा होकर एक गाढे चरचपे तरल द्रव्य मे रहने लगते है, जिसे 'शुक्र' या 'वीर्य' (Semen) कहते हैं। यह तरल द्रव्य एक अत्यत मूल्यवान् पदार्थ है—विशेषकर मस्तिष्क और स्नायवीय कोशो के पोषण के लिए वह ससार का एक सबसे अधिक पोष्टिक तत्त्व कहा जा सकता है। इसीलिए जिन युवकों को अपने शरीर और मस्तिष्क दोनों को पूर्ण स्वस्थ रखना अभीष्ट हो, उन्हे इस बात की हर तरह स सावधानी रखनी चाहिए कि इस अमूल्य सम्पत्ति का कदापि अपव्यय न होने पाए।

किशोरावस्था की सीमा को लाँघकर युवावस्था के प्राङ्गण में पदार्पण करने जा रहे नवयुवक के मन पर यह बात विशेष रूप से जमा देना आवश्यक है कि प्रजनन-क्रिया मे सक्रिय भाग लेने का उसके लिए समय आए उसके पहले उसके सतानोत्पादक बीजकोशो के उत्पादन के सिलसिले में प्रकृति कभी-कभी यह नितान्त आवश्यक समझती है कि उसके वीर्य का कुछ भाग बाहर निकाल फेंके। इसका सबसे सरल तरीक़ा, जो कि प्रकृति द्वारा काम में लाया जाता है, यही होता है कि निद्रावस्था में कभी-कभी वीर्यपात हो जाय। जब पहलेपहल किसी किशोर अथवा युवक को ऐसा अनुभव होता है तो यदि उसे यह बतला न दिया जाय कि यह प्रकृति का अपरिपक्व शुक्राणुओं को निकाल बाहर करने का एक सरल तरीक़ा मात्र है, तो वह उसी तरह घबड़ा जाता है जैसे कि लड़कियाँ प्रथम बार ऋतुमती होने पर घबड़ा उठती हैं। परन्तु दरअसल यदि ऐसा बार-बार न होता हो और न ऐसा होने पर किसी प्रकार की ख़ास कमज़ोरी का ही अनुभव होता हो तो इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। यह तो प्रकृति का अपना एक क्रम-जैसा है। हाँ, कतिपय असाधारण स्वास्थ्य वाले युवकों को कभी इस प्रकार के स्वप्नदोष का अनुभव होता ही नहीं।

पुरुष के प्रजनन-सबंधी अंग अथवा नर-जननेंद्रियाँ

किसी भी स्त्री या कन्या के प्रजनन-सबधी अग उसके शरीर के भीतर ही पाए जाते है, किन्तु इसके विपरीत नर के इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण अग उसके शरीर के बाहर ही रहते है। आइए देखें कि वे क्या और कैसे हैं तथा उनके क्या-क्या कर्त्तव्य हैं। मोटे तौर पर पुरुष या नर के जनन-सस्थान को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं। इनमे प्रथम भाग उसके धड के अधोभाग में दोनों जघाओ के जोड़ के स्थान से नीचे को लटकती हुई वे दो थैलियाँ-सी हैं, जिन्हें वृषण या अडकोश (Testes or Testicles) कहते हैं। इनमे से प्रत्येक वस्तुतः एक प्रकार की ग्रथि है, जिसका आकार एक छोटे अखरोट या कबूतर के अडे जितना बड़ा होता है और जो एक तरह की शिकनदार त्वचा की थैली मे बद रहता है, जिसे अडकोषों का आवरण (Scrotum) कहा जाता है। इस थैली में बन्द अड एक प्रकार की बल खाई हुई प्रनालियों या नलिकाओं की ग्रथि-जैसे होते हैं और उनके भीतरी पृष्ठ को कोष्ठयुक्त कला द्वारा अविराम गति से उन अद्भुत सतानोत्पादक कोशों अथवा शुक्राणुओ का निर्माण होता रहता है, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इनका भीतरी हिस्सा अनेक सूक्ष्म और सँकडे कक्षों मे विभाजित रहता है, जिनमे से प्रत्येक का एक प्रधान लबी प्रनाली द्वारा यातायात का सबध रहता है। इन कोष्ठों में

सदैव रक्त का यथेष्ट सचार होता रहता है, जिससे कि शुक्रोत्पादक कोशो की पोषण-तत्त्व की आवश्यकताओ की पूर्ति मे कमी न पडे और वे अपने विभाजन द्वारा निरन्तर शुक्रकीटो का उत्पादन करते रहे।

पृष्ठ २४१७ के चित्र मे प्रत्येक अंड के ऊर्ध्व और अधोभाग पर किसी रचना के जो दो चपटे-से सिरे निकले हुए दिखाई दे रहे हैं। वे एक महत्त्वपूर्ण प्रनाली के सिरे हैं जिसमे कि जन्म के बाद शुक्रकीट कुछ समय तक सचित रहते हैं। जन्म के उपरान्त पहले वे उक्त प्रनाली के ऊपरी सिरे मे पहुँचते हैं और तदनन्तर अड के पीछे फैली हुई एक गेडुलीनुमा मोटी नली के रास्ते उसके निचले भाग मे जा पहुँचते हैं, जो 'उपांड' (Epididymis) के नाम से पुकारा जाता है। उपाड बहुत ही सकुचित स्थान मे आश्चर्यजनक ढग से समाई हुई २० से ३० फीट तक लबी एक बेहद मुड़ी और बल खाई हुई नलिका की गेडुलीसा होता है। इस प्रनाली मे शुक्रकीट तब तक टिके रहते हैं, जब तक कि उनके अंड से बाहर जाने का समय नही आता। जब वह समय आता है तो वे उक्त प्रनाली की दीवारो की पेशियो के आकुचन द्वारा बाहर धकेल दिए जाते हैं।

नारी-शरीर में प्रजनन-संबंधी अंगों की स्थिति
१. डिम्ब-प्रनाली ; २. गर्भाशय ; ३. झिल्ली ; ४. डिम्ब-ग्रंथि ; ५. गर्भाशय की ग्रीवा ; ६. योनि-संपुट।

अब हम नर-जनन-संस्थान के उस दूसरे विभाग पर आते हैं, जिसका कार्य है जब-जब भी आवश्यकता पडती रहे तब-तब इन शुक्राणुओं को अपने उत्पादन-स्थल से खींचकर ऊपर शरीर मे पहुँचाते रहना और समय आने पर पुनः वहाँ से उन्हें अपने प्रमुख लक्ष्य अर्थात् नारी के शरीर मे स्थित डिम्ब से भेट करने के लिए उपयुक्त स्थान तक ले जाना। इस कार्य को साधने लिए जो प्रनाली काम आती है, उसका आरभ उपाड से होता है, जहाँ से ऊपर उठकर वह वस्तिगह्वर मे चली गई है (दे० पृष्ठ २४१७ का चित्र)। इस प्रनाली को शुक्र-प्रनाली (*Vas def rens*) के नाम से अभिहित किया जाता है। यह प्रनाली कुछ दूर ऊपर जाकर एकबारगी ही दिशा पलटकर मुड जाती है और मूत्राशय से नीचे की ओर आनेवाली नली मे मिल जाती है। इन दोनो नलिकाओ के मिलने से वह सीधी चौडी नली बनती है, जिसे 'मूत्रमार्ग' (Urethra) कहते हैं और जो उपस्थ या शिश्न मे से होकर अत मे शिश्नाग्र के सिरे पर पहुँचकर एक छिद्र के रूप मे खुल जाती है। इसी एक सामान्य मार्ग द्वारा आवश्यकतानुसार मूत्र तथा शुक्रकीटों से युक्त वीर्य दोनो ही अपने-अपने समय पर बाहर निकला करते हैं। शिश्न मे इस नली के आसपास शिराओ के जजाल से युक्त चारो ओर फैले हुए एक विचित्र प्रकार के स्पजनुमा सौत्रिक तंतु होते हैं। इस तंतु-जाल की यह ख़ूबी होती है कि मस्तिष्क द्वारा नियत्रित कतिपय विशिष्ट भावनाओ के आवेश अथवा बाह्य स्पर्श द्वारा होनेवाली एक प्रकार की उत्तेजना के प्रभाव से उनमे विशेष मात्रा मे रक्त का सचार होने लगता है, जिससे कि उनकी स्पजनुमा दीवारे फूलकर विस्तृत हो जाती हैं और फलतः शिश्न मे एक अद्भुत स्थूलता और दृढ़ता आ जाती है, जैसा कि प्रत्येक पुरुष को अपने अनुभव से ज्ञात ही है। शिश्न क इस प्रकार दृढ हो जाने को उसका 'प्रहर्ष' कहते हैं, और यह अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ऐसा होने पर ही वह मैथुन के समय नारी-अग मे उपयुक्त स्थान तक वीर्य को पहुँचा पाने मे समर्थ हो पाता है।

नर-जनन-संस्थान का तीसरा हिस्सा वे अनेक अतिरिक्त ग्रथियाँ हैं, जिनमे से तरह-तरह के रस स्रवित होकर स्खलन के समय शुक्राणुओं के साथ मिश्रित होते हैं। पृ० २४१७ के चित्र मे जहाँ मूत्रमार्ग के साथ शुक्र-प्रनाली का संमिलन होता है, वहाँ उससे जुडी हुई दो थैलीनुमा रचनाएँ आप देख सकते हैं। ये 'शुक्राशय' (*Seminal Vesicles*) कहलाती हैं और लगभग २ से ३ इच तक लंबी होती हैं। ये थैलियाँ अडकोशों से आए हुए शुक्राणुओ को सचित

रखने के हेतु मानों भडार का काम करती हैं, साथ ही वे समीप ही अवस्थित 'शिश्नमूल ग्रन्थि' (Prostate) तथा 'काउपर की ग्रथि' (Cowper's Gland) की भॉति एक पतला तरल द्रव्य भी तैयार करती हैं, जो हलके दूधिया रग का होता है। इस तरल रस के सम्मिश्रण से न केवल शुक्राणुओं के झुण्ड के समूचे आकार मे ही वृद्धि होती है, बल्कि उन्हे आसानी के साथ तैरते हुए इधर-उधर घूमने-फिरने के लिए एक बढिया माध्यम भी मिल जाता है। यही नहीं, यह रस शुक्राणुओं को मूत्रमार्ग में यहॉ-वहॉ छितरी रह जानेवाली मूत्रबूँदों की अम्लता के प्रभाव से नष्ट हो जाने से बचाता भी है। इस प्रकार शुक्रकीटों और इन ग्रन्थियों के रस के सम्मिश्रण से जो तरल द्रव्य तैयार होता है, वही 'वीर्य' या 'शुक्र' (Semen) कहलाता है।

नारी-जननेन्द्रियॉ

पुरुष की भॉति स्त्री की जननेन्द्रियों के भी बाह्य और आंतरिक ऐसे दो विभाग माने जा सकते हैं, यद्यपि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा बाह्य भाग कम दिखाई देते हैं, साथ ही कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। नर के अडकोष के रूप में शरीर के बाहर की ओर लटकते गए दो शुक्रोत्पादक अग होते हैं उसी प्रकार नारी मे भी बीजकोशोत्पादक दो ग्रथियॉ होती हैं, जो 'डिम्ब-ग्रथियॉ' (Ovaries) कहलाती हैं। किन्तु ये उसके शरीर के बाहर नहीं, बल्कि उसके वस्तिगह्वर में कमर के पास नितम्बास्थियों के समीप तथा गुर्दों से कुछ ही पीछे होती हैं, जैसा कि पृ० २४१६ के चित्र मे दिखाया गया है। इन्हीं ग्रन्थियों में वे अत्यन्त महत्वपूर्ण नारी-बीजकोश या 'डिम्ब' (Ova) बनते और रहते हैं, जिनका कि परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इनमें से प्रत्येक डिम्ब-ग्रन्थि का आकार एक चपटे-से अडे या बादाम जैसा होता है और उसका परिमाण भी एक बडी-सी बादाम जितना ही अर्थात् लगभग १॥ इच लबा और पोन इच चौडा होता है। जन्म के समय से ही प्रत्येक लडकी के शरीर में ये छोटी-सी ग्रन्थियॉ मौजूद रहती हैं। उस समय भी प्रत्येक ग्रन्थि में लगभग ७०००० अपरिपक्व परन्तु सशक्त डिम्ब पाए जाते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेगे इन असख्य डिम्बों में से कई एक को कभी पकने का मौका ही नहीं मिलता और वे व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। जब लडकी बढकर युवावस्था की सीमा मे प्रवेश करने लगती है, उस समय उसके कुछ डिम्ब अपने नाभिकों (Nuclei) की रचना कर ऊपर उल्लिखित विधि से अपने वर्णकणों की आधी सख्या को बाहर फेंककर पकने लगते हैं।

इन डिम्ब-ग्रन्थियों की रसद-पूर्त्ति के लिए उनमें काफ़ी रक्तवाहिनियों और नाडियों की व्यवस्था रहती है, और ये शरीर की भीतरी मासपेशी-रचित दीवार से एक प्रकार के चौडे बधनों द्वारा जुडी रहती हैं। इनकी रचना अड या शुक्र ग्रन्थियों की भॉति नलिकाकार नहीं होती, प्रत्युत् उनके मुख्य भाग में एक प्रकार के सयोजक सौत्रिक ततुओं का जाल-सा फैला रहता है, जिसके पृष्ठ के जंजाल में डिम्बों के अतिरिक्त अन्य साधारण कोश भी उलझे रहते हैं। इस खिचड़ी जैसे ढेर में अनेक डिम्ब अपने विकास की भिन्न-भिन्न अवस्था में पड़े दिखाई देते हैं और उनमें से प्रत्येक एक प्रकार के गोलाकार कोश-निर्मित डिम्ब-वेष्ट से परिवेष्टित रहता है, जो उनका पोषण और सरक्षण दोनों ही करता है। इनमें से जिन डिम्बवेष्टों के भीतर के डिम्ब परिपक्व होने के करीब होते हैं, वे डिम्ब-ग्रन्थि की सतह पर यहॉ वहॉ गोल-गोल दानों के रूप में उभरे हुए दिखाई देते हैं।

जहॉ नर-बीजकोशों या शुक्राणुओं का अड में लगातार निर्माण होता रहता है और वे वहॉ से निरतर निकलते रहते हैं, वहॉ इन नारी-बीजकोशों या डिम्बों का प्रकृति बहुत अधिक मितव्ययितापूर्वक निर्माण करती है और उन्हें ख़र्च करने में तो वह और भी अधिक मितव्ययी बन जाती है। रजोदर्शन से रजोनिवृत्ति के समय तक (जोकि अधिकाश स्त्रियों में ४५ वर्ष की उम्र में होता है) प्रत्येक स्त्री के जीवन में प्रति चार सप्ताह के अतर से केवल एक डिम्ब-वेष्ट डिम्ब-ग्रन्थि की सतह के ऊपर फूटकर अपने गर्भमंदिर में स्थित परिपक्व डिम्ब को मुक्त करता है। इस प्रकार बारह-तेरह वर्ष की आयु से लगाकर पैंतालिस वर्ष की आयु तक प्रति मास बारी-बारी से हर डिम्ब-ग्रन्थि में साधारणतया केवल एक ही डिम्ब पककर छुटकारा पाता और उसकी परिधि लॉघकर यात्रा करने के लिए बाहर की ओर अग्रसर होता है।

पृ० २४२२ के चित्र में दोनों डिम्ब-ग्रन्थियो में से प्रत्येक के ठीक ऊपर झालर की तरह छाई हुई एक कुप्पीनुमा रचना आप देख सकते हैं। इन रचनाओं के दूसरे छोर पर एक एक नली जुडी हुई है, जिसे 'डिम्बप्रनाली' (Oviduct or Fallopian Tube) कहते हैं। ये नलियॉ लगभग पॉच-पॉच इच लबी होती हैं और उनका एक मुँह तो उपर्युक्त उल्लिखित कुप्पीनुमा सिरे के रूप में डिम्ब-ग्रन्थि के पास के पेट में खोखले हिस्से में खुला रहता है और दूसरा गर्भाशय के ऊपरी भाग में जाकर खुलता है,

जिसका कि वर्णन आगे चलकर किया गया है। डिम्ब-ग्रन्थि की ओर के कुप्पीनुमा मुख पर कुछ उंगलीनुमा अकुर होते हैं, जो डिम्ब ग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब के छूटते ही उसे पकड़कर डिम्ब-प्रनाली के भीतर धकेलते हैं। इस प्रनाली की भीतरी कला के पृष्ठ पर कुछ महीन लहराते हुए रोम-जैसे अकुर होते हैं। उन अकुरों तथा कला पृष्ठ की पेशियों के आकुचन द्वारा धकेला जाकर आगन्तुक डिम्ब नली के गर्भाशयवाले मुख की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार अपने ध्येय-स्थान—गर्भाशय—तक की यात्रा के लगभग पॉच इन्च के इस फासले को तय करने मे एक डिम्ब को क़रीब आठ दिन का समय लग जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि डिम्ब-प्रनाली का कुप्पीनुमा झालरदार मुख कुछ अश तक ही डिम्ब-ग्रन्थि के ऊपर छाया हुआ रहता है, वह उसे पूरी तरह नहीं ढके रहता। इस प्रकार इस बात की भी सभावना रहती है कि डिम्ब-प्रनाली मे प्रवेश करने के बजाय वह भूल से पेट के खोखले भाग मे ही जा गिरे। ऐसा शायद ही कभी हो पाता है, परन्तु यदि इस तरह भटके हुए डिम्ब की उसी तरह भटक निकलनेवाले किसी शुक्रकीट से भेंट हो जाय तो गर्भाशय से बाहर पेट के उक्त खोखले हिस्से मे ही बच्चे का गर्भ प्रस्थापित हो जाता है, जिससे स्त्री के लिए भारी ख़तरा पैदा हो जाता है।

वह थैली जिसमे गर्भस्थ शिशु रहता है

गर्भाशय या जरायु पृ० २४२२ के चित्र मे दिग्दर्शित आकार-प्रकार का एक मजबूत कक्ष होता है, जो वस्ति-गह्वर मे मूत्राशय के पीछे और मलाशय के आगे अवस्थित होता है। सामान्यतः वह लगभग तीन इच लबा होता है, किन्तु जिन दिनो उसमे गर्भस्थ बच्चा रहता है, उन दिनो मोटी पेशीयुक्त दीवारोंवाला यह थैलीनुमा अग फैलकर सामान्य दशा से कई गुना बड़ा हो जाता है। उसमे तीन रास्ते होते है, जिनमे ऊपर के दोनों कोनों के रास्तों से दो डिम्ब प्रनालियाँ उसमे प्रवेश करती हैं और तीसरा रास्ता, जो उसकी 'ग्रीवा' (Cervix) कहलाता है, क्रमशः तग होते हुए एक गुहा जैसे मार्ग में आकर नीचे खुल जाता है। यह मार्ग योनि (Vagina) कहलाता है और तीन-चार इच लबा होता है। उसका निचला सिरा या मुख स्त्री के भगस्थान पर एक द्वार के रूप मे खुला रहता है। कुमारी कन्याओं मे योनि का यह द्वार त्वचा के एक पतले गोल परदे द्वारा ढका रहता है, किन्तु वह बिल्कुल बंद नहीं होता। इस परदे को कुमारिच्छद (Hymen) कहते हैं, और प्रथम समागम के समय वह फट जाता है। योनिद्वार के आसपास दो छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ लगी रहती हैं, जो उसके मार्ग को तर रखने के लिए एक प्रकार का तरल रस उत्पन्न करती हैं।

स्त्री की जननेन्द्रिय के बाहर से दिखाई देनेवाले अंगों में दो उभरे हुए वसा से युक्त मोटे ओष्ठ होते हैं, जो कि सपुटित होकर योनिमुख और मूत्रद्वार को ढके रहते हैं। पुरुष में, जैसा कि हम देख चुके हैं, शुक्र और मूत्र दोनो के निकलने के लिए एक ही मार्ग होता है। किन्तु स्त्रियों मे ऐसा नही होता—उनमे गर्भाशय और मूत्राशय दोनो से दो भिन्न प्रनालियाँ अलग-अलग द्वार के रूप मे आकर बाहर खुलती हैं और दोनों के मुख दो दो पतले ओठों द्वारा ढके रहते हैं। जहाँ ये ओठ मिलकर एक कोण बनाते हैं, उस स्थान मे एक छोटा-सा अंकुर होता है, जिसे भगनासा (Clitoris) कहते हैं। स्त्री के इस अग की रचना बहुत-कुछ पुरुष के शिश्न जैसी होती है और उसी की तरह इसमे भी प्रहर्षक ततु होते हैं, जिनसे मैथुन के समय वह दृढ हो जाता है।

शिशु का बीजारोपण

गर्भाशय जिन दिनों खाली रहता है, अर्थात् उसमे बच्चा नही होता उन दिनो महीने में एक बार नियमित रूप से उसकी बडी कड़ी सफाई होती रहती है, जिसका कि बाहरी स्वरूप हम स्त्री के मासिक रक्तस्राव अथवा आर्त्तव के रूप मे देखते हैं। ऐसा क्यो होता है? हम बता चुके हैं कि डिम्ब-ग्रन्थियों से छूटकर प्रति मास एक परिपक्व डिम्ब डिम्ब-प्रनाली के रास्ते गर्भाशय मे आता है। अविवाहिता स्त्री मे तो वह जरायु तक पहुँच जाने पर भी प्रति बार नष्ट हो जाता है और आर्त्तव के साथ बाहर फेंक दिया जाता है। किन्तु विवाहिता स्त्री मे डिम्ब-प्रनाली में से होकर आते समय यदि कही उसकी भेंट मैथुन द्वारा प्रविष्ट पुरुष के किसी शुक्रकीट से हो जाती है तो एक नवीन मानव शिशु का बीजारोपण हो जाता है। पर यह क्रिया तभी सफल हो पाती है जबकि वह सयुक्त बीज जरायु के भीतरी पृष्ठ मे कहीं चिपक जाय। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए डिम्ब ग्रन्थि से डिम्ब के छूटने के आठ-दस दिन बाद जरायु के भीतरी पृष्ठ की झिल्ली टूट जाती है और उसके पुराने पड जानेवाले कोश मानों झाड़-बुहारकर बाहर फेंक दिए जाते हैं तथा उनका स्थान नए ताज़े कोश ले लेते हैं। स्वभावतः ही इस

क्रिया मे बहुतेरी रक्तवाहिनियाँ फूट निकलती हैं, और फलतः आर्त्तव के रूप मे प्रति २८ वें या ३० वें दिन झाड़े-बुहारे गए तंतु बाहर निकलते देखे जाते हैं। इस प्रकार जरायु का भीतरी पृष्ठ फिर से ताज़े कोशों से युक्त होकर शुक्राणु से सयुक्त किसी भी डिम्ब को ग्रहण करने को तैयार रहता है, ताकि ज्योंही कोई ऐसा बीज उस पर आकर प्रस्थापित हो त्योंही वह उसे अपने नवीन ततुओं से ढककर अपनी सतह पर चिपका ले। यदि ऐसा हो जाता है तो कहा जाता है कि स्त्री के गर्भ प्रस्थापित हो गया। इस बीजारोपण के हो जाने पर फिर अगले महीने से जरायु की मासिक सफ़ाई अर्थात् आर्त्तव का क्रम बद हो जाता है, जो इस बात का सूचक होता है कि गर्भस्थिति हो चुकी। यह हमारे शरीर-यत्र के अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेने की आश्चर्यजनक क्षमता का एक और उज्ज्वल उदाहरण है। ज्योंही गर्भस्थित बीज का विकास होने लगता है, न केवल मासिक आर्त्तव ही बंद हो जाता है, बल्कि डिम्ब - ग्रन्थियाँ भी अब और अधिक परिपक्व डिम्बों का उत्पादन करना बद कर देती हैं। यही नहीं, उनमे स स्रवित होकर रक्त मे मिलने-वाले रसों मे भी अब कई परिवर्त्तन हो जाते हैं, जिनके प्रभाव से गर्भिणी के स्तनो में प्रस्थापित दुग्ध ग्रन्थियाँ विशेष रूप से कार्य करना शुरू कर देती हैं ताकि बच्चा पैदा होने पर उनमे दूध बनने लगे। प्रसव के बाद किसी मे जल्दी तो किसी मे कुछ देर से डिम्ब-ग्रन्थियाँ पुनः परिपक्व डिम्बों को बनाकर गर्भाशय में प्रेषित करना शुरू कर देती हैं और उसी प्रकार पुनः मासिक धर्म भी होने लगता है।

साधारण रूप से डिम्ब ग्रन्थि से छुटकारा पाने पर कोई भी परिपक्व डिम्ब डिम्ब-प्रनाली मे तीन-चार रोज़ ही जीवित रह सकता है, अतएव विवाहिता स्त्रियों मे भी कई एक ऐसे डिम्ब किसी सचेतन शुक्रकीट से सयुक्त न हो पाने के कारण व्यर्थ ही नष्ट होकर आर्त्तव के साथ शरीर से बाहर फेंक दिए जाते हैं। एक बार के मैथुन मे स्त्री की योनि में कई करोड़ शुक्राणु प्रविष्ट होते हैं। इनमें से कुछ तो तत्काल ही मर जाते हैं, कई योनि के अम्लीय रसों से नष्ट हो जाते हैं और शेष गर्भाशय की ओर ऊपर अग्रसर होते हैं। उसमें प्रवेश पा जाने पर वे उसमें विद्यमान क्षारीय रसों से मानों पुनः तरोताज़ा हो जाते हैं और अब इन बचे-खुचे शुक्रकीटों में डिम्ब-प्रनाली के मुख तक पहुँचने के लिए एक सच्ची दौड़ की प्रतियोगिता शुरू होती है। इस भगदड़ में उनमे से कई अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं और कुछ ही डिम्ब-प्रनाली के सिरे तक पहुँच पाते हैं। यहाँ डिम्ब-ग्रन्थि से छूटे हुए किसी परिपक्व सशक्त डिम्ब से भेंट करने की आशा में वे ठहरे रहते हैं। ज्योंही ऐसा कोई डिम्ब सामने पड़ा, त्योंही उम्मीदवारों में से कोई एक शुक्राणु, जो स्वभावतः सबसे अधिक स्वस्थ और सशक्त होता है, दूसरों को मात करके सिर के बल उस डिम्ब के कलेवर में घुस पड़ता है। इस क्रिया में वह अपनी दुम को बाहर ही त्याग देता है और केवल उसका शीर्ष-भाग ही डिम्ब-नाभिक से सयुक्त होने को तेज़ी से आगे बढता है। सामान्यतया केवल एक ही ऐसा शुक्रकीट डिम्ब के भीतर प्रवेश कर पाता है, परन्तु कभी-कभी एक से अधिक भी प्रवेश कर जाते हैं। उस दशा में ऐसी अमानुषिक सताने पैदा होती हैं, जिनके कि दो सिर या चार हाथ-पैर आदि होते हैं। और यदि कभी एक साथ ही या कुछ समय के अन्तर पर दो या इससे भी अधिक डिम्बों मे उतने ही शुक्रकीटों द्वारा बीज-प्रस्थापन हो जाता है तो उस दशा मे एक साथ दो-तीन या इससे भी अधिक बच्चे पैदा होते हैं।

शुक्राणुओं मे डिम्ब के साथ सयुक्त होने की क्षमता एक से दो हफ़्तों तक बनी रहती है। यदि इस अवधि मे वे अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं कर पाते तो अन्त मे मर जाते हैं और असफल डिम्ब की भाँति उनके भी शव बहाकर प्रकृति द्वारा बाहर फेंक दिए जाते हैं। यही कारण है कि यह जरूरी नहीं होता कि प्रत्येक मैथुन में गर्भ-स्थिति हुआ ही करे।

डिम्ब-प्रनाली (खुली)
गर्भाशय का गर्त
डिम्ब-प्रनाली (बिना कटी)
डिम्ब-प्रनाली की कीप
डिम्ब-ग्रंथि
डिम्ब ग्रंथि को स्थित रखने वाली झिल्ली
योनि-संपुट
गर्भाशय की ग्रीवा
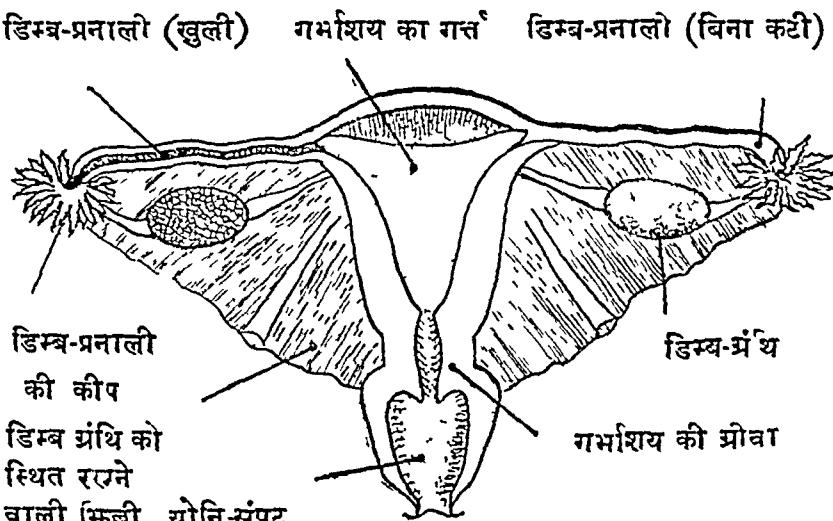
नारी-जननेन्द्रियाँ—(लंबाई के रुख़ काटकर दिखाया गया दृश्य)

मनोयोग

आपने शायद वह कहानी सुनी होगी जिसमे कहा गया है कि एक पुराना सैनिक बाज़ार से एक कटोरे में घी लेकर चला आ रहा था कि किसी ने मज़ाक़ करने की नीयत से सहसा कहा—"अटेन्शन !" और बेचारा सैनिक आदत के अनुसार बिल्कुल तनकर खडा हो गया और उसका घी का कटोरा रहा जमीन पर। यह कहानी प्रायः यह दिखाने के लिए कही जाती है कि अभ्यास का कितना बड़ा ज़ोर आदमी पर है। लेकिन आपने शायद यह ध्यान न दिया हो कि जो सैनिक बाज़ार से घी लिये जा रहा है, उसका मन घी की पूड़ी या हलवे मे लगा हुआ है। हो सकता है कि उसकी कल्पना में हलवे की हल्की-हल्की ख़ुशबू भी नाकों मे आने लगी हो और तब अचानक वह सुनता है—"अटेन्शन !" और उसका ध्यान तडपकर चला जाता है एक दूसरी ही अवस्था पर, एव उसकी प्रतिक्रिया होती है उसके एक विशेष प्रकार के शरीर-सचालन मे।

इस कहानी का एक और हिस्सा है, जो आज तक किसी ने न कहा। ठीक उसी रास्ते पर, उसी जगह दो और भी आदमी चले जा रहे थे। उनमे से एक ने भी सुना "अटेन्शन", लेकिन वह जैसे चल रहा था वैसे ही चलता रहा। हाँ, उक्त सैनिक के उस आकस्मिक आचरण पर वह हँसने के लिए ज़रूर ठहर गया, जैसा कि आधुनिक हर एक आदमी का स्वभाव है। लेकिन भला उस एक और आदमी को तो देखिए, जिसने ज़रा भी सुना नहीं कि किसी ने कुछ कहा भी या किसी ने कुछ हास्यजनक काम किया भी।

अतएव जब पहले ने पुकारा—"अजी ओ, देखा तुमने उस सिपाही को ?" और बात पूरी न करके वह ही-ही-ही करने लगा तो दूसरे ने उस सैनिक की ओर, फिर पहले आदमी की ओर देखा, और ज़बर्दस्ती चेहरे पर ज़रा-सी मुस्कुराहट खींचकर वह फिर अपने काम मे लग गया, यानी चलने लगा।

मतलब यह कि यद्यपि बात एक ही थी, किन्तु तीनों व्यक्तियों ने तीन विभिन्न प्रकार के आचरण किए। एक ने उस बात मे ही अपना मन-प्राण लगा दिया, यहाँ तक कि उसे महँगे घी का भी ध्यान न रहा; दूसरा उस बात को देखकर हँसने के लिए ठहर गया; और तीसरे ने न कुछ सुना, न देखा—यहाँ तक कि जब ज़बर्दस्ती उसका ध्यान उस बात की ओर खींचा गया तो भी वह ज़रा-सा मुस्कुराया ही, मानो मुस्कराने मे भी उसका कुछ ख़र्च होता हो।

जब हम किसी वस्तु या अवस्था पर ध्यान देते हैं तो यह नही होता कि बिना मतलब ही उस पर हमारा ध्यान गया हो। वस्तुतः हमारे ध्यान के पीछे हमेशा कोई न-कोई मतलब छिपा रहता है और यह मतलब या स्वार्थ जितना ही शक्तिशाली होता है उतना ही अधिक हमारा ध्यान उस वस्तु पर खिचता है। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि सिपाही के लिए जीविका-उपार्जन करने का एकमात्र साधन उसकी सैनिक शिक्षा और आचरण ही है। इसलिए उसका जीवन सम्पूर्ण रूप से सैनिक आज्ञाओं का उचित पालन करने पर ही निर्भर है। लाख उसका मन पूड़ी और हलवे पर लगा हो और हज़ार उसकी आँखो के सामने हाथ में करछुल लिये लल्लू की माँ की तस्वीर नाच रही हो, लेकिन जैसे ही एक सैनिक आज्ञा उसके कानों मे पडती है, उसका मन उछलकर हलवा और पूड़ी के आदि-स्रोतरूपी अपने उसी आचरण पर चला जाता है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। यहाँ उसके ध्यान के पीछे उसका एक बहुत बड़ा स्वार्थ काम कर रहा है।

लेकिन उस प्रथम दर्शक का भी यद्यपि इस बात पर ध्यान जाता है, फिर भी उसके ध्यान की तीक्ष्णता इससे बहुत ही कम है। उसकी दिलचस्पी सिर्फ यही है कि किसी तरह उस बेकार अवस्था मे उसे थोडा-सा हँस लेने का मौक़ा तो मिला। और जितनी उसकी दिलचस्पी थी उतना ही मन

वह इस बात मे दे भी सका। पर सबसे पक्का आदमी तो है दर्शक नम्बर दो। उसका मन इससे भी गभीर विषय में लगा हुआ है। उसे बीबी ने कहा था एक ब्रेसलेट लाने को, पर वह लाया तो नही, अतएव क्या जवाब देगा बेचारा! और ऐसे वक्त पर अटेन्शन की आवाज़ हो या एकाध डिवीज़न सेना ही क्यों न परेड कर जाय, पर उसे क्या? इसलिए ज़बर्दस्ती दिखाए जाने पर भी उसका ध्यान सिपाही के हास्यजनक आचरण-जैसी महत्वपूर्ण बात पर एकाध मिनट भी नही ठहर सका!

दिलचस्पी के आधार पर मनोयोग को भी दो प्रकार का कहा जा सकता है। इस हिसाब से पहला मनोयोग प्राथमिक अथवा मुख्य होगा और दूसरा होगा अप्रधान अथवा गौण। जो ध्यान स्वतः ही किसी वस्तु-विशेष पर चला जाय उसे साधारणतः प्राथमिक कहा जा सकता है। जो ध्यान जान बूझकर किसी ओर लगाया जाय, उसे मोटे तौर पर गौण कह सकते हैं। ये भेद मौलिक नही, विज्ञान की सुविधा के लिए किए हुए हैं। प्रकृति मे वस्तुतः इस तरह का कोई अन्तर देखने मे नही आता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के ध्यान या मनोयोग व्यक्ति के निजी स्वार्थ पर निर्भर हैं। प्राणिशास्त्रीय नियम के अनुसार जीव के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताएँ स्वाभाविक हैं, जैसे भोजन और काम। इनके अलावा भी विद्वान् लोग तरह-तरह की प्रवृत्यात्मक आवश्यकताओं का जीवों में होना मानते हैं, जैसे वात्सल्य, गोष्ठी, निर्माण आदि सबंधी प्रवृत्तियाँ। इन सहज वृत्तियो से उत्पन्न स्वार्थ के अलावा जितने भी स्वार्थ हैं, उन्हें गौण कहा जाता है और तदनुसार गौण स्वार्थों से परिचालित मनोयोग भी गौण कहलाता है।

भूखा शेर जंगल मे विचर रहा है, उसकी मूँछें तनी हुई हैं। आँखे चचल हैं, कान चुस्त हैं और पाँव आगे बढ रहे हैं, वैसे ही ज़रा-सी खडखडाहट होती है, उसके कान खडे हो जाते हैं, उसकी आँखे आवाज की ओर जम जाती हैं और वह मूर्त्तिवत् थम जाता है। कई ख़रगोश तड़पकर एक बिल मे घुस जाते हैं, और शेर का ध्यान उसी बिल-वाली जगह पर लगा है। उसके आसपास क्या हो रहा है, इसका उसे पता नहीं। उसकी पूँछ एक विशेष प्रकार से धीरे-धीरे किन्तु बेचैनी के साथ चतुर्दिक् फिर रही है और वह खडा है बिलकुल मनोयोगपूर्वक।

ख़रगोशों का भी मौत का परवाना कटा था, अतएव शेर ने उनमे से कई को धर दबोचा। तब पेट भर जाने पर वह समीप ही लेट रहा। कुछ समय बीतने पर देखते क्या हैं कि एक ख़रगोश उसकी पूँछ से खेल रहा है! किंतु शेर ने उसकी ओर एक बार अनमने भाव से सिर्फ देखा और लेट रहा! यह क्यों?

भूख एक प्रवृत्ति है, और जब तक उसकी परितृप्ति नहीं हुई, शेर की दिलचस्पी खाद्य-पदार्थ पर ही केंद्रित रही, और उसी अनुपात से उसका ध्यान भी खरहों पर रहा। किन्तु भूख मिटते ही दिलचस्पी भी कम हुई और उसी अनुपात में उसका मनोयोग भी उस वस्तु पर से कम हो गया। अस्तु, यह नियम हुआ कि मनोयोग की तीव्रता स्वार्थ की मात्रा के सीधे अनुपात से घटती बढ़ती है।

गौण स्वार्थ उसे कहा जा सकता है, जो प्राथमिक स्वार्थों के कारण उत्पन्न तो जरूर हो, लेकिन स्वय प्राथमिक स्वार्थ न हो। उदाहरण के लिए हम चित्रकारी ही को ले सकते हैं। कैनवास पर बने हुए चित्र को न खाया जा सकता है और न उससे चित्रकार की प्यास ही मिट सकती है, चाहे आँखों से उसका सौंदर्य-रस कितना ही क्यों न पिया जाय। फिर भी एक अच्छा दृश्य देखकर चित्रकार तुरन्त अपनी तूलिका उठाकर कैनवास पर उसे इतने मनोयोग पूर्वक अंकित करने लगता है कि खाना-पीना तक भूल जाता है। उसका यह मनोयोग गौण है और इसका मूल स्रोत चित्रकार के अन्दर कहीं न-कहीं छिपा है। हो सकता है कि चित्रों के द्वारा ही उसकी जीविका चलती हो, अथवा उसकी कोई और आन्तरिक प्रवृत्ति इसके द्वारा सन्तुष्ट होती हो। लेकिन यह दिलचस्पी प्राथमिक नहीं, प्रत्युत् उत्पन्न अथवा प्राप्त है। अतएव चित्र पर उसका मनोयोग भी उत्पन्न अथवा प्राप्त मनोयोग ही है। किसी भी विद्यार्थी का अपने पाठ पर लगाया गया मनोयोग भी इसी प्रकार प्राप्त मनोयोग होता है।

सयोजनावादी मनोवैज्ञानिक मनोयोग को एक निष्क्रिय मानसिक घटना समझते हैं। उनके विचार से सक्रिया-त्मक रूप मे कहीं मनोयोग नही किया जा सकता, और जो मनोयोग सक्रिय-सा दीखता है, वास्तव मे वह भी निष्क्रिय मनोयोग के टुकड़ो का एक समूह होता है।

आइए, पहले यह बता दे कि सयोजनावादी मनो-वैज्ञानिकों का मौलिक सिद्धान्त क्या है। इनके विज्ञान को मानसिक रसायन कहा जा सकता है। जिस प्रकार रसायनशास्त्र मे हर पदार्थ का विश्लेषण करके उसके अन्तिम मौलिक परमाणु पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं का भी विश्लेषण कर ये वैज्ञानिक उसके अन्तिम मौलिक टुकड़े पर पहुँचना चाहते

हैं। उनकी धारणा है कि ऐसे ही मौलिक टुकड़ो के योग से मानसिक क्रियाएँ बनी हुई हैं।

अतः मनोयोग के भी विश्लेषण की जब इन्होने कोशिश की तो आखिर इस परिणाम पर पहुँचे कि वह एक निष्क्रिय मानसिक क्रिया अथवा घटनामात्र है, जो बहुत थोडे समय तक जमकर रह सकती है। साथ ही उसका निरन्तर विचलन अथवा ह्रास-वृद्धि का क्रम भी चलता रहता है।

यहाँ मनोयोग-विचलन के एक परीक्षण का संक्षिप्त विवरण हम दे रहे हैं। इसी पृष्ठ के चित्र के अनुसार एक वर्ण-चक्र(Colour Wheel)पर मैसन की एक डिस्क चढा दो। यह मैसन की डिस्क दफ्ती की एक चक्रफलक होती है जो बिल्कुल सादी होती है और जिस पर उसके केन्द्र-विन्दु से परिधि तक एक ही रेखा मे थोडी-थोडी दूर हटकर कई चौकोर छोटे-छोटे काले निशान बने होते हैं। वर्णचक्र एक तेज़ी से घूमनेवाला यत्र होता है। इस चक्र पर चढाकर डिस्क को घुमाने से गोल-गोल कई रेखाएँ नज़र आती हैं, जो इन्ही निशानो के तेज़ी से घूमने की वजह से बन जाती हैं। अब प्रयोजक को चाहिए कि जिस पर परीक्षण करना हो उस पात्र को आराम से इसी चक्र के सामने बैठा दे और उस पर ध्यान जमाने को कहे। परिधि की ओर से केन्द्र की ओर तीसरे या चौथे चिह्न की रेखा बहुत अधिक मनोयोग देने ही से दृष्टिगोचर हो सकती है। पात्र को कहना चाहिए कि तुम इसी रेखा को देखो और उसे किसी भी हालत मे दृष्टि से ओझल मत होने दो। मेज पर एक गतिलेखक-यंत्र (Kymograph) चालू कर दो। इसके साथ एक छोटी विद्युत् चुम्बकीय लेखनी (Electro-Magnetic Stylus) सटा दो, जिसका संबध एक बिजली की चाबी से रहे। इस चाबी को पात्र के दाहिने हाथ के पास रख दो। उसे यह आदेश दे देना चाहिए कि जब तक उसे रेखा दिखलाई पडती रहे, वह उस चाबी को दबाए रखे, और ज्योंही वह लुप्त हो जाय, उसे छोड दे। फिर जैसे ही दिखलाई पडे, पुनः चाबी को दबा दे। काइमोग्राफ पर अंकित चित्र के ठीक नीचे समयसूचक द्वारा समय का भी रेखाचित्र ले लो।

इस चित्र को देखने से मालूम होगा कि रेखा बीच-बीच मे बराबर लुप्त होती और फिर दिखलाई पडती रही है। यानी पात्र का ध्यान रेखा पर से बीच-बीच मे बराबर हटता जाता रहा है। इस प्रकार मिनिट मे कई-कई दफे के हिसाब से ध्यान का विचलन होता है, जो भिन्न व्यक्तियों मे अलग-अलग होता है।

इससे भी सीधी एक और परीक्षा है, जिसे कोई भी व्यक्ति किसी तरह के यंत्रादि की झंझट किए बिना कर सकता है। किसी भी शाम को सूर्य डूब जाने के बाद, जबकि तारे दिखलाई पड़ना शुरू हुए हों, आप आसमान पर आँख जमाइए और कम-से-कम एक तारा ढूँढ़ निकालने की कोशिश कीजिए। लीजिए, आपने एक तारा पा लिया! तो फिर अब एक और तारा, जिस सूरत से भी हो, देखना ही होगा। पहले पहल कम-से-कम एक जोड़ा तारा देखने का ही नियम है! वह देखिए, वह एक और तारा-सा नज़र आ रहा है! हॉ, वह तारा ही तो है। पर यह क्या, वह पहला तारा तब तक क्या हो गया? आप पाएँगे कि बहुत ध्यान देने पर बीच-बीच मे वह तारा दिखलाई पडता है और फिर लुप्त हो जाता है। अर्थात् आपके ध्यान की लगातार ह्रास-वृद्धि हो रही है।

मनोयोग - विचलन संबंधी एक प्रयोग

अ—मैसन की डिस्क; ब—गतिलेखक यंत्र या काइमोग्राफ़; स—विद्युत् चुम्बकीय लेखनी, द—चाबी; न—काइमोग्राफ पर अंकित रेखाचित्र (१. विचलन का रेखांकन; २. समय का रेखांकन)। (विशेष विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।)
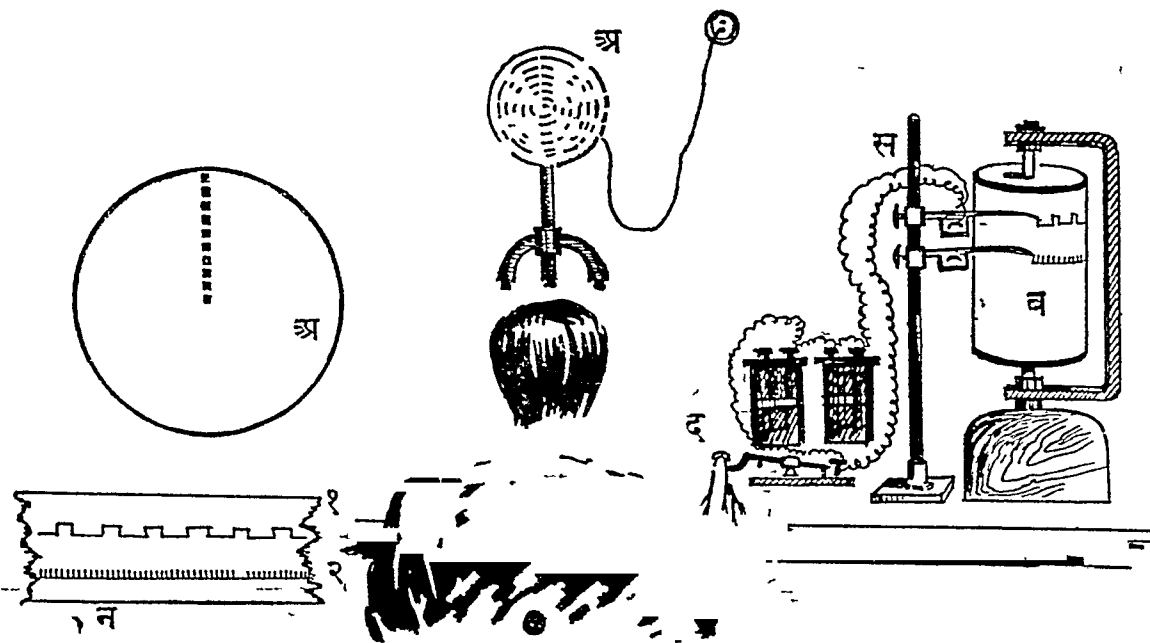
हाँ, तो संयोजनावादी मन के अन्दर इच्छा नाम की नियात्मक शक्ति का भी होना नहीं मानते। उनका मत है कि नाना प्रकार के संवेदनों के योग से ही मानसिक अनुभव होते हैं, तथा विचार करने, इच्छा करने और काम करने के लिए हम स्वतंत्र नहीं हैं। इस प्रकार ये गीता के "कर्मण्येवाधिकारस्ते" वाले सिद्धान्त की जड़ पर ही कुठाराघात करते हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व निष्क्रिय संवेदनादि प्राकृतिक घटनाओं का एक मेल है। लेकिन, आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि इस मतवालों के परीक्षणों का एकमात्र आधार है अन्तर्दर्शन। अगर मन की किसी क्रिया के संबंध में आपको वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना है तो आपको अपना सारा ध्यान अपने भीतर की ओर लगा देना होगा और यह विश्लेषण करने की चेष्टा करना पड़ेगा कि आपके मन के अन्तर्गत क्या हो रहा है। प्रयोजक ऐसा ही कुछ आदेश आपको देगा—"आप अपनी सारी शक्ति को इसी बात पर जमा दीजिए कि जिस समय मैं आपके हाथ पर चिकोटी काटता हूँ तो देखिए कि आपको क्या अनुभव होता है" आदि। अब आप मन की निष्क्रियता वाले सिद्धान्त के साथ इस बात को मिलाकर देखिए। एक ओर तो वे लोग कहते हैं कि मनोयोग निष्क्रिय है, लेकिन फिर वही आपको कहते हैं कि आप इस पर पूर्ण मनोयोग भी दीजिए।

यहाँ पर, चलते-चलते, एक और बात की ओर इशारा कर देना उचित होगा। संयोजनावादियों की उपर्युक्त हास्यजनक स्थिति का कारण एक साधारण मनोवैज्ञानिक तथ्य है। वैज्ञानिक सत्य पर पहुँचने के लिए पहले वस्तुओं का गम्भीर निदर्शन किया जाता है, तत्पश्चात् उनका सामान्यीकरण होता है और अंत में सिद्धान्त-निर्माण होता है। लेकिन सिद्धान्त बन जाने के बाद सिद्धान्त-निर्माता को अपनी इस सफलता पर इतनी ख़ुशी होती है कि आगे की भी प्रत्येक घटना को इसी सिद्धान्त पर घटाने की उसकी प्रवृत्ति होती है। नतीजा यह होता है कि अधिकतर अवलोकित तथ्यों के विपर्यय के बावजूद भी इस सिद्धान्त को छोड़ा नहीं जाता, वरन् उसी सिद्धान्त पर तोड़-मोड़कर इस नए तथ्य को बिठा देने की चेष्टा होती है। ऐसी अवस्था के आने पर विज्ञान जहाँ का तहाँ स्थगित-सा हो जाता है और वह पुनः आगे तब बढ़ता है जबकि फिर से आँखें खुलती हैं। हमारे संयोजनावादी मनोवैज्ञानिकों की भी अन्त में यही अवस्था हुई, जिसके कारण उनके अधिकतर सिद्धान्त खटाई में पड़ गए।

अतः हमने यह तय पाया कि मनोयोग एक बिल्कुल निष्क्रिय मानसिक घटना नहीं वरन् गतिशील क्रिया है और इसके घटाने-बढ़ाने, किसी ख़ास ओर को लगाने, या खींच लेने आदि पर व्यक्ति का कुछ दूर तक हाथ अवश्य रहता है। मनोयोग की उच्चतम अवस्था को ही समाधि कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति आसपास की बड़ी-से-बड़ी घटनाओं तक को विस्मृत कर देता है और एक ही बात, जिस पर कि वह ध्यान जमाता है, उसकी सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु हो जाती है। समाधि की अवस्था में मैसन की डिस्क द्वारा आज तक परीक्षण नहीं किया गया। यदि किया जाय तो काफी दिलचस्प होगा।

कुछ मनोविज्ञान-विशारदों का मत है कि मनोयोग की तीव्रता किसी भी घटना की तीव्रता एवम् उसके सहसा होने पर निर्भर करती है। बात कुछ हद तक ठीक अवश्य है, लेकिन हर हालत में नहीं। सड़क के किनारे अपने कमरे में बैठकर परीक्षा के लिए पाठ याद करते हुए विद्यार्थी के सामने से कानों के पर्दे को फाड़नेवाली आवाज़ करते हुए बड़े-बड़े टैंक निकल जाते हैं, फिर भी वह विद्यार्थी निमग्न रहता है अपने पाठ्य विषय की रट में ही! और एक टैंक के चलने की आवाज कम-से-कम आधे मील तक के लोगों का ध्यान भंग कर देने के लिए काफ़ी होती है, लेकिन वही उस विद्यार्थी का ध्यान तक नहीं खींच सकी! परन्तु वही विद्यार्थी जब पढ़ रहा हो, और सामने खिड़की से कुछ दूरी पर थोड़ी-थोड़ी आग की रोशनी-सी दिखलाई पड़ती हो, तो पढ़ने की कोशिश करने पर भी उसका ध्यान उसी आग की ओर दौड़ जाता है। अचानक उसके मुँह से निकलता है—"आग!!" और पढ़ना-लिखना छोड़कर वह दौड़ पड़ता है। यह क्यों?

आपने देखा कि टैंक की आवाज़ एक अत्यधिक तीव्र घटना थी और यदि उपर्युक्त नियम ठीक होता तो विद्यार्थी का ध्यान उसी पर चला जाना चाहिए था। उधर आग की लपटों का दूर से दिखलाई पड़नेवाला दृश्य बहुत-ही धुँधला था, अतएव उस पर शायद उसका ध्यान जाना ही नहीं चाहिए था। फिर भी हुआ वही जो इस नियम को गलत साबित करता है। यही तो वैज्ञानिकों के सिद्धान्त की मौत है।

मन का एक और भी गुण है हर चीज़ में अर्थ खोजना। जिस चीज़ की ओर मन जाता है, उसमें कोई-

न-कोई अर्थ वह अवश्य खोज निकालता है और जब तक वह उसमें अर्थ नही पाता, एक अस्थिरता का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति का नियम ही है हर वस्तु एव क्रिया मे संतुलन की स्थापना करना और कोई भी वस्तु तब तक अस्थिरता की अवस्था मे रहती है, जब तक कि उसे एक प्रकार का सतुलन प्राप्त नही हो जाता। मन भी सर्वदा ऐसा ही समतौल प्राप्त करने को उद्ग्रीव रहता है। जब किसी वस्तु विशेष पर हमारा ध्यान जाता है तो जब तक उस वस्तु का अर्थ हम नहीं पा लेते, तब तक हमारा ध्यान चाहे तो उसी पर जमा रहता है अथवा उससे उचट भी जाता है। अर्थ पा लेने के बाद जो ध्यान उस वस्तु पर रह जाता है, वह उत्पन्न अथवा प्राप्त ध्यान है और खोजने पर पता चलेगा कि अभी भी उस वस्तु से कुछ स्वार्थ पूरा होने को बाक़ी है। उदाहरण के लिए आप निम्न घटना को ले सकते हैं। आप नदी के किनारे-किनारे एक जंगल से गुज़र रहे हैं। इसी समय दूर से आती हुई किसी चिड़िया की बोली आपको सुनाई पड़ती है। आप अपना दूरबीन उठाते हैं और उस स्थान की ओर फ़ोकस करने की कोशिश करते हैं। आपका सारा ध्यान इसी पर जमा हुआ है। तब ज्योंही आपके दूरबीन की गोलाई के भीतर कोई उड़ती हुई चिड़िया दिखलाई पड़ती है, आप और भी ध्यान-पूर्वक उसे देखने लगते हैं तथा शीशे को आगे-पीछे करते हुए दूरबीन का फोकस उसी ओर किए जाते हैं, जिधर को चिड़िया उड़ रही है। लीजिए, अब साफ हो गया। यह एक सुर्ख़ाब है। साथ ही आपकी उत्सुकता भी समाप्त हो गई। दूरबीन आपने छोड़ दिया, और आप पुनः आगे बढ़ चले। आप उस बात पर तभी तक मनोयोग दे सके जब तक आपने उस दूर से आती हुई आवाज़ और उड़ती हुई चीज़ को जान नही लिया। लेकिन यदि उसी समय आपके हाथ में बन्दूक़ भी है और जेब मे कारतूसें भी, और यह सुर्ख़ाब आपको दरकार है तो आप इसे ज़रूर मारेंगे। ऐसी हालत मे इसे पहचान लेने से ही आपकी दिलचस्पी ख़त्म नहीं हो जाती और न उस पर से आपका ध्यान ही हट जाता है। बल्कि यह सुर्ख़ाब है, यह जानकर आपका ध्यान और भी केन्द्रित होकर उसी पर जम जाता है। अगर यह एक कौवा होता या चील होती तो अवश्य आपने उसकी ओर दुबारा देखा भी न होता। हॉ, तो यह लो आपने उसे मार ही डाला और उठाकर नौकर को दे दिया और अब आप फिर चलते हुए। अब आपका ध्यान पुनः दूसरी ओर चला गया। किन्तु आपके नौकर का ध्यान आपके इस कृत्य पर गया ही नहीं—उसे आपके इस महान् कर्म से कुछ भी दिलचस्पी नहीं। वह तो सोच रहा है, किसी तरह घर लौट चलते तो थकावट मिटती। लेकिन अगर उसे भूख लगे और खाने का और कोई उपाय न हो, तो संभवतः वह भी मनोयोगपूर्वक एक भागती हुई मुर्गी के पीछे दौड़ेगा।

हमारी दिलचस्पी एक समय मे एक ही वस्तु मे हो सकती है। आप कह सकते हैं कि आपने स्वय एक साथ ही एक किताब भी पढी है और अपने एक दोस्त से गप्पें भी लगाई हैं। हमे आपकी बात स्वीकार है। हमने भी ऐसा एक आदमी देखा है जो ख़ुद भी चिट्ठी लिख रहा है, और दूसरे को चिट्ठी का मज़मून बोलता भी जा रहा है। शायद हिन्दी के पुराने पत्रकार प० अम्बिकादत्त व्यास एक साथ बीस काम कर सकते थे। हमे नही मालूम, कहॉ तक वह बात ठीक है। लेकिन हम इतना आपको बता देना चाहते हैं कि अगर आप कभी ऐसा होते देखें तो यह जानने की कोशिश करें कि क्या सच ही एक से अधिक काम एक साथ हो रहे हैं? कही ऐसा तो नहीं है कि जिस वक़्त चिट्ठी लिखी जा रही है उस वक़्त ध्यान तो चाहे उसी पर हो, परन्तु उसका मज़मून पहले ही सोचा जा चुका है और हाथ अपने आप उसे लिख रहा है? ऐसी हालत मे आप अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ी ही तेज़ी के साथ अपने ध्यान को एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ा सकता है। चूँकि उसका ध्यान बड़ी जल्दी-जल्दी कई विषयों पर आ जा रहा है, इसीलिए आप भ्रमवश समझते हैं कि इन सब पर वह एक साथ ही ध्यान दे पा रहा है।

अगर बाते करते हुए कोई ऐसा शब्द आपके मुँह से निकल पडे, जिसका वहॉ रहना हास्यास्पद होने के सिवा और कोई अर्थ नहीं देता हो तो कृपया आप ज़रा ग़ौर करने की कोशिश कीजिए। आप पाएँगे कि वह आपके आगे के सोचे हुए किसी विचार का छूटा हुआ कोई शब्द है। यही बताइए कि क्या आपका ध्यान अविचलित रूप से इस सारे लेख पर ठहरा रहा? अगर नही तो जानने की कोशिश कीजिए कि कितनी देर तक एकटक आपका ध्यान बिना टूटे हुए इस पर जमा रह सका? इस तरह के दो-एक परीक्षणों से आप जान सकेंगे कि बग़ैर टूटे कितनी देर तक एक वस्तु पर ध्यान जमा रह सकता है।
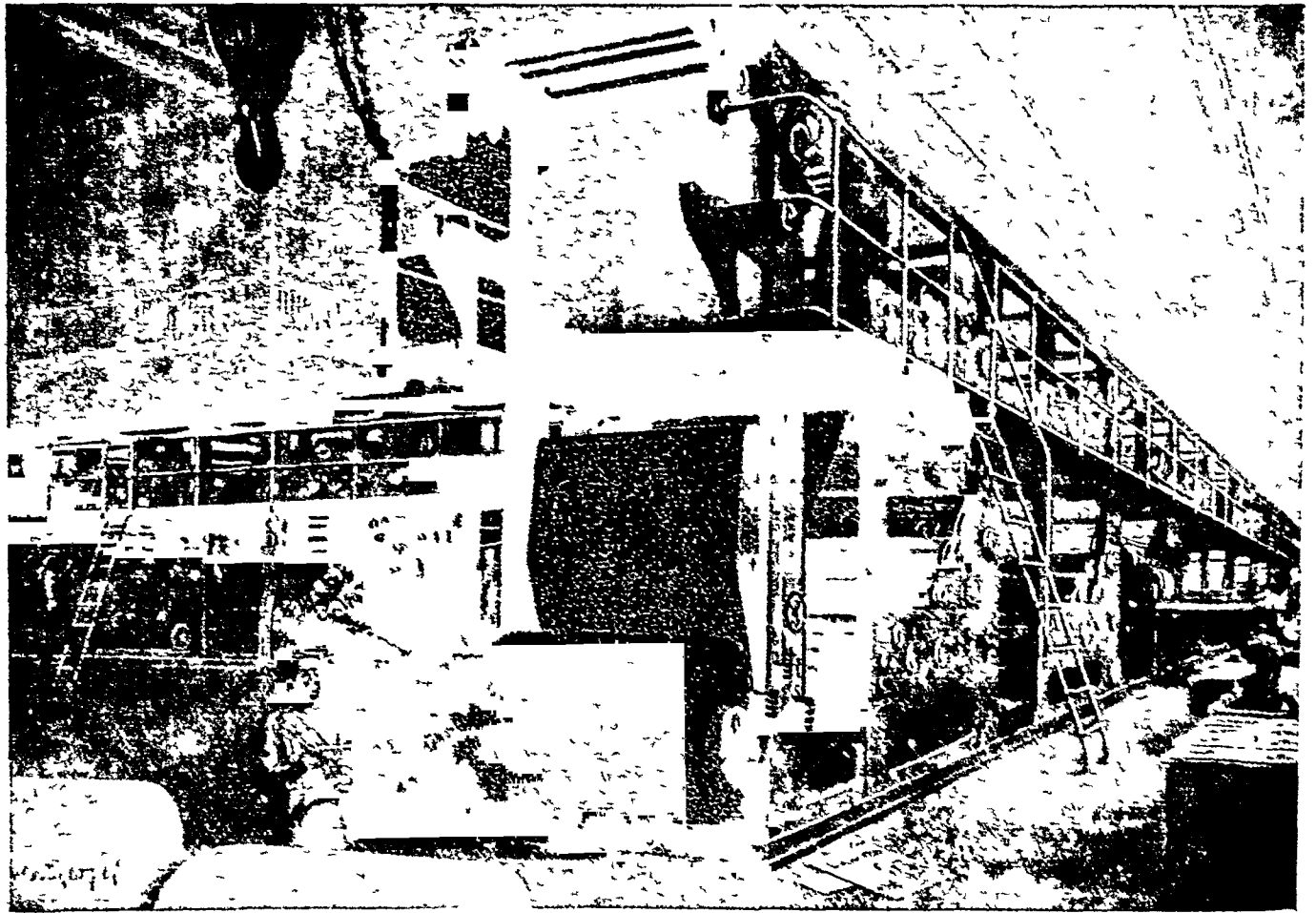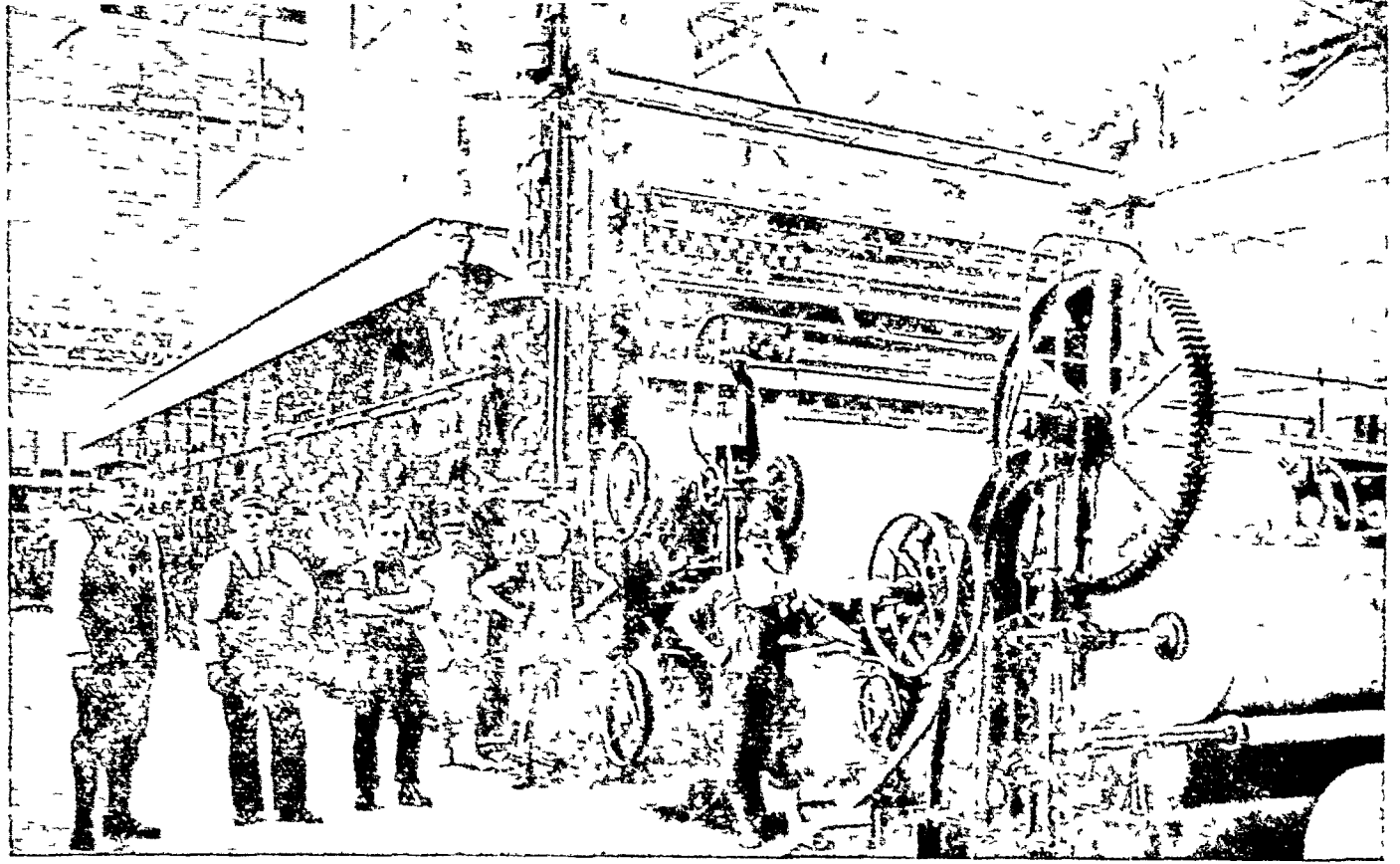
ज्ञान-निधि का रखवाला कागज कारखाने से छापाखाने में, जहाँ आकर उसका निर्माण सार्थक होता है। चित्र में ऊपर एक विशाल कागज बनानेवाली मशीन और नीचे छापाख़ाने की एक भीमकाय रोटरी मशीन प्रदर्शित है। दोनों-पर मीलों लंबी कागज़ की रीलें चढ़ी हुई हैं—किसलिए? केवल छपकर ज्ञान का प्रचार करने के लिए!
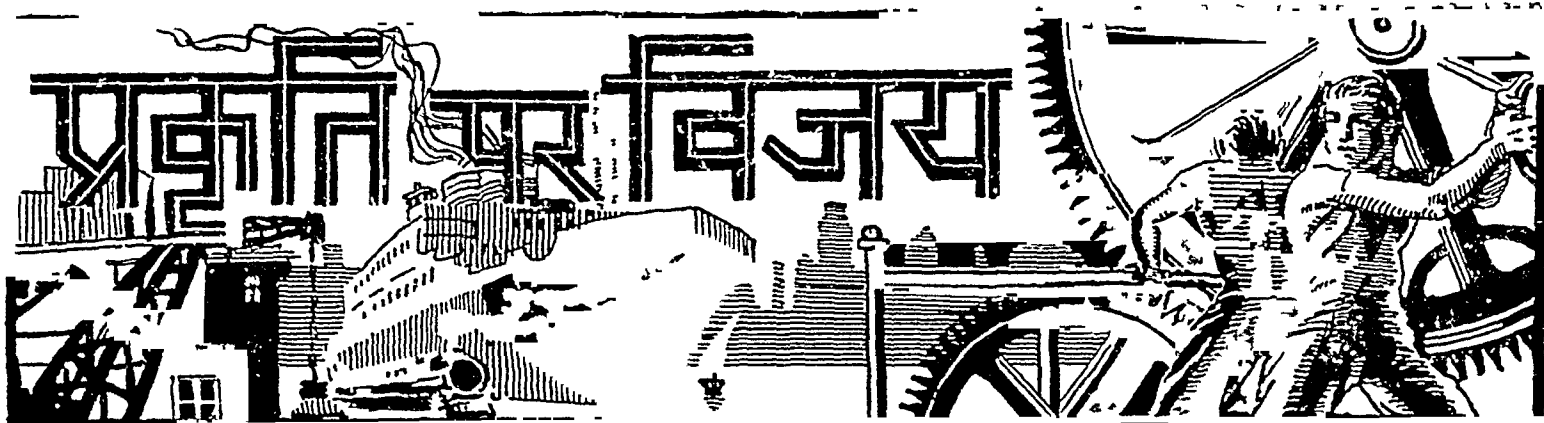
ज्ञान का संरक्षक और प्रचारक--काग़ज़

वह कौन सी वस्तु है, जिसकी बदौलत आज न केवल सामयिक विचारधाराओं बल्कि दुनिया के सभी देशों और समस्त युगों के अब तक के संचित सारे ज्ञान की अमूल्य निधि का ख़ज़ाना मानों घर-घर में खुल गया है ? आइए, प्रस्तुत लेख में उसी अनोखी वस्तु से आपका परिचय कराएँ, जो दरअसल हमारी आज की सभ्यता की नीव की ईंट बनी हुई है ।

प्रकृति की अपूर्व देन जल के बिना जिस प्रकार जीवधारियों की दुनिया कदापि क़ायम नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार काग़ज़ के बिना हमारी वर्त्तमान सभ्यता की इमारत का भी टिक पाना सभव नही है । काग़ज़ के बिना ज्ञान का प्रचार होना इन दिनों असभव ही प्रतीत होता है। ज़रा कल्पना तो कीजिए कि यदि सभ्य ससार से आज काग़ज़ विलुप्त हो जाय, तो हमारी क्या दशा होगी । कहाँ तक हम भोजपत्र, ताम्र-पत्र अथवा चमड़े या रेशम के पट पर पुस्तकें या समाचारपत्र छापते फिरेंगे ? आज समस्त ससार का ज्ञान काग़ज़ की पोथियों मे ही लिपिबद्ध है। साहित्य-विज्ञान, इतिहास-दर्शन, व्यापार-व्यवसाय, नीति-धर्म, समाज-राजनीति सभी-कुछ तो काग़ज़ के ही बल पर टिके हुए है । तभी तो ब्रिटिश म्यूज़ियम के पुस्तकालय की दीवाल पर लिखा है कि "आप के हाथ मे जो पुस्तक है, उसे बहुत सँभालकर पढ़िये, यह स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान् है । यदि काग़ज़ न हो तो आधुनिक सभ्यता की ऊँची अट्टालिका क्षण मे धराशायी हो जायगी । यह जगली दशा से हमे उच्च शिक्षित अवस्था तक पहुँचाने के लिए मानों एक पुल का काम देता है; अराजकता से सुशा-

आपने 'पल्प' नामक एक वस्तु का नाम सुना होगा—यही वस्तु काग़ज़ की नींव है, और वह बनती है पेडों के लट्ठो से । चित्र में जो हज़ारों लट्ठे नदी में तैरते दिखाई दे रहे है, वे इसी उद्देश्य से एक पेपर-मिल को ले जाए जा रहे है ।
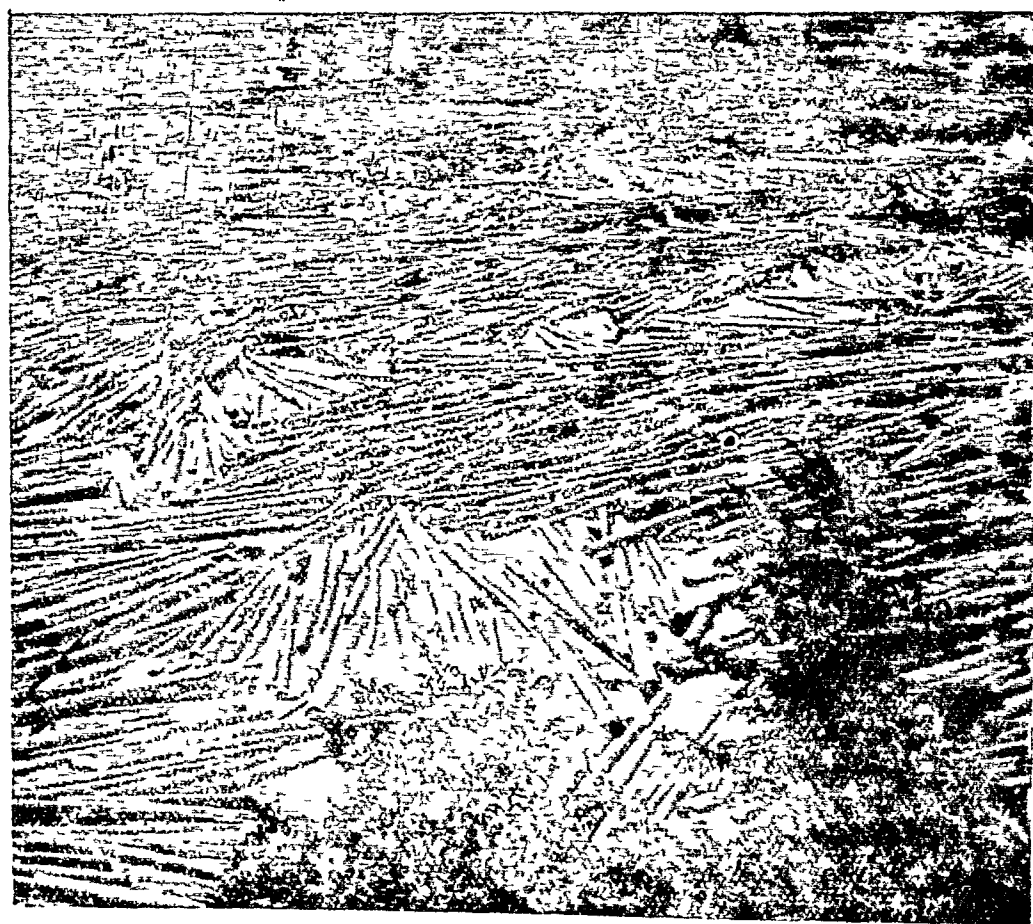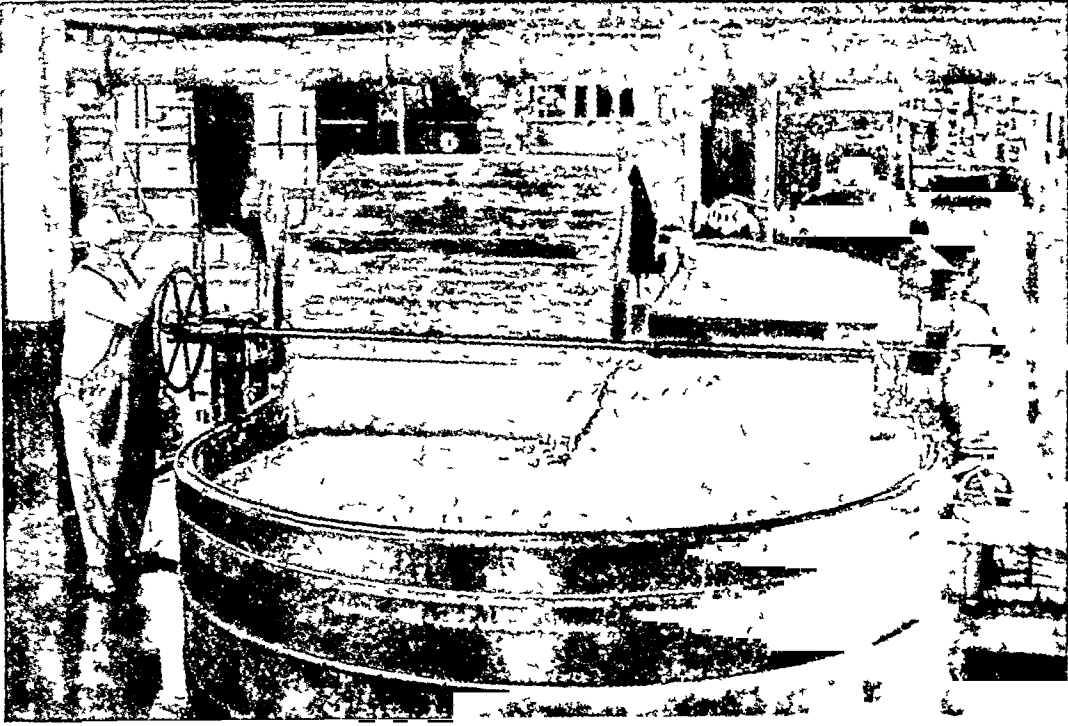
इस विशेष प्रकार की मशीन द्वारा लकडी को चिपटों को और भी छोटे-छोटे टुकडों मे काट-काटकर उसकी लुगदी बनाई जाती है, जो कि काग़ज बनाने का ख़ास मसाला है।

सन, तथा उत्पीडन की दशा से स्वतन्त्रता की स्थिति तक इसी के सहारे हम पहुँच सकते हैं। इसके बिना हमे वह प्रोत्साहन नही मिल पायगा, जिससे कि मनुष्य के हृदय में महान् कार्य्यों को करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। हमें सोचना चाहिए कि काग़ज़ का वास्तविक महत्व कितना अधिक है।"

तो फिर आइए, देखें कि ज्ञान-प्रचार के इस ज़बर्दस्त साधन का आविष्कार कब और कैसे हुआ। विचारों को लेखबद्ध करने की अभिलाषा मनुष्य के हृदय मे उस सुदूर अतीत के युग में ही जन्म ले चुकी थी, जब वह खोह-कन्दराओं मे अपना जीवन-यापन करता था। उन दिनों कन्दराओं की दीवारों मे पत्थर की छेनियों से खोदकर चित्रमय संकेतों द्वारा ही उसने अपने विचार अंकित करने शुरू किए थे। इस चित्र-लेखन कला मे मिस्र-निवासियों ने विशेष उन्नति की थी। तदुपरान्त मिट्टी की तख्तियों और धातु के पत्तरों पर भी खुदाई करके लिखने की तरक़ीब ईजाद की गई। प्राचीन मिस्र और बेबीलोनिया में तो राजकीय व्यवहार मे भी मिट्टी की तख्तियाँ क़ानूनी लिखा-पढी के लिए काम मे लाई जाती थीं। वहाँ टैक्स वसूल करनेवाला मुंशी टैक्स की वसूली की रसीद ऐसी ही तख्तियों पर बनाया करता। किन्तु वह बेचारा जब टैक्स वसूल करने के लिए शहर मे जाता तो साथ ही एक गदहे पर ढेर-सी ऐसी मिट्टी की तख्तियाँ लादकर ले जाता। इन्हीं पट्टियों पर खोदकर उसे प्रत्येक टैक्स देनेवाले को टैक्स की वसूली की रसीद तैयार करके देना पड़ता था। कालान्तर में लगभग साढे पाँच हजार वर्ष पूर्व मिस्र-निवासियों ने 'पेपायरस' नामक एक विशेष जाति की घास के रेशों को भिगोकर और उन्हें कूटकर ताने-बाने के रूप में बारीक चटाई की भाँति बुनकर तथा उन्हें इतना चिकना बनाकर कि उनकी सतह पर लिखना सम्भव हो सके, एक प्रकार का काग़ज़ बनाना शुरू किया। काग़ज के लिए प्रयुक्त अग्रेज़ी शब्द 'पेपर' इसी 'पेपायरस' शब्द से निकला है। सिकन्दर महान् ने मिस्र से ढेरों ऐसा 'पेपायरस' लिखने के लिए यूनान मँगवाया था। इसी जमाने में योरप मे 'पेपायरस' का सर्वप्रथम आगमन हुआ। पर ठीक इन्हीं दिनों चीन मे सड़े-गले रेशम से काग़ज़ तैय्यार किया जा रहा था। ऐसा जान पडता है कि घास और शहतूत की छाल के रेशे से भी चीन-निवासी काग़ज़ तैय्यार करना जानते थे। आठवीं शताब्दी में अरब के कुछ सेनानायक युद्ध करके चीन से कुछ ऐसे कारीगर बन्दी के रूप मे अरब ले आए जो रेशे से काग़ज़ बनाना जानते थे। इससे मानों एक भारी समस्या हल हो गई। घरेलू कारीगरी के पैमाने पर स्थापित हुई अरब की काग़ज़ की इन फैक्टरियों को हम योरप के काग़ज़-व्यवसाय का अग्रदूत कह सकते हैं—यहीं से सबसे पहले काग़ज़ बनाने की कला मूर लोगों द्वारा स्पेन पहुँची, जहाँ योरप की काग़ज़ की सर्वप्रथम फैक्टरी

खुली। फिर तो धीरे-धीरे योरप और अमेरिका मे काग़ज़ के व्यवसाय ने चरम उन्नति प्राप्त कर ली।

प्रारम्भिक दिनो मे फटे चीथड़ों और स्पेन की 'एस्परेटो' नामक घास के रेशे से ही हाथ से काग़ज़ बनाया जाता था। किन्तु शिक्षा के प्रसार ने जब काग़ज़ की मॉग वेहद बढा दी, तब उसके निर्माणके लिए नए-नए साधन ढूँढने की आवश्यकता प्रतीत हुई। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि चीथड़ों और एस्परेटो घास पर कच्चे माल के लिए आश्रित रहकर पर्याप्त मात्रा मे काग़ज़ तैय्यार नहीं किया जा सकता। इस समस्या को हल करने के लिए आख़िर रेशम के कीड़े से सबक़ सीखा गया। रेशम का कीड़ा शहतूत की पत्तियाँ खाकर उन्हे एक लसीले पदार्थ मे परिणत कर देता है, जो उसके शरीर से बाहर निकलकर इस योग्य हो जाता है कि उसके रेशे काते जा सके। काग़ज़ के व्यवसायियों ने भी जंगल की लकड़ी के गूदे को रेशम के कीडे के ढग से एक लसीले पदार्थ में परिणत करने की तरकीब ढूँढ निकाली, जिससे काग़ज तैयार हो सके। आज दिन इस काम के

दाहिनी ओर के चित्र में जिस विशाल ढोल-नुमा पात्र का एक भाग दिखाई दे रहा है, ऐसे अनेक कंडाल किसी भी आधुनिक काग़ज़ बनाने के बड़े कारख़ाने में लगे रहते है, जिनमे चिथड़ों या पल्प बनानेवाली लकडी के छोटे-छोटे चिपटों को विविध रासायनिक द्रव्यों के साथ भाप की गर्मी से पकाकर और ख़ूब मंथन करके वह घोल बनाया जाता है, जिससे कि काग़ज़ बनता है।
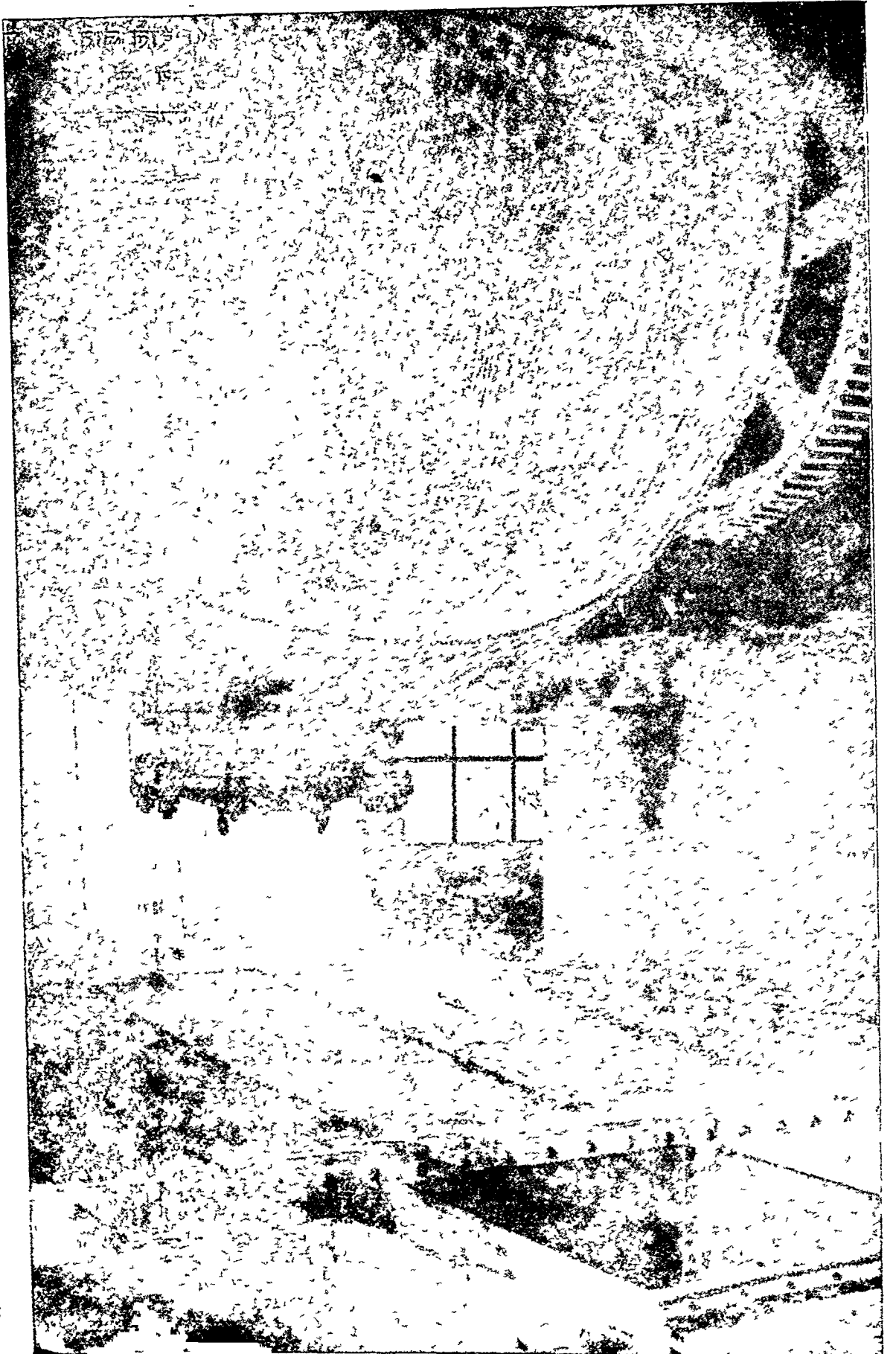
लिए आधुनिक मशीनें जंगल के विशाल वृक्षों के लट्ठों को काटकर उनकी लुगदी बनाती हैं, उस लुगदी को साफ करती हैं, कूटती-छानती हैं, और उससे एक पनीला मिश्रण तैयार करती हैं, जिससे अन्त मे दूध की भाँति सफेद कागज़ के लम्बे-लम्बे वर्क तैयार हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए कनाडा की एक कागज़ की फैक्टरी का हम आपको दिग्दर्शन कराएँगे। इस फैक्टरी के लिए पहले जगलो से लगभग १५ फीट लम्बे और १० इच व्यास के लकड़ी के लट्ठे काटे जाते हैं, जो नदियो में बहाकर फैक्टरी तक पहुँचाए जाते हैं। फैक्टरी के हाते में पहुँचने पर ये लट्ठे जल में डाल दिए जाते हैं। तब एक घूमती हुई जंजीर के सहारे ये उस जगह पहुँचते हैं, जहाँ विद्युत्शक्ति द्वारा तीव्र गति के साथ कई आरे चलते रहते हैं। ये आरे इन्हें चार-चार फीट के समान टुकड़ों में काट डालते हैं। तदुपरान्त ये टुकड़े एक ढोलनुमा 'रोटेटर' मे डाले जाते हैं। उस ढोल के निरन्तर घूमने के कारण ये सब आपस में खूब रगड़ खाते हैं और इस प्रकार रगड़ के कारण इनकी छाल उतर जाती है। तदुपरान्त एक तेज पानी की धार द्वारा उनके ऊपर से छिलके पूर्णतया अलग कर दिए जाते हैं। तब कुछ दिनों तक धूप में रखे रहने पर जब ये अच्छी तरह सूख जाते हैं, तो इन्हें पत्थर के कई चक्कों के नीचे डालकर इनके छोटे-छोटे टुकडे कर डालते हैं, जिस प्रकार कि इमारती काम के लिए चूने के ककड़ों के टुकडे किए जाते हैं। इस क्रिया

कागज बनाने की मशीन का आरंभिक या गीला सिरा

इस सिरे पर लुगदी-मिश्रित पनीला द्रव्य लाकर एक पतली-सी पर्त्त के रूप मे फैलाया जाता है, जो आगे चलकर क्रमश सूखता हुआ मनचाही मोटाई के कागज़ में परिणत हो जाता है।

के समय चक्के के नीचे भी पानी डालते रहते हैं। इस प्रकार अन्त मे उस सारी लकड़ी की लुगदी बन जाती है। इस लुगदी को तैयार करने के लिए एक रासायनिक रीति भी काम मे लाई जाती है। इसके लिए सबसे पहले लकडी को वृत्ताकार परिधि मे लगातार घूमती हुई एक तेज़ धार से इच-डेढ इच की चिपटो मे बराबर काट लेते हैं। अब इन चिपटों को लोहे के कई मज़बूत कण्डालों में डालते हैं। ये कण्डाल १५ फीट व्यास के होते हैं और इनकी ऊँचाई ५० फीट तक पहुँचती है। इनकी भीतरी सतह पर एक विशेष प्रकार की ईंटे लगी होती हैं जिन पर तेज़ाब का प्रभाव नही होता। इन कण्डालो को ऊपर-नीचे से एकदम बन्द करके उसमे जोरो के साथ भाप को प्रवेश कराते हैं, ताकि लकडी की वे चिपटे गर्म हो जायँ। इस भाप के प्रवेश के पहले उन चिपटो के साथ एक नियत मात्रा मे सल्फरडाइ-ऑक्साइड, पानी और कैल्शियम - बाइ-सल्फेट भी मिला देते हैं। लग-भग बारह-पन्द्रह घण्टे तक चुर जाने के बाद उन चिपटों के रेशे गलकर लुगदी के रूप में बदल जाते हैं। तदनन्तर उस लुगदी को कडाल से बाहर निकाल साफ पानी मे धो लेते हैं, ताकि रासायनिक द्रव उसमे लगे न रह जायँ। चाहे यह लुगदी यात्रिक रीति से प्राप्त की गई हो, या रासायनिक रीति से, उसे कई बार तार की छलनी से छानना होता है ताकि बडे आकार के रेशे अलग कर दिए जा सकें। अब एक-सॉ ही आकार के रेशोवाली यह लुगदी पानी के हौज़ मे रखी जाती है। यहॉ पर इसमे कुछ रंगीन पदार्थ इसलिए मिलाए जाते हैं कि उसका स्वाभाविक पीला रग दूर होकर एकदम श्वेत हो जाय। तदनतर फिटकरी और चोनो

कागज़ बनाने की मशीन का अंतिम या सूखा सिरा

लगातार बनते चले आ रहे कागज़ को इस सिरे पर आकर कई बड़े-बडे रोलरों के बीच में से होकर गुजरना पडता है, जिससे वह दबकर अच्छी तरह चिकना और समतल हो जाता है। तदनंतर वह बडी-बडी रीलों में लपेटकर काटने के लिए भेज दिया जाता है।
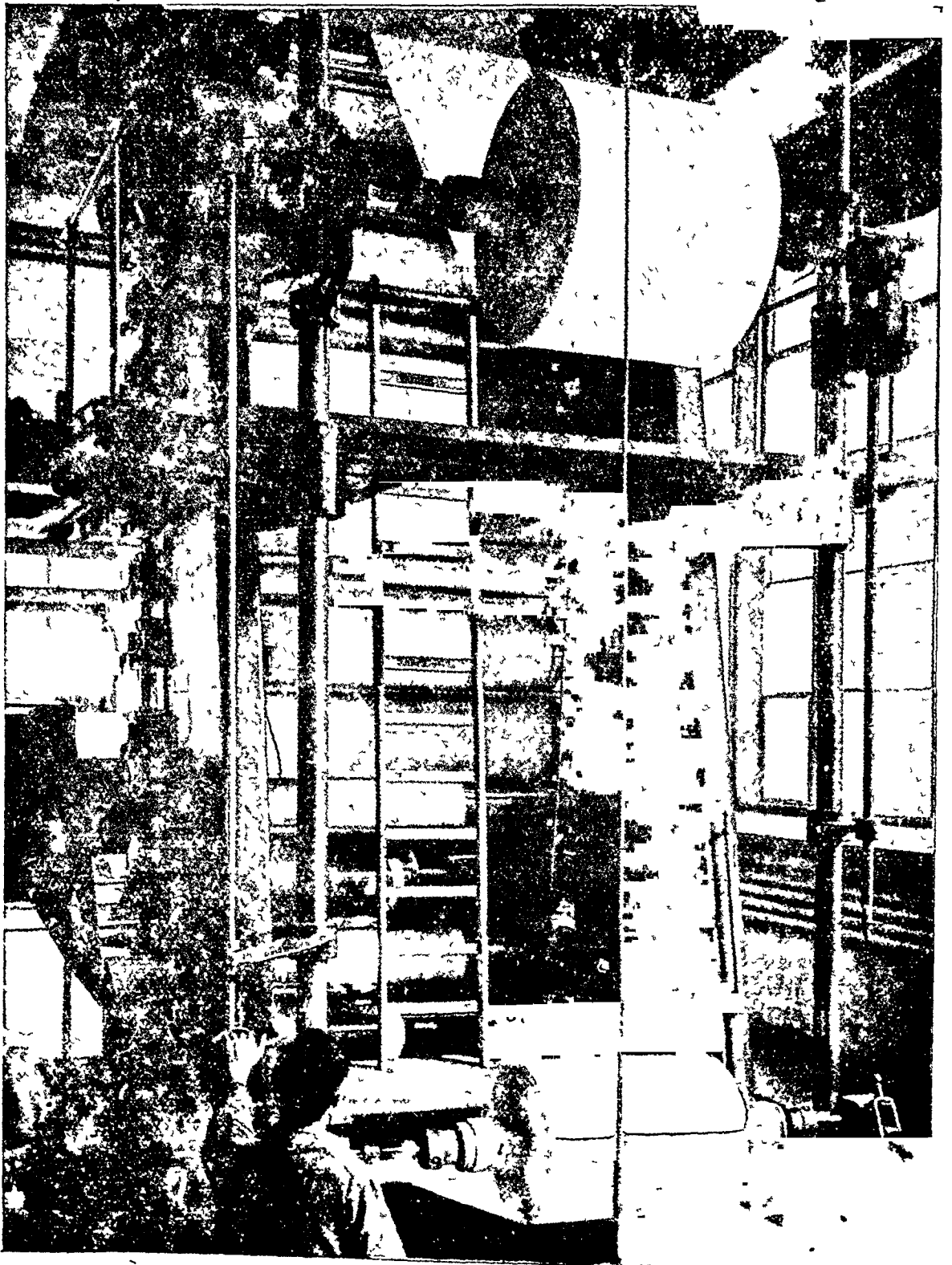
मिट्टी भी कुछ मात्रा मे लुगदी के साथ मिला देते हैं ताकि उसमे आवश्यक चिकनाहट आ जाय। इसके बाद यह लुगदी कागज के रूप में ढाले जाने के लिए पूर्णतया उपयुक्त हो जाती है।

तैयार हो जाने पर यह लुगदी जिसमें १०० भाग पानी और एक भाग लकड़ी का रेशा रहता है, मशीन के प्रवेश-मुख(फ्लो-बाक्स)मेंडाली जाती है। फ्लो-बाक्स के पेंदे मे एक आड़ी झिरी कटी हुई होती है। इसी झिरी मे से लुगदी दूध की धार की तरह एक-सॉ गति से नीचे पतले तार की छलनी के बेल्ट पर गिरती है। यह वेल्ट आगे को घूमता रहता है—फलस्वरूप लुगदी की एक पतली तह बेल्ट पर सामने की ओर बढती चली जाती है। इस छलनी में प्रति इच ६६ तार ताने के और ६६ बाने के लगे रहते हैं। इस छलनी की चौडाई २७ फीट और लम्बाई ३०० फीट के क़रीब होती है, और उसका वेल्ट नीचे लगे हुए वेलनो के सहारे आगे बढ़ता है। ज्यों-ज्यों छलनी आगे बढती है, लुगदी का पानी नीचे को रिसता जाता है। लुगदी का पानी खीचने के लिए रोलरों के बाद ही कुछ बक्स वेल्ट के नीचे लगे रहते हैं—इन बक्सों क अन्दर आंशिक वेकुअम उत्पन्न करके लुगदी का पानी खींच लेते हैं। इस मजिल तक आते-आते लुगदी की एक तह-सो जमने लग जाती है। यहीं से तार की जाली के वेल्ट नीचे लौट जाते हैं और लुगदी की तह फेल्ट की पेटी पर कुछ दूर और आगे बढ़कर तीन जोड़े रोलरों में से होकर गुजरती है। ये दोहरे रोलर लुगदी की पर्त्त मे से (जो अब काग़ज के रूप मे है) पानी को दबाकर निचोड़ लेते हैं। इन्हे 'प्रेस-रोलर' के नाम से पुकारते हैं। प्रेस-रोलर से गुजरने के बाद भी कागज मे ६० प्रतिशत पानी का अश शेष रहता है, किन्तु अब यह कागज उस योग्य होता है कि बिना किसी पेटी के सहारे अकेले ही आगे बढ सके। आगे चलकर उसे लोहे के कुछ खोखले वेलनों पर से गुजारते हैं। इन खोखले वेलनों मे भाप भरी रहती है,जिसकी गर्मी से काग़ज़ के अन्दर का पानी सूख जाता है। सुखानेवाले इन खोखले वेलनों की सख्या किसी-किसी मशीन में ६० तक पहुँच जाती है। इन वेलनों पर से गुजरने के बाद भी काग़ज़ मे ४ प्रतिशत नमी शेष रहती है, जो दूर नहीं की जाती, क्योंकि अभी कागज को चिकना बनाने के लिए उस पर लोहा करना आवश्यक होता है, और नम काग़ज पर ही टीक से लोहा हो सकता है। इस क्रिया के लिए काग़ज को फिर भारी और चिकने रोलरों के बीच मे से होकर गुजरना पड़ता है। तदुपरान्त वह वृहत्काय रीलो पर लपेट लिया जाता है। जिस वक़्त मशीन चलती रहती है, प्रति मिनट लगभग १००० फीट कागज रील पर अबाध रूप से लिपटता जाता है। एक रील के भर जाने पर अपने आप दूसरी रील उसका स्थान ले लेती है। इन्हीं रीलों से विशेष प्रकार की मशीनों द्वारा मनचाहे आकार के काग़ज काटकर रीमों मे पैक कर लिये जाते हैं। रोटरी मशीनों पर छापते समय ऐसी पूरी रीलें ही लगा दी जाती हैं।

रीलों में लपेटे हुए काग़ज को छोटे आकार में काटने की मशीन
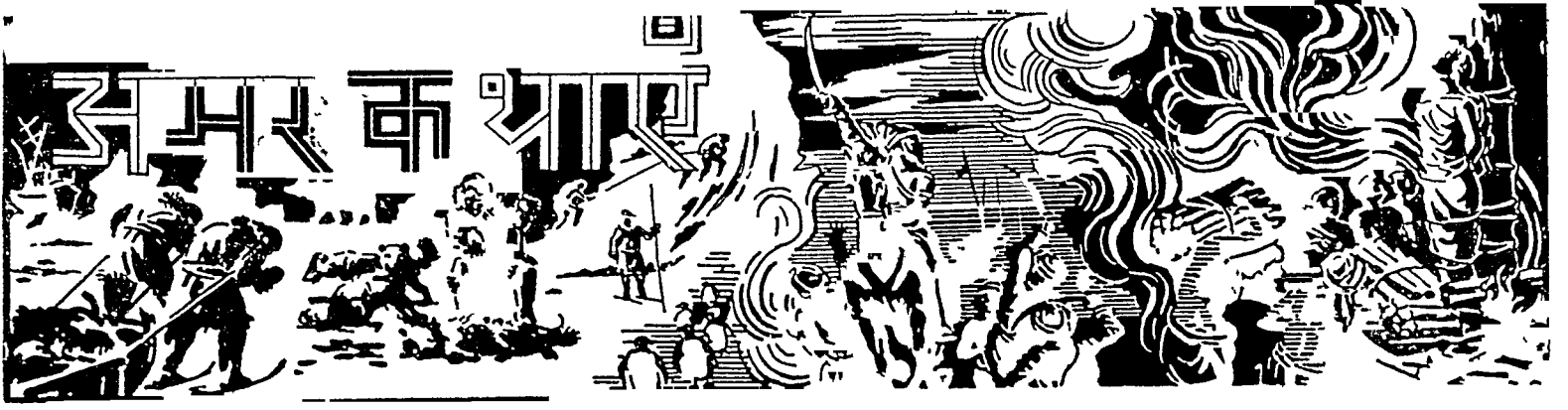
धरती की खोज

अज्ञात भूभागों के अन्वेषण में जीवन समर्पित करनेवाले वीरों की कहानी

जिन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर मानव की क्रीडाभूमि का विस्तार करने के हेतु असीम संकटों का सामना किया और अपनी दीर्घकालीन यात्राओं में जो या तो सफल हुए या मर मिटे, संसार के सुदूर, अज्ञात भूभागों का अनुसंधान करनेवाले उन पराक्रमी, कर्मशील योद्धाओं की कथा इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। प्रस्तुत लेख में सामूहिक रूप से हम उन्हीं को याद करने जा रहे है।

अपने इतिहास के आदिकाल ही से मानव एक प्रगतिशील प्राणी के रूप मे आगे बढता रहा है। उसके मन मे आरंभ ही से वर्त्तमान के प्रति असंतोष की एक भावना उमडती रही है। शुरू से ही वह अपने मन मे एक अदम्य जिज्ञासा और विकास की प्रेरणा लेकर सृष्टि पर आधिपत्य जमाने के सपने देखता रहा है। हाँ, अत्यन्त आदिमावस्था मे एक सीमित वातावरण मे रहते समय अपने आसपास के छोटे से भूखण्ड मे ही वह समस्त विश्व की सीमा का अनुमान किया करता और आहार की सुलभता के कारण कल की चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहने के कारण तब तक उसने सुदूरव्यापी अज्ञात भूखण्डों, नदियों, पर्वतों और महासागरों की कल्पना तक नही की थी। किन्तु कालान्तर मे जब एकान्त की अनुभूति ने उसके मन को उद्वेलित करना शुरू किया और उसे अपने चारो ओर का वातावरण अप्रिय तथा अरुचिकर प्रतीत होने लगा, साथ ही जब जीवन-निर्वाह की वह आरभिक सुलभता भी मिटने लगी, तब विवश हो वह अपनी आदि आवास-भूमि को सदा के लिए त्यागकर परिवर्त्तन की खोज मे निकल पड़ा। इस प्रकार मानवीय प्रगतिशीलता का सर्वप्रथम प्रतिनिधि और मानव-जाति की चिर-प्रवास यात्रा का सर्वप्रथम अग्रणी वह आदि मानव ही था, जिसने क्षुधा-निवृत्ति के हेतु एक मृग का शिकार करने की चेष्टा मे अपनी आवास-भूमि को पीछे छोडकर एक सर्वथा नवीन भूभाग को पहले-पहल खोजकर अपनाया होगा। पर यहीं पर उसने विराम नहीं लिया—यह क्रम शताब्दियों तक इसी प्रकार चलता रहा और एक अमिट अतृप्ति की अनुभूतियों द्वारा संकेत पाता हुआ मनुष्य निरन्तर साहस के मार्ग पर अग्रसर होता रहा। इस प्रकार उसने सभ्यताओं और सस्कृतियों को जन्म दिया, इतिहास का निर्माण किया और अंत मे एक दिन ऐसा भी आया जब वह इस भूमण्डल का एकछत्र सम्राट् बन बैठा।

इस शतशतयुगव्यापी मानवीय प्रगति का इतिहास साहस, शौर्य, पराक्रम और संघर्ष की अनोखी घटनाओ का इतिवृत्त है। मानव-परिवार के उन अपराजेय, साहसी प्रतिनिधियों की वीरगाथाएँ अमर हैं, जिन्होंने सबसे पहले नए-नए भूभागो को खोज निकालने, गगनचुम्बी पर्वतों का आरोहण करने और सुविस्तृत मैदानो तथा मरु खण्डो को पैरों से नाप डालने के प्रयास मे अपने प्राणों तक की आहुतियाँ चढा दीं। निस्सदेह इस आरभिक अन्वेषण-कार्य में ससार की अन्य प्राचीन जातियो के साथ-साथ भारतवर्ष की भी प्राचीन आर्य और अनार्य्य जातियों ने किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण भाग न लिया होगा। यह सच है कि उनके उस युग के अनुसंधानकार्य के सम्बन्ध में आज दिन संसार को बहुत कम बाते उपलब्ध हैं, फिर भी जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों तथा कम्बोडिया, इंडो-चीन, बर्मा और मलय आदि देशो मे प्रचुरता से पाये जानेवाले भारतीयता के प्राचीन स्मारक-चिन्हों एवं उन देशों के जीवन मे भारतीयता की सुस्पष्ट छाप देखते हुए सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि

किसी युग में भारतीयों ने भी दूर-दूर तक पृथ्वी पर अभियान करके अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। सुदूर अमेरिका तक मे प्राचीन "मय जाति" की सभ्यता और सस्कृति के अवशिष्ट स्मारकों मे भारतीयता की कुछ झलक दिखाई देती है। तो फिर क्या ताज्जुब यदि किसी सुदूर प्राचीन युग में हमारे देश के कतिपय साहसी वीरों ने वहाँ भी जाकर अपने पैर जमाये हों! हमारे वे पुरखे कितने कर्मनिष्ठ, साहसी और वीर रहे होंगे, जिन्होंने उस प्राचीन युग मे लाखों मील की यात्रा करके उत्तुग हिमाच्छादित पर्वत-मालाओं, द्रुतगामिनी नदियों, तथा असीम सागरों को लॉघकर इस धरातल को पहले-पहल नापा होगा! निस्सदेह यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज हमारे सामने उनके उन महान् करतबों का आधुनिक ढग से रचा गया कोई लिखित इतिहास नहीं है और हमारे वेदों और पुराणों के उपाख्यानों मे यदि तत्सम्बन्धी इतिवृत्त छिपा भी है तो कोरी दतकथा समझकर आज के विद्वान् उसे मान नही देते। सभव है, आगे चलकर इन्हीं कथाओं मे से उस युग का इतिहास खोज निकालकर भविष्य के विद्वान् ससार को नया प्रकाश दे!

तो फिर पूर्वीय देशों के आदि अनुसधानों के सबध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री के अभाव मे आइए, पश्चिम की ओर ही बढें, जहाँ इस सबध मे काफी मसाला मिलता है, साथ ही जहाँ इस क्षेत्र मे पर्याप्त कार्य भी हुआ है। पश्चिम मे लेबानॉन की गगनचुम्बी पर्वतमाला और सागर के तट के बीच का सकुचित भूभाग, जो फीनीशिया कहलाता था, प्राचीनकाल मे भूमध्यसागर की समुद्री-शक्ति का आदि केन्द्र माना जाता था। वहाँ के निवासी आड़ में पर्वतों की दीवाल होने के कारण उस पार के प्रदेशो से पूर्ण-तया अपरिचित रहे, अतएव आवश्यकतावश उन्होंने समुद्री मार्ग का ही आश्रय लेकर तट के किनारे-किनारे घूमना-फिरना आरम्भ किया, जिसके लिए उन्होंने देवदारु के वृक्षों को काटकर छोटी-छोटी नौकाएँ बना लीं। क्रमशः उन्होंने बड़े जल-यान भी बनाना सीख लिया, जिससे उनकी समुद्री यात्राओं का क्षेत्र विस्तृत होता गया। अब वे महासागर की सैर करते हुए साइप्रस, रोड्स, सिसिली, आदि द्वीपों तक जा पहुँचे, और आधुनिक स्पेन के समुद्री तट तक पहुँचकर, उस स्थान पर जहाँ वर्तमान केडिज शहर बसा हुआ है, उन्होंने एक नगर स्थापित किया। इस प्रदेश में उनको इतनी प्रचुरता से चॉदी मिली कि उन्होंने अपने जलयानों के लगर लोहे के बजाय चॉदी के ही बनवा डाले। स्पेन से वे आधुनिक फ्रान्स और कार्नवाल के समुद्री तट तक जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने टीन की खानें देखीं। कालान्तर मे उन्होंने अपनी शक्ति बेहद बढा ली और अब वे अपने उपनिवेश भी बसाने लगे। उन्होंने ही अफ्रीका के उत्तरी तट पर कार्थेज नगर की प्रस्थापना की, जो उनके पतन के बाद भी शताब्दियों तक उन्नति करता रहा, यहाँ तक कि एक दिन उसने रोम की बढ़ती हुई शक्ति को भी चुनौती दी।

ई० पू० ४५० के लगभग इसी कार्थेज का एक साह-सिक नागरिक, जिसका नाम हन्नो था, अपनी अध्यक्षता मे ६० जलयानों का एक बेड़ा लेकर अफ्रीका के पश्चिमी सागरतट का अनुसंधान करने तथा वहाँ उपनिवेश बसाने के प्रयोजन से निकल पड़ा। अनेक विपदाओं का सामना करते हुए वह सिनेगाल नदी के मुहाने तक जा पहुँचा, जहाँ उसने बड़े-बड़े दीर्घाकार हाथी तथा अन्य जगली पशु देखे। अन्त मे आधुनिक सियरा लिओन प्रदेश में उसने पदार्पण किया, जहाँ पर कुछ रोएँदार जगली मानवसम प्राणी उसने देखे, जो वास्तव मे गोरिल्ला नामक बनमा-नुस थे! बहुत दिनों तक लोग हन्नो की अफ्रीका-यात्रा को कपोल-कल्पित ही समझते रहे और किसी ने भी उसका विश्वास नहीं किया, किन्तु वास्तव मे हन्नो ने यह साहस का कार्य सम्पन्न किया था इसमे सदेह नहीं।

जिस समय कार्थेज के उपरोक्त साहसी नाविक अफ्रीका के समुद्री तट का अनुसधान कर रहे थे, उसी समय यूनान की भी शक्ति दिन पर दिन बढती जा रही थी। पॉचवीं शताब्दी मे हमे हेरोडोटस नामक एक यूनानी लेखक की यात्राओं का परिचय मिलता है। हेरोडोटस ने मिस्र देश की यात्रा की, जहाँ उसने भाँति भाँति की विचित्र वस्तुएँ और चमत्कार देखे। ई० पू० ४४६ के लगभग उसने नील नदी, लिबिया, सीरिया, एशिया माइनर और लिदिया प्रदेशों की भी यात्रा की, जहाँ उसे अद्भुत दृश्य तथा अनोखे वन्य-पशु दिखाई दिए। प्रत्येक देश के निवासियों से वह वहाँ के सबध मे पूछताछ करता और जो कुछ वे कहते उसे लिखता जाता था। पर उसने अपने लिखे हुए सस्मरणों मे अनेक भौगोलिक त्रुटियाँ की हैं। उदाहर-णार्थ डैन्यूब नदी का उद्गम-स्थान वह पिरे नीज पर्वतों मे मानता था! उसके बाद जेनोफन नामक एक उत्साही यूनानी युवक देशाटन करने निकला और उसने असीरिया, आर्मीनिया और एशिया माइनर के सबध मे अपने मनो-रंजक भ्रमण-वृत्तान्त लिखे।

ई० पू० ३३३ में मैस्सीलिआ (वर्तमान मार्सेलीज़) का प्रख्यात गणितज्ञ पीथियस जल-मार्ग से बढता हुआ स्पेन के समुद्री तट से आग्ल-उपसागर तक जा पहुँचा, जहाँ से वह शेटलैण्ड के टापुओं मे घूमता-फिरता हुआ और अधिक उत्तर की ओर बढा, और बर्फीले समुद्रों के निकट थूले नामक एक रहस्यमय भूभाग का पता उसने लगाया, जिसे उसने भूमण्डल की सुदूरतम सीमा पर स्थित अनुमान किया। सम्भवतः यह भूभाग आधुनिक आइसलैण्ड रहा होगा। वहाँ से लौटकर पीथियस टेम्स नदी के मुहाने तक आया। फिर उत्तर-सागर को पार करके वह राइन नदी के मुहाने पर पहुँचा, जहाँ से उसने हालैण्ड और उत्तरी जर्मनी के समतल मैदानो पर दृष्टि डाली। वहाँ ज्वार-भाटे की असाधारण वेगपूर्ण शक्ति देखकर वह हैरान हो गया, क्योंकि भूमध्यसागर मे यह चमत्कार उसने कभी न देखा था। इसके बाद वह मैस्सीलिआ वापस आया, जहाँ उसने अपनी लम्बी यात्राओं और अनुसंधानों के रोमांचकारी वृत्तान्त लोगों को सुनाए। वास्तव में उसने भूगोल के विद्वानों को नए मानचित्र बनाने की पर्याप्त सामग्री प्रदान की, जिससे वे अपने क्षेत्र में आगे बढ सके।

चौथी शताब्दी ई० के आरभ मे कास्मस नामक एक व्यापारी ने पश्चिमी भारत, अबीसीनिया, तथा पैलेस्टाइन तक धावा मारा और एकबार तो वह नील नदी के उद्गम-स्थान तक जा पहुँचा। उसने अपनी यात्राओं का विवरण एक पुस्तक मे लिखा है, जिसमें पृथ्वी को चिपटी मानते हुए आकाश को उसने चार दीवालों की भाँति उसके छोरों से लगे हुए एक गुम्बज जैसा बतलाया है। उसने सूर्य को पृथ्वी से छोटा माना है और कैस्पियन समुद्र को आर्कटिक महासागर मे गिरता हुआ बतलाया है।

आगामी तीन शताब्दियों तक अरब के व्यापारी भारत तथा चीन में घूमते-फिरते रहे। उनमें से सुलेमान नामक एक सौदागर भी था, जिसने सन् ८५० ई० के लगभग अनेक लम्बी-लम्बी स्थल और जल-यात्राएँ कीं। अलिफलैला मे वर्णित "सिंदबाद जहाज़ी" की यात्राओं का नायक वही माना जाता है।

इसी युग में स्कैण्डिनेविया के समुद्री तट की छोटी-छोटी खाडियों मे कुछ ऐसे व्यक्तियों के समुदाय रहते थे, जिन्हें योरपवाले "समुद्री डाकू" (Vikings) कहते थे। ये लोग बडे साहसी, वीर, लड़ाके और कष्ट-सहिष्णु होते थे और उनका आतंक दूर-दूर तक छाया हुआ था। उन लम्बी दाढियोंवाले जल-दस्युओं ने ऐसे जहाज़ बनाए थे, जो पानी की सतह से काफ़ी ऊँचे रहते थे। ये जहाज़ ७५ फीट लम्बे बनते थे और उनमे १२५ व्यक्तियों के लिए स्थान रहता था। इन्हें ये लोग मोटे-मोटे मज़बूत डॉडों से खेते थे। उन्हीं जहाज़ों में बैठकर ये समुद्री डाकू पहले पश्चिम की ओर चले और तब सुदूरवर्त्ती आइसलैंड तक जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना एक छोटा-सा उपनिवेश बसा लिया। आइसलैण्ड के प्रवासी जलदस्युओं मे से एक, जो "लाल एरिक" (Eric the Red) के नाम से विख्यात हुआ, धुर-पश्चिम की ओर चल पड़ा और अनेक सकटों का सामना करने के बाद अन्त मे उसने एक अद्‌भुत अज्ञात भूभाग का पता लगाया, जिसका नाम उसने ग्रीनलैंड या "हरा-भरा देश" रखा। यह नामकरण उसने इस आशा से किया कि अन्य प्रवासियों के मन में भी वहाँ जा बसने का आकर्षण उत्पन्न हो। परिणामतः वह द्वीप भी शीघ्र ही आबाद हो गया।

जब एरिक बूढ़ा हो चला था, तब उसे कुछ नाविकों ने दक्षिण-पश्चिम दिशा मे एक विचित्र देश के अस्तित्व का समाचार दिया। एरिक का नवयुवक पुत्र लीफ़ भी अनुसंधान के कार्य्यों और यात्राओ मे दिलचस्पी लेता था। उसने यह समाचार पाकर कमर कसी और उस अज्ञात भूमि का अनुसंधान करने के लिए ६६५ ई० मे अपने ३० साथियो सहित उसने ग्रीनलैंड से दक्षिण-पश्चिम दिशा मे प्रस्थान किया। सागर की उत्तुंग हाहाकारमयी लहरों से लडते-भिडते और बर्फीली चट्टानों से बचते-बचाते, उसका जलयान अन्त मे एक लम्बी यात्रा के पश्चात् ऐसी जगह जा पहुँचा, जहाँ से कुछ दूर पर भूमितट दिखलाई देता था। उसी के किनारे-किनारे चलकर अंत मे ये लोग एक नदी में जा पहुँचे। वहाँ लीफ और उसके साथी लगर डालकर किनारे की भूमि पर उतर पडे। यह नई भूमि अनुमानतः उस भूखण्ड के किनारे थी, जिसे हम आजदिन अमेरिका के नवीन इंगलैंड (New England) प्रदेश के नाम से जानते हैं। इन अनुसंधानकारियों ने नदीतट की झाडियों पर फैली हुई अगूर की बेशुमार बेले देखी। उन्हें ज्ञात था कि अगूरों से मदिरा बनती है, जो बडी सुस्वादु होती है, अतएव उनके हर्ष की सीमा न रही और उन्होंने उस भूभाग का नाम ही "वाइनलैंड" या 'अंगूरों का देश' रख दिया। इन नाविक लोगों ने वहाँ अपने झोपडे बनाए और वहाँ से भीतरी प्रदेश के अनुसंधान की उन्होंने कई बार चेष्टा की। किन्तु इतने मे ही ग्रीष्म-ऋतु का आगमन हुआ और वे अपने देश को वापस चल

पड़े। बाद मे अन्य लोगों ने भी आइसलैंड से कई बार 'वाइनलैंड" आकर उसे उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। इस प्रकार आगे चलकर 'अमेरिका' कहलानेवाली वह भूमि आगामी पॉच सौ वर्षों तक वैसी ही अज्ञात पड़ी रही। स्वदेश लौटने पर इस कार्य के उपलक्ष्य मे लीफ को "सौभाग्यशाली लीफ" का नाम पाने का गौरव मिला।

जिन दिनों स्कैण्डिनेविया के उपर्युक्त जलदस्युओं का वह समुदाय इस प्रकार अमेरिका के उत्तर पूर्वी कोने के अनुसन्धान मे सलग्न था, उसी समय उनके अन्य कुछ समुदाय, जो योरप में बस चुके थे, नई-नई भूमि खोजने और विजय यात्रा करने में लगे हुए थे। इनमें से कुछ ने वाल्टिक समुद्र के तटों पर विचरण करते हुए लॉपलैंड से होकर रूस के भीतरी भागों तक धावे मारे। कुछ लूटमार और अनुसधान के कार्यों से थककर उत्तर-पूर्वीय इग्लैंड, आयर्लैंड तथा फ्रास मे जा बसे और उन भू-भागों पर उन्होंने अपना सिक्का जमा लिया। उनकी दस्युवृत्ति जाती रही और कालान्तर मे उनमे सभ्यता और सस्कृति का विकास हुआ। फिर भी वे बडे पराक्रमी, भीमकर्मा और दुःसाहसी बने रहे। ग्यारहवी शताब्दी के मध्यकाल मे उनके वशजों ने सिसिली द्वीप तथा दक्षिणी इटली का कुछ भाग जीतकर एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की, और सन् १०६६ मे उन्होंने इगलैंड जीत लिया। अटलाटिक महासागर से मध्य योरप तक और हिमाच्छादित उत्तरी सागर से भूमध्य सागर तक इन नार्स लोगों के जत्थे अनवरत धावे मारते रहे और एक दिन ऐसा आया जब तत्कालीन योरप के प्रत्येक कोने में उनके पैर जम गए।

आदि-युग से ही "कैथे" का नाम सुनते ही लोगों की आखों के सम्मुख सुदूर पूर्व मे स्थित एक ऐसे सुन्दर भूभाग का आकर्षक दृश्य खिच जाता था, जहॉ सोना चॉदी, मणि-माणिक्य, मसाले और चन्दन की प्रचुरता थी—जहॉ के निवासी बहुमूल्य रेशमी वस्त्र धारण करते, जरी की पोशाकें पहनते, कोमल मखमली गद्दों पर बैठते और पट-रसयुक्त सुस्वादु व्यजनों का आस्वादन किया करते थे। योरप के सौदागर इन कथाओं को सुनकर उस सुदूर देश मे जाने और व्यापार करने का लोभ सवरण न कर सके और उन्होने ऊँटों के काफिले लेकर एशिया महाद्वीप की यात्रायें करना शुरू किया। उन दिनों सुदूर पूर्व का अधिकाश भाग तातारियों की दुर्जय शक्ति के अधीन था और उनके साम्राज्य की सीमा बहुत बढी-चढी थी। वे केवल अपने 'खान' की सत्ता स्वीकार करते थे, जो पेकिंग नगर मे रहता था।

सन् १२७१ ई० में निकोलो और माफिओ पोलो नामक दो भाई, जो इटैलियन सौदागर थे, अपने साथ बहुत-से जवाहरात लेकर तातारियों के 'खान' के दरबार में पहुँचने के प्रयोजन से अपने नगर वेनिस से चीन के लिए रवाना हुए। उनके साथ निकोलो का पुत्र मार्को पोलो भी था। पहले ये लोग बगदाद पहुँचे। फिर ईरान होते हुए पामीर के पठारों को उन्होने पार किया। आगे बढने पर गोबी की सुविस्तृत मरुभूमि की यात्रा मे उन्हें असहनीय कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे धीरता से बढते चले गए और सन् १२७५ की ग्रीष्म ऋतु मे उन्होंने चीन की भूमि पर पदार्पण किया। उस समय वहॉ सुप्रसिद्ध कुबलाई खॉ का राज्य था। उसने उनका यथोचित सम्मान किया। ये विदेशी सौदागर उसके यहॉ धातु के सिक्कों के बजाय कागज के नोटों का प्रचलन देखकर आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि उनके लिए वह एक सर्वथा नई बात थी। योरप के देशों मे उस समय तक नोटों का प्रचार नहीं हुआ था। कुबलाई खॉ मार्को पोलो के व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे अपने दरबार मे एक सम्मानित पद देकर रख लिया। पूरे सत्रह वर्षों तक मार्को पोलो कुबलाई खॉ की सेवा में रहा और इस बीच उसने तिब्बत, उत्तरी बर्मा, मगोलिया और भारत आदि कई देशों मे खूब भ्रमण किया।

सन् १२९५ ई० मे जब मार्को पोलो अपने पिता और चाचा के साथ वापस वेनिस लौटा तो उनके मित्र और सगे-सम्बन्धी उन्हे पहचान भी न पाए। युवक मार्को उस समय अधेड अवस्था का व्यक्ति हो चुका था। यात्रा के चिन्हो से अलकृत धूलिधूसरित उनकी फटी-पुरानी तातारी पोशाकें देखकर घरवालों ने भी उन्हे न पहचानकर द्वार बन्द कर लिया। बड़ी कठिनाई से अपना परिचय देकर वे घर के भीतर गए। उसी रात को एक विराट् भोज के अवसर पर इष्ट मित्रों के सामने उन्होंने अपनी यात्रा की वे पोशाकें मॅगवाकर फाड डाली। पर लोगो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन पोशाकों में से चमकीले लाल, हीरे, पन्ने, जमुर्रद और पुखराज आदि मणियों और रत्नो के ढेर के ढेर निकल पडे। फिर क्या था, पोलो-परिवार का सम्मान बेहद बढ गया और लोग उनकी प्रशसा के गीत गाने लगे। थोडे ही दिनों बाद वेनिस और जिनोआ मे युद्ध छिड़ गया, जिसमे जिनोआ-

वाले मार्को पोलो को कैद कर ले गए। वही कारागार मे उसने अपने एक साथी कैदी को अपनी यात्राओं के संस्मरण लिखवाए, जिनमे विशेषतया पूर्व के साम्राज्यो के अतुल वैभव का उल्लेख था। ससार के यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों मे मार्को पोलो की यात्रा के ये सस्मरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गिने जाते हैं, क्योकि उन्ही के पढने से योरप के लोगों की आँखे खुली और भूगोल-शास्त्र की ओर उनकी रुचि बढी। कोलम्बस भी उन्ही संस्मरणों से प्रभावित होकर यात्रा करने निकला था और अत मे अमेरिका के अनुसधान करने का श्रेय उसने प्राप्त किया था।

इसके उपरान्त योरप के अनेको मिशनरी और धार्मिक यात्री पूर्वीय देशो का भ्रमण करने निकले। किसी किसी ने अपनी यात्रा के स्मारक-स्वरूप उन देशो के अनेक स्थानों मे गिर्जे और उपासना-गृह भी बनवा डाले। किसी ने विचित्र बातो से भरी हुई झूठसच या अतिशयोक्तिपूर्ण पुस्तके भी लिखीं और किसी ने भूमण्डल के अज्ञात भागो के काल्पनिक मानचित्र ही बनाकर महत्व पाने की चेष्टा की।

१३२४ ई० मे इब्नबतूता नामक एक अरब विद्वान् ने उत्तरी अफ्रीका मे अपने मातृप्रदेश से मक्का की तीर्थयात्रा की। तदनतर जलमार्ग द्वारा लालसागर पारकर वह अदन पहुँचा, जहाँ से उसने अरब और ईरान का भ्रमण किया। वहाँसे हिन्दूकुशपर्वत की उपत्यकाओं मे होकर सिन्धुनदी के रास्ते से वह दिल्ली तक पहुँचा। तत्कालीन भारत-सम्राट् ने उसका उचित सम्मान किया और उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। चीन मे उसने "शुतुर्मुर्ग के आकार के मुर्ग" देखे और चीनियों की चित्रकला से वह बडा प्रभावित हुआ। उसने चीन को "ससार का सबसे मनोहर देश' पाया। तीस वर्षो के लम्बे प्रवास के बाद वह वापस टैन्जियर आया, जहाँ का कि वह निवासी था। उसने अपनी यात्राओं का सुविस्तृत वर्णन एक पुस्तक के रूप मे लिखा है, जिसका ससार की अनेक भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है।

सन् १४२० ई० मे जोओंओ गोनकॉञ्ज ज़ार्को तथा ट्रिस्टॉको वॉज़ नामक दो व्यक्तियों द्वारा लिस्बन से ५३५ मील दूर मडीरा द्वीप का पता लगने पर पोर्चुगीज़ो के जलयान प्रायः दक्षिण-पश्चिम की यात्राएँ करने लगे। पोर्चुगाल का राजा हेनरी अपने समय के उन इने-गिने मनुष्यों में से था, जिनकी यह धारणा थी कि यदि कोई अफ्रीका के समुद्री तट के किनारे-किनारे धुर दक्षिण की ओर यात्रा करे तो उसे एक अन्तरीप मिलेगा, जिसकी परिक्रमा करके सीधे हिन्दुस्तान पहुँचा जा सकता है। हेनरी ने प्रतिवर्ष अनेक जलयान भेजे, जो क्रमशः अफ्रीका के किनारे-किनारे आगे बढते चले गए। उनके द्वारा पुर्तगीज़ नाविक २००० मील तक पहुँचे और अपनी गति के स्मारक-स्वरूप उन्होंने जगह-जगह मीलवाले पत्थर लगा दिए। किन्तु अफ्रीका की भूमि के छोर का फिर भी अंत नही आ रहा था। पूर्व के इन रहस्यमय देशो की जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियो को हथेली पर जान रखकर यात्रा करनी पडती थी। उन दिनो प्रचलित जल-मार्गों से यात्रा करने मे जल-दस्युओ का बडा भय रहता था और स्थल-मार्ग से जाने मे भी लुटेरो का डर तथा ऊँचे पर्वतो के आरोहण, एवं मरुभूमि के रेतीले मैदान तथा सघन बनो के भीतर हिंस्र पशुओं का आतंक आदि बाधाएँ थी, जिनसे लोग बेहद घबडाते थे। फिर भी सभी के मन मे लगी हुई थी कि पूर्वीय देशो से व्यापार करने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला जाय, जिससे वहाँ की यात्रा सुगम तथा सुरक्षित हो सके।

अन्त मे सन् १४८६ ई० के अगस्त मास मे बार्थोलोम्यू डिऑज़ नामक एक युवक नाविक ने पूरी तैयारी के साथ इस नवीन मार्ग की खोज करने के निश्चय से प्रस्थान किया। वह नीग्रो अन्तरीप से आगे बढकर समुद्री तट के दक्षिण-पूर्व की ओर घूमते हुए आगे बढा और अचानक तेज़ आँधी मे पडकर उसके जहाज़ दक्षिण दिशा मे भटक गए, जहाँ पूरे १३ दिनो तक भूमि का दर्शन दुर्लभ रहा। दिन-रात वह और उसके साथी अज्ञात समुद्रों मे भटकते रहे। अन्त मे आँधी का वेग कम हुआ और प्रबल शीत का आतक छा गया। डिऑज़ ने, यह समझकर कि वह अफ्रीका के दक्षिण मे आ गया था, बहुत दूर तक पूर्व की यात्रा की और उसके बाद वह उत्तर दिशा मे मुडा। अन्त मे उसे अपने जलयान के बाई ओर भूमि के दर्शन हुए। अब इस बात मे किंचित सन्देह नहीं रहा है कि उसने अनजान मे ही, बिना देखे-भाले, आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) की वास्तविक परिक्रमा कर डाली थी। उसके नाविकों ने आगे जाने से जब इन्कार किया तो अनिच्छा से डिऑज़ वापस लौटने को बाध्य हुआ। लौटते समय वह उसी ऊँचे अन्तरीप के पास से गुज़रा, जिसे आँधी और तूफान के कारण आते समय वह न देख सका था। उसने उसका नाम "तूफानी अन्तरीप" रख दिया। किन्तु बेचारे डिऑज़ का भाग्य उसके प्रतिकूल था। स्वदेश लौटने पर जब दूसरी बार पोर्चुगीज़ लोगों ने वैसी ही

लम्बी यात्रा का प्रयास किया तो राजाज्ञा से डिऑज़ को वास्को-डा-गामा नामक एक नाविक के नेतृत्व में जाना पडा। इस प्रकार उसके प्रयत्न का सारा श्रेय वास्को-डा-गामा ने हडप कर लिया, क्योंकि वही आशा अन्तरीप का अनुसधान करनेवाला प्रसिद्ध हुआ। सन् १५०० में वास्को-डा-गामा ने उस स्मरणीय यात्रा से डिऑज को विमुख करके स्वदेश लौटा दिया और रास्ते में ही डिऑज़ का जलयान तूफ़ान में पडकर डूब गया। इस प्रकार इस अनुपम साहसी नाविक ने दुर्भाग्यवश न तो अपने कार्य मे यश ही पाया और न वह जीवित ही रह सका। उसकी कमाई हुई कीर्ति का फल दूसरों को ही मिलना बदा था।

डिऑज के यश का अपहरण करनेवाला वास्को-डा-गामा, एक युवक नाविक था। उसने सन् १४६७ के जुलाई मास में पोर्चुगाल से एक लंबी समुद्री यात्रा के लिए प्रस्थान किया। तत्कालीन पोर्चुगीज सम्राट् ने उसे इस कार्य्य के लिए उत्साहित करते हुए एक जहाजी बेडा उसके साथ कर दिया था। अफ्रीका के सुप्रसिद्ध वर्डे अन्तरीप के आगे निकलने पर उसका बेडा दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर चल पडा और दक्षिणी अटलाटिक महासागर के किसी अज्ञात भाग में जाकर अटक गया। वास्को-डा-गामा को उस समय इस बात का अनुमान भी न हो सका था कि वहाँ से अज्ञात दक्षिणी अमेरिका की भूमि केवल ६०० मील ही दूर रह गई थी। वह लगभग ४५०० मील की यात्रा कर चुका और ९६ दिन बीत गए थे फिर भी भूमि के दर्शन न हुए। सौभाग्यवश उसको अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिमी तट पर एक चौडी खाडी दिखाई दी जिसका नाम उसने सेंट हेलेना (St. Helena) रख दिया। यह यात्रा विशेष महत्त्व की थी क्योंकि कोलम्बस तो केवल २६०० मील की मज़िल तक ही भूमि न देख पाया था पर वास्को-डा-गामा ने उससे भी बाजी मार ली। समुद्री तूफ़ानों, आँधियों और यात्रा के दु:सह कष्टों से न घबडाता हुआ यह साहसी नाविक मल्लाहों के मना करने पर भी आगे बढता गया और उसने शपथपूर्वक यह सकल्प किया कि भारत की भूमि पर पैर रखे बिना अब वह वापस न लौटेगा। क्रिसमस् के दिन उसका जहाजी बेडा आशा अन्तरीप के पास से गुज़रा और उसने अफ्रीका के पूर्वी तट का भ्रमण किया। वह पुनः चल पडा और भटकता हुआ हिन्द महासागर में जा पहुँचा, जहाँ उसे एक नया नाविक मिला, जो अरब का था। उस नाविक ने मार्गप्रदर्शक का कार्य्य किया और इस प्रकार अपने देश से निकलने के ११ महीने बाद वास्को-डा-गामा ने भारतवर्ष के तट पर कालीकट के बन्दरगाह में लगर डाला। कालीकट के हिन्दू राजा जमोरिन ने उसकी अच्छी आवभगत की। तब तक वास्को-डा-गामा के भाई की मृत्यु हो चुकी थी, तथा उसके साथ के १६० जहाज़ियों में से १०५ व्यक्ति यात्रा के कष्टों से आक्रान्त होकर यमलोक पहुँच चुके थे। लाचार होकर वह वापस अपने देश लौट आया, मगर उसे इस बात का संतोष था कि उसने भारतवर्ष जाने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला था जिसकी चेष्टा में लोग वर्षों से लगे हुए थे।

इसके उपरान्त पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में स्पेन के एक छोटे से बदरगाह मे छूटनेवाले 'सान्ता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना' नामक तीन छोटे-छोटे जलयानों की वह इतिहास-प्रसिद्ध महान् यात्रा सपन्न हुई, जिसने पहले पहल योरपवालों के लिए अटलांटिक महासागर के उस पार की 'नई दुनिया' का द्वार खोल दिया। इस महत्त्वपूर्ण अभियान का नेता था अमर अन्वेषक क्रिस्टाफ़र कोलबस, जिसके संबध में 'विश्व-भारती' के अंक ४ (पृष्ठ ५११-५१६) मे विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यद्यपि कोलबस से पहले ही उन प्राचीन नार्स नाविकों ने जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अमेरिका महाद्वीपों की भूमि पर पैर रखने में सफलता पाई थी तथापि उनकी खोज का श्रेय पाँच सौ वर्ष बाद कोलम्बस ही को मिला। कोलम्बस की यात्राएँ समाप्त होने के चार वर्ष बाद जान कैबट नामक वेनिस-निवासी, जो इंगलैंड के राजा हेनरी सप्तम की जल-सेना में कप्तान के पद पर नियुक्त हो गया था, अपने पुत्र सेबैस्टियन और अन्य १६ मल्लाहों के साथ मैथ्यू नामक छोटे से जहाज पर सवार होकर ब्रिस्टल के बन्दरगाह से रवाना हुआ। वह पश्चिम दिशा में तीन महीने तक सकटपूर्ण जल-यात्रा के पश्चात लैब्रेडोर की ऊसर भूमि पर जा पहुँचा। कैबट ने उस भूभाग को चीन समझा, जहाँ जाने की इच्छा से वह यात्रा कर रहा था। किन्तु वहाँ वैभवशाली बडे बडे नगर न देखकर उसे बडा आश्चर्य हुआ। समुद्रतट पर वापस आकर वह और आगे रवाना हुआ और १००० मील तक किनारे-किनारे चलता हुआ लगातार भटकता रहा। ६ अगस्त को उसके जहाज ने लौटकर ब्रिस्टल के बन्दरगाह पर लगर डाला। पुनः आगामी मई महीने मे चार नए जहाज देकर राजा ने उसे दुबारा यात्रा करने की आज्ञा दी। इस बार कैबट अपने पुत्र के साथ दक्षिण दिशा में बढकर उत्तरी अमेरिका के
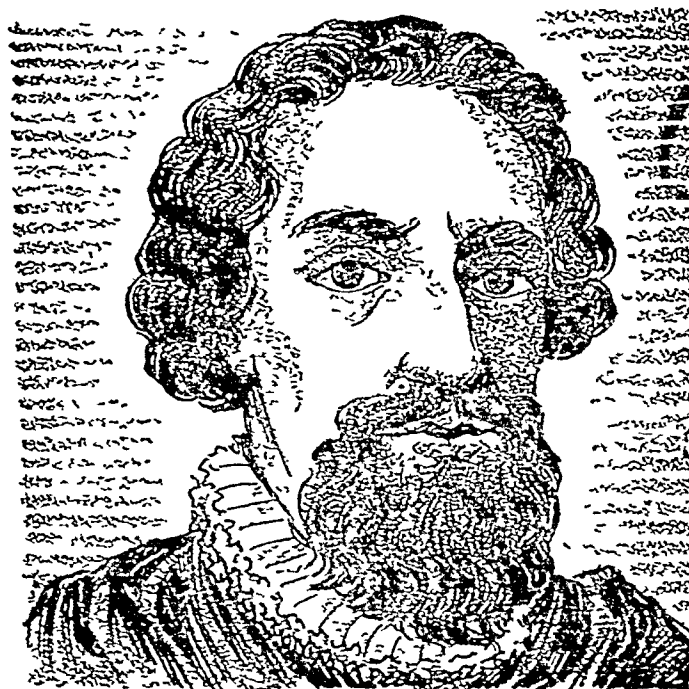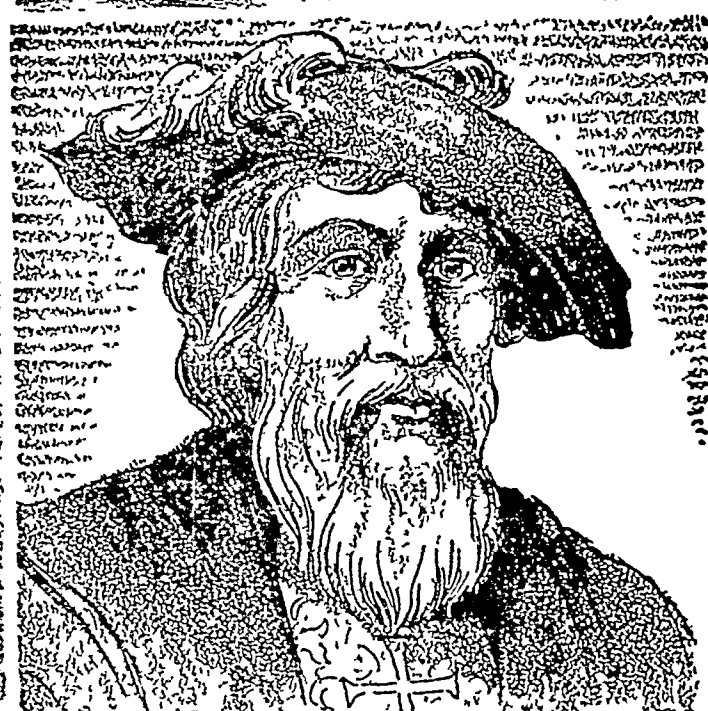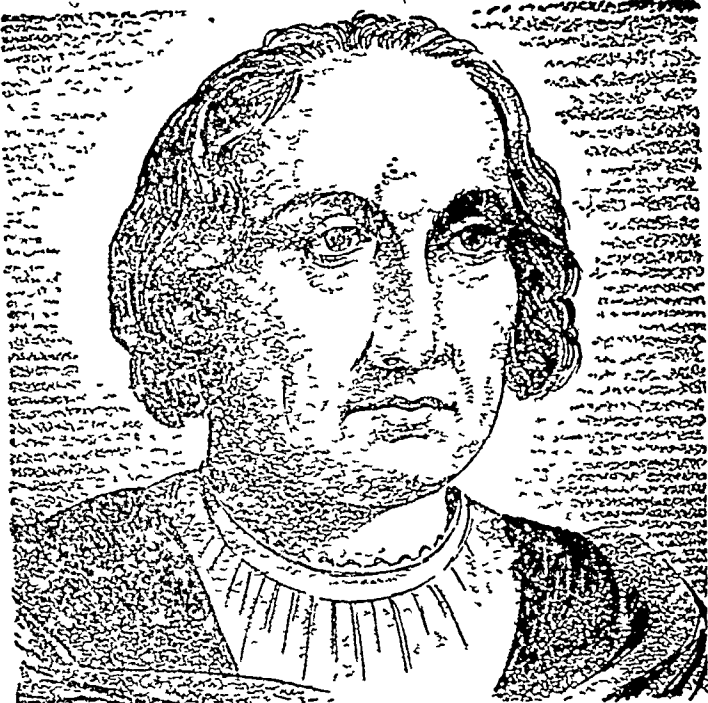
कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(१)

(बाइ ओर—ऊपर से नीचे को) १. लीफ एरिक्सन; २ मार्को पोलो; ३. बार्थोलोम्यू डिआॅज़।

(दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को) १. क्रिस्टाफर कोलंबस; २. वास्को-डा-गामा; ३. मैगेलन।
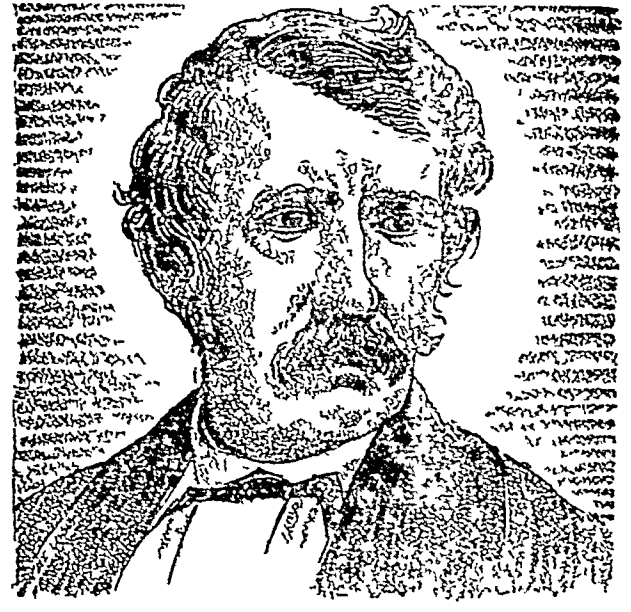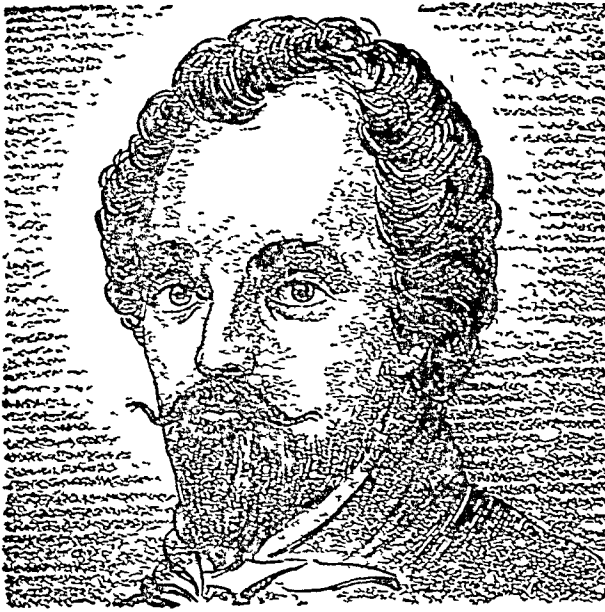
कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(२)

(बाईं ओर—ऊपर से नीचे को) १. सर फ्रांसिस ड्रेक, २ जेम्स कुक, ३. वॉन हम्बोल्ट ।

(दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को) १. डेविड लिविंग्स्टोन, २ फ्रिटज़ोफ़ नान्सेन, ३ स्वेन हेडिन ।

किनारे-किनारे चेज़ापीक की खाडी तक जा पहुँचा। किन्तु फिर भी उसे वहाँ पर सोना, मणि माणिक्य, रेशम और हाथीदाँत न पाकर बडी निराशा हुई। एक अरसे के बाद, उन चारो जहाज़ो मे से केवल सेबेस्टियन का जहाज़ सहीसलामत इंग्लैंड वापस पहुँचा और अन्य सभी जहाज़ अपने यात्रियो-सहित रास्ते में ही डूब गए या चट्टानों से टकराकर नष्ट हो गए। इसके बाद फिर किसी ने जान कैबट का पता न पाया। इंगलैंडवालों को विश्वास हो गया कि वह नई भूमि चीन का भूभाग न थी और आगामी सौ वर्षो तक उसके अनुसधान मे किसी ने भी दिलचस्पी न ली। बाद मे कैबट की यात्राओं के आधार पर ही इगलैंड उत्तरी अमेरिका पर अपने अधिकार का दावा कर सका।

कुछ वर्षो के उपरान्त पाश्चात्य देशों के निवासियों ने पान्से-डे-लिओन नामक एक स्पेनिश सैनिक की आश्चर्य-जनक कहानी सुनी। डे-लिओन सुप्रसिद्ध यात्री कोलम्बस के साथ दूसरी यात्रा मे जा चुका था और वेस्ट इंडीज़ के टापुओं मे बस गया था। सन् १५११ ई० मे उसे पोर्टो-रीको का गवर्नर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह वृद्ध हो चला था और उसके शरीर के घाव पुराने हो जाने पर भी उसे पीडा देते थे। उसे उन टापुओं के आदिम निवासियों से यह पता चला कि पास ही किसी द्वीप मे एक अद्भुत झरना है, जिसका पानी पीने से मनुष्य की युवावस्था और शारीरिक शक्ति लौट आती है। वह ज़माना ऐसा था कि लोग कही-सुनी बातों पर तुरन्त विश्वास कर लेते थे और सदैव आश्चर्यों की खोज मे लगे रहते थे। अतएव डे-लिओन ने स्पेन-नरेश से इस झरने का अनु-संधान करने और उस अज्ञात द्वीप मे उपनिवेश बसाने की आज्ञा प्राप्त कर ली, और तीन छोटे-छोटे जहाज़ तथा थोडे से मल्लाह लेकर वह बहामा-द्वीप-समूह के किनारे-किनारे यात्रा करता हुआ सन् १५१३ मे, ईस्टर रविवार के दिन, एक विचित्र भूमि पर जा पहुँचा, जहाँ फूलों और फर्न की जाति के पौधो की अधिकता थी। डे-लिओन ने इस भूभाग का नाम फ्लोरिडा रखा, जो ईस्टर रविवार का स्पेनिश नाम है। उसने बडी सावधानो से उस प्रसिद्ध झरने को खोज शुरू की और रास्ते के प्रत्येक प्रपात का जल वह पीता गया। फिर भी जिस चमत्कार की उसे आशा थी वह न दिखाई दिया। उसकी दाढो वैसी ही भूरी बनी रही और झुर्रियों की गहराई मे भी कोई अन्तर न आया। उसके अकडे हुए बदन के जोडों मे भी वैसा ही दर्द रहा जैसा कि पहले था! उसकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा, जब उस भूभाग के आदिम निवासी भी उसके शत्रु बन गए। अन्त मे उसने पोर्टोरीको वापस लौटने की ठानी। कुछ वर्षों के उपरान्त फ्लोरिडा मे उपनिवेश बसाने के इरादे से डे-लिओन फिर वहाँ वापस लौटा, पर वहाँ के आदिम निवा-सियों के एक तीर का निशाना बनकर वह निराश वृद्ध सैनिक मृत्यु के मुख मे चला गया। इस प्रकार युवावस्था प्राप्त करने की चेष्टा मे उसे मृत्यु मिली!

ऐसा ही एक दुःसाहसी किन्तु चतुर नाविक पोर्चुगाल-निवासी फर्डिनैंड मैगेलन हुआ है, जो जलमार्ग से भूप्रद-क्षिणा करने के हेतु स्पेन के राजा की आज्ञा से रवाना हुआ था, परन्तु यात्रा-काल में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। सन् १५१६ ई० के सितम्बर मास मे, पाँच पुराने जहाज़ और २६५ मल्लाहों को साथ लेकर मैगेलन ने पूर्व के बजाय पश्चिमी मार्ग से भारत पहुँचने का निश्चय किया। सबसे आगे वाले जहाज के पिछले छोर पर, जिस पर वह स्वयं बैठा था, उसने लकडी की एक जलती हुई मशाल बँधवा दी थी, जिसमे साथ के अन्य जहाज़ उसका अनुसरण करते हुए अँधेरे मे भी उसके पीछे-पीछे चलते रहें और भटक न जाएँ। नवम्बर मे वह ब्रेज़िल के तट पर पहुँचा और दक्षिण दिशा मे अनुसधान करता हुआ, क्रिसमस के समय तक आते-आते, उसने सेंट जुलियन के बन्दरगाह मे लंगर डाला। उसी स्थान पर उसने शीतकाल बिताने का निश्चय किया। वहीं पेटागोनिया के तट पर उसने अपने जहाज़ी बेडे के तीन कप्तानो के विद्रोह का दमन किया, किन्तु डमरूमध्य मे प्रवेश करते समय उसका एक जहाज़ साथ छोड़कर भाग गया और स्पेन चला गया। ३८ दिनों तक उस नए डमरूमध्य मे से होकर ३६० मील का चक्कर उसने लगाया और तब अनेक समुद्री कठिनाइयो का सामना करने के बाद वह प्रशान्त महासागर मे जा पहुँचा, जिसको उसने "पैसिफिक" के नाम से सम्बोधित किया। फिर उत्तर-पश्चिम दिशा मे मुड़कर ९८ दिनों तक वह अज्ञात समुद्रों मे भटकता रहा। उसके मल्लाह बीमार पड गए और भूख मिटाने के साधनो का अभाव होने के कारण उनमे असन्तोष फैल गया। उन लोगों ने जहाजो मे रहनेवाले चूहों तक को ढूँढ़ - ढूँढकर मार खाया और जहाज़ मे का चमड़ा तक उन्होने चबा डाला। यही नही, लकड़ी के बुरादे तक को उदरस्थ करके उन्होंने अपनी क्षुधा-निवारण की। अंत मे भूख से पीडित और यात्रा के कष्टों से थके हुए वे मल्लाह लेड्रोनेज़ की भूमि पर जा उतरे, जहाँ के आदिम निवासियों से उन्हें फल और

तरकारियाँ प्रचुर परिमाण मे प्राप्त हुईं। दस दिन बाद उन्होंने फिलिपाइन द्वीपों का पता लगा कर वहाँ की भूमि पर पैर रखे। इन द्वीपों की जगली जातियो को उनका आना अच्छा न लगा और उन्होने तत्काल इन नवागन्तुकों पर आक्रमण कर दिया। उस लडाई मे मैगेलन की मृत्यु हो गई और उसका केवल एक जहाज़, जो बचा था, डेल-कैनों की अध्यक्षता मे आशा अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ १५२२ ई० में स्पेन वापस लौटा। उसके आगमन के बाद ही सर्वप्रथम यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी गोल है। मैगेलन के बलिदान को स्पेनवासी कभी न भूल सके और आज भी उसका नाम वे सम्मान से लिया करते हैं।

मैगेलन के असाधारण साहसिक कार्यों की समानता करनेवाला केवल एक व्यक्ति ही और हुआ, जिसका नाम अल्वर-न्यूनेज-कैवेजा-डे-वाका था। इस अनोखे अनुसधानकारी का जहाज सन् १५२७ ई० मे आधुनिक गैलवेस्टन के निकट गल्फकोस्ट की रेतीली भूमि से टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। भूखा-प्यासा, रोगाक्रान्त, तथा नवम्बर के शीत से ठिठुरता हुआ डे-वाका अपने साथियों सहित, जिनके पहनने के वस्त्र भी नष्ट हो चुके थे, स्थानीय निवासियो के यहाँ जाकर शरणागत हुआ। उसके साथियों मे से अधिकाश प्रबल शीत, भूख और बीमारी के कारण असमय ही चल बसे, और शेष लोगों ने नर-मास खाकर अपनी प्राण-रक्षा की। जाडा समाप्त होने तक कुल ८० व्यक्तियो मे स केवल १५ ही बचे और उनकी भी बड़ी दयनीय दशा थी—तन पर वस्त्र नही, आहार की सुविधा नही, और पास म कोई सामग्री नहीं। जिन लोगों के वे अतिथि थे, उनमे भी अचानक बीमारी का प्रकोप हुआ, जिससे आधे से भी अधिक व्यक्ति मर गए। लाचार होकर उन्होने अपने विदेशी अतिथियो से सहायता माँगी। डे-वाका चिकित्सा-शास्त्र का थाडा बहुत अध्ययन कर चुका था। उसने उनका अत्यन्त तत्परता से इलाज किया और रोगमुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी की। फलतः वे लोग चगे होने लगे और डे-वाका को उन्होंने चिकित्सा-विशेषज्ञ समझकर बड़ा सम्मान दिया। डे वाका को एक दास की भाँति स्थानीय निवासियों में रहते रहते ६ वर्ष के लगभग समय व्यतीत हो गया। उसे पानी के नीचे उगनेवाली जड़ें (जो खाई जा सकती थीं) खोदने और निकालने का काम सौंपा गया था। इस काम को करते-करते उसके हाथों की उँगलियाँ बुरी तरह से सूज गईं थीं और उनसे बराबर खून निकलता रहता था। एक दिन अवसर पाकर वह भाग निकला और पैदल ही मेक्सिको की यात्रा करने लगा। रास्ते मे उसे अपने साथ के तीन और व्यक्ति मिले, जो दो वर्ष पहले उससे छूट-कर भटक गए थे। ये चारो व्यक्ति जगली और आदिम जातियों की बस्तियों से होते हुए चल पड़े और डे-वाका की चिकित्सा-विशेषज्ञ की उपाधि ने प्रत्येक अवसर पर उनके प्राण बचाए। वे भीतरी प्रदेश मे बढते चले गए, और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, सघन वनों और रेगिस्तानो को पार करके अन्त म वे स्पेन देश की एक औपनिवेशिक चौकी पर पहुँच गए। इस तरह पूरे महाद्वीप की यात्रा करने मे उन्हे आठ वर्ष लगे और अपने भ्रमण-काल मे वे सुदूर धुर उत्तर में एल-पासो नामक आधुनिक नगर की सीमा तक जा पहुँचे थे। डे-वाका और उसके साथियों के अतिरिक्त इतनी लम्बी पैदल यात्रा करने का साहस पहले किसी ने भी नहीं किया था।

दूसरा एक महान् अन्वेषक अलेक्जेंडर वॉन-हम्बोल्ट नामक एक जर्मन वैज्ञानिक हुआ है, जिसने दक्षिणी अमेरिका मे तीन वर्ष तक सफलता से अनुसधान-कार्य्य किया, और जो १८०४ ई० मे वहाँ से प्रकृति-विज्ञान सम्बन्धी पर्याप्त अध्ययन-सामग्री लेकर स्वदेश वापस आया। सन् १८२६ ई० मे रूस के जार निकोलस की सरक्षता में उसने उत्तरी और मध्य एशिया की यात्रा मे भी बहुत कुछ अनुसधान-कार्य्य किया। उसकी इन यात्राओं द्वारा वैज्ञानिकों को अनेक नई बातों का पता चला, जिनके विषय मे वे पूर्णतया अन्धकार में भटक रहे थे।

धर्म-प्रचार की प्रेरणा से प्रवास करनेवाले कुछ ईसाई मिशनरी लोगों ने भी महत्वपूर्ण अनुसधान-कार्य्य किया है, जिसके फलस्वरूप ससार को पृथ्वी के नए-नए भूखण्डों और उनके निवासियों के विषय मे आश्चर्यजनक बातें मालूम हुई है। इनमें डेविड लिविंगस्टन नामक एक स्कॉटिश मिशनरी (धर्म प्रचारक) का नाम सबसे उल्लेखनीय है, जिसने सब से पहले मध्य अफ्रीका के विषय मे जानकारी हासिल की और उसका विवरण ससार के आगे प्रस्तुत किया। सन् १८४१ ई० मे धर्म-प्रचार के कार्य्य से लिविंगस्टन दो वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका के निवासियों मे दौरा करता रहा। घूमते-फिरते उसने नगामी नामक झील का पता लगाया। यहीं से उसके मन मे भौगोलिक अनुसधान की इच्छा बलवती हुई, जिसमें उसने अपना शेष जीवन लगा दिया। स्वतन्त्रता से कार्य्य करने के विचार से उसने अपने परिवार को इंगलैंड वापस भेज दिया। लिविंगस्टन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण यात्रा सन् १८५२ ई० में

आरम्भ हुई और अनेक संकटों का सामना करने के बाद जब वह लडखड़ाता हुआ लोआँडा के पश्चिमी तट पर पहुँचा तो उसका शरीर केवल अस्थि चर्म का एक पजर-मात्र दिखाई देता था। वापसी मे, भीतरी प्रदेश से आते समय ज़म्बेसी नदी के आगे उसने विक्टोरिया के सुविस्तृत जल-प्रपातों का पता लगाया। सन् १८५६ ई० मे अपनी यात्रा समाप्त कर वह इंगलैंड वापस लौटा। दो वर्ष बाद पुनः वह ज़म्बेसी नदी के ऊपरी भाग की यात्रा करने अफ्रीका पहुँच गया। उसी ने न्यासा झील को खोज निकाला और इगलैंड से लाये हुए एक छोटे-से स्टीमर में बैठकर उसने अफ्रीका के भीतरी भूभाग में फैले हुए नदी-नालों और जल-स्रोतों का पता लगाते हुए हजारों मील की परिक्रमा कर डाली। दुर्भाग्यवश उसे अपनी इस यात्रा का कार्य्य लाचारी से स्थगित करना पडा। सन् १८६५ ई० मे वह फिर अफ्रीका जा पहुँचा। यही उसकी सबसे लम्बी और अन्तिम यात्रा थी। ज़न्ज़ीबार से रवाना होकर इगलैंड की राजकीय-भौगोलिक समिति के आदेशानुसार वह नील नदी के उद्गम-स्थान की खोज में चल पड़ा। पर तीन वर्ष तक उसका कुछ भी पता न चला। अन्त में टागानाइका झील के पास यूजिली नामक स्थान पर उद्धार-समिति के एक यात्री स्टैनली ने सौभाग्यवश उसको जा खोजा। दोनो का वहाँ अचानक मिलन हुआ और वह भी उस अन्धकारमयी अफ्रीका की भूमि पर! इस स्मरणीय घटना की ख़बर ससार के सभी देशों में बिजली की तरह फैल गई। लिविंग्स्टन ने स्टैनली के लाख समझाने पर भी स्वदेश लौटने से इन्कार कर दिया और दृढता से उसने अपना वह अनुसंधान-कार्य जारी रखा। अन्त मे, ज्वर से आक्रांत होकर पहली मई, सन् १८७३ ई०, को उसकी उन्ही जंगलों मे मृत्यु हो गई।

नार्वे के प्रोफेसर मोन का एक मित्र था, जिसे वे बहुत मानते थे। दोनों के मन मे सहसा यह विचार उठा कि यदि वे एक ऐसा मज़बूत जहाज़ बना सकें, जो आर्कटिक के शीतकाल की हिमवर्षा का आघात सह सके तो वे सरलता से सागर के बहाव द्वारा ध्रुव के निकट पहुँच सकते हैं। अन्त मे उन्होंने एक ऐसा जहाज़ बना ही लिया, जिसे फ्रॉम कहते थे और सन् १८९३ के जून मास की चौबीसवी तारीख़ को अपने साथ पॉच बरस की यात्रा का ज़रूरी सामान लेकर मोन और उनका वह साहसी मित्र, जिसका नाम फ्रिटजोफ नान्सेन था, अपने जहाज़ में बैठकर नार्वे से रवाना हुए। उनका जहाज़ योरप के उत्तरी तट का अनुसरण करता हुआ सितम्बर के बाद न्यू साइबेरिया प्रदेश के उत्तर में बर्फ के सागर में जा पहुँचा, और वहाँ वह फँस गया। जहाज के चारों ओर शीघ्रता से बर्फ जम गई, जिसके भारी बोझ से उसके दोनों पार्श्व टूट गए। यह बडी कठिन परीक्षा का अवसर था। नाविकों के प्रयत्न से जहाज़ ने एक बार जोर भरा और बर्फ से निकलकर वह जल मे आ गया। पूरे नौ महीने तक वह जहाज़ निरुद्देश्य इधर-उधर भटकता रहा। तब अचानक वह किसी बहाव मे पड गया और उत्तर दिशा की ओर जाने लगा। दूसरे वर्ष शीत ऋतु मे, नान्सेन एक साथी के साथ जहाज को छोड़कर केवल स्लेज या बर्फ पर फिसलनेवाली गाडी द्वारा उत्तरी ध्रुव की यात्रा के विचार से निकल पड़ा। ये लोग ध्रुव-प्रदेश मे काफी दूर निकल गए थे, जहाँ तक उनसे पहले कोई और न पहुँच सका था, परन्तु अन्त मे उन्होंने हार मानी और उन्हें लौट आना पडा। वे असह्य शीत और मार्ग की दुरूह आपदाओं मे पडकर मरते-मरते बचे। कई बार तो वे जीवन की आशा ही छोड़ बैठे, किन्तु अन्ततोगत्वा अगस्त मास मे वे फ्रॉन्ज़ जोज़ेफलैंड तक पहुँच गये। जाडे का मौसम उन्होंने वहीं काटा और मई सन् १८९६ मे पुनः अपनी स्लेज-यात्रा आरम्भ कर दी। सौभाग्यवश रास्ते मे जैक्सम नामक एक प्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता से उनकी भेंट हो गई, जिसके साथ वे नार्वे वापस आ गए। इस बीच मे उनका जहाज़ भी, जो सागर के बहाव का अनुसरण करता हुआ चला आ रहा था, नार्वे आ पहुँचा। नान्सेन ने इसी प्रकार और भी कई बार आर्कटिक प्रदेशों की यात्राएँ कीं। उसकी मृत्यु १९३० ई० मे हुई।

कुछ ही वर्ष हुए अमेरिका के ऐंड्रूज नामक विद्वान् को यह सूझा कि मध्य एशिया के भूतत्त्व-सम्बन्धी अध्ययन के प्रयोजन से यदि व्यवस्थित यात्राएँ की जाएँ तो उनके वैज्ञानिक परिणाम बडे महत्व के होंगे। आख़िरकार पचास हजार डालर के ख़र्चे से दस वर्ष तक अनवरत खोज करने की एक योजना बनी और यात्रा के लिए मोटरगाडियों तथा पेट्रोल और रसद ले जाने के लिए ऊँटों के काफ़िले की व्यवस्था की गई। इन ऊँटों के काफ़िलो को कई महीने पहले ही रवाना कर देना निश्चित हुआ, जिससे वे मरुभूमि मे कलगान नामक चीनी शहर से ६०० मील पर मोटरों से मिल सकें। इसी शहर को यात्रा की मुख्य चौकी क़रार दिया गया। मार्च १९२२ के शुरू मे ऊँटो का वह काफ़िला मंगोलिया के लिए चला। मरुभूमि तक पहुँचने के लिए कुल पॉच यात्राएँ की गईं, जिनमे यह पहली

यात्रा थी। अगले वर्ष दूसरी तथा सन् १६२५ ई० मे तीसरी यात्रा हुई, जिसमें बहुत-से लोगों ने जाकर बाहरी मगोलिया प्रदेश मे अनुसन्धान कार्य किया। चौथी यात्रा सन् १६२८ मे और पाँचवीं सन् १६३० मे हुई—जब पूर्वी मगोलिया का भीतरी भाग अनुसन्धान का मुख्य क्षेत्र बना। वहाँ रेत की भयकर आँधियाँ चलती और बर्फ के तूफान उठते थे। कई राजनीतिक कठिनाइयाँ भी थीं और खूँख्वार लुटेरों के आक्रमण होते थे। मोटरगाडियों के पहिए जब बालू मे धँस जाते, तब उनको निकालना कठिन हो जाता था। यातायात की सुविधाओं को जुटाने मे भी बड़ा समय लगता था। फिर भी इन यात्रियों का साहस और उत्साह लेशमात्र भी कम न होता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अब तक मगोलिया की भूमि अज्ञात थी, जिसके विषय मे इन लोगों ने अनेक महत्वपूर्ण बाते जान ली। कलगान से रवाना होकर चीन की बडी दीवाल के दक्षिण मे लगभग १००० मील आगे मगोलिया के बीच तक सूक्ष्मता से ठीक-ठीक निरीक्षण और पैमाइश का कार्य्य उन्होंने सम्पन्न किया। यह इलाक़ा ससार का सबसे अधिक मूल्यवान और सबसे प्राचीन क्षेत्र प्रमाणित हुआ, जहाँ पशुओ, वृक्षों और धातुओं के प्रस्तरीभूत अश भूगर्भ मे प्रचुरता से पाये जाते हैं। अनुसधान मे सबसे आश्चर्यजनक "डायनोसार" नामक प्राचीन भीमकाय जतुओं के ८० अण्डे थे, जिनके विषय में लोगों की धारणा थी कि वे चट्टानों पर नौ करोड पचास लाख वर्षों तक नीचे दबे पडे रहे।

जिस प्रकार मगोलिया की उपरोक्त यात्राओं का श्रेय विशेषतया ऊपर उल्लिखित ऐन्ड्रूज को प्राप्त हुआ, उसी भाँति स्वीडन के सुप्रसिद्ध अनुसधानकर्त्ता स्वेन हेडिन को भी अपनी यात्राओं द्वारा एशिया के कई अज्ञात भागों का परिचय देने का श्रेय प्राप्त है। लगभग पचास वर्षों तक उसने बराबर सुदूर प्रदेशों मे भ्रमण किया है। बीस वर्ष की आयु मे ही वह ईरान और मेसोपोटामिया घूम आया था। सन् १८६५ मे उसने तकला-मकान नामक रेगिस्तान की सैर की, जहाँ जाने वाला वह पहला योरपीय यात्री था। तिब्बत के पठारों को लाँघकर पेकिंग पहुँचने के पूर्व उसने खोतान में अपनी यात्रा-चौकी स्थापित की थी। सन् १६०१ मे जब वह तिब्बत के जगली इलाक़ों मे विचरण कर रहा था, उस समय यात्रा की कठिनाइयों से पीडित होकर उसके काफिले के बहुत से भारवाहक पशु और एक अनुचर कालकवलित हो गए। अन्त मे उसने गोबी की मरुभूमि के कुछ भाग का निरीक्षण और पैमाइश करने मे सफलता पाई। इसके पूर्व किसी अन्य विदेशी ने इस ऐतिहासिक मरुभूमि के दर्शन भी नहीं किये थे। सन् १६०६ मे वह पुनः ऊँटों का बहुत बडा काफिला लेकर एशिया आया और पश्चिमी तिब्बत के अज्ञात प्रदेश में अनुसधान करते हुए उसने अनेक नई पर्वतश्रेणियों, झीलों और नदियो का पता पाया। उसने ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और सतलज के उद्गमस्थानो को खोज निकाला। सन् १६०७ ई० में वह पुनः भारत लौटा और उसने हिमालय पर्वत को दूसरी बार पार किया। इस यात्रा में वह कई बार १७००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचा। सन् १६२७ ई० मे एक बहुत बडे यात्री-दल का अध्यक्ष बनकर वह पुनः एशिया-भ्रमण करने चला। उसके साथ तीन सौ ऊँटो और १०० आदमियों की लम्बी जमात थी। पाओटो से रवाना होकर वह उत्तर-पश्चिम दिशा गोबी की मरुभूमि की ओर चल पडा। महीनो तक वह अपने दल-बलसहित उस वीरान शुष्क मरुभूमि मे फिरता रहा। इस यात्रा के फल-स्वरूप मगोलिया के भीतरी प्रदेश का किनारा, जिसकी लम्बाई १००० मील थी, पहली बार नापा-जोखा गया। लोगो का अनुमान है कि यह साहसी व्यक्ति जब तक एशिया के सर्वोच्च भूभागों की अज्ञात भूमि का अनुसधान न कर लेगा तब तक शान्ति न लेगा।

स्वेन हेडिन ही पाश्चात्य अनुसधान-कर्त्ताओ का अन्तिम प्रतिनिधि नही है। अनेको दुःसाहसी व्यक्ति आज भी कितनी ही दुस्तर यात्राओ मे लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव, आदि की खोज मे अपना जीवन अर्पण करनेवाले वीरों का परिचय तो 'विश्व-भारती' के पिछले अकों मे आप पढ ही चुके हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि पाश्चात्य देशवालों के अदम्य उत्साह और साहस ने ससार का मानचित्र ही बदल दिया है। उनमे जहाँ सर फ्रान्सिस ड्रेक जैसे छापा मारनेवाले और कुक जैसे साम्राज्य-विस्तारक रहे हैं, वहाँ कई ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता का क्षेत्र विस्तृत करने के हेतु भी सुदूर देशो मे जाकर अनुसधान-कार्य किया है और अपने अध्ययन का परिणाम ससार के सामने रखा है।

ग्रह की कहानी
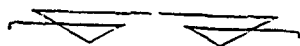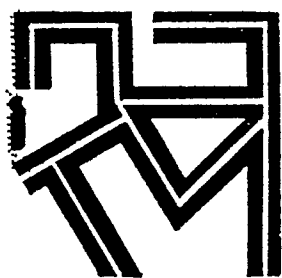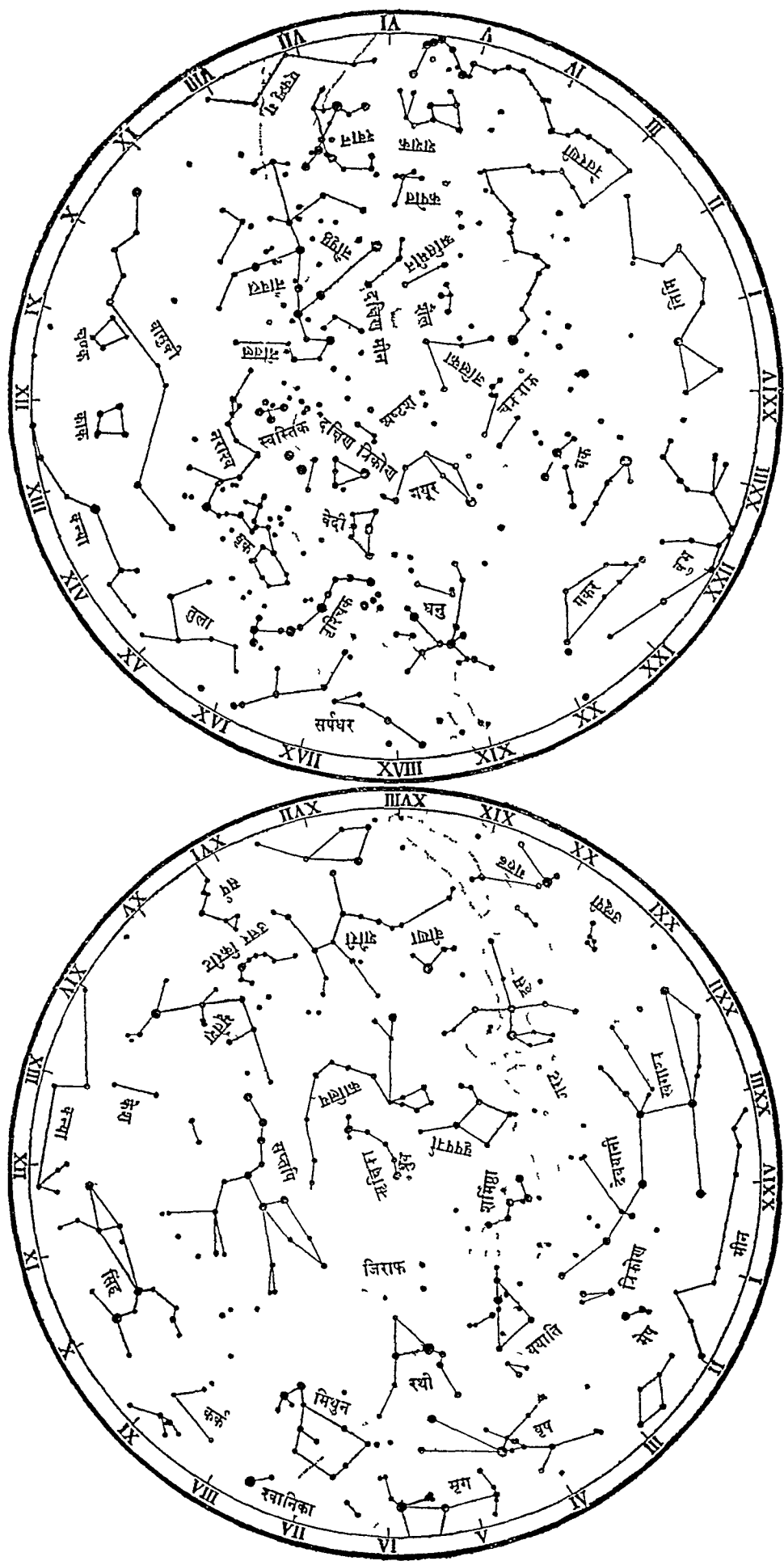
प्रमुख तारा-समूह

प्राचीन नकशो मे प्रत्येक तारा-समूह की आकृति और सीमा उस वस्तु के चित्र द्वारा सूचित की जाती थी, जिसके नाम पर उक्त तारा-समूह का नाम रक्खा गया था। किन्तु आजकल ऐसा नही किया जाता। आधुनिक प्रणाली यह है कि पहचान की सुविधा के लिए समूह के तारों को कुछ कल्पित सीधी रेखाओं से जोडकर उससे जो आकृति बनती है, उसे ही याद रक्खा जाता है। प्रस्तुत नकशों मे केवल मुख्य-मुख्य तारा-समूहों के अधिक चमकीले और महत्वपूर्ण तारों को लेकर ही आकृतियाँ प्रदर्शित की गई है। बाईं ओर, गगनमंडल का उत्तरी अर्द्धभाग और दाहिनी ओर दक्षिणी अर्द्धांश दिया गया है। ये नकशे नार्टन की तारा-चित्रावली के आधार पर बनाए गए है। इन तारा-समूहो के (अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिप-संघ द्वारा निर्धारित सीमाओं सहित) विस्तत मानचित्र इसी लेख के अंत में दिए गए है।

तारों की पहचान

पिछले लेख में नक्षत्रों की दुनिया का आरंभिक परिचय देते हुए हम आपको विविध तारा-समूहों की नामावली की जानकारी करा चुके है। आइए, अब उन तारा-समूहों और उनके प्रमुख तारों की आकाश में स्थिति मालूम कर उन्हें पहचानने का प्रयत्न करें।

तारों की पहचान और नामकरण के लिए समस्त तारे कई समूहो मे बॉट दिए गए हैं, जिनकी सूची पिछले लेख मे दे दी गई है। प्राचीन समय मे इन समूहो की सीमाऍ खगोल-प्रतिमाओं (या मानचित्रो) पर बनी आकृतियों के अनुसार थी। उदाहरणतः 'सर्पधर' की आकृति एक मनुष्य की थी जो सर्प को अपने हाथो मे पकडे रहता था। परंतु स्वभावतः चित्र मे सर्प बहुत लंबा होता था। इस प्रकार 'सर्प' नामक तारा-समूह बहुत लंबा और 'सर्पधर' नामक तारा-समूह के बीच से होता हुआ जाता था। आरंभ में, जब तक केवल चमकीले तारों का ही अध्ययन होता रहा, कोई कठिनाई नही पड़ी, परतु जैसे-जैसे ज्योतिष-विज्ञान ने उन्नति की तैसे-तैसे कठिनाइयॉ बढ़ने लगी, क्योंकि तब प्रत्येक तारे के बारे मे यह जानने की आवश्यकता होने लगी कि यह किस तारा-समूह में है। विभिन्न चित्रों मे सर्प की मोटाई या लंबाई या कुंडलियाँ थोड़ी-बहुत विभिन्न रहती ही थीं। इसलिए किसी के अनुसार यदि कोई तारा 'सर्प' मे गिन लिया जाता था तो किसी दूसरे के अनुसार उसी तारे की गणना 'सर्पधर' मे हो जाती थी। प्रायः सभी तारा-समूहों के बारे मे ऐसी कठिनाई पड़ती थी। थोड़ा-बहुत सुधार कई बार किया गया, परंतु प्रत्येक सुधार से आरंभ मे गडबडी मच जाती थी, क्योंकि तारो की नामावली में अंतर पड़ जाता था। अंत मे सन् १६३० मे अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिष-संघ (International Astronomical Union) ने नवीन सीमाऍ स्थापित कर दी, जिनमे सीमाखंड सभी सीधे रक्खे गए। ये सीमाएँ इस प्रकार चुनी गई कि यथासंभव सभी चमकीले तारे अपने पुराने समूहों में ही पडे रहे, जिसमे विशेष असुविधा न हो। यदि इस बात को ध्यान में न रखना पड़ता तो निस्संदेह अत्यंत सरल सीमाऍ चुनी जा सकती। इस लेख के साथ दिए गए नक़शो में उपर्युक्त अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ दिखलाई गई हैं।

तारों के नाम

पहले जब कभी तारो के मानचित्र (नक़शे) छपते थे तो उनमें उन वस्तुओं का भी चित्र रहता था, जिनके नाम पर तारा-समूहों का नाम पडा रहता था। तब किसी विशेष तारे को सूचित करने के लिए चित्र के आधार पर उसकी स्थिति बतला दी जाती थी। उदाहरणतः, एक तारा था ऑकुलस टॉरी (Oculus Tauri), अर्थात् वृष की ऑखवाला तारा। परंतु अब यह प्रथा उठ गई है। आधुनिक प्रणालियॉ केवल चार हैं:—

(१) तारों को सूचित करने के लिए कभी-कभी उनका नाम लिया जाता है—उदाहरणतः, बेटलगज़ (Betelgeuse)। इस प्रथा की चलन दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। कारण यह है कि एक तो बहुत कम ऐसे तारे हैं जिनका नाम पड़ा है, और फिर इन नामों से पता नहीं चलता कि आकाश के किस भाग मे वे दिखलाई पड़ेंगे। ये नाम अधिकतर ग्रीक (यूनानी) या अरबी मूलो से निकले हैं, परन्तु अधिकांश शब्द इतने अपभ्रंश रूप में हैं कि उनका अर्थ ही अब कुछ ज्ञात नहीं होता। उदाहरणतः, बेटलगज़ का उच्चारण आरम्भ मे बेटलजूज़ रहा होगा [जी (g) के आगे ई (e) होने से भी ऐसा भास होता है] और यह शब्द अरबी शब्द इब्त-अल-जौज़ के पाश्चात्यों के मुख से शुद्ध उच्चरित न हो सकने का परिणाम है। इब्त-अल-जौज़ का अर्थ है जौज़ के कंधेवाला तारा, परन्तु बेटलगज़ सुनने पर किसको स्मरण आता होगा कि इसका मूल

अर्थ क्या है ? यह उच्चारण तो उसी प्राकृतिक नियम का उदाहरण है जिसके कारण हमारे मालियो की बोलचाल में कैंडिटफ्ट (Candytuft) 'चॉदीटप' हो गया है और हमारे नौकरो की बोलचाल मे मैचेज़ (Matches) हो गया है 'माचिस' ।

तारो के इस प्रकार के निजी नाम अँगरेज़ी मे कुल लगभग १५० हैं। इनमे केवल सात या आठ नाम ही ग्रीक हैं, शेष सब अरबी भाषा के शब्दो के अपभ्रश हैं। इनकी विस्तृत सूची देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। केवल कुछ प्रमुख नामो की सूची सारिणी ३ मे दे दी गई है। जिन तारो के नाम भारतीय पुस्तकों में पहले से हैं, वे भी उसी सूची मे दे दिए गए हैं।

(२) चमकीले तारे बहुधा तारा-समूह के लैटिन नाम के षष्ठी रूप के पहले ग्रीक अक्षर लगाकर सूचित किए जाते हैं। इन अक्षरो के नाम ऐल्फा, बीटा, गामा, डेल्टा इत्यादि हैं। इस प्रथा को जर्मन ज्योतिषी बेयर (Bayer) ने सन् १६०३ मे चलाया था। साधारणतः तारा-समूह के सबसे अधिक चमकीले तारे के लिए उसने ऐल्फा का प्रयोग किया, चमक के हिसाब से द्वितीय तारे के लिए बीटा का, इत्यादि, परन्तु कहीं-कही सुविधा के लिए इस क्रम में थोड़ा-बहुत हेरफेर भी कर दिया गया। जब तारों की चमक मे अन्तर बहुत कम पाया गया तो आस-पास के ही तारो को वर्ण-क्रमानुसार अक्षर-नाम दे दिए गए। जब किसी समूह मे ग्रीक अक्षर सब चुक गए तो रोमन अक्षरो का (अर्थात् ए, बी, सी, डी आदि का) प्रयोग किया गया। बेयर के दिए हुए अक्षरों मे कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया है और आज भी वे ज्यो-के-त्यो प्रयुक्त होते हैं, उदाहरणतः 'ऐल्फा उर्सी माइनोरिस' ध्रुवतारा है।

(३) कम चमकीले तारो के लिए सख्याओं का प्रयोग किया जाता है, उदाहरणतः '५३ सिंह।' सन् १७०० मे इगलैंड के राजज्योतिषी फ़्लैमस्टीड (Flamsteed) ने सख्या और समूह-नाम लिखने की यह प्रथा चलाई।

(४) अत्यत मद प्रकाश के तारो को किसी विशेष तारा-सूची मे पड़ी सख्या से सूचित किया जाता है। उदाहरणतः 'ग्रूमब्रिज ७२४' से उस तारे का सकेत हो जाता है जिसको ग्रूमब्रिज-सूची में ७२४ की सख्या मिली है। इस सूची का पूरा नाम है 'Groombridge's Catalogue of Circumpolar Stars for 1810', यदि किसी को आवश्यकता होगी तो वह इस सूची मे उक्त संख्या के तारे को देखकर, उसकी ठीक स्थिति, चमक, आदि का पता पा जायगा। इस समय लगभग ५० प्रसिद्ध तारा-सूचियाँ हैं, जिनके अनुसार तारे इंगित किए जाते हैं।

अन्तिम तीन रीतियों का ही आधुनिक ज्योतिष में अधिक उपयोग होता है और प्रायः प्रत्येक तारे के लिए इनमे से केवल एक ही रीति का प्रयोग होता है। चमकीले तारे अक्षर और समूह-नाम से सूचित किए जाते हैं। इनसे कम चमकीले, परन्तु आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारे सख्या और समूह-नाम से सूचित किए जाते हैं। ऐसे तारे जो केवल दूरदर्शक मे ही दिखलाई पड़ते हैं, तारा-सूचियों की सख्याओं स सूचित किए जाते हैं। जिन तारों के निजी नाम भी हैं, उनके नाम के साथ-साथ साधारणतः अक्षर और समूह-नाम भी दे दिया जाता है।

तारों की चमक आदि

तारों की चमक बतलाने के लिए उनको श्रेणियों मे बॉट दिया गया है। प्रथम श्रेणी के तारे सबसे अधिक चमकीले होते हैं और छठी श्रेणी के इतने कम कि उनसे अधिक मद तारे कोरी आँख से, अर्थात् बिना दूरदर्शक के, नही देखे जा सकते। चमक ज्यों-ज्यो घटती जाती है त्यो-त्यो श्रेणी-सख्या बढती जाती है। जब पूर्ण सख्याओं से काम नहीं चलता तो दशमलवों से काम लिया जाता है। उदाहरणतः, कहा जाता है कि ध्रुवतारे की श्रेणी २·१ है। इसका अर्थ यह है कि ध्रुवतारा श्रेणी २ के तारे से कुछ मद और श्रेणी ३ के तारे से कही अधिक चमकीला है। तारो की पहचान करते समय उनकी श्रेणी पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले सब तारे गिन लिये गए हैं और उनकी सूची बना ली गई है। उनकी सख्या ६ हज़ार से कम है। किसी एक समय मे ढाई हज़ार से कम ही तारे दिखलाई पडते हैं, क्योकि एक तो केवल आधा आकाश दिखलाई पडता है, दूसरे क्षितिज के पास मद तारे दिखलाई नही पडते। तारो की पहचान करना सीखते समय चाँदनी रात चुननी चाहिए। तृतीया से सप्तमी-अष्टमी तक ठीक होगा। अँधेरी रात मे इतने तारे दिखलाई पडते हैं कि गड़बडी होती है। बहुत उजाली रात मे बहुत कम तारे दिखलाई पड़ते हैं।

सूर्य और चॉद की तरह तारे भी पूर्व में उदय होते हैं और पश्चिम में अस्त। कारण यह है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर बराबर घूमती रहती है। इसलिए सभी आका-

शीय पिंड बराबर पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। सूक्ष्म रूप से देखने पर पता चलेगा कि वे ध्रुव की परिक्रमा करते दिखाई देते हैं। इसी कारण उनकी स्थितियों में ऐसा परिवर्त्तन होता रहता है कि नौसिखिए को कठिनाई पड़ती है। उदाहरणतः, यदि कोई तारा-समूह संध्या समय पूर्व में हो और उसकी आकृति खड़े मनुष्य की-सी हो तो सबेरे तक वह समूह पश्चिम की ओर पहुँच जायगा। परतु इतना ही नहीं, अब तारा-समूह की आकृति उल्टी हो जायगी; मनुष्य का सिर नीचे और पैर ऊपर जान पड़ेगा। इसका प्रमाण कोई भी किसी चित्र को तारों की तरह चलाकर पा सकता है। परतु थोड़े-से अनुभव के बाद इस बात से कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

सप्तर्षि और ध्रुवतारा

तारों की पहचान में सबसे अधिक कठिनाई आरभ में पड़ती है। जब दो-चार तारा-समूहों से परिचय हो जाता है तो उन्हीं की सहायता से आसपास के अन्य समूह सुगमता से पहचाने जा सकते हैं। कदाचित् सबसे सुगम उपाय यह है कि किसी जानकार से पूछकर ध्रुवतारे और सप्तर्षि को पहले पहचान लिया जाय। परंतु यदि कोई भी सहायता देनेवाला न मिले तो सुगम रीति यह होगी कि उत्तर दिशा में २५ या ३० अंश की ऊँचाई पर किसी चमकीले तारे को ध्यान में रक्खा जाय और उसे समय-समय पर दो-चार घंटे तक देखते रहकर निश्चय किया जाय कि वह अपनी स्थिति बदल रहा है या नहीं। यदि वह निश्चल जान पड़े तो वही ध्रुवतारा है। ऊपर २५ या ३० अंश की ऊँचाई की जो चर्चा की गई है, उसको जाननेके लिए यदि इस बात पर ध्यान रक्खा जाय कि क्षितिज से शिरोबिंदु (सिर के ऊपरवाले बिंदु) तक ९० अंश होता है और इसका एक-तिहाई ३० अंश (३०°) होता है तो ३०° के आँकने में कोई कठिनाई न पड़ेगी*।

ध्रुवतारा और सप्तर्षि तारा-समूह की पहचान
बाईं ओर ध्रुवतारे की सीध में दिखाई दे रहे दो तारे ही 'सूचक तारे' कहे जाते हैं।

ध्रुव के पहचान लेने के बाद सप्तर्षि के पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए। सप्तर्षि तारा-समूह में ७ चमकीले तारे हैं, जिनकी आकृति चित्र में दिखला दी गई है। इनमें से दो तारों की सीध में ध्रुवतारा है, इसीलिए इन दो तारों को 'सूचक तारा' कहते हैं।

कठिनाई यही है कि सप्तर्षि तारा-समूह संध्या-समय बारहो महीने नहीं दिखलाई पड़ता। यदि सूर्यास्त के लगभग एक घंटे बाद देखा जाय तो मई जून में यह समूह ध्रुव के ऊपर (अर्थात् ध्रुव से शिरोबिंदु की ओर हटा हुआ) दिखलाई पड़ेगा। मार्च-अप्रैल में संध्या-समय ध्रुव से पूर्व की ओर और जुलाई-अगस्त में

* ध्रुव की ऊँचाई (ऊँचाई के लिए वैज्ञानिक शब्द 'उन्नतांश' है) वस्तुतः दर्शक के स्थान के अक्षांश (अर्थात् लैटीट्यूड) के बराबर होती है। इलाहाबाद, लखनऊ और सहारनपुर के अक्षांश क्रमानुसार २५°, २७° और ३०° है। इसी से ऊपर २५ या ३० अंश की बात कही गई है। बहुत उत्तर या दक्षिण में ध्रुव का उन्नतांश अक्षांश के अनुसार अधिक या न्यून होगा।

पश्चिम की ओर हटा हुआ दिखलाई पड़ेगा। अक्टूबर, नववर, दिसंबर, जनवरी मे सप्तर्षि तारा-समूह (या इसका कोई अग) सध्या-समय क्षितिज* के नीचे रहेगा और इसलिए दिखलाई न पडेगा।

यदि इस बात पर ध्यान रक्खा जायगा कि सूचक तारो मे से निकटवाले तारे और ध्रुव के बीच की दूरी लगभग २८° है तो सप्तर्षि को पहचान लेने मे अधिक सुगमता होगी।

कोणीय नाप

अनभिज्ञ व्यक्ति बहुधा कहते हैं कि चद्रमा इतना बड़ा दिखलाई पड़ता है जितना बड़ा थाल होता है, या यह कहते हैं कि इसका व्यास एक हाथ है, या एक बीता है; परतु ये सब नापे निरर्थक हैं, हम केवल उस कोण की ही नाप बतला सकते हैं जो हमारी ऑख पर बनता है। उदाहरणतः, हम कह सकते हैं कि ध्रुव और सप्तर्षि के निकटतम सूचक तारे के बीच की दूरी २८ अश है, परतु यह कहना कि यह दूरी एक गज़ है या १० गज़ है पूर्णतया निरर्थक है। तारो की पहचान मे कोणो के मानों के संबध में कुछ अनुभव होना बहुत आवश्यक है। ऊपर ६०° और ३०° के कोणो का अनुमान बतलाया जा चुका है। हाथ तानकर यदि अॅगुलियॉ फैला दी जायँ तो मोटे हिसाब से बीते की कोणीय नाप लगभग २२ डिगरी होगी, अर्थात् कानी अॅगुली और अँगूठे के छोरों को ऑख से मिलानेवाली रेखाओ के बीच लगभग २२ डिगरी का कोण होगा। (यदि बीता ९ इच का हो और आँख से इसकी दूरी २४ इच हो, और बीता ऑख की दिशा से लब हो तो यह कोण ठीक-ठीक २२½° का होगा, देखो पृष्ठ २४५३ का चित्र)। इसी प्रकार हाथ फैलाने पर ४ इच चौड़ी गदोरी की कोणीय नाप लगभग १०° होगी; चार अगुल (३″) की कोणीय नाप लगभग ७½° होगी और एक अंगुल (¾″) की कोणीय नाप लगभग २° होगी।

तारा-समूहों की आकृति

यद्यपि तारा-समूहों के नाम मनुष्य, पशु-पक्षी और विविध यन्त्रों के नाम पर पड़े हैं, तो भी, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, उनके देखने से इन प्राणियो या वस्तुओ का बोध नहीं होता। पहचान की सुविधा के लिए समूह के चमकीले तारों को सीधी रेखाओं से जोड़ने पर जो आकृति बनती है, उसे स्मरण रखना अधिक सुगम होता है। परतु विभिन्न पुस्तकों मे ये रेखाएँ विभिन्न रीतियों से खिची रहती हैं। भिन्न-भिन्न रुचि के अतिरिक्त ऐसा करने का एक कारण यह होता है कि कोई तो समूह की स्थिति जानने भर के लिए आवश्यक तारों को ही लेते हैं और कोई अधिक-से-अधिक तारो को लेते हैं जिसमे तारा-समूह का यथासभव पूर्ण ज्ञान हो। हमारी समझ मे 'विश्व-भारती' के अधिकांश पाठक तारों को पहचानने के लिए सुगम-से-सुगम रीति चाहेगे। इसलिए इस लेख के आरम्भ मे जो नक़्शा दिया गया है, उसमे केवल अधिक चमकीले और आवश्यक तारो को ही लेकर आकृतियॉ बनाई गई हैं। यह नॉर्टन की तारा-चित्रावली (Norton's Star Atlas) के आधार पर किया गया है।

अन्य तारा-समूहों की पहचान

ध्रुव और सप्तर्षि जानने के बाद शर्मिष्ठा§ की पहचान सरल है, क्योंकि यह समूह ध्रुव से प्रायः उतनी ही दूरी पर है जितनी पर सप्तर्षि-समूह है और ठीक विपरीत दिशा मे है। आकृति मे यह (उल्टा या सीधा दिखलाई पड़ने के अनुसार) अग्रेज़ी अक्षर W या M की तरह है (मानचित्र देखे)। सप्तर्षि और शर्मिष्ठा इन दो समूहों मे से रात्रि मे एक अवश्य दिखलाई पड़ता रहता है, क्योंकि ध्रुव से विपरीत दिशाओ मे होने के कारण जब एक डूबा रहता है तो दूसरा उगा रहता है।

ध्रुव, सप्तर्षि और शर्मिष्ठा को पहचान लेने के बाद नौसिखिया स्वय अन्य तारा-समूहों को मानचित्रों की सहा-

* मोटे हिसाब से वह रेखा जहॉ आकाश और पृथ्वी दोनो मिलते हुए जान पड़ते है।

§ हिन्दी विश्व-भारती के पिछले अंक से पृष्ठ २३६६-७२ पर छपी तारा-समूहों की सूची में पाठकगण कृपया निम्न परिवर्त्तन कर ले। पहली सूची के नामो की अपेक्षा ये नाम अधिक अच्छे है और इनमे से कई अन्य भारतीय भाषाओ में प्रचलित भी है, इसलिए अपनाए गए है—

Andromeda=देवयानी, Canes Venatici=मृगयाश्वन, Canis Major=श्वान, Canis Minor=श्वानिका, Cassiopeia=शर्मिष्ठा, Cepheus=वृषपर्वा, Chamaeleon=गलगति, Dorado=असिमीन, Draco=कालिय, Equuleus=अश्वक, Hercules=शौरी, Hydra=वासुकी, Hydrus=जलिका, Leo Minor=सिहिका, Mensa=शैल, Norma=अंकिनी, Octans=अष्टांश, Orion=मृग, Perseus=ययाति, Saggitta=शर, Sextans=षडंश, Ursa Minor=ध्रुवमत्स्य [?] लघुऋक्षिका।

यता से पहचान सकेगा। इसमें समय अवश्य लगेगा, परतु यदि निम्न बातों पर ध्यान दिया जायगा तो सुगमता होगी—

(१) यह देखा जाय कि अज्ञात तारा नक़्शे मे किन दो ज्ञात तारो की सीध मे है और कितनी कोणीय दूरी पर है।

(२) यह ध्यान में रक्खा जाय कि किसी समय कौन-कौन से तारा-समूह याम्योत्तर वृत्त पर हैं (वह काल्पनिक रेखा जो क्षितिज के उत्तरी विन्दु से चलकर ध्रुव और शिरोविन्दु से होती हुई क्षितिज के दक्षिणी विन्दु तक जाती है, 'याम्योत्तर वृत्त' कहलाती है)। याम्योत्तर वृत्त पर आने का पता सारिणी १ से लग सकता है।

उदाहरणतः, सारिणी में २१ जनवरी और ७ बजे वाले कोष्ठ में III लिखा है। इससे पता चलता है कि २१ जनवरी को ७ बजे संध्या समय वे सब तारे याम्योत्तर वृत्त पर रहेंगे, जो मानचित्रो में III संख्या की रेखा पर हैं। हम मानचित्रो से देखते हैं कि इस समय ययाति नामक तारा-समूह याम्योत्तर वृत्त पर होगा और मेष और वृष याम्योत्तर वृत्त से कुछ ही दूर पर होगे।

यदि किसी ऐसी तिथि के लिए याम्योत्तर वृत्त पर के तारो का पता चलाना हो, जो सारिणी मे न हो तो ४ मिनिट प्रतिदिन की दर मे हिसाब लगा लेना चाहिए। उदाहरणतः, २८ जनवरी को उपर्युक्त तारे याम्योत्तर पर ७×४ मिनिट पहले आएँगे, अर्थात् वे ६ बजकर ३२ मिनिट पर ही याम्योत्तर पर आ जायँगे।

अमुक तारा अमुक तारे से इतने गज़ या इंच की दूरी पर दिखाई देता है, यह कहना निरर्थक है। हम सही-सही केवल उस कोण की ही नाप बता सकते है जो दिखाई देनेवाली वस्तु से हमारी आँख पर बनता है। उदाहरण के लिए ध्रुव और सप्तर्षि के निकटतम सूचक तारे के बीच की दूरी २८° कही जा सकती है, (दे० चित्र का ऊपरी भाग)। इसी तरह यदि हमारा बीता आँख की दिशा से लंब फैलाया जाय तो कानी अँगुली और अँगूठे के छोरों के बीच ठीक २२॥° का कोण बनेगा। (दे० चित्र का निचला भाग)।

नक़्शों में खींचातानी

यह भी स्मरण रखने की बात है कि गेंद-सी गोल सतह कभी भी पुस्तक के समतल पृष्ठ पर सचाई से अंकित नही की जा सकती। कुछ-न-कुछ खींचातानी उत्पन्न हो ही जाती है। आकाश का जितना ही बडा अंश एक साथ अंकित किया जायगा, उतनी ही अधिक खीचातानी होगी। यही कारण है कि इस लेख के साथ दिए गए आकाश के मानचित्र कई खंडो में खीचे गए हैं।

ग्रह

आकाश के उस भाग में, जो मानचित्रो में 'क्रांतिवृत्त' से सूचित रेखा के आसपास है, कभी-कभी चमकीले पिंड दिखलाई पडते हैं, जो ठीक तारे-से हीं जान पडते हैं, परंतु नक़्शे मे अकित नही रहते। ये ग्रह हैं। तारो के बीच उनकी स्थिति बदलती रहती है; इसलिए मानचित्र मे अकित उनकी स्थितियाँ केवल किसी विशेष समय पर ही सत्य होगी, अन्य समयो पर ग्रह अन्यत्र पहुँच गए रहेंगे। इसी कारण ग्रहों को तारों के मानचित्रों मे अंकित नहीं किया जाता। यदि उनका स्थान जानना हो तो पचांग में देखना चाहिए। उससे पता चल जायगा कि कोई ग्रह किस समय किस राशि मे है।

ग्रीक अक्षर

सुविधा के लिए इस लेख के साथ दिए गए मानचित्रो मे

सारिणी—१

किस समय कौन-से तारे याम्योत्तर वृत पर रहते हैं

	शाम					सवेरे	
	६ बजे	७ बजे	८ बजे	९ बजे	१० बजे	४ बजे	५ बजे
२१ जनवरी	II	III	IV	V	VI	XII	XIII
२१ फरवरी	IV	V	VI	VII	VIII	XIV	XV
२१ मार्च	VI	VII	VIII	IX	X	XVI	XVII
२१ अप्रैल	VIII	IX	X	XI	XII	XVIII	XIX
२१ मई	X	XI	XII	XIII	XIV	XX	XXI
२१ जून	XII	XIII	XIV	XV	XVI	XXII	XXIII
२१ जुलाई	XIV	XV	XVI	XVII	XVIII	O	I
२१ अगस्त	XVI	XVII	XVIII	XIX	XX	II	III
२१ सितम्बर	XVIII	XIX	XX	XXI	XXII	IV	V
२१ अक्टूबर	XX	XXI	XXII	XXIII	O	VI	VII
२१ नवम्बर	XXII	XXIII	O	I	II	VIII	IX
२१ दिसम्बर	O	I	II	III	IV	X	XI

ग्रीक अक्षरो के बदले सारिणी २ के अनुसार देवनागरी अक्षरो का प्रयोग किया गया है।

तारका-समूहों की पहचान

पहले बतलाया जा चुका है कि प्राचीन समय मे भारतीय ज्योतिषियों ने चद्रमार्ग के आसपास के तारो को छोटे-छोटे २७ समूहों मे बॉट दिया था। इनको आरभ मे नक्षत्र कहते थे, यद्यपि पीछे नक्षत्र का अर्थ थोडा-सा बदल गया।

स्मरण रखना चाहिए कि विविध भारतीय पुस्तकों मे इस विषय पर कुछ मतभेद है कि किसी विशेष तारका-समूह मे कितने तारे हैं। उदाहरणतः शतभिषक मे तैत्तिरीय सहिता के अनुसार केवल एक तारा है, परतु वराहमिहिर तथा बाद के अन्य लेखको ने अपनी-अपनी पुस्तकों मे शतभिषक मे १०० तारे बतलाए हैं। इस समूह मे तो नाम के कारण भेद जान पडता है, क्योकि शतभिषक का अर्थ है, सौ चिकित्सक। परतु अन्य समूहों मे भी गडबडी है। उदाहरणतः, अश्विनी मे किसी पुस्तक के अनुसार दो तारे हैं, किसी के अनुसार तीन। फिर, कई एक समूहों के बारे मे यह भी सदेह है कि उनमे वस्तुतः कौन-कौन से तारे थे।

सारिणी—२

ऐल्फ़ा	क	आयोटा	ट	रो	प
बीटा	ख	कैप्पा	ठ	सिग्मा	फ
गामा	ग	लैम्ब्डा	ड	टॉ	ब
डेल्टा	घ	म्यू	ढ	अपसाइलन	भ
एपसाइलन	च	न्यू	त	फाई	य
ज़ीटा	छ	एक्ताई	थ	काई	र
ईटा	ज	ऑमिक्रॉन	द	साई	ल
थीटा	झ	पाई	ध	ऑमेगा	व

सारिणी—३

आकाश के पचास सबसे अधिक चमकीले तारे

आकाश के कई चमकीले तारों के नाम भी रक्खे गए हैं। कुछ नाम तो हमारे प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, कुछ हाल ही में गढ़े गए हैं।

श्रेणी	अंग्रेज़ी नाम	अंग्रेज़ी नाम का उच्चारण	अर्थ	अरबी नाम	वैज्ञानिक नाम तारा-समूहानुसार	हिन्दी नाम
–१·५८	Sirius	सिरियस	चमकता तारा	शेअरा	क श्वान	लुब्धक †
–०·८६	Canopus	कैनोपस	मिस्र का एक नगर	सुहा, सुहैल	क नौतल	अगस्त्य †
–०·१८	Rigil Kentaurus	रिजिल केंटौरस	सेंटॉर का पैर	रिजलुल कंतार	क नराश्व	नराश्व-पद
०·१४	Vega	वीगा	गिरता हुआ	ज़ाबिह (=ज़बह करनेवाला)	क वीणा	अभिजित †
०·२१	Capella	कैपेला	छोटी बकरी	?	क रथी	ब्रह्महृदय †
०·२४	Arcturus	आर्कट्यूरस	भालू का पालक	सिमाके रामिह (तीर चलानेवाली मछली)	क भूतेश	स्वाती †
०·३४	Rigel	रिजल	दैत्य का पैर	रिज्ल	ख मृग	मृगपद
०·४८	Procyon	प्रोसियन	श्वान के पहले	शेअरा शामिया (= शामिया का तारा)	क श्वानिका	प्रभास §
०·६०	Achernar	ऐकरनार	नदी का अंत	अखिरुन्नहर	क वैतरणी	वैतरणिअंत
०·८६	Agena	ऐजीना	?	?	ख नराश्व	अजिन्य
०·८९	Altair	ऐलटेयर	चील	अत्ताइर (= पक्षी)	क गरुड	श्रवण †
०·९२	Betelgeuse	बेटलगज़	जौज़ा की काँख	इब्तुलजौज़ा	क मृग	आर्द्रा †
१·०५	Acrux	ऐक्रुक्स	क्रॉस का प्रथम	?	क स्वस्तिक	त्रिशंकु *
१·०६	Aldebarran	ऐलडिबैरन	अनुगामी (पीछे चलनेवाला)	दिबरान	क वृष	रोहिणी †
१·२१	Spica	स्पाइका	गेहूँ का बाल	सिमाक (मछली)	क कन्या	चित्रा †
१·२१	Pollux	पॉलक्स	कुश्तीबाज़	ज़िराय	ख मिथुन	पुनर्वसु †
१·२२	Antares	ऐंटैरीज़	मंगल का प्रतिद्वंद्वी	कल्ब (= कुत्ता)	क वृश्चिक	ज्येष्ठा †
१·२९	Fomalhaut	फोमलहॉट	मत्स्य का मुख	फ़मुलहूत	क दक्षिण मीन	मत्स्यमुख
१·३३	‡Deneb	डेनेब	(हंस की) पूँछ	ज़नब	क हंस	हंसपुच्छ
१·३४	Regulus	रेग्युलस	छोटा राजा	ज़बह (?)	क सिंह	मघा †
१·५०	?	?	?	?	ख स्वस्तिक	×
१·५८	Castor	कैस्टर	घोडा साधनेवाला	कल्बुलमा (= पानी)	क मिथुन	कस्तूरी
१·६१	?	?	?	?	ग स्वस्तिक	×
१·६३	Adhara*	ऐधारा	कुमारी	अज़रा (=कुमारी)	च श्वानिका	×

१·६८	Alioth	ऐलिअथ	भेड की पूँछ	?	च सप्तर्षि	अंगिरा*
१·७०	Bellatrix	बिलेट्रिक्स	लडनेवाली	मिर्ज़म (=लडनेवाली)	ग मृग	मृगलोचनी
१·७१	Shaula*	शॉला	डंक	?	ड वृश्चिक	मूल †
१·७४	?	?	?	?	च नौतल	×
१·७५	Alnilam*	ऐलनीलम	मोतियो की माला	अलनीलम	च मृग	इल्वाक †
१·७८	El Nath*	ऐलनैथ	टक्कर मारनेवाला	अलनत्ताह	ख वृष	×
१·८०	Miaplacidus*	माइआप्लैसिडस	पानी	?	ख नौतल	×
१·८८	?	?	?	?	क दक्षिण त्रिकोण	×
१·९०	Algenib	ऐलजेनिब	पार्श्व (बगल)	अलजानिब	क ययाति	अलजानिब
१·९१	Benetnasch* (Alkaid)	बेनेटनैश	मृतक की कन्या	बिनातुन्नाश	ज सप्तर्षि	मरीचि †
१·९३	Alhena*	ऐलहेना	अँगूठी	?	ग मिथुन	×
१·९५	Dubhe	दुभे	भालू	दुब्ब	क सप्तर्षि	क्रतु †
१·९८	Wezen*	वेजन	वज़न (बाट)	वज़न	घ श्वान	×
१·९९	Murzim*	मुरजीम	घोषणा करनेवाला	मोअज्जिन	ख श्वान	×
२·०१	Naos*	नेअस	नौका	?	घ नौवस्त्र	×
२·०४	Sargas*	सारगस	?	?	ञ वृश्चिक	×
२·०५	Alnitak*	ऐलनिटाक	कमरबन्द	अलनिताक	छ मृग	×
२·०७	‡Menkalinan*	मेनकैलिनान	चालक का कन्धा	मन-कबुल-इनान	ख रथी	×
२·१२	?	?	?	?	क मयूर	×
२·१२	‡Polaris	पोलैरिस	ध्रुवतारा	कुत्ब (=धुरी)	क ऋक्षिका	ध्रुव †
२·१४	Rasalhague*	रैसलहाग्वे	सँपेरे का सिर	?	क सर्पधर	५
२·१५	Alpheratz	ऐलफीरैट्ज	घोडा	अलफरस	क देवयानी	उत्तरा भाद्रपद †
२·१६	Al Nair*	ऐलनायर	चमकनेवाला	अलनैयर	क बक	×
२·१६	Alphard*	ऐलफार्ड	एकाकी	अलफर्द	क वासुकी	×
२·२२	Al Suhail al Muhlif*	ऐलसुहील ऐल मुहलीफ	सौगन्ध दिलानेवाली सुहावनी वस्तु	अल सुहैलुल मुहलिफ	ग नौवस्त्र	×
२·२२	Al Suhail al Wazn*	ऐलसुहील ऐल वज्न	तौलवाली सुहावनी वस्तु	अल सुहैलुल वाजिन	ड नौवस्त्र	×

‡ इन तारों की चमक घटती-बढ़ती है।

† ये नाम प्राचीन है। परन्तु इल्वाक वस्तुत प्राचीन समय मे उन सब तारो के समूहो को कहते थे, जो मृग नामक तारा-समूह के बीच मे है।

§ ये नाम दूसरों के गढे है।

* इन नामो का प्रयोग बहुत कम होता है।

× इन तारो के नाम गढने की कोई आवश्यकता नही जान पडती। वैज्ञानिक नाम से ही काम चल जायगा।

टिप्पणी—पूर्वोक्त तारो के अतिरिक्त निम्न नाम भी अँग्रेजी या सस्कृत मे प्रचलित है, Algol (ख तिमि), अरबी अलग़ूल (=पिशाचिनी); हिन्दी में इसे अलगूल कहना ठीक रहेगा। Denebola (ख सिंह) उत्तरा फाल्गुनी †। Mira (ट तिमि)=हिन्दी मे मीरा। Pleiades (उच्चारण प्लाईऐडीज़)=कृत्तिका †, किचपिचिया †।

तारा-चित्रावली—मानचित्र नं० १
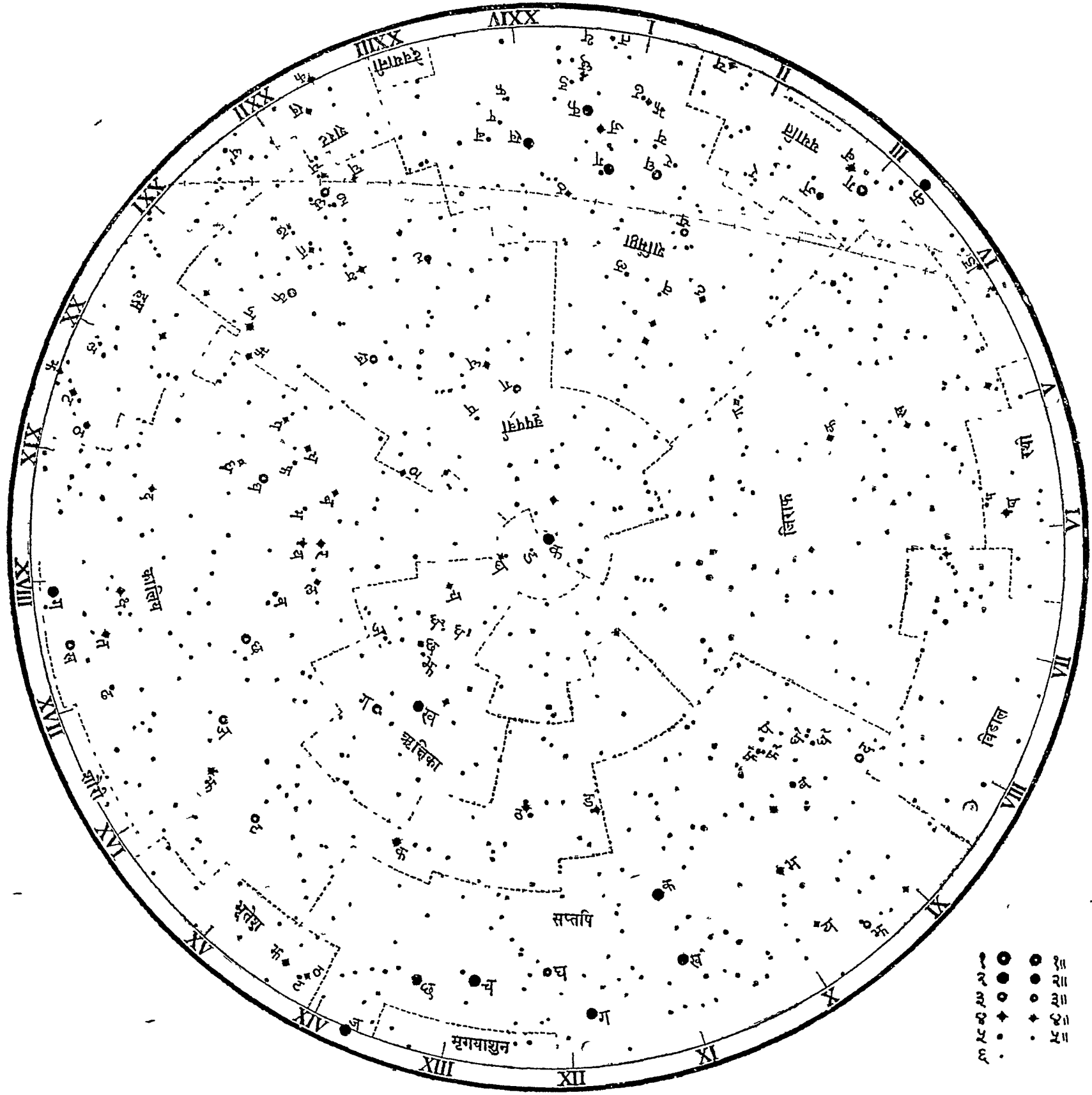
सारे नक्षत्र-खचित आकाश-मंडल को प्रस्तुत पृष्ठ की परिमित सीमा में विस्तारपूर्वक रेखांकित करना असंभव है, साथ ही एक गेंद-सी गोल सतह कभी-भी पुस्तक के समतल पृष्ठ पर सचाई से अंकित भी नहीं की जा सकती; कुछ-न-कुछ खींचातानी उत्पन्न हो ही जाती है। यही कारण है कि प्रस्तुत और इसके आगे के नक़शों में हम पूरे आकाश-मंडल को कई खंडों में विभाजित करके प्रस्तुत कर रहे हैं। इनमें नं० १ और ८ क्रमशः उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्रों के और शेष मध्य-भाग के मानचित्र हैं। प्रत्येक नक़शे में कटावदार सीधी रेखाओं द्वारा अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिष-संघ द्वारा निर्धारित प्रत्येक तारा-समूह की सर्वमान्य सीमाएँ दिखाई गई हैं, जिनके भीतर क्रमशः क, ख, ग, घ आदि वर्णों द्वारा प्रमुख तारे सूचित किए गए हैं। तारों की चमक बतलाने के लिए उनको १, १॥, २, २॥ ३, ३॥, ४, ४॥, ५, ५॥, और ६ इतनी श्रेणियों में बाँट दिया गया है, और प्रत्येक श्रेणी का तारा उतने ही आकार का बनाया गया है, जितना कि नकशे की दाहिनी बाजू में दी गई निर्देश-तालिका में सूचित है। हमें खेद है कि ब्लॉक बनाते समय इन नकशों के आकार बहुत अधिक घट जाने के कारण कई तारों की आकृतियाँ यथोचित स्पष्ट नहीं हो पाई हैं। फिर भी पाठकों को इन नकशों द्वारा प्रत्येक समूह के मुख्य-मुख्य तारों को पहचानने तथा प्रत्येक समूह की सीमाएँ जानने में काफी सहायता मिलेगी, ऐसा हमें विश्वास है। [कृपया मानचित्र नं० ८ के नीचे की टिप्पणी भी देखें।]

मानचित्र नं० २

II
I
XXIV
XXIII
XXII
ययाति
शर्मिष्ठा
हंस
देवयानी
त्रिकोण
मेष
मीन
क्रान्तिवृत्त
तिमि
कुंभ
मकर
दक्षिण मीन
शिल्पा
भट्ठी

मानचित्र नं० ३

जिराफ
रथी
ययाति
देवयानी
त्रिकोण
मिथुन
मेष
वृष
मृग
मीन
तिमि
वैतरणी
शशक
भट्टी
टक
कपोत
चित्रकार
जाल

मानचित्र नं० ४

X
IX
VIII
VII
VI
सप्तर्षि
निहिका
विराट
सिंह
मिथुन
ग्वानिका
पदरा
वासुकी
दिक्चक्र
ग्वान
नौरक्ष
नौवस
नौवत
३०
२०
१०
२०
३०
४०
५०
६०

मानचित्र नं० ५

मानचित्र नं० ६

XVIII
XVII
XVI
XV
XIV
सप्तर्षि
कालिय
वीणा
मृगयाधुन
भूतेश
उत्तर किरीट
शौरी
सर्प
सर्पधर
कन्या
ढाल
तुला
धनु
क्रांतिवृत्त
वासुकी
वृश्चिक
नराश्व
दक्षिण किरीट
अग्निनी
वेदी
परकार
मयूर

मानचित्र नं० ७

XXII
XXI
XX
XIX
XVIII
शरट
कालिय
लोमश
वीणा
शौरी
उलूपी
कुंभ
गरुड
सर्प
सर्पधर
ढाल
मकर
धनु
दक्षिण मीन
दक्षिण किरीट
सिंधु
दूरदर्शक
वेदी
मयूर

मानचित्र नं० ८

इन मानचित्रो की सहायता से जिज्ञासु पाठक सहज ही आकाश का निरीक्षण कर यह पता लगा सकते है कि विविध तारा-समूहों मे कौन क्या है, किसकी कैसी आकृति है और किससे कौन-कौन-से तारे सम्मिलित है। नौसिखिए के लिए सबसे पहले पृष्ठ २४५१ पर वर्णित विधि के अनुसार ध्रुवतारे और सप्तर्षि नामक सुप्रसिद्ध तारा-समूह को पहचान लेना अधिक अच्छा होगा। तदनतर पृ० २४४८ के मानचित्र को देखकर विविध तारा-समूहो के मुख्य-मुख्य तारों को जोडने से जो आकृतियाँ बन जाती हैं, उन्हे आकाश मे खोज निकाला जा सकता है और जब विविध तारा-समूहों की आकृतियाँ पहचान ली जायँ तब पृ० २४५७ से २४६४ तक के विविध नक्शों में से किसी भी तारा-समूह विशेष को लेकर उसमे सम्मिलित तारो की अलग-अलग पहचान की जा सकती है। इस कार्य मे सहायता देने के लिए प्रत्येक नकशे के सिरे और तले पर I, II, III आदि संख्या-सूचक चिह्न दिए गए है। इन चिह्नो के अर्थ और उपयोग के लिए लेख के साथ दी गई सारिणी नं० १ और पृ० २४५३ का मैटर देखिए! ये संख्याएँ इस बात को सूचित करती है कि किसी निश्चित समय पर कौन-कौन-से तारा-समूह 'याम्योत्तर वृत्त' पर आते है। ये सब नक्शे नॉर्टन की तारा-चित्रावली के आधार पर बनाए गए है।

[कृपया मानचित्र नं० १ के नीचे की टिप्पणी भी देखें।]
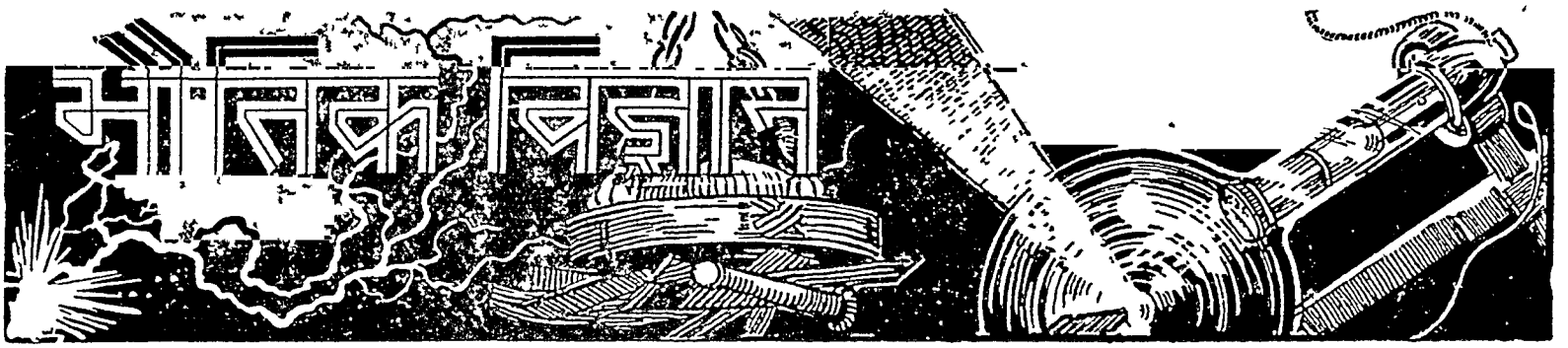
चुम्बक की अदृश्य शक्ति

ताप, प्रकाश, ध्वनि आदि की भाँति शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण रूप है—चुंबकीय शक्ति। प्रस्तुत और आगे के कुछ लेखों में हम इसी अदृश्य शक्ति के संबंध में आपको जानकारी कराने जा रहे है। संभवतः विद्युत् को छोड़कर शक्ति के विविध रूपो में अन्य कोई इतना कुतूहलजनक और रहस्यपूर्ण नहीं है!

चुम्बक की अदृश्य शक्ति हर किसी को आश्चर्य्य-चकित कर देती है। जब हम देखते हैं कि कारख़ानो मे विद्युत् चुम्बक के क्रेन नीचे झुककर ज़मीन पर पड़े हुए लोहे के विशालकाय टुकड़ो को खींचकर ऊपर उठा लेते हैं, तो हम दाँतोंतले उँगली दबाए बिना नहीं रहते। ऐसे क्रेन से न तो रस्सी लटकती है और न कोई लंगर-काँटा ही उसमे लगा रहता है कि जिसमे फँसाकर धरती पर पड़े लोहे को वह उठाए—वरन् वह केवल नीचे को झुकता है और ज्योंही वह लोहे के समीप पहुँचा कि लोहे का टुकड़ा मानो जादू के वशीभूत हो स्वयं उठकर क्रेन के चुम्बक से जा चिपटता है। तदनंतर जिधर क्रेन घुमाया जाता है, चुम्बक से चिपका हुआ लोहा भी उसके साथ-साथ उधर ही घूमता है, पर स्विच खोलने पर ज्योंही चुम्बक की शक्ति लुप्त हुई कि लोहे का टुकड़ा अपने आप उससे अलग होकर ज़मीन पर आ गिरता है। इस क्रिया मे न तो दिखाई पड़ता है और न सुनाई ही पड़ता है कि कब क्रेन के चुम्बक मे शक्ति आई और कब लुप्त हुई। इस तरीके से पानी के नीचे पड़े हुए लोहे की सन्दूक़ो को भी विद्युत् चुम्बक ग़ोता लगाकर ऊपर खींच लाते हैं।

आइए, देखें चुम्बक की इस अदृश्य शक्ति का रहस्य क्या है। किस प्रकार वह बिना किसी झंझट के, बिना तनिक भी शोर मचाए, भारी से भारी चट्टानो से लेकर सुई तक को अपनी ओर खींच लेती है।

हज़ारों वर्ष पूर्व की बात है, भेड़ चराते हुए एशिया
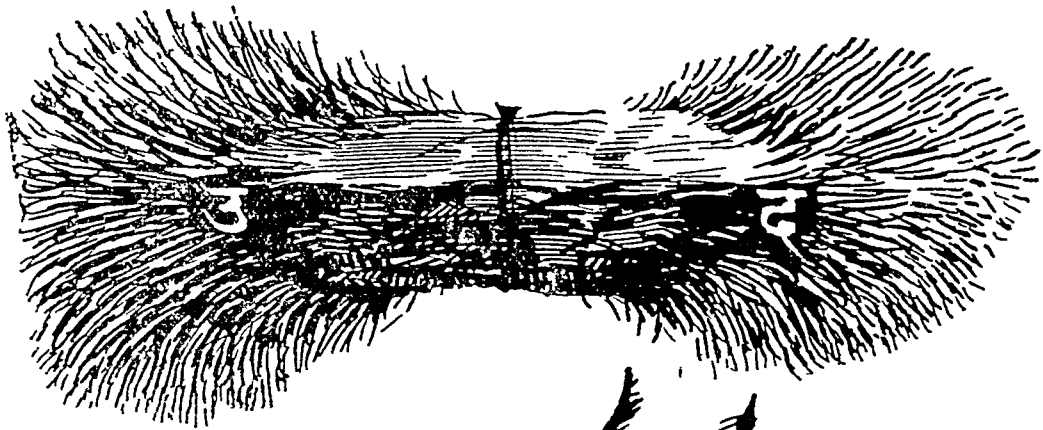
चुम्बक पत्थर (ऊपर) लोहे के बुरादे में डालकर उठाने पर उत्तरी (उ) और दक्षिणी (द) सिरों (ध्रुवो) पर काफी लौह कण चिपक जाते हैं, जब कि ठीक बीच में एक भी नहीं चिपकता। (बाईं ओर) लोहे के एक लंबे टुकड़े को चुंबक पत्थर द्वारा एक से दूसरे छोर तक रगड़ा जाय तो उसमें भी चुंबकीय शक्ति पैदा हो जाती है।
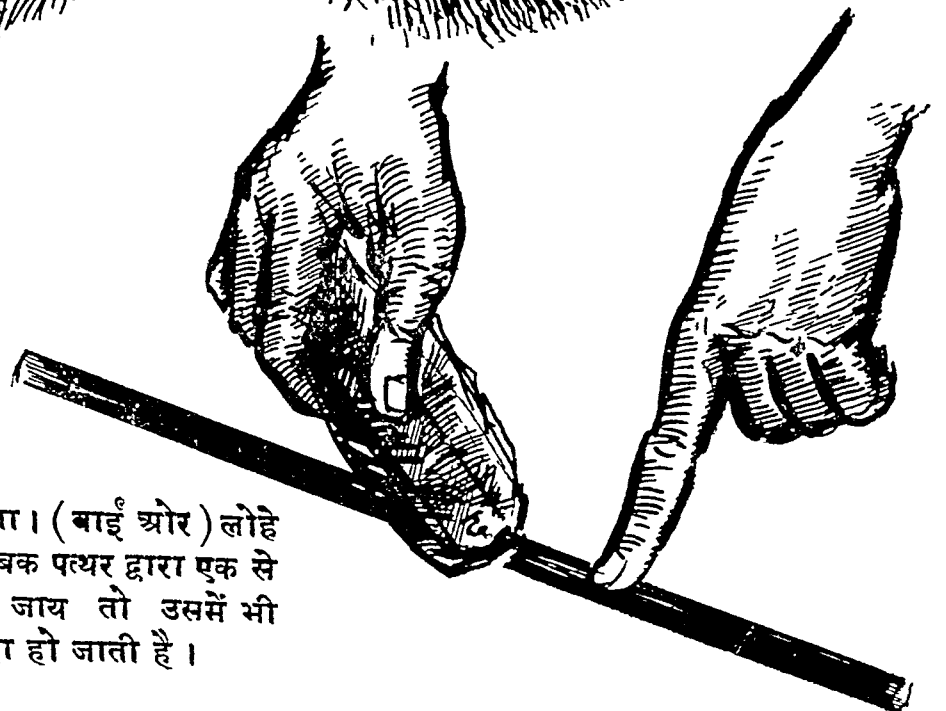
माइनर के कुछ गडेरियों ने देखा कि जगल मे उनके समीप ही पडे हुए मटमैले रग के पत्थर के कुछ टुकडों मे लोहे की कीलों को आकर्षित करने का गुण मौजूद है। निस्सदेह यह बात देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। इन्ही पत्थरो को उन्होंने चुम्बक पत्थर का नाम दे दिया। रोम के इतिहासकारों का कहना है कि जनसाधारण चुम्बक पत्थर के विशेष गुणों से प्रभावित होकर उसे 'जीवित लोहा' कहकर पुकारने लगे, क्योंकि चुम्बक पत्थर मे अधिकाश भाग लोहे की ज़ग का होता है। और इसी लोहे की जग मे ही चुबकीय आकर्षण-शक्ति मौजूद रहती है।

लह चुंबक साधारणतः दो तरह के होते है—१. चिपटे छडनुमा (दे० नीचे का चित्र), २. नाल की शक्ल के (दे० बाइ ओर का चित्र)। दोनों चित्रों मे 'उ' और 'द' उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवो को सूचित करते हैं।

सर्वप्रथम चुम्बक पत्थर का प्रयोगात्मक निरीक्षण चीन-निवासियों ने किया। इन्हीं लोगो ने इस बात का पता लगाया कि यदि चुम्बक पत्थर के एक लम्बे टुकडे को बीचोबीच से रेशम के धागे से लटका दिया जाय तो सदैव ही वह उत्तर-दक्षिण दिशा मे आकर ठहरेगा। चाहे कितनी ही बार प्रयोग क्यों न किया जाय, हर बार उसका एक खास सिरा उत्तर की ओर रहेगा और दूसरा सिरा दक्षिण की ओर। उत्तर की ओर रहनेवाला सिरा उत्तरी ध्रुव और दक्षिण वाला दक्षिणी ध्रुव कहलाता है।

यदि चुम्बक पत्थर को लोहे के बुरादे मे डालकर ऊपर उठाया जाय तो हम देखेगे कि उसके दोनो सिरो पर काफी लौह चूर्ण चिपका है, किन्तु बीच मे जरा भी नही है। इससे प्रकट है कि चुम्बक की आकर्षण-शक्ति दोनो छोर पर अधिकतम मात्रा मे होती है और ज्यो-ज्यों हम दोनों सिरो से भीतर की ओर हटते जाते हैं, आकर्षण-शक्ति कम होती जाती है, यहाँ तक कि ठीक बीचोबीच मे यह आकर्षण-शक्ति शून्य हो जाती है।

यदि हम लोहे के एक लम्बे टुकडे को लेकर चुम्बक पत्थर के एक सिरे से कई बार एक छोर से दूसरे छोर तक रगडें जैसा कि पिछले पृष्ठ के चित्र मे दिखाया गया है तो थोडी देर तक रगडने के उपरात इस लोहे के टुकडे मे भी चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में बाजारों मे मिलनेवाले मामूली चुम्बक इसी प्रकार कृत्रिम ढग से बनाए जाते हैं। इस चुम्बकीय लोहे को लटकाने पर वह भी चुम्बक पत्थर की भाँति उत्तर-दक्षिण दिशा मे स्थिर हो जाता है। इसी सिद्धान्त पर दिशासूचक यत्र की सुई दिशा बताती है। दिशासूचक की डिबिया मे चुम्बकीय लोहे की एक छोटी-सी सुई एक खड़ी कील पर बीचोबीच समतुलित रहती है। समतल धरातल पर रखने पर सुई का उत्तरी ध्रुव सदैव घूमकर उत्तर दिशा की ओर आ जाता है और दक्षिणी ध्रुव दक्षिण दिशा की ओर। दिशासूचक के आविष्कार ने ही मध्ययुग के नाविकों को यह साहस प्रदान किया था कि समुद्र-तट से हजारो मील दूर की यात्रा वे करने लगे थे और बिना भूले भटके अपने घर वापस लौट आते थे। मरुस्थल, घने वन और वृक्षहीन मैदानो मे भी दिशाज्ञान बनाए रखने के लिए इसी यत्र का प्रयोग होता है। यह आश्चर्य की बात है कि रोम और यूनान के लोग बावजूद इसके कि वे एशिया-निवासियो की तुलना मे विज्ञान मे बढ़े-चढ़े थे, चुम्बक के दिशासूचक गुण से अपरिचित रहे, जब कि चीन के लोग सैकड़ों वर्षों से दिशासूचक यत्र का उपयोग कर रहे थे। तेरहवी शताब्दी मे पहली बार
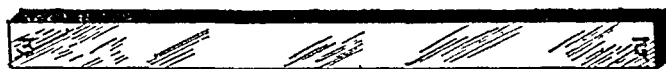
यदि किसी छड़ चुंबक को काटकर दो टुकडो मे विभाजित कर दिया जाय और उन टुकडों के पुनः दो-दो टुकडे कर दिए जायँ तो हर हालत में प्रत्येक टुकडे के सिरो पर पूर्ववत् क्रमशः उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पाए जायँगे, जिससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक चुंबक में दोनों ध्रुवों का होना अनिवार्य है।
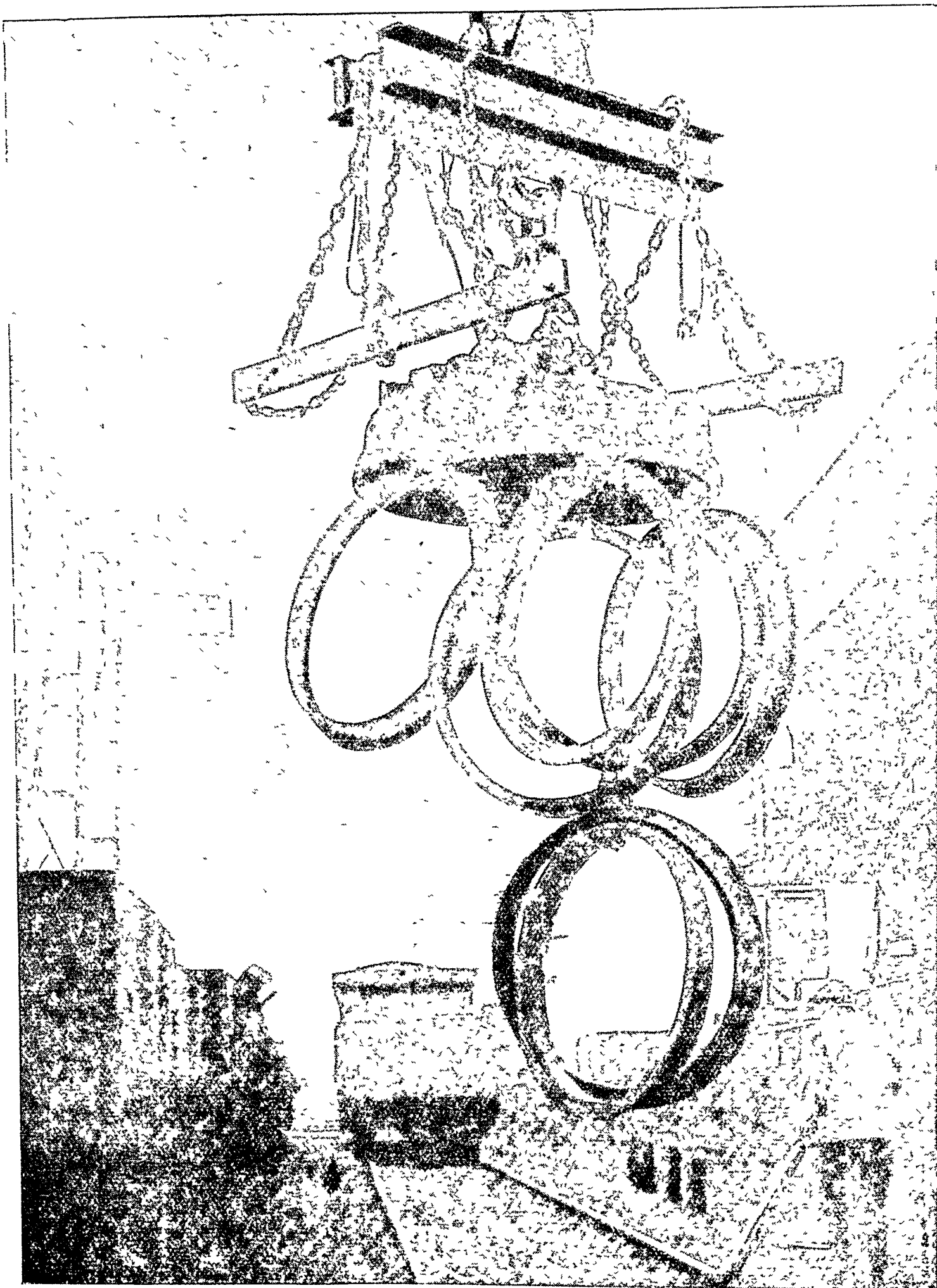
चुंबक की आश्चर्यजनक अदृश्य शक्ति का परिचय

प्रस्तुत चित्र में एक शक्तिशाली विद्युत् चुम्बक एक कारख़ाने में मनों वज़न के लोहे के कई पहियों को केवल अपनी आकर्षण-शक्ति के बल पर चिपकाकर ऊपर उठाए हुए दिखाई दे रहा है। यह चुम्बक इस प्रकार लगभग डेढ़ सौ मन वज़न उठाने की सामर्थ्य रखता है।

योरप मे यह यंत्र चीन ही से लाया गया था। लौह चुम्बक साधारणतः दो तरह के होते हैं—चिपटे छड़नुमा या घोडे की नाल की शक्ल के। नाल की शक्ल के चुम्बक अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते हैं। समान आकार के छडनुमा चुम्बक से नालवाले चुम्बक की आकर्षण-शक्ति दुगुनी अधिक होती है। इसका कारण यह है कि नाल चुम्बक मे दोनो ध्रुव एक दूसरे के निकट होते हैं, अतः दोनो की आकर्षण-शक्ति एक साथ ही काम करती है। नाल चुम्बक की शक्ति को क्षीण होने से बचाने के लिए उसके मुँह पर कच्चे लोहे का एक टुकडा लगा देते हैं, जो दोनों ध्रुवो पर ठीक-ठीक बैठ जाता है। इस लोहे के रक्षक द्वारा चुम्बक की शक्ति बँध जाती है।

छडनुमा चुम्बक और चुम्बकीय सुई के दिशा-सूचक गुण का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस सिलसिले मे आप स्वय एक मनोरजक प्रयोग कर सकते हैं। थाली मे पानी भरकर उसमे एक मोटा कार्क तैरा दीजिए। अब लोहे की एक पतली सलाख को शक्तिशाली चुम्बक से रगडकर उसमे चुम्बक-शक्ति प्रविष्ट करा लीजिए। इस सलाख को सावधानी के साथ थाली में तैरते हुए कार्क पर इस भाँति रखिए कि सलाख का मध्य भाग कार्क पर पडे। आप देखेंगे कि सलाख तुरत ही उत्तर-दक्षिण दिशा मे आ जायगी (दे० इमी पृष्ठ के चित्र का निचला भाग)।

यदि किसी छड चुम्बक को रेशम के धागे से लटकाकर एक साधारण लोहे के टुकडे को उसके दोनो सिरो के समीप ले जाएँ तो देखेंगे कि दोनो सिरे बारी-बारी से लोहे की ओर आकर्षित होते हैं। इसी गुण के अनुसार लोहे की कीलो को चुम्बक के दोनो सिरे अपनी ओर खींचकर चिपका लेते हैं। परन्तु साधारण लोहे के टुकडे को न लेकर यदि एक और छड़ चुम्बक काम मे लिया जाय तो लटके हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव के पास हाथ के चुम्बक का उत्तरी ध्रुव ले जाते ही आकर्षण के स्थान पर विकर्षण होता है और लटके हुए चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दूर हट जाता है। इसके प्रतिकूल हाथ के चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव और लटके हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव के बीच आकर्षण होता है और ये दोनो एक दूसरे से सट जाते हैं। इसी प्रकार दो दक्षिणी ध्रुवों के बीच भी विकर्षण होता है। किन्तु यदि ध्रुव असमान जाति के हुए तो इनके बीच सदैव आकर्षण होता है। अतः हम इस नियम पर पहुँचते हैं कि चुम्बक के समान ध्रुवों के बीच आकर्षण होता है और असमान ध्रुवों के बीच विकर्षण (दे० पृ० २४६६ का चित्र)।

दिशासूचक यंत्र और उसका सिद्धान्त
(ऊपर) साधारण दिशासूचक यंत्र या क़ुतुबनुमा। (नीचे) थाली में पानी भरकर उस पर तैरते हुए कार्क पर एक चुबकीय सलाख रख दीजिए। यह सलाख कार्क सहित घूमकर सदैव उत्तर-दक्षिण दिशा ही सूचित करेगी। इसी सिद्धान्त पर दिशासूचक यंत्र का निर्माण हुआ है।

प्रत्येक चुम्बक मे दोनों ध्रुवों का होना अनिवार्य है। एक छड चुम्बक को लीजिए और अन्य एक चुम्बक की सहायता से इसके दोनो ध्रुवो की जाति का निर्णय कर लीजिए कि उसका उत्तरी ध्रुव कौन है और दक्षिणी कौन। इस छड चुम्बक को बीचो-बीच से काटकर उसके दो टुकडे कर लीजिए। आप सोचते होगे कि अब एक टुकडा केवल उत्तरी ध्रुव का चुम्बक है और दूसरा केवल दक्षिणी ध्रुव का। किन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक टुकडे के दोनों सिरो पर पूर्ववत् उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव क्रमशः मौजूद होगे। इसी प्रकार चुम्बक के चाहे कितने ही टुकडे क्यों न कर डाले जायँ, प्रत्येक टुकडा एक पूर्ण चुम्बक होगा—प्रत्येक मे दोनो ध्रुव मौजूद होगे (दे० पृ० २४६६ का निचला चित्र)।

इस स्थल पर यह बता देना आवश्यक है कि विशेष परिस्थितियो मे ऐसे चुम्बक भी बनाए जा सकते हैं, जिनमे न उत्तरी ध्रुव हो न दक्षिणी। लोहे के एक मोटे छल्ले मे चुम्बकीय शक्ति प्रविष्ट कराने पर उसमे न तो उत्तरी ध्रुव और न दक्षिणी ध्रुव का आभास मिलता है। सच तो यह है कि ऐसे छल्ले मे चुम्बक के गुण भी उस समय तक प्रकट नहीं होते, जब तक छल्ले को काटकर उसकी परिधि मे थोडी-सी खाली जगह न बना दी जाय। इस खाली जगह मे चुम्बकीय प्रभाव का अनुभव किया जा सकता है। उस समय कटे हुए छल्ले का एक सिरा उत्तरी ध्रुव और दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव बन जाता है।

प्रयोगो द्वारा ही चुम्बक की एक अन्य विशेषता का भी हम प्रदर्शन कर सकते हैं। कच्चे लोहे की कुछ छोटी-छोटी कीले लीजिए। किसी भी छड चुम्बक के छोर पर ले जाने पर इसमे की एक कील चुम्बक मे चिपक जायगी। अब दूसरी कील को समीप ले जाया जाय तो वह पहली कील के छोर पर चिपक जायगी। इस प्रकार एक
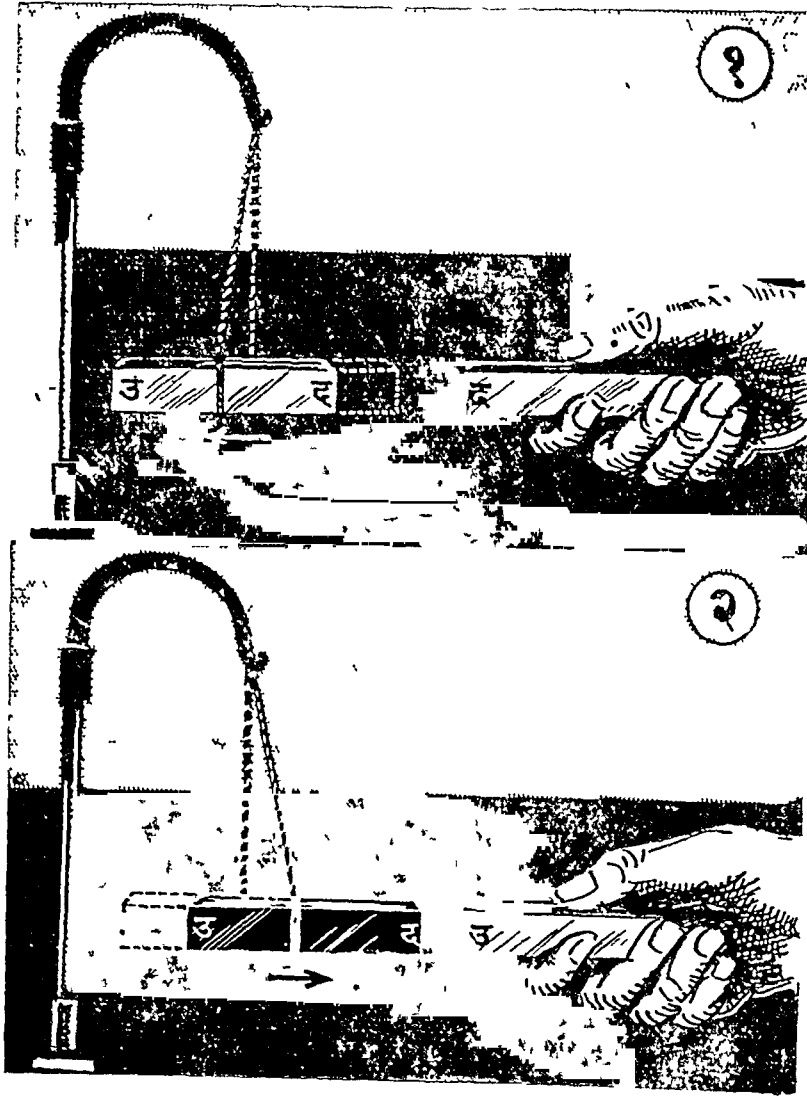
समान ध्रुवों का विकर्षण और असमान का आकर्षण

यदि किसी छड चुंबक को एक स्टैण्ड पर से रेशम के धागे द्वारा लटकाकर एक साधारण लोहे के टुकड़े को उसके दोनों सिरों के समीप बारी-बारी से ले जाया जाय तो दोनों सिरे बारी-बारी से हमे लोहे की ओर आकर्षित होते दिखाई देंगे। लोहे के बजाय एक और छड चुम्बक लटके हुए चुम्बक के समीप ले जाया जाय तो हम कुछ और ही बात होते देखेंगे। यदि हम लटकते हुए चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव के पास हाथ के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव ले जाएँ तो लटके हुए चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव दूर हट जाता है (दे० चित्र का भाग १)। इसके विपरीत यदि लटके हुए चुंबक के दक्षिणी ध्रुव के पास हाथ के चुंबक का उत्तरी ध्रुव ले जाया जाय तो वह खिचकर इसकी ओर बढ आता है और उससे सट जाता है (दे० चित्र का भाग २)। इसी प्रकार दोनों चुंबकों के उत्तरी ध्रुवों के बीच भी विकर्षण होते पाया जाता है, परन्तु यदि ध्रुव असमान जाति के हुए तो सदैव ही परस्पर आकर्षण होते देखा जाता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि समान ध्रुवों के बीच विकर्षण और असमान ध्रुवों के बीच आकर्षण होता है।

के उपरान्त दूसरी कील चिपकती जायगी और एक लडी-सी बन जायगी। यदि सबसे ऊपरवाली कील चुम्बक से छुडा ली ली जाय तो अन्य कीलो की आकर्षण-शक्ति लुप्त हो जाती है और सभी कीले अलग होकर गिर पडती है। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि कच्चे लोहे को इस्पात से बने चुम्बक के एक ध्रुव के पास ले आने पर स्वय उस कच्चे लोहे मे भी चुम्बकीय शक्ति का समावेश हो जाता है। यह चुम्बकीय शक्ति अस्थायी होती है, क्योंकि प्रधान चुम्बक के अलग हटते ही कच्चे लोहे की चुम्बकीय शक्ति भी लुप्त हो जाती है। इस ढंग से कच्चे लोहे मे चुम्बकीय शक्ति के समावेश करने की क्रिया को 'उपपादन' कहते हैं। उपपादन का असर केवल कच्चे लोहे मे ही हो सकता है, पक्के लोहे या इस्पात में नहीं। आगे चलकर हम विचार करेंगे कि ऐसा क्यों होता है। (दे० पृ० २४७० का बायाँ चित्र)

चुम्बक के चारो ओर की जगह में कुछ दूर तक उसकी शक्ति का प्रभाव भी मालूम किया जा सकता है। इस जगह को
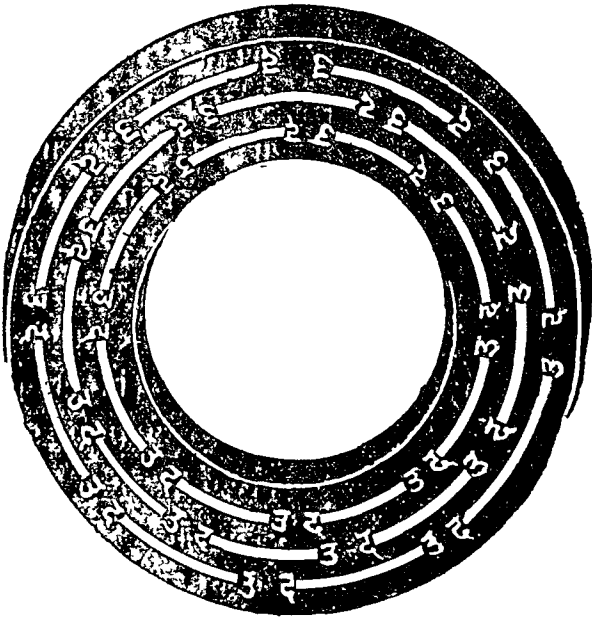
छल्लेनुमा चुंबक

विशेष परिस्थिति में ऐसे चुंबक भी बनाए जा सकते है, जिनमे न उत्तरी ध्रुव हो न दक्षिणी। यदि लोहे के एक मोटे छल्ले मे चुंबकीय शक्ति प्रविष्ट कराई जाय, तो उसमें न उत्तरी ध्रुव न दक्षिणी ध्रुव ही स्पष्ट होगा और न लौह कणों की सहायता से उसका चुंबकीय क्षेत्र ही हम जान पाएँगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे चुंबक में वस्तुतः चुंबकीय शक्ति सामान्य चुंबक की शक्ति से पथक् जाति की हो। दरअसल उसके भीतर लोहे के अणु अनगिनत उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों से युक्त छोटे-छोटे चुंबकों के रूप में उसी प्रकार वर्तुलाकार व्यवस्थित रहते हैं जैसा कि इस चित्र में प्रदर्शित है। यदि ऐसे छल्लेनुमा चुंबक की परिधि का कुछ अंश काट दिया जाय तो फौरन् ही उस खाली जगह मे चुंबकीय शक्ति का प्रभाव जाना जा सकता है। उस दशा मे कटे हुए छल्ले का एक सिरा उत्तरी और दूसरा दक्षिणी ध्रुव बन जायगा।

उस चुम्बक का 'चुम्बकीय क्षेत्र' कहते हैं। चुम्बकीय क्षेत्र मे सब ठौर चुम्बक की आकर्षण-शक्ति एक-सी नहीं होती। ध्रुवों के निकट चुम्बकीय क्षेत्र अधिक प्रबल होता है और ध्रुवों से दूर हटने पर उक्त क्षेत्र की शक्ति क्षीण हो जाती है। प्रयोग के लिए कागज़ पर एक शक्तिशाली लौह छड़ चुम्बक को रखकर उसके चारों ओर समान रूप से लौह चूर्ण बिखरा दीजिए और अब कागज़ पर उँगली से धीरे-धीरे आघात कीजिए। थोड़ी देर मे लौह चूर्ण के कण रेखाओं के रूप मे सज जायँगे। इस प्रकार दो या तीन चुम्बकों को कागज़ पर रखकर लौहचूर्ण की रेखाओं के विभिन्न डिज़ाइन प्राप्त किए जा सकते हैं (पृ० २४७१ का चित्र देखिए)। इन रेखाओं का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से पता चलता है कि ध्रुवों के निकट ये रेखाएँ सबसे अधिक घनी रहती हैं, अर्थात् ध्रुवों के निकट चुम्बक की आकर्षण-शक्ति अधिकतम है। लौह कणों की ये रेखाएँ चुम्बक की आकर्षण-शक्ति की दिशा बताती हैं तथा इनके घनेपन अथवा विरलता से क्रमशः शक्ति की अधिकता या कमी का पता चलता है। प्रत्येक शक्ति की रेखा उत्तरी ध्रुव से चलकर दक्षिणी ध्रुव तक जाती है और यह माना जाता है कि दक्षिणी ध्रुव पर चुम्बक मे प्रवेश कर वह उत्तरी ध्रुव तक पहुँच जाती है। इस प्रकार रेखा का घेरा पूरा हो जाता है। इन रेखाओं मे यह भी विशेषता है कि वे एक दूसरे को कभी नही काटती।

चुम्बक की शक्ति-रेखाओं की परिधि दिशासूचक की सुई की सहायता से भी मालूम की जा सकती है। एक नन्हा-सा दिशासूचक यत्र लेकर उसे पहले समतल कागज पर रखे हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव से छुलाइए। अब दिशासूचक की
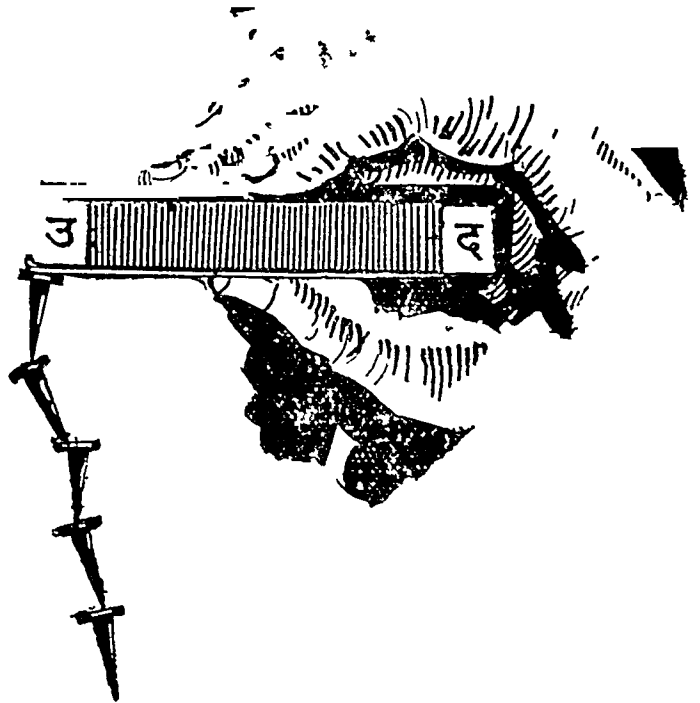
उपपादन

एक छड चुंबक और कच्चे लोहे की कुछ छोटी-छोटी कीलें लीजिए। अब इनमें से एक कील को चुबक के किसी एक छोर पर ले जाइए। वह फौरन उस पर चिपक जायगी। तदुपरांत पुनः एक कील पिछली चिपकी हुई कील के पास ले जाइए तो आप देखेंगे कि वह उस चिपकी हुई कील के छोर पर चिपक जाती है। इस प्रकार एक के उपरान्त दूसरी कील को चिपकाकर एक लडी सी बनाई जा सकती है। इस प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि कच्चे लोहे के चुबक के ससर्ग मे आने पर उसमे भी चुंबकीय शक्ति आ जाती है, क्योंकि ऊपरवाली कील का यदि चुंबक से संपर्क छुड़ा लिया जाय तो नीचे की भी सब कीलें गिर पड़ती है।

सुई का उत्तरी ध्रुव का सिरा जहाँ है, पेन्सिल से वहाँ निशान लगाकर उक्त दिशा-सूचक को इस तरह रखिए कि उसकी सुई का दक्षिणी सिरा इस बिन्दु पर पडे। इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढते चले जाइए—आप अन्त मे दक्षिणी ध्रुव पर पहुँच जायँगे। इन बिन्दुओं को मिलाने-वाली रेखा ही चुम्बक की शक्ति-रेखा होगी। इस प्रकार बहुत-सी रेखाएँ खींची जा सकती हैं। इस प्रयोग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चुम्बकीय क्षेत्र मे प्रत्येक बिन्दु पर चुम्बकीय शक्ति की विशेष और नियत दिशा होती है।

यदि किसी चुम्बक लोहे के निकट दिशासूचक की सुई रखी जाय तो चुम्बक की आकर्षण-शक्ति के कारण दिशासूचक की सुई अपनी निर्धारित उत्तर दक्षिण दिशा से ज़रा एक ओर हट जाती है। चुम्बक और दिशासूचक के बीच यदि लकड़ी या दफ़्ती या काँच की तख़्ती रखी जाय तो दिशासूचक की सुई की स्थिति मे कोई अंतर नहीं पडता, अर्थात् इन पदार्थों मे से भी होकर चुम्बक की शक्ति पूर्ववत् काम कर सकती है। यह शक्ति लगभग सभी पदार्थों में से होकर गुज़र सकती है। अनेक विद्युत् यंत्रो को निर्दोष बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन्हे आसपास के चुम्बकीय प्रभाव से सुरक्षित रखा जाय। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कच्चे लोहे के बने हुए एक घिरौंदे से उसे घेर देते हैं। निकटवर्त्ती चुम्बकीय क्षेत्र की शक्ति-रेखाएँ कच्चे लोहे के घिरौंदे मे प्रविष्ट होती हुई बाहर निकल जाती हैं, अतएव भीतर जहाँ यन्त्र रखा होता है, वहाँ नही पहुँच पाती। इसके प्रतिकूल विद्युत्-धारामापक यंत्र तथा डायनमो में यह आवश्यक होता है कि विद्युत् तारों में से होकर काफी चुम्बकीय शक्ति-रेखाएँ गुज़रें। विद्युत् तार एक नालनुमा चुम्बक के ध्रुवों के बीच छल्ले की शक्ल में रहता है। इस छल्ले के बीच की जगह मे कच्चे लोहे की एक गोली रखी होती है। चुम्बक के ध्रुवों से जो चुम्बकीय शक्ति-रेखाएँ निकलती हैं, वे लोहे की गोली के कारण एकत्र होकर गोली मे प्रविष्ट होती हैं। अतः विद्युत् तार के छल्ले मे से होकर बहुत-सी शक्ति रेखाएँ गुज़रने मे समर्थ होती हैं। इन यत्रों का विस्तृत वर्णन हम विद्युत् की व्याख्या
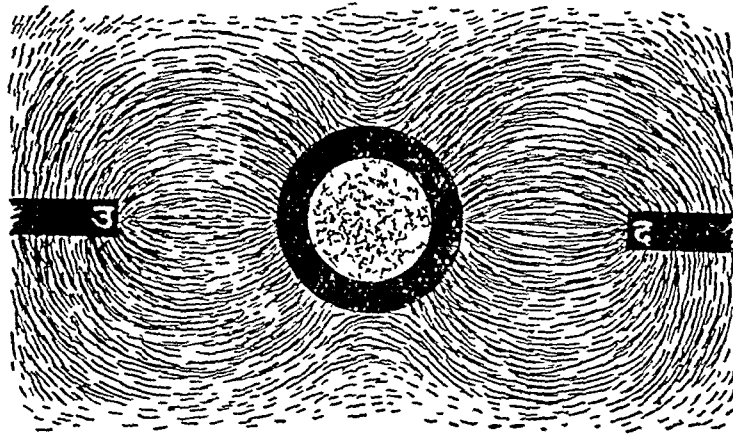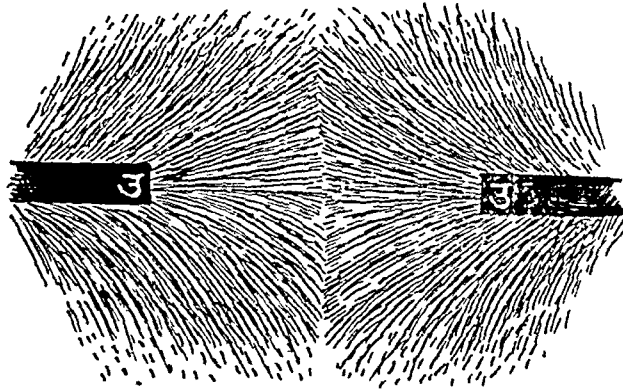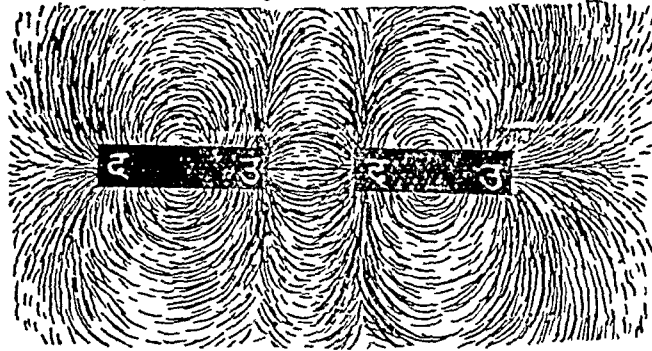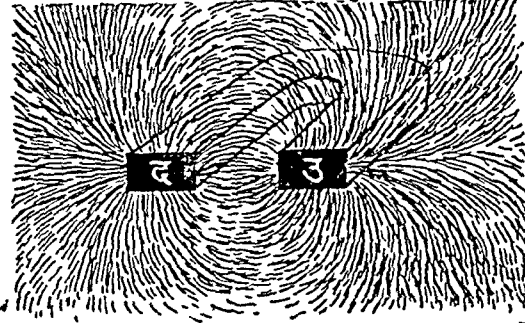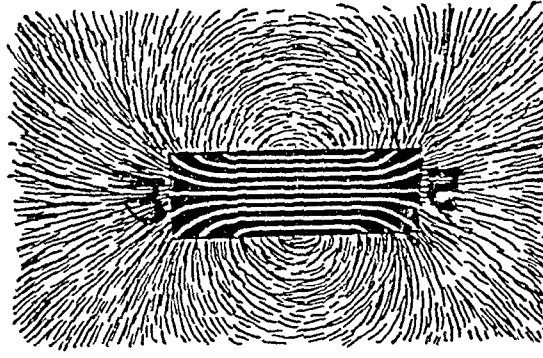
कागज़ पर लौह चूर्ण बिखेर कर विविध प्रकार के चुंबकों को विविध रीति से रखने पर लौह चूर्ण के कण अद्भुत आकृतियों में सज जाते है। चित्र में क्रमशः निम्न प्रकार के चुंबकों द्वारा लौह चूर्ण में प्रदर्शित शक्ति-रेखाएँ दिग्दर्शित है—सबसे ऊपर साधारण छड चुंबक, तदुपरांत नाल चुंबक, उसके बाद दो छड चुंबक जिनके असमान ध्रुव आमने-सामने पड़ते हों, तदनतर दो छड चुंबक जिनके समान ध्रुव आमने-सामने पडते हों और अंत में दो छड चुंबकों के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों के बीच रक्खा गया एक साधारण लोहे का छल्ला, जिसके बीच का हिस्सा चुंबकीय प्रभाव से मुक्त रह जाता है।

करते समय आगे चलकर किसी लेख मे करेंगे।

चुम्बक से सभी पदार्थ प्रभावित नहीं होते। पीतल, ताँबा, लकड़ी आदि पर चुम्बक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अवश्य लोहा चुम्बक द्वारा विशेष रूप से आकर्षित होता है। गिलट और कोबाल्ट भी कुछ अंश तक चुम्बक द्वारा आकर्षित होते हैं—ये 'पैरा-मैग्नेटिक' कहलाते हैं। इसके प्रतिकूल 'बिस्मथ', 'ऐन्टीमनी' और जस्ते पर चुम्बक का उल्टा प्रभाव पड़ता है। चुम्बक के निकट लाने पर ये दूर हट जाते हैं—आकर्षण के स्थान पर इनमे विकर्षण होता है। इस श्रेणी के पदार्थ डाय-मैग्नेटिक कहलाते हैं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पैरा-मैग्नेटिक तथा डाय-मैग्नेटिक पदार्थों पर चुम्बक का प्रभाव नगण्य मात्र ही होता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि साधारण लोहे और इस्पात पर ही चुम्बक का आकर्षण काम करता है।
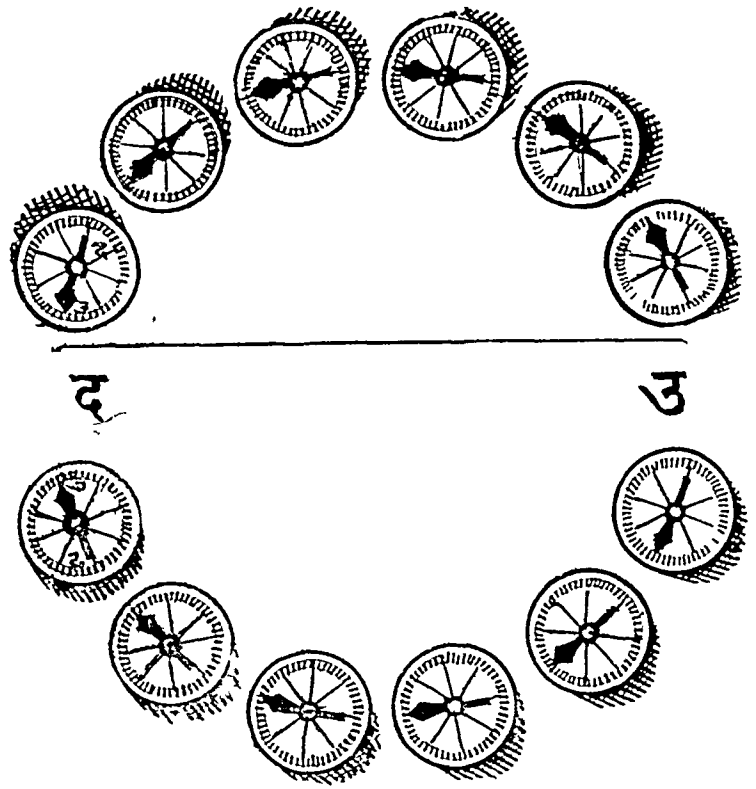
दिशासूचक यंत्र (कुतुबनुमा) द्वारा चुंवकीय शक्ति-रेखाओं के प्रभाव की जानकारी

यदि किसी छड़ चुंबक को मेज पर समतल रखकर उसके उत्तरी ध्रुव के समीप एक नन्हा-सा दिशासूचक यंत्र (कतुबनुमा) ले जाया जाय, तो स्वभावतः ही विकर्षण के फलस्वरूप कुतुबनुमा की सुई घूमकर चुंबक के सिरे से प्रतिकूल दिशा मे हो जायगी। अब कुतुबनुमा की सुई का उत्तरी ध्रुव का सिरा जहाँ हो वहाँ पेंसिल से एक निशान लगाकर कुतुबनुमा को इस प्रकार आगे हटाकर रखिए कि उसकी सुई का दक्षिणी सिरा इस निशान पर पड़े और इस स्थिति मे पुन. जहाँ पर उसकी सुई का उत्तरी ध्रुव का सिरा रहे वहाँ पर निशान लगा लीजिए। इसी तरह क्रमश. आगे बढ़ते चले जाइए, आप क्रमशः एक वर्त्तुलाकार रेखा बनाते हुए चुंबक के दक्षिणी ध्रुव पर पहुँच जायँगे और वहाँ से नीचे की ओर उसी पद्धति से आगे बढ़ने पर क्रमश. उसी प्रकार चक्कर काटते हुए आपका कुतुबनुमा चुंबक के उत्तरी ध्रुव पर वापस पहुँच जायगा। इन विविध बिन्दुओ को जोड़नेवाली रेखा ही इस छड़ चुंबक की शक्ति-रेखा होगी।

शक्ति-रेखाओं के प्रभाव से बचने के लिए कच्चे लोहे के घिरौंदे का प्रयोग

लगभग सभी पदार्थों मे से होकर चुंबकीय शक्ति गुज़र सकती है। लेकिन कच्चा लोहा एक ऐसे पर्दे का काम दे सकता है, जो चुंबकीय शक्ति-रेखाओ को किसी विशेष भाग की ओर जाने से रोककर अपना रास्ता बदलने को प्रेरित कर सकता है। उदाहरण के लिए चित्र मे 'ब' एक ऐसा ही कच्चे लोहे का छल्लेनुमा घिरौंदा है, जिसके कारण रेखाओ द्वारा सूचित शक्ति-रेखाएँ घिरौंदे 'ब' द्वारा घिरी हुई जगह 'अ' के आसपास से मुड़कर निकल गई हैं और फलत. बीच की खाली जगह 'अ' इन रेखाओ के प्रभाव से अछूती रह गई है।
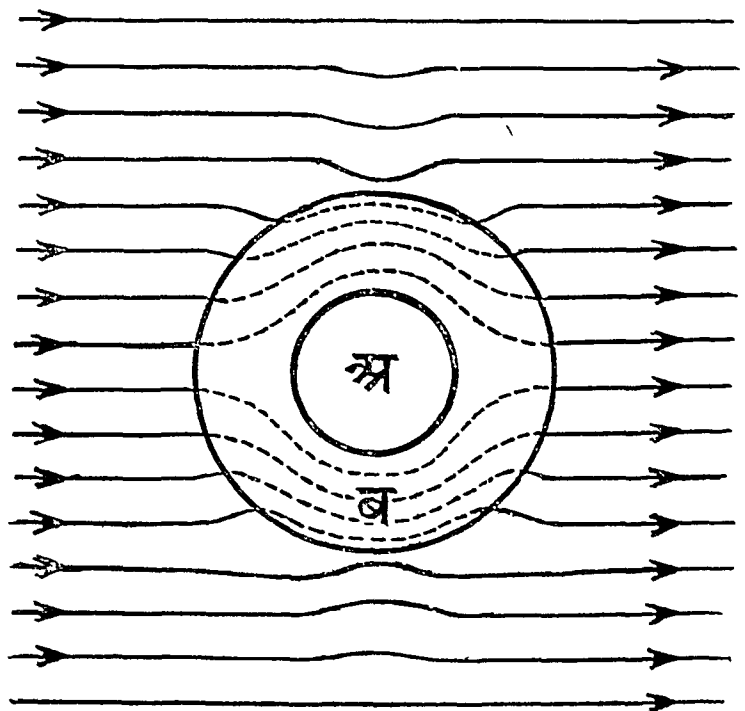
मूलतत्त्वों में कौटुम्बिक व्यवस्था

तत्त्वों के वर्गीकरण की मनोरंजक कथा

वर्गीकरण मनुष्य की एक अतःप्रवृत्ति है। अपनी वस्तुओं का विभेद और विन्यास वह स्वभावतः उनकी जाति, रूप और गुण के अनुसार करता है। जब बहुतेरे रासायनिक तत्त्वो का आविष्कार हो चुका तो उनका भी वर्गीकरण उनके पारखियो अर्थात् रसायन-शास्त्रियो द्वारा दो महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से हुआ। धातु और अधातु वर्गों के विषय मे मै पहले लिख चुका हूँ (दे० पृ० ८१४)। दूसरा वर्गीकरण, जिसे 'आवर्त्त वर्गीकरण' कहते हैं, सबसे अधिक महत्त्व का है—आधुनिक रसायनशास्त्र, वास्तव में, इसी के आधार पर सॅवारा और इसी के सॉचे मे ढला हुआ है, और आधुनिक परमाणु-रचनावाद का विकास भी इसी के सहारे हुआ है। 'मूलतत्त्वों मे सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक लेख (दे० पृ० १६८३) मे हम देख चुके हैं कि तत्त्व किस प्रकार परस्पर संयुक्त अथवा वियुक्त होते हैं। इस लेख मे हम देखेंगे कि उक्त वर्गीकरण के फलस्वरूप हमे तत्त्वो की कौटुंबिक व्यवस्था तथा सामाजिक एकता का परिचय किस प्रकार मिला है। रसायनज्ञो ने तो अपनी सुविधा के लिए इस समाज को सुव्यवस्थित रूप मे एक काल्पनिक नगरी मे बसा भी दिया है। इसी नगरी को रासायनिक भाषा मे "आवर्त्त सारिणी" (Periodic Table) कहते हैं। इसके विकास का इतिहास मनोरजक है।

आवर्त्त वर्गीकरण का विकास

सन् १८१७ मे, जबकि बहुतेरे तत्त्वों की खोज और उनके परमाणु-भारो का निर्धारण हो चुका था, जर्मन रसायनज्ञ डोबरेनर की दृष्टि कुछ समान गुणोवाले तत्त्वो और उनके परमाणु-भारो पर पडी। उसने कुछ समान तत्त्वो को तीन-तीन के वर्गो मे परमाणु-भारो के क्रमानुसार रक्खा और देखा कि बीचवाले तत्त्व का परमाणु-भार इधर-उधर के तत्त्वो के परमाणु-भारों का लगभग मध्यमाङ्क है—

क्लोरिन	ब्रोमिन	आयोडिन
३५·५	८०	१२७

$$\frac{३५·५+१२७}{२} = ८१$$

कैल्शियम	स्ट्रांशियम	बेरियम
४०	८८	१३७

$$\frac{४०+१३७}{२} = ८८$$

गधक	सेलोनियम	टेलूरियम
३२	७६	१२८

$$\frac{३२+१२८}{२} = ८०$$

डोबरेनर का यह "त्रितय का नियम" केवल एक आकस्मिक निरीक्षण-मात्र था और सभी तत्त्वो मे लागू न होता था, अतएव उसकी ओर अधिक ध्यान नही दिया गया। तथापि बहुतों के मन मे यह अवश्य आया कि कदाचित् यह नियम किसी महत्वपूर्ण सामान्य नियम का अशमात्र होगा।

छियालीस वर्ष बाद सन् १८६३ में न्यूलैंड्स नामक एक अंग्रेज़ रसायनज्ञ ने तत्त्वों और उनके परमाणु-भारो के संबध मे एक विचित्र बात देखी। वह यह कि यदि तत्त्व बढते हुए परमाणु-भारो के क्रम से लगा दिए जायँ, तो प्रत्येक आठवॉ तत्त्व पहले का पुनरूप होता है, उसी प्रकार जैसे संगीत मे सात स्वरो स, रे, ग, म, प, ध, नी, के बाद आठवॉ स्वर फिर स होता है। जड तत्त्वो के गुणो मे भी संगीत के स्वरो का क्रम! इसे खोजकर न्यूलैंड्स का हृदय आह्लाद से खिल उठा होगा। उसने इसका

नाम "अष्टक का नियम" रक्खा। उसके पहले तीन 'अष्टक" इस प्रकार थे—

H	Li	Be	B	C	N	O
F	Na	Mg	Al	Si	P	S
Cl	K	Ca	Cr	Ti	Mn	Fe*

न्यूलैंड्स के समय मे अनेक तत्त्वो के परमाणु-भार ठीक-ठीक निर्धारित नहीं हो सके थे, और बहुतेरे तत्त्व खोजे भी न जा सके थे, अतएव उसे अपने तीसरे अष्टक मे तीन तत्त्वों (Cr, Mn, और Fe) को ऐसे स्थानों में रखना पड़ा जो, वास्तव मे, उनके न थे। गुणों भी ये तत्त्व अपने ऊपरवाले तत्त्वों के सदृश न थे। शेष तत्त्वों से आगे के "अष्टकों" को सफलतापूर्वक बनाना तो न्यूलैंड्स के लिए टेढी खीर हो गई। खड़ी पक्तियों में तीन तत्त्वों के बाद चौथा समान तत्त्व बैठता ही न था। वह कितना परेशान हुआ होगा! तथापि उसने अपने इस नए नियम के विषय मे 'केमिकल न्यूज' नामक पत्र मे एक लेखमाला प्रकाशित की। सन् १८६६ मे न्यूलैंड्स ने लंदन रासायनिक परिषद् (London Chemical Society) की एक बैठक के समक्ष अपना "अष्टक का नियम" नामक लेख पढा। श्रोताओं में से एक प्रो० जी० सी० फॉस्टर नाम के सज्जन अपनी कुरसी पर से उठ खडे हुए और पूछने लग गए कि क्या वक्ता महोदय ने कभी तत्त्वों को उनके प्रथम अक्षरों के क्रम से भी लगाने का प्रयत्न किया है? बर्लिंग्टन हाउस दर्शकों के अट्टहास से गूँज उठा। न्यूलैंड्स के गभीर प्रयत्नो का ऐसा निर्दय उपहास!—वह झेंप गया और ऐसा कटा कि उसने अपने प्रयत्नो को आगे बढाने का विचार ही त्याग दिया। लदन केमिकल सोसाइटी ने न्यूलैंड्स के लेख को अपने मुखपत्र मे प्रकाशित करने तक से इनकार कर दिया था। न्यूलैंड्स के लेख का उचित मूल्य तभी आँका जा सका जब इक्कीस वर्ष बाद उसे रॉयल सोसाइटी ने उसी "अष्टक के नियम" पर डेवी-पदक प्रदान किया। इस पदक को प्राप्त करना बड़े भारी सम्मान की बात थी।

लदन केमिकल सोसाइटी की उपर्युक्त ऐतिहासिक बैठक के तीन ही वर्ष बाद यानी १८६६ मे रूस के महान् रसायनज्ञ तथा पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मेण्डलिएफ ने न्यूलैंड्स के वर्गीकरण को व्यापक रूप देकर प्रकाशित किया। न्यूलैंडस सगीत के सप्तस्वरों के मोहजाल में व्यर्थ ही फँसकर अधकार मे भटकने लगा था। मेण्डलिएफ उससे मुक्त रहा। उसने सारे मूलतत्त्वों को उनके गुणो को ध्यान मे रखते हुए परमाणु-भारों के क्रम से रक्खा और देखा कि कतिपय निश्चित अतरालों के पश्चात् उनमे वही भौतिक और रासायनिक गुण पुनः प्रकट हो जाते हैं। उसने यह भी देखा कि गुणों का यह आवर्त्तन न्यूलैंड्स के 'अष्टकों' अर्थात् सात-सात तत्त्वों के बाद और फिर सत्रह-सत्रह तत्त्वों के बाद होता है। प्रत्येक सत्रह तत्त्वों की श्रेणी को उसने तीन-तीन टुकड़ियों मे बॉट दिया—

(१) सात तत्त्वों की पहली टुकड़ी, जो 'अष्टकों' के समान थी।

(२) तीन तत्त्वों की दूसरी टुकड़ी, जो परस्पर परमाणु-भारों में लगभग बराबर और गुणों में एक-से थे।

(३) सात तत्त्वों की तीसरी टुकडी, जिसके तत्त्व भी 'अष्टकों' के समान थे।

मेण्डलिएफ ने पहली टुकडी के सात तत्त्वों को अपने-अपने स्तभों मे बाईं ओर और तीसरी टुकड़ी के तत्त्वों को क्रमशः उन्हीं स्तभों मे दाहिनी ओर रक्खा। आवर्त्त सारिणी को देखने से यह क्रम स्पष्ट हो जाता है। आश्चर्य तो यह था कि एक ही स्तभ मे अलग-अलग पंक्तियों मे रक्खे हुए तत्त्व गुणों में परस्पर बहुत मिलते जुलते थे।

इस प्रकार मेण्डलिएफ ने स्पष्ट कर दिया कि समस्त तत्त्वों के गुणों और परमाणु-भारो मे एक प्रगाढ़ आवर्त्त संबंध विद्यमान है। उसने इसका नाम 'आवर्त्त नियम' रक्खा, जो संक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया जाता है—'तत्त्वो के गुण उनके परमाणु-भारों के आवर्त्तसस्कार होते हैं।' इस नियम के क्रम से मेण्डलिएफ ने तत्त्वों की जो सारिणी तैयार की वह "आवर्त्त सारिणी" कहलाई। इसी सारिणी का परिवर्द्धित और सशोधित रूप, जो पृ० २४७७ पर दिया गया है, आज भी प्रयुक्त हो रहा है। रसायनज्ञों का ध्यान तुरत ही मेण्डलिएफ के इस महान् आविष्कार की ओर आकर्षित हुआ। उनकी आँखें खुलीं—उन्होंने तब देखा कि न्यूलैंडस का अष्टक का नियम' मजाक नही था, एक व्यापक तथ्य को ढूँढ निकालने का सच्चा प्रयत्न था। मेण्डलिएफ के वर्गीकरण ने सारे रसायनशास्त्र मे उलट-फेर कर दिया। उसका अध्ययन तथा उसकी पाठ्य

* इनमे स अधिकतर संकेतो के पूरे नाम पृ० २२८६-८७ पर दिए जा चुके है। जो नही दिए गए है वे इस प्रकार है—

Li=लीथियम, Be=बेरीलियम, Ti=टिटैनियम, V=वेनैडियम।

पुस्तकों की रचना उसी के आधार पर होने लगी—रसायन एक सुव्यवस्थित विषय हो गया।

आवर्त्त सारिणी

मेण्डलिएफ़ के समय में कई एक मूलतत्त्वो का आविष्कार न हो सका था। ऐसे तत्त्व उसकी सारिणी मे बाद मे जोड़े गए। निष्क्रिय तत्त्वों का पूरा कुटुम्ब (दे० पृ० १४२५-१४२८) इन्हीं मे था। इसी प्रकार तीसरे वर्ग मे चौदह दुर्लभ मिट्टियो के तत्त्व और जोडे गए। इन तत्त्वो के जुड़ जाने से सारे ९२ मूलतत्त्व क्रमशः २, ८, ८, १८, १८, ३२ और ६ तत्त्वो के सात आवर्त्तों मे विभक्त हो जाते हैं। प्रथम तीन और अतिम आवर्त्त लघु और शेष तीन दीर्घ कहलाते हैं। प्रत्येक दीर्घ आवर्त्त दो-दो श्रेणियों मे विभाजित हैं। सम श्रेणियो मे दस-दस तत्त्व हैं, जिनमे अतिम तीन परमाणु-भारो तथा गुणों की समानता के कारण एक ही स्थान में स्थापित हैं। इन तीन तत्त्वों के समुदाय को संक्रमण-तत्त्व (transition elements) कहते हैं, कारण इन्ही के बाद तत्त्वो में फिर पहलेवाले तत्त्वों के-से गुण प्रकट होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, सपूर्ण सारिणी नौ स्तभो मे विभाजित है। इन्हे वर्ग कहते हैं। चौथे आवर्त्त से, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, प्रत्येक वर्ग दो उपवर्गों a और b में विभाजित हो जाता है। एक ही उपवर्ग (कुटुम्ब) के तत्त्वों मे सबसे अधिक पारस्परिक सादृश्य होता है।

आवर्त्त व्यवस्था का आविष्कारक
डी० आई० मेण्डलिएफ़
(१८३४—१९०७)

हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक सभी बानवे तत्त्वों के साथ उनकी क्रमसंख्या अंकित कर दी गई है। इसे परमाणु-सख्या कहते हैं। यदि यूरेनियम से अधिक भारी परमाणुओं का अस्तित्व संभव नही तो मूलतत्त्वों की इस मेण्डलिएफ-नगरी की जनसख्या ९२ से अधिक नहीं हो सकती। इनमे से रसायनज्ञों ने प्रकृति के गर्भ से ९० को ढूँढ निकाल लिया है, और ये मेण्डलिएफ़ की बस्ती में यथास्थान बसा दिए गए हैं। यदि आप सारे तत्त्वो की हाज़िरी ले तो आपको स्थान न० ८५ और ८७ रिक्त मिलेंगे। इनकी पूर्त्ति करनेवाले तत्त्वों का अभी तक आविष्कार नहीं हो सका है।

मेण्डलिएफ़-नगरी की सैर

आइए, अब ज़रा इस विचित्र नगरी की सैर और उसके निवासियो का निरीक्षण भी कर लिया जाय। इसके पहले कि हम इस नगरी मे घर-घर घूमे यह अच्छा होगा कि हम उसके चित्र पर विहगम दृष्टि डालकर उसकी व्यवस्था के सबध मे कुछ और बाते भी जान ले। दिशानिर्देश की सुविधा के लिए हम भौगोलिक नक़्शो की भॉति इसमे भी ऊपर नीचे और दाऍ-बाएँ चारों दिशाओं, अर्थात् क्रमशः उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, की कल्पना किए लेते हैं। आप देखते हैं कि सबसे प्रबल (विद्युत्धनीय) धातु उसके पश्चिम मे—विशेषतः उत्तर-पश्चिम की ओर, और सबसे प्रबल (विद्युत्-ऋणीय) अधातु उत्तर-पूर्व मे स्थित है। आपको अधिकतर महत्त्वपूर्ण अधातु चौथे से सातवे वर्गों मे स्थित दूसरी और तीसरी श्रेणी के प्लाटों मे बसे हुए मिल जायँगे। बात तो यह है कि जैसे हम विभिन्न श्रेणियों के तत्त्वो का क्रमशः निरीक्षण करते हुए पश्चिम से पूर्व की ओर प्रथम से सातवे वर्ग तक चलेंगे, हम देखेंगे कि उनमें धातुओ के गुणों की कमी और अधातुओं के गुणों की अधिकता होती जा रही है। मध्य मे स्थित बहुत से तत्त्वों, यथा टिन (Sn), आर्सेनिक (As), ऐण्टिमनी (Sb) आदि, मे इसीलिए धातुओं और अधातुओं दोनों के गुण मिलते हैं। ऐसे तत्त्वों को ही हम उपधातु कहते हैं। यही नही, पश्चिम से पूर्व चलते हुए यदि हम तत्त्वों के अन्य विभिन्न गुणों का भी निरीक्षण

करेंगे, तो हमें उनमें होते हुए क्रमिक परिवर्त्तन को देखकर दाँतों तले उँगली दबा लेनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ, ऑक्सिजन के प्रति इन तत्त्वों की सयोजन-शक्तियों को ले लीजिए। पहले कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य की यह सयोजन-शक्ति १, दूसरे की २, तीसरे की ३ है—अर्थात् कुटुम्ब का जो नबर, वही उसके सदस्यो की ऑक्सिजन के प्रति सयोजन-शक्ति! कितनी सुंदर व्यवस्था! प्रमाण मे हम किसी एक श्रेणी की ऑक्साइडों को पेश करके इन क्रमशः बढती हुई सयोजन-शक्तियो को प्रदर्शित किए देते हैं—

$\overset{१}{Na_2O}$, $\overset{२}{MgO}$, $\overset{३}{Al_2O_3}$, $\overset{४}{SiO_2}$, $\overset{५}{P_2O_5}$, $\overset{६}{SO_3}$, $\overset{७}{Cl_2O_7}$
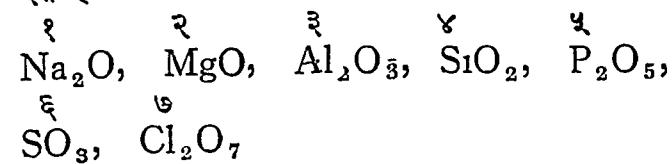
इसी प्रकार हाइड्रोजन के प्रति सयोजन-शक्ति का भी क्रमिक परिवर्तन होता है। पहले वह क्रमशः १ से ४ तक बढती और फिर क्रमशः घटकर १ हो जाती है—

$\overset{१}{NaH}$, ——*, ——*, $\overset{४}{SiH_4}$, $\overset{३}{PH_3}$, $\overset{२}{H_2S}$, $\overset{१}{HCl}$
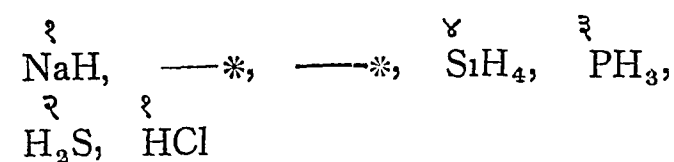
केवल संयोजन-शक्तियो मे ही नही, सभी भौतिक (घनत्व, द्रवांक, क्वथनांक, आदि) और रासायनिक गुणो मे इसी प्रकार का क्रमिक परिवर्त्तन मिलता है।

दक्षिण की अंतिम श्रेणी मे सबसे भारी (सबसे अधिक परमाणु-भार वाले) तत्त्व बसते हैं। ये तत्त्व स्वय अपने बोझ को सँभाल नही सकते, अतएव इनके परमाणु अनेक पीढियो तक निरतर खडित होते रहने के बाद अत मे स्थायी रूप से सीसा और हीलियम तत्त्वों मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस खडन-क्रिया मे उत्पन्न होती हुई शक्ति का प्रदर्शन एल्फा, बीटा, और गामा नामक तीन प्रकार की किरणों के रूप मे होता है। इन्हीं तत्त्वो को रेडियम-धर्मीय तत्त्व कहते हैं।

सबसे पूर्व की ओर शून्य नम्बर के वर्ग मे हीलियम का नवाविष्कृत निष्क्रिय कुटुम्ब स्थित है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि इन तत्त्वों की सयोजन-शक्ति शून्य होती है, अतएव इसे शून्य नबर का कुटुम्ब कहना सार्थक है। इस कुटुम्ब के तत्त्वो मे रासायनिक प्रीति होती ही नही, अतएव मेण्डलिएफ के 'यथा कर्म तथा स्थान' सिद्धात के अनुसार इस असामाजिक कुटुम्ब को बस्ती के प्रायः बाहर एक ओर बसा देना सर्वथा न्यायसंगत है।

आप देखते हैं कि इस नगरी मे ६ वर्ग तथा १६ उपवर्ग अथवा कुटुम्ब बसे हुए हैं—आठ वर्ग एक से आठ नंबर तक के और एक शून्य नम्बर का। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के स्वभावो मे साम्य मिलता है। सयोजन-शक्ति सबधी अद्भुत सादृश्य का उल्लेख मै कर चुका हूँ। जब आप किसी भी कुटुम्ब का निरीक्षण करते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर बढेगे तो देखेंगे कि उसके सदस्यों के गुणो मे कौटुबिक समानता रहते हुए भी एक क्रमिक अतर होता जाता है। हैलोजन कुटुब का वर्णन करते हुए हम इस कौटुबिक साम्य तथा क्रमिक अंतर का एक उदाहरण सविस्तार दे चुके हैं (दे० पृ० १८६५–१८७४ और पृ० १६४५–१६५२)। वास्तव मे यदि आपको किसी भी कुटुम्ब के सामान्य स्वभाव ज्ञात है, तो आप उसके प्रत्येक सदस्य के गुणो से भी परिचित हो गए हैं, या यो कहिए कि यदि आपको किसी कुटुम्ब के एक भी सदस्य के गुण मालूम हैं तो आप उस कुटुम्ब भर के प्रायः सभी सामान्य गुणों को भी बता सकते हैं। सच बात तो यह है कि यदि आप यह जान ले कि कोई तत्त्व मेण्डलिएफ-नगरी के किस प्लाट पर बसा हुआ है, तो आप उसके गुणो का वर्णन बख़ूबी कर सकेंगे। इसी तुलनात्मक सुविधा के कारण रसायन का अध्ययन अब कही अधिक सरल हो गया है। आधुनिक पाठ्य पुस्तकों मे इसी कारण किसी वर्ग अथवा कुटुब के सदस्यो का वर्णन तुलनात्मक रीति से एक ही अध्याय मे दिया रहता है।

अब हम लोग इस नगरी मे घूमकर उसके निवासियों से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करेंगे।

पहले आवर्त्त, पहली श्रेणी तथा पहले वर्ग के पहले कुटुब के पहले स्थान पर परमाणु-सख्या १, परमाणु-भार प्राय १, सयोजन-शक्ति १ और घनत्व १ वाला अद्भुत तत्त्व विराजमान है। इसका विस्तृत परिचय मै आपको पहले दे चुका हूँ (दे० पृ० २७०–२७६)। मेण्डलिएफ नगरी मे हाइड्रोजन के स्थान के विषय मे रसायनज्ञों मे

* ये दो स्थान मैग्नेशियम (Mg) और अलुमीनियम (Al) के है। हाइड्रोजन इनसे संयुक्त नही होती, किन्तु इनके कुटुम्बो के कतिपय अन्य सदस्य हाइड्रोजन के प्रति क्रमश. २ और ३ संयोजन-शक्तियो को प्रदर्शित करते है। यथा, मैग्नेशियम के कुटुम्ब का कैल्शियम, और अलुमीनियम के कुटुम्ब का लैन्थनम हाइड्रोजन से संयुक्त होकर क्रमशः कैल्शियम हाइड्राइड (CaH_2) और लैन्थनम हाइड्राइड (LaH_3) मे परिवर्त्तित होते है।

आवर्त	श्रेणी	१	२	३	४	५	६	७	८	०
			a b	a b	a b	a b	a b	a b		
१	१	१ H १·००७८								२ He ४·००२
२	२	३ Li ६·९४	४ Be ९·०२	५ Bo १०·८	६ C १२	७ N १४	८ O १६	९ F १९		१० Ne २०·१८
३	३	११ Na २३	१२ Mg २४·३	१३ Al २७	१४ Si २८·०६	१५ P ३१·०२	१६ S ३२·०६	१७ Cl ३५·४६		१८ A ३९·९४
४	४	१९ K ३९·१	२० Ca ४०·०८	२१ Sc ४५·१	२२ Ti ४७·९	२३ V ५०·९	२४ Cr ५२·०१	२५ Mn ५४·९	२६ Fe ५५·८ २७ Co ५८·९ २८ Ni ५८·७	
	५	२९ Cu ६३·५७	३० Zn ६५·४	३१ Ga ६९·७	३२ Ge ७२·६	३३ As ७४·९	३४ Se ७९·२	३५ Br ७९·९		३६ Kr ८३
५	६	३७ Rb ८५·४४	३८ Sr ८७·६	३९ Y ८८·९	४० Zr ९१·२	४१ Nb ९३·१	४२ Mo ९६	४३ Ma ९७·९	४४ Ru १०१·७ ४५ Rh १०२·९ ४६ Pd १०६·७	
	७	४७ Ag १०७·९	४८ Cd ११२·४	४९ In ११४·८	५० Sn ११८·७	५१ Sb १२१·८	५२ Te १२७·५	५३ I १२६·९		५४ Xe १३१
६	८	५५ Cs १३२·९	५६ Ba १३७·४	५७–७१ * १३८·९–१७५	७२ Hf १७८·६	७३ Ta १८१·५	७४ W १८४	७५ Re १८७·४	७६ Os १९१ ७७ Ir १९३ ७८ Pt १९५·२	
	९	७९ Au १९७·२	८० Hg २००·६	८१ Tl २०४·४	८२ Pb २०७·२	८३ Bi २०९	८४ Po २१०	८५ ?		८६ Rn २२२
७	१०	८७ ?	८८ Ra २२६	८९ Ac २२९	९० Th २३२·१	९१ Pa २३१	९२ U २३८·१	?		

[*दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व ।]

'आवर्त्त सारिणी' अथवा मूलतत्त्वों की मेण्डलिएफ-नगरी

इनमें से अधिकतर तत्त्वों के पूरे नामों का उल्लेख पृ० २२८६–८७ पर तथा इस लेख में हो चुका है । शेष इस प्रकार हैं—Y = इट्रियम, Zr = ज़रकोनियम, Nb = निओबियम, Mo = मालिब्डेनम, Ma = मैसूरियम, Hf = हैफ्नियम, Ta = टैण्टलम, Re = रीनियम, Tl = थैलियम, Po = पोलॉनियम, Ac = ऐक्टीनियम ।

बहुत मतभेद रहा है। मेण्डलिएफ तथा कुछ औरों का यह मत था कि उसे क्षारीय धातुओं (लीथियम, सोडियम आदि) के कुटुम्ब के साथ प्रथम वर्ग मे स्थान मिलना चाहिए, कारण, क्षारीय धातुओं की भॉति उसकी सयोजन-शक्ति १ है और वह एक विद्युत्धनीय तत्त्व है। दूसरों की यह राय थी कि उसे हैलोजन कुटुम्ब के साथ रखना चाहिए। इनके पक्ष मे कई तर्क थे—

(१) इस कुटुम्ब के तत्त्वों की भी सयोजन-शक्ति एक है।

(२) उसी कुटुम्ब के सदस्यों के गुणों में रहने वाले क्रमिक अतर को ध्यान में रखते हुए हाइड्रोजन का परमाणु-भार, उसकी गैसीय अवस्था, उसका रगहीन होना, तथा उसके द्रवाक, क्वथनाक आदि अन्य भौतिक गुण हैलोजन कुटुम्ब के गुणों के अनुकूल हैं, क्षारीय तत्त्वों के नहीं।

(३) हैलोजन तत्त्वों के समान हाइड्रोजन भी अ-धातु है।

(४) जिस प्रकार हैलोजन क्षारीय तत्त्वों से संयुक्त होकर क्लोराइड (यथा, सोडियम क्लोराइड $NaCl$) आदि लवण बनाते हैं, उसी प्रकार हाइड्रोजन भी उनसे सयुक्त होकर हाइड्राइडों (यथा सोडियम हाइड्राइड (NaH) का उत्पादन करता है।

(५) हैलोजनों के सदृश हाइड्रोजन विद्युत्ऋणीय गुण भी प्रदर्शित करता है। उदाहरणार्थ, द्रवित लीथियम हाइड्राइड विद्युत्-विच्छेदन द्वारा ऋणविद्युदाविष्ट हाइड्रोजन 'आयन' और धन लीथियम 'आयनों' मे विभाजित हो जाता है, जिसके कारण ये 'आयन' क्रमशः ऐनोड (धनद्वार) और कैथोड (ऋणद्वार) पर पहुँच कर विसर्जित होते हैं।

अतएव, यह निश्चित करना कठिन हो गया कि हाइड्रोजन को मेण्डलिएफ की व्यवस्था मे कहाँ पर स्थान दिया जाय। यहाँ तक कि कुछ रसायनज्ञ खीज तक उठे। रसायन के प्रसिद्ध ग्रथकार डॉ० मेलर ने तो उसे धूर्त्त तक कह डाला—मेण्डलिएफ की नागरिक योजना मे यह पाजी स्थान पाने योग्य ही नहीं, इसी कारण उसे एक ओर कोने मे डाल दिया गया है।

लेकिन बात कुछ दूसरी ही थी। हाइड्रोजन, वास्तव मे, धातुओं, अधातुओं और उपधातुओं सभी प्रकार के तत्त्वों के समान रासायनिक स्वभावों को प्रदर्शित करता है। वह वास्तव में, सभी प्रकार के तत्त्वों की मूलप्रतिमा है। सवा सौ से भी अधिक वर्ष हुए, सन १८१५ में, इगलैण्ड के एक डाक्टर, विलियम प्राउट, ने कहा था कि सभी तत्त्वों के परमाणु हाइड्रोजन के मौल परमाणु की समष्टि से बने हैं। कुछ ही वर्ष पहले डाल्टन के परमाणुवाद के द्वारा लोगों को यह विश्वास हो गया था कि परमाणु अविभाज्य और निरवयव होता है ; इसके अलावा विभिन्न तत्त्वों के परमाणु-भार हाइड्रोजन के परमाणु-भार के ठीक-ठीक अपवर्त्य भी न प्रमाणित हो सके। अतएव प्राउट का अनुमान उस समय के वैज्ञानिकों को न जॅचा। परन्तु, वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में, अर्थात् प्राउट के लगभग दो सौ वर्ष बाद, आधुनिक परमाणु-रचना-संबंधी अन्वेषणों द्वारा उसका यह अनुमान सच्चा प्रमाणित हो चुका है। हम आगे कभी देखेंगे कि हाइड्रोजन का परमाणु दो विद्युत् कणों—एक धनविद्युत् का कण (प्रोटॉन) और एक ऋण विद्युत् का कण (इलेक्ट्रॉन)—से बना हुआ है, और अन्य तत्त्वों के परमाणु इन्ही दो विभिन्न कणों के जोड़ों की विभिन्न समष्टियॉ होते हैं। अतएव जो तत्त्व दो प्रकार के मौलिक कणों में से एक एक के संयुक्त होने से बना है, और जिसके कितने ही गुणों में एक का महत्त्व विद्यमान है, उसका वर्ग न० १ और श्रेणी न० १ मे स्थान पाना बड़ा ही सामजस्यपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक परमाणु-रचनावाद की दृष्टि से हाइड्रोजन क्षारीय तत्त्वों के समान है, अतएव उसे उनके वर्ग में स्थान मिलना ही चाहिए।

तत्त्व न० २ हीलियम है, जिसके और जिसके कुटुंब के संबध मे चर्चा की जा चुकी है। इस कुटुंब के दो सदस्यों, अर्थात् आर्गन और हीलियम, की खोज के बाद रैमज़े ने देखा था कि मेण्डलिएफ की नगरी मे अभी इस कुटुंब के चार घर खाली पडे हैं। हम आपको यह बता चुके हैं (दे० पृ० १४२७) कि इन रिक्त स्थानों की पूर्त्ति किस प्रकार कर दी गई। वास्तव में, मेण्डलिएफ की व्यवस्था ने अनेक तत्त्वों की खोज मे बहुमूल्य सहायता दी है। स्वय मेण्डलिएफ ने अपनी सारिणी मे छुटे हुए रिक्त स्थानों की सहायता से पहले से ही तीन अनाविष्कृत तत्त्वों (न० २१,३१, और ३२) का नामकरण तथा उनके गुणों का वर्णन कर दिया था। इनके नाम उसने उसी वर्ग के ऊपर वाले तत्त्व के नाम के साथ सस्कृत शब्द 'एक' जोड़कर एक-बोरन, एक अलुमीनियम और एक-सिलिकन रक्खे। इन तत्त्वों का आविष्कार १८७६, १८७५, और १८८६ में क्रमशः निल्सन, बोइबाद्रॉ तथा विंक्लर द्वारा हुआ, और उनके नाम क्रमशः स्कैण्डियम, गैलियम

और जर्मेनियम रक्खे गए। आश्चर्य यह था कि उनके गुण भी प्रायः वही पाए गए, जिनका भाविकथन मेण्डलिएफ़ द्वारा हो चुका था। उदाहरणार्थ, इसी पृष्ठ के नीचे दी गई सारिणी देखिए।

मेण्डलिएफ की भविष्यवाणी इस प्रकार प्रायः अक्षरशः सत्य निकली। आप देखते हैं कि मेण्डलिएफ-नगरी में हैलोजन-कुटुम्ब का स्थान नं० ८५ और क्षारीय तत्त्वों का स्थान न० ८७ अब भी रिक्त हैं। यद्यपि इनके गुण भी प्रायः ज्ञात है, तथापि साक्षात् रूप मे वे अभी तक ढूँढ निकाले नही जा सके। उदाहरणार्थ, स्थान नं० ८५ मानों विज्ञान-जगत् को निम्न सूचना दे रहा हो:—

मेण्डलिएफ-नगरी मे हैलोजन-कुटुम्ब के सबसे बड़े सदस्य (जिसे फिलहाल आप मेण्डलिएफ की भाँति 'एक-आयोडिन' कह सकते हैं) का स्थान रिक्त है। सृष्टि में कहीं न कहीं वह अवश्य भटक रहा होगा, अतएव वैज्ञानिको को यह सुअवसर प्राप्त है कि वे उसे ढूँढ निकाले और अपने स्थान मे बसा दे। हुलिया इस प्रकार है—कोयले-सा काला, किन्तु धातुओं की भाँति चमकदार, मणिभीय;

	मेण्डलिएफ के भाविकथनानुसार एक-सिलिकन (Es) के गुण	विंक्लर (१८८६) द्वारा आविष्कृत जर्मेनियम (Ge) के गुण
१. परमाणु-भार	७२	७२·६
२. घनत्व	५·५	५·४७
३. रंग	मैला भूरा	सफ़ेद भूरा
४. पानी की क्रिया	भाप को कठिनता से विच्छिन्न करेगा	पानी को विच्छिन्न नहीं करता
५. अम्लों और क्षारों की क्रिया	अल्पमात्र	कठिनता से होती है
६. ऑक्साइड	EsO_2, सफ़ेद चूर्ण, घनत्व ४·७, धातु के फूँकने से बनेगी	GeO_2, सफ़ेद चूर्ण, घनत्व ४·७, धातु के जलाने से बनती है
७. क्लोराइड	$EsCl_4$, क्वथनांक १००° से नीचे, घनत्व १·६	$GeCl_4$, क्वथनांक ८६·५°, घनत्व १·६
८. फ़्लुओराइड	EsF_4, गैसीय न होगा	GeF_4, सफ़ेद, मणिभीय ठोस
९. कार्बनिक यौगिक यथा, इथाइड	$Es(C_2H_5)_4$, क्वथनांक १६०°, घनत्व ०·९६ (पानी से कुछ कम)	$Ge(C_2H_5)_4$, क्वथनांक १६०°, घनत्व पानी से कम
१०. तत्त्व को निकालने की विधि	ऑक्साइड अथवा पोटैशियम एक-सिलिकन फ़्लुओराइड, K_2EsF_6, पर सोडियम की क्रिया द्वारा	आक्साइड पर कार्बन और K_2GeF_6 पर सोडियम की क्रिया द्वारा

पानी मे प्रायः अघुलनशील, आपेक्षिक घनत्व लगभग ८, द्रवाङ्क लगभग २३०°C; परमाणु-भार लगभग २१७, रेडियम-धर्मीय, आयोडिन से कम क्रियाशील, हाइड्रोजन से सयुक्त होकर एक अम्लीय यौगिक बनाता है, जो अपने तत्त्वों मे विच्छिन्न हो जाता है, और सोडियम से सयुक्त होकर नमक से मिलता-जुलता यौगिक बनाता है, किन्तु इस यौगिक का द्रवाङ्क नमक के द्रवाङ्क से कम, अर्थात् लगभग ६००°C है।

कहना न होगा कि यह हुलिया इस लापता तत्त्व की परीक्षा से नही, किन्तु मेण्ड-लिएफ-सारिणी मे इसके स्थान के पास-पड़ौसी तत्त्वों के गुणों द्वारा ही अनुमानित हो सकी है। कुछ वैज्ञानिको ने इस तत्त्व के आविष्कार की रिपोर्ट दी भी है, किन्तु उसका समर्थन अब तक न हो सका है। जो वैज्ञानिक उसे खोज लेने मे सफल होगा, वह उसका नाम अपनी इच्छानुसार रक्खेगा और उसे प्रचुर यश और धन प्राप्त होगा। तत्त्व न० ८७ के गुण भी इसी प्रकार ज्ञात है, किन्तु उसकी भी खोज अभी तक न हो सकी है।

तत्त्व न० ३, लीथियम, क्षारीय तत्त्वों का प्रथम सदस्य है। इस कुटुम्ब मे परमाणु-सख्या और परमाणु-भार की वृद्धि के साथ-साथ उसके तत्त्वो की धातव प्रबलता (विद्युत्-धनीयता) बढ़ती जाती है। पानी के साथ इनकी प्रतिक्रिया द्वारा इस क्रमिक वृद्धि का प्रदर्शन किया जा सकता है। लीथियम पानी को धीरे-धीरे विच्छिन्न करके उससे हाइड्रोजन गैस निकालता है, सोडियम की यह प्रक्रिया अधिक तीव्र हो जाती है (दे० पृ० १३८), पोटैशियम की क्रिया इतनी तीव्रता से होती है कि निकली हुई हाइड्रोजन गैस स्वतः जल उठती है; रुबीडियम और सीजियम की प्रक्रियाएँ क्रमश. और भी तेज हो उठती हैं। सीजियम वास्तव मे प्रबलतम (सबसे अधिक विद्युत्-धनीय) धातु है।

नोबल-पुरस्कार-विजेता विख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक एच० जी० जे० मोज़ले (१८८७–१९१५) इस मेधावी नवयुवक ने सन् १९१३–१४ में, अपनी २६ वर्ष की तरुणावस्था में ही, परमाणु-सख्या को निर्धारित करने की प्रायोगिक विधि का आविष्कार किया, और यह सिद्ध कर दिया कि तत्त्वो के गुण परमाणु-संख्याओ के ही संस्कार होते हैं न कि परमाणु-भार के। एक ही वर्ष बाद सन् १९१५ मे वह महायुद्ध मे मारा गया, किन्तु विज्ञान के इतिहास मे वह सदैव अमर रहेगा।

तत्त्व न० ४ बेरीलियम कैल्शियम के कुटुम्ब का प्रथम सदस्य है। इसकी सयोजन-शक्ति सन् १८६६ में ३ मानी जाती थी। सयोजन-शक्ति और तुल्यभार (दे० पृ० १५३६) का गुणनफल परमाणु-भार के बराबर होता है, अतएव इस तत्त्व का परमाणु-भार ३×४'५ (बेरीलियम का तुल्यभार)=१३'५ लिया जाता था। इस परमाणु-भार के लिए मेण्डलिएफ की व्यवस्था मे कोई स्थान न था। मेण्डलिएफ ने देखा कि इस तत्त्व के गुण मैग्नीशियम और कैल्शियम के समान हैं, अतएव उसने अपने नियम के बल पर उसकी संयोजन-शक्ति को ३ से २ में अथवा यों कहिए कि परमाणु-भार को १३.५ से ९ मे बदलकर उसे कैल्शियम के कुटुम्ब मे प्रथम स्थान दे दिया। यह स्थान रिक्त भी था। उसके नियम की यह एक बड़ी भारी परीक्षा थी। परीक्षक आगे बढ़े—प्रयोग दोहराए गए और देखा गया कि वास्तव मे बेरीलियम की सयोजन-शक्ति २ ही थी, ३ नही। मेण्डलिएफ की व्यवस्था की सहायता से परमाणु-भार भी सुधारे जा सकते हैं, वैज्ञानिक यह देखकर हर्षपूर्ण आश्चर्य से चकित हो गए! ठीक इसी प्रकार इडियम (तत्त्व न० ४९) का परमाणु-भार ७६ से ११४ मे बदल कर सुधारा गया। सुवर्ण (न० ७९) और यूरेनियम (न० ९२) के परमाणु-भार भी कुछ-कुछ गलत थे, अतएव ये भी ठीक किए गए और इन तत्त्वो को अपने शुद्ध परमाणु-भारों के अनुसार सारिणी मे उचित स्थान दे दिए गए।

तत्त्व न० ५, बोरन, अलुमीनियम के कुटुम्ब का प्रथम सदस्य है। आपके जाने हुए यौगिकों, बोरीक ऐसिड

(H_3BO_3) और सोहागा (बोरक्स, $Na_2B_4O_7 \cdot 10\,H_2O$) में यह तत्त्व संयुक्तावस्था मे रहता है। तत्त्व न०६, कार्बन, चौथे वर्ग के कुटुम्ब b का प्रथम सदस्य है। इसके सबंध मे जितना कहा जाय थोड़ा है। इसकी चतुर्भुजी शक्ति की लीलाएँ अगणित और अद्भुत हैं। इन्ही लीलाओ के द्वारा वनस्पति और प्राणि-कलेवरो को रचनेवाले सहस्रो अद्भुत पदार्थों की सृष्टि संभव हो सकी है। इस कार्बन तत्त्व के २ लाख ५० हज़ार से भी अधिक यौगिक ज्ञात हो चुके हैं—शेष सब तत्त्वो के यौगिको की सख्या कुल मिलाकर भी इतनी नही है! इन्ही सब कारणो से वह मेण्डलिएफ की व्यवस्था के मध्य मे एक प्रमुख स्थान पर शान के साथ विराजमान है।

तत्त्व नं० ७, नाइट्रोजन, से लेकर न० १०, निश्रन, तक के विषय मे मैं आपको बहुत-कुछ बता चुका हूँ। न० ११, सोडियम, से लेकर नं० १८, आर्गन, तक के तत्त्व अपने पूर्ववर्त्ती तत्त्वों के प्रतिरूप हैं। न० १६, पोटैशियम, पर पहुँच-कर हम देखते हैं कि यहाँ परमाणु-भार का क्रम एकाएक भग हो गया—पोटैशियम का परमाणु-भार उसके पूर्ववर्त्ती तत्त्व आर्गन के परमाणु-भार से कम है! मेण्डलिएफ के नियम पर यह एक भारी दोषारोपण है। फिर केवल यही नही, तीन अन्य स्थानो—कोबाल्ट-निकेल (२७-२८), टेलूरि-यम-आयोडिन (५२-५३), और थोरियम-प्रोटैक्टि-नियम (६०-६१)—पर भी हमे यही दोष दृष्टिगोचर होता है। मेण्डलिएफ़ इस दोष के प्रति निरुत्तर था। वह अत तक यही कहता रहा कि इन तत्त्वो के परमाणु-भारो के निर्धारण मे ग़लती हुई है, किन्तु प्रयोगो को बार-बार दोहराने पर भी उनमें गलती न मिली। उसकी परिभाषा में कही अवश्य अभाव रह गया होगा। वास्तव मे, परमाणु-भारो से तो परमाणु-संख्याएँ ही अच्छी, जिनके विषय मे इस प्रकार के क्रम-भंग का प्रश्न ही नही उठता—और हम अभी आगे देखेंगे कि आवर्त्त नियम की आधु-निक परिभाषा मे परमाणु-सख्या ने किस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण रूप धारण करके परमाणु-भार का स्थान ले लिया है—तत्त्वों के गुण उनकी परमाणु-संख्याओं के आवर्त्त संस्कार होते हैं।

तत्त्व न० २०, कैल्शियम, चूने का धातव तत्त्व है। इसके आगे के पाँच तत्त्व—स्कैण्डियम, टिटैनियम, वैने-डियम, क्रोमियम, और मैङ्गनीज—अपने-अपने उपवर्गों (कुटुम्बों) के प्रथम तत्त्व हो गए हैं। आप देखते हैं कि इन कुटुम्बों के तत्त्व अलग करके अपने-अपने वर्गों में बाईं ओर रख दिए गए हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि तत्त्व नं० २६, २७ और २८ एक ही प्लाट पर क्यो बसा दिए गए है। इस पर बने हुए मकान को तिमंजिला ही समझिए, जिसकी मंज़िलों में क्रमशः लोहा, कोबाल्ट और निकेल रहते हैं। इसी आठवें वर्ग में दो तिमंजिले मकान और भी हैं, जिनमे तीन-तीन तत्त्व, क्रमशः रुथेनियम-रोडियम-पैलैडियम और ऑस्मियम-इरीडियम-प्लैटिनम बसते हैं।

लोहा, कोबाल्ट और निकेल नामक सक्रमण-तत्त्वों के बाद गुणो का आवर्त्तन फिर शुरू होता है। लेकिन आप देखते हैं कि अब की बार प्रथम वर्ग में आनेवाले तत्त्व, अर्थात् ताँबा, के गुण क्षारीय तत्त्वो के गुणो से बहुत भिन्न हैं। इसीलिए ताँबा इस वर्ग के दूसरे कुटुम्ब का पहला तत्त्व हो गया है—यह दूसरा कुटुम्ब इस वर्ग के दाहिनी ओर रख दिया गया है। इसके तत्त्वो—ताँबा, चाँदी और सोने—मे एक मनोरंजक समानता तो यही है कि ये तीनो तत्त्व सिक्कों तथा आभूषणों के बनाने में काम आते हैं। इसी प्रकार तत्त्व नं० ३०, जस्ता, भी अपने उपवर्ग का प्रथम तत्त्व हो गया है।

इसके बाद जब हम विभिन्न तत्त्वो का निरीक्षण करते हुए आठवी श्रेणी के तत्त्व न० ५७, लैन्थनम, के द्वार पर पहुँचते हैं, तो हमे आश्चर्य से रुक जाना पड़ता है, क्योंकि ऊपर आँख उठाकर देखिए तो एक मीनार-सदृश पंद्रह-मंजिला भवन खड़ा है! नीचे से ऊपर तक इसमें क्रमशः निम्न पद्रह विचित्र नामधारी तत्त्व बसे हुए हैं:—

परमाणु-संख्या	तत्त्व	संकेत	परमाणु-भार
५७	लैन्थनम	La	१३८·६
५८	सीरियम	Ce	१४०·१
५६	प्रेज़िओडीनियम	Pr	१४०·६
६०	निओडीनियम	Nd	१४४·३
६१	इलीनियम	Il	१४७·०
६२	सैमेरियम	Sm	१५०·४
६३	योरोपियम	Eu	१५२·०
६५	गैडोलिनियम	Gd	१५६·६
६५	टर्बियम	Tb	१५६·२
६६	डिसप्रोज़ियम	Dy	१६२ ५
६७	हॉल्मियम	Ho	१६३·५
६८	अर्बियम	Er	१६७ ६
६६	थूलियम	Tm	१६६ ४
७०	इटर्बियम	Yb	१७३·०
७१	लूटेशियम	Lu	१७५ ०

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि आवर्त्त-सारिणी में उसी श्रेणी के तत्त्वों की संयोजन-शक्ति क्रमशः १ से ८ तक बढ़ते हुए अंत में शून्य हो जाती है, परन्तु आठवें वर्ग में ऐसे तीन-तीन तत्त्व एक साथ मिले, जिनकी संयोजन-शक्ति समान थी और जिनके परमाणु-भार और गुण परस्पर इतने सदृश थे कि उन्हें एक ही स्थान पर रखना पड़ा। वेरियम के बाद एकाएक पंद्रह ऐसे तत्त्व मिले, जिनमें से प्रत्येक की संयोजन-शक्ति ३ थी और जिनके गुणों में आश्चर्यजनक सादृश्य था, अतएव इन सबको एक ही स्थान पर रखना अनिवार्य हो गया। आप देखते हैं कि इनमें से किन्हीं भी दो आनुक्रमिक तत्त्वों के परमाणु-भारों में चार इकाइयों से अधिक का अंतर नहीं। ये सारे तत्त्व, ऑक्साइड-रूप में, एक साथ मिले हुए संसार के बहुत कम स्थानों (विशेषतः ट्रावङ्कोर, ब्रेजिल और कैरोलिना) में पाई जानेवाली मोनाजाइट बालू में मिलते हैं। इसीलिए इन्हें 'दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व' कहते हैं। इन तत्त्वों के यौगिक आंशिक मणिभीकरण* द्वारा बड़ी ही कठिनाई से एक दूसरे से पृथक् किये जा सके हैं, सो भी शुद्ध रूप में नहीं—प्रत्येक में इस समुदाय के दूसरे तत्त्वों के यौगिक अशुद्धि के रूप में मिले ही रहते हैं। क्लोराइड और फ्लुओराइड लवणों के विद्युत्-विच्छेदन द्वारा ये तत्त्व स्वतंत्र रूप में निकाल लिये जाते हैं। इस प्रकार निकली हुई सीरियम नामक दुर्लभ धातु (जिसमें अल्पांशों में लैन्थनम तथा अन्य दुर्लभ धातुएँ भी मिली रहती हैं) का मनोरंजक उपयोग आपके देखने में आया होगा। इसके और लोहे के धातु-मिश्रण को "मिश्रित-धातु" कहते हैं। इस "मिश्रित-धातु" को किसी कठोर खुरदरे पृष्ठ पर रगड़ने से गर्म चिनगारियाँ निकलने लगती हैं! इसी के द्वारा सिगरेट जला देनेवाली स्वयक्रिय डिबिया तथा

इस चित्र में सर विलियम क्रूक्स की 'शून्य नली' प्रदर्शित है, जिसे मोजले ने परमाणु-संख्या के निर्धारण में प्रयुक्त किया था। इस नली से बिजली के पंप द्वारा यथासाध्य सारी गैस निकाल दी जाती है। जो थोड़ी सी गैस बच रहती है, उसका दबाव बहुत ही कम, ०·०१ मिलीमीटर से भी कम, होता है (धरती पर हवा का सामान्य दबाव ७६० मिलीमीटर होता है)। इस गैस में जब ऊँचे वोल्टेज पर एक विद्युत्-धारा विसर्जित की जाती है तो कैथोड से एक प्रकार की किरणें फूटने लगती हैं, जिन्हें 'कैथोड किरणें' कहते हैं। ये किरणें नतोदर कैथोड से चलकर एण्टी कैथोड पर एकत्रित होती हैं, जहाँ से एक दूसरे प्रकार की किरणें परावर्त्तित होने लगती हैं। इन्हीं किरणों को 'एक्स-किरणें' कहते हैं। मोज़ले ने विभिन्न तत्त्वों के बने हुए एण्टी-कैथोडों को प्रयुक्त किया और देखा कि आवर्त्त सारिणी में तत्त्वों की क्रम-संख्या (परमाणु-संख्या) जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उन पर से परावर्त्तित एक्स-किरणों की तरंगों की लम्बाई घटती जाती है। मोज़ले ने परमाणु-संख्या और लहर की लम्बाई को निम्न सूत्र द्वारा संबद्ध कर दिया :—

$$\text{परमाणु-संख्या} = \frac{\text{स्थिरांक}}{\sqrt{\text{लहर लम्बाई}}} + 1$$

विभिन्न तत्त्वों पर से परावर्त्तित एक्स-किरणों के वर्णपट से उसने लहर-लम्बाइयों को निश्चित किया और फिर इस सूत्र द्वारा परमाणु-संख्याओं की गणना कर ली। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि कैथोड किरणें ऋण विद्युत् के कणों यानी इलेक्ट्रॉनों की धाराएँ होती हैं। ये जब एण्टी कैथोड पर स्थित तत्त्व के परमाणुओं से टकराती हैं तो एक्स-किरणों का उत्पादन होता है, जिनकी लहर-लम्बाई उन परमाणुओं की आंतरिक रचना पर निर्भर होती है। एक्स-किरणों की लहर-लम्बाई साधारण प्रकाश की लहर-लम्बाई से बहुत कम होती है।

* यदि एक से अधिक मणिभीय यौगिक किसी द्रव में घुले हों, तो उसे सुखाने पर सबसे कम घुलनशील यौगिक के मणिभ सबसे पहले पृथक् होने लगते हैं। इसे आंशिक मणिभीकरण कहते हैं।

कतिपय अन्य खिलौनो का निर्माण किया जाता है।

तत्व न० ७३, टैण्टलम, और नं० ७४, टंग्स्टन, ऊँचे तापक्रमो (क्रमशः २३००°C और ३४००°C) पर गलनेवाली धातुएँ हैं। इन तत्वो में आश्चर्यजनक तांतवता तथा आघात-वर्धनीयता के गुण होते हैं—वे बाल से भी महीन ततुओ में खीचे तथा भिल्ले कागज से भी महीन बर्कों मे पीटे जा सकते हैं। कुछ समय पहले टैण्टलम से बिजली के लैंपो के तन्तु बनाए जाते थे, अब इस काम के लिए उससे भी ऊँचे तापक्रम पर गलनेवाले टग्स्टन का व्यवहार होता है। समाचारपत्रो से विदित होता है कि वर्तमान युद्ध मे टैण्टलम धातु के अद्भुत उपयोग हुए हैं। युद्ध-सबधी यत्रो तथा अस्पतालो के लिए यह तत्त्व बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। कहा जाता है कि उसके ततु से घायल सिपाहियों की कटी हुई ज्ञान-नाड़ियाँ जोड़ी जा सकी हैं, उसके पत्तरो से पेट के झोले पर पैबद लगाए जा सके हैं, और उसकी चद्दर से कृत्रिम नासिकाएँ बनाकर लगा दी जा सकी हैं। इस धातु मे मानव तंतुओ से संबद्ध हो जाने की अद्भुत क्षमता होती है।

अंतिम सक्रमण-तत्त्वो मे से दो, अर्थात् इरीडियम (७७) और प्लैटिनम (७८), का नाम आपने सुना ही होगा। इन्ही दो धातुओ के मिश्रण से फाउन्टेन-पेन के निबो का सिरा बना होता है। इन संक्रमण-तत्त्वो के बाद गुणो का आवर्त्तन फिर होता है और हमे नयी श्रेणी के तत्त्व मिलने लगते हैं। सुवर्ण (७९), पारद (८०) और सीसा (८२) आपको सुपरिचित धातुएँ हैं। तत्त्व नं० ८४, पोलोनियम, से तत्त्वों मे रेडियोधर्मी होने का गुण प्रकट होने लगता है। इस संबध मे हम फिर कभी लिखेगे।

थोरियम (९०) मिट्टी के तेल के गैस-लैंपों की बत्तियों के बनाने मे व्यवहृत होता है। ये बत्तियाँ कृत्रिम रेशम की जाली की बनी होती हैं, जो थोरियम नाइट्रेट (९९ प्रतिशत), और सीरियम नाइट्रेट (१ प्रतिशत) के घोल मे सिझाकर सुखा ली जाती हैं। आग लगने पर कृत्रिम रेशम जल जाता है, और नाइट्रेट विच्छिन्न होकर ऑक्साइडों मे परिवर्तित हो जाते हैं। थोरियम ऑक्साइड (थोरिया) और सीरियम ऑक्साइड (सीरिया) का यह बचा हुआ श्वेत मिश्रण जाली के आकार मे बच रहता है और जलती हुई गैस के ऊँचे तापक्रम पर तीव्र प्रकाश देते हुए दमकने लगता है।

यूरेनियम (९२) से भी भारी तत्त्वों का अस्तित्व संभव है अथवा नही? कदाचित नहीं! यदि यूरेनियम के आगे के तत्त्व कभी रहे होंगे भी, तो कभी के रेडियो-क्रिया द्वारा खंडित होकर लुप्त हो चुके होंगे। क्या ही अच्छा होता यदि पूरे सौ ही तत्त्व होते! किंतु प्रकृति सौ की सख्या के साथ पक्षपात नही करती।

परमाणु-संख्या—परमाणु-भार नहीं!

हम ऊपर बता चुके हैं कि आवर्त्त सारिणी के कतिपय स्थानो मे परमाणु-भारो के क्रम का भग हो जाता है, और मेण्डलिएफ इस दोष का कोई सतोषजनक उत्तर न दे सका। हमने यह भी देखा था कि इस दृष्टि से तो तत्त्वों की क्रम-संख्याएँ (परमाणु-सख्याएँ) ही अच्छी, जिनमें इस प्रकार के क्रम भग का प्रश्न ही नही उठता। वास्तव मे, आधुनिक परमाणु-रचनावाद मे आवर्त्त-सारिणी की इन्ही क्रम-सख्याओ ने परम महत्वपूर्ण अर्थ धारण कर लिया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, सारे तत्त्वो के परमाणुओ की रचना इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉनों की बराबर सख्या के विभिन्न समवायो से हुई है। इनमे से सारे प्रोटॉन और कुछ इलेक्ट्रॉन परमाणु के केन्द्रीय पिण्ड मे रहते हैं, और शेष इलेक्ट्रॉन उस केन्द्र-पिण्ड के चारों ओर विभिन्न कक्षाओं मे चक्कर लगाते रहते हैं। परमाणु की आतरिक व्यवस्था सूर्यमडल से बहुत मिलती जुलती है—केन्द्र-पिण्ड सूर्य और आसपास चक्कर लगानेवाले इलेक्ट्रॉन उसके ग्रह होते हैं। एक इलेक्ट्रॉन और एक प्रोटॉन के संयोग से एक उदासीन कण 'न्यूट्रॉन' बनता है, अतएव केन्द्र-पिण्ड मे सारे इलेक्ट्रॉन उतने ही प्रोटॉनों से मिलकर न्यूट्रॉनो के रूप मे हो जाते हैं, और शेष प्रोटान मुक्त रूप में रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि केन्द्रपिड के मुक्त प्रोटानों की सख्या कक्षाओं मे घूमते हुए बाहरी इलेक्ट्रॉनो की संख्या के बराबर होगी। यही संख्या तत्त्व की परमाणु-संख्या होती है। अर्थात् किसी तत्त्व की परमाणु-संख्या उसके परमाणु के केन्द्र-पिण्ड के मुक्त प्रोटानों अथवा ग्रह-इलेक्टॉनो की सख्या होती है। किसी भी तत्त्व के गुण उसके परमाणु के ग्रह-इलेक्ट्रॉनो पर ही निर्भर रहते हैं, और इन ग्रह-इलेक्ट्रॉनों की व्यवस्था उनकी सख्या अर्थात् परमाणु सख्या के अनुसार होती है। अतएव तत्त्वों के गुण परमाणु सख्या के ही आवर्त्त सस्कार होते हैं, परमाणु-भार के नही। आधुनिक आवर्त्त नियम यही है। परमाणु-भार केन्द्र पिण्ड मे रहनेवाले प्रोटॉनों का भार होता है—इलेक्ट्रॉनों का भार प्रोटॉन के भार की अपेक्षा उपेक्षणीय होता है; और चूँकि प्रोटॉन का भार इकाई होता है, इसलिए परमाणु-भार परमाणु के प्रोटॉनो की सख्या के बराबर होता है।

परमाणु संख्या का प्रायोगिक निर्धारण सबसे पहले सन् १९१३-१४ में ब्रिटिश वैज्ञानिक हेनरी ग्विन जेफ्रीज़ मोजले ने किया था । उसकी विधि का सरल वर्णन यहाँ चित्रों द्वारा कर दिया गया है । इस प्रतिभाशाली नवयुवक की कहानी बड़ी ही दुःखांत है। सन् १९१४ में महायुद्ध छिड़ा और वह लड़ने के लिए भेज दिया गया। यह जानकर कि उसका वैज्ञानिक कार्य सिपाही के कार्य से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, सन् १९१५ में उसे वापस लौट आने की आज्ञा तार द्वारा भेज दी गई, किंतु इस आज्ञा के पहुँचने के कुछ ही समय पहले गैलीपोली की खाइयों में एक तुर्की गोली द्वारा वह धराशायी हो चुका था। विज्ञान के इतिहास में लैवायशिये की मृत्यु के बाद सबसे दुःखभरी घटना यही हुई है।

मोजले ने देखा कि यद्यपि कोबाल्ट का परमाणु-भार निकेल के परमाणु-भार से अधिक है तथापि उसकी परमाणु-संख्या निकेल की परमाणु-संख्या से एक कम है। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि परमाणु-भार का क्रम-भंग होते हुए भी परमाणु-संख्या के अनुसार उन्हें सारिणी में ठीक ही स्थान मिला था। यही बात परमाणु-भारों के सिलसिले को तोड़नेवाले अन्य तत्वों में भी मिली। अब तो यहाँ तक सिद्ध हो चुका है कि एक ही तत्व के परमाणु विभिन्न भारों के हो सकते हैं, किन्तु उनकी परमाणु-संख्या सदैव वही रहेगी। एक ही तत्व के विभिन्न परमाणु-भारों के रूपों को समस्थानीय तत्व कहते हैं। यह भी संभव है कि तत्व विभिन्न हों, अर्थात उनकी परमाणु-संख्याएँ भिन्न-भिन्न हों, तथापि परमाणु-भार एक ही हों, ऐसे तत्वों को समभारीय तत्व कहते हैं। परमाणुओं और परमाणु-रचना के विषय में हम फिर कभी लिखेंगे।

ऋण और धन विद्युत् कणों से विश्व के सारे पदार्थ का निर्माण हुआ है, और इन कणों के समूह परमाणु-रूप में, भिन्न-भिन्न परमाणु-संख्याओं के कारण ही, अगणित प्रकार के गुणों को प्रकट करते हैं। अतएव किसी ने ठीक ही कहा है कि विश्व में सबसे अधिक सारगर्भित स्थिरांक परमाणु-संख्याएँ ही हैं।

परमाणु रचना से परिचय प्राप्त करने के बाद आप देखेंगे कि मेण्डलिएफ की आवर्त्त-सारिणी परमाणुओं की बनावट का केवल एक चित्र-मात्र है। सारिणी की क्रम-संख्याओं का अर्थ आपको विदित हो ही चुका है, आपको यह भी ज्ञात होगा कि किसी वर्ग का नम्बर केवल इस बात को सूचित करता है कि उसके सदस्यों के परमाणुओं की सबसे बाहरी कक्षा में कितने इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं। और चूँकि रासायनिक गुण प्रायः सबसे बाहरी कक्षा में रहनेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या पर निर्भर रहते हैं, इसीलिए एक ही वर्ग के तत्त्वों के गुणों में समानता होती है। आप यह भी देखेंगे कि विभिन्न ग्रह-कक्षाओं में रह सकनेवाले इलेक्ट्रॉनों की अधिकतम संख्याएँ और सारिणी के विभिन्न आवर्त्तों के तत्त्वों की संख्याएँ एक ही हैं—गुणों का आवर्त्तन अब रहस्य नहीं एक स्पष्ट तथ्य है।

मोजले की एक्स-किरणों के कुछ वर्ण-पट

मोज़ले ने एक्स-किरणों को मणिभ-पृष्ठ से परावर्तित करके वर्ण-पटों में विश्लिष्ट कर दिया और उनके फोटोग्राफ ले लिये। प्रत्येक तत्व के वर्णपट में सबसे कम लहर लम्बाईवाली दो-दो रेखाएँ मौजूद थीं—एक चटक और दूसरी धुँधली। इन्हें K-रेखाएँ कहते हैं। उसने चमकदार K-रेखाओं की लहर-लंबाइयाँ वर्णपट पर उनके आपेक्षिक स्थानों द्वारा निश्चित की और उन्हें सूत्र में स्थानापन्न करके तत्वों की परमाणु-संख्याओं की गणना कर ली।

पृथ्वी की कहानी

भूपृष्ठ के प्रधान खनिज

१. प्राकृतिक मूलतत्त्वों के रूप में प्राप्त

(क) अधातु—हीरा, ग्रैफ़ाइट, गंधक

(ख) अर्द्ध-धातु—आर्सेनिक (सखिया), एण्टीमनी (सुरमा), बिस्मथ

(ग) धातु—सोना, चाँदी, ताँबा, प्लैटिनम

२. सल्फ़ाइड, आर्सेनाइड आदि के रूप में प्राप्त

(क) अर्द्ध धातुओं के—रीलगर, स्टिब्नाइट, बिस्मथाइट, टेट्राडायमाइट, मोलिब्डेनाइट

(ख) धातुओं के—अर्जेण्टाइट, गैलेना, कॉपरग्लान्स, ब्लैण्ड, सिनाबार (रक्तपारद), कोवेलाइट, ग्रीनोकाइट, मिलेराइट, निकोलाइट, पायरोटाइट, इरूबेसाइट, चाल्कोपायराइट (सोनामाखी), पायराइट्स (रूपामाखी), स्मालटाइट, कोबाल्टाइट, मार्केसाइट, मिस्पिकेल, सिल्वेनाइट

३. गंधकीय नमकों के रूप में प्राप्त

क्रिज्लेबेनाइट, बोर्नानाइट, पायरार्जाइराइट, प्राउस्टाइट, टेट्राहेड्राइट, स्टीफेनाइट, स्टेनाइट, आर्जायरोडाइट

४. हेलाइडों के रूप में प्राप्त

सेंधानमक, फ्लुओरस्पार, सिल्वाइट, क्रायोलाइट, एटेकेमाइट

५. ऑक्साइडों के रूप में प्राप्त

(क) सिलिकन के ऑक्साइड—स्फटिक या बिल्लौरी पत्थर [इसमें एगेट (गोमेदक), एमिथीस्ट (याकूत), एवेन्च्यूराइन, ब्लडस्टोन, कार्नीलियन, केट्सआइ, चाल्सीडोनी, क्राइसोप्रेज, हीलियोट्रोप, जैस्पर (सूर्यकान्त), मोकास्टोन, ओनिक्स, रॉक-क्रिस्टल, सार्ड, सार्डोनिक्स आदि कीमती मणियाँ सम्मिलित हैं], ट्रायडाइमाइट, ओपेल

(ख) अर्द्ध-धातुओं के ऑक्साइड

(ग) धातुओं के ऑक्साइड—क्यूप्राइट, जिंकाइट, मेलाकोनाइट, कोरंडम (कुरंद, जिसके अंतर्गत एस्टीरिया, एमेरी, माणिक्य, नीलम आदि सम्मिलित हैं), हेमेटाइट (लाल गेरू), इल्मेनाइट, स्पाइनेल, मैग्नेटाइट, फ्रेंक्लिनाइट, क्रोमाइट, क्राइसोबेरिल, केसिटेराइट, रूटाइल, ऐनाटेज, ब्रुकाइट, पायरोल्यूसाइट, पिचब्लैण्ड, डायस्पोर, गोएटाइट, मैंगेनाइट, लिमोनाइट, बॉक्साइट, ब्रूसाइट, प्सिलोमिलेन

६. ऑक्सिजन-सॉल्टों के रूप में प्राप्त

(१) कार्बोनेट—कैल्साइट, डालोमाइट, एङ्केराइट, मैग्नेसाइट, चैलीबाइट, रोडोक्रोसाइट, केलेमाइन, अरागोनाइट, अल्स्टोनाइट, विदेराइट, स्ट्रोन्टीएनाइट, केरुसाइट, बेरिटोकैल्साइट, पेरीसाइट, फोस्जेनाइट, मेलेकाइट, अजूराइट

(२) सिलिकेट

(क) फैल्स्पार [जिसके आर्थोक्लेज, माइक्रोक्लाइन, प्लेजियोक्लेज ये तीन वर्ग हैं; प्लेजियोक्लेज के उपवर्ग हैं—अल्बाइट ओलिगोक्लेज, ऐंडेसाइन, लेब्रेडोराइट, बायटाउनाइट, अनार्थाइट]

(ख) ल्यूसाइट, पोलक्स, पायरोक्जीन वर्ग (जिसमें एन्स्टेटाइट, हाइपरस्थीन, डायोप्साइड, ऑगाइट, एक्माइट, स्पोड्यूमीन, जेडाइट, वोलेस्टोनाइट और रोडोनाइट नामक उपवर्ग हैं), एम्फीबोल वर्ग (जिसमें अस्बेस्टॉस, नेफ्राइट, हार्नब्लैण्ड, क्रोसीडोलाइट उपवर्ग हैं), बेरिल, आयोलाइट

(ग) नैफेलीन, सोडालाइट या लैपिसलेजूली (वैदूर्य), जिरकॉन (हायेसिथ, जेसिंथ और जार्गून), थोराइट, डेनब्यूराइट, टोपाज (पुखराज), एंडेलूसाइट, सिलिमेनाइट, सायनाइट, डेटोलाइट, यूक्लेज, आदि [इस वर्ग में ३० जातियाँ हैं]

(घ) ह्यूमाइट, हेमीमार्फाइट, टूर्मलीन, स्टॉरोलाइट

(ङ) जियोलाइट वर्ग (स्टिल्बाइट आदि), अबरक (इसकी मस्कोवाइट, लेपिडोलाइट, बायोटाइट, फ्लोगोपाइट ये ४ जातियाँ हैं), क्लिंटोनाइट, क्लोराइट, सर्पेंटाइन (जहरमोहरा), टाल्क (सेलखरी), केओलिन (चीनी मिट्टी), पायरोफाइलाइट, ऐलोफेन आदि [इसमें कुल मिलाकर २४ उपवर्ग हैं]

(३) फास्फ़ेट, आर्सेनेट, नाइट्रेट, बोरेट आदि—इसमें मोनाजाइट, बेरिलोनाइट, टरक्वाइज, बोरेक्स, नाइटर (शोरा), आदि उल्लेखनीय खनिज हैं—कुल मिलाकर २४ उपवर्ग इसमें सम्मिलित किए जाते हैं

(४) सल्फ़ेट, क्रोमेट आदि - इसमें ११ उपवर्ग हैं, जिनमें सबसे उल्लेखनीय खनिज जिप्सम (हरसोंठ) है

७. हायड्रो-कार्बन यौगिकों के रूप में प्राप्त

इस वर्ग में १६ खनिज हैं, जिनमें सबसे उल्लेखनीय हैं—अंबर, पेट्रोलियम (मिट्टी का तेल), एस्फाल्टम्, बिट्यूमेन, कोयला, ऐन्थ्रेसाइट, जेट और लिग्नाइट।

भूपृष्ठ के साधारण खनिज और उनकी पहचान-(२)

सिलिकेट-प्रधान खनिज

सिलिकेट-प्रधान खनिजों में फैल्स्पार और अबरक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खनिज हैं। इनमें भी फैल्स्पार बहुतायत से पाए जाते हैं। नीचे इन्हीं खनिजों का वर्णन हम करने जा रहे हैं।

फैल्स्पार (Felspar)—यह खनिज परिवार मुख्यतः पोटेशियम, सोडियम आदि खार, तथा अल्युमिनियम धातु के संयुक्त सिलिकेटों के रूप में पाए जानेवाले खनिजों से मिलकर बना है। इस परिवार में सेल्सियन (Celsian), हायलोफेन (Hyalophane), आर्थोक्लेज (Orthoclase), माइक्रोक्लाइन (Microcline), एनआर्थोक्लेज (Anorthoclase), सोडा आर्थोक्लेज, अल्बाइट (Albite), आलीगोक्लेज (Oligoclase), ऐंडेसाइन (Andesine), लेब्रेडोराइट (Labradorite) तथा अनार्थाइट (Anorthite) आदि खनिज सम्मिलित हैं। परन्तु फैल्स्पार परिवार को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—प्रथम आर्थोक्लेज, जो पोटेशियम-अल्युमिनियम का सिलिकेट है [इसका सूत्र $KAlSi_3O_8$ है]; दूसरा माइक्रोक्लाइन, जो रासायनिक रचना में आर्थोक्लेज के समान ही होता है, परन्तु अणुरचना की विभिन्नता के कारण जिसके रवों की रचना आर्थोक्लेज़ से भिन्न होती है; तीसरा प्लेजियोक्लेज (Plagioclase), जो सोडियम-अल्युमिनियम-सिलिकेट तथा कैल्शियम-अल्युमिनियम-सिलिकेट का संयुक्त रूप है। [इसका सूत्र $NaAlSi_3O_8 - CaAlSi_3O_8$ है]।

फैल्स्पार की कठोरता ६ है। आपेक्षिक घनत्व पोटाश फैल्स्पार का २·५४ से २·५७ तक और सोडा फैल्स्पार का २·६२ से २·७६ तक होता है। इसके रवों में दो दिशाओं में तड़क होती है। तड़क की दिशा एक दूसरे के समकोण होती है। फैल्स्पार के रवे स्फटिक के रवों के ही समान होते हैं, फिर भी अपनी कठोरता और तड़क की विशेषता के कारण वे शीघ्र ही पहचाने जाते हैं। साधारण अम्लों में यह खनिज घुलनशील नहीं है।

आर्थोक्लेज फैल्स्पार ग्रेनाइट (Granite) नामक शिला का विशेष अंश है। अन्य आग्नेय तथा परिवर्तित शिलाओं में भी यह पाया जाता है। इसका रंग सफेद, लाल, गुलाबी और भूरा होता है। कभी-कभी, परन्तु बहुत कम, हरे रंग का भी आर्थोक्लेज मिलता है। खरोंच सभी रंग के प्रतिरूपों की सफेद होती है। विशेष आभा अथवा रंग के कारण भी किसी-किसी प्रतिरूप का विशेष नाम रख लिया गया है। एक विशेष रंगविहीन जाति के फैल्स्पार को अडुलेरिया (Adularia) कहते हैं। मोती-सदृश आभावाले खनिज को चन्द्रमणि (Moonstone) कहते हैं। एक अनोखी सुनहरी आभावाले लाल रंग के आर्थोक्लेज फैल्स्पार को मर्चिसोनाइट (Murchisonite) कहते हैं।

माइक्रोक्लाइन और आर्थोक्लेज के गुणों में बहुत अधिक समानता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २·५५ तथा कठोरता ६ से ६·५ तक होती है। अधिकतर इसका रंग गहरा हरा होता है, परन्तु सफेद, गुलाबी और भूरे रंग के प्रतिरूप भी पाए जाते हैं।

प्लेजियोक्लेज साधारणतः मटियाले अथवा सफेद रंग के रवों के रूप में पाए जाते हैं। इनके रवों की सतह सदैव सूक्ष्म रेखांकित होती है। इस गुण के कारण प्लेजियोक्लेज के रवे आर्थोक्लेज तथा माइक्रोक्लाइन के रवों से विभिन्न पहचाने जाते हैं। अल्बाइट, आलिगोक्लेज, ऐंडेसाइन, लेब्रेडोराइट, बाइटोनाइट तथा अनार्थाइट आदि खनिज प्लेजियोक्लेज की ही जातियाँ हैं। इनकी रचनाओं में सोडा तथा चूनेदार अणुओं की न्यूनाधिकता है।

फैल्स्पार खनिज जल और वायु की प्रतिक्रिया से केओलिन (Kaoline) नामक मिट्टी में परिवर्तित होते रहते हैं। इसी मिट्टी को चीनी मिट्टी भी कहते हैं।

नेफलीन (Nephelene)—यह खनिज भी फैल्स्पार

के समान ही रासायनिक रचना में सोडा-अल्युमिनियम-सिलीकेट ($NaAlSiO_4$) है। परन्तु इसमें सिलिका का अंश कम होता है। कभी-कभी पोटेशियम का अंश भी इसमे रहता है। यह खनिज अधिक नहीं पाया जाता। इसका प्राप्तिस्थान आग्नेय शिलाएँ हैं। परन्तु नेफलीनदार आग्नेय शिलाएँ भूपटल पर अधिक नही पाई जाती। नेफलीन का रंग फैल्स्पार के समान सफेद मटियाला या लाल होता है। स्फटिक के समान इसमे भग्न काँच की-सी चमक होती है। इसकी कठोरता ५·५ से ६ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २·५५ से २·६५ तक। इस वर्ग के खनिज भी स्फटिक के साथ किसी आग्नेय शिला में नही मिलते, क्योंकि सिलिका का बाहुल्य होने पर उस आग्नेय पिण्ड से नैफलीन के स्थान पर फैल्स्पार का बनना अधिक सम्भव है। काँच बनाने मे इस खनिज का उपयोग हो सकता है। किशनगढ, जूनागढ तथा मद्रास मे यह खनिज आग्नेय शिलाओं मे पाया जाता है।

अबरक (Mica)— फैल्स्पार के समान ही खारों और अल्युमीनियम धातु के सिलिकेटों का एक दूसरा खनिज परिवार है, जिसे अबरक या अभ्रक के नाम से पुकारा जाता है। अबरक के चमकीले पारदर्शी परतीले रूप से बहुधा सभी परिचित होंगे। इसी का चूरा अबीर के रूप मे देखने मे आता है। इस खनिज-परिवार में भी कई सदस्य हैं। परन्तु बायोटाइट (Biotite) नामक काला अबरक तथा मस्कोवाइट (Muscovite) नामक सफेद अबरक ही अधिक प्राप्य है। मस्कोवाइट तथा बायोटाइट के अतिरिक्त फ्लोगोपाइट (Phlogopite) नामक एक तीसरा अबरक भी पाया जाता है। यह पीतवर्ण होता है। आजकल अबरक का उपयोग बिजली के यन्त्रो मे बहुत होता है। इस कार्य मे सफेद और पीला अबरक ही उपयोगी होता है। काला अबरक केवल आयुर्वेदिक औषधियों के उपयोग मे आता है। सोडियम, पोटेशियम और लीथियम के अबरक बहुधा सफेद होते हैं। रगदार अबरकों मे लोहा, मैग्नीशियम आदि धातुओं का योग रहता है। सभी अबरक सोडियम, पोटेशियम, लीथियम तथा अल्युमिनियम के सिलिकेट हैं। फैल्स्पार से इनकी रासायनिक रचना मे यही विभिन्नता होती है कि इनमें जल के अणु भी मिले होते हैं। उदाहरणार्थ, मस्कोवाइट नामक पोटेशियम के अबरक का सूत्र है—$2H_2O. K_2O\ 3Al_2O_3. 6SiO_2$।

अबरकों की पहचान उनकी तडक की विशेषता से की जा सकती है, जो अन्य खनिजों मे नहीं पाई जाती। अबरक की तडक सदैव एक ही दिशा मे होती है, जिसके कारण उसको महीन परतों मे चीरा भी जा सकता है। अबरक की महीन से महीन परत भी लचकीली और नरम होती है। पारदर्शक होना इस खनिज-परिवार का दूसरा विशेष गुण है। मस्कोवाइट अबरक की कठोरता २ से २.५ तक तथा बायोटाइट की २.५ से ३ तक होती है। सभी अबरक हल्के वजनवाले होते हैं।

अबरक की गिनती साधारण शिलानिर्माणकारी खनिजो मे की जाती है और ग्रेनाइट तथा पेगमेटाइट शिलाखण्डों मे स्फटिक तथा फैल्स्पार के साथ वह बहुधा पाया जाता है। उसकी परतीली रचना तथा परतों की तडक की विशेषता से ही उसकी मोटी-मोटी तहोंवाली चट्टानो को माइका-शिष्ट (Mica schists) कहते हैं।

बिहार, उडीसा, मद्रास तथा राजपूताने मे अबरक के काफी शिलाखण्ड पाए जाते हैं।

क्लोराइट (Chlorite)—यह अबरक से मिलता-जुलता खनिज है। रासायनिक रचना मे भी यह अबरक के समान है। यह मैग्नीशियम और अल्युमीनियम का सिलीकेट है। इसका रग हरा होता है और इसकी तडक अबरक के समान होती है, परन्तु इसके परत उतने लचकीले और नम्र नहीं होते। कठोरता २ से २.५ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.६५ से २.८५ तक होता है। बहुधा इस खनिज की रचना बायोटाइट तथा अन्य खनिजों के विनाश से होती है। शिलाखण्डों में हरा रग मुख्यतः इसी खनिज के कारण होता है। इस खनिज की शिलाएँ बिहार और मद्रास प्रान्त मे मिलती हैं।

उपरोक्त सिलिकेट-प्रधान खनिजों के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण शिलानिर्माणकारी खनिज ऑगाइट (Augite), जिसे पायरोक्जीन भी कहते हैं, हार्नब्लैण्ड (Hornblend), ओलीवाइन (Olivine), जहरमोहरा या सरपैण्टाइन (Serpentine), तामरा या गार्नेट (Garnet) तथा टूर्मलीन आदि हैं। ये सब खनिज सिलिकेट हैं।

ऑगाइट (Augite)—इस खनिज को पायरोक्जीन (Pyroxene) भी कहते हैं। इसकी रचना कैल्शियम, मैग्नीशियम तथा लोहे के सम्मिलित सिलीकेट के रूप में होती है। इसमे कुछ अंश अल्युमीनियम का भी रहता है। इसका रग प्रायः काला होता है, परन्तु लकीर या खरोंच रगहीन होती है। इसके रवे आठ सीधे पहलवाले प्रिज़्म के रूप मे पाए जाते हैं। इसकी तडक दो दिशाओं मे होती है और दोनों के बीच ६०° का कोण होता है।

तड़क की दिशाएँ फलकों के समानान्तर होती हैं। इस खनिज की कठोरता ५ से ६ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.६ से ३.४ तक। इन गुणों में यह खनिज हार्नब्लैण्ड नामक खनिज से मिलता है। परन्तु हार्नब्लैण्ड के रवे चमकदार होते हैं। ऑगाइट के रवों में विशेष चमक नही होती तथा तडकने पर भी चमकविहीन ही रहते हैं।

पायरोक्जीन से रासायनिक रचना मे मिलता-जुलता परन्तु अन्य गुणो मे भिन्न एक और खनिज-परिवार होता है, जिसे एम्फीबोल (Amphibole) कहते हैं। यह कैल्शियम, मैगनीशियम, लोहा और सोडियम का सिलिकेट हैं। इस परिवार के दो सदस्य ही महत्त्व के हैं—(१) हार्नब्लैण्ड और (२) एसबेस्टॉस (Asbestos)। ये खनिज आग्नेय तथा परिवर्त्तित शिलाओ मे पाए जाते हैं। भारत मे ऐसी शिलाएँ बहुत हैं।

हार्नब्लैण्ड (Hornblend)—यह खनिज काले रग का होता है। पर कभी-कभी हरे रग का भी पाया जाता है। रवे ६ सीधे फलक वाली प्रिज्म के रूप मे पाए जाते हैं। तड़क दो दिशाओ मे होनी है। ये दिशाएँ प्रिज्म के फलक के समानान्तर होती हैं और उनके बीच ५६° या १२४° का कोण होता है। इसकी कठोरता और खरोंच ऑगाइट के समान होती है और रवे चमकदार होते हैं तथा तडकने पर भी इसके परत चमकदार ही निकलते हैं। इसके ६ फलक के रवे ऑगाइट के ८ फलकवाले रवो से इसकी पहचान करने मे मुख्य सहायता देते हैं।

एसबेस्टॉस (Asbestos)—यह भी एम्फीबोल परिवार ही का एक सदस्य है। यह रेशेदार होता है। यही इसकी सबसे बडी पहचान है और इसी कारण यह बहुमूल्य भी है। इसके रेशे साधारणतः लम्बे, पतले और लचकदार होते हैं और खनिज खण्ड को अँगुली से खरोंचकर अलग किए जा सकते हैं। यह खनिज अग्नि-प्रतिरोधक होने के कारण बहुत उपयोगी है। इसके रेशों का उपयोग रस्सी बनाने, कपड़ा बुनने तथा मोटी चादरें बनाने के लिए किया जाता है। इस खनिज के कपडो का आग बुझानेवाले लोग प्रयोग करते हैं। भारत मे यह खनिज मुंगेर जिले मे बहुत पाया जाता है। दक्षिण मे मैसूर राज्य मे भी यह काफी पाया जाता है। यह खनिज परिवर्त्तित शिलाखण्डों मे मिलता है और मैग्नीशियम का जलीय सिलिकेट है। इसी की भॉति जहरमोहरा नामक खनिज परिवार का भी एक सदस्य है, जिसके रूप और गुण इससे एकदम मिलते-जुलते हैं।

सेलखरी या टाल्क (Talc)—यह खनिज अत्यधिक चिकना और नरम होता है। यह भी अबरक की भाँति परतदार होता है, परन्तु इसके परत अलग-अलग नहीं होते। साधारणतः यह सफेद रग का होता है, परन्तु इसकी भूरी मटमैली तथा हरे रंग की जातियाँ भी पाई जाती हैं। खनिजों की कठोरता की इकाई इसी की कठोरता मानी गई है। यह नाखून से बड़ी सरलता से खरोंचा जा सकता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २.७ होता है और रासायनिक रचना देखने से पता चलता है कि यह भी मैग्नीशियम का जलीय सिलिकेट है। इसका सूत्र $3MgO. H_2O. 4SiO_2$ है। सोपस्टोन और स्टेटाइट (Soapstone & Steatite) इसकी और भी दो जातियाँ हैं। एक और भी जाति इसकी होती है, जिसे पॉटस्टोन (Potstone) कहते हैं। इस किस्म की सेलखरी बर्तन और खिलौने बनाने के काम आती है। अच्छी किस्म की सेलखरी के चूरे से चेहरे तथा बदन पर लगाने का पाउडर बनता है, जिसे टॉल्कम पाउडर (Talcum Powder) कहते हैं। काग़ज बनाने में भी सेलखरी का उपयोग होता है। भारत में यह खनिज मध्यप्रान्त में जबलपुर के पास भेड़ाघाट में, जयपुर राज्य मे, तथा बिहार और उडीसा प्रान्तों में सरायकेला, मयूरभज आदि रियासतों एव सिंहभूमि जिले मे पाया जाता है।

ज़हरमोहरा या सरपैण्टाइन (Serpentine)—यह भी सेलखरी से मिलता-जुलता एक चिकना और मोमी चमकवाला खनिज होता है। इसका रग बहुधा अगूरी हरा होता है। यह लाल, भूरा, पीला और चित्तीदार (धब्बोंवाला) भी होता है। जड़ाव के लिए इसकी शोभा निराली होती है। बहुधा इसी काम के लिए सगमरमर के साथ इसका प्रयोग होता है। इसकी रासायनिक रचना सेलखरी के समान होती है, परन्तु इसमे लोहे का अश भी रहता है। इसकी उत्पत्ति ओलीवाइन नामक खनिज पर जल की प्रतिक्रिया होने से होती है। इसका आपेक्षिक घनत्व २.५ से २.६ तक होता है और कठोरता ३ से ४ तक होती है। मद्रास और राजपूताने मे यह खनिज काफी पाया जाता है। एक प्रकार के एसबेस्टॉस के रूप मे भी यह खनिज मिलता है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

चीनी मिट्टी (Kaolin)—हम ऊपर बता चुके हैं कि फैल्स्पार नामक खनिज-परिवार पर जल और वायु की प्रतिक्रिया से एक प्रकार की खनिज मिट्टी की उत्पत्ति होती है। यह अल्युमिनियम का जलीय सिलिकेट होती

है और हम इसे चीनी मिट्टी कहते हैं। यह खनिज प्रायः सफेद रग का होता है। पीले और भूरे रंगवाली चीनी मिट्टी भी पाई जाती है। कभी कभी सफेद में लाल रग की छीट-सी मिली होती है। इसकी कटोरता २ से २.५ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.६। चीनी मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनते हैं तथा कागज और कपडे बनाने में भी वह काम आती है।

तामरा या गारनेट (Garnet)—यह भी लोहे और अल्युमिनियम का एक सम्मिलित सिलिकेट है। इसका सूत्र साधारणतः $Fe_3 Al_2 [SiO_4]_3$ होता है। लोहे और अल्युमिनियम के स्थान पर अन्य धातुएँ भी इसमे सम्मिलित रहती हैं। भिन्न-भिन्न धातुओं के सम्मिलन से विभिन्न रगों का तामरा पाया जाता है। साधारणतः तामरा का रंग लाल होता है। इसके रवे १२ या २४ फलकवाले होते हैं। इसके पारदर्शक रवे बहुमूल्य होते हैं और रत्न माने जाते हैं। इसकी कठोरता ६.५ से ७.५ तक होती है। इसकी कठोरता का उपयोग इसके चूर्ण द्वारा अन्य खनिजों को घिसने और चमकाने में होता है। औजारों पर धार धरनेवाले सान देने के पत्थर इसी खनिज के चूरे से बनते हैं।

ओलीवाइन (Olivine)—इसका रासायनिक सगठन $(MgFe)_2SiO_4$ है। यह खनिज अगूरी रग का होता है, परन्तु कभी-कभी पीला भी देखने में आता है। इसकी खरोंच रग-विहीन होती है। रवे दानेदार होते हैं। कठोरता ६.५ से ७ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व ३.२७ से ३.३७ तक होता है। यह आग्नेय शिलाओं में पाया जाता है और भारत में गिरनार पर्वत पर तथा अन्य कई स्थानों पर इसकी शिलाएँ मिलती हैं।

टूर्मलीन (Tourmaline)—रासायनिक संगठन के अनुसार इस परिवार के तीन वर्ग होते हैं—(१) अल्कली टूर्मलीन, जिनमें सोडियम, पोटेशियम या लिथियम के सिलिकेट होते हैं, (२) मैगनीशियम टूर्मलीन, जो मैगनीशियम धातु के सिलिकेट होते हैं और (३) आयरन टूर्मलीन जो लोहे के सिलिकेट होते हैं। उपरोक्त तीनों प्रकार के टूर्मलीन में बोरोन तथा अल्युमीनियम धातु का सम्मिलन रहता है। टूर्मलीन का सगठन बडा पेचीदा है। इसका रग काला होता है। इसके रवे प्रिज़्म के समान ३,६ अथवा ९ सीधे फलकवाले होते हैं। रवों के फलों पर सीधी महीन समानान्तर रेखाएँ पडी रहती हैं। इसकी कठोरता ७ से ७.५ तक और आपेक्षिक घनत्व २.९ से ३.२ तक होता है। इसमे तडक तो होती ही नही। चूरा करने पर यह कोयले के समान प्रतीत होता है। नीले, लाल, और हरे रंग का होने पर यह पारदर्शक होता है। इस पारदर्शक टूर्मलीन की गणना रत्नों मे की जाती है। अबरकदार पेग्मेटाइट नामक आग्नेय शिलाओं में यह अधिकता से पाया जाता है। परिवर्त्तित शिलाओं में भी यह काफी मात्रा में पाया जाता है।

कार्बोनेट खनिज

ऊपर जिन खनिजों का उल्लेख दिया गया है, वे सिलिका-प्रधान है। अब हम कुछ ऐसे साधारण खनिजों का वर्णन करेंगे, जिनमे कार्बन का मिश्रण रहता है। मेग्नेसाइट, कैल्साइट और डालोमाइट इनमे प्रधान हैं। मैलाकाइट और अजूराइट नामक ताँबे के खनिज भी कार्बोनेट होते हैं।

मेग्नेसाइट (Magnesite)—यह मैग्नीशियम का कार्बोनेट है। इसका सूत्र $MgCO_3$ है। यह सफेद, पीले और भूरे रग का होता है। साधारणतः यह बर्फ के रंगवाला होता है। रवादार होते हुए भी इसके रवे इतने सूक्ष्म होते हैं कि इसे रवादार कहना कठिन होता है। इसका उपयोग मेग्नेशिया बनाने के लिए किया जाता है। यह मेग्नेशिया वास्तव मे मेग्नेसाइट से कार्बन डाई ऑक्साइड गैस निकल जाने से बनती है। यदि मेग्नेसाइट को १०००° सेण्टीग्रेड पर फूँका जाय तो उसमें २-३% गैस शेष रह जाती है। यह पदार्थ जल मे भिगोकर वायु मे रखने से बहुत कड़ा हो जाता है और अग्निप्रतिरोधक होने के कारण भट्टियों आदि के उपयोग मे लाया जाता है। इसी मेग्नेसाइट को यदि १५००° सेण्टीग्रेड के ताप पर फूँका जाय तो उसमें सम्मिलित कार्बोनिक एसिड गैस लगभग सारी की सारी अलग हो जाती है। यह अत्यन्त उपयोगी और बहुमूल्य अग्निप्रतिरोधक पदार्थ होता है। ऊँचे तापक्रमवाली भट्टियों के लिए इसी पदार्थ का उपयोग दीवाले और पेंदी आदि बनाने के लिए किया जाता है। ताँबा गलाने की भट्टियों तथा इस्पातशोधक भट्टियों मे इसका उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। मेग्नेसाइट रवादार कम पाया जाता है। इसकी कठोरता ३.५ से ४.५ तक होती है और घनत्व २.८ से ३ तक। इस खनिज की उत्पत्ति मैग्नीशियम सिलिकेटवाले खनिजों (ओलीवाइन, जहरमोहरा आदि) के परिवर्त्तन से होती है।

कैल्साइट (Calcite)—यह खनिज चूने का कार्बोनेट है। यह एक स्वच्छ खनिज है। इसके रवों की तड़क आदर्श होती है। सभी रवे समचतुर्भुजीय ६ फलकोंवाले होते हैं, जो चूर्ण हो जाने पर भी अपना आकार नही छोड़ते। परन्तु यह रवाहीन भी पाया जाता है। 'स्टैलग्टाइट और स्टैलग्माइट' नामक निक्षेपित पदार्थ बहुधा इसी खनिज से बने

होते हैं। यह पदार्थ बहुधा सफ़ेद या रंगविहीन पाया जाता है। कभी-कभी यह भूरा, पीला, नीला, लाल और मटमैला भी मिलता है। इसकी सफेद पारदर्शक जाति मूल्यवान होती है। इसकी कठोरता ३ होती है और नाखून से यह खरोंचा जा सकता है। आपेक्षिक घनत्व २.७१ होता है। नमक के तेजाब के पड़ने से इस खनिज मे कार्बोनिक एसिड गैस की उत्पत्ति होती है, जो बुदबुदों के रूप में उठती है। कैल्साइट की अनेक जातियाँ हैं। संगमरमर और चूने के पत्थर की चट्टानों में यह विशेष पाया जाता है। चूने का पत्थर (Limestone) तथा संगमरमर (Marble) चूने के ही कार्बोनेट हैं। परन्तु वे कैल्साइट के समान स्वच्छ नहीं होते तथा इनकी जाति प्रायः रवाहीन होती है। नमक के तेजाब का प्रभाव इन खनिजों पर भी कैल्साइट के ही समान होता है।

डालोमाइट (Dolomite)—यह खनिज कैल्शियम और मैग्नीशियम का सम्मिलित कार्बोनेट है। यह सम्मिलन रासायनिक है, अर्थात् कैल्शियम कार्बोनेट और मैग्नीशियम कार्बोनेट दोनों को मिलाकर यह खनिज नही बना है और न दोनों को अलग ही किया जा सकता है। इसके रवे भी होते हैं, परन्तु यह अधिकतर रवाहीन ही पाया जाता है। रंग सफेद होता है, पर कभी-कभी पीलापन, कालापन अथवा हल्का भूरापन लिये हुए होता है। कठोरता ३.५ से ४ और आपेक्षिक घनत्व २.८ से २.६ तक होता है। नमक का गरम तेजाब डालने से इस पर कार्बोनिक ऐसिड गैस के बुदबुदे उठते दिखाई देते हैं। ठण्डे तेजाब का इस पर कोई प्रभाव नही पड़ता। यह संगमरमर और चूने के पत्थर के साथ पाया जाता है। इसका उपयोग अग्निप्रतिरोधक के रूप में होता है। बिहार, मध्यप्रदेश, छोटा नागपुर, पंजाब तथा राजपूताने में यह खनिज चट्टानों की धारियों में पाया जाता है।

उपरोक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त कुछ गन्धकमय खनिज भी हैं, जिनको उनसे निकलनेवाली धातुओं के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन खनिजों मे प्रधान खनिज ताँबे, लोहे, चाँदी, जस्ते और सीसे के मूल्यवान सल्फाइड हैं। ताँबे के सल्फ़ाइड को सोनामाखी, और लोहे के सल्फाइड को रूपामाखी कहते हैं। चाँदी का गन्धकमय खनिज अर्जेन्टाइट, सीसा का गैलेना और जस्ता का स्फेलेराइट कहलाता है।

सोनामाखी (Chalcopyrite)—यह ताँबे का मुख्य खनिज है। इसमे ताँबा, लोहा और गन्धक का सम्मिलन है। इसमे ३२.४ से ३५ प्रतिशत तक ताँबे का अंश रहता है। यह रवाहीन अधिक मिलता है, पर रवादार भी होता है। इसका रंग पीतल का-सा होता है, परन्तु कभी-कभी मोर के पर-सी आभा भी दिखाई पड़ती है। लकीर भूरापन लिये काली होती है। वह थोड़ी चमकदार भी होती है। इसमें धातु की-सी चमक होती है। इसकी कठोरता ३.५ से ४ तक और आपेक्षिक घनत्व ४.१ से ४.३ तक होता है। यह खनिज बिल्लौर की धारियों में अन्य धातु खनिजो के साथ अथवा परिवर्त्तित शिलाओ में पाया जाता है। इसका जमाव प्रायः उस गरम जल अथवा घोल द्वारा हुआ है, जो भूगर्भ से किसी समय भूपृष्ठ पर आते-आते रुक गया है। सोनामाखी को ही फूँककर तथा तपाकर ताँबा निकाला जाता है।

रूपामाखी (Pyrites)—यह लोहे और गन्धक का सम्मिलित खनिज है। पर गन्धकमय होने के कारण इससे लोहा धातु निकालने का उपयोग नही किया जाता। हाँ, गन्धक का तेजाब बनाने तथा गन्धक बनाने के काम मे यह खनिज आता है। रंग इसका भी पीतल जैसा होता है, परन्तु लकीर काली होती है। रवे प्रायः घनमूलीय (Cubical) आकार के होते हैं। इसकी कठोरता ६ से ६.५ तक और आपेक्षिक घनत्व ४.६५ से ५.०१ तक होता है।

रूपामाखी जलवायु के प्रभाव से भूरे गेरू में परिवर्त्तित हो जाती है और सोनामाखी ताँबे के कार्बोनेट में। ताँबे के कार्बोनेट दो रंग के होते हैं। हरे रंग के कार्बोनेट को (जिसमें जल भी सम्मिलित रहता है) मैलाकाइट (Malachite) और नीले रंग वाले को अजूराईट (Azurite) कहते हैं। ताँबे के ये भी उपयोगी खनिज हैं।

गन्धक का एक और उपयोगी खनिज होता है, जिसे **हरसोठ** (Gypsum) कहते हैं। यह कैल्शियम का जलीय कार्बोनेट है। यह खनिज प्रायः सफ़ेद रंग का होता है और रवादार पाया जाता है तथा इसके रवे प्रायः पारदर्शक होते हैं। इसके रवो की तड़क अबरक के समान एक दिशा में होती है। इसकी कठोरता २ होती है और आपेक्षिक घनत्व २.३२ के लगभग। हरसोठ बहुधा चूने के पत्थर के साथ पाया जाता है। इसका उपयोग आजकल गन्धक का तेजाब बनाने के लिए किया जाता है।

उपरोक्त खनिजों के अतिरिक्त कोयला तथा सेंधा नमक दो साधारण खनिज ऐसे हैं, जिन्हे प्रायः प्रत्येक मनुष्य सरलता से पहचान सकता है। इनके अलावा अन्य कई असाधारण तथा विशेष खनिज भी हैं, जिनकी तालिका बहुत लम्बी है। परन्तु हमने जिन खनिजों का वर्णन किया है, वे ही खनिज प्रायः भूपटल के सब भागों में मिलते हैं और इन्हीं से मिलकर भूपृष्ठ की चट्टानों की रचना हुई है।
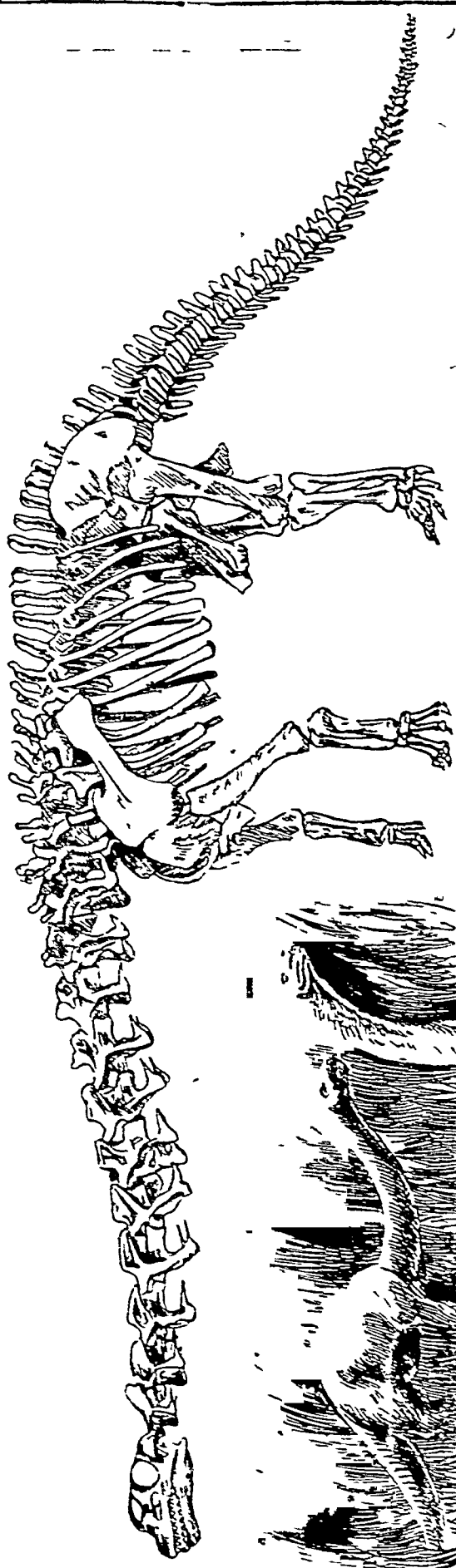
प्राचीनकाल का एक भीमकाय उरंगम—
ब्रौन्टोसॉरस

यह विशालाकार प्राणी लगभग ६० या ६५ फ़ीट तक लंबा होता था और अपने इस भयानक स्वरूप के बावजूद ख़तरनाक नहीं था। वह शाकाहारी था और पानी के भीतर होनेवाली वनस्पतियों पर अपना निर्वाह करता था। ऊपर इसकी एक सुरक्षित ठठरी का चित्र प्रदर्शित है। ऐसी बहुत-सी ठठरियाँ मिली हैं। बाईं ओर, उसका एक काल्पनिक जीवन-चित्र दिया गया है।

भारतवर्ष तथा अन्य देशों के वर्त्तमान और प्राचीन उरंगम

१—कच्छप और मगर

इस लेख मे हम संसार के उन पृष्ठवंशी जीवो का वर्णन करेगे, जिन्हे हम रेंगनेवाले जन्तु या 'उरंगम' कहते हैं। जन्तु-जगत् के प्राणियों मे इनकी भी काफी सख्या है और जल तथा थल दोनो ही मे इस वर्ग के सदस्य पाए जाते हैं। साथ ही अन्य जीवो की अपेक्षा इनकी जीवन-लीला भी काफी रोचक और अनोखी है। अतएव यदि कुछ विस्तारपूर्वक हम इनका हाल आपको बताएँ तो अनुचित न होगा।

'उरंगम' शब्द से हमारे मन मे रेंगने या घसिट-घसिटकर चलने का चित्र खिच जाता है और इसके साथ ही हमारे हृदय मे ऐसे जीव के प्रति घृणा का भाव उठता है। जनता जिन उरंगमों से परिचित है, उनमे से एक घरेलू छिपकली है, जिससे प्रायः सभी गन्दी समझकर घृणा करते हैं। दूसरा है मगर, जिसका नाम सुनते ही हमारे हृदय में एक प्रकार का भय का भाव छा जाता है और तीसरा विषैला सर्प है, जिसके काटने से अकेले भारतवर्ष मे ही हजारों मनुष्य काल के ग्रास बन जाते हैं। इन भयानक घिनौने जीवों के विषय मे बहुत-सी विचित्र और जानने योग्य बाते हैं। अतएव प्रस्तुत लेख मे हम केवल इनके दो वर्गों—कच्छप और मगर—का ही वर्णन करेंगे और शेष का आगे किसी दूसरे लेख मे परिचय देगे।

स्तनधारी जीवो और पक्षियो की अपेक्षा उरगम ठडे रक्तवाले प्राणी कहे जाते हैं। इसका अनुभव आप स्वय ही कर सकते हैं। यदि आप अपना हाथ किसी कछुए की टॉग पर रक्खे तो आपको ज्ञात होगा कि वह उतनी गर्म नही होती, जितनी किसी कुत्ते या बिल्ली की। इसका कारण यही है कि कछुओं का रक्त कम गर्म होता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उन्हे गर्मी या सर्दी व्यापती ही नही। वस्तुतः सर्प सदैव ग्रीष्म-ऋतु मे फुर्तीले हो जाते हैं और शीतकाल मे सुस्त पड़ जाते हैं। यदि शीतकाल में कोई कछुआ किसी वाटिका में छोड़ दिया जाय तो वह पत्तो के ढेर मे जाड़े भर सोता ही रह जायगा!

उरगमो के शरीर पर न तो स्तनधारी जीवो की भॉति बाल होते हैं और न पक्षियों के समान पख ही। इसके बजाय उनके शरीर पर शतक अर्थात् सीग के समान कड़े छिल्के या परत होते हैं, जिनके कारण वे अपनी-सी बनावटवाले अन्य प्राणियों से भिन्न पहचाने जाते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे सभी जीव, जो ठंडे रक्तवाले हैं और जिनके बाल या पंख नही होते, उरगम ही हैं। वस्तुतः इसी तरह की ग़लती करते हुए एक समय प्रकृतिवादी मेढ़कों और न्यूटो (एक दुमदार स्थल-जलचर जीव) को भी उरंगम ही कहते थे, किन्तु अब नही, क्योकि ये अपने अडे जल म देते हैं और उनसे जो बच्चे निकलते हैं, वे मछलियों की ही भॉति गलफडों से सॉस लेते हैं। उनके बदन के बढ़ने पर वे गलफड़े लुप्त हो जाते हैं और तब वे भूमि पर आकर फेफड़ो से सॉस लेने लगते हैं। वास्तव में उरंगमों का विकास एक प्रकार के स्थल-जलचर जीवों से ही हुआ है। वे अपनी खाल के कड़े छिल्कों और उससे सबंध रखनेवाले अन्य परिवर्त्तनों द्वारा अपने शरीर को स्थल पर सूखने से बचा सके और क्रमशः जल से दूर ऐसे सुरक्षित स्थानों में फैल गए, जहॉ निरे जलचरों के लिए पहुँचना असम्भव था। पृथ्वी के अति प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि माध्यमिक काल मे उरगमों ने ऐसा जोर बॉधा था कि पन्द्रह करोड़ वर्ष तक सपूर्ण पृथ्वी पर उनके ही राज्य का डका बजता रहा!

जिस समय उरंगम पृथ्वी पर राज्य करते थे

वर्त्तमान उरंगमों का हाल लिखने के पहले यह उचित जान पड़ता है कि संक्षिप्त मे आपको प्राचीन काल के उस युग से परिचय करा दे, जिस समय उरंगमों ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। आज दिन हम उरंगमों को सरकने और

रेंगनेवाले जीवों के रूप में ही देखते हैं। किन्तु वे हमेशा पृथ्वी पर रेंगनेवाले दीन प्राणी ही न थे। उरगम ही सर्वप्रथम ऐसे जीव हुए, जिन्होंने अपने पृष्ठवशी पेट को पहलेपहल पृथ्वी से ऊपर उठाया और ऐसा भारी-भरकम डीलडौल प्राप्त किया कि जिसकी कल्पना कर हम चकित रह जाते हैं। करोड़ों वर्ष पूर्व जब पृथ्वी पर मानव-जाति और हमारे आज के परिचित चौपायों का कहीं नाम तक न था, उस समय आज हम जितने पक्षी और चौपाये देखते हैं इतने ही उरगम इस धरती पर उपस्थित थे। कई बडे और छोटे उरगम उन दिनों सागर और झीलों मे तैरते और स्थल पर चलते फिरते दिखाई देते थे। बडे-से-बडे हाथियों से भी कई गुने बडे उरगम उस युग के जगलों मे भरे पडे थे। उनमें से कुछ घास और पत्तियाँ खाते और कुछ अपनी जाति या वर्ग के अन्य प्राणियों का ही शिकार करते थे। कुछ उरगम घोडे से भी तेज भागनेवाले और चीते से भी अधिक भयानक दाँतों व पजेवाले थे। वर्त्तमान उरंगम उनके बचे हुए नमूने मात्र हैं। आइए, हम आपको आज से कई करोड़ वर्ष पीछे के युग मे ले जाकर कल्पना द्वारा उस समय के भयानक घने जगलों की सैर कराएँ।

जब दैत्याकार स्थल-जलचर जीव प्रकृति की मार खाकर सृष्टि से लुप्त होने लगे तो उनका स्थान नए-नए मार्गों पर चलनेवाले उरगमो ने लेना आरम्भ किया। उस समय पृथ्वी की दशा और जलवायु आज से बहुत भिन्न थी। उन दिनों ध्रुवप्रदेशों को छोड़कर सब स्थानों की जलवायु विषुवत् तथा समशीतोष्ण प्रदेशो के समान गर्म थी। उरंगम-राज्य की उस समृद्धिशाली अवस्था में पृथ्वी नाना प्रकार की वनस्पतियों से परिपूर्ण थी। उस समय के स्थल-भागों का आकार वर्त्तमान स्थल-भागों से बिल्कुल भिन्न था। यदि उन दिनों के विशाल जगलों मे से किसी में भी कोइ पहुँच जाता तो वहाँ उसे स्थान-स्थान पर भिन्न भिन्न रूप और आकार के पद-चिह्न दिखाई पडते। उनमें से किसी-किसी का क्षेत्रफल वर्गगज के बराबर तक होता था। इन पद-चिह्नों का अनुसरण करने पर सम्भवतः एक ऐसे अति विशाल पशु का साक्षात्कार हो सकता था, जिसे आज हम **ब्रौन्टोसॉरस** के नाम से पुकारते हैं और जिसकी ठठरी का चित्र आप पृ० २४६२ पर देख सकते हैं।

धरती पर शासन करनेवाले उरंगम

क्या इस ६० फीट लबे भयानक डीलडौलवाले जीव को देखकर आप चकित न रह जाएँगे? लेकिन वह वास्तव में इतना खतरनाक न था, जितना कि देखने से स्पष्ट होता है। उसके न तो अपने से अधिक फुर्तीले मासाहारी पडोसियों से सुरक्षित रहने के लिए काफी मोटी खाल थी और न आक्रमण करने के लिए ही उसके पास कोई साधन था। यह प्राणी जल मे होनेवाले पेड-पौधों को खाकर ही अपना जीवन व्यतीत करता था। ऐसा जान पडता है कि अपने प्रिय भोजन की खोज में या अपने से छोटे किन्तु भयानक घातकों से बचने की चेष्टा में वह बहुधा दलदलों में फँस जाता था। भारी शरीर होने के कारण ऐसे दलदलों मे से उसका निकलना असम्भव हो जाता था और तब वह वहीं प्राणविसर्जन करता था। अभी तक इसकी बहुत-सी ठठरियाँ चट्टानों में दबी हुई मिलती हैं। इससे भी बडा एटलान्टोसॉरस नामक एक उरगम उस देश के जंगलों में पाया जाता था, जिसे अब हम अमेरिका के नाम से पुकारते हैं। इसका शरीर ८० फ़ीट लबा होता था, किन्तु ब्रौन्टोसॉरस की भाँति उसका भी सिर और मस्तिष्क बहुत छोटा होता था तथा उसी की भाँति वह भी धीरे-धीरे चलनेवाला मूर्ख प्राणी था। इस वर्ग का डिप्लो-

वर्त्तमान उरंगमों का एक दैत्याकार पूर्वज डिप्लोडोकस जो ८८ फ़ीट से भी अधिक लबा और १२ फ़ीट ऊँचा होता था!
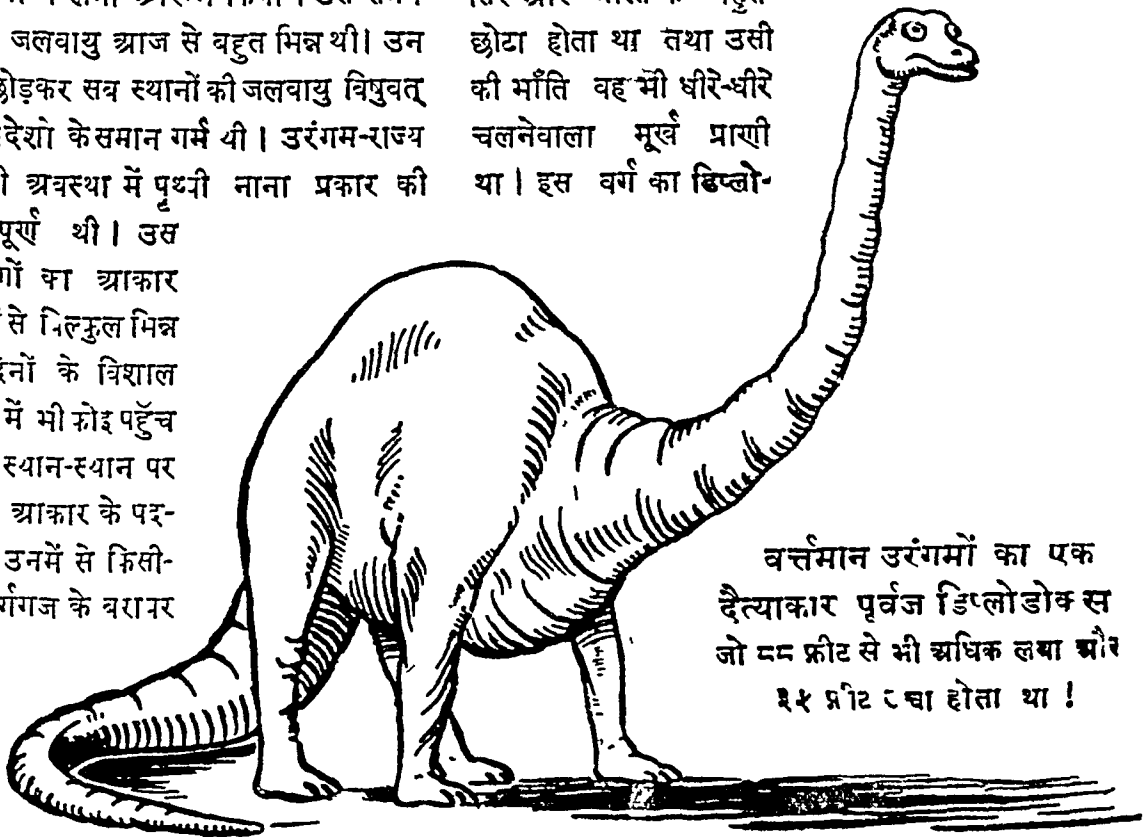
डोकस नामक एक प्राणी सिर से दुम तक ८८ फीट से भी अधिक लंबा और ३५ फीट ऊँचा होता था। ऐसे बड़े-बड़े उरगमों के अतिरिक्त और भी बहुत से जीव, जिन सबको **डाइनोसॉर** अथवा भीषण छिपकलियाँ कहा गया है, उस समय पाए जाते थे। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक ऐसे पाँच हजार से भी अधिक प्रकार के डाइनोसॉर की सूची बन चुकी है। उनमें से कुछ छिपकली जैसे पदवाले, कुछ पक्षी जैसे पदवाले, कुछ चौपाये जैसे पदवाले तथा कुछ कवचधारी थे। पर ये सभी ब्रोन्टोसॉरस, एटलान्टोसॉरस की भाँति दीर्घकाय और सीधे-साधे थे। हाँ, उनमें से कुछ अवश्य भयानक और मांसाहारी थे। उनके दाँत बड़े और मजबूत थे तथा उनके सिर भी तुलनात्मक दृष्टि से चरनेवाले प्राणियों की अपेक्षा बड़े थे। छल और सकल्पशक्ति मे भी वे बढ़े-चढ़े थे। उनमें से किसी-किसी के सिर पर नुकीले और मजबूत सींग भी होते थे।

इन भीमकाय जीवों में एक अनोखा जीव कवचधारी **स्टैगोसॉरस** था, जो अपनी जाति का एक विचित्र प्रकार का नमूना था, क्योंकि इसकी पिछली टाँगें अगली टाँगों से बहुत बड़ी थीं। अतः उसकी सूरत अजीब भौंड़ी सी दिखाई पड़ती थी। चित्र में देखिए यह कैसा विचित्र पशु है!

वायु में शासन करनेवाले उरंगम

इन दिनों आकाश मे भी बड़े-बड़े भद्दे जीव मँडराते दिखाई देते थे, परन्तु वास्तव में वे पक्षी न थे। दरअसल कई प्रकार के उरंगमों ने ही अपने को पवन में उड़ने योग्य बना लिया था। उनके शरीर की खाल दोनों ओर अगली और पिछली भुजाओं के बीच फैल जाती थी और साथ ही दोनों भुजाओं में एक-एक अँगुली भी शरीर से अधिक लम्बी होकर इस खाल को छाते की भाँति फैला देती थी। इसी फैली हुई खाल के द्वारा वह अपने बदन को वायु में साध ही नहीं लेते थे, बल्कि वास्तव मे उड़ भी सकते थे। चिड़ियों की भाँति उनकी हड्डियाँ खोखली होती थीं और उनकी सीने की भी हड्डियाँ पक्षियो की तरह ही होती थीं। परन्तु इन उरंगमों के पर न थे। उनमे चमगादड़ की भाँति झिल्लीदार बाजू होते थे। इन उड़नेवाले उरंगमों को वैज्ञानिक **टीरोडेक्टाइल** कहते हैं। इनमे किसी-किसी के बाजू १८ फीट तक फैल जाते थे। उनमें से एक के विषय मे कहा जाता है कि वह लगभग हाथी के बराबर डीलडौलवाला था! यदि ऐसे विशाल पक्षी आजकल वायुमंडल मे मँडराया करते और धरती पर भी पाए जाते

प्राचीन काल का उड़नेवाला उरंगम—टीरोडेक्टाइल
इसकी चमगादड़ जैसी झिल्लीदार बाजुओं पर ग़ौर कीजिये!

तो हमारा जीवन कितना दुष्कर हो जाता, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते!

महासागरों में शासन करनेवाले उरंगम

स्थलचरों और वायुचरों की भाँति इस उरंगम-काल के जलचर भी अति विशाल और बड़े भयानक जीव थे और वे भी इसी वर्ग के प्राणी थे। सागरों में विशेषकर दो प्रकार के उरंगम राज्य करते थे, जिनमें से एक **इक्थ्योसॉरस** नामक प्राणी था। इसकी आकृति बड़ी मछली से मिलती-जुलती थी। दूसरा साँप-जैसी लम्बी गर्दनवाला **प्लिसियोसॉरस** था। इन प्राणियों की भी हज़ारों ठटरियाँ प्राप्त हुई हैं। चालीस-चालीस फ़ीट लम्बे और साँप-सी गर्दनवाले प्लिसियोसॉरस को देखकर छोटे-छोटे समुद्री जीव दूर से ही भयभीत हो जाते होंगे। इक्थ्योसॉरस, जिसे समुद्री अजगर भी कहा गया है, प्लिसियोसॉरस से कम लम्बा, किन्तु उससे अधिक चौड़ा होता था। उसके शरीर में तैरने के लिए डाँड जैसी चौड़ी भुजाएँ होती थीं। उसकी शारीरिक रचना को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि सम्भव है कि कभी वह कछुए की भाँति स्थल पर भी विचरण करता रहा होगा।

इक्थ्योसॉरस और प्लिसियोसॉरस के काल में कछुओं का भी विकास हो चुका था। लगभग १२ फीट चौड़े और २५ मन तक भारी कछुए इस समय समुद्रों में बहुतायत से पाए जाते थे। अब तो केवल दो चार ही इतने बड़े कछुए किसी-किसी टापू में बच रहे हैं। सन् १९२३ में ऐसे ही एक प्राचीन कछुए की हड्डियाँ शिवाजिक की पहाड़ियों पर मिली थी। यदि कवच के दृष्टिकोण से देखा जाय तो कछुआ और कूर्म

से श्रेष्ठ कोई भी जीव नहीं है। उनकी लम्बी और चौडी हड्डियों की परतें पसलियों से जुडकर एक ऐसा मजबूत बक्स उनके शरीर मे बना देती हैं कि उसके भीतर वे अपने सिर, हाथ और पैर सब खींचकर सुरक्षित रख सकते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब पृथ्वी पर अन्तिम शीतकाल बढने लगा, तब ये बडे-बडे डाइनोसॉर, टीरोडेक्टाइल और प्लिसियोसॉर, जो धरती, वायु और जल मे लाखो वर्ष से शासन कर रहे थे, सहसा पृथ्वी से लुप्त हो गए! केवल सौभाग्यवश छोटे-छोटे डीलवाले वे उरगम ही, जो दूसरे मार्ग पर चल चुके थे, बच रहे। उनमे से कुछ ऐसे थे जिनके चिडियों-जैसे पर उगने लगे थे, जिनसे वे अपने को सर्दी से बचा सकते थे। यही जीव आगे चलकर वर्त्तमान पक्षियो के पूर्वज बने।
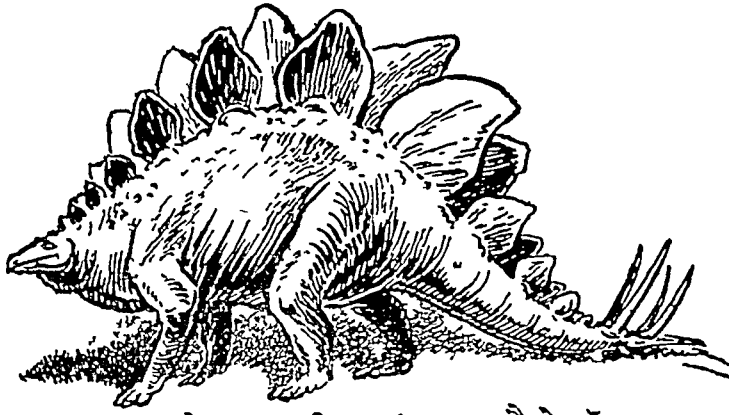
एक अनोखा प्राचीन उरंगम—स्टैगोसॉरस
इसके अद्भुत कवच और पिछली बडी टॉगों पर ध्यान दीजिए!

उरगमों की एक अन्य शाखा ने अपने विकास के लिए दूसरा ही मार्ग ग्रहण किया। कुछ छोटे आकार के स्थल-निवासी उरगमो ने बढती हुई शीत से बचने के लिए परो के स्थान पर बाल उगाना आरम्भ कर दिया। उनका भी बदन परदार उरंगमों की तरह अन्य उरंगमों से अधिक गर्म रहने लगा। ये ही उरगम धीरे-धीरे वे प्रारम्भिक पशु बने, जिनसे वर्त्तमान स्तनधारी उत्पन्न हुए। ये पशु अडे बहुत अधिक खाते थे। अतएव बढती हुई शीत की भाँति उन्होंने भी बडे डीलडौलवाले उरंगमों को समाप्त करने मे काफी मदद दी। ये लोग लाखो की सख्या मे उनके अडे चुरा-चुराकर खा गए। उरगम-काल के समाप्त होने के पश्चात् लगभग ६ करोड वर्ष तक वर्त्तमान पक्षी और स्तनधारी जीव पृथ्वी पर अपना विकास करने मे लगे रहे।

चार प्रकार के वर्त्तमान उरगम

अब पृथ्वी पर जो उरगम बचे हैं, उनमे चार प्रकार के जीव पाए जाते हैं, जैसे मगर, कछुआ, छिपकली और सॉप। इन सभी से हम प्रायः परिचित हैं। मगर नदियों और झीलो मे पाए जाते हैं। इनमें से कुछ नदियो के मुहाने के समीप समुद्र मे भी पाए जाते हैं। मगरों की कई जातियाँ पृथ्वी के गर्म देशों मे अत्यधिक मिलती हैं। पर भारत में
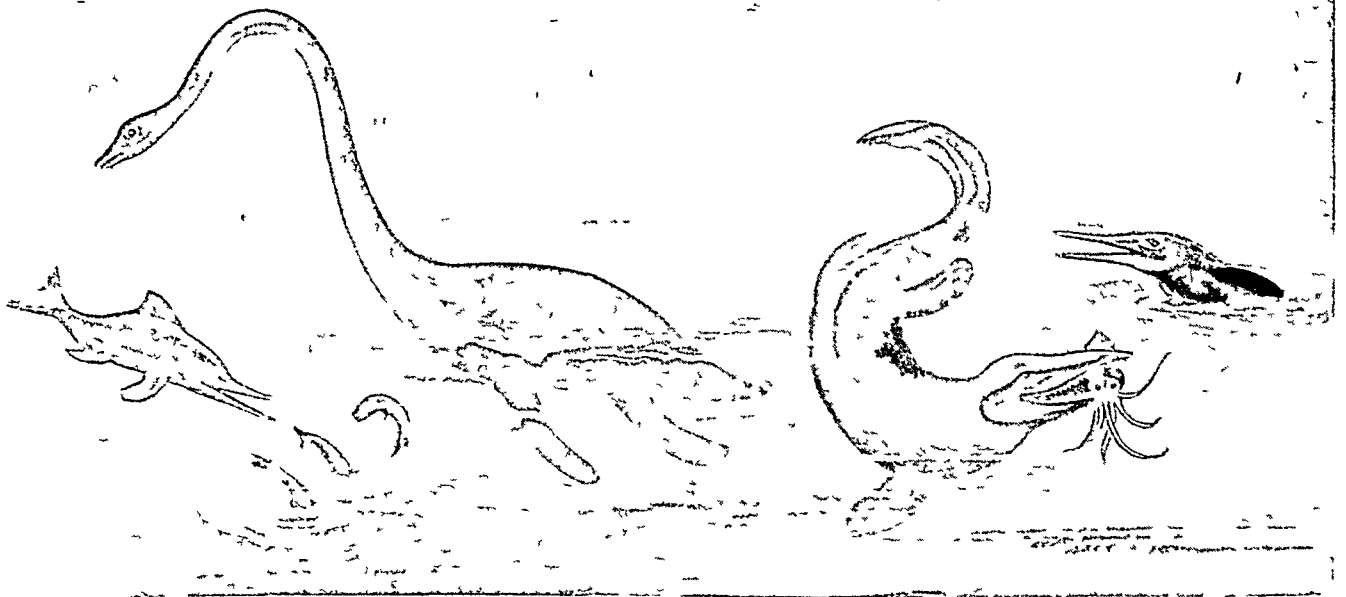
महासागरों पर शासन करनेवाले प्राचीन काल के दो शक्तिशाली जलचर उरंगम
चित्र म बाईं ओर साँप-सी गर्दनवाला प्राणी प्लिसियोसॉरस है, दाहिनी ओर मगर जैसे मुँहवाला जीव इक्खथ्योसॉरस है।

केवल दो जातियाँ दिखाई देती हैं—नाक और घड़ियाल। घड़ियाल की थूथन छोटी होती है और वह पशुओं को खाकर जीवित रहता है। नाक की थूथन लम्बी होती है और उसके नथुने थूथन के सिरे पर खुलते हैं। इन नथुनों के आगे एक प्रकार के ढकने होते हैं, जो जल के भीतर रहते समय बन्द रहते हैं। इससे नाक की थूथन में पानी नही जाता। जब साँस लेने की आवश्यकता पड़ती है तब नाक जल के ऊपर आकर अपने नथुने खोलता है और हवा भीतर चली जाती है। नाक विशेषकर मछलियो पर ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। साधारणतः लोग घड़ियाल को ही मगर भी कहते हैं, किन्तु हम इस लेख मे लम्बी थूथन वालो के लिए नाक, छोटी थूथनवालों के लिए घड़ियाल और दोनों जातियों के लिए मगर शब्द का प्रयोग करेंगे।
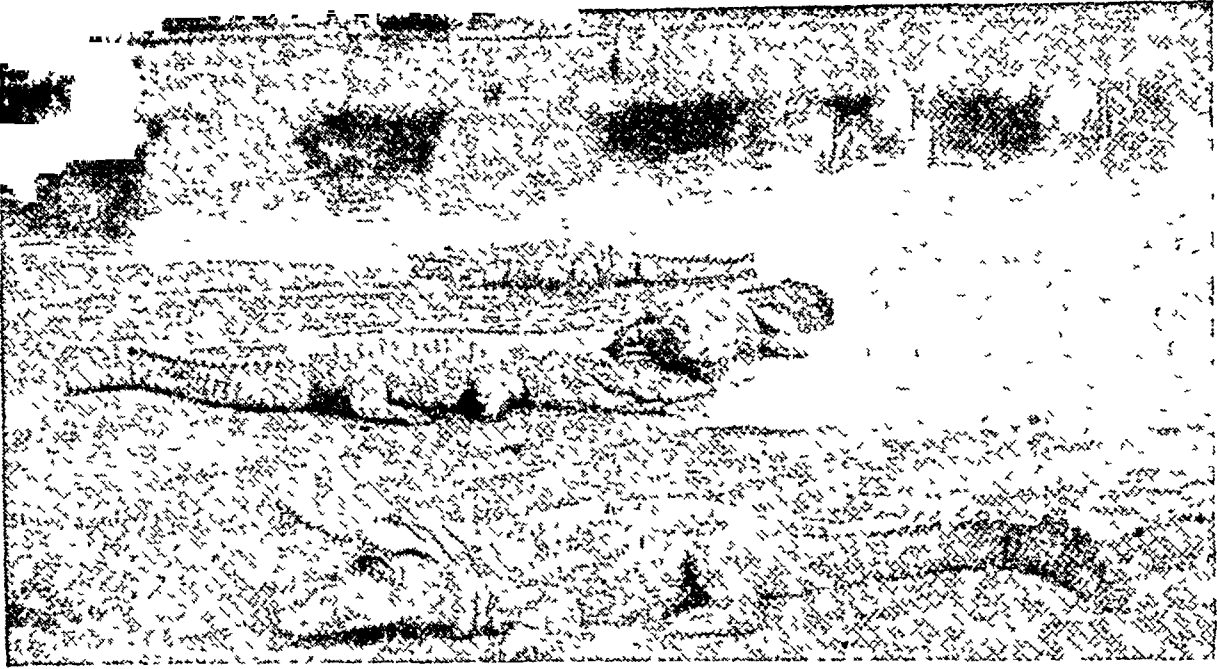
भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध पुष्कर-झील के किनारे सुस्ताते हुए कुछ घड़ियाल

उरंगमों मे मगर सबसे प्राचीन ढंग के और सबसे अधिक बड़े आकार के प्राणी हैं। जतुशालाओं में वे सुस्त, मूर्ख और भद्दे-से जीव जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तव मे वे ऐसे नही होते। यद्यपि नदियो के तट पर या दलदलों मे पडे हुए मगर सोते-से दिखाई देते हैं, किन्तु दूर से ही किसी को आते देखकर वे तत्काल ही जल मे घुस जाते हैं। मगर बहुत देर तक जल मे डूबे रह सकते हैं, क्योंकि वे अपने नथुने और मुँह को ऐसा कुछ कर लेते हैं कि पानी उनके अन्दर न जा सके। वे अपने हाथ-परों से चलने-फिरने और दुम से तैरने का काम लेते हैं। उनकी आँखे शरीर से ऊपर उभरी हुई-सी होती है, अतः वे पान मे इस तरह उतरा सकते हैं कि केवल उनकी थूथन का छोर और आँखे ही जल से बाहर रहे। जब कोई
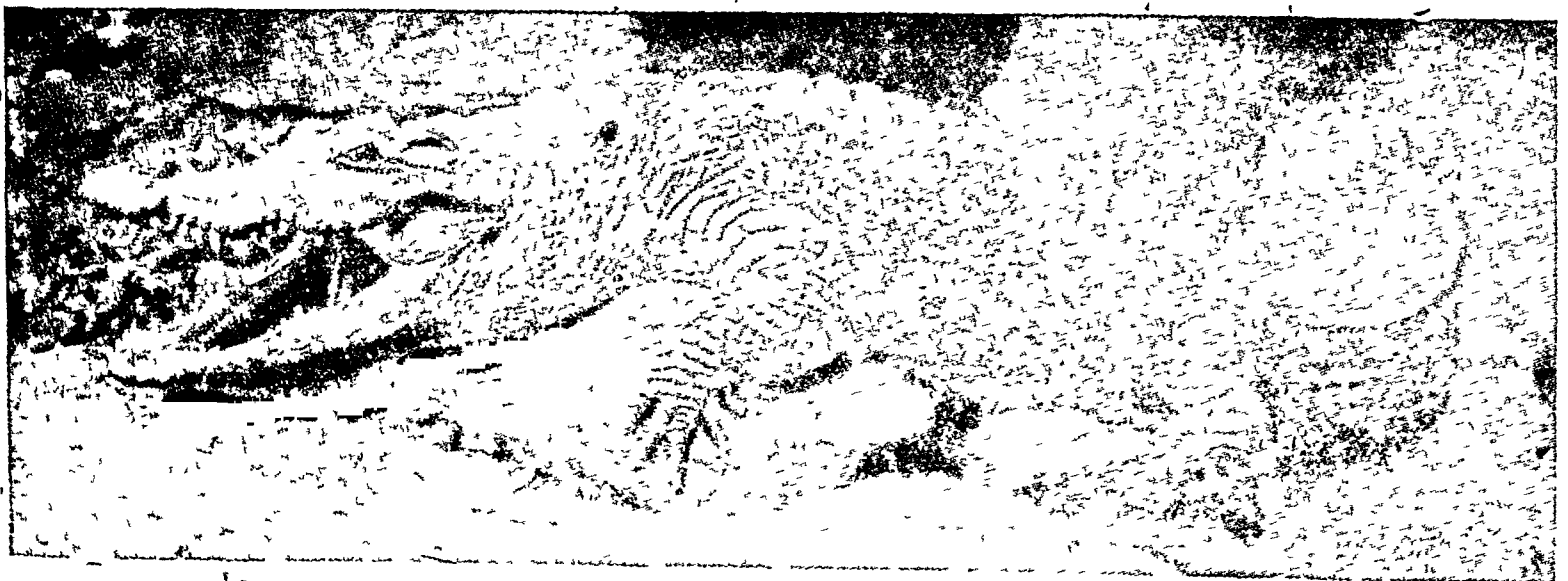
वर्त्तमान उरंगमों मे सबसे विशाल प्राणी—मगर

इसकी दो प्रमुख जातियाँ होती हैं—१. घड़ियाल, जिसकी थूथन छोटी होती है, २. नाक, जिसकी थूथन बेहद लंबी होती है। यह घड़ियाल का चित्र है, नाक का चित्र पृ० २४९९ पर देखिए।

भूला-भटका जीव उक्त जलाशय के निकट से निकलता है तो मगर शीघ्र ही उसे हडप कर लेता है।

घडियाल और नाक दोनों ही अपने अडे किनारे की बालू मे गड्ढे खोदकर देते हैं और उनको घास-पात, मिट्टी या बालू से ढँक देते हैं। वही सूर्य की गर्मी से वे अडे पक जाते हैं। अडों का रग सफेद और उनका ऊपरी छिलका चमड़े की तरह नरम और चीमड होता है। जब बच्चा बाहर निकलने को होता है तो अपनी थूथन के ऊपरवाले नुकीले दाँत से वह छिलके को फाडकर बाहर आ जाता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि गड्ढे के ऊपर पहुँचते ही उसे अपने आप ज्ञात हो जाता है कि जल किस ओर है और वह सीधा उस ओर चल देता है!

पानी पीने के लिए जलाशयों पर आनेवाले पशुओं की टोह मे घडियाल जल के किनारे चुपचाप पडे रहते हैं और अवसर पाने पर उनका सिर या पैर पकड़कर उन्हे पानी मे घसीट लाते हैं। कभी-कभी जब पशु जल के बिलकुल समीप नही आ पाते तो घडियाल शीघ्रता से मुड़कर अपनी ताक़तवर दुम से उन्हे ऐसा धक्का देते हैं कि वे पानी मे गिर पडते हैं और डूबकर उनके शिकार हो जाते हैं। किसी जीव को मारकर मगर उसे उसी समय नही खा लेता, बल्कि उसे किसी गड्ढे मे डाल देता है, क्योंकि मास को सड़ाकर खाने में उसे अधिक आनन्द आता है। कभी-कभी नदियो मे स्नान करते हुए बचो को ही नही बल्कि बड़े-बड़े मनुष्यों को भी मगर पानी के अन्दर घसीट ले जाते हैं। ऐसी घटनाओं की खबरे बहुधा हम समाचारपत्रो मे पढ़ते हैं। गत वर्ष ही बम्बई की सचित्र साप्ताहिक पत्रिका 'इलस्ट्रेटेड वीकली' मे इसी भाँति की एक घटना का हाल इस प्रकार छपा था—

एक दिन एक देहाती रावी नदी के किनारे बैठकर मुँह धोने लगा। अचानक पानी मे छपछपाहट हुई और एक बडा मगर उसकी ओर झपटा। ज्योंही मगर किनारे के पास पहुँचा, वह एकाएक घूम पड़ा और अपनी दुम पानी के बाहर फेंककर उसने उस अभागे मनुष्य के ऐसे जोर से मारी कि वह घबडाकर चीख पड़ा! शीघ्र ही उसकी बोली बन्द हो गई और वह बेहोश सा होकर कुछ दूर पानी मे जा गिरा। मगर फौरन् झपटा और उस बेचारे की कमर उसने अपने भयानक मुँह मे धर दबाई। एक ओर उसका सिर और कधा तथा दूसरी ओर उसकी टाँगें निकली हुई दिखाई पडती थी। जिन आदमियों ने देखा वे बताते थे कि उसकी एक बाँह को वह पूरी तरह निगल गया था। देखते ही देखते मगर अपना शिकार लेकर नदी के उस पार जा पहुँचा और वहाँ पहुँचकर उसने उस आदमी को जमीन पर डाल दिया और फिर मुँह की ओर से उसे समूचा निगल लिया!

मगर और मनुष्य का युद्ध

घडियाल से आदमी और अन्य पशुओं की लडाई के भी अनेक वृत्तान्त मिलते हैं। कई वर्ष की बात है कि मिस्र देश में नील नदी के तट पर पुलिस की एक छावनी पडी हुई थी। उसी का मुहम्मद सौनगिया नामक एक सिपाही नदी में कपडे धोने गया। थोड़ी ही देर में उसे समीप ही एक मगर का थूथन दिखाई दिया और इसके पहले कि वह हट जाय, मगर ने उसके दोनों हाथ अपने मुँह मे दबा लिये! सिपाही बहादुर था अतएव घबडाया नहीं। चेष्टा करके उसने अपनी एक बाँह छुडा ली और अपनी उँगली तथा अँगूठे को मगर के नथुनों में डालकर ऐसा जोर लगाया कि घबड़ाकर उसने उसकी दूसरी बाँह भी छोड़ दी। तब सिपाही यह सोचकर कि अब तो वह बच ही गया, सतोषपूर्वक पानी से बाहर आने लगा। पर इतने में मगर फिर झपटा और इस बार उसने उसका सीना पकड़ लिया। इस प्रकार लडते-झगडते वे दोनों गहरे पानी में पहुँचने ही वाले थे कि इतने में वहाँ एक और सिपाही आ पहुँचा, जो अपने साथी की दुर्दशा देखकर जल में घुस पड़ा और लाठी से मगर की खोपड़ी पर लगातार वार कर उसने उसे उस घड़ियाल से छुड़ा लिया।

सेनापति कैमरन नामक एक निरीक्षक ने लिखा है कि जब वह सन् १८७३ ई० मे दक्षिणी अफ्रीका की उगाम्बे नदी के किनारे घूम रहा था, एक दिन उसे एक ही स्थान पर शेर, भैंसा और मगर तीनों एक साथ मरे पड़े मिले! देशी लोगों से पूछने पर पता लगा कि जब एक भैंसा नदी में पानी पी रहा था तो एक शेर ने उस पर आक्रमण किया और दोनो युद्ध करते हुए पानी मे जा पहुँचे। सयोगवश एक मगर भी उस समय वहाँ आ पहुँचा और दोनों योद्धाओं मे से एक को उसने धर दबोचा। जब वह घबडाकर पानी के अन्दर से भागा तो तीनो गुत्थमगुत्था करते हुए नदी से लगभग २० गज की दूरी पर आकर गिर गए और अत मे तीनो ही वहाँ मर गए!

मगर पत्थर क्यों उगलता है?

ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि घडियाल कितना भयानक जलचर है। कहीं-कहीं लिखा है कि अफ्रीका मे ३०-४० फीट तक लम्बे घड़ियाल पाये जाते हैं, परन्तु यह केवल गप्प है। यह सच है कि बड़े से बड़ा घड़ियाल

अफ़्रीका में पाया जाता है, किन्तु १६ फ़ीट ६ इञ्च से बड़े घड़ियाल का सच्चा वृत्तान्त कहीं भी नहीं मिलता। सन् १६३४ में एक भारतीय समाचारपत्र में गंगा नदी में मारे गए १६ फ़ीट कुछ इञ्च लम्बे एक घड़ियाल का और अन्य एक १७ फ़ीट लम्बे मगर का चित्र छपा था।

घड़ियालों के पेट में बहुधा खाए हुए जीवों के हाथ, पैर, खुर, सींग और आभूषणों के अतिरिक्त पत्थरों के टुकड़े भी मिले हैं। इस प्रश्न पर कि घड़ियालों के पेट में पत्थरों के टुकड़े क्यों मिलते हैं, बहुत-कुछ वाद-विवाद हो चुका है। इस विषय पर सबसे बढ़िया उदाहरण सर हेनरी एच० ओसलर का है, जिसे उन्होंने सन् १६३६ ई० में इस प्रकार प्रस्तुत किया था—"मुझे कैरन्स नगर में एक मनुष्य मिला, जिसने चार वर्ष से १५ फ़ीट लंबा एक घड़ियाल पाल रक्खा था। इस घड़ियाल को हर तीसरे सप्ताह भोजन दिया जाता था और वह पूर्ण स्वस्थ था। उस घड़ियाल के बाड़े में एक स्थान पर उस मनुष्य ने मुट्ठी के बराबर पत्थरों का एक ढेर देखा और उसे यह जानने की इच्छा हुई कि ये पत्थर कहाँ से आए। एक रात को उसने उस घड़ियाल को एक विचित्र प्रकार की आवाज करते सुना। यह सोचकर कि कदाचित् उसे कोई कष्ट है, जब वह अपनी टार्च उठाकर उस ओर गया तो उसने घड़ियाल को पत्थर उगलते पाया! कहते हैं, धीरे-धीरे उसने आठ पत्थर उगले। जब भोजन देने की अगली बारी आई तो उसने भोजन खा लेने पर उन आठों पत्थरों को निगल लिया और कई दिन पश्चात् फिर उन्हे उगल दिया। इस तरह पत्थरों को निगलना और उनको फिर बाहर निकाल देना उस घड़ियाल का स्वभाव-सा था।" इससे यह पता चलता है कि घड़ियाल केवल अपने भोजन पचाने में सहायता लेने के लिए पत्थरों को निगलता है और जब भोजन पचकर आमाशय से नीचे खिसक जाता है, तो वह उन्हे उगल देता है! यही कारण है कि बहुधा लोगों को घड़ियाल के पेट से पत्थर मिले हैं।

कछुए और कूर्म

नाक और घड़ियाल की रक्षा उनके पीठ की बहुत कड़ी खाल द्वारा होती है। कछुओं और कूर्मों मे वैसी खाल के बदले चौड़े और कड़े परतों का एक विचित्र कवच-सा होता है। यदि कछुओं और कूर्मों से हम इतने अधिक परिचित न होते तो उन्हे भी हम पृथ्वी के अद्भुत जंतुओं मे अवश्य समझते। उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी पृष्ठवंशी जीव में इस प्रकार बाहर की ओर ठठरी नहीं पाई जाती। संसार मे उनका ही कवच सबसे अधिक सुदृढ़ है और वह ढाल की तरह उनकी सपूर्ण पीठ तथा पेट को ढँके रहता है। खटका होने पर अपना सिर, पूँछ, हाथ और पैर सब उस कवच के भीतर वे खींच लेते हैं और नीचे की हड्डियों को इस प्रकार मोड़ लेते हैं कि उनके किनारे ऊपरी ढाल के किनारों से जा मिलते हैं। ऐसी अवस्था मे साधारण शत्रुओं के लिए उन्हे हानि पहुँचाना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है। इस प्रकार वे बिना लड़े अपने को बचा लेते हैं। वास्तव मे ये युद्ध के पक्के विरोधी होते हैं।

गंगा नदी में पाया जानेवाला लंबी थूथनवाला मगर—नाक
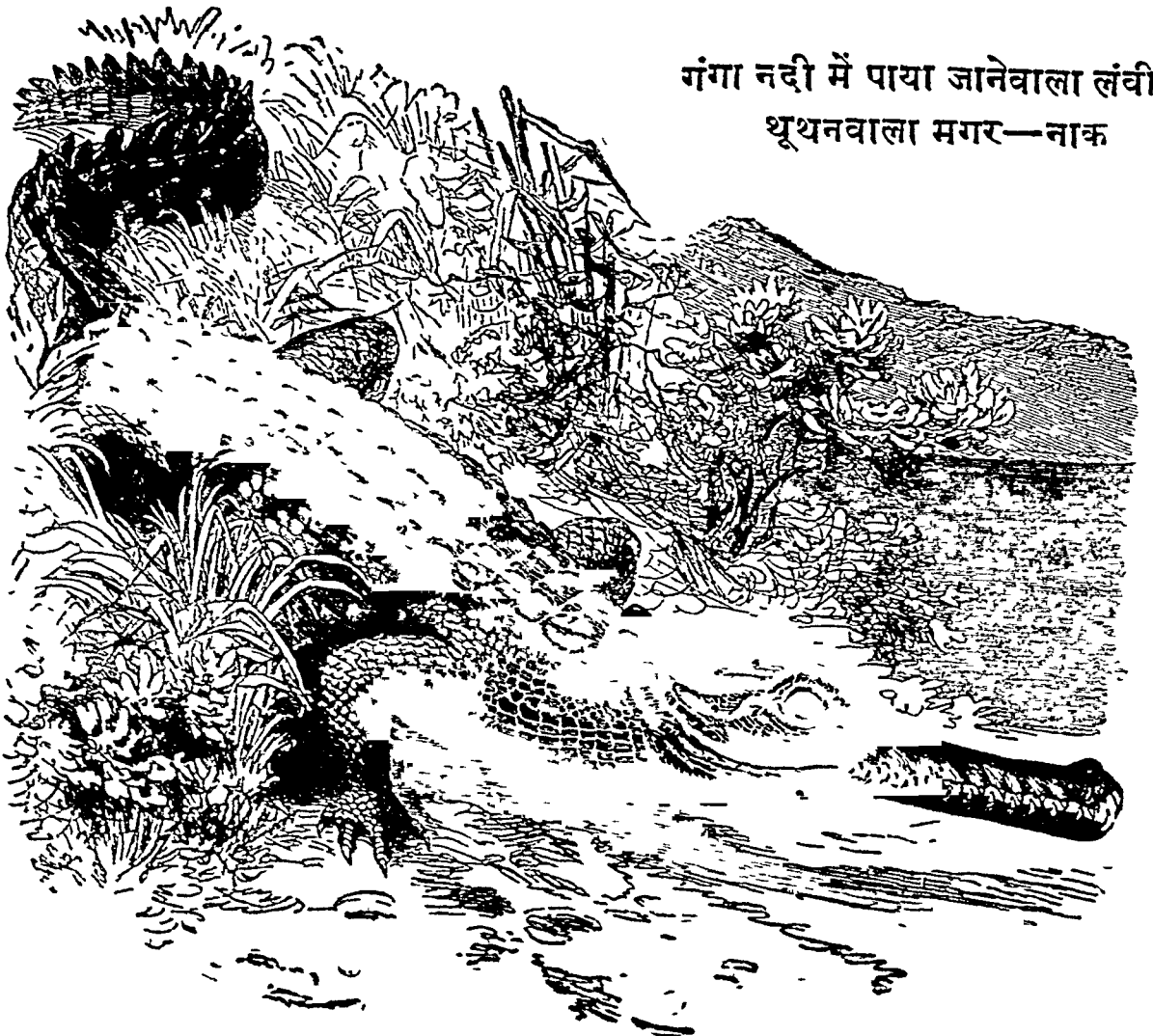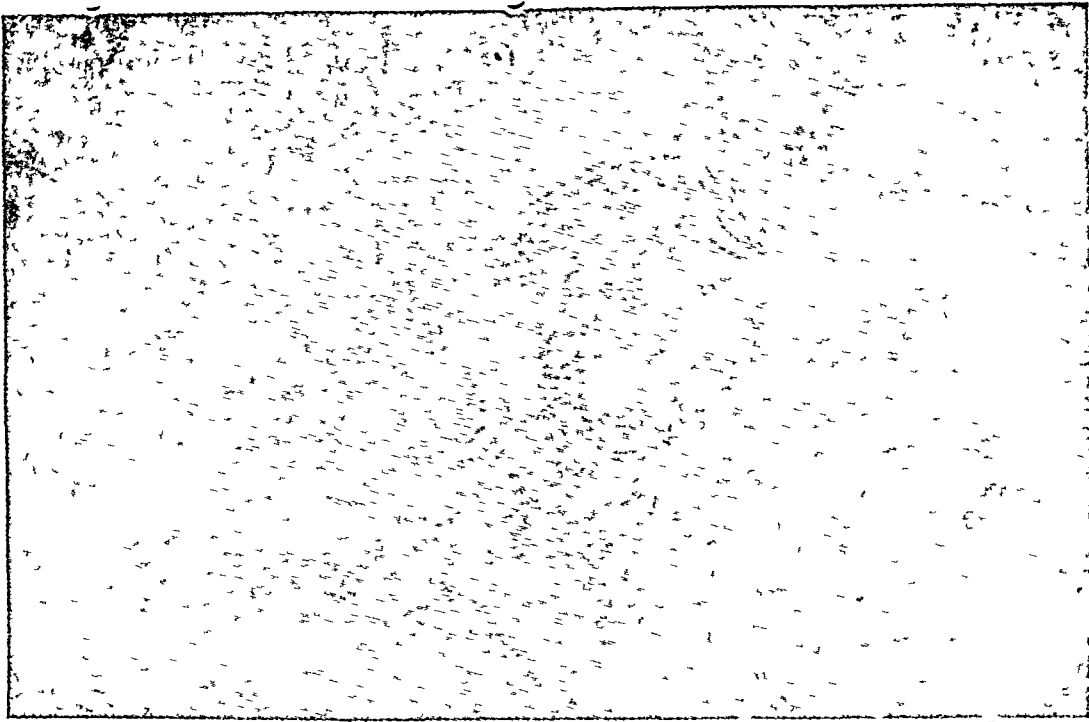
समुद्रों में पाया जानेवाला दैत्याकार हरा कूर्म
जिसका बहुत अधिक शिकार किया जाता है। यह तैरने में बड़ा निपुण होता है। उसके आगे के पैरों पर ध्यान दीजिए।

संसार में कच्छपों की लगभग तीन सौ परिचित जातियाँ पाई जाती हैं, पर इस लेख में हम इनमें से दो-चार मनोरंजक जातियों का ही परिचय आपको करा पाएँगे। समुद्री कच्छपों में सबसे बड़ा कूर्म वह है, जिसे हम चमड़ेवाला कूर्म (Leathery या Trunk Turtle) कहते हैं। यह समुद्री दैत्य छः फीट से भी अधिक लम्बा होता है और उसका वजन दस मन से भी अधिक पाया जाता है। ऐसे बड़े प्राणियों की मजबूत टाँगों का फैलाव दस फीट तक होता है। यह समुद्री दैत्य पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों के विषुवत् तथा समशीतोष्ण समुद्रों में पाया जाता है। इतना भारी होते हुए भी वह ऐसी सुगमता से तैरता है कि उसे देखकर हवा में चील का उड़ना याद आ जाता है। अपने वर्ग का यह एकमात्र सदस्य बाकी रह गया है। यह कच्छप केवल अंडे देने के लिए ही पृथ्वी पर आता है।

हिन्दी भाषा ही में नहीं बल्कि अंग्रेजी में भी कई शब्द इन प्राणियों के लिए बिना किसी भेद-विचार के प्रयोग में लाए गए हैं। कुछ विदेशी लेखकों ने स्थलचर और स्थल-जलचर दोनों प्रकार के कछुओं के लिए 'टॉरटॉइज' (Tortoise) नाम रक्खा है और समुद्री कछुओं के लिए 'टर्टल' (Turtle) शब्द का प्रयोग किया है। दूसरों ने समुद्री और स्थल-जलचर दोनों को ही टर्टल कहा है। टॉरटॉइज में वे केवल उन्हीं कच्छपों की गणना करते हैं जो बिलकुल स्थलचर हैं। एक और शब्द 'टेरापिन' (Terrapin) भी उन समूहों के कच्छपों के लिए कहीं-कहीं आया है, जो बाजारों में बेचे और खाए जाते हैं। हिन्दी भाषा में इन प्राणियों के लिए चार शब्द पाये जाते हैं—कच्छप, कछुआ, कूर्म और कमठ। यह उचित जान पड़ता है कि जिस प्रकार अँग्रेजी भाषा के वैज्ञानिक लेखों में इन जीवों के लिए उपयुक्त नामों का निर्णय कर लिया गया है उसी प्रकार हम भी अपनी भाषा में कर लें। अंग्रेजी शब्द 'किलोनिया' (*Chelonia*) के बदले, जो सम्पूर्ण कच्छप वर्ग (order) के लिए नियत किया गया है हम 'कच्छप' शब्द का, एकदम स्थलचर जातियों के लिए 'कमठ' (टॉरटॉइज) शब्द का, स्थलजलचर और समुद्री जातियों के लिए 'कूर्म' (टर्टल) शब्द या और मीठे जलों में रहने वाले जन्तुओं के लिए 'कछुआ' (टेरापिन) शब्द का प्रयोग करेंगे।

बम्बई के तट पर एक ही वर्ग के तीन प्रकार के कूर्म पाये जाते हैं। इनमें से हरा कूर्म सबसे बहुमूल्य होता है, क्योंकि वह बड़े चाव से खाया जाता है। स्थल पर इस उरगम की चाल भद्दी और आलसी जान पड़ती है, किन्तु तैरने में वह बड़ा निपुण होता है। उसके प्रत्येक पैर में नख नहीं होता। दूसरी प्रकार का एक कूर्म 'बाजचोंचा' है, जिसे अंग्रेजी में हॉक्सबिल (Hawksbill) कहते हैं, क्योंकि उसके पक्षी की तरह चोंच होती है। उसके हाथों और पैरों में दो-दो नख होते हैं। इसे लोग खाते नहीं, फिर भी निर्दयतापूर्वक उसका शिकार अवश्य करते हैं। उसकी खाल पर एक विशेष प्रकार के छिलके होते हैं, जो साफ होने और चमकाए जाने पर सुन्दर लाल-पीले धब्बों के रूप में चमक उठते हैं। आँच द्वारा वे छिलके एक दूसरे से जोड़े और भिन्न-भिन्न

रूपों मे ढाले जा सकते हैं तथा उनसे नाना प्रकार की वस्तुऍ बनाई जाती हैं, जैसे स्त्रियों के बालों मे लगाए जानेवाले कॉटे, कघियॉ, पाउडर केस, डब्बे आदि। इनके अतिरिक्त उनसे चश्मों की उत्तम कमानियॉ भी तैयार की जाती हैं।

तीसरे प्रकार का कूर्म वह है, जिसे अग्रेजी मे 'लॉगरहेड' अर्थात गावदी या कठखोपड़ी वाला कूर्म कहते हैं। उसका सिर औरो की अपेक्षा बड़ा होता है और उसकी पीठ पर दोनो ओर पॉच-पॉच छिल्के होते हैं। ये जीव तीन साढे तीन फीट के होते हैं, किन्तु इनमे से कोई-कोई छः मन से भी अधिक भारी पाया गया है। इनका मास भी खाया जाता है, किन्तु हरे कूर्म की अपेक्षा यह घटिया माना जाता है। हरी जाति के कूर्म विशेषकर समुद्री वनस्पतियो को ही खाते हैं, किन्तु कभी-कभी शेष जातियो की भॉति वे मछली, घोंघा जैसे जीवो को भी खा लेते हैं। अधिकतर कच्छप मासाहारी ही होते हैं। वे मरे हुए जीवो का मास तो प्रायः खाते ही हैं, पर कभी-कभी नहाते हुए मनुष्यों पर भी आक्रमण कर बैठते हैं और उनका मास नोच ले जाते हैं।

मीठे जलों में निवास करनेवाले कच्छपों मे भी तरह-तरह के जीव होते हैं। उनका एक वर्ग केवल उत्तरी और मध्य अमेरिका मे पाया जाता है। उनको साधारणतः 'झटका मारनेवाले कछुए' कहते हैं, क्योंकि उनकी झपट सॉप-जैसी तेज होती है। अपने बड़े सिर, घड़ियाल-ऐसी दुम, अगों से लटकती हुई खाल और सीने की विचित्र छोटी-सी हड्डी के कारण वे अन्य जातियों से पृथक् जान पडते हैं। उनके जबडे बडे मजबूत होते हैं। झटकनेवाले सभी कछुए आसानी से मनुष्य की अँगुलियॉ काट लेते हैं और घड़ियाल-जाति के बडे कछुए कभी-कभी पूरा हाथ तक काट ले जाते हैं। इनमे सबसे बड़ा और भयानक घडियाल-कछुआ है, जो मन भर से भी अधिक भारी होता है और जिसका सिर लगभग मामूली कुत्ते के बराबर होता है। ये प्राणी पानी के नीचे चुपचाप पडे रहते हैं और ज्योंही कोई ग़ाफ़िल मछली ऊपर से निकलती है, तुरन्त झपटकर उसे हड़प लेते हैं।

मीठे पानी के कछुओं मे एक वर्ग नर्म खप्परवालों का भी पाया जाता है। उनका खप्पर बहुत चपटा और लगभग गोल या चौडा अंडाकार होता है। उसके ऊपर सीग-जैसे चीमड छिलके नही होते। पीठ के बीच का भाग छोड़कर उनमे और बाकी जगह की हड्डी नर्म और लचीली होती है। नर्म खालवाले कछुए उत्तरी अमेरिका, एशिया, अफ्रीका और मलाया द्वीप-समूहों मे पाए जाते हैं। अमेरिका मे वे बड़े शौक से खाए जाते हैं। गगा नदी मे मिलनेवाला नर्म खालधारी ट्राइओनिक्स वश का कछुआ एशिया की बड़ी जातियों मे से एक है। उसका रंग धुँधला हरे रंग का होता है और उस पर सुन्दर काले धब्बे रहते हैं। इस तरुण जाति के कछुए के खप्पर दो फीट लबे होते हैं।

दक्षिणी अमेरिका के ब्राजिल नामक प्रान्त मे एक

पुरानी दुनिया का सबसे बड़ा कमठ—टेसट्यूडो ऐलिफ़ैन्टाइना (हाथी कमठ) जो हिन्द-महासागर के अल्दाबरा द्वीप-समूह मे पाया जाता है। इसके उभरे हुए खप्पर पर ग़ौर कीजिए।
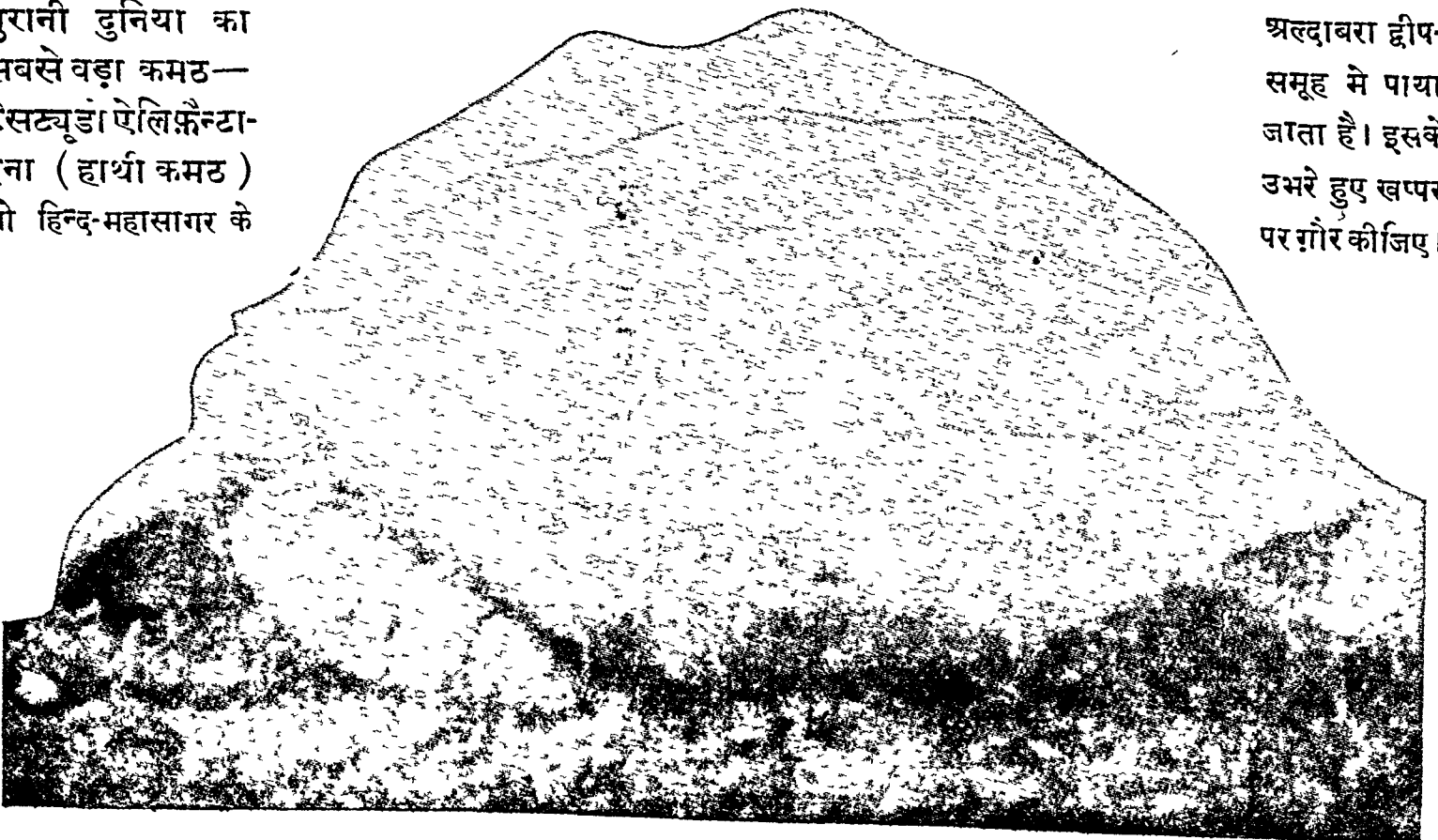
विचित्र प्रकार का दरियाई कछुआ पाया जाता है। उसके खप्पर का प्रत्येक छिलका ऊपर को उभरा रहता है, जिससे उसकी पीठ बडी खुरखुरी लगती है और उसकी टोंड़ी से एक केचुए-जैसा खाल का लम्बा सूत निकला रहता है। इस सूत को जब वह भूखा होता है तब धीरे-धीरे पानी में इस प्रकार हिलाता है कि पास से निकलनेवाली मछलियाँ उसको सचमुच केचुआ समझकर खाने के लिए बढती हैं। परन्तु तुरन्त ही अपनी भूल उन्हे जान पडती है, क्योंकि कछुआ फुर्ती से झपटकर उन पर आक्रमण करता है और यदि वे बच न सकी तो उन्हे अपना शिकार बना लेता है। इस 'माठा-माठा' नामक कछुए की आँखे बहुत छोटी और आगे को इतनी उभरी होती हैं कि जिससे उसकी सूरत अजीब मसखरी जान पडती है। 'एमिस' वश के कछुए मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका और एशियाई कोचक के तालाबों मे बहुतायत से पाये जाते हैं। उनका ऊपरी रग गहरा बादामी या काला होता है, जिसके ऊपर चटक पीले रग के सुन्दर धब्बे और कभी कभी पतली लकीरे भी होती हैं। बहुत पुराने होने पर इनके ये निशान फीके पड जाते हैं।

कछुओं का सबसे बडा वर्ग टेसट्यूडिनिडी (*Testudinidae*) है, जो ऑस्ट्रेलिया और न्यूगिनी को छोडकर पृथ्वी के समस्त गर्म तथा समशीतोष्ण भागों मे पाया जाता है। उसमे चौटी झिल्लीदार पैरवाले जल मे रहनेवाली जातियाँ, दलदलों मे रहनेवाली जातियाँ (जिनके पैरों मे छोटी झिल्ली होती है), तथा स्थल-निवासी जातियाँ (जिनके बिना झिल्ली के डडे ऐसी टाँगे होती हैं) सम्मिलित हैं। इन सबके खप्परों पर सींग की हड्डी जैसे चीमड छिल्के होते हैं और अधिकाश वे अपना सिर बिलकुल उस खप्पर के अन्दर खींच लेते हैं। छोटी जाति के कछुए बहुधा तालाबों में भी पाए जाते हैं और वे किनारे पर या तैरती हुई लकड़ियों पर पक्ति में बैठे दिखाई देते हैं। खटका होने पर वे भद्दे ढग से जल में उतर जाते हैं और पेंदे में जाकर छिपे रहते हैं। जब फिर ऊपर आते हैं तो बडी सावधानी से वे पहले केवल अपनी थूथन और आँखे ही पानी के ऊपर निकालते हैं और तैरते हुए भली भाँति इधर-उधर देखते हैं कि अब खटका तो नहीं है। पूर्ण रूप से निश्चिन्त हो जाने पर वे फिर उन लकडियों पर या किनारे पर एक के बाद एक धूप खाने के लिए आ बैठते हैं। वे सर्वभक्षक होते हैं और छोटी-छोटी मछलियाँ, मेंढक, पानी के कीडे-मकोडे आदि खाकर जीवन व्यतीत करते हैं। इसी तरह के अर्धजलचर कच्छपों को किसी किसी लेखक ने अग्रेजी भाषा में टेरापिन कहा है और बाक़ी मीठे जलनिवासी कच्छपों को समुद्री कच्छपों के समान 'टर्टल' के नाम से पुकारा है। शीतकाल में उनमें से अधिकतर छिछले पानी के नीचे मिट्टी में घुसकर चुप-चाप सोते हुए से पड़े रहते हैं और इसी प्रकार सोते-सोते वे सारा जाड़ा व्यतीत कर देते हैं।

अर्ध-जलचर कच्छपों का डमोनिया नामक एक वंश भारतवर्ष, चीन और जापान में पाया जाता है। इस वश के प्राणी कदाचित् ही चार इच से अधिक लम्बे होते हों। उनका खप्पर ऊँचा और सँकड़ा होता है। अधिकाश जातियों मे पीठ के ऊपर तीन पैनी नोकें-सी निकली हुई होती हैं। ये बडे फुर्तीले तैराक होते हैं। पकड़कर रखने पर वे इतने पालतू हो जाते हैं कि जल के बाहर आकर मनुष्य के हाथ से भोजन ले लेते हैं। परन्तु वे बडे डरपोक होते हैं। हाथ से छूने पर उनकी दुम के पासवाली ग्रथियों से ऐसी बुरी दुर्गन्ध निकलती है कि दुबारा उन्हें छूने की इच्छा ही नहीं होती।

जलचर और अर्ध-जलचर कच्छपों के पश्चात् अब हम स्थलचर कच्छपों का वर्णन करेंगे। ये कमठ बनावट तथा स्वभाव दोनों ही में कूर्म और कछुओं से अधिक भिन्न है। उनका खप्पर बहुत ऊँचा होता है और उनके अगों म झिल्ली नहीं होती। वे अधिकतर मन्दगतिवाले क्रूर जीव होते हैं, पर उरगमों में सबसे अधिक चतुर समझे जाते हैं। कहा जाता है कि उनमें गरम रक्तवाले जीवों के समान तर्क-शक्ति होती है। वे बहुधा दूर-दूर तक घूमने निकल जाते हैं और घूम फिर-कर लोमड़ी की तरह बिना भूले-भटके वहीं वापस लौट आते हैं। कुछ कमठ ऐसे भी हैं, जो गर्म से गर्म मरुस्थलों में बिल बनाकर रहते हैं। तडके ही बाहर आकर वे इधर-उधर चरते-फिरते हैं। नई दुनिया मे कमठ की बहुत कम जातियाँ पाई जाती हैं। परन्तु अफ्रीका मे इनकी बहुत-सी जातियाँ मिलती हैं। सबसे बडे डीलडौलवाले कमठ हिन्द तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूहों में मिलते हैं।

अफ्रीका के सबसे बडे कमठों में टेसट्यूडो वश का कच्छप है, जो एबीसीनिया मे पाया जाता है। उसका खप्पर कुछ चिकना-सा होता है और उसके अग बडे हड्डीदार ढाँचे मे मढ़े होते हैं। नई दुनिया का सबसे बडा कमठ टेसट्यूडो विसिना है, जो गेलापेगस के द्वीपसमूहों में पाया जाता है। पुरानी दुनिया का सबसे बडा कमठ टेसट्यूडो ऐलिफैन्टाइना (हाथी कमठ) है, जो हिन्द महासागर के अल्दाबरा द्वीप-समूह मे मिलता है। गेलापेगस वाले एक कमठ का वज़न एक सौ पचास सेर और खप्पर की लम्बाई चार फ़ीट तीन

इंच तथा ऊँचाई बीस इंच थी। इन भीमकाय कच्छपों की एक खास विशेषता उनकी दीर्घ आयु है, जिसका उल्लेख हम 'विश्व-भारती' अंक १६, के पृष्ठ १६०५-१६०६ पर विस्तारपूर्वक कर चुके है। कहते हैं, उनकी आयु १५० वर्ष से लेकर ४०० या ५०० वर्ष तक की पाई गई है। डार्विन ने अपनी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अनुसंधान-यात्रा के क्रम में गेलापेगस द्वीप-समूह का भी निरीक्षण किया था और इन विशाल कच्छपों का दिलचस्पी के साथ अध्ययन किया था। हिसाब लगाकर उन्होंने देखा था कि इन कच्छपों की चाल बहुत धीमी थी—वे दस मिनट मे ६० गज और पूरे दिन भर मे लगभग ४ मील का फासला तय कर पाते थे। परन्तु जब उन्हे प्यास लगती थी और पानी की खोज में वे निकल पड़ते थे तो काफी लंबी दूरी तक जा पहुँचते थे। डार्विन ने पानी के झरनों के मार्ग पर इन दैत्याकार कच्छपों की एक कतार को ऊँची गर्दन किए प्यास बुझाने के लिए झरनों की ओर जाते हुए और दूसरी कतार को जी भरकर पानी पीने के बाद वापस पलटते हुए देखा था और उन्होंने लिखा है कि इन रेंगनेवाले जीवों के निरन्तर आवागमन के फलस्वरूप राह की चट्टाने कई जगह इतनी चिकनी हो गई थीं कि उन पर, विशेषकर वर्षाकाल में, किसी के लिए भी चल पाना असंभव-सा था। जैसा कि जानवरों की आयु संबंधी लेख में बताया जा चुका है, इन महाकाय जीवधारियों की आयु इतनी लम्बी होती है कि किसी ने भी उन्हे आज तक स्वाभाविक मृत्यु द्वारा मरते नहीं देखा—जब भी उनमे से कोई मरा, प्रायः किसी दुर्घटना के कारण अकाल मृत्यु ही से मरा! गेलापेगस द्वीप-समूह के इन महाकच्छपों के बारे मे एक और ग़ौर करने जैसी दिलचस्प बात यह है कि उक्त समूह के विविध द्वीपों में इनकी विविध जातियाँ मिलती है।

दुर्भाग्यवश शिकारियों की ज्यादतियों के कारण अब इन अद्भुत् प्राणियों के गिने-चुने नमूने ही उक्त द्वीपों मे शेष रह गए हैं। डेम्पियर और अन्य प्रारंभिक यात्रियों ने उक्त द्वीपो मे इनके झुंड के झुंड देखे थे। पर विलियम बीब नामक वैज्ञानिक को पिछले दिनों केवल एक ही ऐसा भीमकाय कमठ वहाँ मिल सका और वह बेचारा भी जिन्दा न रह सका, क्योंकि यह देखने के लिए कि वह पानी मे तैरता है कि नहीं जब वह समुद्र में उतारा गया तो वह कुछ देर तो तैरा सही, पर अंत मे उसका दम टूट गया! केवल उसके तैरने की कुछ सौ फीट लम्बी सिनेमा की फिल्म ही ली जा सकी!
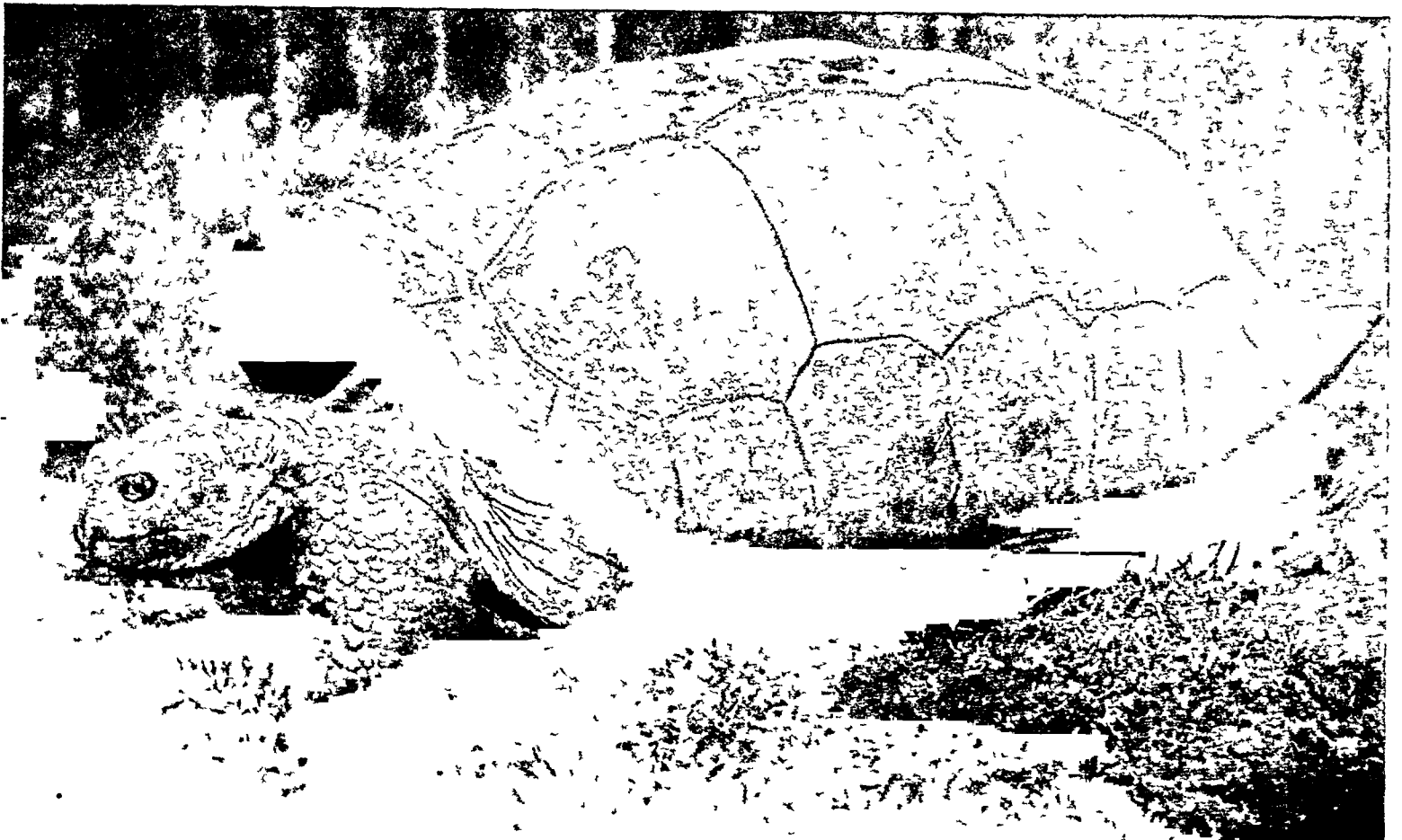
गेलापेगस द्वीप-समूह का एक भीमकाय दीर्घजीवी कमठ

अल्दावरा के कमठ का सिर बहुत छोटा और उसकी गर्दन साँप-जैसी लम्बी होती है। उसका खप्पर सबसे अधिक उभरा हुआ होता है।

कमठ भूमि पर ही रहते हैं। वे कीड़े-मकोड़े, बिना छिलकेवाले घोंघे और वनस्पति पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। उनके मुख मे ऊपरी दाँत बिलकुल नहीं होते, परन्तु उनके जबडों का किनारा तेज होता है।

इन ठडे रक्तवाले जीवों की चतुराई जानकर बड़ा अचम्भा होता है। अजायबघरों में पले हुए कच्छप अपने रखवाले को जल्द पहचान लेते हैं और ज्योंही उसको अपने बाड़े मे आते देखते हैं, त्यों-ही उसकी ओर धीरे-धीरे बढने लगते हैं। अपनी लम्बी गर्दन ऊपर उठाकर वे उसके हाथ से केले ले-लेकर खाते हैं। लेकिन वे परिचित रखवाले को भी अपना सिर नहीं छूने देना चाहते। छूने पर वे तुरन्त सिर खींचकर गले से एक अजीब गडगड़ाहट की आवाज निकालते हैं।

सागर मे पाया जानेवाला 'बाज़चोंचा' नामक कूर्म
इसके सुन्दर लाल-पीले धब्बों वाले कवच के लिए ही लोग इसका निर्दयतापूर्वक शिकार करते हैं!

प्रेम करते समय इनमें एक अद्‌भुत् लीला देखी जाती है। उस समय नर मादा के चारों ओर अकड़ते हुए चक्कर लगाता है और रह-रहकर उसके खप्पर की ओर मुँह करके खडा हो जाता है। तब अपनी ठूँठ जैसी मजबूत टाँगों पर भरसक ऊँचा उठकर वह अपने खप्पर से उसके खप्पर को दस-पन्द्रह बार जोर-जोर से टकराता है। साथ ही वह गहरी तुरही जैसी आवाज भी करता है!

कूर्म और कछुए भी मगर की भाँति अपने अंडे पानी के बाहर ही देते हैं। जब अंडा देना होता है तो मादाएँ चाँदनी रात में सुनसान किनारे पर निकल आती हैं और बडी चैतन्यतापूर्वक वे धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं। तब उचित स्थान पर वे अपने पैरों से बालू में एक गड्ढा खोदकर उसमे अडे देती हैं। यह कार्य पूर्ण हो जाने पर वे अंडों को बालू से ढँक देती हैं और धीरे-धीरे अपने निवासस्थान (जल) को लौट जाती हैं। अडों की खालें नर्म होती हैं। वे सूर्य की उष्णता से पक जाते हैं।

कछुओं को पकड़ने के तीन तरीके हैं। तट पर बैठे हुए कछुए को यदि अचानक उलट दिया जाय तो वह बिलकुल विवश हो जाता है। भाग न सकने के कारण सहज में वह पकड़ा जा सकता है। पानी पर तैरते ही तैरते कछुए कभी-कभी सो भी जाते हैं, ऐसी अवस्था में पकड़नेवाले तैरकर चुपके से उनके पास चले आते हैं और रस्सी का फदा पैर मे डालकर खींच लेते हैं। टाँग बँध जाने पर वे जहाँ भी इच्छा हो ले जाए जा सकते हैं। सिचलीज और भामा-द्वीप समूहों के मनुष्य उनका शिकार प्रायः भालों से करते हैं। हम भारत-वासी हिन्दू लोग भगवान् के अवतारों में से एक के साथ सम्बन्धित होने के कारण कछुए को पवित्र मानते हैं और उसकी रक्षा करना अपना धर्म और कर्त्तव्य समझते हैं। जब कभी वे जाल मे फँस जाते हैं तो मछुए उन्हे फिर से पानी में छोड देते हैं। बूढी स्त्रियाँ तीर्थस्थानों में प्रायः रामनाम की गोलियाँ और लाई-चना उनके लिए छोडती हैं। मथुरा और वृन्दावन में इसी कारण घाट के किनारे सुबह-शाम सैकडों कछुए आ लगते हैं। कई प्रकार के कछुए भारतीय नदियों और झीलों मे पाए जाते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हे कंजर जैसी नीची जाति के लोग खाते भी हैं। पूर्वी बगाल और ब्रह्मा के निवासी भी उन्हे चाव से खाते हैं।
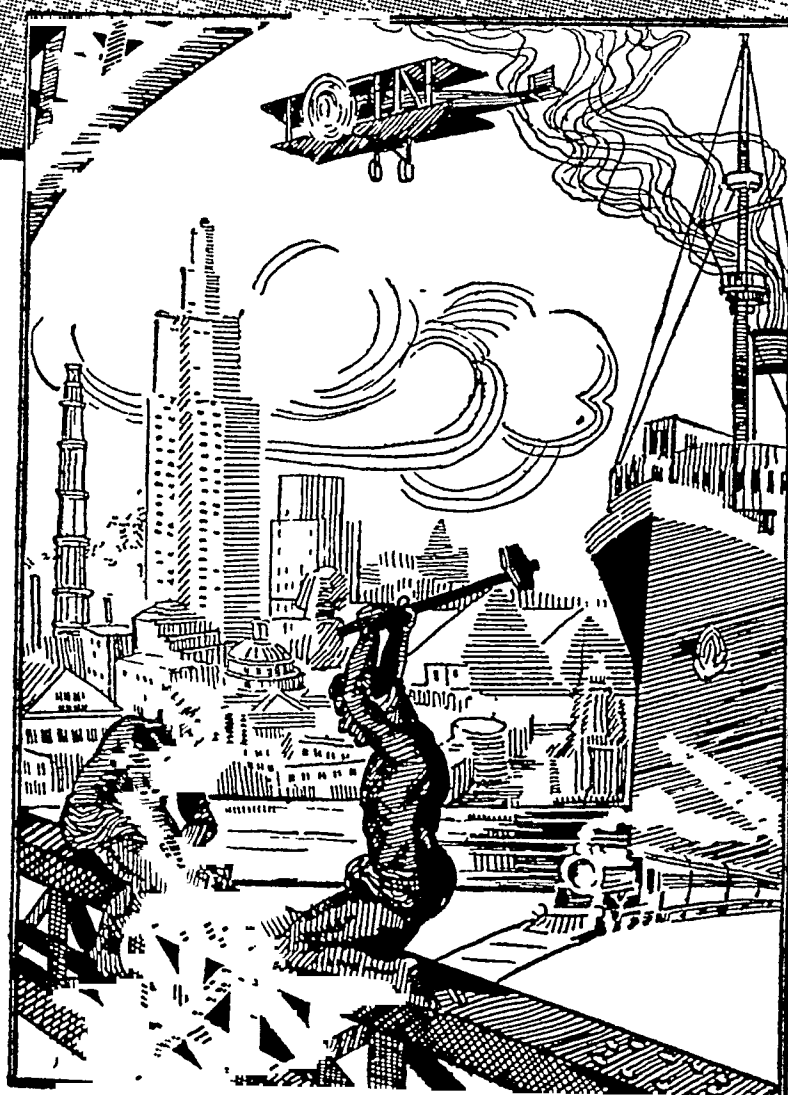
मनुष्य
की कहानी
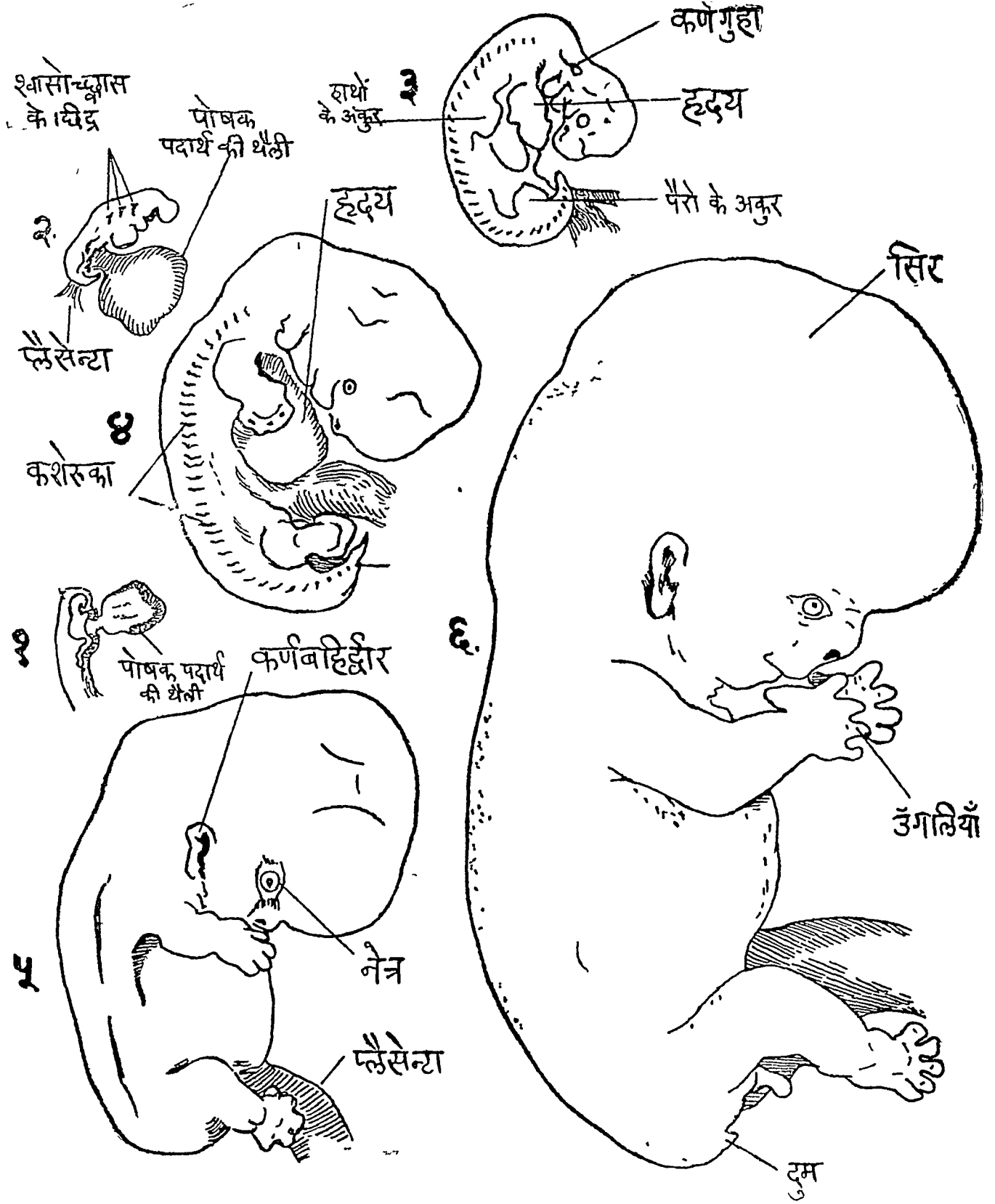
गर्भाशय में मानव-भ्रूण के विकास की प्रारंभिक छः मंज़िलें

१. पंद्रह दिवस का भ्रूण—यह पोषक पदार्थ की थैली से संयुक्त एक प्रकार के आवरण में सुरक्षित है, २. इक्कीस दिवस का भ्रूण—इसके गले में मछलियों के गलफड़े जैसे श्वासोच्छ्वास के छिद्र हैं; ३. सत्ताइस दिवस का भ्रूण—यह कछुए, पक्षी या किसी स्तनपोषी प्राणी के भ्रूण जैसा दिखाई देता है; ४. बत्तीस दिवस का भ्रूण—क्या पता कि इसकी दुम और डैनेनुमा हाथ-पैरों को देखते हुए कहीं यह सील-जैसा एक जलजीव ही न बन जाय; ५. चालीस दिवस का भ्रूण—इसके कान और उंगलियों को देखते हुए क्या यह एक वानर जैसा नहीं दिखाई देता; ६. दो मास का भ्रूण—यह मानवसम वानर (ape) से कितना अधिक मिलता-जुलता दिखाई देता है! दुम अब भी एकदम ग़ायब नहीं हो पाई है।

मनुष्य अपना उत्पादन कैसे करता है ?

२. हमारे जीवन के प्रथम नौ मास

पिछले लेख में आप स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियों की रचना और कार्य-प्रणाली के संबंध में जानने-योग्य आवश्यक बातें जान चुके हैं। इसके बाद यह स्वाभाविक ही है कि आप यह भी जानना चाहें कि किस प्रकार हमारा जन्म होता है और हमारे जीवन के आरंभिक नौ महीने किस तरह से माता के गर्भ में व्यतीत होते हैं। यह तो आपको ज्ञात हो ही चुका है कि हममें से प्रत्येक के जीवन का आरंभ एक सूक्ष्म जीवकोष के रूप में ही हुआ है, किन्तु किस आश्चर्यजनक रीति से वह एकाकी कोष क्रमशः विभाजित होकर लगभग २७५ दिन की अवधि में अनगिनत कोषों के पिण्ड का रूप ले नर अथवा नारी का आकार-प्रकार ग्रहण कर लेता है, यह भी जानने के लिए आप अत्यधिक उत्सुक होंगे। अतएव इसी विषय का प्रस्तुत प्रकरण में अब हम विवेचन करने जा रहे हैं।

संतानोत्पत्ति विवाह का स्वाभाविक परिणाम है

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि प्रकृति एक बड़ी चतुर जादूगरनी है। तभी तो अपने वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट रूप से खोलकर बतलाने के बजाय उसने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध की ऐसी योजना बनाई है और उन्हें एक-दूसरे के प्रति इतना अधिक आकर्षक और सुखदायक बना दिया है कि ज्योंही उचित अवस्था आती है, त्योंही अधिकांश स्त्री-पुरुषों में एक-दूसरे से प्रेम करने और विवाह करने की एक स्वाभाविक हूक-सी जग उठती है। और जिस प्रकार उनका परस्पर प्रेम करना एक स्वाभाविक और सामान्य-सी बात है, उसी तरह विवाहित हो जाने पर उनके संतान उत्पन्न होना भी एक बिल्कुल स्वाभाविक और सामान्य-सी घटना है। इसका आरंभ किस प्रकार होता है, इसका कुछ-कुछ आभास हम पिछले लेख में दे ही चुके हैं। जब किसी समय दम्पति की संभोग-क्रिया में स्त्री के संतानोत्पादक कोषों अर्थात् डिम्ब-कोषों में से किसी एक के साथ पुरुष द्वारा उसके शरीर में प्रविष्ट लाखों शुक्राणुओं में से किसी एक का सम्मिलन हो जाता है, तो स्त्री की जननेन्द्रियों की समस्त क्रिया-प्रक्रिया में एकबारगी ही एक अजीब परिवर्त्तन होने लगता है, जिससे कि वह इस नवीन संयुक्त कोष-समूह को, जिसमें एक नवीन प्राणी का अंकुर छिपा रहता है, अपने शरीर में टिकाकर उसकी समुचित वृद्धि करते हुए क्रमशः एक शिशु का रूप दे सके। जब यह घटना घटती है तो यह कहा जाता है कि स्त्री गर्भवती हो गई है अर्थात् उसके गर्भ में संतान का बीजारोपण हो गया है। इसके उपरान्त उस नवांकुरित गर्भ की वृद्धि और विकास के कार्य में जो-कुछ भी भाग लिया जाता है, वह केवल स्त्री

भ्रूण का केन्द्रीय कोष समूह
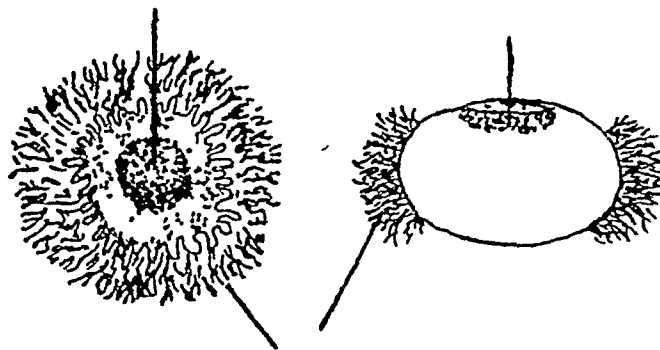
ग्राहकांकुर

इस चित्र में एक गर्भयुक्त डिम्ब या आरंभिक भ्रूण का (बाईं ओर) सामने का दृश्य और (दाहिनी ओर) पार्श्व की ओर से काटने के बाद का दृश्य दिखाया गया है। चित्र में असली से पाँच गुना बड़ा आकार दिग्दर्शित है। यह बीजयुक्त डिम्ब आत्म-हत्या करके मर जानेवाली एक स्त्री के गर्भाशय में से मिला था और उसका नाप ५.५×३.३ मिलीमीटर था। यह लगभग १२-१३ दिन का गर्भ रहा होगा।

द्वारा ही लिया जाता है, पुरुष को वस्तुतः अब इस कार्य मे आगे कुछ भी करना-धरना नही पड़ता ।

ज्योंही डिम्ब का शुक्राणु से सयोग होता है, मानों वह पहले ही से जानता है कि अब इसके बाद उसे क्या काम करना है ! वह डिम्ब-प्रनाली से गर्भाशय की ओर नीचे खिसकते हुए क्रमशः आगे बढने लगता है और साथ-ही-साथ वह आकार में भी बढता हुआ विभाजित होता जाता है । आरंभ मे वह दो हिस्सों मे बँट जाता है, जो जुदा नहीं होते, बल्कि एक-दूसरे से जुडे रहते हैं और क्रमशः इनमे से प्रत्येक भाग आकार में आरंभिक कोष जितना ही बडा हो जाता है । अब ये नवीन कोष पुनः विभाजित होने लगते हैं और इस प्रकार के लगातार पुनर्विभाजन द्वारा क्रमशः उनके चार, आठ, सोलह और बत्तीस आदि विभाग बनते चले जाते हैं । इस सिलसिले के लगातार जारी रहने के कारण गर्भाशय तक पहुँचते-पहुँचते यह सयुक्त कोष अंत मे अनेक नवीन सक्रिय कोषों के समूह-रूपी एक छोटे-से दाने का रूप ग्रहण कर लेता है ।

भ्रूण अपने भरण-पोषण के लिए माता के शरीर पर निर्भर एक परजीवी प्राणी जैसा होता है

कोष-विभाजन की ऊपर उल्लिखित क्रिया के अतिरिक्त एक और बात भी अब तक इस कोष-समूह में हो जाती है और वह यह है कि उसके सभी कोष एक विशेष ढंग से व्यवस्थित और पक्तिबद्ध हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप यह दाना भीतर से एक पोली गेंद की-सी शक्ल का हो जाता है, जिसकी ऊपरी सतह पर एक मोटी घुंडी-सी उभरी दिखाई देने लगती है । इस स्थिति पर पहुँचकर अब वह गर्भाशय की श्लैष्मिक कलायुक्त भीतरी दीवार मे कही-न-कही घुस-कर अपने लिए जगह बना लेता है, जो कि उसे अपनाने और टिकाए रखने के लिए पहले ही से तैयार-सी रहती है । ज्योंही यह गेंदनुमा छोटा-सा दाना गर्भाशय के उस भीतरी पृष्ठ के सस्पर्श मे आता है त्योंही मानो जादू के स्पर्श से उक्त पृष्ठ की उस जगह की कुछ सेले (जीव-कोष) नष्ट हो जाती हैं और इस तरह दीवार मे बन जानेवाले उस घाव में वह चिपक जाता है और शीघ्र ही गर्भाशय की दीवार के ततुओ से परिवेष्टित होकर माता के पोषक रक्त द्वारा अभिसिंचित होने लगता है । जिन कोषों द्वारा वह गर्भपृष्ठ से जुड़ा रहता है वे उसके लिए माता की रक्त-प्रणाली से पोषक तत्त्व चूसने के साधन का काम देते हैं । इस प्रकार यह नवीन जीवाकुर, जिसे अब हम 'भ्रूण' के नाम से पुकार सकते हैं, एक परजीवी की भाँति अपनी माता के शरीर पर अपना जीवन-निर्वाह करने लगता है । दूसरे सप्ताह के अंत तक इस भ्रूण का आकार लगभग दो मिलीमीटर अर्थात् सवा सूत या मूँग के दाने के बराबर हो जाता है और उसके कलेवर के भीतर निरंतर कोष-विभाजन के कारण बन जानेवाले लसलसे कोष-समूहों के द्वारा अब तीन थैलीनुमा खोखले प्रकोष्ठ बन जाते हैं, जो एक-दूसरे के भीतर रहते हैं । किन्तु अभी भावी शिशु के अंगो का कोई भी आसार या चिह्न इस भ्रूण के शरीर में नही दिखाई देता ।

तीसरे सप्ताह मे भ्रूण की अवस्था

अपने जीवन के तीसरे सप्ताह मे भ्रूण की बड़ी तेजी के साथ वृद्धि होने लगती है और वह आकार में कुछ लंबा-सा हो जाता है । अब उसके दो भीतरी थैलीनुमा प्रकोष्ठों के बीच की दीवार पर एक थालीनुमा गाढी-सी रचना बन जाती है, जिसके बीच क्रमशः एक घाई-सी पड जाती है और भ्रूण उस जगह से अब मुड़ने सा लगता है । यह उसके विकास की एक महत्त्वपूर्ण प्रगति की सूचना है, यद्यपि उसका आकार अभी बहुत छोटा है । वह अब एक गोलाकार पिण्ड से एक प्रकार की लघु किन्तु स्थूलवत् खोखली नलिका मे परिवर्त्तित हो जाता है, गोकि उसके किसी एक हिस्से से दूसरे किसी हिस्से मे अभी कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता । पर शीघ्र ही उक्त भेद भी प्रकट होने लगते हैं । अब उपरोक्त घाई के सम्मुख दो मोटी-सी उभरी हुई श्रेणियाँ बनने लगती हैं । यही आपस मे सिमटकर बाद में उसके मस्तिष्क (brain) का निर्माण करेंगी । अब वृद्धि और प्रभेदीकरण का यह क्रम और भी तीव्र गति से चलने लगता है । पाँचवें सप्ताह के अत तक भ्रूण की लंबाई लगभग ½ इंच और वजन ४० से ७५ ग्रैन (अर्थात् ७॥ से १४ माशा) तक हो जाता है, एव उसकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण अग-प्रणा-लियों की प्रस्थापना हो जाती है । अब उसके शरीर मे एक धड़कता हुआ छोटा-सा हृदय, एक सुस्पष्ट वात-संस्थान, भावी हाथ-पैरों के आरभिक फुनगियों-जैसे अंकुर, उसके शरीर की तुलना में काफी बड़े चक्षुगोलक, एक आरभिक गुरदा, विकसित होने जा रही एक अंत्र-नलिका, यहाँ तक कि स्पष्टतया उन विशिष्ट जीव-कोषों का भी एक समूह दिखाई देने लगता है, जिनसे अंततः उन संतानोत्पादक बीज-कोषों (गैमेट्स) की रचना होगी, जो कि उसके जीवनकाल के बाद भी उसकी नस्ल को कायम रखने और उसका स्थान लेने के लिए अन्य नवीन व्यक्तियों को जन्म देने का

काम करेंगे ! यह सब किस तरह हो जाता है, आइए, संक्षेप मे आपको बतला दें ।

भ्रूण के जीवन के दूसरे सप्ताह के समाप्त होते-होते उसके उस कृमि-जैसे प्रारंभिक शरीर मे से कुछ फुनगियो जैसे अंकुर फूट निकलते हैं और क्रमशः बढ़ने लगते हैं—एक उसके शरीर के ऊपरी सिरे पर, दो निचले भाग मे और दो उसके अगल-बगल। लगभग एक सप्ताह बाद ही यह निश्चयपूर्वक स्पष्ट हो जाता है कि उसका वह ऊपरवाला नवांकुरित भाग एक झींगुर के-से सिर मे परिणत होने जा रहा है। वह अन्य नवांकुरित भागों से आकार मे अधिक बड़ा, साथ ही अधिक बल खाया हुआ भी दृष्टिगत होता है। भ्रूण के इस कृमिवत् शरीर के बीच के धड़ का वह भाग, जहाँ कि उसके धड की शिकन का जोड़ होता है, क्रमशः कड़ा होने लगता है और यही अंत मे उसकी रीढ़ या कशेरुकास्थि मे परिणत हो जाता है। किन्तु इस प्रकार रीढ़ से युक्त हो जाने पर भी भ्रूण का आकार-प्रकार हमसे बहुत-कुछ असमान ही होता है। सच पूछिए तो इस अवस्था में वह किसी मछली, कच्छप, मुर्गे या गाय के बछड़े के भ्रूण से कहीं अधिक मिलता-जुलता-सा होता है। ये सब अपने विकास की एक मंजिल-विशेष पर एक-दूसरे से आकार-प्रकार मे कितने अधिक समान होते हैं, यह पृष्ठ २५११ के तुलनात्मक चित्र को देखकर आप अनुमान कर सकते हैं। यह एक कुतूहलजनक साथ ही अत्यंत आश्चर्यप्रद बात है कि मानवीय भ्रूण मे कुछ ऐसी अनोखी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, जो आगे चलकर पूर्ण वयस्क मनुष्य मे नहीं मिलती। निश्चय ही इस मंजिल विशेष पर अभिव्यक्त होनेवाली ये विशिष्टताएँ मनुष्य की अपने अत्यन्त प्राचीन पुरखों से मिली हुई वसीयत की ही सूचक हैं, जो इस बात की साक्षी है कि वह कभी उन्हीं जीवों का वंशज रहा है। आइए, अपने विषय मे आगे बढ़ने से पहले इन अनोखी विशेषताओं पर भी एक नजर डालते चलें।
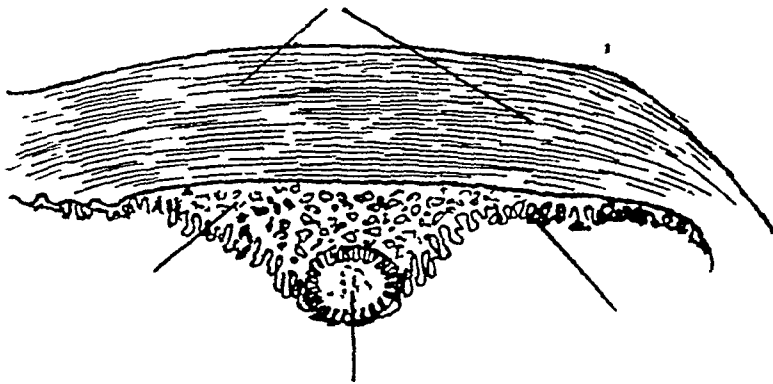
इस चित्र में एक स्त्री के गर्भाशय को काटकर गर्भाधान के लगभग तेरह दिन बाद नवसंस्थापित भ्रूण की स्थिति दिखाई गई है। कलल के थैलीनुमा आवरण और गर्भाशय के पृष्ठ की कला से परिवेष्टित उसके ग्राहकांकुरों पर ग़ौर कीजिए !

मानव-भ्रूण मे मछलियों की तरह गलफड़े और एक दुम भी होती है !

जिन विशिष्टताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमे से एक है अत्यन्त सुस्पष्ट रूप से आगे को निकली हुई वह अनोखी दुम, जो चौथे सप्ताह का अंत होते-होते साफ़ तौर से भ्रूण के शरीर में दिखाई देने लगती है ! क्या आपको यह जानकर कुतूहल न होगा कि हममें से प्रत्येक के, जब हम अपनी-अपनी माता के गर्भ मे थे, एक सच्ची दुम भी थी ! यह अनोखी दुम ऊपर की ओर बल खाती हुई-सी रहती है और किसी बंदर या बड़े चूहे की पतली पूँछ के बजाय मछलियों की चौड़ी दुम से अधिक मिलती-जुलती होती है। साधारणतया, आगे होनेवाले विकास के क्रम में वह अपने आसपास के भ्रूण-शरीर की अपेक्षा मंदतर गति से बढ़ती है और अंत मे उसी में विलीन हो जाती है; यहाँ तक कि हमारा जन्म होता है तब तक वह बिल्कुल अंतर्द्धान हो जाती है। परन्तु कभी-कभी मौक़े से असामान्य विकास के फलस्वरूप ऐसी घटनाएँ भी घटती रही हैं, जब कोई-कोई शिशु इस दुम को लेकर भी इस दुनिया मे प्रवेश करता है, जैसा कि अंक २ के पृ० ६४ पर दिए गए फोटो मे आप देख सकते हैं !

इस दुम के अलावा जो दूसरी अजीब मार्के की चीज़ इस अवस्था मे मानव-भ्रूण में दिखाई देती है वह यह है कि उसकी गर्दन की आजू-बाजू मे मछलियों के गलफड़ों के-से चार जोड़ छिद्र बन जाते हैं, मानों उसे मछली की तरह पानी के ही भीतर रहना और साँस लेना हो ! लगभग एक पखवाड़े तक तो यही जाहिर होता रहता है कि सचमुच ही इस प्राणी के शरीर मे गलफड़े बन जाएँगे और वह मछली-जैसा हो जायगा। किन्तु शीघ्र ही इन छिद्रों के विकास का क्रम एक अद्भुत रीति से पलट जाता है। इन छिद्रों की आधारभूत रचनाएँ कान और गले की अस्थियों में परिणत हो जाती हैं और उनकी गुहाएँ भरकर एकदम ग़ायब हो जाती हैं, सिवा उन छिद्रों की प्रथम

जोड़ी के, जिससे कि कर्ण-गुहाओं का निर्माण होता है। इस अनोखे बर्त्ताव का क्या अर्थ है? क्यों हममें से प्रत्येक के शरीर में एकदम सीधे और सरल तरीक़े से मनुष्य-जैसा गला बन जाने के बजाय इस प्रकार पहले मछलियों के गलफड़े-जैसी व्यवस्था का निर्माण होता है और फिर वही बाद को हमारे असली गले में परिणत होती है? मानव भ्रूण की उस आरम्भिक छोटी-सी दुम, उसके चार जोड़ी गलफड़ों के-से छेद और डैने के रूप में बखूबी काम में आ सकने योग्य छोटे-छोटे पैरों की पूर्ववर्त्ती शाखाओं को देखते हुए तो ऐसा ही प्रतीत होने लगता है मानों यह मनुष्य नहीं बल्कि एक मछली ही में परिणत होने जा रहा हो। इस अवस्था में मछलियों-जैसी एक और विशेषता उसमें दिखाई पड़ती है, और वह है उसके हृदय में, जो इस समय केवल एक शिरा के फूले हुए-से भाग के रूप में ही रहता है, जिसमें एक-दूसरे के पीछे दो छोटे-छोटे प्रकोष्ठ बने रहते हैं। इस समय की उसकी रचना और विगत एक लेख में वर्णित लगभग दो मुट्ठी जितने बड़े चार प्रकोष्ठवाले हमारे हृदय के यथार्थ आकार-प्रकार में बहुत अधिक असमानता होती है। वह इस समय बिल्कुल एक मछली के हृदय का-सा होता है! परन्तु सौभाग्य से ज्यों-ज्यों भ्रूण का विकास होता जाता है, मछलियों के साथ उसकी यह समानता कम होने लगती है और इस प्रकार परिवर्त्तन-चक्र की कृपा से वह अन्त में एक मछली में परिणत होने की विपदा से बच जाता है।

पाँचवें सप्ताह के अन्त में हाथ-पैरों की उँगलियों का निकास

जब भ्रूण पाँच सप्ताह का हो जाता है, तो उसके हाथ-पैरों की शाखाओं के पूर्ववर्त्ती भौंडे अंग उस जगह से बीच में से मुड़ जाते हैं, जहाँ कि उसकी कुहनियों और घुटनों का निर्माण होता है। इसके अलावा अब उसकी नासिका और फेफड़ों की भी रचना आरम्भ होने लगती है और नथुनों के छिद्र भी दिखाई देने लगते हैं, यद्यपि उनमें से होकर अभी कोई रास्ता कहीं आता-जाता नहीं। आँखें भी काफी बड़ी दिखाई देने लगती हैं, गोकि वे केवल शिकन खाई हुई ऊपरी चमड़ी द्वारा ही निर्मित होती हैं, उनमें हमारे यथार्थ नेत्रों के पलकों से सुरक्षित रंग-बिरंगे मनोरम चक्षुगोलकों का अभी पता भी नहीं होता—यह सब बाद की बातें हैं। इसी तरह वक्षःस्थल और हृदय में भी काफी वृद्धि और परिवर्त्तन होते दिखाई देता है। इससे यह तो निश्चित-रूप से स्पष्ट हो जाता है कि यह भ्रूण अंततः एक मछली का आकार ग्रहण करने नहीं जा रहा है। परन्तु साथ ही अभी यह भी कोई नहीं बता सकता कि वह एक खरगोश, बकरी, या सील का ही रूप ग्रहण करने न जा रहा हो! अभी उसके अत्यंत छोटे हाथ पैरों में केवल एक ही एक जोड़ बन पाया है, जिससे इस बात की काफी सम्भावना दिखाई दे सकती है कि वे सील की-सी भुजाओं के रूप में विकसित हो जायँ और इस नवीन प्राणी को अंततोगत्वा समुद्र में तैरने अथवा चट्टानों पर यहाँ से वहाँ उचककर कूदते फिरनेवाली सील ही में परिणत कर दें! वस्तुतः जब वह पूरे दो महीने का हो जाता है, तभी जाकर इस प्राणी ने कहीं यथार्थ मानवीय रूपरेखा निखर पाती है। परन्तु अब भी उसका आकार बहुत ही छोटा होता है—केवल इंच भर लंबे बेर का-सा। हाँ, उसमें और भी कई नई बातों का अवश्य समावेश हो गया है। यह अब निश्चित-सा दिखाई देने लगा है कि वह कोई खुर-वाला प्राणी नहीं होने जा रहा है, क्योंकि उसके हाथ पैरों में अब उँगलियाँ निकलने लगी हैं। अब वह बकरी या सील जैसा जानवर भी नहीं बन सकता, बल्कि ऐसा ही कोई जीवधारी होगा, जिसके अलग-अलग हाथ-पैर और पंजे हों। परन्तु अब भी उसकी दुम शायद नहीं हो पाई है, गोकि वह घटकर एक कुंदे के आकार की ही रह गई है। इसी तरह यद्यपि उसकी आँखों की पलकें और एक छोटी-सी नासिका भी बन गई है, फिर भी अभी बहुत-कुछ बनने को बाक़ी है। अभी उसकी सामान्य रूपरेखा का ही निर्माण हो पाया है, जिसके कारण उसका चेहरा बहुत ही भौंडा और वीभत्स-सा दिखाई देता है। अभी वह केवल एक स्तनपोषी प्राणी के बच्चे जैसा ही दिखाई देने लगा है, स्पष्टतः पहचान में आने योग्य मानव शिशु जैसा नहीं!

इस प्रकार अपने जीवनारम्भ के लगभग ६० दिन या दो महीने बाद इस भ्रूण-शरीर में त्वचा, कपाल, रीढ़, हाथ-पैर, नासिका, पेट और दूसरे कई अंगों का प्रादुर्भाव होकर उनका विकास और वृद्धि का क्रम आरंभ हो जाता है। इस सिलसिले में एक दिलचस्प जानने योग्य बात यह है कि इन विविध अंगों की रचना निम्न प्रकार से एक नियमित ढंग से तीन विभिन्न वर्ग के जीवनकोषों द्वारा होती है, जो कि भ्रूण की आरंभिक स्थिति में पहलेपहल एक-दूसरे के भीतर रची गई तीन परतों के रूप में सजित और व्यवस्थित हुए थे:—

१. कोषों की बाहरी परत द्वारा त्वचा, केश, नख

और दाँतो के ऊपर के मुलम्मे की रचना होती है। इसी परत द्वारा वात-प्रणाली, चक्षुताल, तथा मुँह और नाक के भीतरी पृष्ठ की कला का भी निर्माण होता है।

२. मध्यम परत द्वारा विविध अस्थियो, पेशियों, रक्त और रक्त-प्रणालियो, गुरदो और उनसे सबंधित नलिकाओं, एव शरीर के भीतर स्थित प्रजनन-संबंधी सभी अगो की रचना होती है।

३. सबसे भीतरी परत के कोषों द्वारा शरीर के शेष भागों, जैसे गले के भीतरी पृष्ठ को ढकनेवाले कला, अन्न-पचन-प्रणाली, फुफ्फुस, वस्ति या मूत्राशय, और उससे बाहर आनेवाली मूत्रनली आदि का निर्माण होता है।

भ्रूण का सिर इतना बड़ा क्यों होता है?

भ्रूण-शरीर में इतने अधिक पृथक् अगों के प्रादुर्भाव के साथ ही उनकी क्रिया-प्रक्रिया के संचालन का कार्य बहुत अधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है, साथ ही वह बड़ा पेचीदा भी हो जाता है। यह काम सोचने-विचारने और चुनाव करने की सामर्थ्य रखनेवाले अग—मस्तिष्क—के द्वारा किए हो सकता है। अतएव अब इस भ्रूण-शरीर में मानो एक तरह का पूरा डाक-विभाग-सा खुल जाता है और यहाँ से वहाँ संदेश लाने ले जानेवाले टेलीग्राफ़ या टेलीफोन के तार की-सी अनगिनत नाड़ियो या वातसूत्रो का एक जजाल-सा अब फैलने लगता है। ये अत्यन्त पतले नाजुक श्वेत वात-सूत्र बड़ी तेजी से बढने लगते हैं और क्रमशः भ्रूण-शरीर के कोने-कोने मे फैलकर और आपस में जुड़कर या तो सीधे केन्द्रीय वात-सस्थान—मस्तिष्क—के साथ या पृष्ठवंश (रीढ़) के सुषुम्ना नामक
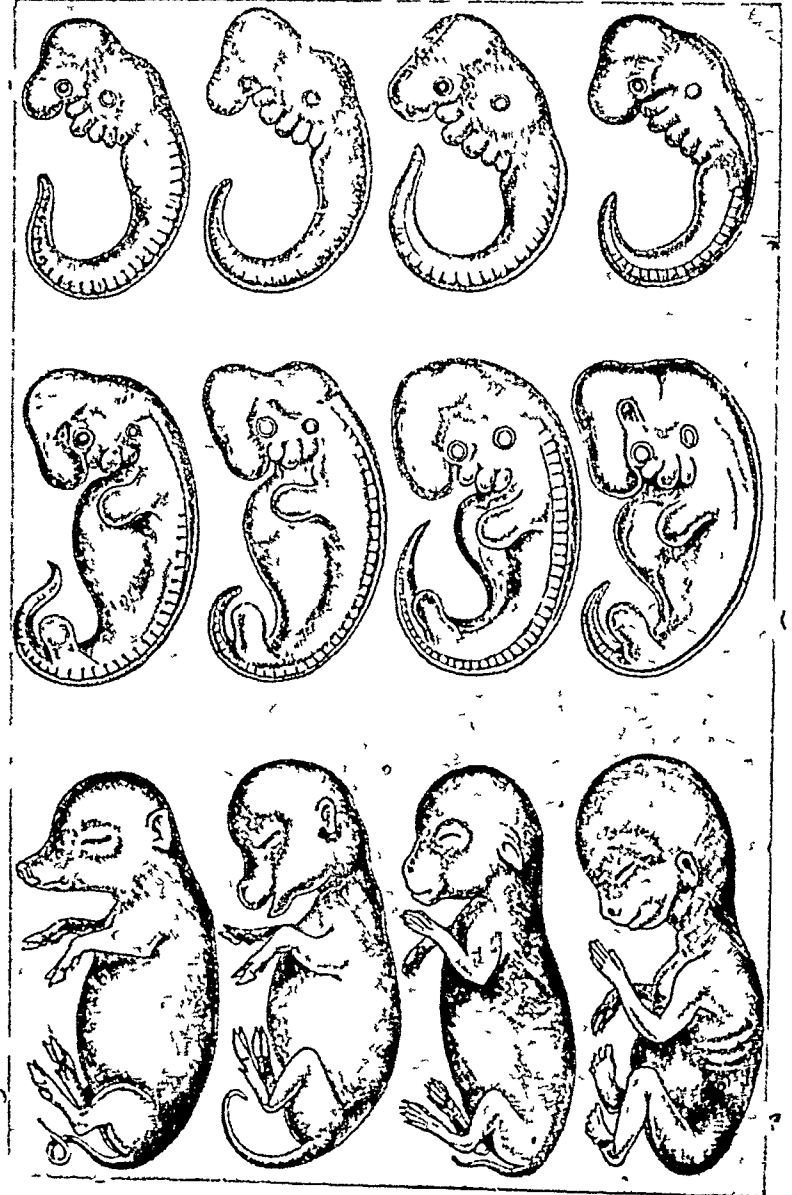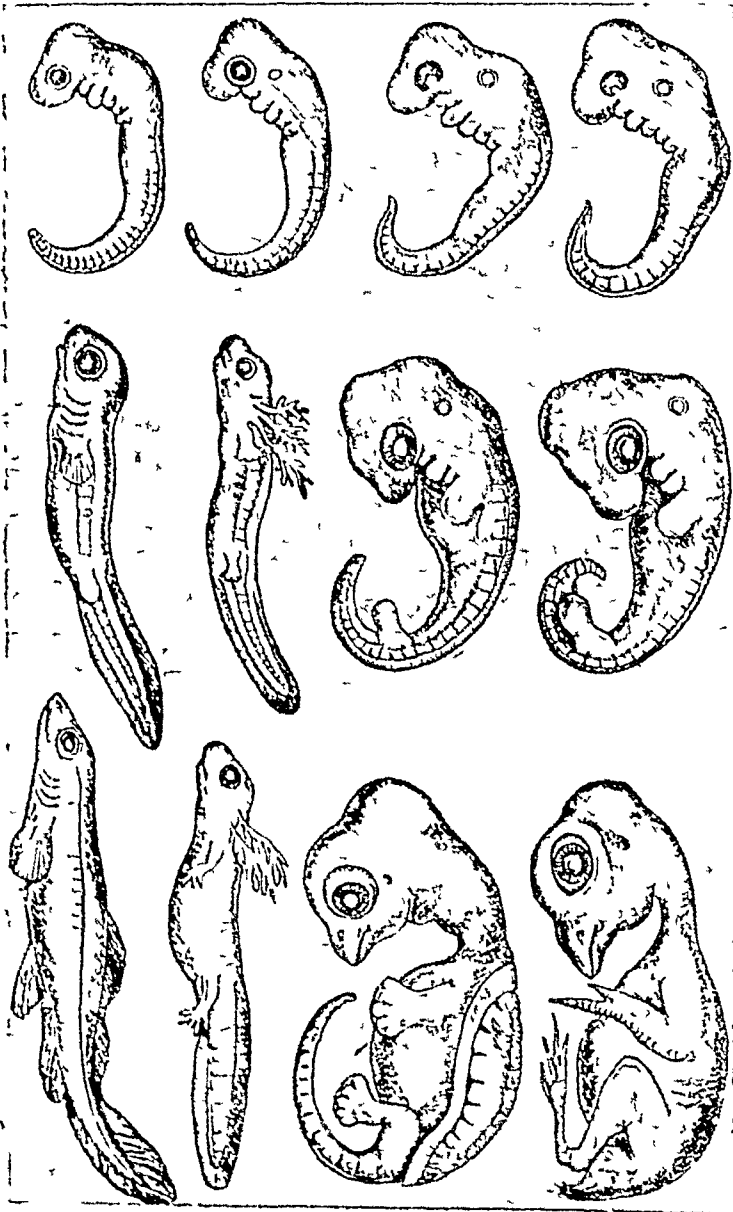
मछली   मेढक   कछुआ   मुर्गी   सुअर   गाय   खरगोश   मनुष्य

मनुष्य और अन्य जानवरों के भ्रूणों का तुलनात्मक चित्र

देखिए, आरंभिक अवस्था में इन सभी भिन्न-भिन्न जानवरों के भ्रूण एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते रहते हैं!

प्रधान नाडी-मंडल के साथ सलग्न हो जाते हैं। चूँकि इस परिस्थिति विशेष मे दाँतों या नखों से मस्तिष्क (दिमाग) कही अधिक काम का और उपयोगी अंग होता है, अतएव उसकी वृद्धि भी अधिक शीघ्रता से होती है और इसीलिए इन दिनों भ्रूण के शरीर मे अन्य अगो की तुलना मे वह इतने अधिक बडे आकार का होता है। साथ ही चूँकि इस सोचने-विचारनेवाले अग और उसका सदेशा लाने-ले जानेवाली नाडियो के प्रधान जजाल को बहुत ही सुरक्षित रखना आवश्यक होता है, अतएव प्रकृति उन्हे सावधानीपूर्वक हड्डियो के मजबूत ढाँचे के भीतर सुरक्षित रखती है—मस्तिष्क (दिमाग) को कपाल-रूपी हड्डियो के सुदृढ ढाँचे के भीतर और सुषुम्ना या प्रधान नाड़ी-मडल को रीढ़ की हड्डिया के बीच की उस सुरक्षित नली में, जिसे 'काशेरुकी नली' कहते हैं।

अपने गर्भ-जीवन के शेष महीनों मे भ्रूण के शरीर मे यो तो कई छोटे-छोटे गौण परिवर्त्तन और अनुकूल सुधार आदि होते रहते हैं, जैसे कि हाथ-पैरो की वृद्धि अब अधिक तेजी के साथ होने लगती और उन्हे कही अधिक समान डीलडौल प्राप्त होने लगता है, एव चेहरा भी अब निश्चित रूप से मनुष्य-जैसा बनने लगता है। परन्तु मुख्यतया इस लंबी अवधि में अब उन्ही अगों के विकास और वृद्धि का महत्त्वपूर्ण कार्य सपन्न होता है, जिनकी कि प्रस्थापना अब तक हो चुकी है। और यह काम कोई मामूली काम नही होता—वह होता है इच भर लबे एक भ्रूण को एक स्वस्थ बालक के रूप मे विकसित कर माता के शरीर से बाहर के संसार मे प्रवेश करने योग्य एक सुदर मानव शिशु में परिणत करने का आश्चर्यजनक और कठिन कार्य !

भ्रूण मानव होने जा रहा है या मानवसम वानर ?

चौथे महीने के अत तक भ्रूण-शरीर पहलेपहल आँख खोलनेवाले एक नवजात बिल्ली के बच्चे जितना बड़ा हो जाता है। अब उसके सुस्पष्ट हाथ-पैर होते हैं और दुम बिल्कुल नहीं दिखाई पडती। परन्तु पैर ऐसे मुडे रहते हैं, मानों वे तेजी से दौड़ने के लिए बने ही न हो। सिर अब गोलाकार हो गया है, जिसमें एक दीर्घाकार मस्तिष्क सुरक्षित है। परन्तु चेहरा काफी चपटा है, जिसमें अभी एक बहुत छोटी-सी नासिका उभर पाई है। अतएव यह तो अब निश्चित-सा हो गया है कि यह प्राणी कोई भेडिया या भालू नही होने जा रहा है, जिन्हे कि मजबूत जबडे और इसीलिए एक लबा-सा सिर चाहिए। परन्तु फिर भी इस बात की संभावना है कि यह प्राणी मनुष्य न बनकर एक मानव-सम वानर, जैसे कि चिम्पैञ्जी या गोरिल्ला, ही बन जाय। लगभग छः-सात महीने के मानव-भ्रूण की मानवसम वानरों के भ्रूण से तुलना करना मनोरजक होगा। दोनों में दो समानताएँ उल्लेखनीय हैं, जिनको छोडकर शेष बातों मे यह निश्चित प्रतीत होता है कि मनुष्य का यह भ्रूण मनुष्य ही होगा, अन्य कोई प्राणी नहीं। ये दो समानताएँ क्या हैं ? एक तो यह कि मनुष्य और मानवसम वानर दोनो के छः-सात महीने के भ्रूणों के पैरों के तलुए हाथों की हथेलियो की तरह एक दूसरे के सामने की ओर मुड़े रहते हैं। यह आदिम विशेषता उपरोक्त वानरों में तो वयस्क हो जाने पर भी बनी रहती है, जिससे कि उनके पैरों का हाथों की तरह ही विकास हो जाता है और वे उन्हे चीजे पकडने के लिए हाथो की तरह ही काम मे ले सकते हैं। इसके विपरीत मनुष्य मे आगे चलकर यह बात मिट जाती है और उसके पैरों के तलुए जमीन पर चपटे जमकर बैठने लगते हैं, जिससे कि सीधे होकर खडा होते समय ठीक से उसके शरीर का तौल सँभल पाता है। साराश यह कि मनुष्य मे वानरों की अपेक्षा पैरों का विकास हाथों से विभिन्न प्रकार से होता है—उनकी (पैरों की) हड्डियाँ ज्यादा मजबूत और कम मुडनेवाली होती हैं। दूसरी समानता बाल और रोओं के सबध में होती है। सात महीने के मनुष्य और मानवसम वानर दोनों के भ्रूणों मे खोपडी, भौ तथा ओठों के ऊपर घने बाल होते हैं और उनका शेष शरीर भी सारा का सारा भुरभुरे रोओं की फर-जैसी एक परत से ढका रहता है। दोनों में इस रोमावली की प्रथम उठान के बाद पूरी तरह से विकसित बालों की पैदाइश और बढती का क्रम शुरू होता है, परन्तु मनुष्यो मे यह बढती वानरों की अपेक्षा बहुत ही धीमी गति से होती है।

इस प्रकार अपने जन्म-काल के कुछ ही समय पहले, लगभग आठ मास तक मानों प्राणियों के विकास के सारे इतिहास की विविध श्रेणियों का नाटक खेलकर यह मानव-भ्रूण अपनी उस आरभिक रोमावली की केंचुली को उतार फेंककर वास्तविक रूप मे एक मानव-शिशु—बालक या बालिका—का रूप ग्रहण करता है और किसी केंचुए, मछली, कछुए, बकरी, सील या मानवसम वानर (Ape) मे परिणत हो जाने की सभावनाओ के विचित्र सपनो को पीछे छोड चलता है। बस, एक महीने का समय उसे अपने विविध अगों को सुदृढ बनाने के लिए माता के इस गर्भमंदिर में रहने को और चाहिए और तब वह सपूर्ण

प्रकार से जन्म लेने योग्य हो जायगा। इसके बाद की कथा तो संभवतः आप सभी अपने किसी नवजात भाई-बहन, भतीजे-भतीजी या लड़के-लड़की के जन्म की कहानी से जानते ही होंगे।

भ्रूण का पोषण कैसे होता है ?

आइए, अब इस बात पर भी ग़ौर करें कि भ्रूण अपने जीवन के इन नौ महीनों में माता के गर्भ में किस प्रकार रहता और पाला-पोसा जाता है। यह तो हम ऊपर बता ही चुके हैं कि गर्भयुक्त डिम्ब गर्भाशय तक पहुँचते-पहुँचते विभाजित और पुनर्विभाजित होकर एक अत्यन्त छोटे-से कोष-समूह या 'कलल' का रूप ग्रहण कर लेता है, जोकि गर्भाशय की दीवार की कला में घुसकर अपने रहने की जगह बना लेता है और माँ की रक्त-प्रणाली से पोषण प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार गर्भाशय की दीवार में प्रतिष्ठापित हो जाने के शीघ्र ही बाद यह कलल एक घुंडीदार फफोली-नुमा थैली के आवरण से घिर जाता है, जिसमे गर्भोदक नामक तरल इकट्ठा होने लगता है। इस प्रकार विकास पाता हुआ वह अन्तरावरण (Amnion) नामक एक पारदर्शक थैली से घिरकर मानों एक जलीय गद्दी पर तैरता-सा रहता है, जिसके बाहर भ्रूण-बाह्यावरण (Chorion) नामक अन्य एक और थैली का वेष्टन रहता है। ज्यों-ज्यों भ्रूण की वृद्धि होती जाती है, उसका बाह्यावरण फूलकर गर्भाशय के भीतर की खोखली गुहा मे बढ़ने लगता है और वह गर्भाशयिक सौत्रिक तन्तुओं की एक महीन परत से घिरा रहता है, जिसका उद्देश्य भ्रूण को माता के साथ संबद्ध रखना होता है। भ्रूण इस बाह्या-वरण के भीतर रहकर ही बढ़ता और विकसित होता रहता है, जैसा कि पृ० २५१६ के चित्र से प्रकट है और वह उसकी दीवार से एक रज्जु द्वारा संबद्ध रहता है, जो उसके पेट की नाभि मे से निकली रहती है। इस संयोजक रज्जु को नाभि-नाल या नाल (Umbilical Cord) कहते हैं।
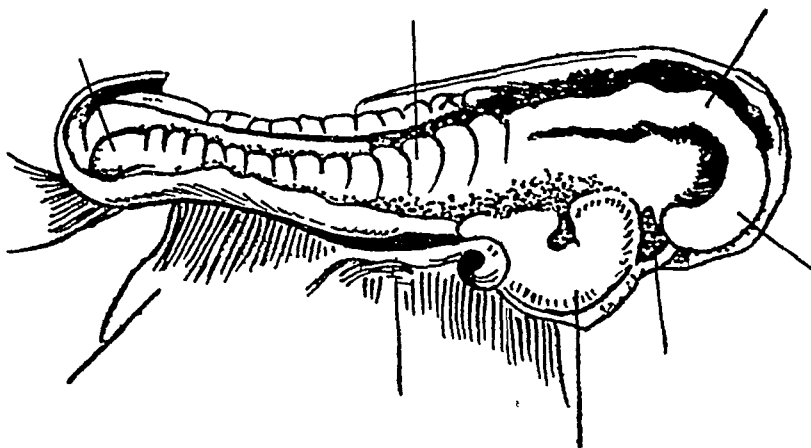
ऊपर उल्लिखित चित्र पर ग़ौर करने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बाह्यावरण के पृष्ठ की अंकुरवत् रक्तवाहिनियाँ (blood vessels) गर्भाशय की दीवार की रक्तवाहिनियों के निकट संस्पर्श मे रहती हैं। तीसरे महीने में इस भ्रूण-बाह्यावरण का कुछ भाग रक्तवाहिनियों के एक घनीभूत समूह के रूप में विकसित हो जाता है, जिसमे सूक्ष्म केशिकाओं (Capillaries) का एक वृहत् जंजाल-सा रहता है। ये केशिकाएं गर्भाशयिक पृष्ठ की रक्तवाहिनियों के साथ इस प्रकार घनिष्ठ रूप से मिली रहती हैं कि भ्रूण और माता की रक्त-धाराओं के बीच केवल अत्यंत पतली झिल्लियों का ही झिन्ना पर्दा रहता है। इस तरह दोनों का रक्त एक दूसरे में मिश्रित हुए बिना ही एक-दूसरे के अत्यन्त निकट संसर्ग मे आता रहता है और उसका परस्पर विनिमय भी होता रहता है। यह सारा कार्य भ्रूण-बाह्यावरण के उस घनीभूत भाग के माता के जीवन-तन्तुओं के साथ संश्लिष्ट होने के कारण ही होता है, जिसे 'कमल' या प्लैसेण्टा (Placenta) के नाम से पुकारा जाता है। इस प्लैसेण्टा के रास्ते भ्रूण न केवल माता की रक्त-धारा से ऑक्सिजन और अन्य पोषक तत्त्व ही ग्रहण करता, बल्कि अपने परित्यक्त मल-पदार्थ का भी विसर्जन करता रहता है। यह आदान-प्रदान की क्रिया दोनों की रक्त-धाराओं के बीच की अति सूक्ष्म और महीन कला के झिन्ने परदे द्वारा होती है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रूण की अपनी एक निजी रक्त-संचालन-प्रणाली होती है और प्लैसेन्टा उसके लिए एक साथ ही फुफ्फुस, अंत्र

प्रस्तुत चित्र में दूसरे सप्ताह के अंत में भ्रूण का आकार-प्रकार दिग्दर्शित है। यह आकार असली से २७ गुना बड़ा करके दिखाया गया है। इसकी कृमि-वत् आकृति और हृदय पर ग़ौर कीजिए!
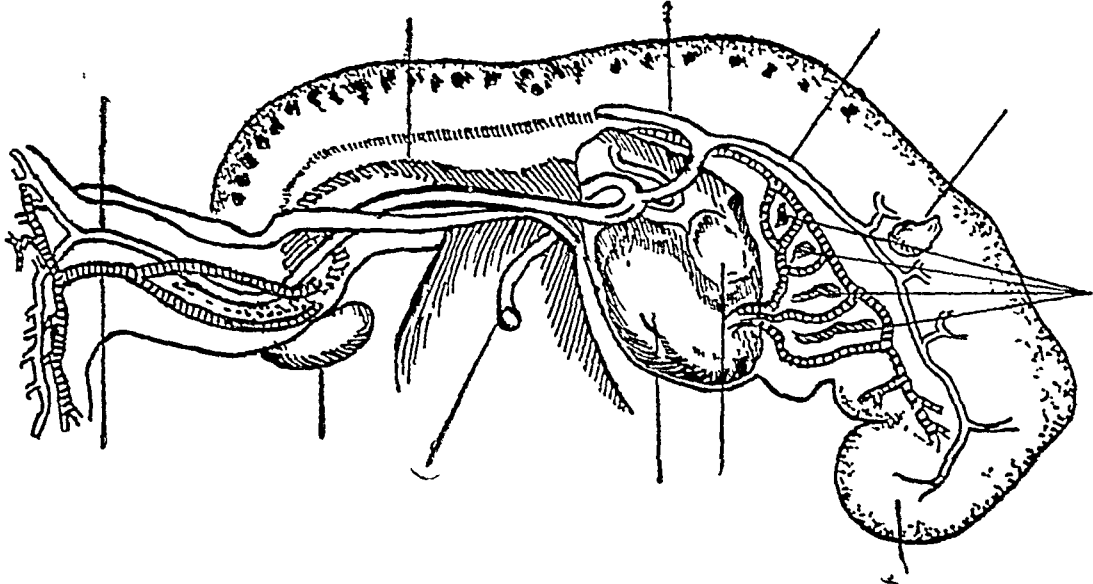
यह तीन सप्ताह के भ्रूण का परिवर्द्धित चित्र है। हृदय की आंतरिक रचना दिखाने के लिए हृदावरण का पृष्ठ हटा दिया गया है। इससे भ्रूण की प्रमुख रक्तवाहिनियाँ, धमनियाँ और शिराएँ देखी जा सकती हैं।

और गुरदे का काम देती है। यही कारण है कि उसके शरीर मे सबसे पहले विकसित होकर अपना काम शुरू कर देनेवाला अग हमारी रक्त-धारा का सचालन करनेवाला वह अनोखा यंत्र—हृदय—ही होता है, जो हमारे बीजारोपण के प्रथम मास ही से अपनी धड़कन आरंभ कर जीवन की अतिम घड़ी तक, लगभग ८० या ६० वर्ष तक, निरतर धडकता रहता है और हमारे शरीर की प्राण-धारा को बनाए रखता है। यह भी स्पष्ट है कि भ्रूण माता के गर्भाशय के पृष्ठ द्वारा न केवल पोषित ही होता है, बल्कि उसके भीतर बड़ी खूबी के साथ सुरक्षित भी रहता है। इस पर भी गर्भाशय की सुदृढ़ पेशियोंवाली दीवारों और उसके भीतर सुरक्षित स्वय भ्रूण के निजी आवरण की रक्षक कला को मानों यथेष्ट न समझकर प्रकृति अतिरिक्त रक्षा-साधन के रूप में गर्भोदक नामक तरल द्रव्य में उसके निरतर तैरते रहने की सुंदर व्यवस्था कर देती है, ताकि वह हर प्रकार के आघात और धक्के से सुरक्षित रह सके। इस जलीय तरल का तापक्रम उसके लिए यथेष्ट रूप से सुखप्रद और गर्म रहता है।

बच्चे का जन्म किस प्रकार होता है ?

जब जन्म की घडी समीप आ पहुँचती है तब गर्भस्थित बच्चा, जो अब तक अपने उसी गर्भोदक के कक्ष में रहकर माता के रक्त से प्राणदायी ऑक्सीजन प्राप्त करता रहा, मानों एकाएक बाहरी दुनिया में निकल आने की एक आन्तरिक प्रेरणा का अनुभव करता है और ज्योंही वह गर्भाशय से बाहर की दुनिया में पहुँचता है, त्योंही तुरन्त ही साँस द्वारा बाहरी वायु ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है। जब गर्भस्थ शिशु का पूर्ण विकास हो जाता है तब गर्भाशय की फैली हुई मासपेशियोंवाली दीवारें अपने आप रह-रहकर सिकुडने-सी लगती हैं, जिससे गर्भिणी माता को अनिवार्यतः कुछ वेदना होती है। यह वेदना आगन्तुक प्रसव की एक सूचना-सी होती है। गर्भाशय की दीवारों के इस आकुंचन के क्रम में क्रमशः माता के शरीरिक तंतुओं के साथ संबद्ध भ्रूण की कलाएँ गर्भ-मदिर के पृष्ठ से पृथक् हो जाती हैं और अब गर्भस्थ बच्चा गर्भाशय के मुख के रास्ते सिर के बल योनि की ओर बढ़ने लगता है। गर्भाशय के सँकड़े द्वार की पेशियाँ इस अवसर

पर दबाव के कारण फैल जाती हैं और इतनी अधिक चौड़ी और लचीली हो जाती हैं कि बच्चा उसमें से होकर बड़ी आसानी से योनि में आ जाता है। ठीक उसी समय, जब कि बच्चा अपनी बाहरी यात्रा के लिए रवाना होने को तैयार होता है, 'अंतरावरण' और 'बाह्यावरण' नामक उसकी वे दो थैलियाँ, जिनसे वह अब तक घिरा हुआ था, फूट जाती हैं और फलतः उनमें जो गर्भोदक द्रव भरा हुआ था, वह माता के शरीर में से योनि के रास्ते बाहर बह निकलता है। यह भी इस संकुचित मार्ग से बच्चे के निकास को आसान बनाने के लिए प्रकृति की एक विशेष व्यवस्था होती है। इसके साथ ही साथ योनि-मार्ग भी विस्तृत होकर चौड़ा हो जाता है और इस प्रकार गर्भाशय के वेदना-युक्त जोरदार आकुंचनों की सहायता से अंत में बच्चा माता के शरीर से बाहर निकलकर इस बाहरी दुनिया मे आ जाता है। वह जनमते ही अपने नवागमन की सूचना बड़े जोर से रोकर देता है। उसका यह रुदन पहलेपहल साँस लेते समय उसके फुफ्फुसों में वायु के प्रवेश के कारण ही होता है। क्या यह सचमुच ही एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात नही है कि नौ महीने तक भ्रूणावस्था मे एक तरल द्रव मे बिना साँस लिये पडे रहने के बाद, जन्म लेते ही क्षण भर मे यह नवजात शिशु अपने श्वास-प्रश्वास के यंत्र को काम मे लेकर वायुमण्डल से वायु ग्रहण करने लगता है और इस प्रकार उन अद्भुत् फेफड़ों को सक्रिय बना देता है, जो मृत्यु के समय अंतिम साँस समाप्त होने के क्षण तक जीवन भर अपनी धौंकनी चलाते रहते हैं !

प्रसव हो जाने के बाद भी बच्चे का शरीर नाभिनाल द्वारा माता के शरीर से संबद्ध रहता है, अतएव उसे पृथक् करने के लिए इस नाल को काटना पड़ता है। चूँकि इस नाल में रक्तवाहिनियों का सचार रहता है, अतएव काटने से पहले उसे सावधानी-पूर्वक बाँध देना पड़ता है, ताकि रक्त बाहर न निकलने लगे। नाभिनाल का जो कटा हुआ हिस्सा शिशु के शरीर के साथ जुड़ा रह जाता है, वह क्रमशः सूखकर गिर जाता है। केवल संयोग-स्थान की त्वचा की सिकुड़न के रूप में उसकी एक स्मृति-मात्र शरीर में शेष रह जाती है। उसे ही हम 'नाभि' के नाम से पुकारा करते हैं।

बच्चे के प्रसव के बाद गर्भाशय अभी अपने भीतर बचे हुए कमल (प्लैसेन्टा), भ्रूणावरण तथा नाभिनाल के शेष हिस्से को बाहर निकाल फेंकने के लिए पुनः दर्द के साथ सिकुड़ने लगता है। इस प्रकार बाद में प्रसव की जानेवाली इन वस्तुओं को 'खेरी' (after-birth) कहते हैं। इन चीजों का जरा सा भी अंश भीतर शेष रह जाना खतरनाक होता है, कारण उनसे जच्चा के रक्त मे सड़ायँध का विष पैदा हो सकता है, जिसकी चिकित्सा न हो पाने पर मृत्यु तक हो जाने की संभावना रहती है। क्रमशः गर्भाशय की विस्तृत पेशियाँ, जो गर्भ-काल मे फैलकर अपने मौलिक आकार से लगभग दस
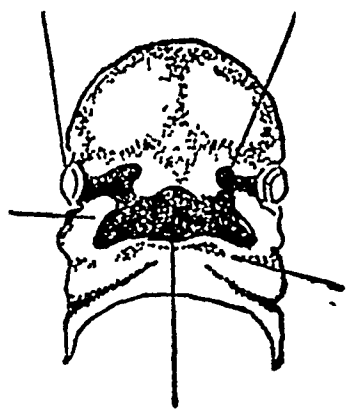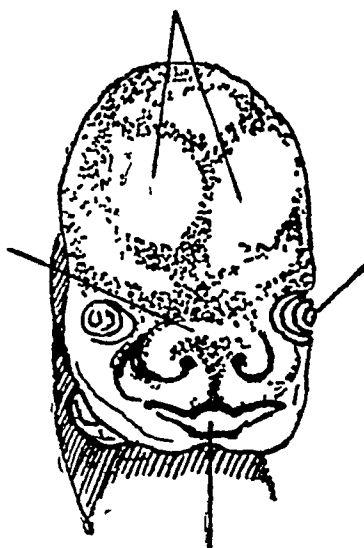
इन दोनों चित्रों में मानव-भ्रूण के मस्तक के सामने के भाग या चेहरे की आकृति प्रदर्शित है। ऊपर के चित्र में एक महीने के गर्भ के सिर का असली से लगभग ७ गुना बडा चित्र है। नाक के छिद्र और मुँह के विकास के पहले चेहरे की सतह मे बन जानेवाले गड्ढे पर गौर कीजिए। निचले चित्र में दूसरे महीने के आख़िर में भ्रूण का तीन गुना परिवर्द्धित चेहरा दिखाया गया है। चौड़ी मेहराबदार नासिका और मोटे निचले ओठ से युक्त तथा ठोढ़ी से रहित यह चेहरा कितना भोंड़ा और वीभत्स दिखाई पड़ता है !

गुनी अधिक बढ़ गई थी, फिर से सिकुड जाती हैं और गर्भ-मदिर अपना पहले का सा असली आकार-प्रकार ग्रहण कर लेता है ।

जच्चा और दूध

प्रसव के उपरान्त जच्चा के शरीर में अन्य एक महत्त्व-पूर्ण परिवर्त्तन जो होता है, वह नवजात शिशु के आहार और पोषण से सबध रखता है। यह परिवर्त्तन माता के युगल स्तनों मे होता है, जो गर्भ-काल मे काफी बडे आकार के तथा उभरी हुई शिराओ से युक्त हो जाने के अतिरिक्त यद्यपि बाहर से देखने मे पहले-जैसे ही दिखाई देते थे, फिर भी भीतर ही भीतर वास्तव में इस अवधि भर अपनी अगणित छोटी-छोटी ग्रथियो मे शिराओ द्वारा लाये गए एक द्रव्य विशेष से दुग्ध के कण बनाने मे व्यस्त थे। ज्यों ही बच्चा पैदा होता है, त्यों ही प्रसूता की शारीरिक प्रक्रिया मे ऐसी कुछ आतरिक हलचल हो जाती है कि उसके स्तनो मे सचित वे असख्य दुग्ध-कण फौरन् ही तरल दूध मे परिणत होने लगते हैं और यह दूध छोटी-छोटी नलिकाओं मे से होकर चूचुक के ऊपर बने हुए कई छिद्रों की राह से नवजात शिशु द्वारा आसानी से चूखा जा सकता है। माता के इस दुग्ध से बढकर दूसरा आहार बच्चे के लिए कोई नहीं है। कई महीने तक वह इसी पर पलता रहता है।

प्रस्तुत चित्र में गर्भाशय को खड़ा काटकर यह दिखाया गया है कि किस प्रकार दो महीने के भ्रूण का उसमे पालन-पोषण और संरक्षण होता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि नाभिनाल में से होकर जा रही रक्तवाहिनियाँ किस प्रकार कमल में आकर अनेक केशिकाओं मे बिखर जाती है और माता की रक्त-प्रणाली से संयुक्त हो जाती है! कमल में भ्रूण की केशिकाओ का जंजाल काली रेखाओ द्वारा और उन्हें माता की रक्तवाहिनियों से संयुक्त करनेवाले अंशो को बिन्दुयुक्त भाग द्वारा दिग्दर्शित किया गया है। नाभिनाल के आसपास के तीर के निशान भ्रूण के शरीर मे आनेवाले और उससे पुनः वापस जानेवाले रक्त के प्रवाह की दिशा सूचित करते है।

यह गौर करने की बात है कि प्रसव से पहले गर्भस्थ बच्चे के पेट मे मुख की राह से किसी भी प्रकार का आहार प्रवेश नही करता, फिर भी अचरज की बात है कि ज्यों ही वह बाहरी दुनिया में आता है, त्यों ही मुख द्वारा आहार ग्रहण करने को वह एकदम तैयार रहता है! अतएव नाभिनाल काट देने के बाद दाई जब उसे नहलाकर अपनी माता के पास सुलाती है और उसके मुँह में माँ के स्तन का चूचुक दिया जाता है तो वह बडे जोरों से उसे चूखता है और अपनी समाई के अनुसार यथेष्ट दूध पी लेता है! उसे यह चूखने का कार्य या भूखा होने पर रोकर अपनी भूख जतलाने का कार्य सिखाना नहीं पड़ता — उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति (Instinct) ही आवश्यकतानुसार यह सब उससे कराती रहती है। नवजात शिशु का वजन लगभग ३-३॥ सेर होता है। क्रमश. प्रति माह उसका भार बढता जाता है और इस प्रकार वह एक वर्ष का होता है तब तक इससे तिगुने भार का अर्थात् लगभग ९--१० सेर का हो जाता है। यह तो सभी जानते हैं कि नवजात बालक के मुँह मे दाँत नही होते। दाँतों के निकलने का क्रम छठे-सातवे महीने से आरभ होता है और वह दो-ढाई वर्ष की उम्र तक चलता रहता है। ये आरंभ के दाँत पतनशील होते हैं, और किशोरावस्था मे फिर से स्थायी दाँत निकलते हैं।

भ्रूण के विकास का क्रम

आयु	लंबाई	वज़न	आकार-प्रकार और अंग-विकास
२ सप्ताह	दो मिलीमीटर (सवा सूत या मूँग के दाने के बराबर)	...	अभी भावी शिशु के विविध अंगों अथवा उसकी आकृति के चिह्न प्रकट नही हो पाए हैं। केवल निरन्तर विभाजन द्वारा उत्पन्न कोष भ्रूण-कलेवर के भीतर तीन थैलीनुमा प्रकोष्ठों के रूप में व्यवस्थित हो गए हैं, जो एक दूसरे को परिवेष्ठित किए हुए हैं।
३-४ सप्ताह	लगभग १/३ इंच	१।से १॥ माशा तक	अब भ्रूण-शरीर लंबा सा हो गया है। उसके इस कृमिवत् शरीर मे फुनगियो जैसे अंकुर उभरने लगते हैं—एक बिल्कुल ऊपरी सिरे पर, जो झिंगुर के-से सिर में परिणत होने जा रहा है, और दो अगल-बगल एवं दो निचले सिरे पर जो उसके हाथ-पैर की शाखाओं के सूचक हैं। मुखगर्त्त की जगह एक दरार-सी है। आँखों के स्थान में दो सूक्ष्म काले-काले तिल हैं। सबसे आश्चर्यजनक गलफड़े के-से वे छिद्र और वह अनोखी दुम है, जो चौथे सप्ताह के अंत तक साफ़ दिखाई देने लगती है !
५-६ सप्ताह	१/२ से १ इंच	१४ माशे तक	अब कही जाकर यह प्रतीत होने लगा है कि यह कोई मानवसम प्राणी बनने जा रहा है। सिर और धड़ अब आकार मे पृथक् दिखाई देने लगे है। चेहरा भी निखरने लगा है। हाथ-पैरों की शाखाएँ निकल चुकी हैं। वे कुहनी और घुटनों की जगह से मुड़ने भी लगी हैं। उँगलियाँ भी निकलने जा रही हैं। नासिका, नथुनों के छिद्र, आँखे, कान के छिद्र भी दिखाई देने लगे हैं। लगभग सभी महत्वपूर्ण अग-प्रणालियों का प्रादुर्भाव हो चुका है। अब भ्रूण के एक धड़कता हुआ हृदय, सुस्पष्ट वात-प्रणाली, एक आरंभिक गुर्दा, विकसित होने जा रही एक अंत्र-नली आदि सभी कुछ है। पर दुम अभी शेष है, वह ग़ायब नहीं हो पाई है।
२ मास	लगभग १॥ इंच	२० माशे तक	इस मंजिल पर आकर यथार्थ मे भ्रूण-शरीर मानवाकृति ग्रहण कर पाता है। चेहरे में अब नाक, आँखे और ओठ के चिह्न स्पष्ट हो गए हैं। हाथ-पैर धड़ से पृथक् निकलते हुए दिखाइ दे रहे हैं। जननेन्द्रियाँ भी बनने लगी हैं, यद्यपि नर-नारी का भेद अभी प्रकट नही है। फुफ्फुस, प्लीहा, उपवृक्क आदि के आदिम रूप भी बन चुके है। कपाल और रीढ़ की हड्डियों के विकास-केन्द्रो का भी उदय हो गया है। मलद्वार का चिह्न भी दिखाई पड़ने लगा है। यह भ्रूण के भावी शरीर के निर्माण की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था है।
३ मास	लगभग २–३ इंच (टाँगों को छोड़कर)	लगभग २॥ छटाँक	सिर अब काफी बड़ा हो गया है। हृदय का क्षेपक कोष्ठ बन चुका है। आँखों पर पलकें जुड़ी दिखाई देती हैं। अँगुलियाँ स्पष्टतया अलग-अलग दिखाई देने लगी हैं। जननेन्द्रियों द्वारा यह प्रकट होने लगा है कि भ्रूण नर है अथवा नारी। कई और महत्त्वपूर्ण अस्थि-विकास-केन्द्रों का उदय हो चुका है।

आयु	लंबाई	वज़न	आकार-प्रकार और अंग-विकास
४ मास	लगभग ३॥ इंच (टाँगों के बिना)	लगभग पाव भर	अब भ्रूण-शरीर एक नवजात बिल्ली के बच्चे जितना बड़ा हो गया है। उसके हाथ-पैर पूर्ण विकसित हो गए है, यद्यपि पैर ऐसे मुड़े हुए हैं, मानों तेजी से दौड़ने के लिए न बने हों। सिर गोल हो गया है, गोकि नाक छोटी और चेहरा चपटा-सा है। नख बनने लगे हैं। हाथ-पैर मे गति भी होने लगी है। शरीर मे एक प्रकार का रोआँ-सा प्रकट होने लगा है। दुम अब नहीं है।
५ मास	लगभग १० इंच (टाँगो सहित)	लगभग आधा सेर	अब सारा शरीर एक बारीक रोमावली से आच्छादित हो गया है। सिर का परिमाण शरीर के शेष भाग की अपेक्षा अब भी बड़ा है। यकृत बन चुका है। अंत्र मे कुछ मल भी इकट्ठा होने लगा है। नख साफ निकल आए है। भ्रूण काफी गति करने लगा है।
६ मास	लगभग १२ इंच	लगभग १ सेर	सिर के बाल अन्य भागों की अपेक्षा बड़े हो गए हैं। भौंहे बनने लगी हैं, पर पलकें अब भी जुड़ी हुई हैं। अंड का निर्माण हो गया है और वे उदर में गुरदे के पास अवस्थित हैं। त्वचा मे शिकन पड़ रही है और कहीं-कहीं नीचे चर्बी भी जमने लगी है। कनीनिका के सामने एक झिल्ली है।
७ मास	लगभग १४ इंच	लगभग १॥ सेर	अब खोपड़ी, भौं और ओंठो के ऊपर घने बाल हैं और शेष सारा शरीर फर जैसी रोमावली की एक परत से ढका हुआ है। त्वचा के नीचे चर्बी बढ़ने लगी हैं। पलकों का जोड़ खुल गया है। कनीनिका की झिल्ली गायब हो रही है। अंड नीचे उतर आए हैं। इस महीने मे पैदा हो जानेवाला बालक कभी-कभी जीवित रह जाता है।
८ मास	लगभग १६-१७ इंच	लगभग २ सेर	भ्रूण-शरीर की वह वानरों जैसी रोमावली की केंचुली अब उतर गई है और चमड़ी के नीचे चर्बी का विशेष जमाव होने के कारण शिकन भी मिट गई हैं। अंड अपने स्थान मे आ गए हैं। इस महीने का जनमा हुआ बालक सावधानी से पालने-पोसने पर जीवित रहकर विकसित हो जाता है।
९ मास	लगभग १८ इंच	लगभग २। से २॥ सेर	अब भ्रूण का शरीर अधिक सुडौल हो गया है। प्रकृति अब उसके अंग-प्रत्यग को और अधिक सुदृढ बनाने मे व्यस्त है। गर्भाशय का ऊर्ध्वांश इन दिनों उरोस्थि के नीचे के सिरे तक पहुँच गया है। इस महीने मे उत्पन्न होने-वाला बालक जीवित रहता है।
१० मास	लगभग २० इंच	लगभग ३।-३॥ सेर	यह गर्भ-जीवन का अंतिम मास है और गर्भस्थ शिशु अब बाहरी दुनिया मे आने को उत्सुक हो रहा है। खोपड़ी के बाल लगभग इंच भर लंबे हो गए हैं। अँगुलियों के नख आगे निकल आए हैं। अब शरीर पूर्ण विकसित हो चुका है। गर्भाशय अब नीचे को खिसक आया है और भ्रूण उसके भीतर अपनी दोनों जाँघों को उदर से और टाँगो को जाँघों से सटाए हुए तथा भुजाओं को वक्ष पर मोड़े हुए अंडाकर रूप मे गर्भमुख की ओर सिर किये प्रसव के लिए तत्पर है।

स्मृति और कल्पना

"ठीक पौने नौ बजे, ईडन गार्डन मे, पगोडा के पास! जरूर?"

"जरूर।"

× × × ×

उस समय शायद ही आठ से अधिक हुआ होगा कि वह हाईकोर्ट के सामने ट्राम से उतरी, और चल पड़ी बगीचे की ओर।

घूमते-घूमते कोई कोना भी बाकी नहीं रह गया, फिर भी कम्बख्त घडी साढ़े आठ ही बजा रही थी! आखिर पगोडा के उस ओर, जहाँ पर नौका बँधी हुई थी, पानी में पैर लटकाकर वह बैठ रही।

आखिर पौने नौ बजा—कलेजा धक् धक् करने लगा। आँखे चंचलता से चारों ओर दौड़ने लगी। अब नौ बजने को पाँच मिनट रह गया। उठकर वह टहलने लगी, और जरा आगे बढकर पुल की तरफ़ देखने लगी।

नौ बजा, सवा नौ बजा, साढ़े नौ बज गया! पर जिसकी प्रतीक्षा थी, उसका पता भी नहीं!

दूसरे दिन सुबह पौने नौ बजे—

"......भूल गया था, इस बार माफ़ कर दो! मैं कान पकडता हूँ। कुछ ऐसे काम में लग गया कि कुछ याद ही नहीं रहा!"

× × × ×

हाँ, हम भूलते हैं बहुत सारी बातें। और याद भी रखते हैं तरह-तरह की चीजें। अधिकतर हम नहीं जानते कि कुछ खास बाते हम भूल क्यों जाते हैं, और कुछ खास बातें कोशिश करके भी हम भूल क्यों नहीं पाते!

स्मृति हम साधारणतया अपने पिछले अनुभव को पुनः चेतना में लाने को कहते हैं। मान लीजिए आपने कल अपने दोस्त के यहाँ 'विश्व-भारती' की एक प्रति देखी थी, और आज अपने भाई से कह रहे हैं कि अमुक के पास कल मैंने 'विश्व-भारती' देखी थी, तुम भी एक का आॅर्डर दे दो। आपकी यह चेष्टा 'स्मृति' कहलायगी। अर्थात् अपनी आँखों के द्वारा आपने जिस वस्तु की कल अनुभूति की थी, उसे अपने मन के चेतन तल पर फिर से आप लाते हैं। यही हुआ स्मरण करना।

आप इसे 'कल्पना' भी कह सकते हैं। यह एक प्रकार का चित्रमय विचार करना हुआ। जो वस्तु आपाने देखी थी वह आपके सामने नहीं है, फिर भी आपके मन की आँखों के सामने उसकी तस्वीर आ गई है। अगर वही चीज आपके सामने हो और आप उसका अनुभव कर रहे हों तो वह प्रत्यक्षानुभव कहलायगा।

यह कोई जरूरी नहीं कि हर स्मृति अथवा कल्पना में पहले देखी गई अथवा अनुभूत वस्तु अपने सपूर्ण रूप मे ही आपको दिखलाई पड़े। हो सकता है कि आपने चार पहियोंवाली चाकलेटी रंग की जो चीज कल देखी हो उसका पूरा चित्र आपके मन में नहीं आता हो, सिर्फ़ 'मोटर' शब्द आ रहा हो। यह भी उस वस्तु को स्मरण करना ही हुआ। नाम का व्यवहार प्रत्यक्षानुभूति तथा कल्पना के मध्यवर्त्ती विचार का एक रूप है। नाम किसी भी वस्तु का वह ऊपरी गुण है जिसे मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए उस पर लाद दिया है। नाम सुनते ही उस वस्तु का बोध होता है। या यों कहिए कि नाम का स्मरण हमें उस वस्तु के संबंध में विचार करने को प्रेरित करता है। ज़्यादातर अवस्थाओं मे नाम किसी का विशिष्ट गुण हो उठता है। मान लीजिए रात के समय बाहर से किसी ने दरवाजा खटखटाया और आपको पुकारा। उसका शरीर आपकी दृष्टि से ओझल रहने के कारण आप उसे पहचान नहीं सके, उसकी आवाज से भी आप पूरी तरह अन्दाज नहीं कर सके कि यह कौन है। और तब वह कहता है—"मैं हूँ किशोर!" और झट से आप जान गए, यह किशोर है,

आपका प्रिय मित्र। उसकी सारी तस्वीर आपके सामने नाच गई और आप पूरी तरह जान गए कि यह कौन है। अगर किसी दूसरे ने यह नाम लिया होता तो भी इसी तरह की अवस्था होती।

भाषा भी कल्पना की बहुत बडी सहायिका है। अगर सच पूछो तो भाषा मनुष्य द्वारा आविष्कृत वह माध्यम है, जिसके द्वारा वह अपने अनुभव तथा अभिलाषाओं को व्यक्त करने में अपनी बहुत-सी चेष्टाओं की बचत कर लेता है। यदि भाषा न होती तो उसें अपने भावों तथा अनुभवों को बतलाने के लिए तरह-तरह के इशारों की मदद लेना पड़ती और फिर भी वह बहुत अधिक असफल ही होता। इस भाषा के जरिए वह अपनी कल्पना में बहुत बडी सहायता लेता है। कल्पना का सर्वप्रथम रूप है पूर्वानुभूति, अर्थात् किसी वस्तु या घटना का उस वस्तु या घटना के सामने आने के ठीक पहले अनुभव करना। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि आप झुटपुटे मे अपने एक मित्र को देखते हैं। अगर आपने थोड़ी देर पहले उसके संबंध में विचारा है तो आप फौरन् उसे पहचान जायॅगे। और रात को जब अपनी श्रीमतीजी से आप कह रहे हैं कि आपने अपने अमुक मित्र को आज बहुत दिनों पर अमुक स्थान पर देखा तो आप स्वयं भी उसका स्मरण अथवा कल्पना कर रहे हैं, तथा अपनी पत्नी को भी उसकी याद दिला रहे हैं। थोड़ी देर के लिए धारणा कीजिए कि न आपके पास भाषा है और न उस मित्र का कोई नाम। तब आप कैसे अपने मित्र-संबंधी अनुभव को अपनी स्त्री के सामने पेश कर सकेंगे? शायद आप तरह-तरह के हाथ के इशारे आदि से कुछ कहने की कोशिश करेंगे। आपकी स्त्री उसे कभी कद्दू, तो कभी कुम्हड़ा ही समझती रहेगी! किंतु चूँकि आपके पास नाम भी है, भाषा भी, इसलिए आप इतनी आसानी से अपनी कल्पना को दौड़ा सकते हैं, और दूसरों को भी कल्पना करने को बाध्य कर सकते हैं।

शब्दों का सर्वप्रथम कर्त्तव्य सिर्फ वस्तु और उसकी गति का बोध कराना है। सर्वप्रथम शब्द पशुओं की सहज प्रकृतिजात ध्वनियों के विशिष्ट रूप रहे होंगे। कुत्ता भी कुछ इसी तरह की भाषा का व्यवहार करता है। उसके भौंकने से प्रायः दो ही तरह के भाव प्रकट होते हैं, चाहे तो वह किसी मित्र के आगमन का सूचक है, अथवा शत्रु के। कुत्ते के साथी उसके इस भौंकने से ही आनेवाली वस्तु के संबंध में एक साधारण-सा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जो काम हमारे लिए भाषा करती है, वही काम उसका भौंकना उसके साथियों के लिए कर रहा है, अर्थात् वह उनकी कल्पना-शक्ति को जगाकर एक विशेष दिशा में लगा देता है।

जब पहलेपहल भाषा का साधारण व्यवहार होने लगा होगा तो मनुष्यों को कल्पना करने में बहुत बडी सहायता मिली होगी, और वे आपस मे एक दूसरे की कल्पना पर प्रभाव डालने में बहुत अधिक सफल हुए होंगे। भाषा के व्यवहार से वे दूसरे मनुष्यों के मन में सभी चित्र आसानी से जगा सकने मे समर्थ होने लगे होंगे, जो उस समय उनके अन्दर सुषुप्त रहे होंगे। हमारी तो धारणा है कि उस समय लोगों मे भाषा के द्वारा कल्पना जगाना एक अच्छा खासा खेल हो उठा होगा!

क्या आपने कभी सोचा है कि आप कल्पना कैसे करते हैं? क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि स्मरण करने और कल्पना करने मे क्या भेद है? शायद आपने यह खयाल किया हो कि बीती हुई बातों को मानस-पटल पर फिर से लाना स्मरण करना है। और कल्पना? आप समझते हैं कि कल्पना स्मृति से भिन्न कुछ है, लेकिन उसकी भिन्नता ठीक कहाँ पर है यह बताना कुछ कठिन है। शायद आप कहे कि जो बात आपके अनुभव में पहले नहीं आई है और जिसकी वस्तु आपकी आँखों के सामने नही उसी का विचार करना कल्पना है। लेकिन ज़रा कलेजे पर हाथ रखकर कहिए कि आपकी कितनी कल्पनाएँ ऐसी हैं, जिनके संबंध में आपको निश्चय है कि वे कल्पना छोड़कर और कुछ नहीं—जिनके हिस्सों को आपने इसके पहले किसी-न-किसी रूप में अनुभव न किया हो!

मैं मानता हूँ कि यह सब होते हुए भी कल्पना और स्मृति में कुछ अंतर है, लेकिन उतना नहीं जितना कि हम-आप सोचते हैं। कल्पना में भी हम उन्हीं आधारों की सहायता लेते हैं जिनकी सहायता स्मृति मे लेते हैं। कल्पना करने के समय भी वस्तु अथवा घटना का वैसा ही अभाव रहता है जैसा कि स्मरण करने में। किन्तु साधारण व्यवहार में हम स्मरण करना सिर्फ उसी रूप को कहते हैं जिसमें कि बीती बातों का ज्यों-का-त्यों अनुभव किया जाता है, और कल्पना करना उस वस्तुविहीन विचार को समझते हैं जिसमें हमारा मन हमारे अनुभव को किसी तरह का भी रूप दे देने को स्वतंत्र होता है। लेकिन गहरे देखने से मालूम होगा कि यह भेद सिर्फ गौण और ऊपरी है।

कल्पना को मोटे तौर पर हम तीन भागों मे बाँट सकते हैं। इसका निम्न रूप है गत अनुभव को फिर से दुहराना। दूसरी अवस्था है निर्माणात्मक, अर्थात् बीते

अनुभव को एक खास प्रकार का रूप देना। तीसरी अवस्था है किसी नई बात की सृष्टि करना। यद्यपि सुविधा के लिए कल्पना के ये तीन रूप माने जाते हैं, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में तीनों आपस में इस तरह मिले रहते हैं कि एक को दूसरे से अलग कर सकना अत्यंत कठिन है।

किसी भी वस्तु का मानसिक चित्र तैयार करने में मनुष्य एक दूसरे से बहुत भिन्न होता है। कोई तो उसे दृष्टिगत वस्तु की तरह देखता है, कोई उसकी आवाज स्मरण करता है, किसी-किसी को उसकी गंध के जरिए उसकी याद आती है। और कोई-कोई तो इस तरह भी याद कर लेते हैं कि ठीक बता नहीं सकते कि वे किस तरह के प्रतिरूप का व्यवहार कर रहे हैं।

किसी वस्तु को तुरंत देखकर उसे स्मरण करने में आदमी के मन के आगे जो चित्र रह जाता है उसे आप प्रथम स्मृति-चित्र कह सकते हैं। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता जाता है यह चित्र अपनी पहली स्पष्टता एवं स्थिरता खोने लगता है और जब सिर्फ़ उसकी कल्पना करने की बारी आती है तो वर्त्तमान में वास्तविक देखने से इस चित्र में स्पष्टता बहुत कम रह जाती है, और भूल होने की भी काफी गुंजाइश हो उठती है।

हम कुछ-कुछ यह कह सकते हैं कि कल्पना का प्रथम कर्त्तव्य भविष्य का चित्र खींचना है अर्थात् आनेवाली घटना के सबंध में विचार उद्बोधित करना है।

सृजनात्मक कल्पना में भी हम अपने पिछले अनुभव से ही काम लेते हैं। अगर हम सोने के पहाड़ की कल्पना करते हैं तो हमारे मन में सोना और पहाड़, इन दो वस्तुओं का अनुभवजात ज्ञान पहले से वर्त्तमान रहता है और हम उन्हीं के सम्मिश्रण से सोने के पहाड़ की सृष्टि करते हैं। आप चाहे जितना दिमाग़ दौड़ाकर देखिए, आप देखेंगे कि आपकी सारी कल्पनाएँ इसी आधार पर चलती हैं।

स्मृति पर बहुत काफी प्रयोग भी हुए हैं। संयोजनावादी संप्रदाय के मनोवैज्ञानिकों ने ऐसी धारणा की कि स्मृति भावों की संयोजना का ही फल है। अर्थात् एक भाव दूसरे भाव के साथ मिले रहने के कारण मन में एक दूसरे के साथ कुछ इस तरह संयुक्त रहते हैं कि एक के सामने आने पर दूसरा आपसे आप स्मरण हो आता है। जैसे हमने अगर आपको प्रायः ही अपने कुत्ते के साथ देखा है तो कुत्ते को देखकर आपकी याद और आपको देखकर कुत्ते की याद आ जाना स्वाभाविक है।

स्मृति के प्रयोगों में खास कर इसी बात पर ध्यान रखा गया कि सारी चीजों को उतना ही सहज रखा जाय जितना कि संभव है, और यह देखा जाय कि फिर से स्मरण करके कह सकने के प्रथम नियम क्या हैं।

सबसे पहले एबिंगहाउस नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने इस तरह के प्रयोग वैज्ञानिक ढंग पर करना शुरू किया, जिन्हें प्रोफ़ेसर जी० ई० मूलर ने पूर्ण किया। एबिंगहाउस ने पहले कविताएँ याद करना शुरू कीं और वह यह देखने लगा कि कितनी बार पढने पर पूर्ण रूप से कविता को दुहराया जा सकता है। कविता के पढ़ने के बार की संख्याओं और बीच के समय के अनुसार उसने यह देखा कि भूलने का क्रम किस तरह चलता है।

लेकिन तब उसने पाया कि कुछ खास शब्द या कविता कम ही बार पढ़ने से अधिक याद रहती हैं, जहाँ कि दूसरे शब्द या कविताएँ अधिक बार पढ़ने पर भी भूल जाने को ही तत्पर रहती हैं। तब यह ख़याल किया गया कि शब्दों के अर्थ मन के अन्दर तरह-तरह के संयोजन उत्पन्न करते हैं और उन्हीं की भिन्नता के अनुसार स्मृति भी भिन्न प्रकार की होती है। इसलिए अब उसने अर्थहीन पदों का निर्माण किया। सभी पद एक प्रकार के ही बनाए गए और यह अन्दाज किया गया कि अब वह दिक्कत पेश नहीं आयगी जो सार्थक शब्दों के साथ होती थी। ऐसे प्रयोगों में किया यह जाता है कि कुछ थोड़े से अर्थहीन पद बना लिये जाते हैं और तब उन्हें एक प्रकार से ही एक-एक करके पात्र को सुनाया अथवा दिखलाया जाता है। तदनन्तर पात्र को उन पदों को ठीक उसी क्रम से दुहराने को कहा जाता है। देखा यह जाता है कि औसत तरीक़े पर कितनी दफ़ा में सारे पद उसी क्रम से पूर्णरूपेण दुहराये जा सकते हैं। एक बार पूरी तरह याद कर लेने के बाद कुछ समय का अंतर देकर फिर देखा जाता है कि कितना अंश भूल गया और फिर याद करने के लिए कितनी बार पढ़ने की ज़रूरत है। पाया यह गया कि अगर १२ पद याद करने के लिए ७ बार पढ़ने की जरूरत है तो यह कोई ज़रूरी नहीं कि २४ याद करने के लिए १४ बार ही पढ़ने की ज़रूरत पड़े। शायद ३० या ४० बार भी पढ़ने की आवश्यकता पड़ सकती है अथवा इससे भी अधिक।

इन प्रयोगों से और भी एक बात का पता लगाया गया कि आसानी से स्मरण करने के लिए कौन-कौन-सी चीज़ों का कितना प्रभाव पड़ता है। देखा गया कि सर्वप्रथम स्थान पानेवाला पद, सबसे आख़िर मे रहनेवाला पद,

जो पद बार-बार दुहराया जाता रहा है वह, और जो पद सबसे अधिक प्रमुख रूप में (जैसे बड़े अक्षरों में) दिखलाया गया है वह ज़्यादा स्मरण रहता है। इससे यह नियम मालूम हुआ कि प्राथमिकता, निकटता, प्रमुखता और एकाधिकता स्मृति की सहायिका है।

एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—"क्या अभ्यास से स्मरणशक्ति बढाई जा सकती है?" विद्यार्थियों और अध्यापकों दोनों ही के लिए यह प्रश्न अत्यत महत्त्व का है। वैज्ञानिकों का कहना है कि नहीं, यह सभव नहीं। स्मरण-शक्ति मस्तिष्क की एक शक्ति है, जो बराबर एक समान रहती है। हाँ, आप ज़्यादा से ज्यादा ऐसे तरीकों को खोज सकते हैं, जिनके द्वारा अपनी स्मृति की सहायता कर सकें। इस सिद्धान्त के बावजूद भी बहुत-से लोग स्मरण-शक्ति बढ़ाने के नुस्खे बेच-बेचकर काफी नाम भी पैदा कर रहे हैं और धन भी। ऐसी बडी-बड़ी कम्पनियाँ हैं, जो लोगों की स्मरण-शक्ति बढ़ाने के काम पर ही न सिर्फ अपनी स्थिति बनाए हुए हैं, बल्कि बहुत काफी रुपये भी कमा रही हैं। आखिर इसके पीछे वास्तविकता क्या है?

हम बता चुके हैं कि स्मृति पर किए गए प्रयोगों के फलस्वरूप स्मरण करने में मददगार कुछ नियमों का भेद अवश्य जाना गया है, जिन्हे ही बेचकर ऐसी संस्थाएँ फूल-फल रही हैं। उदाहरणार्थ यह एक नियम है कि किसी चीज को टुकड़े-टुकड़े करके याद करने से बेहतर है कि उसे पूरा-का-पूरा एक साथ ही पढा जाय। जैसे आपको अगर कोई कविता याद करना हो तो कविता का एक-एक हिस्सा पढ़कर याद करने के बजाय यह अच्छा है कि आप एक बार मे सारी कविता ही पढ जायँ और उसे इसी तरह दुहराते जायँ। दूसरी बात यह है कि अगर एक चीज को याद करने के बाद बीच में थोडा समय दिया जाय तो इस बीच के समय मे उस चीज की स्मृति दिमाग मे और भी पक्की हो जायगी। तीसरी बात यह है कि एक प्रकार की चीज एक साथ ही याद करने से एक दूसरे को बाधा देती है। जैसे अभी आपने तुलसीदास का एक पद याद किया और इसके बाद तुरत सूरदास का एक पद, तो दोनों आपस मे एक दूसरे को बाधा देंगे। इसलिए बेहतर है कि एक के बाद दूसरा जो विषय आप उठाएँ वह उससे भिन्न हो।

यह तो मोटी-मोटी कुछ बातें हुई। ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें हैं जिनकी मदद उक्त तरह की सस्थाएँ लेती हैं और लोगों की स्मरणशक्ति बढाने के ठेके का काम, जहाँ तक उनके पैसे का सबध है, सफलतापूर्वक करती हैं!

विलियम मैकडूगल ने अपनी एक सहकारिका, मिस एम० स्मिथ, के साथ इस समस्या पर कुछ प्रयोग किए थे और वह इस नतीजे पर पहुँचा कि कुछ अश तक याद रखने की ताकत को अभ्यास से बढाया जा सकता है। इसकी संभावना मालूम पडती है, किन्तु इस पर काफी प्रयोग होने की आवश्यकता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि स्मृति और आदत बिल्कुल एक चीज है। एक ही तरह से एक काम को करते रहने पर उस काम के स्वय हो जाने की प्रवृत्ति को हम आदत कहते हैं। जैसे अगर आप बराबर कई दिनों तक दाहिने हाथ से कोट का बटन लगाते रहे हैं तो शुरू में तो अवश्य आपको अपनी चेतना लगाकर यह काम करना पडा है, लेकिन अब आपका हाथ बिना आपकी चेतन सहायता के बटन लगाने का काम स्वयं कर लेता है। इसे आप कहते हैं—आदत पड गई। इसी तरह एक ही वस्तु को बार-बार दुहराने के फलस्वरूप आप-से-आप उसे पुनः बिना देखे कह डालना स्मृति कहलाती है। इसी बल पर प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि आदत और स्मृति एक ही वस्तु हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं। बर्गसन ने इस पर काफी खोज की और उसने पहलेपहल यह सिद्धान्त निश्चित किया कि यह बिल्कुल ग़लत बात है। आदत एक शारीरिक क्रिया है, और स्मृति मानसिक। एक ही काम को बार-बार करने से शारीरिक नाडि-मार्गों में कम बाधा रह जाती है और इसीलिए वह काम फिर से करने की शारीरिक चेष्टा करने से आसानी पर हो जाता है। अर्थ-हीन पदोंवाले प्रयोग के नतीजे से यह परिणाम भी निकाला गया कि ठीक इसी तरह पदों को बार-बार दुहराने से बाधा की कमी हो जाती है और यह दोनों कार्य प्रायः समान-से हैं। किन्तु बात यह है कि अर्थ-हीन पदों-वाला प्रयोग, अगर सच पूछिए तो, स्मृति का प्रयोग नही, अभ्यास का प्रयोग है। पदों को अर्थ-हीन बनाकर, उन्हे आँखो के सामने एक यान्त्रिक तरीके पर बार-बार प्रदर्शित कर, उन्हे इतना अधिक यान्त्रिक बना दिया जाता है कि सारी प्रक्रिया का शरीर से ही अधिक सबध रह जाता है, मन से कम। जब ऐसे पदों की एक शृंखला याद करने को दी जाती है तो आदमी उसे जान-बूझकर विज्ञान के फायदे के लिए मन मे रखता जाता है और दुहराने के लिए कहने पर सारी शृंखला एक पूर्ण कड़ी की तरह निकल पड़ती है, अलग-अलग नहीं—ठीक जैसे कि आदत का एक संपूर्ण कार्य एक बार शुरू होकर पूरा-का-

पूरा होकर रहता है। अब इनकी जगह पर सार्थक शब्दों की बात लीजिए। आप पाइएगा कि एक आदमी जो १२ बार दुहराए जाने पर ८ निरर्थक शब्द याद कर सकता था, एक बार पढकर ही १५ शब्दों की पूरी कविता सुना सकता है। ऐसा क्यों!

कहा जा सकता है कि कविता का स्मरण रखकर दुहरा देना इस आदमी के लिए एक मानसिक कार्य हुआ और अपनी दिलचस्पी के अनुसार जल्दी याद कर सकना या भूल जाना उसके मन की एक चेष्टा हुई। जहाँ पर कि निरर्थक शब्दों को स्मरण करने में मन ने उतना साथ नहीं दिया, वहाँ शारीरिक नाड़ियों के मार्ग में बाधाओं को कम करने का यान्त्रिक कार्य हुआ।

और जब याद करने की वस्तु मे अर्थ का अवतरण हुआ तो यह समझना आसान हो गया कि ऊपर स्मृति के सहायक जिन नियमों का उल्लेख किया गया है उनके अलावा सबसे बडा नियम है पात्र की दिलचस्पी, उसका स्वार्थ और उसकी इच्छा। इन्ही स्वार्थ एवं इच्छाओं मे किसी तरह की रुकावट पडने से विस्मृति होती है। फ्रॉयड का सिद्धान्त यह है कि किसी भी चीज को भूलने का सिर्फ एक ही कारण हो सकता है, और वह है उसके सबंध में किसी बाधा का होना। किन्तु यह एक बड़ा विषय है, जिसे आगे के अध्यायो मे बताया जायगा।

तो स्मृति वास्तव में हुई क्या चीज? सबसे सहज स्मृति मे पहले तो पिछले अनुभव की कल्पना होती है, फिर उसे पहचाना जाता है। कल मैंने सुरेश बाबू के रेडियो पर एक गाना सुना था। अभी मैंने अपना रेडियो बजाना शुरू किया तो जो गाना सुनाई पड़ा वह मुझे तुरत कल-वाले गाने की ओर खीचकर ले गया और मैंने मन मे कहा—"वही तो है, तलत महमूद।" गाने ने मन के भीतर रेडियो, सुरेश बाबू, तलत महमूद और तब उसके गाने को ला खड़ा किया। इस तरह पहचान संपूर्ण हो गई। हमने कहा—साधारण स्मृति यही है।

सवाल यह है कि हम भूतकालिक घटनाओं को पहचानते क्योंकर हैं? जब आप किसी कुत्ते को देखकर यह कहते हैं कि यह शायद वही कुत्ता है जिसे आपने अमुक मोड़ पर परसों देखा था तो आप कैसे भूतकाल मे हुई उस घटना को वर्त्तमान में ला देते हैं? आप कह सकते हैं कि हमारे अन्दर पहचान-सा लगने का एक ज्ञान स्वयं आ जाता है। हम स्वयं भी इसका उत्तर संतोषजनक रूप से नहीं दे सकते। पर इतना बता सकते हैं कि जो अनुभव प्राप्त किया जाता है वह तुरंत जितना ताजा रहता है उतना समय बीतने पर नहीं रहता। हो सकता है कि किसी वस्तु की प्रतिक्रिया धीरे-धीरे हमारे मस्तिष्क पर से मिटती जाती हो, ठीक उसी तरह जैसे गीले आटे पर का दाग़ धीरे-धीरे अस्पष्ट होता जाता है। लेकिन यह सिद्धान्त मानने से यह भी मानना होगा कि स्मृति एक शारीरिक क्रिया हो गई और हम देख चुके हैं कि यह बात ग़लत है। किन्तु इतना कहा जा सकता है कि शायद पहचान भी एक सहजवृत्तिजात वस्तु है। अगर खरहे ने कल देखा था कि शेर एक दूसरे खरहे को खा रहा था तो उसके प्राकृतिक बचाव के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे दिन शेर को देखकर वह भाग जाय, इसलिए कि वह कल उससे भयभीत हुआ था। वह शायद ऐसा नही समझेगा कि कल यही शेर था जिसने दूसरे खरहे को खा लिया था और अब उसे वहाँ से भाग जाना चाहिए, नही तो शायद शेर उसे भी खा जायगा। हाँ, इसी प्राथमिक पहचान से विस्तृत पहचान भी होने लगती है।

मनुष्य की स्मृति भी प्राथमिक पहचान से ही आरम्भ होकर विस्तृत पहचान तथा कल्पना तक मे परिणत हो जाती है और तब तो कल्पना से ही अपने भूतकालिक अनुभवो की बुनियाद पर बड़े-बड़े महल तैयार किए जा सकते हैं। छोटी तस्वीरो से लेकर महाभारत-जैसे काव्य भी इन्ही के बल पर तैयार हो जाते है। मन का यही प्राणिशास्त्रीय कार्य है कि वह भूतकाल की घटनाओं को इस तरह इकट्ठा करे कि वे उस प्राणी के भविष्य के लिए काम दे सके। अन्यथा एक बार साँप से डँसा जानेवाला मनुष्य बार-बार साँप से डँसा जाकर प्राण गँवाने के ख़तरे में पड़ सकता है और एक बार गड्ढे मे गिरनेवाला बार-बार गड्ढे मे गिर सकता है। वैसी हालत मे दूध का जला कभी छाछ फूँककर नही पीएगा। लेकिन आत्म-रक्षा तथा उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्राणी अपने गत अनुभवों से सीखे और उसी के अनुसार अपने भविष्य का कार्यक्रम चलाए। प्राणी वृद्धि अथवा विकास की सीढ़ी पर जितना ही ऊँचा होगा उतनी ही उसकी यह शक्ति अधिकाधिक होगी और अपनी इसी शक्ति के बल पर वह आगे विकास पाता जायगा।

और इसी भूतकाल के अनुभव के बल पर स्मृति और कल्पना की सहायता से सबक़ सीख लेनेवाला प्रेमी ठीक समय पर ईडन गार्डन तो क्या, बोटैनिकल गार्डन तक में अपनी प्रियतमा से मिलने को पहुँचता रहेगा!

हमारे देश के एक चमड़े के कारख़ाने में तैयार होने के लिए आई हुई खालें अपने-अपने दर्जे के अनुसार छाँटकर अलग की जा रही है। इनमें ढोरो की साधारण मोटी खालो से लेकर भेड़-बकरियो की नरम चमडी और मगर की कीमती खाल तक सभी प्रकार का कच्चा माल है। मगर के चमड़े से ऊँचे दर्जे के सूटकेस आदि बनाए जाते हैं।
(फ़ो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट' की कृपा से प्राप्त)

(बाईं ओर)
अनेक क्रिया-प्रक्रियाओ द्वारा सिझाने और मुलायम बनाने के बाद अंत में चमडे को दूध, चदन का बुरादा आदि के लेप से 'सीज़न' किया जाता है। इस फोटो मे मगर अजगर, आदि की कीमती खालो को इसी प्रकार 'सीज़न' करते हुए दिखाया गया है। [फोटो-'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट (दक्षिणी भारत)' की कृपा से प्राप्त]

चमड़ा

जिस सुदूरवर्त्ती प्रस्तर युग में मानव ने अपने शरीर को ढकने के लिए वल्कल वस्त्र तथा हिंस्र पशुओं की खाल का सर्वप्रथम प्रयोग करना सीखा था, उन दिनों शीतप्रधान देशों मे अवश्य पशु की खाल को योंही बिना सिझाए हुए ही लोगों ने अपने को ठण्ड से बचाने के लिए पहनना आरम्भ किया होगा। सूखने पर खाल के ये परिधान कड़े भी हो जाते रहे होंगे। वर्षा में भीगने पर इनमें से दुर्गन्ध भी निकलती रही होगी। सम्भव है, खाल की दुर्गन्ध दूर करने के लिए किसी विचारशील व्यक्ति ने उसे आँच के समीप रखकर सुखाया हो, तदुपरान्त कड़ी खाल को नरम बनाने के लिए सम्भवतः उसकी भीतरी सतह पर चर्बी रगडी हो। ऐसा करने पर उसे यह देखकर आश्चर्य्य हुआ होगा कि अब खाल सूखने पर भी पहले की तरह मुलायम बनी रहती है। उस प्राक्‌ऐतिहासिक युग में आदिम मनुष्य ने खाल को सिझाकर चमड़ा बनाने का गुर ढूँढ़ निकाला था। धुएँ और चर्बी की मदद से तयार किया गया वह चमड़ा चाहे उतना बढ़िया न उतरता रहा हो जितना आज का, किन्तु इन आदिम मनुष्यों को इस गुर को ढूँढ़ निकालने का श्रेय तो हमें देना ही पड़ेगा।

खाल को सिझाने की कला हजारों वर्ष पूर्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। रोमन सैनिकों के चमड़े के वस्त्र योरप के संग्रहालयों में इन दिनों भी अपनी मजबूती और लचीलापन तथा मुलायमियत बनाए हुए हैं। इसके प्रतिकूल आजकल के सस्ते तरीक़ों पर सिझाए हुए चमड़े से मढ़ी पुस्तकों की जिल्दें आठ-दस वर्ष में ही नष्ट हो जाती हैं। आधुनिक समय में चमड़े का प्रयोग अनेक क्षेत्रों में होने लग गया है, अतः सिझाए हुए चमडे भी सैकडों तरह के आपको देखने को मिल सकते हैं। लकड़ी के तख्ते जैसे कठोर और मजबूत चमड़े से लेकर काग़ज के बर्क़ से पतले चमडे तक आजकल तैयार किए जाते हैं। आइए किस प्रकार एक दुर्गन्धयुक्त कच्ची खाल बढिया मुलायम चमडे में परिवर्त्तित की जाती है, इसकी कहानी हम आपको सुनाएँ।

भारी और मोटी खालों को चर्बी आदि लगाकर और रगड़कर मुलायम बनाया जा रहा है

[फ़ोटो—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट (दक्षिणी भारत)' की कृपा से प्राप्त]

इस फ़ोटो में चमड़े को धोने के लिए काम मे लाई जानेवाली एक प्रकार की क्रोममिश्रित रुई के निर्माण का दृश्य दिग्दर्शित है।
[फ़ो०—'क्रोम लेदर कं० क्रोमपेट', की कृपा से]

चमड़ा सिझाने के कारखाने (टैनरी) मे खाल साधारणतया चार हालतों मे पहुँचती है—(१) सीधे बूचडखाने से कच्ची ताजी खाल; (२) गीली नमक पुती हुई खाल, (३) सूखी नमक पुती हुई खाल जो दूर देशों से भेजी गई होती है; (४) धूप मे सुखाई गई खाल। टैनरी में सर्वप्रथम खाल को पानी में धोकर साफ करना होता है, ताकि उस पर लगा हुआ मैल, नमक तथा रक्त के धब्बे निकल जाएँ। तदुपरान्त पानी में सूखी खाल को कुछ समय तक भिगोना पड़ता है, जिससे वह भी समान रूप से नरम पड़ जाय। नमक लगी हुई खाल को बहते हुए पानी में देर तक धोना पड़ा है ताकि उस पर से नमक का अंश बिल्कुल निकल जाय।

पशुओं की खाल साधारणतया दो श्रेणियों में विभाजित की जाती है—गाय, बैल, भैंस, घोड़े, जेब्रा आदि की खाल को 'खाल' के नाम से पुकारते हैं, किन्तु छोटे जानवरों जैसे भेड़, बकरी, बिल्ली, सील मछली आदि की खाल को 'चमड़ी' के नाम से पुकारते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से खाल और चमडी मे विशेष अन्तर नहीं होता। हर प्रकार की खाल या चमडी कई तहों से बनी होती है। सबसे ऊपर ऊन, कड़े बाल या रोएँ होते हैं। उनके नीचे मुख्य खाल होती है, जिसका धरातल दानेदार और कुछ खुरदरा होता है। मगर आदि जलजीवों की खाल पर रोएँ की जगह 'चोएँटे' होते हैं। खाल की भीतरी तह पर नसों के रेशे आकर इकट्ठे होते हैं। यहीं मांस की तह भी होती है। इस तह में 'अल्बूमीनायड' प्रचुर मात्रा में मिली रहती है।

इस कच्ची खाल को सिझाने का उद्देश्य है इसे सड़ने से बचाकर मुलायम बनाये रखना, तथा इस योग्य बनाना कि पानी इसमे प्रवेश न कर सके, साथ ही उसकी मजबूती बढाना, ताकि उससे बनाई गई चीजे अधिक दिनों तक टिक सके। सिझे हुए और बिना सिझे हुए सूखे चमड़े का अन्तर मालूम करने के लिए यह प्रयोग किया जा सकता है। १४०° फा० टेम्परेचर के पानी में डालने पर सिझे हुए चमड़े पर कुछ प्रभाव न पडेगा, पर इसके विपरीत बिना सिझा चमड़ा पानी मे घुलने लग जायगा।

धुलकर साफ हो जाने पर खाल से बाल और रोएँ अलग करने होते हैं। मोटी खाल के लिए तीन-चार गड्ढे खोद लिये जाते हैं। इन गड्ढों में चूने का पानी भरा रहता है। साफ की हुई खाल इन तीनों गड्ढों में बारी-बारी से डाली जाती है। खाल की क़िस्म तथा ऋतु के अनुसार दस से पन्द्रह दिनों तक इन गड्ढों में खाल को पडी रहने देते हैं। इस बीच खाल को कई बार बाहर निकालकर उसे सुखाकर फिर चूने के पानी में डालते हैं। चूने के पानी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप खाल के बाल और रोएँ ढीले पड़ जाते हैं। अब खालों को बाहर निकालकर काठ के तख्तों पर उन्हे फैला देते हैं—बालवाली सतह ऊपर रखते हैं। ये तख्ते दीवाल के सहारे तिरछे टिकाए रहते हैं। कारीगर चौडे फल के चाकू से, जिसमें दोनों ओर काठ की मुठिया लगी रहती है, खाल पर से बाल को खरोंचता है। इस प्रकार सावधानी के साथ खरोंच लेने पर खाल की ऊपरी सतह साफ हो जाती है। कीमती ऊनवाली खाल को चूने के पानी में डालने से ऊन खराब हो जाता है। अतः ऐसी खाल से ऊन अलग करने के लिए एक दूसरी ही विधि काम में लाते हैं। खाल को धोकर उसका मैल आदि साफ़ कर

लेने के पश्चात् धरती के अन्दर बने हुए कमरों मे लटका देते हैं। इन कमरों में चिकनी टाइल्स जड़ी होती हैं। हवा के आने-जाने का प्रबन्ध इस ढंग का होता है कि इच्छानुसार कमरे का तापक्रम, उसकी आर्द्रता आदि पर पूर्ण नियंत्रण रख सकते हैं। तीन-चार दिनों तक इस धरती के नीचे के कमरे मे पड़े रहने के उपरान्त खाल की ऊन ढीली हो जाती है। तब खाल को बाहर निकालकर उसका ऊन हाथ से या मशीन द्वारा अलग कर लेते है। कारीगर को इस क्रिया में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है ताकि खाल की सतह पर किसी तरह की क्षति न पहुँच जाय।

खाल की भीतरी सतह के मॉस को भी इसी प्रकार चाकू से खरोंचकर अलग कर लेते हैं। अब साफ की हुई खाल के अन्दर सोखे गए चूने के पानी का असर दूर करना होता है, वरना खाल को सिझाने मे कठिनाई पड़ती है। इसके लिए बल्लियों के सहारे खाल को गड्ढों मे लटकाते हैं। इन गड्ढों में बोरिक ऐसिड या लैक्टिक ऐसिड के पानी का हलका घोल भरा रहता है। किसी-किसी फैक्टरी मे चूने के क्षारीय प्रभाव को दूर करने के लिए नमक का हलका तेजाब भी काम मे ले आते हैं। यत्रों द्वारा गड्ढे के घोल को प्रायः हिलाते रहते है। गड्ढे से निकालने के बाद खाल को बहते हुए पानी मे धोते हैं, जिससे तेजाब का असर उस पर से दूर हो जाय। अफ्रीका में देशी रीति से चूने का असर दूर करने के लिए कबूतर की बीट या गदहे की लीद के घोल मे खाल को डालते हैं।

अब खाल को सिझाने की बारी आती है। आजकल खाल को सिझाने की तीन रीतियाँ काम में लायी जाती हैं। प्रथम बलूत तथा बबूल की जाति के वृक्षों की छाल के रस से, द्वितीय क्रोमियम सल्फेट (रासायनिक द्रव्य)
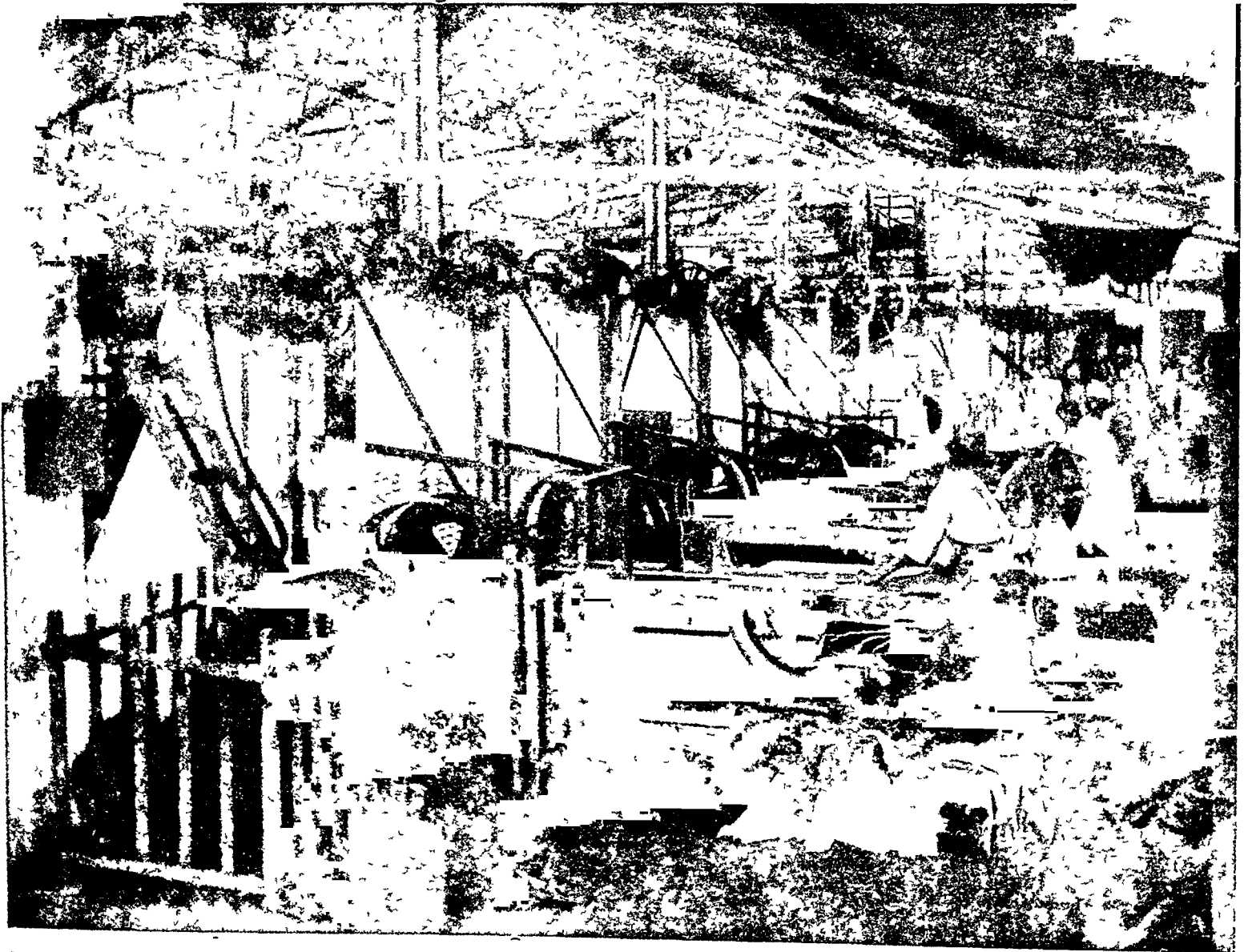
सिझाए और रँगे जाने के बाद चमड़ा कड़ा हो जाता है, अतएव उसे लकड़ी के गीले बुरादे से नम बनाकर मशीन द्वारा खींचतान कर तथा रगड़कर लचीला बनाया जाता है। इस क्रिया को 'स्टेकिंग' कहते हैं।
[फ़ो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट (दक्षिणी भारत)' की कृपा से]
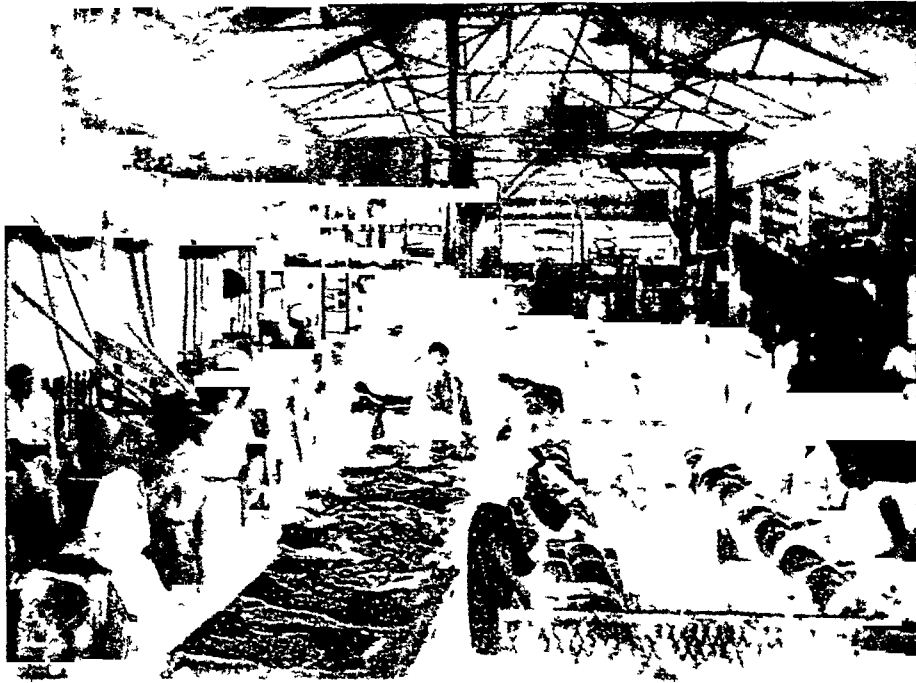
चमड़े की झुर्रियाँ दूर करने के लिए उसे रोलरों से दबाया जा रहा है, साथ ही उसकी निचली सतह को मखमल जैसी बनाया जा रहा है। (फ़ो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट' की कृपा से।)

मशीन-युग से पहले इङ्गलैण्ड में बढ़िया चमड़ा सिझाने में प्राय: ४ वर्ष लग जाते थे। उन दिनों हौज में नीचे छाल बिछाकर उस पर खाल की एक तह रख देते थे, फिर उस पर छाल बिछाकर खाल की दूसरी तह रखते थे। इस प्रकार एक के बाद दूसरी तह बिछाते चले जाते थे। फिर हौज में पानी भर देते थे। इस तरह कई महीने तक खाल हौज में पड़ी रहती थी। फिर खाल को निकालकर नई छाल की तहों के अन्दर उसी गड्ढे मे खाल को फिर कई महीने तक रखते थे। कई बार इस क्रिया के दुहराने के बाद खाल अच्छी तरह सिझ पाती थी।

की मदद से, तृतीय जलजन्तुओं की चर्बी की सहायता से। इन रीतियों में चमड़ा तैयार करने में अधिकांश प्रथम रीति ही काम में लायी जाती है। बबूल आदि के वृक्षों की छाल से कसैले स्वाद का एक रस निकलता है। इसे टैनिन के नाम से पुकारते हैं। फैक्टरी में तीन-चार हौज बने रहते हैं। पहले हौज में पानी में भिगोई हुई छाल का पतला घोल रखा जाता है, दूसरे में उससे अधिक गाढ़ा घोल रहता है, तृतीय में उससे भी गाढा और चौथे में छाल का सत्त अत्यधिक मात्रा मे रहता है और उसमें छाल के टुकडे भी पड़े रहते हैं, ताकि गड्ढे के पानी में टैनिन की मात्रा खूब अधिक हो।

पानी में टैनिन का घोल तैयार करने के लिए वृक्ष की छाल को मशीन में डालकर उसको छोटे-छोटे टुकडों में काट लेते हैं। यह मशीन लगभग उसी तरह की होती है जैसी काफी पीसने की मशीन। मशीन के अन्दर तेज धार के चाकू के फल प्रति मिनट तीन हजार बार घूमते हैं। कई सप्ताह तक इन गड्ढों में पडे रहने के बाद खाल पूर्ण रूप से सिझ जाती है। फैक्टरी में आने के बाद कहा जाता है कि खाल को सिझाकर बढिया चमडा बनाने में लगभग १ वर्ष लग जाता है, क्योंकि टैनिन के हौज में से निकालने के बाद चमड़े को धोकर उसमें तेल रगडा जाता है, उसे रोलर में दबाते हैं और तब उसे सुखाते हैं।

फैक्टरी में सिझाने के उपरान्त चमड़े को उठाकर दुहरा करके लटका देते हैं। फिर मशीन द्वारा उसकी भीतरी सतह को खुरचकर उसे एक ही मुटाई का बना लेते हैं। अब उपयुक्त रंग चढाने के लिए उसे लकडी के हौदों में डालते हैं। इन हौदों मे रग भरा रहता है। रंग चारों तरफ समान रूप से चढ़े, इस उद्देश्य से हौदे में चमडे को हिलाते रहते हैं। रग चढ़ाने के बाद चमडे के रेशे को नरम बनाने के लिए उसे तेल और साबुन के घोल में डालकर हिलाते हैं। एक बड़े पीपे में तेल और साबुन के घोल को रखकर उसी में चमड़े को डालकर पीपे को मशीन के सहारे इधर-उधर डुलाते हैं। तेल चमड़े में प्रवेश करके उसे चिकना और मुलायम बना देता है। पीपे मे से निकालने के बाद चमडे को भीतरी सतह की ओर दुहरा देते हैं और दो-तीन दिन तक इसी दशा में इसे लटकाकर छोड़ देते हैं। बढ़िया किस्म के चमडे तैयार करने के लिए तेल को चमडे पर हाथ से भी रगड़ते हैं। ऐसा करने से चमडे का लचीलापन बढ जाता है। अब अन्तिम रँगाई करके उसे ठण्डे पानी में धोकर सुखाते हैं। तल्ले वाले मोटे चमड़े को बहुत धीरे-धीरे सुखाना होता है, वरना चमडा अत्यधिक कड़ा पड़ जाता है। पतले चमडे को अवश्य मशीन की गर्म हवा की सहायता से जल्दी सुखा सकते हैं। सूखने के बाद चमड़ा अवश्य कड़ा पड जाता

है, अतएव उसे फिर मुलायम करने के लिए उस पर गीला बुरादा छिड़ककर मशीन के सहारे खींचते और बार-बार मोड़ते हैं। विशेषज्ञ कारीगर हाथ से भी मींजकर उसे खूब मुलायम बना लेते हैं। सूखने पर यह चमड़ा कड़ा नहीं पडता। तब मशीन से इसके हाशिये तराशकर उसे जूते या चमड़े की वस्तु बनानेवाले कारखाने में भेज देते हैं। यदि चमड़े को और भी बढ़िया बनाने की जरूरत हो तो उसे 'मींजन' करते हैं। इस क्रिया में चमड़े की ऊपरी सतह के खुरदरेपन को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए दूध, चन्दन का बुरादा तथा अन्य मसालों को मिलाकर लेप तैय्यार करते हैं। इसी लेप की पतली तह चमड़े पर फेरते हैं। सिझे हुए चमड़े की झुर्रियाँ दूर करने के लिए उसे मशीन के रोलर के नीचे दबाना पड़ता है। यह रोलर (बेलन) काँच का बना होता है।

चमड़ा सिझाने की दूसरी विधि में वृक्ष की छाल के स्थान पर क्रोमियम सल्फेट तथा क्रोमियम के अन्य रासायनिक यौगिकों का प्रयोग किया जाता है। क्रोमियम सल्फेट को पानी में घोलकर कई हौज़ में उसे भर देते हैं। तब खाल को एक के बाद दूसरे हौज में रखते हैं। हौज में घोल का गाढापन भी बढ़ाते जाते हैं। नं० १ के हौज में क्रोमियम सल्फेट की मात्रा कम रहती है, नं० २ के हौज में उससे ज़्यादा और नं० ३ मे उससे भी अधिक। क्रोमियम द्वारा सिझाने पर खाल में तेजाब का अंश पहुँच जाता है और इस तेज़ाब के अंश को नष्ट करना अनिवार्य होता है। ऐसा करने के लिए चमड़े को कुछ दिनों तक क्षारीय घोल में रखना पड़ता है। तदुपरान्त इसे धो देते हैं। क्रोमियम द्वारा सिझाए गए चमडे को 'क्रोम लेदर' के नाम से पुकारते हैं। क्रोमियम के कारण ही इसका रंग कुछ-कुछ हरा होता है। मोटा चमड़ा जूते का तला बनाने के

चमड़े को मशीन द्वारा समान मोटाई का बनाया जा रहा है। इस क्रिया को अंग्रेज़ी में 'शेविङ्ग' कहते हैं।
[फ़ो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट,' की कृपा से प्राप्त]

काम में लाया जाता है। अतः तले के लिए मोटे क्रोम लेदर को एक पीपे में (जिसमें मोम और चर्वी गर्म करके डाली जाती है) रखकर पीपे को मशीन के सहारे घुमाते हैं। चर्वी और मोम चमड़े में जज्ब होकर उसे मोटा और चिकना बना देती है, तदुपरान्त मशीन के रोलर से इसे खूब दबाते हैं। क्रोम लेदर की विशेषता यह है कि उबलता हुआ पानी भी उस पर असर नहीं करता। वृक्ष की छाल से सिझाए गए चमड़े में यह गुण नहीं पाया जाता। क्रोम लेदर को सिझाने में समय भी कम लगता है।

बकरी, भेड़ आदि की खाल, जो अपेक्षाकृत बहुत पतली होती है, फिटकरी द्वारा सिझाई जाती है। फिटकरी से सिझाए गए चमड़े का रंग सफेद होता है। अतः हाथ के दस्ताने आदि के बनाने के लिए इसी श्रेणी का चमड़ा प्रयोग में लाया है। फिटकरी द्वारा सिझाए गए चमड़े में पानी आसानी से जज्ब हो जाता है।

टनिंग की तृतीय विधि में मछली का तेल अथवा चर्वी का प्रयोग किया जाता है। इस रीति से तैय्यार किया गया चमड़ा 'शमॉय लेदर' के नाम से पुकारा जाता है। शमॉय लेदर कपड़े की भाँति मुलायम होता है।

'शमॉय लेदर' बनाने के लिए बाल अलग कर लेने के बाद खाल को चूने के पानी में भिगोते हैं। तदुपरान्त हलके तेजाब के पानी से उसे धोकर सुखाते हैं और फिर पीपों में उन्हें डाल देते हैं, जिनमें मछली का तेल तथा चर्वी भरी रहती है। इसके बाद प्रत्येक खाल को मुँगरी से कूटते हैं ताकि चिकनाई खाल के रोम-रोम में प्रवेश कर जाय। तब हवा में सुखाकर उसे तेल डालकर कूटते हैं। अब चमड़े को धूप में सुखाकर एक कमरे में टाँग देते हैं। इस कमरे को कृत्रिम रूप से गर्म किया जाता है। कुछ काल उपरान्त चमड़े में भिगा हुआ आधा तेल चमड़े के रेशे के संग रासायनिक तौर पर संयोग कर जाता है। शेष तेल को पोटाश के गर्म घोल से धोकर अलग कर लेते हैं। सूखने पर बढ़िया शमॉय लेदर बन जाता है।
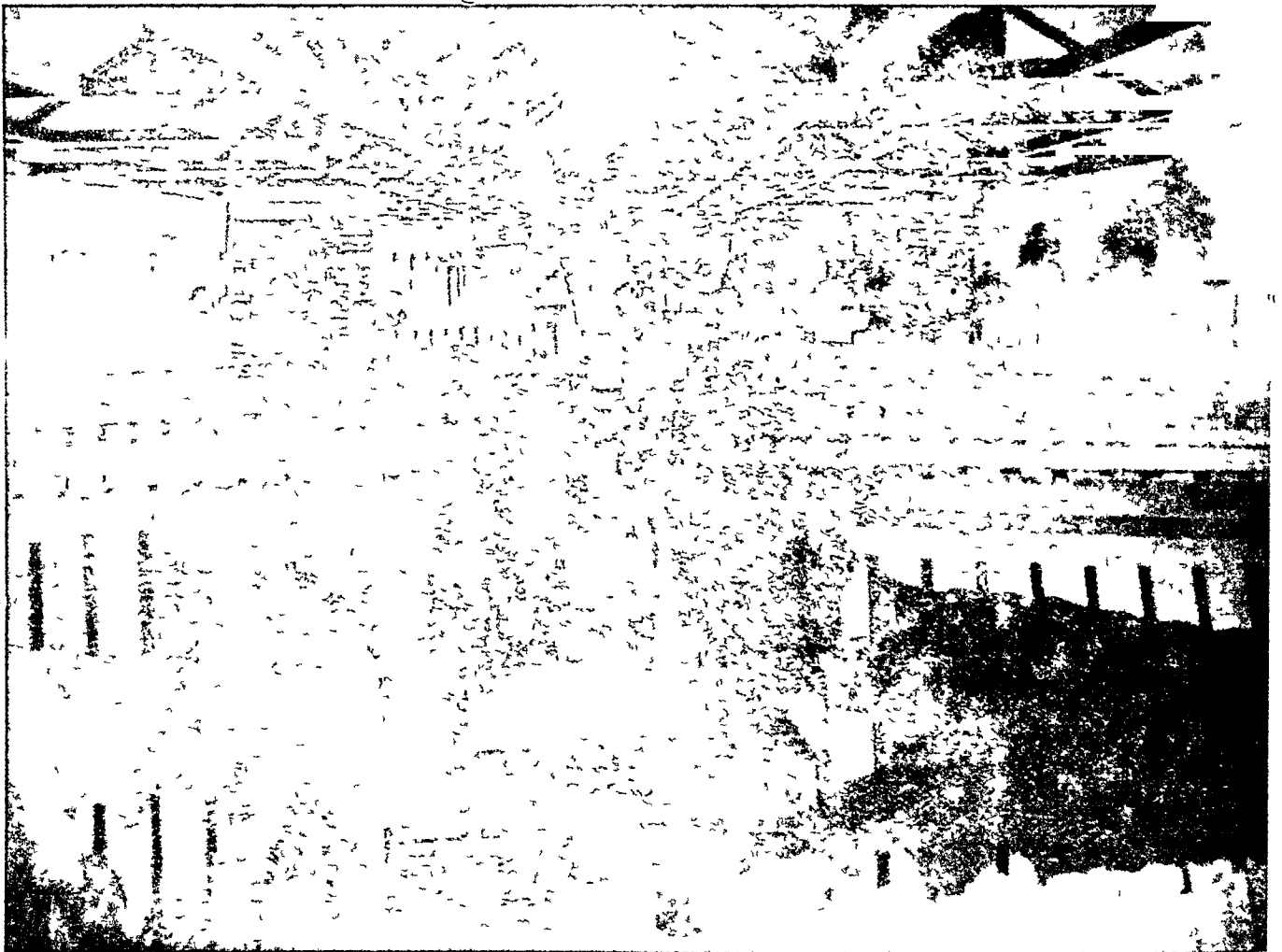
अंतिम रँगाई करने के बाद चमड़ा सुखाया जा रहा है। मोटे चमड़े को अधिक समय तक धीरे-धीरे सुखाना पड़ता है।
[फ़ो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट' की कृपा से प्राप्त]
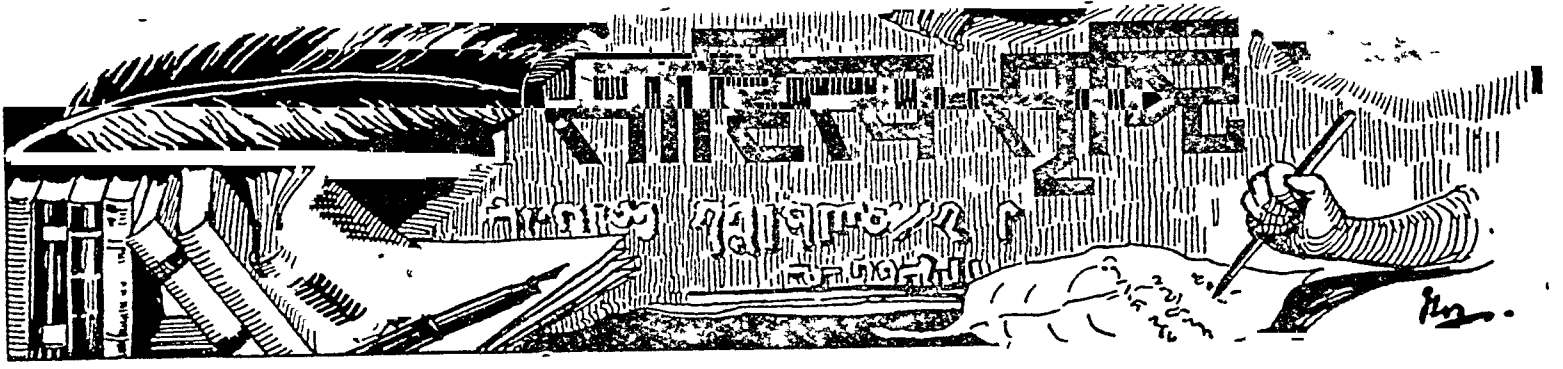
संस्कृत-वाङ्मय—६

प्राक्कालिदास-काल—काव्य

कालिदास का साहित्य संस्कृत-वाङ्मय मे वह ऊँची भूमि है जहाँ खड़े होकर हम आगे-पीछे दोनों ओर देख सकते हैं। वाङ्मय के ऐतिहासिक विवेचन के अर्थ कालिदास के पूर्ववर्त्ती कवियों का सक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। प्रस्तुत प्रकरण मे पहले कालिदास के पूर्ववर्त्ती काव्य-साहित्य का विवरण होगा, तदुपरान्त स्वय कालिदास के समय का। काव्य-साहित्य का अध्ययन भी दो भागों मे समीचीन होगा—प्रथमतः काव्य का प्रारंभिक युग, शिलालेखों की प्रशस्तियाँ, और द्वितीयतः बौद्धों द्वारा प्रणीत संस्कृत-काव्य का सिंहावलोकन, उदाहरणतः अश्वघोष और अन्य बौद्ध कवियों की कृतियाँ। इस कालिदास-पूर्ववर्त्ती-काल में काव्यों के अतिरिक्त नाटको की भी अभिसृष्टि हुई है। परन्तु उनका परिचय कालिदासोत्तर-काल के पश्चात् इसी तारतम्य से देना उचित होगा—(१) नाटक का प्राक्कालिदास-काल, (२) कालिदास-काल और (३) कालिदासोत्तर-काल।

प्रारंभ

संस्कृत-काव्य का आरंभ अत्यन्त प्राचीन काल मे हुआ और यद्यपि रामायण-महाभारत-जैसे अन्य काव्य हमें तत्कालीन जगत् मे उपलब्ध नहीं हैं, इसमें सन्देह नही कि किसी-न-किसी रूप मे वे प्रस्तुत अवश्य किए गए होंगे। निश्चय रामायण की गुरुता उनमें न थी, परन्तु निस्सन्देह उनकी भी काया रस के प्रवाह से ही अनुप्राणित की गई थी। सभवतः वाल्मीकीय रामायण से पूर्व इस प्रकार के काव्य विद्यमान थे, जिन्हे 'कुशीलव' कहते थे। यह बताना अवश्य कठिन है कि चूँकि लव-कुश ने 'आदि-काव्य' को गाया था, इसीलिए आदि-काव्य सदृश जितने काव्य गाए गए वे कुशीलव कहलाए अथवा वाल्मीकीय रामायण से भी पूर्व जो काव्य किसी-न-किसी रूप में प्रस्तुत थे उनकी संज्ञा 'कुशीलव' होने के कारण स्वयं रामायण भी 'कुशीलव' कहलाई। इसमे कोई सन्देह नही कि रामायण के पूर्व भी कुछ काव्य तदनुरूप वर्त्तमान थे। स्वय ऋग्वेद मे 'दानस्तुतियाँ' हैं, जिनमे दानियों की प्रशस्ति गाई गई है, छन्दोबद्ध भाषा मे। ये स्वयं प्राचीनतम काव्य के बीज हैं, यद्यपि वे ससार के काव्यारभ नही हैं, क्योंकि मध्य एशिया (आशुर) का 'गिलगमिश' नामक वीर-काव्य निश्चय उनसे पुराना है। इन दानस्तुतियो के बाद ही उस साहित्य-काव्य की परम्परा चली, जिसे 'नाराशंसी' कहते हैं और जिसके उल्लेख अथर्ववेदादि वैदिक साहित्य मे ही उपलब्ध हो जाते हैं। फिर उपनिषदों मे जिन ब्रह्मविद्या-प्रेमी राजन्यों का वर्णन मिलता है, जो सदा दर्शन-संघर्ष की योजना करते और उनमे स्वयं भाग लेते थे, वे भी अपनी योजनाओं और काव्य-बद्ध दान-प्रशस्तियों से सर्वथा उदासीन न रह सके होंगे। यद्यपि इस समय हमारे समक्ष इस प्रकार की प्रशस्तियाँ विद्यमान नही है, ऋग्वेद की दानस्तुतियों और नाराशसी की परम्परा मे मँजे काव्य अनुमानतः उपनिषत्काल के प्रमुख राजन्य-दार्शनिक जनक विदेह, अजातशत्रु काशीय, प्रवाहण जैवलि-पाचाल और अश्वपति कैकेय आदि के सबंध मे रचे गए होंगे। स्वयं उपनिषत् काव्यानुप्राणित हैं, यद्यपि वे कथागर्भित (महाकाव्यार्थ मे) न होकर केवल छन्दोबद्ध हैं। ऋग्वेद के स्वय उन आर्ष कवियों ने, जिन्होंने उषा के शाश्वत, वचक रूप का इतना सजीव और संमोहक वर्णन किया है, उसकी नर्त्तकी और उस नव-यौवना से उपमा दी है जो 'जार' को अपने स्तनों का लाक्षणिक उपहार करती है। संभव नहीं कि उन्होंने, अथवा उनकी परम्परा को जीवित रखनेवाले जारो ने, इस प्रकार के पार्थिव काव्य का सृजन न किया हो। फिर इस बात का भी स्मरण रखना होगा कि जिन विविध छन्दों का उपयोग रामायणादि महाकाव्यों, अथवा

कुछ अश में, उनसे भी पहले के उपनिषदादिकों ने किया है, उनकी अभिसृष्टि करनेवाले मेधावियों ने आखिर धूल मे रस्सी न बटी होगी। काव्य का व्याकरण (छन्दादि) उत्पन्न करने के अतिरिक्त उनका काव्य में प्रयोग भी किया होगा, सभवतः कथानकों के रूप में।

काव्यारभ मे पहला स्थान रामायण का है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत रामायण का समय ५००-२०० ईस्वी पूर्व के पहले नही रखा जा सकता और इसमे भी समय-समय पर प्रसग जोडे गए हैं। कितने ही आख्यान, जो इसमे महाभारत की भॉति मिलते हैं, प्रमाणतः इसके अतरग नही माने जा सकते। फिर काव्य का प्रथम रूप रामायण ही है और शैली तथा रूपरेखा के कारण इसके प्रबन्ध-भाग को एक कवि की कृति मानने में आपत्ति न होनी चाहिए। काव्य के जो नियम और प्रतिपाद्य विषय तथा विवरण बाद के 'रूपक' 'मीमासा' आदि लक्षण-शास्त्रों मे मिलते हैं, वास्तव मे इसी रामायण के आधार पर बने हैं और कालिदास आदि असाधारण कवियों ने भी अनेक अर्थ मे इस महाकाव्य से प्रचुर सहायता पाई है। निस्सन्देह काव्य-जगत् को महाभारत की देन और प्रकार की है। उसके अनेक प्रकरणों और काण्डों में जो असख्य ऐतिहासिक घटनाओं और अनुश्रुतियों का सकलन है वह बाद के काव्य और नाट्य साहित्य के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। प्रतिपाद्य विषय और प्रबन्ध-आदर्श अत्यधिक मात्रा में पश्चात्काल के साहित्यिकों को इसीसे उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत की कोई देन स्वीकार करना युक्ति-युक्त नहीं जान पडता। स्थल-स्थल पर उस महाकाव्य मे भी काव्य-स्रोत फूट पडा है, परन्तु उसकी इकाइयों का तारतम्य स्रोतवत् प्रवाहित नही है वरन् सकलित है। उसमें हारगुंफित मुक्ताओं का व्यक्तिगत पार्थक्य है। इस कारण महाभारत सस्कृत-काव्य के विकास मे एक सोपान नहीं माना जा सकता। उसमे जहाँ-तहाँ प्रकट काव्य-स्रोत निस्सन्देह विविध समयों के हैं।

अनुश्रुति कहती है कि वैयाकरण पाणिनि भी काव्यकार थे। राजशेखर (टामस, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, पृ०—५१ से) ने उन्हे 'जाम्बवती-विजय' का कवि घोषित किया है। इसके अतिरिक्त 'पाताल-विजय' नाम का एक और महाकाव्य पाणिनि की कृति बताया गया है। इन दोनों के अवतरण भी सस्कृत साहित्य में कहीं-कहीं मिलते हैं। कहना कठिन है कि इनके कर्त्ता वैयाकरण पाणिनि थे अथवा उस नाम के कोई अन्य कवि। परन्तु चूँकि राजशेखर-सा जिज्ञासु समालोचक इस वक्तव्य का समर्थक है और अनुश्रुति भी इसकी साक्षी है, अतएव शायद हमें वैयाकरण पाणिनि को भी कवि मानना ही होगा।

रामायण के प्रणयन का निम्नतम छोर पतंजलि के काल से आ लगता है। पतजलि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' लिखनेवाले वैयाकरण थे और सभवतः योग-सूत्रकार भी। यह समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० का है, जब मगध का शासक ब्राह्मण-सम्राट् पुष्यमित्र शुंग था। महाभाष्य में 'भारत' (महाभारत) काव्य का किसी-न किसी रूप में हवाला मिलता है और इसी प्रकार अन्य काव्य-कृतियों के प्रति निर्देश भी इसके व्याकरण-सम्बन्धी प्रवचनों में मिलता है, जिससे यह स्वीकार कर लेना सार्थक होगा कि पतंजलि के समय में रामायण के अतिरिक्त अन्य अनेक सामाजिक काव्य वर्त्तमान थे। इनके अतिरिक्त नाट्य-साहित्य का भी महाभाष्य मे सकेत मिलता है। एक 'वाररुचि काव्य' का तो स्पष्ट उल्लेख पतजलि ने किया है, परन्तु इस काव्य का ज्ञान हमें किसी और साधन से नहीं होता। संभवतः यह नष्ट हो गया। इसके सिवा पतजलि-काल में अथवा उससे पूर्व ही वैदिक छन्दों के बाद मालती, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा और वसन्ततिलकादि छन्दों का प्रादुर्भाव हो चुका था। तभी प्राचीन 'श्लोक,' 'त्रिष्टुभ,' आदि के साथ-साथ ही नवीन इन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, वंशस्था, समानी और विद्युन्माला आदि का प्रचलन निरर्थक न रहा होगा। काव्यों ही का कलेवर उनसे सजाया गया होगा। सभवतः उसी काल में उस साहित्य का भी प्रारभ हुआ होगा, जिससे 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' आदि पचतत्रीय कथानकों का पश्चात्काल मे विकास हुआ। पतंजलि के अतिरिक्त 'छन्दस्सूत्र' के रचयिता महर्षि पिंगल का शास्त्र भी काव्य-कला की मीमासा करता है। पिगल पतजलि के बाद नही रखे जा सकते। कुछ लोगों ने तो पतजलि और पिगल को एक ही व्यक्ति माना है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि ईस्वी सन् के आरंभ से पूर्व ही सस्कृत वाङ्मय में वीर, खण्ड, गेय और गाथा-काव्यों की रचना काफी जोर पकड़ चुकी थी।

१. प्रशस्ति-काव्य

भारतीय इतिहास के प्रणयन मे जो शिलालेख और स्तभ-लेख तथा प्रशस्तियाँ सहायक हुई हैं, उनसे सस्कृत-साहित्य के ज्ञान में भी बडी सहायता मिली है। उज्जयिनी के शक-कुल के क्षत्रप चष्टन के पौत्र रुद्रदामा ने गिरनार में १५०-

५२ ईस्वी में एक शिला-लेख खुदवाया था, जो अब तक विद्यमान है। वह गद्यकाव्य का सम्भवतः प्रथम उदाहरण है। उसमें वीरकाव्य से साधारण काव्य की ओर संस्कृत वाङ्मय की जो प्रगति हुई है उस विकास के दर्शन होते हैं। नासिक में प्राप्त आंध्रराज श्रीपुलुमावि का प्राकृत-गद्य लेख भी इस संबंध में उदाहरणतः रखा जा सकता है। कुछ विद्वानों का तो मत है कि यह लेख प्रथमतः संस्कृत में प्रस्तुत करके फिर प्राकृत मे लिखा गया। इस लेख में द्रष्टव्य बात यह है कि इसमें संस्कृत-काव्यों की अलंकार-कला का अनुकरण किया गया है, शब्दयोजना और संदर्भ दोनों मे। इस काल के प्रशस्ति-साहित्य से भी तत्कालीन संस्कृत काव्य की बलवती धारा का प्रवाहित होना प्रकट है।

२. अश्वघोष और बौद्ध काव्य

ईस्वी सन् के आरंभ में जिन संस्कृत कवियों ने अपने ज्ञान, पदलालित्य और काव्य से इस वाङ्मय को मुखरित किया, उनमें बौद्ध भिक्षु श्री अश्वघोष का स्थान सर्वोच्च है। अश्वघोष काव्य और बौद्ध दर्शन मे अपने काल के अद्वितीय महारथी थे और न केवल इतिहास पर वरन् साहित्य पर भी उन्होंने अपने गहरे पद-चिह्न छोड़े हैं। अनेक संस्कृत के कवि अश्वघोष की भाषा, शैली और वर्णन-वैचित्र्य से प्रभावित और अनुगृहीत हुए हैं। उनमें स्वयं कालिदास मुख्य हैं। परन्तु अश्वघोष कब हुए इस संबध में विद्वानों का एकमत नही। भारतीय कवियों ने अपने जन-संसार के संबंध में तो बहुत-कुछ लिखा, परन्तु स्वयं अपनी बाबत कुछ नहीं। इसी कारण काल के क्रम मे उनका स्थान निश्चित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अनुश्रुति के अनुसार अश्वघोष कुषाणराज कनिष्क के सम्मानित सभासद् थे। वह नृपति उन्हे पाटलिपुत्र से बलपूर्वक पुरुषपुर ले गया था और श्रीनगर में बुलाई गई चौथी बौद्ध-संगीति मे वह उपस्थित थे। अपने 'सूत्रालंकार' में दो स्थलों पर अश्वघोष ने कनिष्क का उल्लेख किया है और यद्यपि दोनों निर्देश भूतकाल के हैं, संभवतः उनका तात्पर्य उस काल से है जो शीघ्र व्यतीत हो चुका है। इससे कनिष्क और अश्वघोष की समकालीनता मे बाधा नहीं पड़ सकती। अश्वघोष संभवतः उसके बाद तक जीवित रहे। यह बात इससे और भी सहज हो जाती है कि कनिष्क स्वाभाविक मृत्यु से नहीं मरा था बल्कि उसकी हत्या की गई थी। कनिष्क के एक लेख में भी इस कवि का नाम आया है, यद्यपि वहाँ वह केवल अश्वघोष न कहलाकर 'अश्वघोषराज' के नाम से उल्लिखित है। इस हेतु प्रमाणतः श्रीअश्वघोष का काल लगभग १०० ईस्वी के मानना समुचित जान पड़ता है। अनुश्रुति के अनुसार अश्वघोष पहले ब्राह्मण थे, फिर उन्होंने बौद्ध-सर्वास्तिवाद को अपनाया और अन्त में बुद्ध के व्यक्तित्व से मुग्ध होकर वह महायान के आदिपुरुषों में से एक हुए। महायान का प्रवर्त्तन तो कुछ काल बाद नागार्जुन आदि ने किया, परन्तु उसकी ओर कुछ व्यक्तियों की प्रवृत्ति पहले ही हो गई थी। अश्वघोष उन्ही में से एक थे। चीनी भिक्षु-यात्री ईत्सिंग (६७१-६५) ने उनको प्राचीन महान् आचार्यों में माना है और उसका कहना है कि उसके समय मे श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक उनके ग्रन्थों का अनुशीलन होता था। स्वयं उनके ग्रन्थों की भूमिका आदि से विदित होता है कि अश्वघोष साकेत (अयोध्या) के थे और उनकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था।

अश्वघोष अनुश्रुति के अनुसार अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता हैं। 'महायान-श्रद्धोत्पाद' और 'वज्रसूची' नाम के दो ग्रन्थ भी उनसे ही प्रणीत माने जाते हैं, यद्यपि इसे स्वीकार करना कई कारणों से कठिन है। इन ग्रन्थों में प्रथम तो महायान के संबंध का है और दूसरा ब्राह्मणधर्म के ऊपर एक गहरी चोट है। सर ऑरेल स्टाइन ने एशियाई तुर्किस्तान में गोबी की मरुभूमि से इस महाकवि द्वारा प्रणीत कुछ नाटकों के टुकड़े खोद निकाले थे। 'गण्डीस्तोत्र-गाथा', जिसके अश्वघोष द्वारा लिखे होने में संदेह करना अयुक्ति-युक्त है, गेय साहित्य और ध्वनि मे एक आदर्श उपस्थित करती है। दो लकड़ियों की चोट से ध्वनि उत्पन्न कर शब्दों द्वारा धार्मिक सन्देश को लोगों तक वहन करना इस पुस्तक का प्रयोजन है। अश्वघोष का 'सूत्रालंकार' अथवा 'कल्पनामदण्डितिका' नामक एक ग्रन्थ भी खण्डतः प्राप्त है। यह गद्य-पद्यात्मक (चम्पू) संकलन है, जिसमे अनेक बौद्ध-कथाएँ सुरक्षित हैं। इस ग्रन्थ से अश्वघोष के महद् ज्ञान की सूचना मिलती है। इससे महाभारत, रामायण, सांख्य और वैशेषिक दर्शनों और जैन सिद्धान्तों के अनेक हवाले मिलते हैं। सूत्रालंकार में ही अश्वघोष के सुन्दर महाकाव्य 'बुद्धचरित' का निर्देश मिलता है।

अश्वघोष का कहना है कि जनसाधारण निर्वाण-प्राप्ति के उपाय नहीं करता, इसका कारण है सिद्धान्तों की जटिलता और इहलौकिक आनन्द की अनुभूति। इसलिए

यदि कोई कारण उन्हे औचित्य की ओर झुका सकता है तो वह केवल पार्थिव आकर्षण ही है। अतः काव्य-ग्रथित बुद्धचर्य्या ही उन्हे सत्य की ओर आकर्षित कर सकती है। ऐसा विचार करके ही अश्वघोष काव्य-प्रणयन की ओर झुके और उन्होंने 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित'-सी सुन्दर कृतियाँ रची। सौन्दरनन्द सम्भवतः उनका प्रथम काव्य था। इस काव्य की कथा 'महावग्ग' और 'निदान-कथा' मे किसी-न-किसी रूप मे वर्णित मिलती है, जिसे अश्वघोष ने काव्यानुकूल कर लिया है। अट्ठारह सर्गो मे प्रणीत इस काव्य का विश्लेषण इस प्रकार है—(सर्ग १) कपिलवस्तु का निर्माण; (२-३) राजा शुद्धोदन का परिवार और सर्वार्थसिद्ध तथा उनके सौतेले भाई नन्द का जन्म, (३) बुद्ध का वर्णन, (४-५) सुन्दरी का सौन्दर्य, नन्द का विलास और बुद्धाभिमुख-गमन, तथा बुद्ध का उसे बौद्ध धर्म मे दीक्षित करने का प्रयास, (६-६) सुन्दरी का अवसाद, नन्द की तृष्णा और पलायन-प्रयत्न, स्त्रियों के दुर्गुणों का वर्णन और उनके ससर्ग से प्राचीन महानुभावों का पतन, (१०) एकाक्षी वानरी के निर्देश से सुन्दरी के सौन्दर्य पर व्यंग्य और अप्सराओं के सौन्दर्य पर नन्द का मोह, (११) आनन्द के उपदेश, और अन्त मे (१२-१८) नन्द की बुद्ध द्वारा दीक्षा और जनकार्य मे अभिरुचि-जनन। सौन्दरनन्द के अतिरिक्त 'बुद्धचरित' अधिक गौरवमय है। अभाग्यवश यह अपूर्ण है। १७ सर्गों में प्राप्त उसके अन्तिम चार सर्ग अश्वघोष के नही हैं। सौ वर्ष हुए अमृतानन्द ने ये चार सर्ग उस महाकाव्य मे इसलिए जोड दिए कि उन्हे उसकी पूर्ण हस्तलिपि उपलब्ध न हो सकी। चीनी और तिब्बती पाठों में २८ सर्ग हैं, जो ४१४ और ४२१ ईस्वी के बीच प्रस्तुत किए गए थे। ईत्सिग को इन सर्गों का पता था। अश्वघोष बुद्धचरित मे कलाकार के रूप मे अभिव्यक्त हुए है। उसमें वर्णित स्थल काव्य के विचार से अत्यन्त सुघड हैं। कुछ दृश्य तो नितान्त आकर्षक और भव्य हैं। जब कुमार प्रासाद से बहिर्गत होता है, सुन्दरियों की भीड उसे आकर्षित करती है। परन्तु इस पृष्ठभूमि से उठकर उसकी मस्तिष्क-प्रक्रिया आगे आनेवाली जरा को देखकर स्तमित और विषादपूर्ण हो जाती है। फिर नारियों की अनेक प्रक्रियाओं मे मार के शर चलते है और अन्ततः कुमार अस्त-व्यस्त पड़ी हुई उन्हे निद्राभिभूत देख प्रासाद-विसर्जन निश्चित कर लेता है। कामशास्त्र के कवि का पाण्डित्य अनिन्द्य है और ससार छोडकर भागने के विरुद्ध पुरोहितों की युक्तियों में भी उसने काफी सफलता पाई है। इसमे सन्देह नहीं कि एक अश तक अश्वघोष के प्रतीक वाल्मीकि हैं। दशरथ का रथ जैसे राम-विरहित लौटता है, शुद्धोदन का रथ भी सिद्धार्थ-रहित है और शुद्धोदन सिर पीट लेते हैं। दशरथ की मृत्यु पर उन्हे ईर्ष्या होती है। 'रामायण' का सुमन्त्र 'बुद्धचरित' का छन्दक है। रथ को देखकर रामायण और बुद्धचरित दोनों में नागरिकाएँ वातायानों को दौड जाती हैं, पर उसे रिक्त देख वेदना से कराह उठती हैं। अश्वघोष की प्रारंभिक कल्पना कालिदास की पुष्ट कला में परिणत हो जाती है और वह महाकवि अपने 'रघुवश' और 'कुमारसभव' मे दो-दो बार हमें उसके दर्शन कराता है।

यहाँ अश्वघोष की काव्य शैली के ऊपर कुछ विचार कर लेना भी उचित होगा। इस महाकवि की शैली 'वैदर्भी' है, प्रसाद गुण जिसमे अधिक होता है और जिसकी पदावलि असमासित होती है। जनता काम-पीड़ित, तृषित है। उस पर शुष्क बौद्धों की प्रतारणा असर नहीं करती, कठोर सत्य कुण्ठित हो जाता है। उसे चाहिए रंजित दृश्यों का अकन, नारी का पार्थिव नग्न सौन्दर्य, अप्सरोचित वीभत्सता और फिर इन सबका लाक्षणिक परन्तु सशक्त विरोध। अपनी सादी परन्तु रुचिकर शैली से अश्वघोष अपने पाठकों को पहले शृगार-सामग्री देते हैं, फिर उसके वीभत्स और असत् रूप का निराकरण करते हैं। और यह सब एक सरल, चित्रमय और आकर्षक जगत् की अभिसृष्टि द्वारा। कवि अपने ग्रन्थों में पाण्डित्य की विवेचना नहीं करता, इसीसे उसके सद्यःपतित दृश्यों की चोट गहरी होती है। अश्वघोष की कला मुंड-ओराँव नृत्य की भाँति है, जिसमे मुगल-कालीन नर्तकी का तुलित-व्यजित नर्त्तन नही, वरन् प्रारभिक मानव का आह्लाद सुरक्षित है और जिसे देखकर कलावन्त शिशून्माद मे खो जाता है, स्वय अपनी मूर्च्छना को भुलाकर। बोधि-सत्त्व निर्वाण प्राप्त कर अपने दुःखों का अन्त नहीं करता और प्राणियों के मोक्ष के लिए प्रयास करता है, यह दृष्टि-विन्दु अश्वघोष का सर्वथा अपना न होकर भी एक ऐसे आर्द्र ससार की सृष्टि करता है जो काव्य जगत् मे नितान्त नवीन है। सुन्दरी का नन्द द्वारा शृगार, उसके 'भक्ति-विशेषक-पत्रलेख' के अंकन बौद्ध-भिक्षु की विसारित नागरिकता को क्षण के लिए पुनर्जाग्रत् कर देने की क्षमता रखते हैं। इस स्वतः चिन्तित अभिव्यक्ति का प्रभाव क्या कवि पर नही पड़ता? असभव।

तभी तो वह व्यग्यात्मक चक्षु धारण करता है और विरहिणी सुन्दरी का दुःख घनीभूत कर देता है ।

'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' में रामायण के चरित्र-चित्रण की छाप तो है ही, उनमे उसकी उपमाएँ भी विशिष्ट रूप से प्रयुक्त हुई हैं। स्थानाभाव से यहाँ इस विषय में समानान्तरताएँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं! यमक का प्रयोग भी अश्वघोष ने बड़ी पटुता से निबाहा है। 'प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गाम्' रामायण के प्रयोग 'विवत्सा वत्सला कृता' से कहीं अधिक सुन्दर है, यद्यपि अनोखेपन पर कवि ने जहाँ-तहाँ जो प्रयास किया है वह वाल्मीकि के प्रसाद से अवश्य घट गया है। 'तपः प्रशान्तं स वनं विवेश' इसी प्रकार का एक प्रयोग है, जिसमें 'प्रशान्त वन' तप के प्रभाव से नहीं वरन् उसके 'अभाव' से हुआ, ऐसा कवि-प्रयास है । अश्वघोष का छन्दोज्ञान भी प्रचुर और पर्याप्त है । सामान्य छन्दों के अतिरिक्त महाकवि ने उद्गता, वर्धमान और उपस्थितप्रचुपित आदि का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है।

कभी-कभी अश्वघोष और कवि मातृचेट को कुछ विद्वानों ने भ्रमवश एक माना है। परन्तु यह मातृचेट एक अन्य व्यक्ति है, जिसके 'शतपञ्चाशतिकस्तोत्र' के अनेक अंश संस्कृत में इधर-उधर बिखरे मिल जाते हैं। इस स्तोत्र शैली का भी विकास संस्कृत भाषा में प्रचुर रूप से हुआ।

३. अवदान

मातृचेट ने जिस पद्धति को अपनाया था, उसका विशेष निरूपण उस साहित्य में हुआ जिसे 'अवदान' कहते हैं। भक्तिपूर्ण गेय काव्य का आरंभ वैसे तो गाथाओं में ही हो गया था, परन्तु इस काल में वह विशेष रूप से फलाफूला। धर्म के सबंध में किए गए मानव प्रयासों और प्रयोगों को पदबद्ध भाषा में सुनने की अभिरुचि इस काल में उत्पन्न हुई । फलस्वरूप 'अवदानों' की अभिसृष्टि हुई, जिनका रूप संकुचित धार्मिकता से कहीं उदार और निखरा हुआ है। इन अवदानों के रचयिता बौद्ध थे और इनका प्रतिपाद्य विषय बौद्ध कथानक था। इनके रचयिता इस बात में विश्वास करते थे कि बुद्ध की भक्ति मनुष्य का जीवन मधुर और सुखमय करने में समर्थ होती है। हीनयान की मरुभूमि से बौद्ध मानव अब दूर हरी-भरी उपत्यका में जा पहुँचा था। बुद्ध और अन्य अर्हतों का मानवीय और मृदुल रूप उसे अधिक स्वादु और श्रेयस्कर सिद्ध हुआ और उसने उस साहित्य का निर्माण कर डाला, जिसे अवदान कहते हैं। इन अवदानों में सबसे प्राचीन 'अवदानशतक' है, जिसका चीनी अनुवाद ईस्वी सन् तृतीय शती के पूर्वार्द्ध मे ही प्रस्तुत किया जा चुका था, अतः इस काल से पूर्व इस अनूदित पुस्तक के मूल की तो कम-से कम रचना हो ही चुकी थी । फिर इसका ऊपरी छोर भी निश्चित किया जा सकता है । चूँकि मूल मे 'दीनार' (रोमक मुद्रा) का उल्लेख हुआ है, अतः इसे हम १०० ईस्वी से पूर्व किसी प्रकार भी नहीं रख सकते। वैसे कला के विचार से इस ग्रन्थ का स्थान बहुत ऊँचा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु बौद्ध इतिहास के संबंध मे इसका मूल्य कुछ थोड़ा नहीं है । इस शतक का काल-माप दस दशाब्द हैं, जिनमें से प्रत्येक दशाब्द विषय-क्रम से बाँटा गया है। वर्णन-क्रम चुनी बौद्ध पद्धति के अनुरूप है। इसमें अतिशयोक्ति और अस्वाभाविक वर्णनों की प्रचुरता है और भाषा का सौन्दर्य भाव की खींचातानी में नष्ट हो गया है। इस विचार से देखने पर यह तो स्वतःप्रमाणित है कि उसमें भावों की उच्चता होगी । यह सत्य है । कथाएँ सारगर्भित अवश्य हैं, यद्यपि अस्वाभाविकता उनके सत्य को निस्सन्देह कितने ही स्थलों पर हास्यास्पद अथवा निर्मूल कर देती है । एक उदाहरण इस प्रकार है :— मैत्रकन्यक अपनी माता के प्रति किए गए अपराध का भोग भोगने के लिए नरक में ६०००० वर्षों तक अपने मस्तक पर जलते हुए लौह चक्र को धारण करता है। वह इससे तभी उपरित हो सकता है जब उसी का-सा कोई अपराधी उसके भार को अपने मस्तक पर धारण कर ले। परन्तु मैत्रकन्यक दूसरे को अपने भार से दुःखी करने से स्वयं उसे सहन करना उत्तम समझता है और उसके ऐसा घोषित करने के साथ ही उसके मस्तक का लौह चक्र ग़ायब हो जाता है! इसमें अस्वाभाविकता है, परन्तु कष्ट सहन के आदर्श का उत्कृष्ट उदाहरण है और साथ ही उसके सुन्दर फल का भी। अन्य एक कथा में इसी प्रकार के एक धर्मपरक साहसपूर्ण कार्य का निर्देश है। श्रीमती राजा बिंबिसार की पत्नी है, और उसके पुत्र और हन्ता राजा अजातशत्रु की विमाता। अन्तःपुर की नारियों के लिए बिंबिसार ने एक स्तूप में बुद्ध का स्मारक रख छोड़ा है । पितृहन्ता सम्राट् अजातशत्रु उक्त स्मारक की पूजा अपनी आज्ञा द्वारा निषिद्ध करता है। श्रीमती सम्राट् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करती है और फलस्वरूप प्राणदण्ड पाती है। पर तुरंत ही दिव्यलोक में उसका अमानवीय जन्म होता है! निश्चय ही ये अवदान बौद्ध पुराण हैं।

इन अवदानों मे सबसे सुन्दर और ऐतिह्यपरक 'दिव्यावदान' है। इसका भी कलेवर 'अवदानशतक' की ही भाँति प्रायः सर्वास्तिवादियों के 'विनयपिटक' के कथानकों से ही निर्मित हुआ है। इसकी लगभग सपूर्ण काया हीनयान की है, यद्यपि इसका एक अंश महायानपरक भी है। उस अश को 'महायानसूत्र' कहा भी गया है। ब्राह्मणराज पुष्यमित्र शुंग की असहिष्णुता का इसमें यथेष्ट वर्णन मिलता है। इसके अनुसार उस मिलिन्द-विजयी सम्राट् ने पाटलिपुत्र से जालंधर तक के सारे बौद्ध विहार जला डाले थे और शाकल (स्यालकोट) मे घोषणा की थी कि जो उसे बौद्ध श्रमण का एक मस्तक देगा उसे वह सौ दीनार देगा—'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।' इस सदर्भ में 'दीनार' शब्द का प्रयोग सार्थक है। इस अवदान का एक अग 'शार्दूलकर्णावदान' २६५ ई० में ही चीनी भाषा में अनूदित हो चुका था। इसमे भिक्षु आनन्द के पतन और कन्याप्रकृति की बुद्ध द्वारा दीक्षा वर्णित है। प्रकृति ने भिक्षु आनन्द को मोह लिया था और अन्त में आर्त्त होकर बुद्ध-शिष्य ने तथागत को पुकारा। बुद्ध ने उपदेश द्वारा दोनों का नियन्त्रण किया। परन्तु दिव्यावदान का सबसे हृदयग्राही अवदान अशोकपुत्र कुणाल के प्रसग का है। विमाता चारुवाकी खञ्जननेत्र कुणाल पर मुग्ध होकर जब उसे नहीं पा सकती और उसे वह आचारशील युवक जब विरतमनोरथ कर देता है, तब वह वृद्ध अशोक के कान भर देती है। फलतः कुणाल के नेत्र चारुवाकी की प्रवचना से निकाल लिये जाते हैं, परन्तु वह सयत युवक न तो विषाद के वशीभूत होता है, न क्रोध के! इस अवदान में भारतीय काव्य का आदर्श करुणा का स्रोत फूट पड़ा है। 'दिव्यावदान' की शैली सहज ही विकृत और अनेकधा है, जैसी अनेकधा उसकी निर्माण-रश्मियाँ हैं। कहीं-कहीं तो इसमें साधारण सस्कृत गद्य है, जो जहाँ-तहाँ गाथाओं से घुला-मिला है और कही कहीं उसकी भाषा अत्यन्त समासित तथा छन्दयुक्त पद्यपरक है। इसी 'दिव्यावदान' का एक अंश 'अशोकावदान' है, जिसमे कलिंग-युद्ध के बाद उपगुप्त द्वारा सम्राट् और मार की धर्मदीक्षा है। मार को जीतकर जब उपगुप्त उसके बुद्धरूप के सम्मुख अर्चना में दण्डवत् होते हैं तब अश्वघोष के सूत्रालंकार का तद्विषयक प्रसंग नेत्रों के सामने आ जाता है। निस्सन्देह अवदान का रचयिता इस सबध मे अश्वघोष का ऋणी है। उसके सामने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द के अनेक स्थल मूर्तिमान प्रतीत होते हैं। अवदानकार गुप्त-पुत्र के लिए कहता है—'अतिक्रान्तो मानुषवर्णं असम्प्राप्तश्च दिव्यवर्णम्' (मानव-सौन्दर्य से ऊपर परन्तु देव-सौन्दर्य से निम्न)। क्या यह उद्धरण अश्वघोष के 'अतीत्य मर्त्याननुपेत्य देवान्' का रूपान्तर नहीं है!

४. अन्य काव्य

अवदानों के बाद संस्कृत साहित्य और काव्य कतिपय ऐसी कृतियों से सुशोभित हुआ, जिनकी भी काया अश्वघोष के आदर्श से अनुप्राणित थी। पाली से सस्कृत की ओर बौद्धों का झुकाव अधिकतर अश्वघोष के कारण ही हुआ जान पड़ता है। स्वय अश्वघोष का इस ओर झुकाव एक तो इस कारण हुआ होगा कि वह ब्राह्मण था, दूसरे उससे लोगों मे काव्य-लालित्य द्वारा धर्म-प्रचार करना वह चाहता था। फिर जब सर्वमान्य अश्वघोष का उदाहरण सामने था तब समर्थ लोग उच्चवर्गीय साहित्य-शैली को क्यों न ग्रहण करते! इसी से सभवतः सस्कृत ब्राह्मणों की भाषा होने के कारण बौद्धों द्वारा त्याज्य होकर भी उपादेय सिद्ध हुई।

अवदानों के बाद जिन लोगों ने अश्वघोष का अनुकरण कर संस्कृत में लिखा, उनमें 'जातकमाला' के रचयिता आर्यशूर का स्थान सर्वोच्च है। जातकमाला मे बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथा सस्कृत-काव्य में दी गई है। जान पड़ता है कि अब सस्कृत-जनों की 'व्यसन'शीला भाषा पुनः 'जन'-स्तुत्य पाली से बदलकर जन-भिन्न सस्कृत हो गई थी। देश की राजनीतिक स्थिति में भी तदनुरूप परिवर्त्तन हो चुका था। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि भारत का शासन फिर अबौद्ध ब्राह्मण-मन्त्रियोंवाले क्षत्रियों के हाथ में चला गया था। इससे देश में पाली के विपरीत संस्कृत का अनुशीलन फिर से आरभ हो गया था। वाकाटकों और नागों ने कनिष्क के बौद्ध उत्तराधिकारियों के दुर्बल हाथों से तलवार छीन ली थी और इस परिवर्त्तन के अनुरूप ही क्षत्रिय नाग और ब्राह्मण वाकाटक राजाओं के प्रोत्साहन से फिर सस्कृत की धारा बह चली थी। इसी कारण बौद्ध और भी अधिक सस्कृत का प्रयोग करने लगे थे। फिर अश्वघोष का स्तुत्य उदाहरण भी उनके सम्मुख था। जातकमाला का प्रायः सारा विषय पालि 'जातकों' में उपलब्ध था। उनकी बारह कथाएँ तो जातकों के अतिरिक्त पालि 'चरियापिटक' में भी वर्णित थीं। इत्सिंग के अनुसार 'जातकमाला' की बौद्धों में बड़ी प्रसिद्धि थी। अजन्ता के चित्रों में भी जातकमाला का

विषय पंक्तियों सहित उल्लिखित है। इससे भी इस पुस्तक की प्राचीनता प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त चूँकि आर्यशूर के अन्य एक ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में ४३४ ईस्वी में हो चुका था, अतः यह मानना कुछ अयुक्तियुक्त नही कि जातकमाला उस समय से काफ़ी पहले रची जा चुकी होगी। इससे आर्यशूर का ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में होना ठीक जान पडता है। आर्यशूर की शैली काव्य-प्रणाली-परक है। उसमें कला-चातुर्य तो है ही, सुरुचि की पुष्टता और अतिरंजन विषयक सयम भी है। उसके गद्य और पद्य दोनों ही सुरुचिपूर्ण, सतर्क और संयत है, यद्यपि उसकी गद्य-शैली मे समासित पदों का प्रचुर पुट है। इतना अवश्य सही है कि उसका गद्य समासित-पदगर्भित होने पर भी अस्वाभाविक और दुरूह नहीं होने पाता। पिता के अनुचित विसर्जन से विषादरत बालक रोता है—

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः ।
नापश्यमम्बां यत्तु तद्विदारयतीव माम् ॥
रोदिष्यति चिरं नूनं अम्बा शून्ये तपोवने ।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वानन्मूलफलं बहु ।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिकारथकाश्च ये ।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥

इन पंक्तियों में सुरुचि और कारुण्य का अद्भुत पुट है। अतिरजन अथवा अस्वाभाविकता का कही नाम तक नही। नीचे इसी सुरुचि और काव्यानुरूप श्लोक का एक और उद्धरण दिया जाता है, जिसकी सुघड़ता अश्वघोष और कालिदास की बरबस याद दिला देती है—

समप्रभावा स्वजनेऽजनेच धर्मानुगा तस्य हि दयडनीतिः ।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव ॥

बौद्ध होने के नाते आर्यशूर में जहाँ-तहाँ प्राकृत का प्रयोग है निस्सन्देह, परन्तु उसकी भाषा अथवा छन्द-मर्यादा में कही दोष नही।

आर्यशूर की शैली के संबंध मे एक बात का और विचार कर लेना समुचित है। अपने गद्य में स्थल-स्थल पर उसने पद्य का सहारा लिया है और श्लोकों का यथास्थान प्रयोग किया है। उसमें एक ऐतिहासिकता है। यह शैली निस्सन्देह आर्यशूर की अपनी सूझ नही है। इसमें कुमारपाल उसका पथनिर्देशक है। वास्तव में इस मिश्रित शैली के प्रवर्त्तक के विषय में विद्वान् लोग सहमत नहीं। ओल्डेनबर्ग के कथनानुसार अन्य देशों की ही भाँति भारत के साहित्य का मूल रूप भी 'पद्यवितरित' गद्य ही था। पद्य का प्रयोग गद्य में वहाँ किया जाता था जहाँ या तो प्रारंभिक मानव का अन्तस्तल गेय काव्य की प्रेरणा से थिरक उठता था, या जहाँ देवता के प्रति श्रद्धा और असाधु के प्रति शाप का उद्रेक होता, अथवा आशीर्वाद की भावना उच्छ्वसित होती थी। तात्पर्य यह कि गद्य लिखते समय जिन-जिन स्थलों में भावना के सूक्ष्म तार स्पन्दित होकर बज उठते थे वहाँ लेखक पद्य का सहारा लेकर अभिव्यक्ति करता था। इस विचार में काफ़ी बल है, क्योंकि जातकों, पालि-ग्रन्थों, रामायण-महाभारत, ब्राह्मणों और अथर्ववेद तक मे इस शैली का प्रयोग दिखाया जा सकता है। 'जातक-माला' और 'पञ्चतंत्र' इस शैली के प्राचीनतम उदाहरणों में से हैं। एक बात यह भी हो सकती है, जो अधिक संभावित जान पडती है, कि गद्य में पद्य विचारपुष्टि के लिए उद्धरण की भावना से दिया जाता रहा हो। क्योंकि यह भी भूला नही जा सकता कि जहाँ पद्यसहित गद्य के उदाहरण मिलते हैं, उसी भारतीय साहित्य में स्वतंत्र गद्य अथवा पद्य की विविध शैलियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में पाई जानेवाली 'कारिकाओं' को प्रसंग को उद्धृत करनेवाली ही मानना होगा। जो भी हो, आर्यशूर और उससे पूर्व कुमारपाल ही संस्कृत साहित्य में इस शैली के विशिष्ट लेखक हैं।

इस आरंभकाल के संस्कृत-साहित्य में बौद्धों की देन का अनुपात प्रचुर है, पर ऊपर उद्धृत बौद्धों के अतिरिक्त अन्यों की देन बहुत थोड़ी है। वास्तव में अन्य बौद्ध लेखकों का दान संस्कृत साहित्य के प्रति उतना नहीं, जितना भारतीय दर्शन और आन्वीक्षिकी के प्रति है। ईसा की पहली शताब्दी के अन्त में या संभवतः दूसरी शताब्दी में होनेवाले नागार्जुन ने अपनी 'मध्यमकारिकाओं' में जिस नवीन शैली का उद्घाटन किया है, उसे हम 'वाग्वैचित्र्य' (Paradox) कह सकते हैं। उसकी प्रणाली मे जो वर्णन-प्रगति है, उसके शब्दवैचित्र्य की बाह्याकृति में एक सत्य की निगूढ़ता है। नागार्जुन के प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद (२५० ई० के लगभग) होनेवाले आर्यदेव ने अपनी शैली में अद्भुत व्यंग्य-शक्ति का प्रदर्शन किया। उसकी 'चतुःशतिका' में ब्राह्मण-धर्म के अन्धविश्वासों, विशेषकर पाप-नाश के निमित्त गंगा-स्नान, पर कठोर कुठाराघात हुआ है। नागार्जुन ने अपने 'सुहृल्लेख' में किसी राजा के लिए बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण किया। उसी के अनुकरण में चन्द्रगोमिन् ने अपना 'शिष्यलेखधर्मकाव्य' लिखा, जो पत्र के रूप में शिष्य

के लिए बौद्ध उपदेशों का निचोड़ था। चन्द्रगोमिन् संभवतः ईसा की सातवीं शती में हुआ। वास्तव में उसका वर्णन कालिदास के बाद होना चाहिए था, परन्तु उसका इस स्थल पर उल्लेख कर देने से शैली-विशेष की समुचित व्याख्या हो जाती है। चन्द्रगोमिन् के व्याकरण का उपयोग 'काशिकावृत्ति' में हुआ है और ईत्सिंग के संकेत से जान पड़ता है कि शायद वह उस चीनी विद्वान् के समय तक जीवित था। इस समय के निर्णय में त्रुटि भी हो सकती है और सभव है चन्द्रगोमिन् का काल कुछ और पूर्व रखा जा सके। वैय्याकरण होने के कारण उसकी भाषा निर्दोष और गतिमती है, यद्यपि उसकी शैली में कोई विशेषता नहीं।

चन्द्रगोमिन् के साथ ही कतिपय अन्य आचार्यों का भी यहीं उल्लेख कर देना अयुक्त न होगा। 'शिक्षा-समुच्चय' का लेखक शान्तिदेव भी लगभग इसी सातवीं सदी का था। उसने अपने 'बोधिचर्यावतार' में उनके आचरण का वर्णन किया है जो बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं। उसका यह ग्रन्थ हीनयानाश्रयी 'अर्हत'-पदेच्छुकों की प्रचुर प्रतारणा करता है। अनुश्रुत्यानुसार शान्तिदेव किसी राजा का पुत्र था, जिसने विलास के जीवन से प्रव्रज्या का जीवन पसन्द किया था। उसका काव्य अधिकतर 'स्वान्तः सुखाय' लिखा गया प्रतीत होता है। महायान-सिद्धान्तों से मिश्रित उसका यह काव्य शैली की दृष्टि से काफी सशक्त है। उसमें वस्तु की अनित्यता के साथ ही भावना की असत्यता का भी पूरा-पूरा निर्देश है। उसके कथनानुसार 'कुछ सत्य नहीं, किसी वस्तु का लाभ-अलाभ नहीं, सुख-दुःख नहीं, राग-विराग नहीं। चाहे जितना खोजो, 'भाव'-जैसी कोई वस्तु नहीं।' परन्तु शान्तिदेव का हृदय जनहित की भावना से अनुप्लावित है और इस विषय में लिखते समय वह अपार्थिव और प्रमत्त हो उठता है। 'बोधिसत्त्व' का प्रयास इसी हेतु उसे सर्वोपरि प्रतीत होता है। उसी के संप्रदाय के चौथी सदी के वसुबन्धु और उसका अनुज असग कितने शुष्क हैं! असंग का 'महायानसूत्रालङ्कार' अत्यन्त लाक्षणिक और बोझिल शैली में लिखा गया है। इसकी शब्द-योजना अत्यन्त दुरूह है।

वास्तव में अब ब्राह्मणों और बौद्धों दोनों ने सस्कृत को अपना लिया था। जब-तब बौद्ध सिद्धान्तों द्वारा संस्कृत की उपेक्षा में पालि-प्राकृत की काया अवश्य सजाई जाती रही, परन्तु लाक्षणिक व्याख्या के सिद्धान्त-सृजन का मौका आने पर जब पालि शब्दावलि में उपयुक्त शब्दों का अभाव खलने लगा तब ब्राह्मण, बौद्ध और अन्य आचार्य फिर संस्कृत की ओर लौटे। इसके अतिरिक्त काव्य-कला में पालि और संस्कृत की धाराओं में स्वाद का असीम अन्तर था, जिसका प्रमाण शान्तिदेव का अद्भुत, पुष्ट, मार्मिक और हृदयहारी काव्य 'बोधिचर्यावतार' है।

कालिदास के पूर्व संभवतः ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती में ही वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का भी प्रणयन हो चुका था। कामशास्त्र-विषयक यह सूत्र-ग्रन्थ अत्यन्त वैज्ञानिक ग्रन्थ है और गुह्य बातों के अतिरिक्त इसमें नागरिक और नागरिकाओं के शृंगार तथा वेशभूषा पर भी विस्तृत व्याख्यान हैं। संस्कृत के काव्य-साहित्य की प्रगति में यह अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। इसमें वर्णित विषयों का सहारा लेकर कवियों ने अपने वर्णनों को पुष्ट और मार्मिक बनाया। स्वयं कालिदास अनेक अर्थों में वात्स्यायन के ऋणी हैं और उनके 'रघुवंश' का उन्नीसवाँ सर्ग तो कामसूत्रों की शक्ति का एक ज्वलन्त प्रतीक है। वात्स्यायन के कामसूत्रों की देन से बाद के कवि-विषय चमत्कृत हो उठे।

कालिदास-काल

१. राजनीतिक परिस्थिति

बौद्ध कुषाणों के शासन-काल के बाद नाग-वाकाटकों ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। उनके समय में ब्राह्मण-धर्म का फिर एक बार भाग्योदय हुआ और जब उनके बाद गुप्तकुल का प्रादुर्भाव हुआ तब तो ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान ही हो गया। गुप्त-सम्राट् 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' थे। इस कारण देववाणी सस्कृत का पुनरोदय अवश्यम्भावी था। गुप्त काल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं, क्योंकि उस काल में प्रत्येक मानवीय प्रयास में अपूर्व उन्नति हुई। 'चिरोत्सन्न' अश्वमेधों की परंपरा फिर बलवती हुई। सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय की तथा शाहानुशाहि और शक-मुरुण्डों को काबुल की उपत्यका में धकेल दिया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शकों को मालवा से बहिर्गत कर दिया और लौहित्य से चलकर सिन्धु के सातों मुखों को पारकर कोजक-अमरान पर्वतों की छाया से कावा काट वह्लीक के

हूणों को धूल चटा दी। इन उदात्त वीरों की प्रशस्ति से संस्कृत-भाषा क्योंकर न मुखरित होती! फिर जिस प्रकार चित्र-तक्षणादि कला के आचार्यों ने इस स्वर्णयुग का नाम सार्थक किया, उसी प्रकार इस काल में हरिषेण और वत्स-भट्टि, तथा कालिदास और विशाखदत्त ने भारती का साज सँवारा। इनमें कालिदास न केवल इस काल के वरन् समस्त इतिहासकाल के एक अत्यन्त उज्ज्वल रत्न हैं। विश्व-साहित्य में काव्याग्रणियों में वह अमर हो गए हैं और संस्कृत साहित्य में तो उनकी जोड़ का कवि हुआ ही नहीं। स्वयं यशस्वी वाल्मीकि का ऐश्वर्य भी उनके सम्मुख धूमिल हो जाता है। उन्होंने काव्य में अपने नाम का साका चलाया है।

संस्कृत-काव्य की प्रगति के दिग्दर्शन के पूर्व इस युग के अन्य स्कन्धों पर एक सूक्ष्मावलोकन लाभकर होगा। तक्षण-कला में तो आश्चर्यजनक कुशलता दिखाई ही दी, मुद्राओं के क्षेत्र में भी इस युग में अपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकाल के सुवर्ण-सिक्के कला की पराकाष्ठा हैं। उनकी सुन्दरता भारतीय मुद्रांकन में न तो उनसे पूर्व और न पश्चात् ही फिर प्रकट हुई। गणित, ज्योतिष् आदि भी यूनान के संबंध से विशेष रूप से चमके। वराहमिहिर (लगभग ५५० ईस्वी) की 'पञ्चसिद्धान्तिका' और आर्यभट (जन्म ४७६ ईस्वी) की कृतियों से इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। इस काल में विदेशों से संबन्ध भी खूब बना रहा। चीन के साथ विशेष प्रकार से यह वैदेशिक संबंध फूला-फला। भारतीय बौद्ध चीन और चीनी बौद्ध भारत में आते-जाते रहे। फ़ाह्यान ने, जो भारत में ४०१ से ४१० ईस्वी तक भ्रमण करता रहा, तत्कालीन समाज का अत्यन्त उदार वर्णन किया है। वह लिखता है कि देश में आने-जाने की यथेष्ट सुविधा थी; न्याय-व्यवहार का समुचित रीति से पालन होता था; दण्ड साधारण और शुल्कप्राय था; प्राणदण्ड उठा दिया गया था; राजमार्ग दस्युओं से सुरक्षित थे; साम्राज्य की आय भूमि-कर पर अवलंबित थी; और राजकर्मचारी नियमित वेतन पाते थे। चाण्डाल और अन्य नीच व्यक्ति नगर से बाहर रहते थे और जब वे नगर में आते तो सवर्णों को सूचित करने के लिए दो लकड़ियों को बजाकर ध्वनि उत्पन्न करते थे।। इस अन्तिम प्रसंग से स्पष्ट है कि ब्राह्मण-धर्म का पूर्णतया पुनरावर्त्तन हो गया था। ऊपर कहा जा चुका है कि स्वयं गुप्त-सम्राट् परम वैष्णव थे। विष्णु का वाहन गरुड़ उनकी विजयवाहिनी की ध्वजा पर अंकित था और उनकी मुद्राएँ मयूर, कार्तिकेय और लक्ष्मी के चित्रों से अंकित थीं। फिर भी गुप्त सम्राट् पूर्णतया सहिष्णु थे और बौद्ध धर्मावलंबियों का आदर करते थे। तत्कालीन बौद्ध आचार्य समुद्रगुप्त का गुरु और मित्र था। फिर भी समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध का फिर से संस्कार किया, जिसका उसके पौत्र कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने भी अनुष्ठान किया। और इस शक्तिशाली राजपरंपरा का एक साधारण वैभव तो यही था कि देश में शान्ति और समृद्धि बनी रही! ऐसे काल में काव्य का चमक उठना कुछ अद्भुत न था।

स्वयं गुप्त राजकुल संस्कृत भाषा और साहित्य से स्नेह रखता था। समुद्रगुप्त ने कविकुल में अपनी प्रतिभा से प्रतिष्ठा पाई थी, और वीणावादन में तो उसने 'तुम्बरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था' (दे० प्रयाग-स्तंभ का प्रशस्ति-लेख)। प्रयाग के स्तंभ-लेख में सम्राट् का प्रशस्ति-गायक कवि हरिषेण उसे 'कविराज' कहता है और अनेक कविताओं का रचयिता ('स्फुटबहुकविता राज्यभुनक्ति') कहता है। उस प्रशस्ति के अनुसार कविराज समुद्रगुप्त विद्वानों और कवियों के साथ समागम करता था, उनसे शास्त्रार्थ और संगीतचर्चा तथा कथोपकथन करता था। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य सहज ही उज्जयिनी के विक्रमादित्य के नाम से व्यक्त किया जाने लगा। अनुश्रुति ने उसे 'नवरत्नों' का पालनकर्त्ता घोषित किया। ये 'नवरत्न' थे—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेताल भट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि। इतिहास के अनुशीलन ने इस अनुश्रुति को हिला दिया है। ये रत्न समकालीन न थे। धन्वन्तरि, जिसके नाम पर संस्कृत में कुछ वैद्यक-ग्रन्थ मिलते हैं, अमरसिंह से काफ़ी प्राचीन है। स्वयं अमरसिंह कालिदास के ग्रन्थों का ऋणी है, इससे उनके बाद का है। शंकु और वेतालभट्ट इतिहास में जाने हुए व्यक्ति नहीं हैं। वराहमिहिर निस्सन्देह ईसा की छठी शती में विद्यमान था। कोषकर्त्ता क्षपणक और वररुचि का समय अज्ञात है। वररुचि यदि कात्यायन (शकटार) है, तो उसे नन्दराज का समकालीन संभवतः चौथी शताब्दि ईस्वी पूर्व का होना चाहिए। चाहे ये नवरत्न परस्पर समकालीन अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राज-सभा के सभासद न हों, परन्तु इससे चन्द्रगुप्त का कवि-कुल से संबंध तो स्थापित हो ही जाता है। फिर उसके पिता के प्रशस्ति-लेखक कवि हरिषेण संभवतः उसके आश्रय में थे। और यदि विद्वानों के इस मत को हम मानें कि प्रयाग का स्तंभ-लेख समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् लिखा गया, तब तो सहज ही हरिषेण चन्द्रगुप्त का राजकवि हो जाता है। इसके अलावा उस सम्राट् का सान्धिविग्रहिक मंत्रिप्रवर कौत्स वीरसेन शाब काव्य से

अपना मनोरंजन करता था और सभवतः स्वयं एक कुशल कवि भी था। सांख्य-कारिकाओं का रचयिता ईश्वरकृष्ण इन्हीं दिनों अपना दर्शन-विस्तार कर रहा था, जो सम्राट् समुद्रगुप्त के पूर्वगुरु और मित्र वसुबन्धु की उत्कट आलोचना का लक्ष्य बना था। इसी समय के कुछ पूर्व अथवा पश्चात् दुर्धर्ष समालोचक और बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग हुआ, जिसकी जिज्ञासा से कवियों के हृदय आकुल हो जाते थे, जिसे अनुश्रुति कवि कालिदास का भी कठोर आलोचक कहती है और जिसके नाम की छाया टीकाकार मल्लिनाथ ने उस महाकवि के मेघदूत के 'दिङ्नागाना पथिपरिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' मे ढूँढ निकाली है। नाट्य-कला के क्षेत्र में भी इस काल में प्रचुर अभिव्यक्ति हुई। कालिदास ने स्वय अपने शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी, और मालविकाग्निमित्र जैसे सुन्दर नाटक लिखे। 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' का अद्भुत रचयिता नाटककार विशाखदत्त भी सभवतः इसी काल में हुआ। कलाप्रेमी सम्राटों के आश्रय मे नाट्यकला का विकास न हो, यह कैसे सभव है? महाकवि कालिदास का तो यहाँ तक कहना है कि राजा की ओर से विचक्षण राजपुरुष नियुक्त होते थे, जिनका कर्त्तव्य यह देखना था कि पहली बार खेला जानेवाला नाटक सुन्दर था या असुन्दर। सभवतः स्वयं कालिदास का भी प्रारंभिक नाटक 'मालविकाग्निमित्र' इस राजकीय आलोचना से न बच सका (देखिए, मालविकाग्निमित्र, अक १)।

२. प्रशस्ति-काव्य

गुप्त-काल की काव्य-धारा के अनुशीलन में तत्कालीन प्रशस्तिलेख भी अत्यन्त सहायक होते हैं। ये प्रायः शिलाओं और स्तभों पर खुदे हुए हैं। यह समय कुछ ऐसा था कि सम्राटों ने अपनी मुद्राओं तक पर उपजाति आदि छन्दों के खण्ड खुदवाए थे। इन प्रशस्ति-लेखों मे चार तो अपने प्रसाद, माधुर्य और ओज मे असाधारण हैं। इनमें से एक तो कवि हरिषेण द्वारा रचित सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है, जो प्रयागवाले अशोक-स्तभ पर है। यह लगभग ३४५ ईस्वी में प्रस्तुत हुई थी। दूसरी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की प्रशस्ति है, जो दिल्ली मेहरौली के लौह-स्तभ पर अकित है। तीसरी सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की, प्रशस्ति है, जो गिरनार-जूनागढ (काठियावाड) की शिला पर है, और चौथी सयुक्तप्रात के गाज़ीपुर जिला में सैदपुर भीतरी के स्तंभ पर अकित है। इनके अतिरिक्त अश्वमेधपराक्रम सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य और उनके सामन्तराज मालवा के बन्धुवर्मा के समय का दशपुर (मन्दसौर) का एक सुन्दर लेख और है, जो किसी राजकवि का नहीं प्रत्युत् एक साधारण नागरिक कवि वत्सभट्टि का है। यह ४७३-७४ ईस्वी का है। इन लेखों से स्पष्ट है कि काव्य का विकास कितना अधिक हो गया था और वह किस प्रकार गुप्त-सामान्य में व्यवहृत होता था। इन कवियों में कई साम्राज्य के मंत्री तक थे। हरिषेण सम्राट् समुद्रगुप्त का महासान्धिविग्रहिक था। प्रयाग-स्तंभवाली उसकी प्रशस्ति को काव्य की सज्ञा प्रदान की गई है। एक प्रकार से यह प्रशस्ति कुछ अजीब भी है, यद्यपि सुबन्धु और बाणभट्ट की राजपरक गद्यशैली से यह भिन्न नहीं है। सारी कविता प्रायः एक ही वाक्य है, जिसमें प्रारभ में आठ श्लोक हैं, फिर एक गद्य-वाक्य है और फिर अतिम श्लोक। इसमें भावो और भाषा की काफी गुत्थी है। बचे हुए इसके सात श्लोकों मे चार छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनकी शैली वैदर्भी है। वे छद हैं—स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्राता और पृथ्वी। गद्य के पद बाण की भाँति समासित है। शब्दचित्र का अद्भुत प्रभाव हरिषेण का वह श्लोक वहन करता है, जिसमे पिता चन्द्रगुप्त (प्रथम) पुत्र समुद्रगुप्त को 'आर्य' कहकर ग्रहण करते और अपने सारे मलिनमुख पुत्रों के बीच उसे अपने बाद के साम्राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करते हैं—

> आर्योहीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः
> सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
> स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
> यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिला पाह्येवमुर्वीमिति॥

क़ुतुबमीनार के पास लोहे के स्तभ पर गुप्त ब्राह्मी मे जो 'चन्द्र' की प्रशस्ति खुदी है, वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ही है। इसमे ओज और लालित्य दोनो का काफ़ी पुट है। यहाँ सानुवाद पूरी प्रशस्ति उद्धृत की जाती है—

> यस्योद्वर्तयत प्रतीप मुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
> वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता: वाह्लिकाः
> यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलर्दक्षिणः॥१॥
> खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतिर्गामाश्रितस्येतराम्
> मूर्त्या कर्म जितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।
> शांतस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्
> नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितिम्॥२॥
> प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ
> चंद्राह्वेन समग्र चंद्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।

तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम्
प्रांशु विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥

"बंग देश मे एकत्र होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में मारकर अपने वक्ष से हटाते हुए जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्त्ति लिखी गई ; समर में सिन्धु नद के सातों मुखों को लाँघ जिसने वाह्लीकों (बलख—बाख्त्री=वंक्षुनद की उपत्यका के वासी) को पराजित किया, जिसके पराक्रमानिल से दक्षिण समुद्र आज भी सुवासित है ॥१॥

"(वह) जिसके रिपुनाशक प्रयत्न का शेषरूप महान् प्रताप महावन मे शात हुई अग्नि की भाँति अब तक धरा को नहीं छोड़ता, यद्यपि वह नरपति खिन्न होता हुआ इस पृथ्वी को छोड़कर कीर्त्ति द्वारा उस पर विराजमान अपने पुण्यकर्मों से अर्जित दूसरे लोक को सदेह पहुँच गया है ॥२॥

"अपनी भुजा से अर्जित चिरस्थायी एकाधिराज्य जिसने पृथ्वी पर भोगा, पूर्णचन्द्र की काति मुख पर धारण करनेवाले उस चन्द्र नामवाले राजा ने भाव से विष्णु मे चित्त को डाल विष्णुपद-गिरि पर भगवान् विष्णु का यह ऊँचा ध्वज स्थापित किया ॥३॥"

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का जूनागढ़ का प्रशस्ति-लेख ४५७-५८ ई० का है। इसमे इस बात का वर्णन है कि "साम्राज्य के पश्चिमी भाग सौराष्ट्र का किसको शासक (गोप्ता) नियुक्त किया जाय"। इस प्रसग पर स्कन्दगुप्त ने रात-रात दिन-दिन विचार किया। इसमें शासक की योग्यताओं पर उस सम्राट् ने जो विचार किया है वह अपूर्व है। उस लेख का एक श्लोक यह है :—

नृपतिगुणनिकेतः स्कन्दगुप्तः पृथुश्रीः
चतुरुदधिजलान्तां स्फीतपर्यन्त देशाम्।
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थाम्
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या ॥

वैदर्भी वृत्ति का इसी लेख में एक उदाहरण यह है—

सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्
संचिंतयामास बहुप्रकारम्।

एक और—

क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्
लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार।

भीतरी भीतरी का लेख काव्य-सौन्दर्य में अच्छे से अच्छे कवि से टक्कर ले सकता है। कुछ श्लोक नीचे दिए जाते हैं—

विचलितकुललक्ष्मीस्तंभनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ॥
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।

अन्तिम पक्ति सस्कृत काव्य मे ओज और प्रभाव मे अद्वितीय सी है।

वत्सभट्टि स्कन्दगुप्त के पिता अश्वमेधपराक्रम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समकालीन थे। हरिषेण और वत्सभट्टि के जीवनस्तरों मे अत्यन्त अन्तर था। हरिषेण गुप्तसाम्राज्य के महासान्धिविग्रहिक मन्त्रिप्रवर थे और वत्सभट्टि थे जन-कवि, स्वयं साधारण नागरिक। परन्तु दशपुर के सूर्यमन्दिर का पुनरुद्धार करानेवाले रेशम के व्यापारियों की ओर से जो सुन्दर काव्य-रचना उन्होंने की है (४७३-७४ ईस्वी), वह प्रशस्ति-जगत् में तो बेजोड है ही, कितने ही स्थलों मे समकालीन महाकवि कालिदास के काव्य से भी टक्कर लेती है। वैसे उस पर कालिदास की रचनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है, जिसका उल्लेख हम फिर करेंगे। अभी उस कवि की कुछ सुन्दर पंक्तियाँ ही यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

एक अत्यन्त मनोरजक श्लोक इस लेख में रेशम के व्यापारी-संघ द्वारा बनाए काषाय-युगल के सम्बन्ध मे है, जो संसार का सबसे प्राचीन विज्ञापन है। कवि ने उपमा के बहाने उस संघ द्वारा निर्मित परिधान के लिए वस्त्र-युगल की प्रशंसा की है—

तारुण्य कान्त्युपचितोऽपिसुवर्णहार
ताम्बूलपुष्पविधिनासमलङ्कृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्याम्
यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते ॥ श्लोक २० ॥

वत्सभट्टि की शैली गौडीय है, समासित पदोंवाली।

गुप्त सम्राटों को काव्य से इतना स्नेह था कि उन्होंने अपनी मुद्राओं तक के ऊपर काव्य-खण्ड लिखवाए। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उपगीति छन्द में निम्न पंक्तियाँ हैं—

१—"समरशतवितत विजयो
जितारि पुरजितो दिवं जयति"
२—"अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं
सुचरितैर्दिवं जयति"

३—'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिम्
अवनिपतिर्दिवं जयति"
४—"काचोगामवजित्य दिवं
कर्मभिरुत्तमैर्जयति"
५—"राजाधिराज पृथिवीमवित्वा
दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः"
६—"राजाधिराज पृथिवीं विजित्य
दिवं जयत्याहृतवाजिमेध'

और पृथ्वी छन्द में—

७—"कृतान्तपरशुर्जयत्य
जितराजजेताजितः"।

इसी प्रकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मुद्राओं पर उपगीति छंद में खुदा है—

१—"क्षितिमवजित्य सुचरितै
र्दिवं जयति विक्रमादित्यः

और वंशस्थबिल में—

२—"नरेंद्रचन्द्र प्रथित (गुण) दिवं
जयत्यजेयो भूविसिंह विक्रमः"।

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सिक्कों पर भी इसी प्रकार उपगीति छन्द में अनेक काव्यखण्ड दिए हुए हैं। उदाहरणतः—

१—"विजितावनिरवनिपति
कुमारगुप्तो दिवं जयति"
२—"गामवजित्य सुचरितैः
कुमारगुप्तो दिवं जयति'
३—"क्षितिपतिरजितो विजयी
कुमारगुप्तो दिवं जयति"
४—"गुप्तकुलव्योमशशि
जयत्यजेयो जितमहेन्द्र"
५ "गुप्तकुलामलचंद्रो
महेन्द्र कर्म्माजितो जयति"
६—"साक्षादिवनरसिंहो सिंह—
महेन्द्रो जयत्यनिश"
७ — 'क्षितिपतिरजित महेन्द्रः
कुमारगुप्तो दिवं जयति"
८—"कुमारगुप्तो विजयी
सिंह महेन्द्रो दिवं जयति"
९—"विजितावनिरवनिपतिः
कुमारगुप्तो दिवं जयति"

और वंशस्थविल छन्द में—

१०—"कुमारगुप्तो
युधिसिंहविक्रमः"।

इसी गुप्तकालीन सुवर्ण-युग में महाकवि कालिदास की काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ और उनकी भारती का स्रोत प्रवाहित हुआ। काल की देन स्वीकार कर इस महाकवि ने स्वयं वह प्रभा उद्भासित की, जिसके योग से शिला, स्तंभ और सिक्के सब चमक उठे। अब आइए, उसी कालिदास का ऐतिह्यानुशीलन करें।

३. कालिदास

कवि अश्वघोष ने तो कम-से-कम अपनी माता का नाम भी दे दिया है, परन्तु कालिदास ने तो अपने संबंध में कुछ भी न लिखा। हम कालिदास के संबंध में वास्तव में कुछ नहीं जानते। उनके जीवन से संपर्क रखनेवाली जो कुछ किवदन्तियाँ और अनुश्रुतियाँ भी हैं, वे उस महाकवि के जीवन-संबंधी गुत्थियों को और उलझा देती हैं। किंवदन्ती है कि पहले कालिदास अत्यन्त मूर्ख थे और काली की आराधना से अद्भुत कवि बन गए। यह किंवदन्ती निश्चय कवि के नाम 'कालिदास' के विश्लेषण से प्रसूत हुई। एक अन्य किवदन्ती के अनुसार वे सिंहल में अपने मित्र राजा कुमारदास के यहाँ वेश्या द्वारा मारे गए। कुछ लोगों का कहना है कि दक्षिण की ओर कालिदास ने संभवतः प्रयाण इसलिए किया था कि उत्तर में हूणों के आक्रमण और आतंक शुरू हो गए थे। इसे स्वीकार करना असंभव है। उनके विस्तृत काव्यक्षेत्र में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि का वर्णन है और कहीं किसी प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल का संकेत नहीं मिलता। फिर कालिदास तो रघुदिग्विजय में हूणों को वक्षु की उपत्यका (बाख्त्री, बलख-बुखारा) में बसा बताते हैं (रघुवंश, सर्ग ४)!

कालिदास का समय

कालिदास कब हुए यह एक समस्या है, परन्तु उनकी कृतियों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे गुप्तकालीन थे। इस तिथि-काल को प्रमाणित करने में जो तर्क सहायक होते हैं, वे नीचे दिए जाते हैं।

कालिदास-काल की दो सीमाएँ सरलता से निश्चित की जा सकती हैं। उनकी प्राचीनतम सीमा तो कवि के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है, क्योंकि इसमें शुंगवंश के प्रतिष्ठापक सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के शासक अग्निमित्र का वर्णन

है। पुष्यमित्र का शासन-काल सभवतः ई० पू० १४८ तक समाप्त हो चुका था। इस कारण चूँकि कालिदास ने उसके पुत्र अग्निमित्र के अन्तःपुर का वर्णन किया है, वह ई० पू० १४८ के पूर्व नही रखे जा सकते। इसी प्रकार उनके काल की निचली सीमा ६३४ ई० के ऐहोल लेख से सीमित हो जाती है, क्योंकि इस लेख मे उनके नाम का उल्लेख है।

दूसरी शती ईस्वी पूर्व के पक्ष मे प्रमाण पुष्ट नही हैं। फिर हमे यह भी स्मरण रखना होगा कि कालिदास महर्षि पतञ्जलि के समकालीन नही हो सकते, क्योंकि उनके ग्रन्थों में योगसूत्रों का प्रचुर हवाला सिद्ध है। कालिदास के समय तक इन सूत्रों की परम्परा सी बन चुकी थी, जिससे वह अवगत थे। इस परम्परा के निर्माण में समय लगा होगा, शताब्दियाँ बीती होंगी। और इधर पतञ्जलि का काल निर्णीत हो चुका है। वह ई० पू० द्वितीय शती में पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उनका उन्होंने अश्वमेध भी कराया था, जैसा उनके 'महाभाष्य' के एक उदाहरण—इह पुष्यमित्र याजयामः—से प्रमाणित है। इस मत मे विद्वान् एकमत हैं। इसके अतिरिक्त ख्याति के अनुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए, परन्तु शुङ्गों में किसी राजा की उपाधि 'विक्रमादित्य' न रही।

इसी प्रकार प्रथम शती ई० पू० (५६ ई० पू०) वाले सिद्धान्त को मानने मे भी अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनका समाधान सभव नहीं जान पड़ता। वास्तव मे यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि विक्रम सम्वत् ५६ ई० पू० में विक्रमादित्य नामक किसी राजा द्वारा प्रचलित किया गया, जो कालिदास का संरक्षक भी था। परन्तु ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि में होनेवाले विक्रमादित्य नामक किसी राजा को हम नहीं जानते, जो इतना प्रतापी हुआ हो कि शकों को निकालकर 'शकारि' कहला सके और सम्वत् चला सके। कुछ विद्वानों ने तो इस तक में संदेह किया है कि विक्रम संवत् पहली सदी ईस्वी पूर्व में चलाया गया। वास्तव में इस विक्रम संवत् का पहले-पहल प्रयोग (जाने हुए आँकड़ों से) इसके चलाए जाने के समय (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग हज़ार वर्ष बाद के एक लेख में हुआ है। अस्तु, इन प्रसंगों को छोड़कर नीचे कुछ ऐसे प्रमाण दिए जाते हैं, जिनसे कालिदास का ईस्वी सन् की पाँचवीं सदी में होना प्रमाणित हो जाता है। पहले उन प्रमाणों पर विचार करें, जिनके कारण कालिदास ई० पू० प्रथम शती के नहीं हो सकते।

प्रथमतः कालिदास अपने ग्रन्थों के लम्बे प्रसार में शकों का कहीं उल्लेख नहीं करते। यदि वह ईस्वी पूर्व प्रथम शती मे हुए होते तो 'गार्गीसंहिता' के युगपुराण मे वर्णित उस शक-आक्रमण की ओर वह किसी-न-किसी रूप मे संकेत अवश्य करते, जो मगध पर ई० पू० ३५ में हुआ था। सीमाप्रान्त की ओर से किया गया यह आक्रमण बड़ा प्रबल था और शायद अम्लाट के नेतृत्व में हुआ था। यह अम्लाट कदाचित् शकराज अय (ऐज़ेज् ई० पू० ५८-ई० पू० ११) का प्रान्तीय शासक था।

दूसरी बात यह है कि कालिदास के ग्रन्थों से देश में जिस पूर्ण शान्ति और समृद्धि का पता चलता है वह प्रथम शती ई० पू० की राजनीतिक उथल-पुथल में नही हो सकती। वह तत्कालीन भारतीय जगत् मे किसी प्रकार संभव न थी।

तीसरा प्रमाण यह है कि उस कवि के ग्रन्थों में पौराणिक संदर्भों का अनन्त समुद्र प्रवाहित होता दीखता है, जो पुराणों के संहितारूप में उपस्थित किए जाने के बाद ही संभव था। और इन पुराणों के अधिकतर संस्करण गुप्तकाल में ही प्रस्तुत हुए। प्रथम शताब्दि ई० पू० में अभी कालिदास के ग्रन्थों में प्रस्तुत उनका रूप नहीं बन पाया था।

चौथी बात यह है कि देवताओं की अनन्त मूर्त्तियों और उनके मन्दिरों का जो अथक वर्णन कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है, वह ई० पू० प्रथम शती की अवस्था किसी प्रकार नहीं हो सकती, गुप्तकालीन ही हो सकती है। प्रतिमा-पूजन तो निस्सदेह अत्यन्त प्राचीन काल से ही चल पड़ा था, परन्तु हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं का अनन्त सख्या मे निर्माण कुषाण-काल के पश्चात् ही संभव हो सका। इसका प्रधान कारण यह था कि मूर्त्तियों की संख्या का यह परिमाण बौद्धों के महायान-संप्रदाय के प्रवर्त्तन के बाद ही संभव हो सका। महायान भक्तिमूलक था, जिसका प्रवर्त्तन कुषाण-काल में नागार्जुन ने किया। इसी कारण नागार्जुन से पहले अर्थात् ईसा की पहली सदी से पहले की हिन्दू मूर्त्तियाँ भारत भर में एकाध ही उपलब्ध हैं। अश्वघोष के काव्यों में देव-मूर्त्तियों का इतना प्रचुर वर्णन नहीं मिलता, जितना कालिदास के ग्रन्थों में। इस बात से भी कालिदास की अश्वघोष से उत्तरकालीनता प्रमाणित होती है और हमें यह ज्ञात है कि अश्वघोष ईसा की प्रथम शती का था, कुषाणराज कनिष्क का समकालीन।

इन विपरीत प्रमाणों के कारण हमें कालिदास के प्रथम शती ई० पू० में होने का विचार छोड़ देना होगा।

इसी प्रकार श्री हार्न्ले, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री और डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर द्वारा पोषित ईसा की छठी सदीवाला विचार भी—जिसके अनुसार कालिदास यशोधर्म्मन् का समकालीन हो जाता है—डाक्टर ए० बी० कीथ और बी० सी० मजुमदार द्वारा पूर्णतया असिद्ध किया जा चुका है और उसे हमें छोड ही देना होगा। हार्न्ले और श्री के० बी० पाठक द्वारा प्रस्तुत 'कुंकम'वाला प्रमाण भी सर्वथा खण्डित हो जाता है, जब हम पाठक के साथ ही 'रघुवश' के चौथे सर्ग में 'सिन्धु' के स्थान मे 'वक्षु' का पाठ स्वीकार कर लेते हैं। हूणों ने ४२५ ईस्वी में ही वक्षु नद पार कर लिया था और वे उसकी तलहटी मे बस चुके थे। तभी वे ईरान के राजा बहरामगौर के हाथ पराजित हुए थे और उनके और फ़ारस के बीच की सीमा वंक्षु नदी निर्धारित की गई थी। इससे पहले ३५० ई० मे ही हूणों ने फ़ारस पर आक्रमण किया था, जब शापूर महान् ने उन्हे भगा दिया था। इस कारण इसकी बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं कि कालिदास को इसलिए छठी सदी मे घसीटा जाय कि जिससे हूणों को भारत पर आक्रमण करने और कश्मीर मे बसने का अवकाश मिल जाय। वे ठीक तब वहीं बसे हुए थे जहाँ कालिदास के 'रघु' और मेहरौली के 'चन्द्र' ने उन्हे पराजित किया था और चूँकि मन्दसौर के कवि वत्सभट्टि ने कालिदास के मेघदूत का अपने लेख में अनेक स्थलों पर अनुकरण किया है, अतएव कालिदास को कम-से-कम ४७२ ईस्वी से पूर्व तो रखना ही होगा, क्योंकि यह लेख इसी सन् में खोदा गया था।

कालिदास ने कुमारगुप्त के काल मे आनेवाले हूणों और 'पुष्यमित्रों' के आक्रमणों का उल्लेख नहीं किया है, इस कारण श्री मनमोहन चक्रवर्त्ती की पाँचवी सदी ईस्वी के अन्तवाली तिथि भी छोड ही देनी पडेगी। अतः कालिदास का समय खिचकर ४०० ईस्वी के आसपास ही आ जाता है। और चूँकि कालिदास ने कई प्रसगों (विशेषकर रघुवंश के १६वें और कुमारसंभव के ८वें सर्ग) में वात्स्यायन के भावों का अनुकरण किया है, इसलिए वह वात्स्यायन के पश्चात् ही रखे जा सकते हैं। वात्स्यायन का जीवन-काल साधारणतया तीसरी सदी ईस्वी मे माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस महाकवि का समय उन भास, सौमिल्ल, कवि-पुत्रादिकों के बाद ही रखना ठीक होगा, जिनका उल्लेख उसने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में किया है। इनमें सौमिल्ल और कवि-पुत्र के विषय मे सही-सही कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भास को हम तीसरी सदी ईस्वी के पश्चात् किसी प्रकार नहीं रख सकते। इस कारण कालिदास उसके बाद अर्थात् लगभग ४०० ई० में ही ठहरते हैं। हमारे इस निष्कर्ष से सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, कीथ और स्मिथ भी सहमत हैं।

नीचे उन प्रमाणों का उल्लेख होगा, जो कालिदास की गुप्तकालीनता प्रायः प्रमाणित कर देंगे। इनमे अधिकतर बिलकुल ही नवीन प्रमाण हैं, जिनके बल पर कालिदास चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य और कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समकालीन प्रमाणित हो जाएँगे। आरभ मे उन दो-एक प्रमाणों का हम हवाला देंगे, जिन्हें अन्य विद्वानों ने भी प्रस्तुत किया है।

कालिदास की भाषा और भावों तथा गुप्त-काल के शिलालेखों और स्तम्भलेखों में अद्भुत समानता दिखाई पड़ती है, जो केवल प्रासगिक नहीं हो सकती। कभी-कभी तो ऐसे पद मिलते हैं, जो सर्वथा समान रूप से दोनों में व्यवहृत हुए हैं। श्रीचक्रवर्त्ती और बसक ने यह तुलना करके पूर्ण रूप से दोनों की समानता स्थापित की है। इसी प्रकार डाक्टर एफ़० डबल्यू० टामस ने कालिदास के कितने ही पदों का निर्देश किया है, जो 'गुप्' धातु से बने हैं, फिर भी उनके प्रयास से एक बात तो हमारे पक्ष में सिद्ध हो ही जाती है। वह यह है कि कालिदास को उन पदों के प्रयोग से स्नेह था, जिनका निर्माण 'गुप्' धातु से संबध रखता है। यह गुप्तों की सरक्षणता के कारण भी हो सकता है। कालिदास के ग्रन्थों मे निर्दिष्ट गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, ललितकला-सबधी, भास्कर्य और वास्तु-सबधी समानताएँ तो अनन्त हैं ×। यहाँ पर इस प्रकार की केवल तीन समानताओं का उल्लेख हम करेंगे। गुप्त-मुद्राओं के ऊपर छपे लेख—'समरशतवितत‌विजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति' (समुद्रगुप्त की ध्वजाधारी सौवर्ण मुद्रा पर सामने), 'राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिव जयत्याहृतवाजिमेधः' (चन्द्रगुप्त द्वितीय की अश्वमेध-मुद्रा पर सामने), 'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः' (उसी की छत्र मुद्रा पर सामने), आदि कालिदास के 'पुरा सप्तद्वीपा जयति वसुधामप्रतिरथः' (शाकुन्तल, ७, ३७) से बहुत-कुछ मिलते हैं। गुप्त-

× ये समानताएँ मेरे अप्रकाशित ग्रंथ *India in Kalidasa* (कालिदास के ग्रन्थों का भारत) में पूर्णतया प्रस्तुत की गई हैं।—लेखक।

मुद्राओं के ऊपर खचित मयूरारोही कार्त्तिकेय शायद गुप्त-सम्राटों के कुलदेवता थे। कालिदास ने 'कुमार' और 'स्कन्द' का अनेक बार उल्लेख किया है और उनके 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' (रघुवश, ६, ४) में तो मानों गुप्त सिक्कों का कार्त्तिकेयवाला 'अभिप्राय' (motif) ही अनूदित हो गया है।

कालिदास के ग्रन्थों में देश और समाज की राजनीतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। ऐसा वैभव का जीवन, ललितकला और साहित्य का व्यसन तथा जनता का सामाजिक और आर्थिक ऐश्वर्य पूर्णतया संरक्षित, पालित और वर्द्धित सुशासन में ही संभव है। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का काल विभूतिजनक और प्रजावत्सल शासन का है। यह अवस्था उस काल मे गुप्त शासन की ही थी।

गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता, जो सम्राटों के लेखों से ज्ञात होती है और जो चीनी यात्री फ़ाह्यान द्वारा वर्णित है, कालिदास के ग्रन्थों द्वारा पूर्णतया समर्पित है। वे पौराणिक ख्यातियाँ और जनविश्वास, जिनके संदर्भ कालिदास में भरे पड़े हैं, गुप्तकाल में ही सकलित हुए थे। हिन्दू देव-प्रतिमाओं का अनन्त विस्तार गुप्तकाल और कालिदास के ग्रन्थों मे समान वस्तु है। प्राग्गुप्तकाल में यक्षों और बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं का ही आधिक्य था। कालिदास ने कुषाणकालीन शालभजिका यक्षी मूर्त्तियों से संयुक्त रेलिंगों का उल्लेख किया है, जिसका एक उदाहरण यह है:—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
(रघु० १६, १७)

काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदासविरचित 'कौन्तलेश्वरदौत्य' नामक एक नाटक का उल्लेख किया है (औचित्यविचारचर्चा)। इसमे विक्रमादित्य द्वारा कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) देश के राजा के पास कालिदास को दूत बनाकर भेजा जाना लिखा है। लौटकर कालिदास ने जो कुछ एक श्लोक में बताया है, वह श्लोक राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण', और 'श्रृंगारप्रकाश' में भी मिलता है*। कौन्तलेश्वरदौत्य नामक यह नाटक स्वयं उपलब्ध नहीं। 'भरतचरित' के अनुसार 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना कुन्तलेश ने की। इसकी रामसेतुप्रदीप नाम की टीका से सिद्ध है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन था, जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा शुद्ध कराया। कुन्तल पर तब वाकाटक कुल का शासन था। 'सेतुबन्धु' का रचयिता उसी कुल का प्रवरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके ब्राह्मण जामाता वाकाटराज रुद्रसेन का पुत्र और कुन्तल का राजा था। इसलिए कुन्तलेश प्रवरसेन, कालिदास, और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तीनों परस्पर समकालीन सिद्ध हुए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कालिदास वात्स्यायन से पूर्व न हो सके होंगे, क्योंकि उन्होंने उसके कामसूत्रों से अपने शृंगारिक वर्णनों को चमत्कृत किया है। वात्स्यायन का काल विद्वानों ने लगभग तीसरी शती ईस्वी के निश्चित किया है। इधर ख्याति-परंपरानुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। परन्तु ईसा की तीसरी शती के बाद और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिवा अन्य कोई विक्रमादित्य नहीं, इसलिए कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन और लगभग ४०० ईस्वी के होने चाहिए।

कालिदास को ग्रीक-ज्योतिष् के लाक्षणिक शब्द 'जामित्र' (Diametron) का ज्ञान है। इसलिए इस कवि को गुप्तकाल में ही होना चाहिए, ताकि देश में ग्रीक ज्योतिष् शब्दों के प्रथम परिचित होने तथा फिर पूर्णतया प्रचारित होने का पूरा अवकाश मिल सके।

हूणों को कालिदास के 'रघु' ने उनके देश, वंक्षुतीर, मे पराजित किया। उस घाटी मे हूण लगभग ४२५ ईस्वी में ही बस चुके थे, जब बहरामगौर के विजयी होने पर फ़ारस और हूणों की सीमा वंक्षुनदी निर्धारित हुई। बल्ख की विजय मेहरौली के लौहस्तंभ के लेखानुसार चन्द्रगुप्त ने की थी। जान पड़ता है, 'रघुवंश' ४२५ ई० के तुरन्त बाद लगभग ४३० ई० में रचा गया। और 'रघुवंश' कवि की मेधा का पूर्ण विकसित रूप होने से संभवतः उसकी अन्तिम रचना था।

नीचे भास्कर्य संबंधी कुछ प्रमाणों को भी रख देना युक्तिसंगत होगा।

कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में भरत के बत्तख आदि की तरह गुँथी उँगलियोंवाले हाथ (जालग्रथितांगुलिः करः) का वर्णन किया है। जालग्रथितांगुलिकरोंवाली मानव प्रतिमाएँ नितान्त न्यून हैं और जो एकाध हैं भी वे केवल गुप्तकाल की हैं। मानकुवर गाँव से प्राप्त

* असकल हसित्वात्क्षालितानीवकान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानिप्रियाणाम्
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

बुद्ध की मूर्त्ति, जो लखनऊ पुरातत्व-सग्रहालय में सुरक्षित है, उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा सकती है। इसकी उँगलियाँ 'जालग्रथित' हैं। परन्तु इससे भी स्पष्ट उसी सग्रहालय की अन्य प्रतिमाएँ हैं (न० बी० १०, और अन्य एक जो अभयमुद्रा में सिहासनासीन है)। साहित्य मे चूँकि कालिदास ही ऐसी उँगलियों का वर्णन करते हैं, और भास्कर्य के केवल गुप्तकाल मे ही ऐसी प्रतिमाएँ कोरी गई हैं, अतएव दोनों का समय गुप्तकाल ही है।

कालिदास ने चमरधारिणी गगा और यमुना का उल्लेख किया है। इन नदियों का चमरवाही प्रतिमारूप भारतीय भास्कर्य मे कुषाणकाल के अन्त और गुप्तकाल के प्रारभ में प्रकट हुआ है। ये मूर्त्तियाँ मथुरा * और लखनऊ (नं० ५५६३) के सग्रहालयों में सुरक्षित हैं। समुद्रगुप्त के सिहप्रतीक सिक्कों पर पीछे की ओर गगा की मूर्त्ति खचित है। †

प्राक्कुषाणकालीन मूर्त्तियों के छत्र पश्चात्काल में प्रतिमा के पृष्ठभाग से उठते हुए 'प्रभामण्डलों' (halo) के रूप में बदल गए, शायद खचिताकन (relief) की असुविधाओं के कारण। कुषाणकालीन प्रभामण्डल सादे या कभी-कभी एक किनारे पर तरंगित रेखा-से प्रस्तुत होते थे। बाद में गुप्तकाल मे इन प्रभामण्डलों पर विशेष ध्यान देकर उन्हे 'अभिप्रायों' (motifs) से भर दिया गया। इनमे प्रकाश की कौंधती लहरें विशेषकर उल्लेखनीय हैं। मूर्त्तिकला के इस विशेष विकास और प्रभामण्डल की ज्वालामयी स्फुरित रेखाओं ने कालिदास को खास तौर पर आकर्षित किया। इस काल के 'छायामण्डल' या 'प्रभामण्डल' को कालिदास ने एक लाक्षणिक नाम—'स्फुरत्प्रभामण्डल'—दिया, जो पहले प्राप्य या प्रचलित न था। इस प्रकार के प्रभामण्डलों पर बनी अन्धकारभेदी बाणरूपिणी प्रकाशरश्मियाँ लखनऊ के सग्रहालय की गुप्तकालीन अनेक मूर्त्तियों पर देखी जा सकती हैं। बी० १०, जे० १०४, जे० ११७, और बी० ३५६ न० की मूर्त्तियों पर तो मानों कवि का वर्णन सजीव हो उठा है।

'कुमारसंभव' में वर्णित शिव की समाधिस्थ रूपरेखा और कुषाणकालीन वीरासन-मुद्रा मे बैठी बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में अद्भुत समानता है।

टीकाकार मल्लिनाथ और दक्षिणावतारनाथ ने मेघदूत के १४ वें श्लोक के 'दिङ्नागाना पथिपरिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' में कालिदास के दुर्द्धर्ष समालोचक और विचक्षण बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग की ओर सकेत पाया है। इससे भी कालिदास गुप्तकालीन ही प्रमाणित होते हैं, क्योंकि दिङ्नाग ४०० ई० के बाद नहीं रखे जा सकते।

ऊपर दिए प्रमाणों द्वारा यह मत सर्वथा सिद्ध हो जाएगा कि कालिदास गुप्तकालीन कवि थे। जो शान्ति उनके काव्यों में दर्शित है, वह कवि को स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तिम छोर से विलग कर देती है, क्योंकि तब 'पुष्यमित्रों' और हूणों के उपद्रव प्रारम्भ हो गए थे। इस कारण कालिदास के काल की पिछली सीमा ४५० ई० में निर्धारित की जा सकती है, जो पुष्यमित्रों के युद्ध का समय है। परन्तु यदि कवि ने कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अस्पष्ट रूप से सकेत किया है तो संभव है कि वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहे हों। कालिदास ने काफी लिखा है और उनके ग्रन्थों की सीमाएँ विस्तृत हैं। यदि यह मानें कि वह वृद्धावस्था तक जीवित रहे, संभवतः सत्तर वर्ष तक, तो ४४५ ईस्वी के आसपास उनकी मृत्यु मानते हुए उनका जन्म-संवत् हम ३७५ ईस्वी के निकट रख सकते हैं। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल के अन्त में जन्म लेकर संभवतः वे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल की पूरी अवधि मे और कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के राज्यकाल के एक बडे भाग तक जीवित रहे। सभवतः उन्होंने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा होगा, क्योंकि पुष्यमित्रों को पराजित करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम से कम बीस वर्ष की तो रही ही होगी। और यदि कालिदास ने कवि का जीवन अपने पच्चीसवें वर्ष से आरंभ किया तो उनका 'ऋतुसहार' सभवतः ४०० ईस्वी के लगभग लिखा गया होगा और उनका क्रियात्मककाल उस लबे समय से संबद्ध रहा होगा, जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं।

कालिदास के ग्रंथ

अनुश्रुति के अनुसार कालिदास अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं, लगभग बीस के, जिनमें व्याकरण और ज्योतिष तक के ग्रन्थ हैं। परन्तु वास्तव मे जैसा कि उनके ग्रन्थों और अन्य प्रमाणों से जान पडता है, इन उपलब्ध कृतियों में केवल सात ही उनकी हैं। इनमे से चार तो काव्य हैं तथा शेष तीन नाटक हैं। काव्य हैं—(१) ऋतु-संहार, (२) मेघदूत, (३) कुमारसंभव और (४) रघुवश

* नं० १२०७ महोली से प्राप्त गंगा-मूर्त्ति और नं० २६५९ की कटरा-केशवदेव से प्राप्त यमुना-मूर्त्ति।

† देखिए, Allen, पृ. LXXIV.

और नाटक—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशी और (३) अभिज्ञान शाकुन्तल। एक चौथा नाटक 'कौन्तलेश्वर' नाम का, जिसका हवाला हम पहले दे आए हैं, क्षेमेन्द्र के अनुसार कालिदास का ही था। परन्तु आज वह उपलब्ध नही है, अतः उस पर विचार नहीं किया जा सकता। अनेक विद्वानों का पहले यह मत था कि काव्यों और नाटकों के रचयिता कालिदास नामधारी दो व्यक्ति हैं। परन्तु वह दृष्टिकोण अब बदल चुका है और प्रायः दोनों का एक ही कर्त्ता मानने मे अब प्रायः किसी को आपत्ति नही है। इन ग्रन्थो में से नाटकों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे, आइए, अभी काव्य ही ले।

ऋतु-संहार

ऋतु-सहार को कालिदास का मानने में कुछ विद्वानों ने सदेह किया है। लोगों का कहना यह है कि चूँकि यह काव्य अत्यन्त सरल, अकृत्रिम और साधारण है, अतएव यह कालिदास का नहीं हो सकता। परन्तु इन कारणों से शायद ही कोई ग्रन्थ किसी कवि के नाम से संबद्ध या असबद्ध किया जा सकता है। आक्षेपों के लिए संभवतः स्थान है, परन्तु आलोचक कदाचित् इस बात को भूल जाते हैं कि कवि के कई स्तर होते हैं, उसकी कई मंजिले हैं और वह मंजिल-मंजिल पर सीखता है। आरंभ और परिणति में प्रचुर अंतर होता है। संसार के सभी कवि विकास की सामयिक सीमाओं से सीमित होते रहे हैं। इस प्रकार ऋतुसहार के बारे मे यह कहना कि यह कालिदास का इसलिए नही है कि यह सरल, अकृत्रिम और साधारण है, कुछ अर्थ नही रखता। इसमे ये बाते परिणति के विरुद्ध इस कारण हैं कि यह कालिदास का प्रारंभिक प्रयास है और उसमे प्रारंभ के दोष हैं। इस विचार के आलोचक शायद इस बात को भूल जाते हैं कि काव्यो में जिस प्रकार ऋतुसंहार नगण्य है, उसी प्रकार नाटको में 'शाकुन्तल' के समक्ष 'मालविकाग्निमित्र' भी नगण्य है, परन्तु इसी कारण से कोई मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल को दो भिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ नहीं मानता। इसी प्रकार हम ऋतुसंहार को कालिदास के अन्य काव्यों के सामने चाहे तुच्छ मान ले, परन्तु इसी कारण इसके उनके द्वारा रचे जाने में सन्देह नही कर सकते। फिर यदि ऋतुसंहार पर हम पर्याप्त विचार करे तो उसे नितान्त नगण्य भी नहीं कहा जा सकता। और यदि अभाग्यवश हम यह मान ले कि यह काव्य उनका नहीं है तो इसमें सन्देह नहीं कि उनका यश इससे कई अंशों मे न्यून हो जाएगा। एक आक्षेप यह भी किया गया है कि ऋतुसहार पर चूँकि मल्लिनाथ ने टीका नहीं की है, इसलिए यह कालिदास का नहीं हो सकता। इसका उत्तर तो वे आलोचक वास्तव मे स्वयं दे लेते हैं, जो कहते हैं कि यह अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है। टीका की आवश्यकता तो कृत्रिमता, रूपकादि और दुरूहता को स्पष्ट करने में ही होती है, सो ऋतुसंहार के ऐसा न होने से वह टीका की अपेक्षा नहीं करता। रघुवंश की संजीविनी-टीका के आरम्भ मे मल्लिनाथ स्वयं कहते हैं—'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षित लिख्यते।'

ऋतुसंहार का प्रतिपाद्य विषय 'ऋतुओं का वर्णन' है। 'संहार' का अर्थ है समाहार, समूह। सुन्दर, अकृत्रिम, सरल भाषा और वैदर्भी शैली मे कालिदास ने षड्ऋतुओ का वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतु की विशेषताएँ बड़ी मार्मिक भाषा और आडम्बरशून्य शैली मे कही गई हैं। वर्णन-शैली अत्यन्त मृदुल है। कवि मानव का वनस्पतियो से मानों प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर देता है। मानव प्राणियों और ओषधि-ससार का यह पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरकाल मे इंगलैण्ड के कवि वर्ड्स्वर्थ ने कुछ अंशों मे किया है। शेक्सपियर में यह बात देखने को भी नही मिलती। परन्तु भारतीय कवियों मे यह प्रसंग और यह संपर्क एक विशेषता है। कालिदास की प्रत्येक कृति मे, विशेषकर इस ऋतुसंहार मे, मनुष्य का मानों पेड़-पौधो से एका हो गया है। एक जैसे दूसरे को समझता है, उससे कहता-सुनता, रोता-गाता है। और इसकी विशिष्ट बात यह है कि इसमे मानव-पात्र नही हैं। इसमे केवल ऋतुओं का ही वर्णन है और जहाँ प्राणी का किसी प्रकार का वर्णन आता है, वह ऋतु के ही प्रभाव को दर्शाने के लिए। खरी प्रकृति के ऊपर ऋतु-संहार संसार का आदिकाव्य है, गोकि वैसे प्रकृति से मानव-सम्बन्ध स्थापित करनेवाली परम्परा और प्राचीन है। उसके प्रवर्त्तक वाल्मीकि हैं, अथवा उनसे भी प्राचीनतर ऋग्वेद के वे द्रष्टा-कवि हैं, जो उषा के छलिया रूप को आँखे फाड़-फाड़कर देखते हैं, उस किशोरी के शाश्वत यौवन को कोसते हैं। जड़ प्रकृति के प्रति प्रदर्शित करने पर यह मानव सहानुभूति और भी घनीभूत हो जाती है। मानव प्रेम के संकल्प-विकल्प, यौवन के उल्लास-विलास, नवोढ़ा के मान-शृङ्गार किस प्रकार इन ऋतुओं के सपर्क से परिवर्त्तित होते रहते हैं, यह कालिदास ने हृदयस्पर्शी अनुभूति के साथ व्यक्त किया है। निदाघ के दिवस दाहक होते हैं, परन्तु उसकी रजनी मुकुर-प्रसन्न होती है, जिसमे चन्द्र अम्लान शीतल हो अपनी सुधा से भूमि को सींचता है। निशीथ

में स्नेह-स्निग्ध नर-नारी नृत्य-गान और आसव से झूमते हैं और चन्द्र प्रणय की ईर्ष्या से तिरोहित हो जाता है। पावस नृपति के परिच्छद लिये आता है, मेघ उसके गज हैं, चपला उसकी ध्वजा है, उसका गर्जन ही उसकी दुंदुभी है। पर्वत-शिखरों को चूमते मेघों के दर्शन से भाव खिल उठते और प्रेम जाग उठता है। शरत् नववधू की भाँति प्रफुल्ल पद्ममुखमण्डल लिये, इक्षु का वसन पहने, परिपक्व धान्य की मेखला धारण किए आता है और शिशर प्रेमियों के आलिंगन को अधिकाधिक प्रगाढ कर देता है। हेमन्त की रात्रि ठडी होती है, चन्द्रमा शीतल होता है। प्रणयी वातायन बन्द कर लेते हैं, भारी वस्त्रों से अंग ढकते हैं, और मरीचिमाली की एक-एक रश्मि से शरीर सेंकते हैं। परंतु वसन्त उनके सारे उपालम्भ मिटा देता है। वह प्राणियों और प्रकृति में नवजीवन, नवाह्लाद और नवीन स्फूर्ति भरता है। ऋतुसहार ग्रीष्म से आरंभ होकर वसन्त मे समाप्त होता है, जिसमें नव-वर्ष का जन्म होता है और तरुण-तरुणी प्रणय के सौगन्ध लेते हैं, आह्लाद के गीत गाते हैं। ऋतु-संहार कालिदास की अप्रौढ आरंभिक कृति होते हुए भी एक सुकुमार सुरुचि की रचना है।

मेघदूत

मेघदूत एक खण्डकाव्य है और यह गेय (lyric) काव्यों में बेजोड है। इसे पढकर यूरोप के साहित्यालोचकों ने इसको मुक्तकण्ठ से सराहा है। मेघदूत कालिदास की परिपक्व प्रतिभा का काव्य है। इस सारे काव्य में केवल एक छन्द मन्दाक्रान्ता का प्रयोग हुआ है और उसे कवि ने अद्भुत क्षमता से निबाहा है। निस्सन्देह इस काव्य और इसमें प्रयुक्त छन्द की निर्वाह-क्षमता ने कालिदास की सत्ता तत्कालीन भारतीय काव्य-संसार में जमा दी होगी। इस काव्य का विषय विषादपूर्ण और सर्वथा मौलिक है—व्यक्तिगत-सा! कुबेर का एक यक्ष अपनी प्रणयिनी कान्ता के प्रणय में विभोर हो अपने कर्त्तव्य में स्खलित होता है और स्वामी द्वारा वर्ष भर की अवधि के लिए दण्डित हो पत्नी से बिछुड कर रामगिरि पर वह निवास करता है। उसकी प्रणयिनी अलका में विसूरती है। वर्षागम पर मेघों का उमड-घुमड़कर बरसना यक्ष को विकल करता है और वह कामी एक मेघ के प्रति अलका तक अपना प्रेमसदेश वहन करने की याचना करता है। वह कहता है कि हे मेघ, तू माल और आम्रकूट के उन्नत प्रदेश से चलकर दशार्णों के देश में होता हुआ उनके नगर विदिशा को जाना, फिर वेत्रवती का जल पीकर निर्विन्ध्या और सिन्धु को लाँघ जाना। फिर उज्जयिनी पहुँच महाकाल की अर्चना में अपने गर्जन से मृदग का योग देता तथा सुन्दरियों के कटाक्षों की चोट वहन करता हुआ चर्मणावती पार कर जाना। दशपुर के बाद ब्रह्मावर्त्त मिलेगा, जहाँ कुरुक्षेत्र मे अर्जुन के हस्तलाघव की छाप है और जहाँ महाभारत से विरक्त हो बलराम ने सरस्वती के तट पर वारुणी का त्याग कर दिया था। वहाँ से, मेघ, तू कनखल पहुँचना, जहाँ गगा हिमगिरि से उतरती है और तब परशुराम के विक्रम के साक्षी क्रौंचरन्ध्र से निकलकर कैलास को जा पहुँचना। वहाँ मानस का जल तुम्हे नवजीवन प्रदान करेगा। कैलास के शिखर पर यक्षपुरी अलका है। वहीं मेरी प्रेयसी निवास करती है।

इसके बाद यक्ष बडे सुन्दर शब्दों में अलका के ऐश्वर्य का वर्णन करता है। फिर समृद्ध सौध-प्रासादों में से मेघ उसके गृह को कैसे पहचानेगा, इसकी वह व्याख्या करता है। द्वार-तोरण, पद्म और इन्द्रधनु के चित्रण से मेघ उसे दूर ही से पहचान लेगा। द्वार पर बालमन्दार अपने स्तवकों सहित झूमता होगा। यक्ष-पत्नी विरह से व्याकुल, विषाद से कृश हो गई होगी और बिछोह के दिन अनेक उपायों से काट रही होगी। हल्के-हल्के उसे जगाकर मेघ को उससे कहना होगा उसके प्रेमी यक्ष के विरहाकुल जीवन का और अवधि के अन्त में मधुर मिलन का सन्देश।

अद्भुत माधुर्य है इस सदेश में और अत्यन्त कठिन है इसको पढकर भावावेगों को सँभाल सकना। यह यक्ष कौन है? कुषाण और गुप्त काल में यक्ष-मूर्त्तियों की प्रमुखता थी। वही प्रणय और विरह के देवता थे। स्वय कुबेर विलास का नृपति है। उस यक्ष को ही कालिदास ने अपने इस असामान्य खण्ड-काव्य का नायक चुना। परन्तु है कौन यह यक्ष? मेघदूत को पढकर यह इच्छा बलवती हो उठती है कि यह यक्ष स्वय कालिदास है, अपने गेय काव्य का नायक स्वय वही है। एक किवदन्ती है कि कालिदास काश्मीर में अपनी प्रेयसी छोड़ आया था। किसी कारण-वश उसे स्वदेश छोडना पड़ा था, जहाँ वह लौट नही सकता था। इसी कारण वह अलका के रूप मे अपने कश्मीर की याद करता है और वाचक को अपनी चोट से मर्माहत कर देता है। इसमें विशेष सन्देह नहीं कि कालिदास काश्मीरी थे। उनके ग्रन्थों में बारम्बर जो हिमालय के प्रति निर्देश है, वह केवल प्रासंगिक ही नहीं है। रघुवंश मे अनेक स्थल हिमालयपरक हैं, कुमारसंभव की सारी कहानी हिमालय की है और मेघदूत मे तो उसके लिए हृदय-स्पर्शी रुदन है। नाटकों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं,

जो हमें बरबस हिमालय की ओर खींचते हैं। कालिदास काश्मीरी थे, कारणवश स्वदेश से दूर जा पड़े और मेघ-दर्शन पर प्रोषितपतिका की यादकर 'मेघदूत' मे बरस पड़े!

मेघदूत की काव्य-व्यञ्जना, उसमे प्रतिपादित विषय के चित्रमय वर्णन, तथा पदलालित्यादि ने संस्कृत साहित्य में कालिदास का साका चला दिया है। इसकी आश्चर्यजनक प्रौढ़ता और व्यक्तिगत-भाव-व्यंजन से प्रभावित होकर संस्कृत में बीसियों कवियों ने इस प्रकार का काव्य-प्रयास किया है, परन्तु कोई इसके निचले छोर तक भी न पहुँच सका। आठवीं शती मे जिनसेन ने समस्यापूरण के सिद्धान्त पर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवनचरित के रूप मे मेघदूत के १२० श्लोकों को फिर से लिखा। इसका एक-एक चरण वह अपने एक-एक श्लोक मे रखते गए। के० बी० पाठक ने इसी में से निकालकर मेघदूत का प्रामाणिक सस्करण छापा है। जिनसेन का तिब्बती सस्करण 'तंजूर' में सरक्षित है और इसका एक पाठ सिंहली मे भी प्राप्य है। बारहवीं शताब्दि में कवि धोई ने मेघदूत की नक़ल मे अपना 'पवनदूत' लिखा। मेघदूत पर वल्लभ, दक्षिणावर्तनाथ और मल्लिनाथ ने टीकाएँ कीं। मेघदूत संस्कृत साहित्य में रोमांचक शैली का पहला प्रयास है, जिसे कालिदास ने पहलेपहल सामने लाकर भी अपनी प्रतिभा से अनुपम कर दिया।

कुमारसंभव

कुमारसभव परिणति का ग्रन्थ है, काव्य-सौन्दर्य में अनूठा। इसमें निसर्ग मानव-संयोग से चमक उठता है। इसमें हिमालय का वर्णन अद्भुत है। उसके साथ ही वहाँ के गिरि-शिखर, कोल-किरात, ऋषि-मुनि, यक्ष-गन्धर्व और उनकी नारियाँ आश्चर्यजनक कविशक्ति से चित्रित हैं। यह मेघदूत की भाँति केवल भाव-काव्य ही नही, वरन् प्रबन्ध-काव्य है, महाकाव्य है, यद्यपि अपूर्ण है। अज्ञात कारणों से कालिदास इसे पूरा न कर सके। उनके लिखे उसमे केवल आठ सर्ग ही हैं, बाक़ी दस बाद में लोगों ने मिला दिए हैं, जिनका ज्ञान प्राचीन टीकाकारों के समय तक न था। भारवि, कुमारदास और माघ को भी कुमारसंभव के आठ सर्गों का ही पता था। कालिदास ने क्यों इस ग्रन्थ को पूरा नहीं किया, समझ में नही आता। कुछ लोगों का कहना है कि आठवें में देवता के सम्बन्ध का 'रतिवर्णन' अयुक्तियुक्त समझ उन्होंने अपनी लेखनी रोक ली। कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना जरूर है कि इसी प्रकार का वर्णन रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग में है, यद्यपि वह मानव-सम्बन्धी और अन्त्य सर्ग है। इसमे सन्देह नही कि कालिदास ने स्वयं कुमारसंभव को आठवे सर्ग तक ही लिखा और बाद के सर्ग प्रक्षिप्त हैं।

कुमारसंभव का प्रबंध असाधारण और मार्मिक है—वसन्त के विलास से लेकर नवप्रणय के आनन्द और काम की मृत्यु होने पर उसके अन्त तक। इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय था उमा और शिव का विवाह और कुमार (स्कन्द) का जन्म। कालिदास जन्म तक नही पहुँच सके। प्राचीन आलोचकों (विशेषकर आनन्दवर्धन) ने इस देव-प्रणय के विषय पर लिखना अनुचित माना है। परन्तु प्राचीन आँखों से देखा जाकर भी यह ग्रन्थ इस कारण से अनुचित नहीं कहा जा सकता। स्वयं मम्मट ने आनन्दवर्धन के-से विचारों का विरोध किया है। वास्तव में उमा और शिव का विवाह केवल इन्द्रिय-विषयक प्रेम-वर्णन नहीं है। तारकासुर के विक्रम से प्रताड़ित, धर्षित, देवसेना चीत्कार कर रही है। उसके सचालन के लिए स्कन्द जैसा सेनानी चाहिए, जो उमा और शिव ही प्रस्तुत कर सकते हैं। फिर दोनों का प्रेम मानव जोड़े के उस भाव-बन्धन का प्रतीक है, जिससे कुल की अभिसृष्टि होती है और मानव-प्रसूति की शृंखला टूटने नहीं पाती।

कुमारसभव मे वर्णित विषय का विवरण इस प्रकार है। आरंभ मे ही हिमालय का वर्णन है—उसके मनोहर शिखरों और उस पर रहनेवाली किन्नरियों का, जिनके वस्त्र-परिवर्त्तन के समय मेघों का परिधान (उनकी आड़) उनका सहायक होता है। गंगा के पतित नीहारों से आर्द्र शीतल वायु देवदारों की शाखाओं को सहलाती है, मयूर पक्षों को झुका देती है। इस वातावरण से निर्लिप्त शिव घोर समाधि में वहाँ निरत हैं, जहाँ उमा अन्य कुमारियों के साथ उन्हे कुसुम प्रदान करने के लिए फूल चुन रही है। दूसरे सर्ग में तारक द्वारा पीड़ित देवसमूह त्राण के लिए ब्रह्मा के पास जाता है। ब्रह्मा से उनका कोई उपकार नही हो सकता। ब्रह्मा और विष्णु दोनों से बड़े केवल शिव ही उनका कल्याण कर सकते हैं। यदि किसी प्रकार उमा (हिमालय की कन्या) शिव को आकर्षित कर सके तो दोनों के सहवास से प्रसूत कुमार ही देवताओं की रक्षा और तारक का नाश कर सकता है। तब इन्द्र कामदेव को बुलाकर यह कार्य उसे सौंपता है। काम वसन्त की सहायता से अपना कार्य करने को तृतीय सर्ग में सन्नद्ध होता है। वसन्त की सारी शोभा निसर्ग पर सहसा बरसने लगती है, तृण-तृण थिरक उठता है, परन्तु शिव

की समाधि प्रज्वलित ब्रह्म-वर्चस् की शिखा की भाँति निश्चल है। काम उधर देखकर काँप उठता है। परन्तु उमा शिव के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करती है। शिव एक अद्भुत शक्ति से अपने को डिगते हुए पाते हैं। सामने जो उनकी दृष्टि जाती है तो आम्र-मजरी से हिलती शाखाओं पर बैठे काम को वह अपने ऊपर शर सन्धानते पाते हैं। उनका तृतीय नेत्र खुल जाता है और मन्मथ जलकर भस्म हो जाता है और चराचर जगत् मानों ताप से त्राण पाने के निमित्त त्राहि-त्राहि कर उठता है ('सहर सहरेति')। चौथे सर्ग में चित्रण अद्भुत और अत्यन्त विषादपूर्ण हो जाता है। नव-वसन्त के भरे विलास में रति को जो वैधव्य ग्रस लेता है, उससे वह विलाप करती है। उसके विलाप से चराचर द्रवित हो जाता है। रति अपने सहचर वसत से सती होने के लिए चिता प्रस्तुत करने की प्रार्थना करती है, परन्तु आकाशवाणी होती है कि शिव के उमा को ग्रहण कर लेने के बाद काम एक बार फिर जी उठेगा और इसी आशा मे रति अपने को जीवित रखती है।

उमा स्वयं अत्यन्त उत्साहहीन है, परन्तु शिव-प्राप्ति के अर्थ अत्यन्त कठिन तप करने का वह प्रण करती है। ग्रीष्म मे वह पंचाग्नि तपती है, शीत में जमते हुए जल में पड़ी रहती है, वर्षा में पर्वतशिला पर शयन करती है। इस घोर तप में निरत उस उमा के समक्ष एक दिन एक तापस उपस्थित होता है। उसके उच्छ्वासों से वह जान लेता है कि उमा प्रणयाकांक्षिणी है और उसकी सखियों से उसे उसका लक्ष्य भी सूचित हो जाता है। तापस शिव के अमोहक अवधूत रूप को उसके सामने चित्रित करता है, परन्तु बारबार उमा उसे स्पृहणीय कहती है। तापस प्रसन्न होकर अपना स्वाभाविक शिव का रूप धारण कर लेता है (सर्ग ५)। छठे सर्ग में शिव की ओर से सप्तर्षि हिमालय के समीप उमा को माँगने जाते हैं। सलज्जा उमा नेत्र नीचे कर कमल की पखडियाँ गिनती है। पिता सम्मति के अर्थ पत्नी की ओर देखते हैं, फिर स्वीकृति प्रदान करते हैं। दोनों ओर तैयारियाँ होती हैं। सातवे सर्ग में विवाह सम्पन्न होता है और स्त्रियाँ उमा को आशीर्वाद देती हैं। अन्तिम आठवे सर्ग में कामशास्त्र के अनुसार कवि शिव का विहार वर्णित करता है।

कुमारसभव (और रघुवंश) में कई स्थलों पर अश्वघोष का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'बुद्धचरित' के तीसरे सर्ग का रूप कुमारसभव के हिमनगर की वातायनस्थित नारियों के आचरण में खडा हो जाता है। अश्वघोष के बुद्धचरित सर्ग ३, १३-२४ की पूरी छाया कुमारसंभव के सर्ग ७, ५६-६६ पर पडी है। और यह चित्रण कालिदास को इतना प्रिय लगा है कि उन्होंने कुमारसभव के ये श्लोक जैसे के तैसे रघुवंश के तद्विषयक चित्रण सर्ग ७, ५-१६ में धर दिए हैं!

रघुवश

रघुवश कालिदास का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें कवि का भाव कुमारसभव से कहीं गभीर हो जाता है, उसका पाडित्य निखर जाता है। योग इसका विशिष्ट दर्शन हो जाता है। रघुवश को प्राचीन पडितों ने भी 'रस', 'भाव', और सन्धियों से युक्त महाकाव्यों में सबसे सुन्दर कहा है। वाल्मीकीय रामायण के आधार पर निर्मित इस रघुवंश के कथा-प्रबन्ध का विस्तार उन्नीस सर्गों में है।

यह सूर्यवंश की कथा है, जिसके (मनु के बाद) ऐतिहासिक आदिपुरुष इक्ष्वाकु थे। इस वंश की तालिका पुराणों में दी हुई है। प्रथम सर्ग में ही कवि अपने पाठक को घटना-वैचित्र्य की ओर ले जाता है। राजा दिलीप के पुत्र नहीं है। इन्द्र के समीप से लौटते हुए संयोगवश वह सुनते हैं कि एक बार उन्होंने सुरधेनु की उपेक्षा की थी, इसी कारण उससे शप्त होकर वह उस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस पर वह सुरधेनु की वत्सा नन्दिनी की सेवा करने का प्रण कर लेते हैं। एक बार नन्दिनी परीक्षा लेती है और वह अपने प्राण देकर सिंह से उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत होते हैं। उसके आशीर्वाद से उनके रघु-सा पुत्ररत्न उत्पन्न होता है। समग्र विद्याओं का समुचित और शीघ्र अध्ययन कर रघु युवराज पद प्राप्त करता है। उसके पिता अश्वमेध यज्ञ करना चाहते हैं और कुमार अश्व का रक्षक बनकर उसके पीछे-पीछे घूमता है। इन्द्र उसका अश्व चुरा लेते हैं और युद्ध ठन जाता है। अन्त में इन्द्र उसके पिता को अश्वमेध का सारा श्रेय देकर उससे प्रसन्न हो विदा होते हैं। अश्वमेध का अनुष्ठान समाप्त कर दिलीप कुलपरम्परानुसार रघु को राज्य देकर वन को चले जाते हैं (सर्ग १-३)। चौथे सर्ग में रघु दिग्विजय करते हैं। वगों पर विजय पाकर वह पहले गगा के डेल्टा मे अपना विजयस्तभ खड़ा करते हैं। कलिगराज महेन्द्र उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। फिर कावेरी लाँघकर रघु पाण्ड्यों पर टूट पडते हैं और उनसे मुक्ताओं का कर स्वीकार करते हैं। वहाँ से मलय और दर्दुर पर्वतों की संधि को लाँघते हुए अपरात के केरलों

का पराभव करते हैं। फिर सुरला लाँघकर त्रिकूट को अपना विजय-स्तभ घोषित करते हैं। इसके बाद रघु स्थल-मार्ग से बढकर पारसीक-यवनों पर टूट पड़ते हैं। द्राक्षवलय पारसीक भूमि पर उनके योद्धा आसव-पान करते हैं, फिर कौवेरी दिशा की ओर बढ वक्षु की उपत्यका मे बसनेवाले दुर्द्धर्ष हूणों को धूल चटा उनकी केसर की क्यारियों में अपने अश्वों को विश्राम देते हैं। इसके बाद रघु कम्बोजों की लक्ष्मी के साथ अश्व और 'भूयिष्ठि द्रविणराशियों' को कर मे स्वीकार कर, हिमालय लाँघते समय मार्ग मे किरात और उत्सव-सकेतों को हराते हुए, लौहित्य की उपत्यका मे उतर जाते हैं। वहाँ प्राग्ज्योतिष के कामरूपों से गजों के रूप मे कर लेकर अयोध्या लौटते हैं। निश्चय ही यह दिग्विजय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों की छाया है। समुद्रगुप्त ने दक्षिण को विजय किया था और चन्द्रगुप्त ने उत्तर मे पारसीक वाह्लीकों को। पहले की दिग्विजय-प्रशस्ति प्रयाग के अशोक-स्तभ पर खुदी हुई है और दूसरे की दिल्ली-मेहरौली के लौह-स्तंभ पर। कालिदास स्वयं गंगास्रोतो में और त्रिकूट पर प्रशस्ति-स्तभों की सूचना देना नही भूलते। रघु के दिग्विजय मे दोनों का समावेश है। चन्द्रगुप्त के काल मे होनेवाले कवि को ऐसा करना ही था।

पाँचवे सर्ग मे इस महाकवि के कौशल से कथा अद्भुत सरलता से बदल जाती है। रघु की उदारता उन्हे क्षण भर मे कगाल कर देती है। वरतन्तु-शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए अनन्त धन माँगता है, परन्तु मृत्तिका पात्र मे अर्घ्य देनेवाले राजा के पास धन कहाँ? रघु कुबेर पर आक्रमण करते हैं, पर यक्षराज डरकर पहले ही स्वर्ण की वर्षा कर देते हैं। रघु का पुत्र अज भी पिता की ही भाँति शूर है। छठे सर्ग मे इन्दुमती के स्वयंवर का अद्भुत चित्रण है। इस वर्णमय चित्र को प्रायः इन्दुमती की सखी सुनन्दा प्रस्तुत करती है। सातवे मे विदर्भराज के कुण्डिनपुर मे प्राजापत्य के अनुसार अज का इन्दुमती के साथ विवाह सपन्न होता है। रघु वन मे इन्द्रियों का शमन करते हैं, इधर अज राज्य मे शत्रुओं का। फिर अभाग्यवश एक घटना घटती है। नारद की वीणा से पतित पुष्पहार के स्पर्श से अयोध्या की उपवनपरम्पराओं मे पति के साथ विहार करती हुई इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है और अज का भुवनभेदी रोमाचक विलाप शुरू होता है। विधि-क्रियाओं में विलग्न वसिष्ठ स्वय उस दु:ख के समय उपस्थित न होकर अपने शिष्य द्वारा अज की शान्ति के लिए सवाद भेजते है, जिसमें निम्नलिखित अद्भुत पंक्ति है—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।' परन्तु अज अपने विषाद का वेग नहीं सह सकने के कारण सद्गति को प्राप्त होते हैं और उनकी जगह उनके पुत्र दशरथ राज्य करने लगते हैं। नवे सर्ग मे वन्य वसन्त का और दशरथ के आखेट का वर्णन है, जिसमे गज के भ्रम से राजा मुनितनय श्रमण को मार देते हैं। उसके वृद्ध प्रज्ञाचक्षु माता-पिता अग्निप्रवेश करते हुए दशरथ को भी पुत्रशोक मे मरने का शाप देते हैं। दसवे सर्ग मे विष्णु का राम के रूप मे अवतरण है। ग्यारहवे मे विश्वामित्र के आश्रम मे ताडका का वध, सीता-स्वयवर, राम का विवाह, कैकेयी की दुरभिसन्धि, राम-सीता और लक्ष्मण का वनगमन, सीता-हरण, बन्दरों की सहायता द्वारा लका मे सीता की खोज और राम द्वारा रावण-विजय आदि बाते अद्भुत काव्य में चित्रित हैं। बारहवे मे वन से लौटते समय राम द्वारा दक्षिणी भारत और समुद्र का अपूर्व वर्णन है। फिर रस और ध्वनि का अनुपम सामंजस्य इस महाकाव्य मे निखरता है। राम और सीता विधवा रानियों से मिलते हैं और रामराज्य का आरंभ होता है। परन्तु अदृष्ट वाम है। सीता के दीर्घकाल तक रावण की लका मे रहने की शकाजन्य किवदन्ती राम को पत्नी-त्याग के लिए विवश करती है। लक्ष्मण गर्भवती सीता को घने बन मे छोड़ आते हैं और वह वाल्मीकि के आश्रम में आश्रय लेती है। राम अकेले राज्य करते हुए यज्ञ मे सीता की सौवर्ण मूर्त्ति का साधर्क्य स्वीकार करते हैं (सर्ग १३-१४)। शत्रुघ्न यमुना के तट पर लवणासुर का वध करते हैं और सीता लव-कुश का प्रसव करती है। राम अश्वमेध का अनुष्ठान करते हैं। लव-कुश रामचरित्र गाते हैं और उन्हे जनता राम के साथ स्वीकार करती है। वाल्मीकि सीता को बुला लेने के लिए राम से प्रार्थना करते हैं। सीता तीर्थजल मुख मे लेकर जब तक उनके सामने शपथ करती हैं, पृथ्वी उसे अंक में भरकर पाताल की ओर धँस जाती है। यह सर्ग विषाद और कारुण्य का अद्भुत रूप खड़ा कर देता है। राम पुत्रों को राज्य देकर स्वर्ग चले जाते हैं (सर्ग १५)। सोलहवे सर्ग मे कुशावती मे राज्य करते हुए कुश का वर्णन है। स्वप्न मे राज्यलक्ष्मी उनके सामने प्रकट होकर अयोध्या की वन्यदशा का वर्णन करती और उन्हे उसे फिर से राजधानी बनाने को प्रस्तुत करती है। कुश अयोध्या को लौटते है। बाद के सर्गों मे सूर्यकुल के पश्चात्कालीन राजाओं का सक्षिप्त विवरण

है। उन्नीसवें सर्ग में विलासी अग्निवर्ण के विलास का वात्स्यायनपरक वर्णन है। अग्निवर्ण क्षयरोग से पीडित होकर फलतः मर जाता है और उसकी रानी अपने भ्रूण की रक्षा करती हुई प्रजापालन करती है।

विचार-संकलन

अपने ग्रन्थों में कालिदास का दृष्टिकोण आर्ष है, जिसका पुनरुद्धार गुप्त सम्राटों ने किया था। ब्राह्मण और क्षात्र-धर्म का उनका वर्णन सर्वथा स्मृतिपरक है। आश्रमों का निर्वाह उनके विचार में आवश्यक है—युवावस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम में अर्थोपार्जन, वानप्रस्थ-काल में वनवास और सन्यासाश्रम में जनकल्याणार्थ सर्वत्याग और भ्रमण। इस आश्रम-धर्म से च्युति होने पर कवि-लेखनी आग बरसाने लगती है। राजा को अनेक स्थलों पर वह 'वर्णाश्रमाणारक्षिता' कहकर अभिहित करते हैं। शम्बुक के वध पर उनके विचारों मे एक शिकन तक नहीं पडती। इसी आश्रमधर्मोल्लघन का विनिश्चित फल शकुन्तला का दण्ड है। शकुन्तला द्वारा कुमार्यावस्था में उक्त धर्म का सीमोल्ल घन उसे ग्रहस्थाश्रम की सौम्यावस्था नहीं प्राप्त करने देता। रघुवंश के राजा, कम से कम प्रारभ के, कालिदास की दृष्टि मे इसी आश्रम की लीक (नेमिवृत्ति) पर चलने वाले थे। कवि उनका प्रशस्त्यात्मक वर्णन करता है और उनके ही वशज विलासी अग्निवर्ण का नग्न विलास-चित्रण।

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अपने समय के सारे मानव प्रयासों पर प्रकाश डाला है। भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, कलाप्रासगिक, विद्याजनीय, और धर्माध्यात्मिक सभी विषयों का तत्कालीन अध्ययन इस कवि के ग्रन्थों से हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन वर्णनों में 'आर्ष' का समावेश अधिकतर है।

धर्म और अध्यात्म के सबध में कवि का विचार नवीनता की ओर नहीं हैं। वह प्राचीन को प्रश्रय देता है, यद्यपि स्वय तत्कालीन काव्य-जगत् में अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए उसने 'मालविकाग्निमित्र' में जो उद्गार प्रकट किए हैं, वे अद्भुत क्रातिकारी हैं—

पुराणमित्येव न साधुसर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धि॰॥ अक १, श्लोक २.

अध्यात्म के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण अधिकतर साख्य-योग का है। रघुवश में योग का अनेक स्थलो पर विस्तृत विवेचन आता है। आध्यात्मिक प्रसगों के लिए कालिदास ने उपनिषदों का भी सहाग लिया है। उसकी आख्यायिकाओं के भाण्डार पुराण हैं। वास्तव में कवि का ज्ञान अद्भुत है और उसका सास्कृतिक पाण्डित्य अद्वितीय।*

शैली

कालिदास 'रस', 'ध्वनि', 'पदलालित्य' आदि के अपूर्व कवि हैं। शैली में भारतीय साहित्य में उनकी जोड का कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ। साथ ही इस महाकवि ने कभी अपनी प्रतिभा का अनुचित प्रयोग नहीं किया। उनकी मेधा का दूसरा कोई कवि दर्प से मर्यादा का उल्लघन करके भी पूजित हो सकता था, परन्तु यह दुर्बलता इनमें न थी और काव्य-मर्यादा का जानबूझकर उल्लघन उन्होंने कभी न किया। दण्डी के गिनाए हुए महाकाव्य के सारे लक्षण उनके रघुवश में मिलते हैं। नव रसों का पुट, षड्ऋतु, धीरोदत्त नायक, नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, गाँव, आदि सब कुछ का वर्णन उनके महाकाव्य में मिलता है। सन्धियों को भी उन्होंने खूब निबाहा है। वैदर्भी शैली का निर्वाह जैसा उन्होंने किया है कहीं और प्राप्य नहीं। एक उदाहरण रघुवंश, सर्ग ६ का निम्न है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेंद्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपाल॰॥

प्रसाद और ध्वनि में भी वह अद्वितीय हैं। शकुन्तला के वर्णन में एक स्थल पर वह ध्वनि और चित्र का अद्भुत सामजस्य उपस्थित करते हुए कहते हैं—'वसने परिधूसरे वसाना।' असमासित पदों से चित्र उत्पन्न करते हुए उसका पोषण और अलंकारों से काव्य-चमत्कार प्रस्तुत करना इसी कवि का कार्य है। रति और अज के विलाप तो विषाद और करुणरस के प्रतीक हैं ही, शाकुन्तल का भी एक श्लोक अपनी शक्ति में साहित्य मे अद्वितीय है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के त्याग दिए जाने के बाद वह चली जाती है। बहुत काल के बाद, स्मृति-लाभ होने पर विरह-कष्ट को झेलता हुआ राजा करुणरस से ओत-प्रोत पहली वाणी बोलता है :—

प्रथम सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदु खाये हतहृदय संप्रति विबुद्धम्॥
अङ्क ६, श्लोक ७

---

*इन विषयों का विस्तृत उद्घाटन मेरी पुस्तक 'India in Kalidasa' में हुआ है।—लेखक।

विरह-विकल यक्ष मेघदूत में अपनी विरहिणी यक्षिणी का आकुल रूप इस प्रकार व्यक्त करता है—

उत्सगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

फिर वह अपने विषाद की प्रतिध्वनि मेघ के हृदय में उठाता हुआ वह चित्र खड़ा कर देता है, जो विरह-प्रसंग में एक आदर्श प्रस्तुत कर देता है।—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

विदग्धा रति में भस्मीभूत काम के प्रति इस प्रकार रस उमड़ पड़ता है :—

कृत्वानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥

रति की क्षीण शक्ति उसका कष्ट सहन करने में समर्थ नहीं, फिर भी विलाप में उसके प्रिय का स्मरण था, वह स्मृति-सम्पर्क भी अब नियति ने उसे संज्ञाहीन करके छीन लिया !—

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्ति मोहेनसंस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् !
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

अज का विलाप भी करुणा के जगत् में अनूठा है—

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपिमार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥

फिर अज का वह विलाप नीति-जगत् में भी अपनी सत्ता स्थापित करता हुआ पति-पत्नी के लिए एक सर्वकालिक आदर्श उपस्थित करता है—

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रिय शिष्या ललितेकलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम् ॥

प्रसाद-गुण और वैदर्भी शैली का उदाहरण इससे अच्छा कहीं प्राप्य नहीं । इसी का एक उदाहरण और इस प्रकार है :—

अथाङ्गराजादवतीयचक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौन काम्यो न च वेदसम्यग्द्रष्टुन्न सा भिन्नरुचिर्हिलोकः॥

कुमारसभव का श्लोक तत्मामन्तकालीन समाज का पत्नी के लिए निम्न आदर्श उपस्थित करता है।—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरप्रयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणाम्प्रिया लोकथलोहि वेशः ॥

ऋतुसंहार में भी अनेक स्थल अत्यन्त आकर्षक हैं। ग्रीष्म के ताप का एक असाधारण वर्णन नीचे के श्लोक में है:—

विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना
सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः ।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः
फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥

एक अत्यन्त सुन्दर वर्णन अज और शिव को देखने के संबध में नगर-सुन्दरियों का है। इस संबध में एक ही श्लोक कुमारसभव और रघुवंश दोनों में मिलता है। इस पर बुद्धघोष के इसी के समान एक श्लोक की पर्याप्त छाया है। परन्तु कालिदास का यह अद्भुत वर्णन कवि की सतर्कता और नारी की सत्वरता दोनों का उदाहरण है:—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावितएव तावत्करेण रुद्धोऽपिच केशपाशः ॥

कालिदास का चमत्कार विशेषकर उनकी अलकृत परतु अकृत्रिम शैली है। भाषा के सारल्य और उसकी गुरुता में कोई संस्कृत कवि उनका मुकाबला नहीं कर सकता। काव्यादर्श के काव्यलक्षण* विशेषकर वैदर्भी के सबंध में जितने कालिदास में है, उतने और कहीं देखने में नहीं आते। उपमाओं के वरण और मानवहृदय के सकल्प-विकल्प की स्थितियों को दर्शाने में कवि की अपनी समता केवल उन्हीं की कृतियों में है। प्रकृति का वह पद-पद पर वर्णन करता है और प्रत्येक स्थल पर उसका संबंध मानव के अंतरतम के तारों से स्थापित कर देता है।

छन्दो के प्रयोग में तो उन्होने अद्भुत कौशल पाया है। ऋग्वेद तक के छदों का सादृश्य भी उन्होंने अपने काव्य में उपस्थित कर दिया है। अनेक छन्दों का प्रयोग भी कवि की असाधारण क्षमता का द्योतक है। निम्नलिखित छन्दों का उन्होने अपने काव्य में प्रयोग किया है:—आर्या, श्लोक, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, उपजाति, प्रहर्षिणी, रुचिरा, शालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, मंजुभाषिणी, अपर-वक्त्रा, औपच्छन्दसिका, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, हारिणी, इन्द्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वगता, तोटक, और महामालिका।

कालिदास निस्सन्देह सस्कृत-काव्य के गगन के चन्द्रमा हैं। अपनी सुधा से उन्होंने उसे खूब सींचा है।

* श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ॥

ज़ुलू बस्ती या 'क्राल' के एक झोंपड़े का दृश्य

ज़ुलू स्त्रियाँ खेतों में दिन भर परिश्रम करने के बाद शाम को वापस घर लौट रही है।

दक्षिणी अफ़्रीका के ज़ुलू

सभ्यता की दुनिया मे बसनेवाला मानव आज कृत्रिमता का जीवन अपनाकर एक यंत्र की भाँति अपनी गति-विधि में भूला-सा जा रहा है और उसे क्षण भर के लिए भी शान्ति का अनुभव नहीं होता। वह सुख की कल्पना-मात्र करते हुए अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर जाता है। परन्तु दूसरी ओर प्रकृति के आश्रय में रहकर, भूमण्डल के सुदूर कोनों में जीवनयापन करनेवाले मानवजाति के कुछ ऐसे इनेगिने प्रतिनिधि भी वर्त्तमान हैं, जो आधुनिक सभ्यता के इस अभिशाप से अधिकांश मे वचे हुए हैं और पूर्णतया प्रकृति के आगे आत्म-समर्पण करते हुए सुख और शान्ति का अनुभव करते देखे जाते हैं। उनकी आवश्यकताएँ न्यून हैं, उनकी इच्छाओं की एक सीमा है और उनके आदर्शों की भी एक परिधि है। उनके जीवन में संतोष की मात्रा अधिक है, इसीलिए उन्हें शान्ति है। हमारी दृष्टि में वे असभ्य और असंस्कृत भले ही हो, किन्तु वास्तविकता के नाते वे सुखी अवश्य कहे जा सकते हैं, यद्यपि उनके जीवन में भी संघर्ष की मात्रा काफ़ी है—लगभग उतनी ही जितनी कि सभ्य जगत् के मनुष्यों के जीवन में!

ज़ुलू लड़के मचान पर चढ़कर खेत की रखवाली कर रहे हैं।

इस स्तंभ के विगत लेखों में हम आपको संसार के विभिन्न भूभागों मे बसनेवाले इन आदिम मानवों के कुछ प्रमुख प्रतिनिधियों — एस्किमो, लाप, ऑस्ट्रेलियन, पापुआन, पिगमी, सूदानी, दानाकिल आदि—का परिचय करा चुके हैं। अब आइए, प्रस्तुत लेख में इन्हीं की जोड़ के एक और मानव-समूह से परिचित करने के लिए आपको अफ्रीका के सुदूर दक्षिणी प्रदेश में ले चलें। वस्तुतः यह दीर्घकाय महाद्वीप संसार के आदिम निवासियों

की एक अन्यतम क्रीड़ाभूमि कहा जा सकता है, जहाँ अभी सभ्यता के प्रभाव से वंचित मानव के अनेक अछूते उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। हाँ, तो हम उषा-कालीन सूर्य्य की प्रथम किरणों के साथ ही वहाँ के एक गाँव में प्रवेश करते हैं। चारों ओर ढालू छप्परोंवाले फूस के झोंपड़े दिखाई दे रहे हैं, जिनके प्रवेश-द्वार अभी खुले नहीं हैं। भीतर चटाइयों पर परिवार के सभी प्राणी निद्रा-देवी की गोद में अभी विश्राम कर रहे होंगे। छप्पर के बाँसों और लट्ठों पर पालतू मुर्गे और मुर्गियाँ भी अभी आराम से ऊँघ रही होंगी। वे भी परिवार के उपयोगी जीव हैं, इसीलिए उनको घर मे ही रहने को स्थान दिया जाता है। चारों ओर छोटे-छोटे बगीचों मे केले के ऊँचे वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी बाहे फैलाए मौन खडे हैं। वायु भी इस समय शान्त है। सारे गाँव मे जागने के चिन्ह-स्वरूप केवल दो-चार कुत्ते इधर-उधर दबे पाँव फिरते और कूड़े-कचरे के ढेरों को सूँघते दिखाई देते हैं।

तब आकाश की लालिमा धीरे-धीरे स्वर्णिम प्रकाश में बदलने लगती है और गाँव में एक चहल-पहल मालूम होने लगती है। एक मुर्ग अपने स्थान से उड़कर नीचे आता है और धीरे से पख फड़फड़ाकर वह अपनी सुबह की बाँग देता है। उसकी बोली तत्काल ही दूसरे बाँग देनेवाले मुर्गे-मुर्गियों की बोली में मिल जाती है। तब घोंसलों में से दूसरे पक्षी भी निकलकर उड़ते हुए चारे की खोज में चल पड़ते हैं, और सोनेवालों में जागृति का सचार हो जाता है। कुछ ही क्षणों में सभी झोंपड़ों के द्वार एक-एक करके खुल जाते हैं और गाँव की सयानी लडकियाँ व बडी-बूढी स्त्रियाँ बाहर निकलने लगती हैं। उनकी दिनचर्य्या का प्रारम्भिक कार्य है आग जलाकर उस पर मिट्टी के बर्त्तनों मे पानी गरम करने को रखना। इसके लिए उसी समय ईंधन की व्यवस्था की जाती है, क्योंकि इन लोगों में पहले से ईंधन इकट्ठा करके रखने का नियम नही है। पानी भी उसी समय लाना पड़ता है, जिसका एकमात्र साधन गाँव का सोता या पोखर है। इतनी देर में छोटे लड़के व लड़कियाँ भी जग पडती हैं। सवेरे की शीतल वायु में बाहर निकलकर वे बच्चे जम्हाई लेते, अँगड़ाते और सर्दी से कुछ काँपते हुए से दिखाई देने लगते हैं। अन्य देशों की भाँति अफ्रीका के इस प्रदेश में भी माताएं इस समय अपने काहिल बच्चों को डाँटती-फटकारती और काम करने को प्रेरित करती दिखाई देती हैं।

इसके बाद कपड़े पहनने की बारी आती है। अफ्रीका मे अनेक जातियों के लोग एक ही पोशाक दिन-रात पहने रहते हैं—छोटे लड़के और लड़कियाँ तो थोड़ी-सी पोत की मालाएँ और कपडे का एक टुकड़ा मात्र बदन में लपेटे फिरा करते हैं। उनके धूमिल वर्ण शरीर खजूर का तेल मलने के कारण चमकने लगते हैं। उन बच्चों की माताओं और सयानी बहनों को देखिए—वे एक प्रकार के ऐसे वस्त्र धारण किए हुए हैं, जिन पर बेल-बूटे और रंगीन आकृतियाँ बनी हुई हैं। ये उपवस्त्र भुजाओं के नीचे से खींचकर बाँधे जाते हैं, ताकि घरेलू काम धन्धा करते समय अड़चन न पड़े। पुरुष प्रायः तहमत या लुगी बाँधे फिरा करते हैं और उनके एक कधे पर बकरी, हिरन या तेंदुए की खाल, जनेऊ की भाँति, पडी दिखाई देती है। वस्त्र धारण करने में तो इन लोगों को देर नहीं लगती, किन्तु केश सँवारने का कार्य इनके लिए एक बड़ी मेहनत का काम होता है।

पुरुष प्रायः सभी देर में उठने के आदी होते हैं। पर अब तो काफी दिन चढ़ आया है, इसलिए वे भी झोपडों से बाहर निकलकर धूप ले रहे हैं और दिन भर के काम की योजना बना रहे हैं। सम्भव है कि किसी पडोसी का घर गिर पड़ा हो, जैसा कि हल्के-बने हुए झोपड़ों का प्रायः हाल हुआ करता है, अतएव नया झोपडा तैयार करना होगा। अथवा गाँव में सूचना मिली हो कि पास के हरे-भरे मैदानों में हिरनों का कोई झुंड चरता दिखाई पडा है। अथवा अनाज बोने के लिए नई भूमि साफ करके जोतनी हो, क्योंकि वह अक्सर कीडे-मकोडों की अधिकता और ज़हरीले पौधों की प्राकृतिक पैदावार के कारण काम लायक नहीं रहती। यदि घर बनाने, शिकार करने, या खेत जोतने-बोने का कार्य्य न हो तो चटाइयाँ बुनने और भेड़-बकरियों या गाय-बैलों की देखभाल करने का काम तो है ही। इन कामों के अतिरिक्त पेडों को काटकर उनसे तख्ते छाँटने का काम भी तो है, जिनसे तिपाइयाँ, मोंढ़े, तकिए, चौकियाँ, घर की दैनिक व्यवहार की चीजें या बगीचे में काम करने के औजार बनाए जा सकते हैं।

लीजिए, भोजन तैयार हो गया। सबसे पहले परिवार के मर्द खाना खाने बैठ गए। यही यहाँ का नियम है। बाद में औरों की बारी आएगी। सयाने लड़के और युवक सबसे पृथक् अपना एक अलग झोपडा बनाकर रहते हैं। वहीं वे खाना पकाना और गृहस्थी का अपना कार्य करना सीखते हैं। प्रायः उनकी माताएँ कोई खास सुस्वादु पदार्थ पकाकर उनको दे आती हैं, जो उनको प्रिय होता है और उसे वे सब मिलकर थोड़ा-थोड़ा खाते हैं।

प्रातःकाल का नाश्ता, जिसे माताएँ और स्त्रियाँ पकाती हैं, साधारणतया आटे का एक प्रकार का हलुआ होता है, जो बहुत कड़ा होता है और प्रायः गर्म राख मे भुने हुए केलों के साथ खाया जाता है। उसे खाने में चम्मच या अन्य किसी साधन की अपेक्षा हाथों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। परिवार के अल्प-वयस्क सदस्य बारी-बारी से हलुए के बर्त्तन की खुर्चन पाते हैं, जो पेंदे मे चिपटी रह जाती है और स्वादिष्ट होने के कारण जिसे बच्चे बड़े चाव से खाते हैं।

इसके बाद दिनचर्य्या प्रारम्भ होती है। परिवार के बड़े और सयाने व्यक्ति कुल्हाड़ियाँ, भाले, बर्छे व धनुष-बाण लेकर बाहर इकट्ठा होते हैं। कोई-कोई कुदाल या फावड़ा भी लिये रहते हैं। उनके ये औजार भद्दे ढग के बने होते हैं, जिनसे वे ही बखूबी काम लेना जानते हैं। अपने दैनिक कार्य के अनुसार ही प्रत्येक पुरुष औजार साथ ले लेता है।

माताएँ अपने शिशुओं को, जो स्वयं पैरों चलने योग्य नहीं होते, कम्बल या चादरे से पीठ पर बाँध लेती हैं और तब वे गाँव के बग़ीचों व खेतों मे काम करने निकल जाती हैं, क्योंकि अफ़्रीका में खेती करना स्त्रियों का ही काम समझा जाता है। यदि खेत उनके घरों के निकट होते हैं, तब तो काम करना कठिन नहीं होता। परन्तु प्रायः जब खेती के उपयुक्त भूमि पास-पड़ोस मे नही मिलती तब चार-पाँच मील रोज आना-जाना उनके दैनिक श्रम को और भी बढ़ा देता है।

जब मर्द लोग खेतों को साफ करके ठीक तरह से खोद देते हैं तब औरते उनमें ज्वार, मक्का, आदि अनाज, साग-सब्जी, मीठे आलू, भाँति-भाँति की फलियाँ आदि बो देती हैं। मूँगफली, केला, ईख, रेंडी, आदि के पौधे भी वे ही लगाती हैं। साधारणतया स्त्रियाँ तीसरे पहर तक दिन में काम करती हैं। फिर वे साँझ के भोजन के लिए मौसम की साग-सब्जी और फल आदि तोड़कर वापस घर लौटती हैं।

झाड़ियों और घने जंगलों के बीच से निकली हुई टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी की राह वे धीरे-धीरे पाँव उठाती हुई बस्ती की ओर चली आ रही हैं। चलते समय उनका शरीर बिल्कुल सीधा रहता है, क्योंकि बोझ लादकर चलने का वैसा अभ्यास उनको प्रारम्भ से ही हो जाता है। बोझ का भार चाहे जितना हो, और सारे दिन धूप मे झुके-झुके खेतों में काम करते रहने से वे चाहे जितनी थक चुकी हों, किन्तु उनकी चाल मे कोई अन्तर नहीं आता। उनकी अनुपस्थिति में गाँव की देखभाल का उत्तरदायित्व उनकी सयानी लड़कियों और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों व मर्दों पर रहता है।

अफ़्रीका के इन निवासियों का जीवन कर्मशीलता का एक अनुपम उदाहरण है। इनके लड़के-लड़की भी कार्य मे सदैव व्यस्त रहते हैं। मवेशियों को चराना और उनकी देख-भाल रखना, खेतों की पकी फ़सलों को पक्षियों से बचाना, चूहों, चिड़ियों तथा अन्य छोटे-छोटे जानवरों को, जो खेतों को हानि पहुँचाया करते हैं, जाल मे पकड़ना और उनके शिकार के लिए तीर बनाना, यह सब लड़कों का काम होता है। खाने के विषय मे केवल अपने ही भोजन का ध्यान न रखना और पेटू न बनना उनको प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है और उनके अभिभावक इस विषय मे बड़े सतर्क रहते हैं। शिकार करके जो चिड़ियाँ आदि वे मार लाते हैं, उनको घर की बटलोई में साथ ही पका लेते हैं, जिसमे परिवार के सभी व्यक्ति उनका स्वाद ले सकें।

जितनी देर तक छोटे लड़के-लडकी बाहर रहे, उतनी देर में घर की सयानी लड़कियों ने आँगन बुहार डाला, और चारपाइयाँ झाड़-पोंछ डालीं। साथ ही वे ईंधन और पानी भी ले आईं और लकड़ी की ओखली में मूसल से हलुए के लिए अनाज भी कूट-पीसकर तैयार कर लिया। तब वे सब मिलकर नदी पर पानी लेने गईं। जब वे अनाज कूटती-पीसती रहीं, उस समय आपस में खूब हँसी-दिल्लगी और चुहल करती रहीं।

तब आया रात के भोजन का समय. माँ-बाप, घर के सयाने व्यक्ति और बच्चे सब कोई इकट्ठा हो गए। हलुए का मिट्टी का पात्र ऊपर तक भरा हुआ उनके आगे रख दिया गया। साथ ही जो भी भोजन-सामग्री उस दिन रसोई मे तैयार हुई, वह भी लाई गई—उबली हुई साग-सब्जी, शोरवेदार तरकारियाँ, भुनी और पत्तों में लपेटकर भाप मे पकाई गई मछलियाँ अथवा मांस की तश्तरी सभी सामने रखी गई। जब सब लोग भोजन कर चुके और बची-खुची जूठन मुर्ग़े-मुर्गियों व पालतू कुत्तों के आगे फेंक दी गई, तब खेल-कूद की बारी आई। लड़के-लड़की "मुर्ग़ी और जंगली बिल्ली", एक प्रकार की "मेंढक-दौड़", गेंद और ताली बजाने के खेल, आँखमिचौनी आदि खेलने लगे और परिवार के सयाने व्यक्तियों ने मिल-जुलकर नाचना प्रारम्भ किया। जब बादल नहीं रहते और चाँदनी फैली रहती है तब ये लोग बड़ी देर तक नाचा करते हैं, यहाँ तक कि बिल्कुल थककर गिर पड़ते हैं। जब तक खेल-कूद और नाच से वे बिल्कुल श्रमित नहीं

हो जाते तब तक बच्चों और सयानों में से कोई भी बिछौने पर नहीं लेटता। अन्त में अधिक रात बीत जाने पर धीरे-धीरे गाँव के झोपड़ों के द्वार एक-एक करके बंद होने लगते हैं और बस्ती के लोग निद्रा-देवी की गोद में शान्ति से विश्राम लेने लगते हैं।

जिस प्रदेश के लोगों की झाँकी हम आपको ऊपर दिखला चुके हैं, उसे अफ्रीका महाद्वीप के मानचित्र में पहचानने का प्रयत्न कीजिए। अफ्रीका का दक्षिणी-पूर्वी भाग तथा "टोंगा-लैंड" और नैटाल प्रान्त के बीच में बसा हुआ यह भूभाग "जुलू-लैंड" या जुलू जाति की निवास-भूमि कहा जाता है। यह विस्तृत प्रदेश छोटी-बडी अनेक पर्वत-मालाओं तथा निचले पठारों से आवेष्टित है, जो समुद्र-तट तक फैले हुए हैं। यहाँ समुद्री किनारों पर ऊँची-ऊँची रेतीली पहाड़ियाँ और घनी सुविस्तृत झाड़ियाँ दिखाई देती हैं, जिनका मार्ग अत्यन्त दुर्गम और भयावह प्रतीत होता है। प्रायः पाँच सौ फीट की ऊँचाई तक सघन तमावृत वनों के अतिरिक्त और कुछ भी वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रदेश में जलाशयों की कमी नहीं पाई जाती और अनेकों छोटी-बड़ी नदियाँ शाखाओं और उपशाखाओं का विस्तार करती तथा भीषण वेग से प्रवाहित होती हुई तट-प्रदेश को पारकर समुद्र से जा मिलती हैं।

जुलू लोगों के आदि इतिहास के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि अफ्रीका की "काफिर" नामक आदिम जाति की एक शाखा में से उनकी उत्पत्ति हुई है। प्रारम्भ में अबागुनी नाम की एक छोटी-सी जाति थी, जो पास-पडोस की अन्य जातियों से लडती-भिड़ती, विजय प्राप्त करती और विजितों को अपने में सम्मिलित करती हुई अपना प्रभुत्व बढाती गई। यहाँ तक कि उसका आधिपत्य दक्षिण-पूर्व अफ्रीका के समुद्री भाग से, जो पहले "स्वाजी" जाति के लोगों के अधिकार में था, डेलागोआ की खाडी और आधुनिक ब्रिटिश काफ्रेरिआ में "पोण्डो" जाति की आवासभूमि तक स्थापित हो गया। विजय प्राप्त करने के बाद अबागुनी जातिवालों ने अपना प्राचीन नाम, जिससे उनके पडोसी आज तक उन्हे सम्बोधित करते हैं, परित्याग करके "जुलू" नाम धारण कर लिया, जिसका अर्थ उनकी भाषा में 'स्वर्ग' होता है। अपने प्रारम्भिक राजाओं मे जुलू लोगों को केवल उमालन्देल, उम्धलाना, जुलू, उन्तोम्बेला, उको सिकुलू (महाराजा) अथवा माम्बा (सर्पराज), उमागेबा, उपुंगा, उफैना और सेंज़ागाकोने के नाम स्मरण हैं, जो एक के पश्चात् एक गद्दी पर बैठे तथा पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि के क्रम से शासन करते रहे। उनमें से अधिकांश लड़ाकू स्वभाव के न थे और शान्ति से मवेशियों का व्यापार करते हुए वे "एमाश्लाबातिनी" नामक प्रदेश पर राज्य करते रहे।

सेंजागाकोने का पुत्र चाका, जो जुलू जाति का एक असाधारण शासक था, जुलू साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है। अपनी जाति का संगठन करके, उसे एकता के सूत्र में बाँधकर, उसने प्रत्येक जुलू को युद्धप्रिय और रण-कौशल में पटु बना दिया। साम्राज्य-विस्तार की भावना से प्रेरित होकर चाका ने जुलू लोगों में वीरता का मंत्र फूँक दिया और उनको शक्ति का मार्ग दिखलाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में जुलू लोगों ने दूर-दूर के इलाक़ों तक छापा मारकर उनको रौंद डाला और वहाँ अपनी विजय-पताका फहरा दी। चाका की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अफ्रीका के दक्षिणी प्रदेश में जुलू जाति का आतंक छा गया और वह अजेय हो उठी। फलतः अनेकों छोटी-बड़ी जातियों ने जुलू लोगों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और अपने को उनमें सम्मिलित कर लिया। जो कोई भी उनसे लड़े और सामने आए उनको सर्वनाश ही दिखाई दिया और अंत में विजेताओं की दासता अंगीकार करने को बाध्य होना पड़ा। परिणामतः एक दिन वह आया जब जुलू जाति अफ्रीका की सबसे शक्तिशाली, दुर्धर्ष, अजेय और महान् सैनिक जाति मानी जाने लगी।

जिस प्रकार हमारे अपने देश के इतिहास में देश, जाति और धर्म पर प्राण न्योछावर करनेवाले राजपूतों की प्राचीन गौरव-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई मिलती हैं, उसी भाँति दक्षिणी अफ्रीका के इतिहास के पृष्ठों पर वहाँ की इस महान् शक्तिशाली और पराक्रमी जुलू जाति के कार्यकलाप और शौर्य्य की कहानी अंकित है। स्वजाति और स्वदेश के नाम पर मर मिटनेवाले प्राचीन जुलू सूरमाओं के नाम इतने अधिक हैं कि गिनाए नहीं जा सकते। सहस्रों की संख्या में उन्होंने अपने प्राणों की आहुतियाँ देकर विदेशियों के आक्रमणों से अपनी भूमि की कितनी ही बार रक्षा की। श्वेतांगों से युद्ध करने में इस जाति के मुट्ठी भर शूरवीरों ने जिस अदम्य साहस, जात्याभिमान और रणकुशलता का परिचय दिया था, उसका उदाहरण ससार के इतिहास में कठिनता से मिल सकता है। नए-नए ढंग के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित श्वेत जातियों की विपुल सेनाएँ जुलू लोगों के बर्छों की मार के आगे त्राहि-त्राहि कर
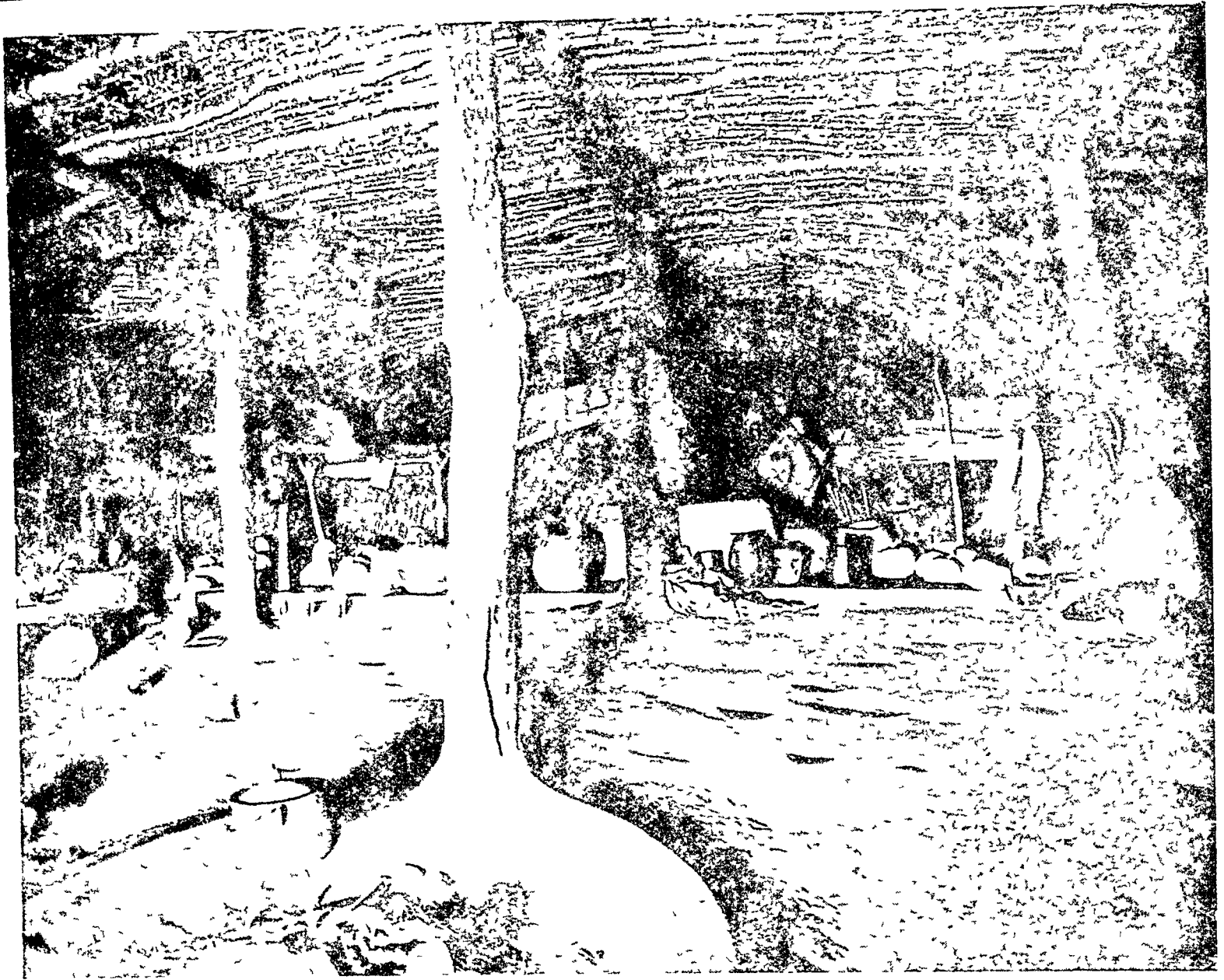
एक ज़ुलू झोपड़े के भीतर का दृश्य

उठी थी। शत्रुओं को भी मुक्त कण्ठ से ज़ुलू जाति के इस असीम पराक्रम की सराहना करना पड़ी थी।

यह मानी हुई बात है कि अफ़्रीका की नीग्रो जातियो की अपेक्षा ज़ुलू जाति कही अधिक सभ्य और ऊँची है। ज़ुलू लोगों की आकृति साधारणतया सौम्य और उनके शरीर का वर्ण मटमैला होता है, जबकि नीग्रो काले होते हैं। उनके केश घुँघराले, क़द लम्बा, शरीर की गठन आकर्षक और सुडौल होती है। ईमानदारी और अतिथि-सत्कार के लिए वे विख्यात हैं। उनकी प्रतिभा और बुद्धि तीव्र होती है। स्वभाव से ही वे प्रसन्नचित्त और मिलनसार होते हैं। व्यवहार और बोली मे वे अन्य काफिर जातिवालों जैसे ही दिखाई देते हैं। ज़ुलू लोगों में प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति का एक वर्णनात्मक नाम होता है और उनकी भाषा मे अलंकारों का बाहुल्य पाया जाता है। उनका कोई लिखित या मौखिक साहित्य नहीं है और न उनमे देवी-देवताओं या प्राचीन योद्धाओं की परम्परागत गाथाएँ ही पाई जाती हैं। इसी कारण चाका के राज्यकाल से लेकर श्वेतागों से सघर्ष तक ही का उनका इतिहास उपलब्ध है, इसके पहिले का नही। उनके धार्मिक संस्कार अन्य अफ़्रीका की जातियों के संस्कारों जैसे ही पाए जाते हैं। वे अपने परमशक्तिमान् देवता को "उमकुलुनकुलू" कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी बोली मे "बड़े से भी बड़ा" होता है। वे "ईतोंगो" नामक एक महान् सम्राट्, पिता या मानव जाति के स्वामी की उपासना किया करते हैं, जो उनकी धारणा के अनुसार किसी काल में पृथ्वी पर निवास करता था और उसी को वे अपना जातीय पूर्वज मानते हैं। मृत राजाओं और योद्धाओं की आत्माएँ उनके यहाँ देव-रूप मानी जाती हैं तथा सिह, हाथी आदि बलशाली पशुओं की भी पूजा होती है।

ज़ुलू लोगों के कोई देवालय या सार्वजनिक उपासना-गृह नहीं होते, केवल वर्ष की कुछ ऋतुओं में उनके यहाँ धार्मिक उत्सव अवश्य मनाए जाते हैं, जिनमें राजा ही मुख्य पुरोहित का कार्य्य सम्पन्न करता है। 'मध्य-ग्रीष्म-

दिवस' पहली जनवरी को प्रति वर्ष पड़ा करता है और तभी वे अपना राष्ट्रीय त्योहार - "यू-क्वेचवाना" अर्थात् "ज्वार की फसल के पकने पर ईश्वर को धन्यवाद" देने का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाते हैं। उसी अवसर पर राजा अपनी सेना का निरीक्षण करता है और कुछ ख्याति-प्राप्त टोलियों के सैनिकों को विवाह करने की अनुमति देता है। इसके उपरान्त वह स्वर्गीय पूर्वजों की आत्माओं को सतुष्ट करने के हेतु कुछ धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता है। उन आत्माओं का अस्तित्व सब कालों में सभी जगह अदृश्य रूप में वायु में अथवा सजीव सर्पों के रूप में माना जाता है। इसके बाद युवक लोग एक साँड का बलिदान देते हैं। बलि का साँड बिना किसी शस्त्र की सहायता के ही पकड़ लाना और हाथों से ही उसका वध करना युवकों के लिए अनिवार्य होता है। केवल शारीरिक बल से उसे परास्त करके और गला घोंटकर उसे मार डालने की क्रिया ही बलिदान का प्रमुख अग मानी जाती है। इस समारोह का अन्त राजा द्वारा एक तूँबा या बड़ा कद्दू तोड़ने के पश्चात् समझा जाता है। इसके बाद जुलू लोग पुराने वर्ष की समाप्ति और नव-वर्ष का आरम्भ हुआ मानते हैं। प्रत्येक त्योहार के अवसर पर सेनाओं की क़वायद अवश्य होती है, जो जुलू-राष्ट्र की सैनिक-शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए अनिवार्य समझी जाती है। राजा भिन्न-भिन्न सैनिक दलों का निरीक्षण करके उनके वीरोचित कार्यों की सराहना करता है। उसके आगे वे अपनी कसरतें व क्रीड़ा तथा युद्ध के कौशल का प्रदर्शन करते हैं। शिक्षा-दीक्षा और नियमित व्यायाम के अतिरिक्त सैनिकों को व्यवस्थित रखने के लिए जुलू लोग कोई उपाय बाक़ी नहीं रखते। उनके जातीय अस्त्र-शस्त्रों में भाला या बर्छा ही प्रमुख माना जाता है। प्रारम्भ में वह लम्बा होता था और फेंककर शत्रु को मारने में काम आता था, किन्तु चाका के शासनकाल में वह छोटा बनने लगा, जिसे सैनिक लोग भोंकने या छेदने के काम में लाने लगे। सन् १८७० ई० के पश्चात् तो आग्नेय शस्त्र भी उनको प्राप्त होने लगे और वे उनके व्यवहार में शीघ्र ही दक्ष हो गए। श्वेतागों से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का यही लाभ उन्होंने समुचित रूप में उठाया। बर्छों के अतिरिक्त आत्मरक्षा के लिए जुलू लोग खूब लम्बी-चौड़ी ढालों का भी व्यवहार करते थे, जिनकी आड़ मे उनका समूचा शरीर छिप जाया करता था। ढालें साधारणतया बैलों की खाल को काठ के चौखटों पर मढ़कर बनाई जाती थीं और उनके बीच में शत्रु को देखने के प्रयोजन से दो छेद रखे जाते थे। ढालों पर भाँति भाँति की आकृतियाँ भी अनेक रंगों से बनाई जाती थीं। आज भी कहीं-कहीं वनवासी जुलू वही हल्के बर्छे, जिन्हें 'असेगाई' कहा जाता है, और ढालें धारण किए दिखाई देते हैं।

जुलू लोगों की जनसंख्या साधारणतया कई बस्तियों में विभाजित रहती है, जिनको 'क्राल' कहा जाता है। 'क्राल' में एक पूरा परिवार और उसके सम्बन्धी लोग रहा करते हैं, जिनकी गणना एक ही वर्ग में होती है। प्रायः परिवार का कोई बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति 'क्राल' का प्रधान या संरक्षक चुना जाता है, जिसकी आज्ञा परिवार के सभी व्यक्तियों को मानना पड़ती है। वही प्रधान 'क्राल' विशेष का शासक माना जाता है और उसी पर बस्ती के प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक आचरण की जिम्मेदारी रहती है। कभी-कभी एक प्रधान के संरक्षण में कई एक 'क्राल' या सामाजिक बस्तियाँ होती हैं। कई प्रधानों पर एक मुखिया या जातीय सरदार रहता है और कई सरदारों पर एक राजा का शासन माना जाता है। आजकल एक ब्रिटिश कमिश्नर को ही राजा के समस्त अधिकार प्राप्त हैं, जो जुलू लोगों पर शासन करता है। जुलू लोगों के "क्राल" वास्तव में गोलाकार बाड़े के आकार में, बाँस और वृक्षों की टहनियों के ढाँचे खड़े करके पत्तियों और फूस से ढँककर, खूब लम्बे चौड़े बनाए जाते हैं, जिनके इर्द-गिर्द एक चहारदीवारी या परकोटा रहता है। उस परकोटे के भीतर पालतू पशु रखे जाते हैं। परकोटे और बाड़े की परिधि के बीच में परिवार के लोगों के रहने का स्थान होता है।

सामाजिक आचरण और व्यवहार की दृष्टि से, जैसा हम पहले कह चुके हैं, जुलू लोग अफ्रीका की अन्य आदिम जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य पाए जाते हैं। सच्चरित्रता, आतिथ्य-भाव और सरल स्वभाव उनकी जातीय विशेषता है। प्रारम्भ में वे किसी प्रकार की मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते थे और न उनमें लूटमार, चोरी तथा अन्य बुरे कामों का व्यसन था। जब से वे योरोपीय श्वेत जातियों के सम्पर्क में आए, तभी से उनमें अनेक दुर्गुणों का समावेश होने लगा। नई सभ्यता के संसर्ग के साथ-ही-साथ उनका जातीय पतन आरम्भ हो गया, यहाँ तक कि एक दिन उनको अपनी स्वतंत्रता खोकर दूसरों के आगे सिर झुकाना पड़ा। उन्होंने अपना गौरव ही नहीं खो दिया वरन् धर्म-कर्म, आचार-विचार, एवं शिक्षा-दीक्षा सब-कुछ गँवाकर विदेशियों के आश्रित बन बैठे।

जुलू लोगों के व्यावहारिक व्यापार कभी-कभी बड़े मनोरंजक होते हैं। उदाहरण के लिए जब वे किसी को हाथ के संकेत से पास बुलाते हैं तो उनके हाथ की हथेली ऊपर रहती है और उँगलियाँ समेटकर उनसे कुछ पकड़ने जैसी क्रिया की जाती है। वह व्यक्ति, जिसे बुलाया जा रहा हो, थोड़े फ़ासले पर हुआ तब तो जुलू अपना हाथ खूब ऊँचा करके यही क्रिया सम्पन्न करता है। किसी बात की स्वीकृति देने या 'हाँ' करने में सिर झुकाने के बजाय नीचे से सिर ऊपर उठाया जाता है। हमारे व्यवहार में ठीक इसका उल्टा होता है। किसी विदेशी या सम्माननीय व्यक्ति को जुलू लोग जो सब से बड़ा उपहार देते हैं वह एक गाय होती है, जिसे जंगल से पकड़कर लाने में उनको काफी परिश्रम करना पड़ता है।

जुलू लोगों के धार्मिक विचारों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वास्तव में वे मूर्ति-पूजक हैं। स्वर्गीय आत्माओं, शक्तिमान पशुओं व सर्पों की उपासना उनके आदि-धर्म का एक प्रमुख अंग है। वे काष्ठ-प्रतिमाएँ भी पूजते हैं। उनके देवी-देवता कृपालु होते हुए भी कभी-कभी जब कुपित हो जाते हैं तो उनकी शान्ति के हेतु अनेक उपचार, पूजा, बलिदान आदि का आयोजन किया जाता है। शत्रुओं से प्रतिशोध लेना वे धार्मिक दृष्टि से अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य मानते हैं। जुलू लोगों के कुछ गाँवों में किसी परिवार के बड़े-बूढ़े या बच्चे की मृत्यु होने पर उसके रहने के लिए एक साफ-सुथरा नया झोपड़ा तैयार किया जाता है और स्वर्गीय आत्मा के लिए उसमें सुस्वादु भोजन और मदिरा आदि ले जाकर नियमित रूप से रखी जाती है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त दिवंगत आत्मा को उन सब वस्तुओं की आवश्यकता रहती है।

जुलू जातिवाले अपना अपमान या मजाक बनाया जाना कभी सहन नहीं करते और ऐसी परिस्थितियों में वे मरने-मारने को उद्यत हो

एक ज़ुलू ओझा या 'स्याना'

पुराने ज़माने में इन धर्म-पुरोहितों ने अपना बड़ा आतंक जमा रक्खा था।

जाते हैं। दूसरों के साथ वे नम्रता का व्यवहार करते हैं और बदले मे वे भी वैसा ही व्यवहार पाने को उत्सुक रहते हैं।

जब-दो व्यक्ति मिलते हैं तो वे अभिवादन क रूप मे एक दूसरे के सीने पर हाथ रखकर नीचे को झुकते हैं, फिर भूमि के निकट अपने हाथ ले जाकर ताली बजाते हैं। अपने सरदार या प्रधान के आगे झुककर भूमि चूमना आवश्यक शिष्टाचार समझा जाता है। प्रायः दोनो भुजाएँ नीचे झुकाकर उनके बीच मे सिर झुकाते हुए—"ओ अजादला, चिउसा, मारी-आ-व्बेनो" कहना सम्माननीय व्यक्ति के अभिवादन मे पर्याप्त समझा जाता है। जाति के बडे-बूढों का अभिवादन सर्वत्र किया जाता है। अकारण ही जुलू कभी दगा, विश्वासघात, या रक्तपात नही करता। शताब्दियों से अरब लोगो के अत्याचार सहते रहने के कारण अब जुलू लोगो मे विदेशियों के प्रति अविश्वास की मात्रा अधिक बढ गई है। फिर भी कृपा और उपकार की अनुभूति उनमे पाई जाती है और वे कृतज्ञता-प्रकाशन मे कभी पीछे नही हटते। मेहमानों का सत्कार करना और मित्रता का निर्वाह वे अच्छी तरह जानते हैं। विदेशियों के जो दल जुलू लोगों की आवासभूमि में अन्वेषण करने गए थे, उनका वक्तव्य है कि इस जाति के लोग, चालाकी या छलकपट से अपने पक्ष में कभी नही लाए जा सकते। उनकी मित्रता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके साथ उपकार करना, जिसे पहचानने में वे कभी देर नही करते। उपकारी व्यक्ति को सम्मानित करना वे अच्छी तरह जानते हैं। निःस्वार्थ भाव से मिलनेवालों के वे बिना दामों के गुलाम बन जाते हैं और यथाशक्ति उनकी सेवा करते हैं।

जुलू स्वभाव से ही बडे परिश्रमी होते हैं। घरेलू कामकाज के अतिरिक्त खेती-बारी करने दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बनाने और लोहे के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने मे वे प्रायः व्यस्त दिखाई दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त ताँबे, सींग, हड्डी, हाथीदाँत, पोत और परों के गहने, टोकरियाँ, चटाइयाँ और लकड़ी पर नक्काशी बनाना भी वे अच्छी तरह जानते हैं। पशुओं की खाल से वे अपने पहनने के वस्त्र तैयार कर लेते हैं। ज्वार, बाजरा, मक्का, शकरकद और तम्बाकू की खेती उनके प्रदेश में अधिक होती है। वहाँ की भूमि मे खनिज पदार्थों की कमी नही पाई जाती। सोना, ताँबा, लोहा तथा अन्य धातुएँ निकालने के कारखाने विदेशियों ने वहाँ खोल रखे हैं, जिनमें सैकडों जुलू जाति के मजदूर काम करते हैं। जुलू लोग अपनी मुख्य सम्पत्ति पालतू मवेशियों को ही समझते हैं। प्रत्येक परिवार के अधिकार में भेडो के गल्ले अवश्य होते हैं और उन्ही की सख्या से परिवार की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जाता है।

विवाह मे भी इसी पशु-धन द्वारा जुलू अपनी वधू का मोल चुकाता है। पुरुषों को अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतत्रता है, यदि वह प्रत्येक का मूल्य, जिसे "यूकुलो-बोला" कहते हैं, पूर्ण रूप से चुकाने की सामर्थ्य रखता हो। जिसके पास ढेरों की अधिकता होती है, वह प्रायः कई पत्नियाँ रख लेता है। इसी पशु धन को सचय करने के लिए जुलू लोग, पिछली शताब्दी मे, अपने पास-पडोस की देशी-विदेशी जातियो की बास्तयों पर छापा मारा करते थे और जितने भी पशु हाथ आते उनको पकड लाते थे। जातीय नियमानुसार उनके यहाँ प्रत्येक युवक के लिए स्वतत्र जीवन-निर्वाह के हेतु बहुत-से पशु पालना अनिवार्य होता है। इसीलिए लूट-मार करने की उनको छूट होती है। पर ब्रिटिश शासको के कारण अब जुलू लोगों का यह उत्पात बन्द हो गया है।

मुख्य पत्नी का ज्येष्ठ पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी माना जाता है। इनमें परिवार की वधुएँ सास-ससुर की उपस्थिति मे सामने नहीं आतीं और अपने पति के परिवार के प्रमुख सदस्यों के नाम भूल से भी नहीं लेतीं। उसी भाँति पुरुष भी अपनी सास या पत्नियों की माताओं से पर्दा करते हैं और श्वसुर-परिवार के बडे-बूढ़ों के नाम जबान पर नहीं लाते।

प्राचीन युग में जुलू जाति के लोगों पर स्यानों या पुरोहितों का बडा प्रभुत्व था। उनके कर्म बडे जघन्य और अमानुषिक होते थे। प्रायः अपराधियों का पता लगाने की चेष्टा में वे कई व्यक्तियों को विष देकर व्यर्थ ही मार डालते थे और लोगों को शारीरिक यंत्रणाएँ देना उनके बाएँ हाथ का काम था। उनके आगे समाज में किसी की कुछ न चलती थी और जाति के लोग उनसे सदा भयभीत रहा करते थे। चाका या तशाका नामक जुलू राजा ने इन दुष्टों के हाथों से प्रजा को बचाने के लिए स्थान स्थान पर रक्षा-गृह बनवा दिए, जिनमे 'अबाता गाती' या अभियुक्त भाग-भागकर शरण लेने लगे। इन स्यानों का आतक धीरे-धीरे उठने लगा फिर भी उनका अस्तित्व नहीं मिटा, यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम हो गई है।

विश्व की कहानी
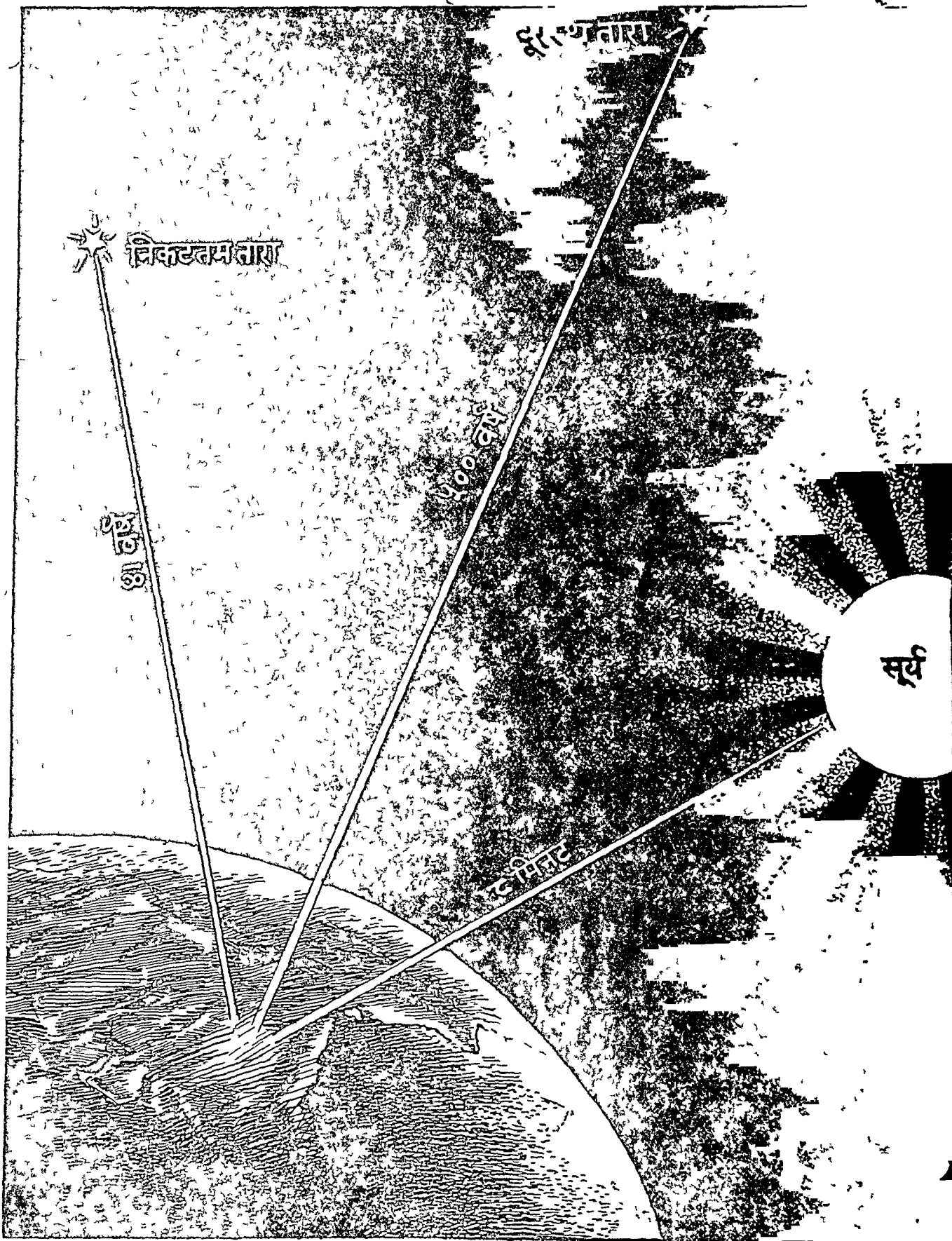
तारे कितनी दूर है ?

सूर्य पृथ्वी से लगभग साढे नौ करोड मील दूर है— इतनी दूर कि १८६००० मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाले प्रकाश को भी वहाँ से आने मे आठ मिनट लग जाते है। परन्तु तारे तो इतने अधिक दूर है कि सबसे निकट के तारे से पृथ्वी तक प्रकाश को आने मे ४ वर्ष का समय लगता है। और दूर के तारों की तो बात ही न पूछिए। उदाहरण के लिए सुप्रसिद्ध चमकीला तारा 'मृगपद' (Rigel) इतनी दूर है कि वहाँ से प्रकाश को आने मे ५०० वर्ष लग जाते हैं !

तारों की दूरी, चमक, नाप और तौल

यों तो सूर्य हमसे इतनी दूर है कि हम उसकी सच्ची कल्पना नही कर पाते हैं—इतनी दूर कि प्रकाश को भी वहाँ से आने में आठ मिनट लग जाते हैं, यद्यपि प्रकाश पृथ्वी की प्रदक्षिणा एक सैकंड मे सात बार कर लेता है!—परंतु तारे हमसे इतनी दूर हैं कि उनकी तुलना में सूर्य की दूरी नगण्य है। निकटतम तारा हमसे लगभग २,४०,००,००,००,००,००० मील दूर है! शीघ्रगामी प्रकाश को भी वहाँ से आने मे सवा चार वर्ष लगते हैं! अन्य तारे इससे कही अधिक दूर हैं। उदाहरणतः, ध्रुव तारे से प्रकाश हमारे पास लगभग ४७ वर्ष मे आता है, परंतु बहुत-से मंद प्रकाशवाले तारे ऐसे हैं, जो इससे कई सौ गुना अधिक दूर होंगे।

यदि हम किसी समीपस्थ तारे से सूर्य को देख सकते तो हमारा सूर्य वहाँ से, अधिक दूरी के कारण, एक साधारण तारे-सा दिखलाई पड़ता। यदि हम वहाँ आधुनिक बड़े दूरदर्शकों को ले जा सकते तो भी हम पृथ्वी, मंगल आदि ग्रहों को न देख पाते, क्योंकि ये ग्रह अपेक्षाकृत बहुत छोटे और सूर्य के बहुत पास हैं। वस्तुतः यदि विश्व की तुलना सागर से की जाय तो सौर परिवार—सूर्य और ग्रहो का समुदाय—एक टापू-सा समझा जा सकता है। इस टापू के चारों ओर दो-ढाई पद्म मील तक दूसरा कोई तारा नहीं है।

तारे सभी तप्त पिंड हैं। रासायनिक रचना मे वे बहुत-कुछ हमारे सूर्य की ही तरह हैं; हाँ, कुछ हमारे सूर्य से बहुत गरम हैं, कुछ अपेक्षाकृत बहुत ठंढे। अत्यंत दूर होने के कारण वे हमको बिंदु-सरीखे लगते हैं। बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में भी वे बिंदु सरीखे ही रह जाते हैं—वे दूरदर्शक के कारण कुछ बड़े नहीं दिखलाई पड़ते। ग्रह आदि आकाशीय पिंड दूरदर्शक से दो-चार हजार गुना बड़े दिखलाई पड़ते हैं, परंतु तारे बिंदु-सरीखे ही क्यों रह जाते हैं? कारण यही है कि शून्य को चार हजार से गुणा करने पर भी शून्य ही मिलता है, यद्यपि अन्य संख्याओं को इतने से गुणा करने पर वे उतनी ही गुनी बड़ी हो जाती हैं।

हमें कितने तारे दिखलाई पड़ते हैं?

प्रथम बार तो तारे असंख्य जान पड़ते हैं, परंतु यदि सावधानी से किसी सीमित क्षेत्र को देखा जाय तो पता चलेगा कि तारे गिने जा सकते हैं। उदाहरणतः, यदि सप्तर्षि के चार तारों से बने चतुर्भुज के भीतर पड़नेवाले तारों को गिना जाय तो पता चलेगा कि उसमें पाँच-छः तारों से अधिक नही हैं, रात चाहे कितनी भी अँधेरी हो। इसी तरह प्रत्येक सीमित क्षेत्र के तारों को सुगमता से गिना जा सकता है। इसलिए यदि आकाश को छोटे-छोटे खंडो में बाँटकर तारो को गिना जाय तो उनके गिनने में कोई कठिनाई नही होगी। जब एक साथ ही सारे आकाश पर विचार किया जाता है तो अवश्य ही कार्य असंभव जान पड़ता है। तब कठिनाई उसी प्रकार की होती है जो प्रसिद्ध पुस्तक 'एलिस इन वंडरलैंड' में ऐलिस को पड़ी थी, जब सपने में
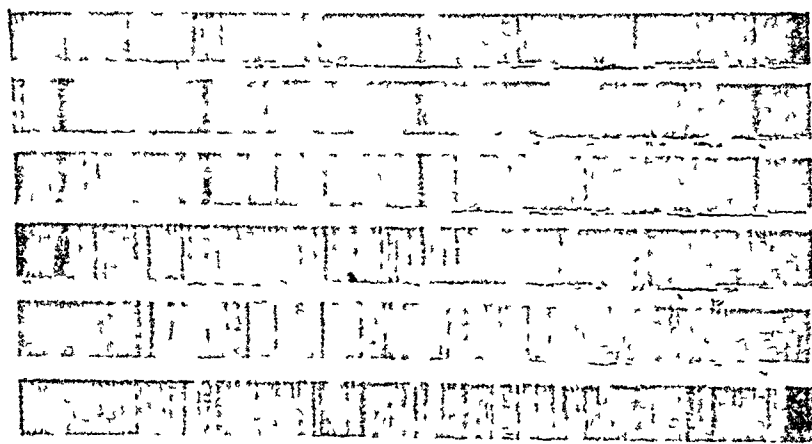
तारों के वर्णपट

ये वर्णपट तारों से आनेवाले प्रकाश के विश्लेषण द्वारा प्राप्त होते हैं। वर्णपटों पर उतरनेवाली विभिन्न रंगों की पट्टियों की चौडाई और गहराई के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि किन-किन तारों में कौन-कौन से तत्त्व हैं और किन का कितना तापक्रम है। तारों के विभिन्न प्रकार के वर्णपट उतरते है, किन्तु उनका एक विशिष्ट क्रम है, जिससे यह ज्ञात होता है कि सब तारे एक ही विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं।

कीड़े ने उससे पूछा—'तुम जोडना जानती हो ?' उत्तर 'हॉ' मिलने पर कीडे ने पूछा—'अच्छा बताओ तो कि एक और एक, और एक, और एक, और एक, और एक, औरेक-औरेक-औरेक-औरेक-औरेक जोडने पर कितना हुआ ?' बेचारी ऐलिस चकरा गई।

ऑख से दिखलाई पडनेवाले तारो की सख्या कुल छः-सात हजार है। कसबों मे भी इससे अधिक व्यक्ति बसते हैं। परतु एक समय मे हमको आधा आकाश ही दिखाई पडता है, और क्षितिज के पास मद तारे मिट जाते हैं। इसलिए एक समय मे हमे दो-ढाई हजार से अधिक तारे नही दिखलाई पडते। सो भी इतने तारे तभी दिखलाई पडेंगे जब वायुमडल पूर्णतया स्वच्छ हो और रात ॲधेरी हो। चद्रमा के कारण थोडा भी उजाला रहने पर, या वायुमडल मे धूलि या हलके बादल रहने पर, दृष्टि-गोचर तारो की सख्या बहुत कम हो जाती है।

दूरदर्शक की सहायता लेने पर बहुत अधिक तारे दिखलाई पडने लगते है। यरकिज के चालीस इचवाले दूरदर्शक से दस करोड से कुछ अधिक ही तारे दिखलाई पडते हैं। यदि ऑख से देखने के बदले तारों का फोटो लिया जाय और प्लेट को काफी लबा प्रकाशदर्शन (एक्सपोज्हर) दिया जाय तो ऐसे तारों का भी चित्र उतर आता है जो दूरदर्शक मे देखने पर अदृश्य रहते हैं। ऑका गया है कि माउण्ट विल्सन के सौ इच वाले दूरदर्शक से फोटो लेने पर बीस खरब तारों का फोटो उतर सकता है।

वर्णपट

तारो को शीशे की कलम (त्रिपार्श्व) द्वारा देखने पर वे रग-विरंगे दिखलाई पड़ते हैं—उनमे इद्रधनुष की तरह सब रग दिखलाई पडने लगते हैं। इसी रगीन चित्र को वर्णपट (स्पेक्ट्रम) कहते हैं। तारो के वर्णपटों का यथा-सभव बड़े पैमाने पर फोटो खीचकर और इन फोटोग्राफों का सूक्ष्म अध्ययन करके आधुनिक ज्योतिषी तारो की रासायनिक बनावट, उनका तापक्रम तथा कई अन्य बाते जान लेता है। वर्णपटों से पता चला है कि तारो मे भी वही पदार्थ है जो पृथ्वी पर मिलते हैं, जैसे हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, सोडियम, मैग्नीसियम, कैल्शियम, लोहा आदि।

परंतु वर्णपटों के अध्ययन से जिन बातों का पता चला है, उनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि विविध तारों को एक ऐसे क्रम मे रक्खा जा सकता है कि उनके वर्णपट एक अखड श्रेणी मे आ जायॅ। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सब तारे एक ही विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे हैं—सभी तारे एक ही प्रकार जन्म लेते हैं, प्रौढ होते हैं, वृद्ध होते हैं और मरते हैं। बात वैसी ही है जैसे कोई जगल में जाय और वहॉ छोटे-बडे अनेक पेड देखे, फिर उनको उनकी ऊँचाई के क्रम मे रखकर विचार करे और जान जाय कि किस प्रकार जब आरभ में पौधा उत्पन्न होता है तब उसमे केवल दो पत्ते रहते हैं, किस प्रकार बढते-बढते वह विविध अवस्थाओं मे पहुँचता है, और अत मे वह किस प्रकार सूखकर मर जाता है। अध्ययनकर्त्ता इस प्रकार अल्पकाल मे ही वृक्ष के विकास-इतिहास को जान लगा, यद्यपि वह किसी वृक्ष को बढते या मरते न देखेगा। ठीक इसी प्रकार वर्णपटों के अध्ययन से त . । अपने गणित से ज्योतिषी तारों के विकास-इतिहास का पता पा गया है। इस इतिहास का ब्योरा पीछे दिया जायगा ; इस परि-च्छेद मे हम तारों के बारे मे अन्य प्रारभिक बातों पर ही विचार कर सकेंगे।

तारों की चमक

पहले बताया जा चुका है कि तारे चमक के अनुसार कई श्रेणियो मे बॉट दिए गए हैं। प्रथम श्रेणी के तारे सब से चमकीले होते हैं, द्वितीय श्रेणी के उससे कम, तृतीय के उससे भी कम, इत्यादि। यह भी बतलाया जा चुका है कि अधिक सुविधा के लिए १·१, १·२, आदि भिन्नात्मक सख्याओं से भी श्रेणियॉ सूचित की जाती हैं, जिससे तारो की चमक अधिक सूक्ष्मता से बताई जा सके।

चमकीले तारो की श्रेणी ग्रीस के प्राचीन ज्योतिषियों ने निर्धारित की थी। परतु जब दूरदर्शक का आविष्कार हुआ तो छठवी से भी नम्र श्रेणी की सृष्टि की आवश्यकता दिखाई दी। इसके अतिरिक्त पूर्व-निर्धारित श्रेणियो मे सशो-धन की आवश्यकता भी प्रतीत हुई। कुछ समय तक तो बडी गडबडी रही, परतु सन् १८५० मे एक ज्योतिषी (पॉगसन) ने ऐसा प्रस्ताव किया, जो सर्वमान्य हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार श्रेणीसूचक सख्या मे ५ की कमी होने से चमक ठीक सौ गुनी हो जाती है, श्रेणी-सूचक सख्या से १ की कमी होने से चमक लगभग ढाई गुनी हो जाती है। इस प्रकार प्रथम श्रेणी के तारे से छठी श्रेणी के तारे की अपेक्षा सौ गुना प्रकाश आता है, बार-हवी श्रेणी के तारे के हिसाब से छठी श्रेणी का तारा सौ गुना चमकीला और प्रथम श्रेणी का तारा १००×१०० अर्थात् दस हजार गुना चमकीला होता है। रोहिणी नाम का तारा प्रायः ठीक प्रथम श्रेणी का है ; आर्द्रा भी प्रायः
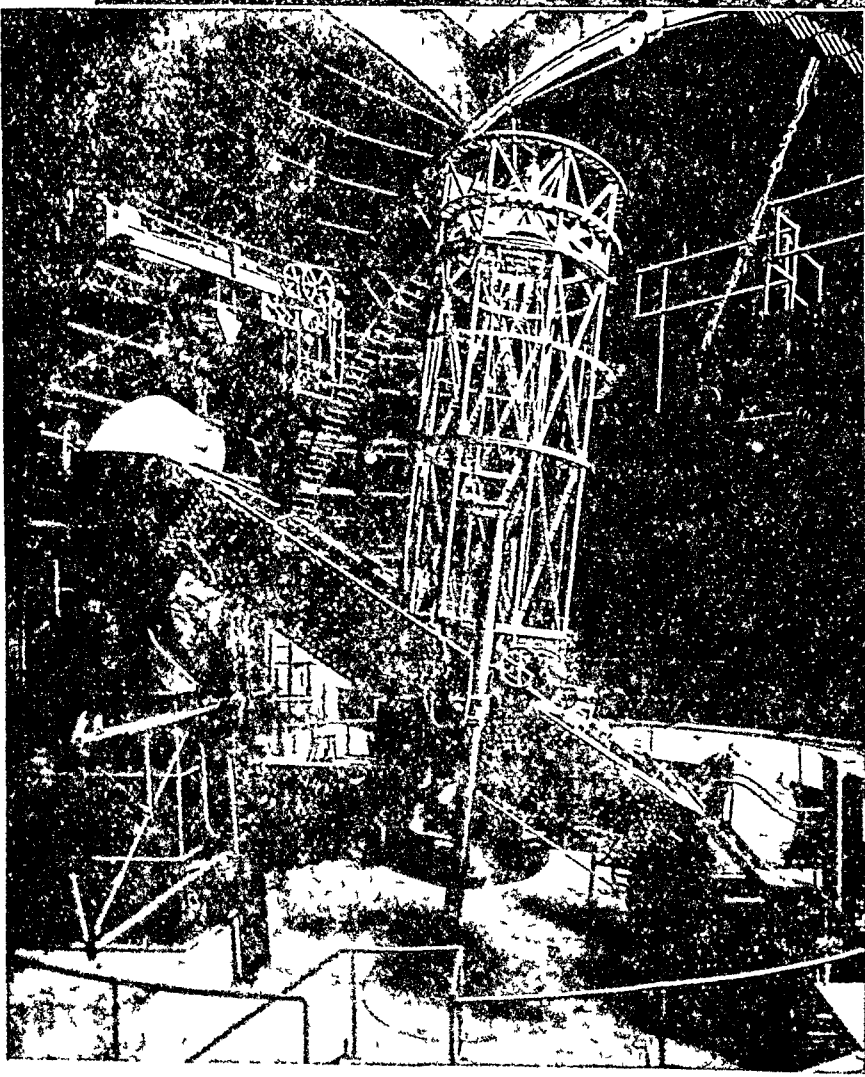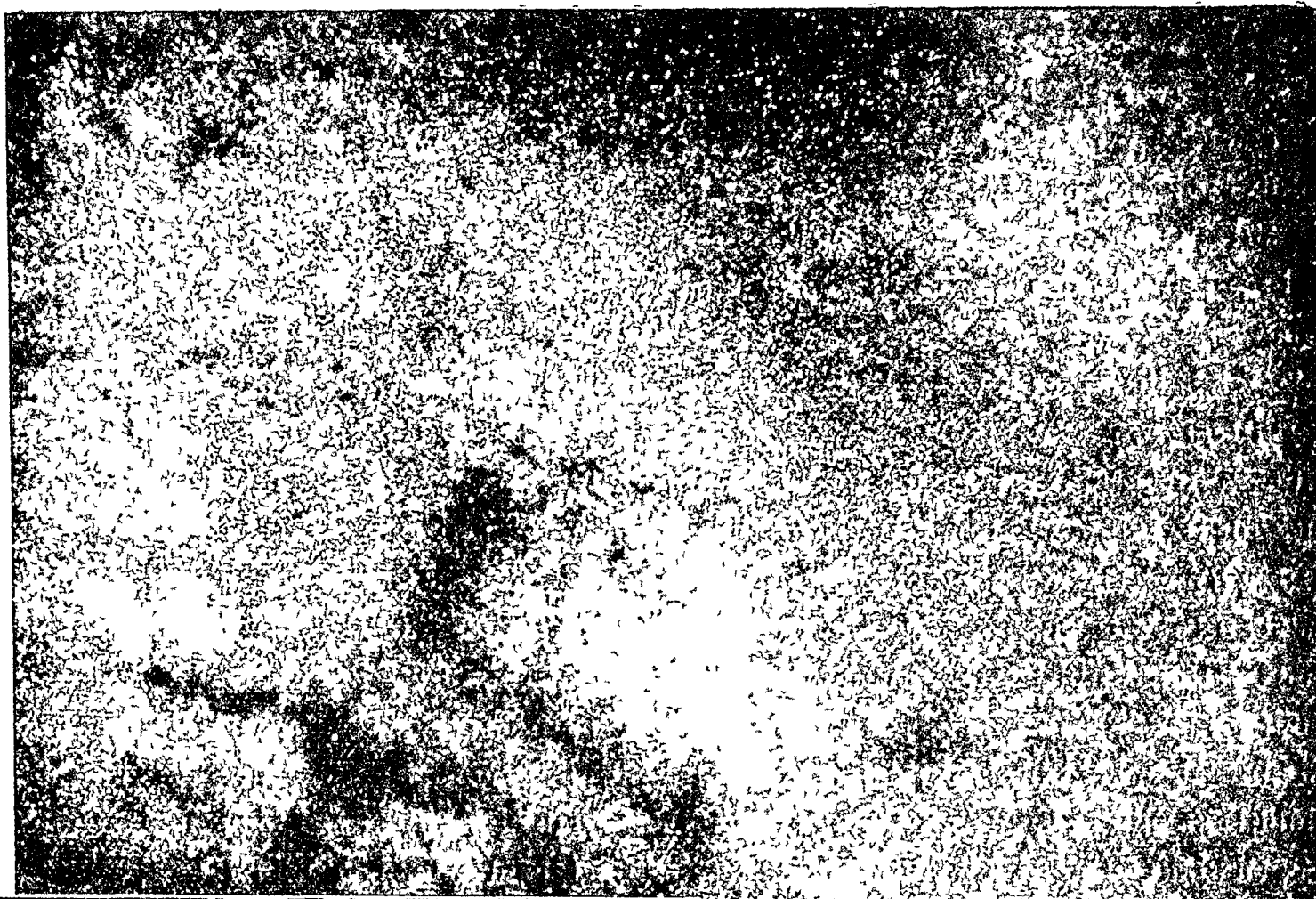
कोरी आँख से देखने पर स्वच्छ अँधेरी रात मे एक बार में हमे दो-ढाई हज़ार से अधिक तारे नही दिखाई पडते । परन्तु माउण्ट विल्सन के महान् दूरदर्शक द्वारा लगभग बीस खरब तारे देखे जा सकते है ! प्रस्तुत चित्र मे १०० इंची दूरदर्शक और उसके द्वारा लिया गया नक्षत्रखचित आकाश के एक भाग का फ़ोटो दिग्दर्शित है !

ठीक प्रथम श्रेणी का है। ध्रुव तारा प्राय. ठीक द्वितीय श्रेणी का है। अन्य तारों की श्रेणियाँ इनसे तुलना करके निर्धारित की जा सकती है।

कोरी आँख से छठवी श्रेणी तक के तारे दिखाई पड़ने हैं। एक इच के दूरदर्शक से नवी श्रेणी तक के तारे दिखलाई देते हैं, और १०० इच वाले दूरदर्शक से उन्नीसवी श्रेणी तक के तारे दिखलाई पड़ते हैं।

तारों की चमक का अनुमान करने के लिए पहले एक प्रसिद्ध वेधशाला मे महिलाएँ रक्खी गई थी, वे दिनभर तहखाने मे रहा करती थी, जिसमे उनकी आँखों को दिन के प्रचड प्रकाश से कोई हानि न पहुँचे। परतु अब तो फोटो खीचकर और प्लेट पर उतरे चित्र के व्यास को या घनत्व को नापकर तारों की चमक का अनुमान किया जाता है। चित्र के व्यास या घनत्व और तारे की चमक के बीच का सबध स्थापित करने के लिए ऐसे यत्रों का प्रयोग किया जाता है, जिनमे बिजली से प्रकाशित एक बिंदु कृत्रिम तारे का काम देता है। वास्तविक तारे को दूरबीन से देखते हैं और पूर्वोक्त कृत्रिम तारे से उसकी तुलना करते हैं। बिजली घटा-बढाकर या अन्य रीति से कृत्रिम तारे को इतना चमकीला किया जाता है, जितना वास्तविक तारा रहता है और तब बिजली की मात्रा के अनुमान (या अन्य किसी उपयुक्त रीति) से तारे की चमक ज्ञात हो जाती है।

तारो की चमक नापने मे सबसे अधिक कठिनाई उनके रग के कारण होती है। बहुत-से तारे कुछ ललछौह होते हैं, और बहुत-से कुछ निलछौह, और यह कहना कि दो विभिन्न रग के लगभग एक चमक के तारो मे से कौन-सा तारा वस्तुतः अधिक चमकीला है कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधारण प्लेटों पर फोटो लेने से एक उत्तर प्राप्त होता है, तो पैनक्रोमैटिक प्लेटों पर फोटो लेने से या आँख से देखने पर कुछ और ही। इन उत्तरो का समाधान करने के बदले ज्योतिषी दोनो के अतर को 'रग-सूचक' (कलर-इक्वेशन या कलर-इडेक्स) कहता है और उसे तारे की ललाई या नीलेपन को इगित करने के लिए प्रयुक्त करता है। इस प्रकार केवल शब्दों के बदले अर्थात् चटक लाल, लाल फीका, लाल पीला, इत्यादि के बदले ज्योतिषी को सख्याएँ मिल जाती हैं। जब रग-सूचक सख्याओं का विश्लेषण किया जाता है और इसकी जाँच की जाती है कि कितने और किन-किन तारो की रग-सूचक सख्याएँ क्या-क्या हैं तो पता चलता है कि तारों को वर्णपट के क्रम में रखने पर उनके रगो मे धीरे-धीरे प्रायः लगातार अतर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि रग के हिसाब से भी तारे क्रमबद्ध किए जा सकते है और साधारणतः रग के हिसाब से तारो का विकास-क्रम प्रायः वही निकलता है जो वर्णपट के क्रम से। ऊपर जिस चमक का उल्लेख किया गया है, वह 'प्रत्यक्ष चमक' है, परतु यह न समझना चाहिए कि यदि तारे सब एक ही दूरी पर रक्खे जा सकते, तब भी उनकी चमक वैसी ही दिखलाई पड़ती जैसी उनकी प्रत्यक्ष चमक है। यदि तारे सब एक ही दूरी पर रक्खे जा सकते तब भी उनकी चमकों मे अतर दिखलाई पडता, क्योंकि विभिन्न तापक्रम आदि के कारण कोई तारे बहुत चमकीले हैं, कोई कम। इस चमक को 'वास्तविक चमक' कहते है। प्रत्यक्ष चमक तारे की दूरी और वास्तविक चमक दोनो पर निर्भर है। यदि अधिक वास्तविक चमकवाला तारा हमसे बहुत दूर हो तो स्वभावतः उसकी प्रत्यक्ष चमक बहुत कम हो जायगी। तारे की प्रत्यक्ष चमक और दूरी ज्ञात रहने पर वास्तविक चमक की गणना तुरत की जा सकती है।

तारों की दुनिया

यदि हम यह गिन सकते कि किस चमक के कितने तारे आकाश मे है तो हमे कई बातों का पता चल सकता। परतु मद प्रकाशवाले ऐसे तारे, जो केवल बड़े दूरदर्शक से ही देखे जा सकते हैं, इतने अधिक है कि उनके गिनने मे हजारों वर्ष लगेगे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हॉलैंड के ज्योतिषी कैपटाइन (Kapteyn) ने 'चुने हुए क्षेत्र' नामक अपनी प्रसिद्ध रीति निकाली। कैपटाइन ने सारे आकाश से २०६ छोटे-छोटे क्षेत्र बानगी की तरह चुन लिये और प्रस्ताव किया कि ससार की विविध वेधशालाएँ आपस मे इन क्षेत्रो को बॉट ले और उनमे स्थित तारो की गिनती, चमक, आदि का सच्चा पता लगाएँ। कैपटाइन को प्रायः सभी बड़ी वेधशालाओं का सहयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार ज्योतिषियों को बहुत-सी बातो का पता चला।

सबसे विचित्र बात तो यह ज्ञात हुई कि तारे सर्वत्र एक रूप से नही बिखरे है। गणित से पता चलता है कि यदि तारे समान रूप से बिखरे रहते तो तारो की चमक-सूचक सख्या मे दो का अतर पडने पर तारों की सख्या सोलह गुनी हो जानी चाहिए थी। उदाहरणतः, यदि तारे समान रूप से बिखरे है तो आकाश मे हमे जितने तारे १ से १०वी श्रेणी तक के दिखलाई पड़ते हैं, उनकी सख्या १ से ८ वी श्रेणी तक के तारो की सख्या की सोलह गुनी होनी

चाहिए; परंतु गिनने पर पता चलता है कि आठवीं श्रेणी तक के तारों की संख्या लगभग २३ हजार है और दसवीं श्रेणी तक के तारों की संख्या केवल १६६ हजार। इससे यह परिणाम निकलता है कि दूरी पर तारे इतने घने नहीं छिटके हैं जितने हमारे पास में। इसके अतिरिक्त, आकाश-गंगा की दिशा में तारे बहुत दूर तक मिलते हैं, और उससे समकोण बनाती हुई दिशा में तारों की संख्या शीघ्र क्षीण होने लगती है। इन सब बातों पर विचार करने से निष्कर्ष यह निकला है कि जो तारे हमें दिखाई पड़ते हैं वे सीमित दूरी तक ही फैले हैं, अनंत दूरी तक नहीं; और उनका समूह कुछ चिपटा, बाटी या पेड़े के रूप में है, गेंद की तरह गोल रूप में नहीं। हमारा सौर परिवार इस बाटी के प्रायः केंद्र पर है। इसी-लिए हमें आकाश में मेखला के रूप में तारों से खचाखच भरी आकाशगंगा दिखाई पड़ती है। आकाशगंगा हमारी बाटी के धरातल में है। इससे लंब दिशा में तारे थोड़ी ही दूरी तक हैं; इस-लिए उधर अधिक तारे नहीं दिखलाई पड़ते। इस बात का समर्थन कई अन्य युक्तियों से भी हुआ है और अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस बाटी में तारों की आबादी समान रूप से घनी नहीं है। केंद्र के पास आबादी अधिक है; केंद्र से बाहर की ओर बढ़ने पर धीरे-धीरे जनसंख्या कम हो जाती है। तारों की संख्या इस प्रकार धीरे-धीरे कम होती है कि बाटी की कोई तीक्ष्ण सीमा नहीं है। इस बाटी का व्यास उसकी मोटाई का लगभग पाँच गुना है।

इस बाटी में छिटके हुए सब तारों को सामूहिक रूप से मंदाकिनी-संस्था कहते हैं। गणना से पता चलता है कि हमारी मंदाकिनी-संस्था में कुछ नहीं तो १,००,००,००,००,००० तारे होंगे। इतनी बड़ी संख्या की कल्पना कठिन
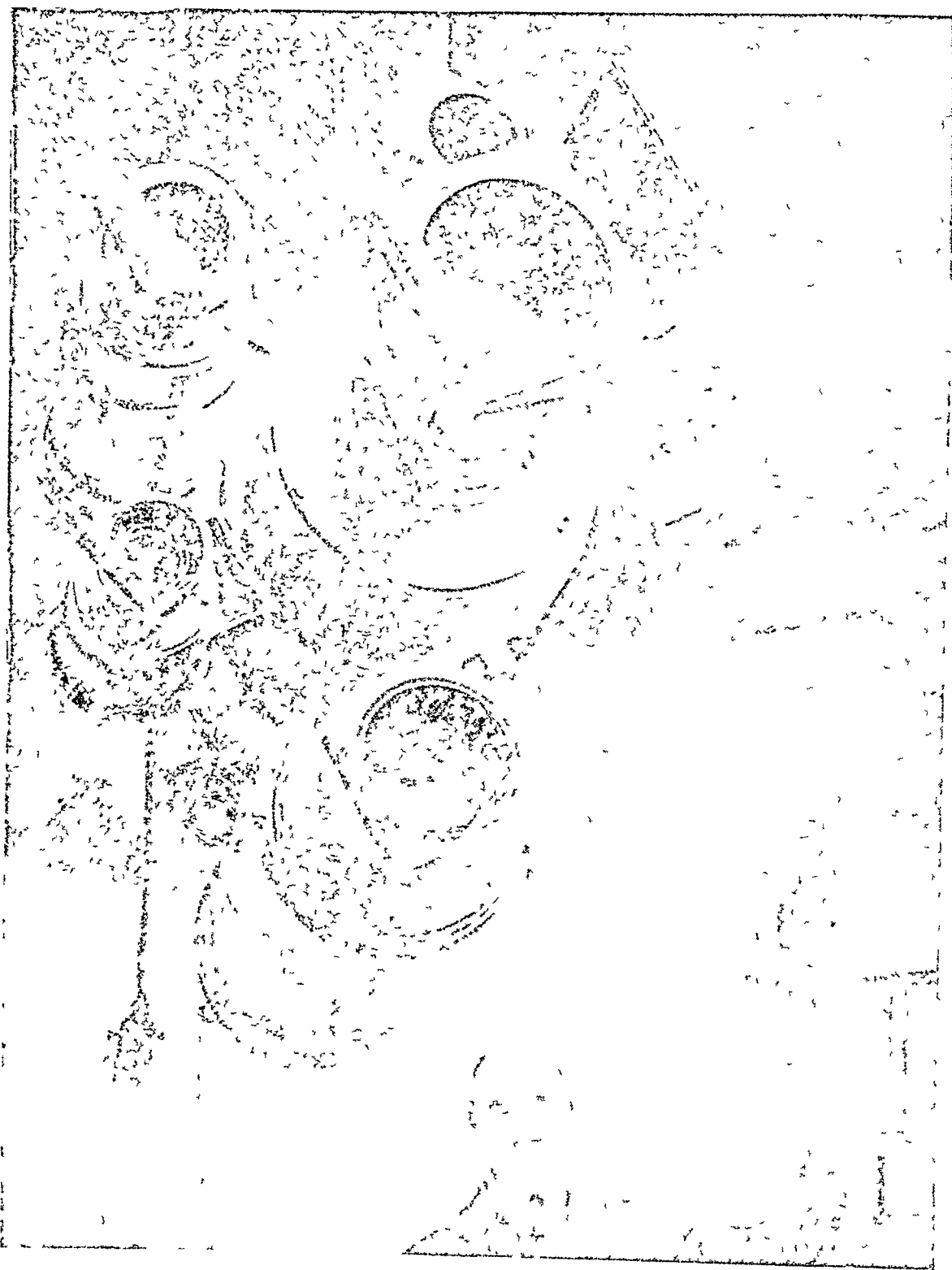
तारों के अध्ययन में अमूल्य सहायता देनेवाला एक दूरदर्शन-कैमेरा

फोटो लेने का यह भीमकाय यंत्र सुप्रसिद्ध नार्मन लाक्यर वेधशाला में प्रस्थापित है। इस विशाल यंत्र में विभिन्न फोकस-लंबाइयों के चार बड़े कैमेरा लगे हुए हैं, जो तारों का फ़ोटो लेते समय लंबा प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) देने के लिए तारों की गति के साथ-साथ सूक्ष्मतापूर्वक घड़ी के काँटे की तरह घूमते रहते हैं।

है। प्रथम बार तो ऐसा जान पडता है कि कोरी आँख से दिखलाई पडनेवाले तारे ही असख्य होगे। परन्तु गिनकर देखा गया है कि कोरी आँख से एक समय मे ३,००० से अधिक तारे कभी दिखलाई नही पडते। सपूर्ण आकाश मे कुल ६००० तो तारे ही देख पड़ते हैं और हमे एक बार मे आधे से अधिक आकाश दिखलाई नही पडता। गिनने को कौन कहे, इन ६००० तारो के नाम या नबर पडे हैं और उनकी सूची छपी है। अब अपनी मदाकिनी-सस्था के तारो की सख्या की कल्पना करने के लिए यदि हम सोचे की आकाश मे दिखलाई पड़नेवाले ३००० तारो मे से प्रत्येक फूटकर अपने ही बराबर ३००० तारो मे प्रस्फुटित हो जाता है तो भी हमे कुल ९०,००,००० ही तारे मिलेगे ! मदाकिनी-सस्था के १ खरब तारो की सख्या के आगे यह कुछ नही है !

दूरस्थ अगम्य स्थिति 'क' की दूरी नापने के लिए चेत्र-मापक 'ख' और 'ग' नामक दो विभिन्न विन्दुओं पर अपना यंत्र लगाकर कोण 'कखग' और कगख' को नाप लेगा। तब रेखा 'खग' पर त्रिभुज 'कखग' निर्मित कर वह आसानी से भुजा 'खक' या 'गक' नाप लेगा।

उपरोक्त सिद्धान्त पृथ्वी से तारो की दूरी नापने के लिए भी काम मे लाया जाता है। इसके लिए काफी लंबी आधार-रेखा चाहिए, जो अपनी कक्षा के वृत्त मे पृथ्वी की छ महीने के अंतर की दो विभिन्न स्थितियों के बीच के साढे अठारह करोड़ मील के फासले के रूप मे मिल जाती है। इस विशाल आधार-रेखा 'खग' के दोनों छोरों से क्रमशः कोण 'कखग' और 'कगख' का नाप मालूम करके उपरोक्त पद्धति से त्रिभुज 'कखग' का निर्माण कर भुजा 'खक' या 'गक' की लंबाई मालूम कर सकते है। यही तारे 'क' की दूरी होगी। विशेष जानकारी के लिए अगले पृष्ठ का मैटर पढ़िए।

अँधेरी रात मे उजाला

अँधेरी रात मे भी आकाश के स्वच्छ रहने पर, काफी प्रकाश रहता है। यह प्रकाश आता कहाँ से है ? अनुसधान से पता चला है कि इस प्रकाश का केवल छठवाँ भाग तारो से आता है, शेष राशीचक्र-प्रकाश से (दे० हिंदी विश्व-भारती, पृष्ठ ६२२), और हमारी पृथ्वी के वायुमडल के निजी वैद्युत् प्रकाश से। तारो से जितना प्रकाश हमे मिलता है उसका केवल पाँचवाँ भाग ही हमे आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारो से मिलता है, शेष उन तारो से मिलता है, जो इतने मद है कि हमे पृथक्-पृथक नही दिखलाई पडते।

तारे अचल नहीं हैं

सब ग्रह तारो के बीच मे चलते रहते हैं, इसलिए पाश्चात्य लोग प्राचीन समय मे उन्हे 'चल तारे' कहकर पुकारते थे और साधारण तारों को वे 'अचल तारे' कहते थे। परन्तु सूक्ष्म वेधो से पता चलता है कि तारे अचल नही हैं। यदि तारो का फोटो आज किसी बड़े दूरदर्शक से खींचा जाय और उसकी तुलना पचीस-तीस वर्ष पहले खीचे गए इन्ही तारो के फोटो से की जाय तो तुरन्त पता चलता है कि तारे स्थिर नही हैं, उनमे निजी गति है। केवल अत्यन्त दूर होने के कारण ही वे हमे स्थिर जान पड़ते हैं। वस्तुतः वे बड़े वेग से दौड़ते रहते है। यदि किसी तारे की दूरी और निजी गति हमे ज्ञात हो तो उसका वेग जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त पर तारो के वर्णपट मे दिखलाई पड़नेवाली काली रेखाओं की स्थितियो से भी तारो का वेग जाना जा सकता है। यह

बताया जा सकता है कि किस वेग से वे हमारे ओर आ रहे हैं या हम से दूर जा रहे हैं। इन रीतियों से पता चला है कि अधिकाश तारे वस्तुतः भयानक वेग से दौड़ रहे हैं।

तारों की दूरी कैसे नापी जाती है

तारों की दूरी उसी रीति से नापी गई है जिससे क्षेत्र-मापक (सर्वे करनेवाला) दूरस्थ अगम्य वस्तुओ की दूरी नापता है। उदाहरण के लिए पृष्ठ २५७० का ऊपरी चित्र देखिए। यदि 'क' पर कोई वस्तु हो, जैसे पहाड़ी की चोटी, जो जगल नदी आदि के कारण अगम्य हो, और यदि क्षेत्रमापक को उसकी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाना हो तो वह 'ख' और 'ग' दो बिन्दुओ को चुनेगा और पारी-पारी से वहाँ अपने यत्र को लगाकर कोण 'ख' और कोण 'ग' को (अर्थात् कोण 'कखग' और कोण 'कगख' को) नाप लेगा। फिर वह सरल रेखा 'खग' की लबाई को भी नाप लेगा। यही सरल रेखा उसकी 'आधार-रेखा' है और कोण 'ख' और कोण 'ग' उसके आधार-कोण हैं। इन तीनों के ज्ञात हो जाने पर वह साधारण ज्यामिति की रीति से त्रिभुज 'कखग' का चित्र बना सकेगा और तब भुजा 'खक' तुरन्त नापी जा सकेगी। इस प्रकार 'ख' से अगम्य वस्तु 'क' की दूरी तुरन्त ज्ञात हो जायगी।

तारों की गिनती करने का यंत्र

इस यंत्र पर दूरदर्शक-कैमेरा द्वारा लिये गये तारों के फ़ोटो की प्लेट लगाकर सूक्ष्मदर्शक द्वारा तारों की गणना की जाती है।

सूर्य और तारों की दूरियाँ भी ठीक इसी सिद्धान्त पर नापी गई हैं, परन्तु तारो के लिए विशेष कठिनाई इस बात मे पड़ती है कि हमे काफी बड़ी आधार-रेखा नही मिल पाती। यदि हम अपनी पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भी चले जायँ तो हमें कुल ८००० मील की दूरी मिलेगी और इतने से काम नही चल सकता। इतनी छोटी आधार-रेखा रहने पर निकटतम तारे के लिए भी उसकी दूरी आधार-रेखा की ३,००,००,००,००० गुनी होगी। इस प्रकार त्रिभुज 'कखग' मे यदि 'खग' को १ इच का रखा जायगा तो 'कख' की लबाई ५०,००० मील होगी। ऐसे त्रिभुज से कोई प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता, क्योकि ऐसे त्रिभुज से आधार-कोण की नाप मे नाममात्र की त्रुटि रहने पर तारे की दूरी शून्य से लेकर अनन्त दूरी तक चाहे कुछ भी निकल सकती है। अतएव पृथ्वी के व्यास की आधार-रेखा से हमारा काम नही चल सकता। परन्तु हम एकदम लाचार नही हैं। एक वर्ष मे पृथ्वी सवा नौ करोड़ मील के अर्द्धव्यास के वृत्त मे चक्कर लगाती है और इसलिए छः महीने मे अपने स्थान से २ × सवा नौ करोड़, अर्थात् साढ़े अठारह करोड़ मील हट जाती है। इस प्रकार हमे साढ़े अठारह करोड़ मील लंबी आधार-रेखा मिल जाती है। सच पूछा जाय तो इतनी लम्बी आधार-रखा भी पर्याप्त रूप से बड़ी नहीं है, तो भी सावधानी से काम करने पर इस आधार-रेखा से निकट-तम डेढ़ दो हजार तारो की दूरी नापी जा सकती है। त्रिभुज 'क ख ग' मे आधार-कोण 'ख' और 'ग' के ज्ञात हो जाने पर कोण 'क' का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि —जैसा सभी स्कूली लड़के अपनी ज्यामिति की पुस्तकों से जानते हैं—त्रिभुज के तीनो कोणो का योग दो समकोण के बराबर होता है। परतु ज्योतिषी दोनो आधार-कोणों को नापने के बदले एक ही आधार-कोण को नापता है और वह अगम्य वस्तु पर बने कोण को—कोण 'क' को—सीधे नाप लेता है। वास्तविक कठिनाई इसी कोण को नापने मे पड़ती है। इसे सूक्ष्मता से नापने के लिए वह तारे का फोटोग्राफ अपने अच्छे-से-अच्छे दूर-दर्शक से उपयुक्त अवसर पर लेता है और तब वह छः महीने बाद फिर उसी तारे का फोटोग्राफ लेता है। 'ख क' की दिशा 'ग क' से भिन्न है, इसी प्रकार तारे की

दिशा भी छः महीने वाद भिन्न हो जाती है। फलतः फोटोग्राफ मे तारा पहलेवाले स्थान से कुछ हटा हुआ दिखलाई पड़ता है। कितना हटा है, इसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा फोटो की प्लेटों को देखकर नाप लिया जाता है। इस नाप से प्रथम और द्वितीय वेधो के अवसरो पर तारे की दिशाओ का अतर ज्ञात हो जाता है, अर्थात् त्रिभुज 'क ख ग' मे कोण 'क' ज्ञात हो जाता है। ज्योतिषी दूरी 'ख ग' और कोण 'ख' जानता ही है, इसलिए त्रिभुज 'क ख ग' बना सकता है और तारे की दूरी को चित्र से जान सकता है (या त्रिकोणमिति से गणना कर सकता है)।

सिद्धान्त तो सरल है, परतु इसे क्रियात्मक रूप मे परिणत करने मे कई कठिनाइयाँ पडती हैं। छः महीने मे तारे की दिशा मे साधारणत. इतना सूक्ष्म अतर पडता है कि फोटोग्राफो मे तारे की स्थितियों की दूरी में मनुष्य के वाल की मोटाई उतना भी अतर नही पड़ता। बहुधा वाल की मोटाई के सौवें भाग से भी कम विचलन उत्पन्न हुआ करता है। इसलिए फोटो की प्लेट पर तारे के विचलन को नापना बाल की खाल खीचने से भी अधिक दुस्तर है।

फिर फोटो मे तारे का विचलन पृष्ठभूमि के अनेक मद तारों के चित्रों के हिसाब से नापा जाता है। परतु साधारणतः इष्ट तारा इन पृष्ठभूमि वाले तारो से चमकीला होता है और इसलिए उसका चित्र अन्य तारो के चित्रो की अपेक्षा कही अधिक बडा* उतरता है। यत्र आदि की त्रुटियों के कारण चित्र मे तारा पूर्णतया गोल भी नही रहता। इसलिए इसके केन्द्र का ठीक-ठीक पता भी नही चलता, और जब केन्द्र का ही पता नही तो यह कैसे नापा जाय कि दोनो चित्रों मे केन्द्र ठीक एक ही स्थान पर है या हटा हुआ, और यदि हटा हुआ है तो कितना? अनेक चेष्टा के बाद इस कठिनाई से अत मे मुक्ति मिल ही गई, परतु विचित्र ढग से। अब फोटो लेते समय प्लेट के उस स्थान के सामने जहाँ चमकीले तारे की मूर्त्ति बनती है, एक छोटी-सी फिरकी लगा दी जाती है, जो नाचती रहती है। इस फिरकी में उचित नाप की एक झँझरी कटी रहती है, जिसके द्वारा होकर ही प्रकाश प्लेट तक पहुँच सकता है। फिरकी के नाचते रहने से फिरकी का छेद कभी प्रकाश के मार्ग मे पड़ जाता है, कभी नही। इस प्रकार चमकीले तारे का पूरा प्रकाश प्लेट तक नहीं जा पाता, केवल एक अश ही पहुँचता है। झँझरी की नाप ऐसी रक्खी जाती है कि चमकीले तारे का चित्र पृष्ठभूमि के तारो से अधिक चटक न उतरे। इस प्रकार अनेक कठिनाइयों पर बुद्धि से विजय पाकर आधुनिक ज्योतिषी ने तारों की प्रायः अनंत दूरी को नापने मे, इस छोटी-सी पृथ्वी से बाहर गए बिना ही, सफलता प्राप्त की है। अचरज की बात है कि नन्हा-सा मनुष्य अपने बुद्धि-बल से क्या-क्या कर सका है!

ऊपर की रीति से केवल निकटतम डेढ़-दो हजार तारों की ही दूरियाँ नापी जा सकती हैं; शेप तारे इतनी दूर हैं कि उनकी दिशा मे कोई अतर पड़ता हुआ नही दिखलाई पड़ता, चाहे हम उन्हे यहाँ से देखें, चाहे साढ़े अठारह करोड़ मील हटकर! छोटे बच्चे सौ दो सौ गज दौड़ते हैं और कहते हैं कि "चदा मामा हमारे साथ-साथ दौड़ता है", क्योंकि वे देखते हैं कि सौ गज बढ़ जाने पर भी चद्रमा उसी स्थिति में ही दिखलाई पड़ता है; अन्य पार्थिव वस्तुओं के समान उसकी दिशा नही बदलती। अधिकाश तारो के लिए साढ़े अठारह करोड़ मील भी बच्चों का खेलवाड़-सा ही है। इतने में उनकी दिशा नाममात्र भी नही बदलती। कुछ प्राचीन पाश्चात्य ज्योतिषियों ने पृथ्वी को अचल इसलिए भी बताया था कि यदि पृथ्वी चलती होती तो तारों की दिशाओं मे अतर पडता दिखलाई पड़ता! वे बेचारे क्या जानते थे कि तारों की दूरियों के आगे पृथ्वी-कक्षा का व्यास पासग भी न था!

दूरस्थ तारों की दूरियो का अनुमान उनकी प्रत्यक्ष और वास्तविक चमकों पर विचार करके किया जाता है। वास्तविक चमक का ज्ञान तारों के वर्णपट के अध्ययन से होता है। इसमे सदेह नही है कि तारों की दूरियों का आधुनिक अनुमान प्रायः सत्य है।

बीसवी शताब्दी के आरभ मे तारो के नाप, तापक्रम, घनत्व आदि के विषय मे कुछ ज्ञात नही था। परतु आधुनिक खोज से हमारे ज्ञान मे बडी वृद्धि हुई है और अब हम तारों के बारे मे इतनी और ऐसी-ऐसी बाते जानते हैं कि जिनकी कल्पना भी प्राचीन ज्योतिषियो के लिए असभव थी।

गुरुत्वाकर्षण

पकने पर आम गिरता है तो पृथ्वी की ही ओर क्यों गिरता है? वह उड़कर आकाश की ओर क्यो नही चला जाता या पेड़ से टूटकर पेड़ के आसपास ही हवा मे टिका क्यों नही रह जाता? ये प्रश्न पागलो के प्रलाप

* यद्यपि चमकीला तारा भी बिन्दु सरीखा रहता है, तो भी हमारे वायुमण्डल की परिवर्त्तनशीलता, दूरदर्शक की त्रुटियों तथा फोटो के प्लेट के अवगुणों के कारण तारा जितना ही अधिक चमकीला होता है उसका चित्र उतना ही अधिक बड़ा उतरता है।
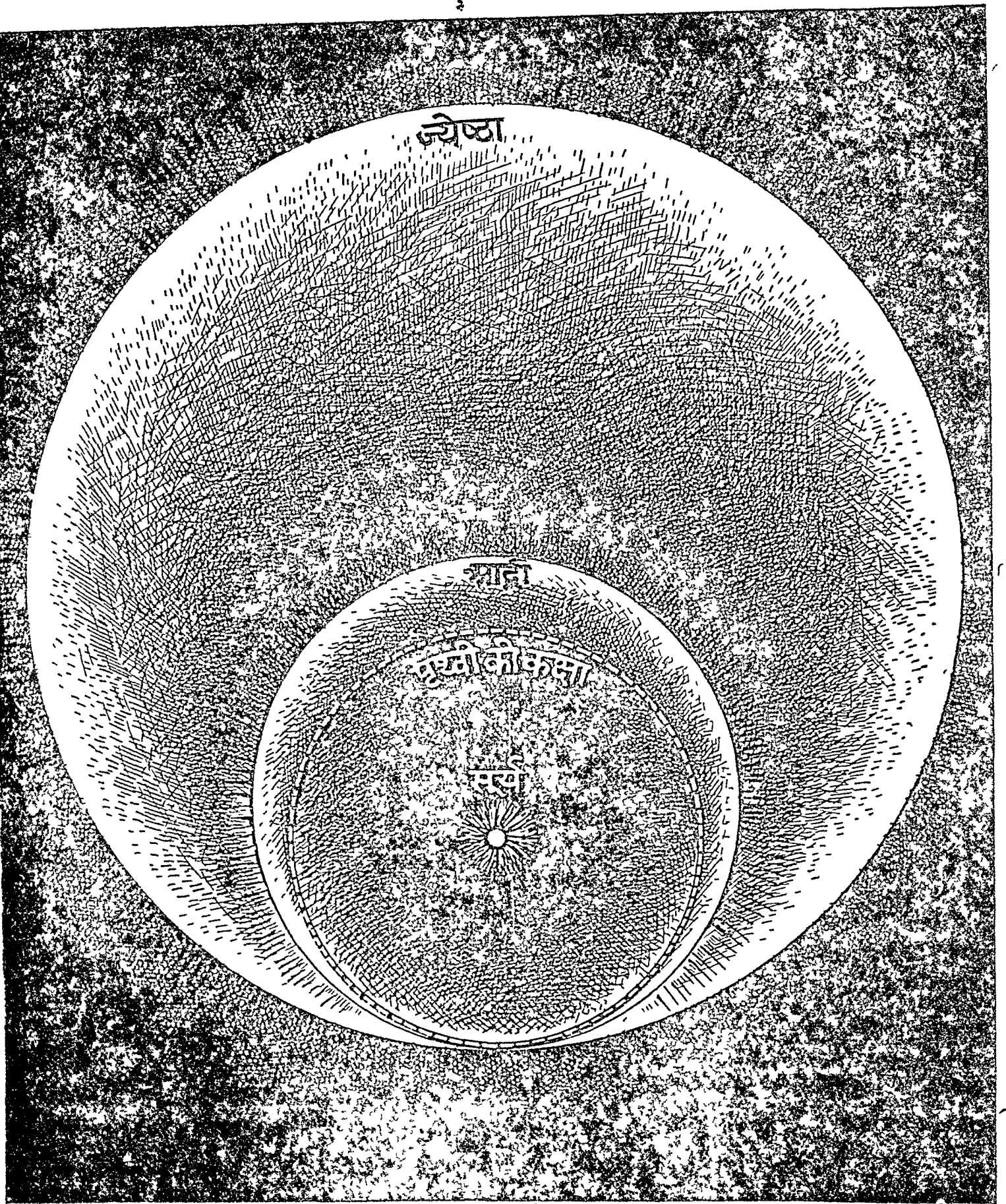
'दैत्य' तारों के दीर्घ आकार का कुछ-कुछ अनुमान आप इस चित्र द्वारा कर सकते हैं ! चित्र में ज्येष्ठा (Antares) और आर्द्रा (Betelgeux) नामक दो भीमकाय तारों की सूर्य के आकार मे तुलना की गई है । ज्येष्ठा तो इतना बडा है कि उसमे हमारे सूर्य के बराबर कई करोड तारे आ सकते है और आर्द्रा की परिधि में हमारी पृथ्वी की सारी कक्षा की परिधि समा सकती है ! इतने विशाल पिंडों के आकार-प्रकार की कल्पना करना ही हमारे लिए कठिन है, परन्तु आज के ज्योतिपी उनके व्यासों को नापने मे सफल हुए है और उन्होंने इन आकाशीय पिडों का घनत्व भी जान लिया है । इन तारों का व्यास नापने के लिए 'इंटरफिअरोमीटर' नामक जिस यंत्र का प्रयोग किया जाता है, उसका चित्र पृ० २५७५ पर दिया गया है । बृहद् दैत्य तारों में ज्येष्ठा का व्यास सूर्य से ४५० गुना, 'क शौरी' नामक तारे का ४०० गुना, आर्द्रा का ३०० गुना और 'द तिमि' का ३०० गुना नापा गया है । जहाँ कुछ तारे इतने विशाल है, वहाँ कुछ अत्यधिक छोटे भी हैं। वे 'वामन तारे' कहलाते है । इन वामन तारों का घनत्व इतना अधिक है कि आश्चर्य होता है । उनमें से कई का घनत्व पानी से ५०००० गुना तक है !

जैसे सभवतः जान पडे, परन्तु ऐसे ही प्रश्नोपर विचार करने पर वह नियम मिला जिससे तारे भी तौले जा सके। इगलैड का प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन इस विचार मे मग्न होकर कि चद्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा क्यो करता है—वह सरल रेखा मे क्यो नही चलता—एक दिन अपनी वाटिका मे बैठा था कि इतने मे एक सेब पेड से टूटकर पृथ्वी पर गिर पडा। बस, न्यूटन को अपने प्रश्नो का उत्तर मिल गया! उसने निश्चय किया कि जो शक्ति सेब को पृथ्वी की ओर खीचती है वही शक्ति चद्रमा को भी पृथ्वी की ओर खीचती है और उसे सरल रेखा मे न चलने देकर अपने चारो ओर नचाती है, इतना ही नही, वही शक्ति पृथ्वी को भी सूर्य की प्रदक्षिणा करने के लिए बाध्य करती है। वही शक्ति ग्रहो को भी सूर्य के चारो ओर प्रेरित करती है और उपग्रहो से ग्रहो का चक्कर कटवाती है। इस शक्ति का नाम न्यूटन ने ग्रैविटी (गुरुत्वाकर्षण) रक्खा। न्यूटन तो अपने अनुसधानो के कारण अमर हो ही गया है, साथ ही घलुए मे सेब का वह पेड़ भी अमर हो गया, जिससे सेब गिरा था! उसकी शाखा का एक टुकडा रॉयल ऐस्ट्रानॉमिकल सोसायटी के भवन मे सुरक्षित है।

न्यूटन ने गणित और वेध के बल पर गुरुत्वाकर्षण के जिन नियमो का पता लगाया, वे यो है—

विश्व के प्रत्येक दो पिड एक दूसरे को सदा आकर्षित करते रहते हैं। एक पिड दूसरे को जितने बल से खींचता है, ठीक उतने ही बल से दूसरा पिड भी पहले को खीचता है। इस बल की मात्रा पिंडो की रासायनिक बनावट पर निर्भर नहीं है, केवल उनके द्रव्यमानो और उनकी दूरी पर निर्भर है। दोनो के द्रव्यमानो का गुणनफल जितना ही अधिक होगा, आकर्षण उतना ही अधिक होगा। दोनों पिडो के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी, आकर्षण उसके वर्ग के अनुपात मे कम होगा। उदाहरणतः यदि दूरी दूनी हो जायगी तो आकर्षण चौथाई हो जायगा, दूरी तिगुनी हो जायगी तो आकर्षण नवम अश ही रह जायगा।

गुरुत्वाकर्षण की महत्ता इसमे है कि यह सर्वव्यापी है। एक ही नियम पृथ्वी पर भी लागू है, सूर्य पर भी, और तारो पर भी। गुरुत्वाकर्षण से कोई बच नही सकता। सर्दी और आँच से हम अपने कपड़ो के बल पर बच सकते हैं, शब्द से हम शब्द-अभेद्य कोठरी मे घुसकर छुटकारा पा सकते है, प्रकाश से मुक्ति मिलना और भी सरल है—केवल दरवाजे और खिडकियाँ बद कर देने से ही पूर्ण अधकार उत्पन्न किया जा सकता है, और धातु के पिजड़े मे बैठकर हम विद्युत् से भी बचाव कर सकते है, परतु गुरुत्वाकर्षण से बचने के लिए कोई उपाय अभी तक नहीं निकला है। यदि ऐसी कोठरी होती, जिसके भीतर गुरुत्वाकर्षण न होता तो वहाँ हाथ से

(ऊपर) वाटिका मे पेड पर से सेब को गिरते देखकर न्यूटन द्वारा गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त की खोज।

(दाहिनी ओर) क्या आप जानते है कि जब आप ऊपर उछलते हैं तो आपके धक्के से पृथ्वी नीचे को धँसती है? यह न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण और गतिशास्त्र-संबंधी उस नियम का वैचित्र्य है, जिसके अनुसार प्रत्येक क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती है! उछलने पर जब आप पृथ्वी से ऊपर जाते है तो पृथ्वी आपसे नीचे की ओर जाती है! फिर पृथ्वी जब आपको अपनी ओर आकर्षित करती है तो आप धमाक से नीचे गिरते है, परन्तु ठीक उतने ही बल से आप भी धरती को अपनी ओर खीचते हैं! वस्तुत: गुरुत्वाकर्षण का यह नियम इतना सर्वव्यापी है कि यदि हम एक उँगली भी उठाएँ तो उससे भी सारे विश्व मे एक हलचल होती है, चाहे वह नगण्य ही हो!

छूटने पर प्याली भूमि पर न गिरती और हम स्वयं वैसे ही हल्के लगते, जैसे चरखी पर चढ़कर नीचे गिरते समय !

आइन्स्टाइन की खोजों के कारण न्यूटन के नियमों में अब हमें कुछ त्रुटियाँ दिखलाई पड़ती हैं, परंतु आइन्स्टाइन और न्यूटन के नियमों में इतना सूक्ष्म अंतर है कि प्रायः सभी साधारण कामों के लिए उसकी अवहेलना की जा सकती है ।

गुरुत्वाकर्षण-नियमों के कुछ विचित्र परिणाम

गुरुत्वाकर्षण-नियमों से कुछ विचित्र परिणाम निकलते हैं। एक तो यह है कि आप जब चाहे तब पृथ्वी को डिगा सकते हैं ! कैसे ? जब आप उछलते हैं तो आप ऊपर जाते हैं, परंतु पृथ्वी अचल नहीं रह पाती, वह भी नीचे जाती है ! यह न्यूटन के उस गतिशास्त्र-संबंधी नियम का परिणाम है जो कहता है कि क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती हैं । जब आप अपनी मुड़ी हुई टाँगें एकाएक सीधी करके उछलते हैं तब जितना बल आपके शरीर पर लगता है उतना ही पृथ्वी पर भी ! आप ऊपर जाते हैं तो पृथ्वी नीचे जाती है ! आपके शरीर के द्रव्यमान* की अपेक्षा पृथ्वी का द्रव्यमान बहुत अधिक है, इसी से पृथ्वी आपकी अपेक्षा बहुत कम चल पाती है, परंतु कुछ चलती अवश्य है ।

फिर, जब उछलने पर आप हवा में रहते हैं तो पृथ्वी आपको अपनी ओर आकर्षित करती है, आपमें वेग उत्पन्न होता है और आप धमाक से पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, परंतु साथ-ही-साथ आप भी पृथ्वी को ठीक उतने ही बल से आकर्षित करते हैं और पृथ्वी आपकी ओर खिंच आती है !

वस्तुतः आप एक उँगली भी उठाएँ तो पृथ्वी ही क्या, सारे विश्व में परिवर्त्तन हो जाता है, क्योंकि आपकी उँगली गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अनुसार पृथ्वी, ग्रह, सूर्य और

* वह संख्या जो सूचित करे कि पिंड में कितना द्रव्य है, उस पिंड का द्रव्यमान कहलाती है । मोटे हिसाब से इसे उस पिंड का तौल समझा जा सकता है ।
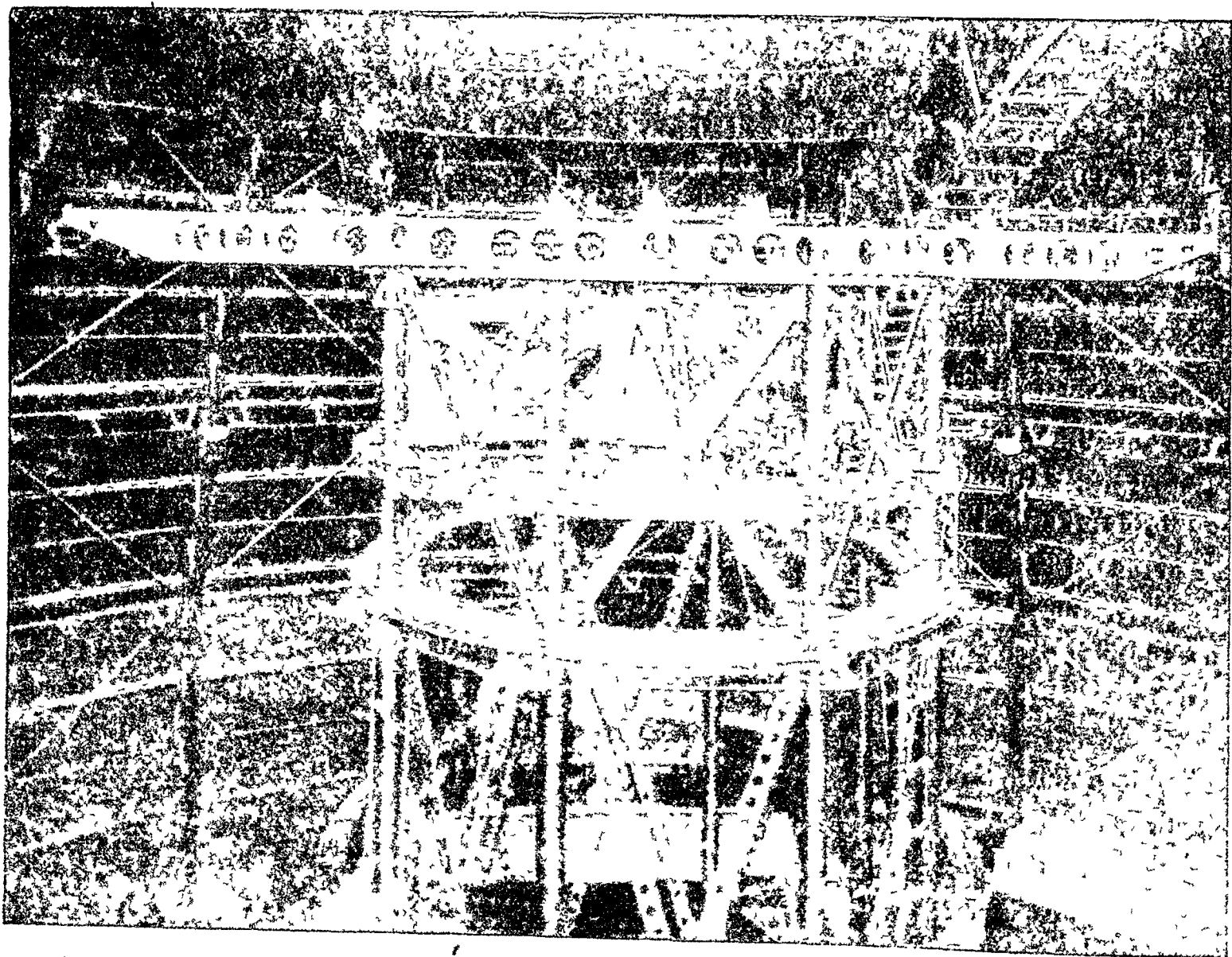
तारों का व्यास नापने के लिए माउण्ट विल्सन के १०० इंची दूरदर्शक के सिर पर बाँधी जानेवाली २० फ़ीट लंबी धरन या 'इंटरफिअरोमीटर' (फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त)

तारों को आकर्षित करती रहती है। उँगली की स्थिति मे परिवर्त्तन होने से विश्व के सब पिडो पर कुछ प्रभाव पड ही जाता है—यह बात दूसरी है कि यह प्रभाव इतना कम होता है कि उसे कोई देख नही सकता।

गुरुत्वाकर्षण की नाप

वैज्ञानिकों ने सीसे के बडे-बडे गोले बनाकर उनके बीच के गुरुत्वाकर्षण को नापा है। अवश्य ही वेध अत्यत सूक्ष्म होते हैं, क्योंकि यदि गोले एक-एक मन के भी हों और उनके केद्रों के बीच की दूरी एक फुट ही रहे तो भी उनके बीच का गुरुत्वाकर्षण-बल १/१३०० रत्ती (एक रत्ती की तौल का कुल तेरहसौवाँ भाग) ही होगा। वैज्ञानिको ने इस सूक्ष्म बल को नापने के लिए ऐसा प्रबध किया कि यह बल स्फटिक के एक लबे परतु बहुत महीन तार को ऐंठ दे। तब यह देखकर कि तार कितना ऐंठ उठा, उन्होंने बल की मात्रा को जान लिया!

इस प्रकार ज्ञात हो गया कि एक मन के पिड को जब कोई दूसरा पिड एक फुट की दूरी से आकर्षित करता है और गुरुत्वाकर्षण-बल १/१३०० रत्ती होता है तो आकर्षण करनेवाले पिड का द्रव्यमान १ मन होता है। तब न्यूटन के नियमों के बल पर उन्होंने गणना की कि पृथ्वी का द्रव्यमान क्या होगा, जब पृथ्वी १ मन के पिड को ४००० मील की दूरी से आकर्षित करती है और गुरुत्वाकर्षण-बल १ मन होता है! स्मरण रहे कि पृथ्वी का केद्र इसकी सतह से ४००० मील पर है, और १ मन सीसे की तौल एक मन इसीलिए है कि पृथ्वी उसे एक मन की तौल के बराबर बल से खीचती है। इस प्रकार पृथ्वी के द्रव्यमान की गणना सुगमता से हो जाती है और पता चलता है कि पृथ्वी का तौल है लगभग १,६०,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००० मन!

सुविधा के लिए वैज्ञानिक इस सख्या को १६×१०^{२२} लिखता है, क्योंकि १६ के बाद इसमे २२ शून्य हैं, परतु यह इतनी बड़ी सख्या है कि इसकी ठीक-ठीक कल्पना हम नही कर सकते!

सूर्य और तारों की तौल

न्यूटन के गतिशास्त्र-सबधी तथा आकर्षण-सबधी नियमों से पता चलता है कि यदि एक पिड, जैसे पृथ्वी, दूसरे पिड, जैसे सूर्य, की प्रदक्षिणा करे तो प्रदक्षिणा-काल, पिडों के बीच की दूरी और उनके द्रव्यमानों के योग के बीच सबध रहता है। इन राशियों मे से सूर्य के द्रव्यमान को छोडकर अन्य सब राशियाँ हमे ज्ञात हैं। इसलिए गणना से पता चल जाता है कि सूर्य पृथ्वी से कितना गुना भारी है। अब पृथ्वी का द्रव्यमान हम जानते हैं, इसलिए सुगमता से ज्ञात हो जाता है कि सूर्य का द्रव्यमान क्या है। इस प्रकार पता चलता है कि सूर्य का द्रव्यमान ५×१०^{२८} मन है।

उपरोक्त रीति से तौल या द्रव्यमान जानना बहुत-कुछ वैसा ही है जैसे दो लडकों को एक दूसरे का हाथ पकड-कर नाचते हुए हम देखें और उनके वेग और उनके बीच की दूरी को देखकर हम पता लगा लें कि लड़के कितने भारी हैं। लडके जितने ही भारी-भरकम होंगे, एक चक्कर मे समय उतना ही अधिक लगेगा। इस दृष्टात और ग्रहादि की प्रदक्षिणा मे अतर केवल इतना ही है कि लडके इच्छानुसार न्यूनाधिक वेग से नाच सकते हैं, परतु आकाशीय पिड इच्छारहित, आकर्षण-सिद्धातबद्ध वेग से ही चक्कर लगा सकते हैं।

आकाश मे कुछ तारे ऐसे हैं, जो वस्तुतः दोहरे हैं। वे इतने निकट हैं कि कोरी आँख से वे हमे साधारण तारे-से दिखलाई पडते हैं, परंतु बडे दूरदर्शक से देखने पर हम उनका सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। उनमे दो गोल पिड होते हैं, जिनमे छोटा पिड दूसरे की प्रदक्षिणा करता रहता है। इन युग्म तारों के बीच की दूरी नापी जा सकती है। उनका प्रदक्षिणा-काल भी हम वेधों द्वारा जानते हैं। इसलिए हम गणना द्वारा ऐसे तारों का द्रव्यमान जान सकते हैं। इस प्रकार पता चला है कि तारों की तौलों मे उतना अतर नही है, जितना उनकी चमक या नाप मे। बहुत थोडे-से ही तारे हमारे सूर्य की तौल के दसगुने से अधिक भारी होंगे, और सूर्य की तौल के दशम अश से कम भारी तारे शायद ही होते हों। हमारा सूर्य साधारण तारे से कुछ अधिक ही भारी है।

तारों की वास्तविक चमक

हम देख चुके हैं कि तारों की तौल मे अधिक विचित्रता नहीं है, परतु उनकी वास्तविक चमक मे महान् अतर देखने मे आता है। कुछ तारे तो ऐसे फीके हैं—उनकी वास्तविक चमक इतनी कम है—कि वे हमे दिखलाई भर दे जाते हैं। वे यदि कुछ ही और फीके होते तो हम उन्हे देख न पाते। दूसरी ओर ऐसे प्रदीप्त तारे भी हैं कि उनके एक वर्ग इंच से निकली आँच दस हजार अश्वबल के इजिन को चालू रख सकती है और राई के बराबर क्षेत्र-फल से निकला प्रकाश एक हजार मोमबत्ती की शक्ति की बिजली-बत्ती को भी मात कर सकता है। विभिन्न तारों को तो जाने दीजिए, युग्म तारों के दोनों तारों की वास्तविक

चमकों में आश्चर्यजनक अंतर रह सकता है। उदाहरणतः हमारे आकाश का सबसे चमकीला तारा, लुब्धक, युग्म तारा है। परंतु उसका प्रायः सब प्रकाश प्रधान तारे से ही आता है। इसका साथी तारा पूरे प्रकाश का दस हजारवाँ भाग भी नहीं देता, क्योंकि उसकी वास्तविक चमक बहुत कम है।

सूर्य की दूरी और प्रत्यक्ष चमक हमें ज्ञात है। इन ज्ञात राशियों के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि सूर्य से हमें उतना प्रकाश मिलता है, जितना ३,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००० मोमबत्तियों से ! परंतु यह न समझना चाहिए कि हमारा सूर्य ही सब से अधिक वास्तविक चमकवाला आकाशीय पिंड है। ऐसे भी तारे हैं, जिनकी वास्तविक चमक सूर्य की अपेक्षा ३,००,००० गुना अधिक है। यदि कहीं हमारा सूर्य उन तारों की तरह चमकीला हो जाय तो हम सब क्षण भर में जलकर भस्म हो जायँ; इतना ही नहीं, पृथ्वी और पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ वाष्परूप में परिणत हो जायँ !

तारों का व्यास नापने की विधि

तारों का व्यास नापने के लिए जिस विधि से काम लिया जाता है, उसका सिद्धान्त इस मानचित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसी सिद्धान्त के बल पर इंटरफिअरोमीटर नामक उस यंत्र की रचना की गई है, जो पृ० २५७५ के चित्र में प्रदर्शित है। प्रस्तुत मानचित्र को समझने के लिए पृ० २५७८ का मैटर पढ़िए।

तारों की चमक

तारों की वास्तविक चमकों में जो अंतर है, वह क्या तारों के तापक्रमों पर निर्भर है, या उनके छोटे-बड़े होने पर, या दोनों कारणों पर ? तापक्रम का ज्ञान हमें तारों के रंग से हो जाता है। लोहार को आग में लोहा तपाते हुए सभी ने देखा होगा और यह भी देखा होगा कि पहले लोहा बिना चमक के रहता है; फिर मंद लाल प्रकाश से वह चमकता है। जब लोहा और तपाया जाता है, तब वह चटक लाल प्रकाश से चमकता है। अधिक तप्त करने पर लोहे से नारंगी और फिर पीला प्रकाश निकलने लगता है। लोहे को साधारण भट्ठी में अधिक गरम करना कठिन है, परंतु सभी ने देखा होगा कि जब बैटरी की शक्ति कम रहती है तब बिजली की बत्ती का तार केवल लाल होकर रह जाता है। जब बैटरी नई रहती है, तब तार सफ़ेद रंग से चमकता है। यदि हम बत्ती के तार को और गरम कर सकते तो वह और भी चमकने लगता और उसके प्रकाश में नीलापन आ जाता।

इससे प्रत्यक्ष है कि चमक के रंग से हम तापक्रम का अच्छा ज्ञान कर सकते हैं। आँका गया है कि मंद लाल प्रकाश से चमकनेवाले तारों का तापक्रम लगभग २,५०० डिगरी फा० होता होगा। पीले तारों का तापक्रम लगभग ५,००० डिगरी फा० होगा। सूर्य का तापक्रम इसका लगभग दूना होगा। तप्ततम तारों का तापक्रम संभवतः ७०,००० डिगरी होगा। ये तापक्रम इतने अधिक हैं कि पृथ्वी पर वैसे तापक्रम किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं। बिजली की भट्ठी का भी तापक्रम ३,००० डिगरी फ़ा० से

अधिक नही हो पाता और कृत्रिम आँचो द्वारा उत्पन्न यही हमारा महत्तम तापक्रम है।

तापक्रम जानने से हमे पता चल जाता है कि तारे के एक वर्ग इच से कितना प्रकाश आता होगा। फिर तारे की वास्तविक चमक हमे ज्ञात है ही। इसलिए गणना द्वारा पता चल जाता है कि तारे का क्षेत्रफल, और इसलिए उसका व्यास, कितना बडा होगा। परतु इस प्रकार की गणना से जो परिणाम निकलता है वह इतना विचित्र है कि विश्वास ही नही होता कि तारे इतने बडे भी हो सकते हैं। उदाहरणतः आर्द्रा नामक तारा इतना बडा है कि उसमे हमारे सूर्य के बराबर कई करोड तारे आ सकते हैं! और यह बात नही है कि हमारा सूर्य आकाश का लघुतम तारा है। इससे बहुत छोटे-छोटे भी तारे हैं। फान मानेन का तारा इतना छोटा है कि उसके बराबर कई लाख तारे हमारे सूर्य मे आ जायँगे और फिर भी कुछ स्थान रिक्त रह जायगा!

तारो की नापो मे इतनी विभिन्नता का रहना सदेह उत्पन्न करने लगा कि गणना मे कहीं भूल तो नही हुई, विशेपकर जब देखा गया कि उनके तौलों मे विशेष अतर नही है। सौभाग्यवश १९२० मे ज्योतिषी बडे तारों के व्यासो को सीधे नापने मे सफल हुए और तब पता चला कि वस्तुतः कुछ तारे अत्यन्त दीर्घकाय है और गणना मे कोई भूल नही हुई है।

तारों का व्यास

जब हारमोनियम के किसी एक परदे को दबाया जाता है, तब एक समान शब्द निकलता है, परतु जब दो समीपस्थ परदो को एक साथ ही दबाया जाता है, तब एक समान ध्वनि निकलने के बदले थरथराता-सा शब्द निकलता है। क्यो? वैज्ञानिक बतलाते हैं कि शब्द वायु मे बनी लहरो के कारण उत्पन्न होता है। जब दो समीपस्थ परदे, जैसे स और कोमल रे, एक साथ दबाये जाते हैं तो दो लहरे निकलती हैं। इन लहरो की लहर-लबाई भिन्न होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कहीं एक लहर की चोटी पर दूसरी लहर की चोटी पडती है, तो कही एक लहर की चोटी पर दूसरी लहर की पेंदी पड जाती है। जब चोटी पर चोटी पडती है, तब शब्द जोरदार और पेंदी पर चोटी पडती है तो धीमा हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार प्रकाश का भी हाल है। उदाहरण के लिए पृ० २५७७ के मानचित्र पर गौर कीजिए। यदि दो दर्पण क और ख पर एक ही तारे से प्रकाश पडे, और तब प्रकाश मुड़कर परदे च छ पर पडे, तो परदे पर समरूप से प्रकाश दिखलाई पडने के बदले ठ पर काली और ट पर सफेद धारी दिखायी पडेगी। इसका कारण यह है कि मार्ग क ट = मार्ग ख ठ है, इसलिये जब क और ख से प्रक्षेपित प्रकाश-किरणे ट पर पहुँचेगी तो वहाँ प्रकाश-तरग की चोटियाँ एक दूसरे पर पडेगी। परतु मार्ग क ठ की लबाई मार्ग ख ठ से अधिक है। यदि इन दोनो मार्गो का अतर ठीक एक तरग-लबाई का आधा हो तो ठ तक पहुँचने पर क से आई तरगों की पेंदियो पर ख से आई तरगो की चोटियाँ पडेगी और इसलिए वहाँ अँधेरा रहेगा।

सफेद और काली धारियो के बीच की दूरी, अर्थात् ट ठ की लबाई, क और ख के बीच की दूरी पर निर्भर है। क ख को छोटा-बडा करके ट ठ को घटाया-बढाया जा सकता है।

ऊपर के वर्णन मे मान लिया गया है कि तारा विंदु-सरीखा है। यदि तारा विंदु के बदले वृत्त हो—उसका व्यास शून्य के बदले अशून्य हो—तो तारे के प्रत्येक विंदु से धारियाँ बनेगी। मोटे हिसाब से यदि हम तारे के दो आधे भागो को दो विंदु समझे तो हम आशा कर सकते हैं कि प्रत्येक आधे भाग से काली और सफेद धारियाँ बनेगी। क या ख से देखने पर तारे के दो आधे भागों की दिशाएँ विभिन्न हैं। इसलिए प्रत्येक आधे भाग से बनी धारियाँ एक-दूसरे से थोड़ा-सा हटकर बनेंगी। अब यदि क और ख के बीच की दूरी इतनी कर दी जाय कि प्रत्येक आधे भाग से बनी धारियों मे से काली धारी काली पर पडे और सफेद धारी सफेद पर, तब तो धारियाँ बहुत स्पष्ट दिखलायी पडेगी। परन्तु यदि क और ख के बीच की दूरी इतनी रक्खी जाय कि काली पर सफेद धारियाँ पड़े तो लीपापोती हो जायगी और धारियाँ मिट जायँगी। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तो क और ख के बीच की दूरी नाप ली जाती है। तब गणना से पता चल जाता है कि तारे के दो आधे भागो के केन्द्रों के बीच की कोणीय दूरी क्या है। इससे तारे का कोणीय व्यास ज्ञात हो जाता है। यदि तारे की दूरी ज्ञात हो तो पता चल जाता है कि तारे का व्यास कितने मील का है।

तारो के व्यासों के नापने का ऊपर वाला सिद्धान्त सरल है और १८९० ई० मे ही इसके लिए आवश्यक यत्र का अन्वेषण हो गया था। परन्तु कई क्रियात्मक कठिनाइयों के कारण सन् १९२० तक किसी तारे का व्यास नही नापा जा सका। उस वर्ष १३ दिसम्बर को आर्द्रा का व्यास नापा

गया। पीछे ६ अन्य तारो का भी व्यास नापा गया। छोटे तारो के व्यास नहीं नापे जा सके हैं, क्योंकि हमारे यंत्र काफी बडे नही हैं। आर्द्रा आदि तारों के व्यासों को नापने के लिए संसार के सबसे बड़े, १०० इंचवाले, दूरदर्शक के सिर पर २० फीट लम्बी एक धरन बाँधी गई थी और इसी धरन के सिरों के पास दर्पण रक्खे गए थे। छोटे तारों के व्यासों को नापने के लिए २० फीट से कही लम्बी धरन की आवश्यकता पड़ेगी, और अभी हमारे पास कोई दूरदर्शक नहीं है, जिस पर इतनी लम्बी धरन लगाई जा सके।

चमक और रंग के आधार पर गणना द्वारा प्राप्त व्यासों और सीधे नापे गए व्यासों मे अच्छी समता है। इसलिए अब कोई दुविधा नही रह गई है। कुछ तारे वस्तुतः अति विशाल हैं। ये दीर्घकाय तारे 'दैत्य' तारे कहलाते हैं। दैत्यों मे भी जो बहुत बड़े हैं वे 'बृहद् दैत्य' तारे कहलाते हैं। छोटे तारे 'वामन' तारे कहलाते हैं। हमारा सूर्य एक वामन तारा है। कुछ दैत्य तारों का व्यास नीचे दिया जाता है:—

नाम	व्यास सूर्य के व्यास से कितना गुना बड़ा
ज्येष्ठा	४५०
कशौरी	४००
आर्द्रा	३००
द तिमि	३००

आश्चर्यजनक घनत्व

इधर दैत्य तारे तो इतने बड़े हैं कि वे गैस के गुब्बारे-से जान पड़ते हैं, उधर वामन तारे इतने ठोस हैं कि विश्वास ही नही होता कि कोई पदार्थ इतना ठोस हो सकता है! हम देख चुके हैं कि तारों की तौल में विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु उनकी नापों में महान् अन्तर है, इतना कि यदि हम दैत्य तारों की तुलना हाथी से करे तो छोटे तारे मच्छड़ से भी छोटे होंगे। इसलिए परिणाम यही निकलता है कि तारों के घनत्व में भी बहुत अन्तर होता होगा। और वस्तुतः जब गणना की जाती है तो आश्चर्य-जनक उत्तर मिलता है। उदाहरणतः लुब्धक के छोटे साथी का घनत्व पानी से पचास हजार गुना भारी है! इस तारे का व्यास और द्रव्यमान हमें ज्ञात है, इसलिए घनत्व की गणना में त्रुटि की संभावना नही है।

पृथ्वी पर सब से भारी द्रव्य प्लैटिनम है। इसका घनत्व २१'४ है, अर्थात् यह पानी की अपेक्षा लगभग साढ़े इक्कीस गुना भारी है। सोना पानी से साढ़े उन्नीस गुना भारी है और सीसा (धातु) लगभग ग्यारह गुना। लुब्धक के साथी तारे का घनत्व पानी से पचास हजार गुना भारी है, तब तो वह बड़ा ही विचित्र पदार्थ होगा। यदि इस वस्तु की अँगूठी बनाई जाय तो जहाँ उतने सोने का वजन आधा तोला होगा वहाँ इसका आठ मन होगा!!! कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिक भी इतने अधिक घनत्व के अस्तित्व को मानने के लिए तैयार न होते। परंतु आधुनिक वैज्ञानिकों का विश्वास है कि परमाणु ठोस नही होते। उनकी रचना ऐसी है कि केंद्र पर एक धनाणु होता है और उसके चारों ओर एक या अधिक ऋणाणु चक्कर लगाते रहते हैं। तारों के भीषण तापक्रम के कारण धनाणु और ऋणाणु अलग हो जाते होंगे और तब गुरुत्वाकर्षण या अन्य शक्ति से इतने घने कण उठते होंगे कि जल से ५०,००० गुना घनत्व संभव हो सकता होगा।

तारों के वर्णन में नील और पद्म मीलों से लेकर शंख, महाशंख मीलों तक की दूरियाँ; करोड़, दस करोड़ मील तक के व्यास; शंख, महाशंख से भी कही अधिक मनों की तौल; इन संख्याओं से भी बड़ी संख्या की मोमबत्तियों का प्रकाश; ये सब इतनी बड़ी राशियाँ हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क चक्कर में पड़ जाता है! परंतु ज्योतिष मे ऐसी बड़ी संख्याओं की बार-बार आवश्यकता पड़ती है, यहाँ तक कि एक मुहावरा ही बन गया है—'ज्योतिषिक संख्याएँ!'

नाम	रंग	चमक	व्यास	तौल	घनत्व	सतह का तापक्रम
सूर्य	पीला	१	१	१	१'४१	६०००° सेंटीग्रेड
लुब्धक	श्वेत	२६	१'८	२'४	'४२	११०००
स्वाती	नारंगी	१००	२७	८	'०००३	४३००
आर्द्रा	लाल	१२००	२६०	१५	६×१०–७	३१००
ज्येष्ठा	लाल	३४००	४५०	३०	३×१०–७	३१००
मृगपद	निलछौंह	१८०००	३०	६०	'००२	१६०००
अगस्त्य	श्वेत	८००००	'१००	१००	'०००१	११०००
लुब्धक का छोटा साथी	श्वेत	'००३	'०३४	०'९६	२७०००	७५००

कुछ प्रसिद्ध तारों के आकार-प्रकार की सूर्य से तुलना
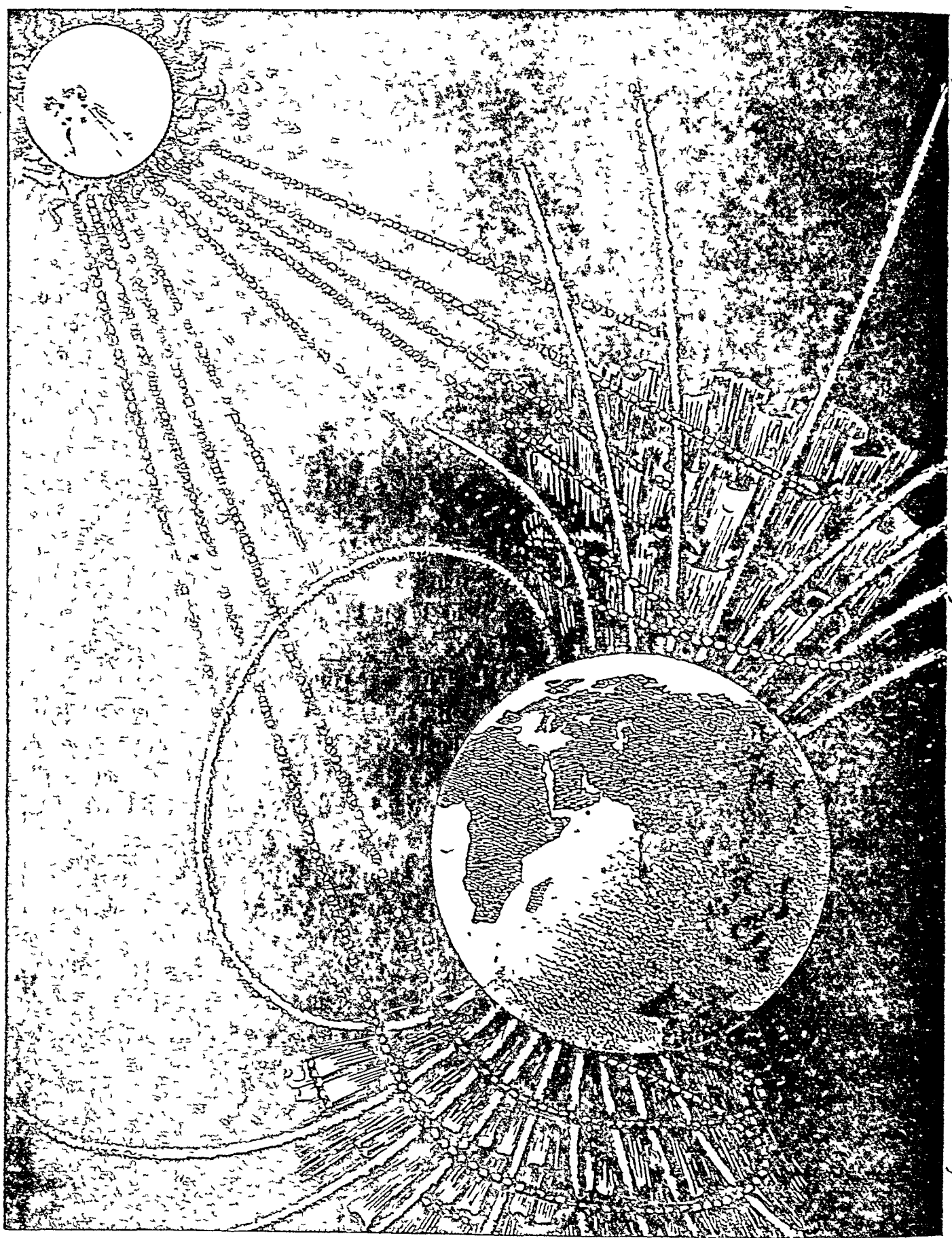
सूर्य-कलंक जब अधिक दिखाई देते हैं, तब पृथ्वी की चुंबकीय शक्ति में मानो तूफान आ जाता है, जिससे दिशासूचक यंत्र, रेडियो, आदि सभी में गडबडी पैदा हो जाती है। कारण यह होता है कि सूर्य के इन गड्ढों से अगणित ऋणात्मक विद्युत् कणों की एक बौछार-सी निकलकर पृथ्वी के वायुमंडल के बाह्य स्तर से टकराती है और उसके विद्युत् कणों को अलग कर देती है। इन्हींके चुंबकीय प्रभाव से दोनों ध्रुवों पर 'अरोरा' की विचित्र रंगीन द्युति प्रकट होती है।
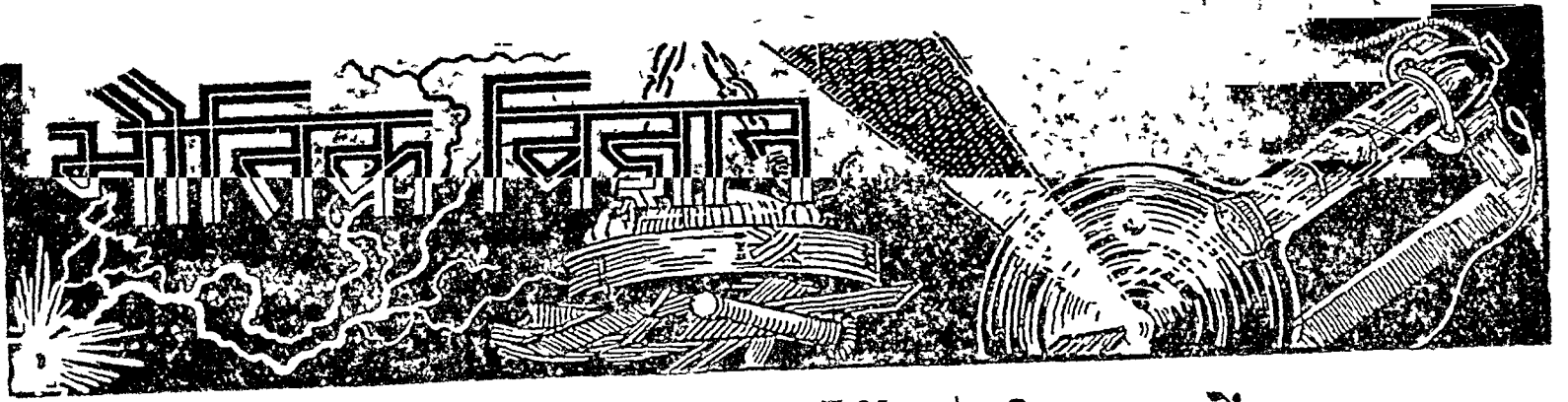
पृथ्वी एक महान् चुम्बक के रूप में

पिछले अंक में हमने देखा कि आज से हजार वर्ष पूर्व लोगों ने चुम्बक के दिशासूचक गुण का पता पा लिया था। चीन-निवासी इस क्षेत्र में सबसे आगे बढे हुए थे। लगभग ११०० वर्ष ईस्वी पूर्व ये लोग स्थल पर चलनेवाली गाडियों के दिशा-निर्देशन के लिए चुम्बक लोहे का प्रयोग करते थे। गाडी की ध्वजा पर एक हलकी-सी मूर्त्ति समतुलित रहती थी, जिसके हाथ उसके अन्दर लगे हुए चुम्बक लोहे के घूमने पर उत्तर-दक्षिण दिशा बतलाते थे। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि चीन-निवासियों को इस बात का भी पता था कि चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा नहीं बतलाती। वे जानते थे कि चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण तथा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल के बीच कुछ बल रहता है।

जहाँ तक आधुनिक चुम्बक विज्ञान का सम्बन्ध है, उपर्युक्त तथ्य को मालूम करने का श्रेय कोलम्बस को प्राप्त है। १४९२ ई० में अपनी अमेरिका-यात्रा के सिलसिले में कोलम्बस ने यह बात निश्चित रूप से देखी कि चुम्बक की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा का निर्देश नहीं करती। इस तथ्य की जाँच आप स्वयं भी निम्न रीति से कर सकते हैं। किसी स्थान का पहले भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल निश्चित कर लीजिए और तब चुम्बकीय सुई को सावधानी के साथ समतुलित लटकाकर सुई के उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा से गुजरनेवाला ऊर्ध्व धरातल निश्चित कीजिए। आप देखेंगे कि चुम्बकीय उत्तर दक्षिण धरातल भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल से कुछ हटा हुआ होगा। यह अन्तर पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न होता है। अतः वैज्ञानिकों ने पैमाइश करके संसार के विभिन्न स्थानों के लिए इस अन्तर का मान निकाला है और भूमण्डल के मानचित्र पर रेखाएँ खींचकर प्रत्ये कस्थान के कोण का निर्देश कर दिया है। इन्हीं नक्शों की सहायता से जहाज का कप्तान अपने मार्ग की सही दिशा मालूम करता है। इन नक्शों को देखकर ही वह जान पाता है कि उक्त स्थान पर चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र की उत्तर-दक्षिण रेखा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण रेखा से पूर्व या पश्चिम की ओर कितने अंश हटी हुई है।

अपनी प्रथम 'अनुसंधान-यात्रा' में कोलंबस ने देखा कि दिशा-सूचक की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण में रहने के बजाय स्थान-परिवर्तन के साथ कुछ-कुछ दिशा बदलने लगती है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि चुम्बकीय सुई को स्वतंत्रतापूर्वक लटकाने से वह सदैव उत्तर-दक्षिण दिशा में ही

जाकर क्यों ठहरती है? प्रारम्भिक दिनों मे इस प्रश्न के उत्तर मे लोगों ने सोचा कि अवश्य ही आकाश के नक्षत्र धरती के चुम्बकों को किसी प्रकार से प्रभावित करते हैं। मोटे तौर पर चुम्बक ध्रुव नक्षत्र की दिशा की ओर घूम जाता है, अतः लोगों ने धारणा की कि चुम्बक का दिशासूचक गुण अवश्य ही ध्रुव तारे ही के कारण है। किन्तु सन् १५८१ ई० मे रावर्ट नार्मन नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने चुम्बकीय सुई की एक और विशेषता का दिग्दर्शन किया। उसने देखा कि चुम्बकीय सुई के मध्य बिन्दु पर छेद करके यदि उसे इस प्रकार लटकाया जाय कि वह ऊर्ध्व धरातल में स्वतन्त्रतापूर्वक घूम सके तो देखा जाता है कि सुई साधारणतया पृथ्वी के धरातल के समानान्तर कभी नहीं रहती। प्रायः उत्तरीय गोलार्द्ध में सुई का उत्तरी ध्रुव वाला सिरा नीचे को झुका रहता है और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी ध्रुव वाला सिरा। विषुवत् रेखा से ज्यों-ज्यों हम उत्तर या दक्षिण की ओर बढते हैं, सुई का झुकाव भी त्यों-त्यों बढता जाता है।

चुंबकीय सुई को बीच से इस प्रकार लटकाने पर हम देखते है कि वह धरती के समानान्तर नही रहती। उसका कोई एक सिरा विभिन्न स्थानों मे विभिन्न कोण बनाते हुए नीचे को झुका रहता है। चित्र मे लंदन में सुई का उक्त झुकाव प्रदर्शित है।

चुम्बकीय सुई के इन दोनों गुणों—भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से हटने तथा उसके झुकाव—पर एक अंग्रेज विद्वान् गिल्वर्ट ने काफी विवेचना की। गिल्वर्ट महारानी एलिजावेथ के दरवार मे शाही चिकित्सक था, अर्थात् यह वात सोलहवी शताब्दी की है। उसने पृथ्वी का एक मॉडल वनाकर उसके अन्दर एक छोटा-सा छड़ चुम्बक रक्खा। तदनन्तर मॉडल के गोले के धरातल के विभिन्न स्थानों पर चुम्बकीय सुई रखकर उसने दिखलाया कि इस मॉडल मे भी चुम्बकीय सुई का उसी प्रकार झुकाव होता है, जिस प्रकार कि पृथ्वी के धरातल पर (दे० पृष्ठ २५८६ का चित्र)। इस प्रकार डा० गिल्वर्ट ने यह प्रमाणित कर दिखाया कि पृथ्वी के धरातल पर चुम्बकीय सुई को जो शक्ति प्रभावित करती है, वह स्वयं पृथ्वी से ही प्राप्त होती है। डा० गिल्वर्ट की यह खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है और इस दृष्टि से हम उसे 'चुम्बकीय विज्ञान का गैलीलियो' कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के वल पर पृथ्वी के धरातल पर चुम्बकीय सुई द्वारा प्रदर्शित होनेवाले सभी गुण आसानी से और पूर्ण रूप से समझाए जा सकते हैं।

स्वतन्त्र अवस्था में चुम्बक की सुई लगभग उत्तर-दक्षिण दिशा मे ठहर जाती है। उसके इस गुण के पीछे भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ही है। किन्तु चुम्बक का उत्तरी सिरा उत्तर की ओर घूमकर आ जाता है, अतः पृथ्वी के अन्दर स्थित चुम्बक का उत्तरी ध्रुव वाला सिरा उत्तर की ओर स्थित नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ऐसा होता तो धरातल पर लटकाए गए सभी चुम्बकों का दक्षिणी ध्रुव ही उत्तर की ओर फिरता। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वी के गर्भ मे स्थित काल्पनिक चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव उत्तरी गोलार्द्ध में है और उत्तरी ध्रुव दक्षिणी गोलार्द्ध में! साथ ही इस महान् चुम्बक के सिरे धरती के भौगोलिक ध्रुवों से गुजरनेवाली कीली के समानान्तर भी नहीं हो सकते। क्योंकि धरातल पर जब कोई छड़ चुम्बक लटकाया जाता है तो वह भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा के समानान्तर नही ठहरता। अतः चुम्बकीय विषुवत् रेखा भी भौगोलिक विषुवत् रेखा पर नही पड़ती और न चुम्ब-

वैज्ञानिकों ने पैमाइश करके संसार के विभिन्न स्थानों में भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से चुंबकीय सुई के हटाव का निर्देश करनेवाली रेखाएँ पृथ्वी के मानचित्र पर अंकित कर दी हैं। वही प्रस्तुत नक़शों में दिग्दर्शित है। 'क' वह रेखा है, जिस पर स्थित स्थानों पर चुंबकीय सुई में यह दिशांतर नहीं होता।

कीय ध्रुव ही भौगोलिक ध्रुवों पर पड़ते हैं। पृथ्वी के चुम्बक में एक और विचित्र बात है—इसके ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की भाँति ठीक एक-दूसरे के आमने-सामने भी नहीं पड़ते। चुम्बकीय ध्रुवों की स्थिति का ठीक-ठीक पता पहली बार कैप्टेन रास ने १८३१ ई० में लगाया था। स्पष्ट है कि चुम्बकीय दक्षिणी ध्रुव के ठीक ऊपर आने पर चुम्बकीय सुई एकदम लम्बवत् खड़ी हो जायगी। उस समय उसका उत्तरी ध्रुव नीचे की ओर होगा। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में पृथ्वी के चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव के ठीक ऊपर पहुँचने पर चुम्बकीय सुई एक बार फिर लम्बवत् खड़ी होगी,
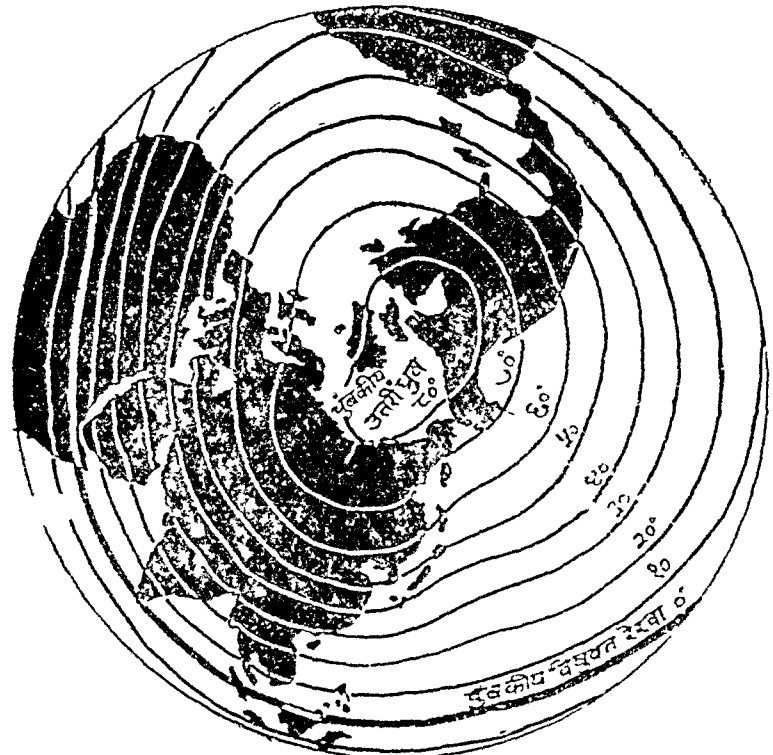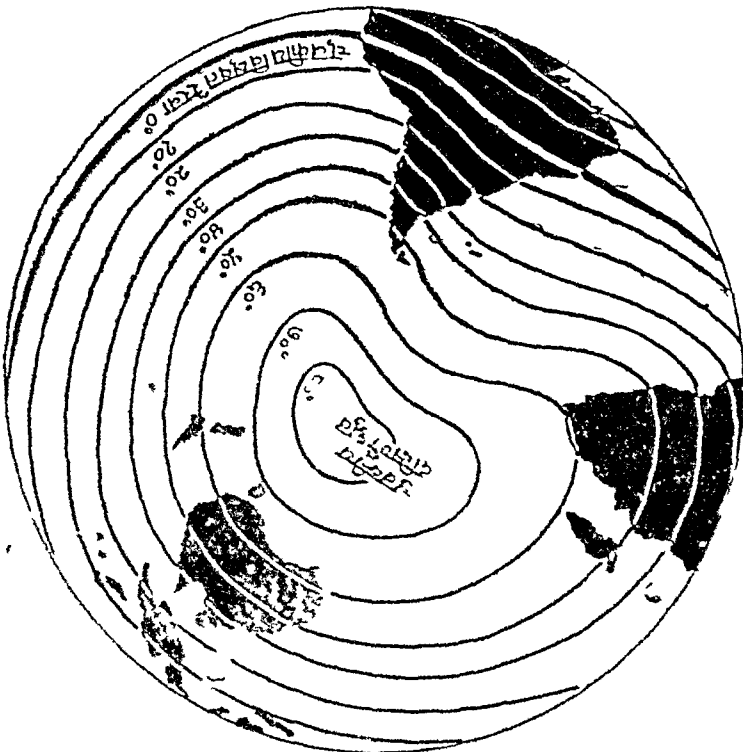
प्रस्तुत मानचित्र में पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में चुंबकीय सुई के नीचे की ओर के झुकाव की अक्षांश रेखाएँ दिग्दर्शित हैं अर्थात् प्रत्येक रेखा पर चुंबकीय सुई नक़शे में निर्दिष्ट अंश का कोण बनाते हुए धरातल की ओर झुकेगी।

किन्तु इस बार उसका दक्षिणी ध्रुव नीचे की ओर होगा। उत्तरी गोलार्द्ध में धरती के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव कनाडा में ७० अंश ५ मिनट उत्तरी अक्षांश और ९६ अंश ४३ मिनट पश्चिमी देशान्तर पर स्थित है। यह स्थान भौगोलिक उत्तरी ध्रुव से लगभग १४०० मील की दूरी पर है। दक्षिणी गोलार्द्ध में पृथ्वी के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव अन्टार्कटिक प्रदेश में ७२ अंश २५ मिनट दक्षिणी अक्षांश और १५५ अंश १६ मिनट पूर्वीय देशान्तर पर स्थित है।

पृथ्वी के अन्दर मॉडल चित्र की भाँति कोई छड़ चुम्बक वास्तव में मौजूद नहीं है, क्योंकि पृथ्वी के गर्भ के ऊँचे तापक्रम पर लोहा, पत्थर आदि सब-कुछ पिघलकर द्रव बन जाते हैं। फिर भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ठीक उसीप्रकार की है, जैसी कि धरती के अन्दर यदि कोई विशालकाय छड़ चुम्बक मौजूद होता तो हमें मिलती। धरती की इस चुम्बकीय शक्ति का रहस्य क्या है? आगे चलकर विद्युत् का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि यदि लोहे की एक कील को लेकर उसके चारों ओर हम रेशम से ढके हुए तार को लपेटें और फिर इस तार में से विद्युत् धारा प्रवाहित कराएँ तो उस कील में चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है—उसका एक सिरा उत्तरी ध्रुव बन जाता है और दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव। धरती के अन्दर भी लोहा प्रचुर मात्रा में मौजूद है। सम्भव है, वायुमण्डल में उत्पन्न हुई विद्युत् धारा के प्रभाव से पृथ्वी में चुम्बकीय शक्ति का समावेश हो गया हो। सूर्य की अल्ट्रा-वायलेट रश्मियाँ निरन्तर वायुमण्डल में वायु के कणों से टकराया करती हैं। ये अल्ट्रा-वायलेट रश्मियाँ वायु-कणों में से ऋणात्मक विद्युत् कणों (इलेक्ट्रानों) को अलग कर देती हैं। अपरिमित संख्या में ये विद्युत् कण जब अपनी हरकत करते हैं तो विद्युत् धारा उत्पन्न होती है, जो अपने प्रभाव से धरती के अन्दर चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न कर देती है। किन्तु इस मत की भलीभाँति पुष्टि करने में विज्ञान अभी असमर्थ है।

पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के बारे में किए गए अनुसन्धानों से पता लगता है कि विभिन्न स्थानों पर पृथ्वी की चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण दिशा में नियमित रूप से दैनिक परिवर्त्तन हुआ करता है। आठ बजे प्रात: तक उत्तरी गोलार्द्ध में चुम्बकीय उत्तर-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल धीरे-धीरे पूर्व की ओर हटता है। तदुपरान्त यह तीसरे पहर के दो बजे तक पश्चिम की ओर हटता है, फिर यह पूर्व की ओर हटने लगता है। ग्रीष्म ऋतु में जाड़े की अपेक्षा हटाव अधिक होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह चुम्बकीय उत्तर-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल उल्टी दिशा में हटता है। दैनिक परिवर्त्तन के अतिरिक्त चन्द्रमा के प्रभाव के कारण नियमित रूप से धरती की चुम्बकीय दिशा में पाक्षिक परिवर्त्तन भी होता है। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि सौर परिवार के अन्य ग्रहों का भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

धरती की चुम्बकीय दिशा में एक लम्बी अवधि का भी परिवर्त्तन होता है। ऐसा जान पड़ता है मानों पृथ्वी के अन्दर के महान् काल्पनिक चुम्बक के ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की परिक्रमा लगाते हैं। अवश्य ही इस परिक्रमा की गति अत्यन्त धीमी है। उदाहरण के लिए १५८० ई० में लन्दन में पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से ११ अंश १५ मिनट पूर्व की ओर थी। धीरे-धीरे यह अन्तर कम होता गया और १६५७ ई० में पृथ्वी का चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण धरातल भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल की ठीक सीध में आ गया। फिर यह पश्चिम की ओर हटने लगा, यहाँ तक कि १८०० ई० तक यह २४ अंश १६ मिनट पश्चिम की ओर पहुँच गया। १९३६ ई० में यह १३ अंश पश्चिम में था और इस गति से सन् २००० ई० में यह पुनः भौगोलिक उत्तर-दक्षिण की सीध में आ जायगा। इस परिवर्त्तन से पता चलता है कि पृथ्वी की चुम्बकीय धुरी लगभग १००० वर्ष में भौगोलिक धुरी की पूरी परिक्रमा लगा लेती है।

धरती की चुम्बकीय शक्ति के इन नियमित परिवर्त्तनों के अतिरिक्त अनेक ढंग के और भी परिवर्त्तन हुआ करते हैं, जो किसी निश्चित अवधि पर नहीं होते। कुछ परिवर्त्तन तो एकाध क्षण के लिए ही होते हैं और कुछ अधिक काल के लिए। इनमें से विशेष उल्लेखनीय "चुम्बकीय तूफान" हैं। इस तरह के तूफान जब आते हैं तो पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति उद्वेलित हो उठती है—तार के यंत्र उस समय बेकार पड़ जाते हैं तथा रेडियो के यंत्रों में बहुत ही अधिक खड़खड़ाहट होने लग जाती है। चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र भी उतनी देर के लिए झूठे पड़ जाते हैं। इस चुम्बकीय तूफान का घनिष्ठ सम्बन्ध सूर्य से है, क्योंकि चुम्बकीय तूफान प्रति ११ वर्ष की अवधि पर उत्पन्न होते हैं, ठीक जबकि सूर्य के कलंकों या धब्बों की संख्या अधिकतम होती है। चुम्बकीय तूफान के समय ही उत्तरीय ध्रुव प्रान्त में 'उत्तरीय प्रकाश' या 'अरोरा बोरियालिस' तथा दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में 'दक्षिणी

सूर्य से आनेवाले विद्युत् कणों की बौछार द्वारा वायुमण्डल के ऊपरी स्तरों में चंबकीय-क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यदा-कदा दिखाई पडनेवाली 'अरोरा' के दो भव्य दृश्य। यह रंगीन प्रकाश कई विचित्र आकार-प्रकार का होता है और केवल ध्रुव-प्रदेशों ही में दिखाई पडता है। क्षण-क्षण पर उसकी झिलमिल आकृति बदलती रहती है और कभी-कभी ऐसा दिखाई देने लगता है, मानों आसमान से रंगों का एक चुन्नटदार परदा लटक कर लहरा रहा हो! दोनों चित्रों का अंतर देखिए!
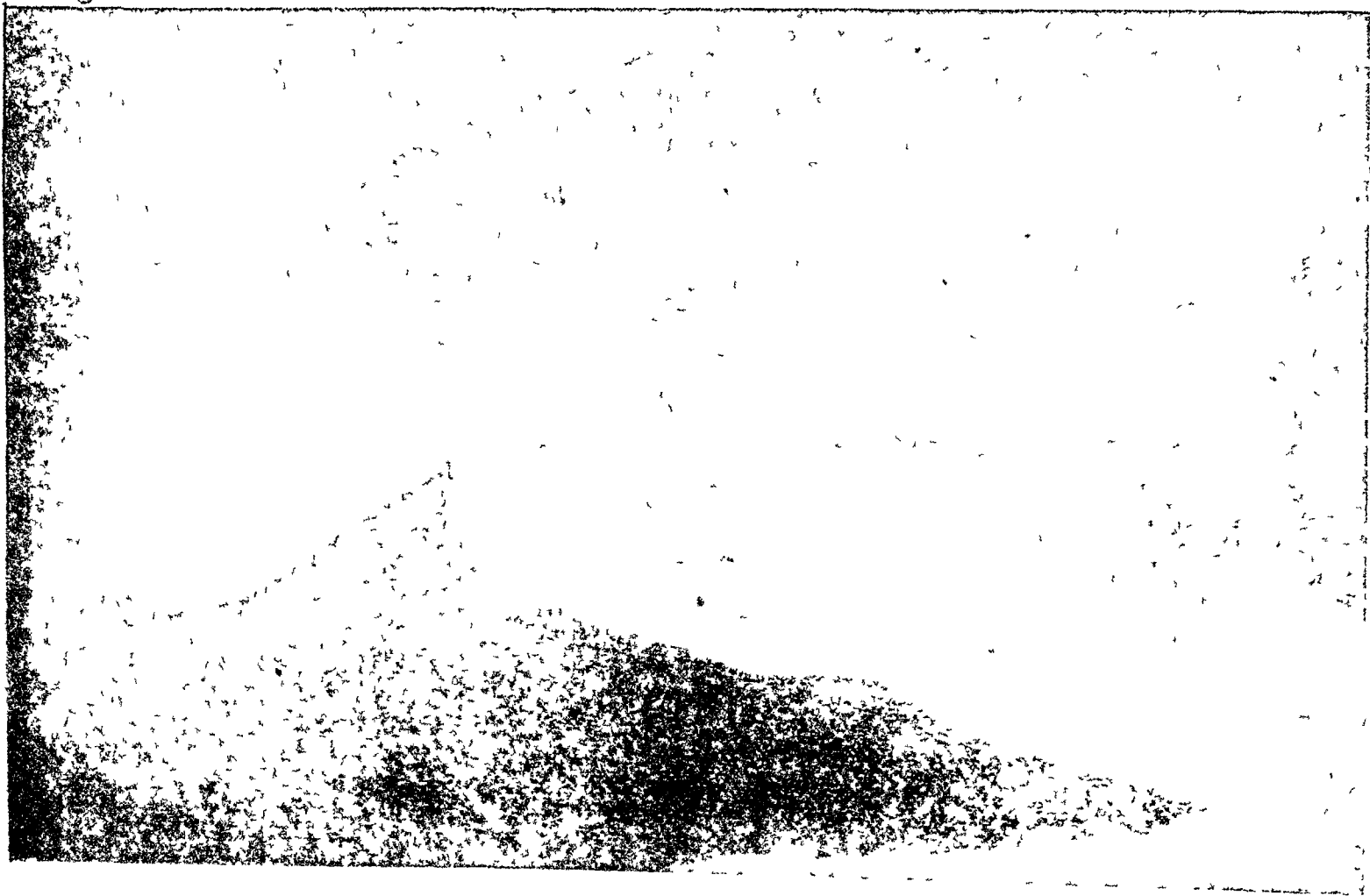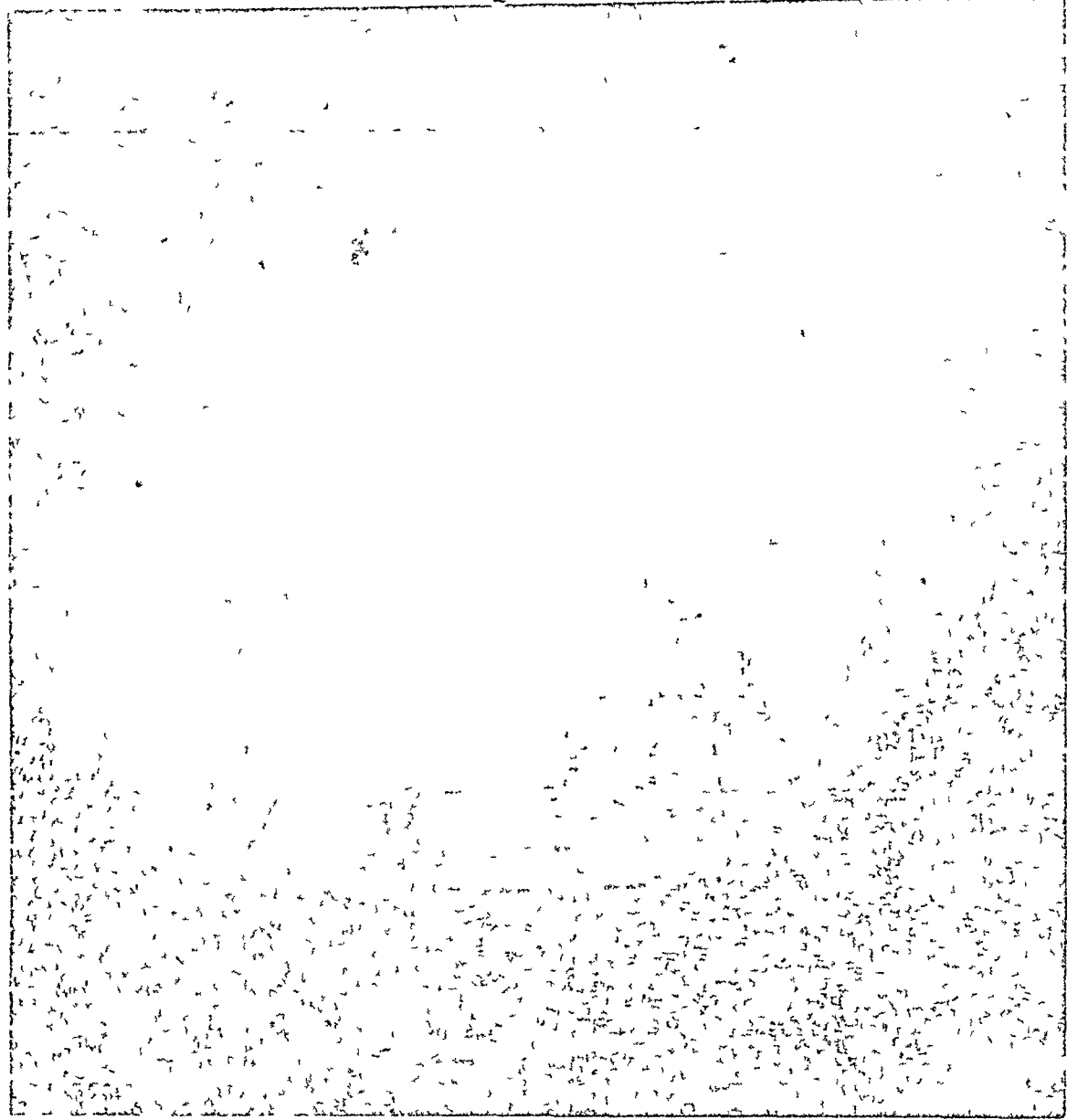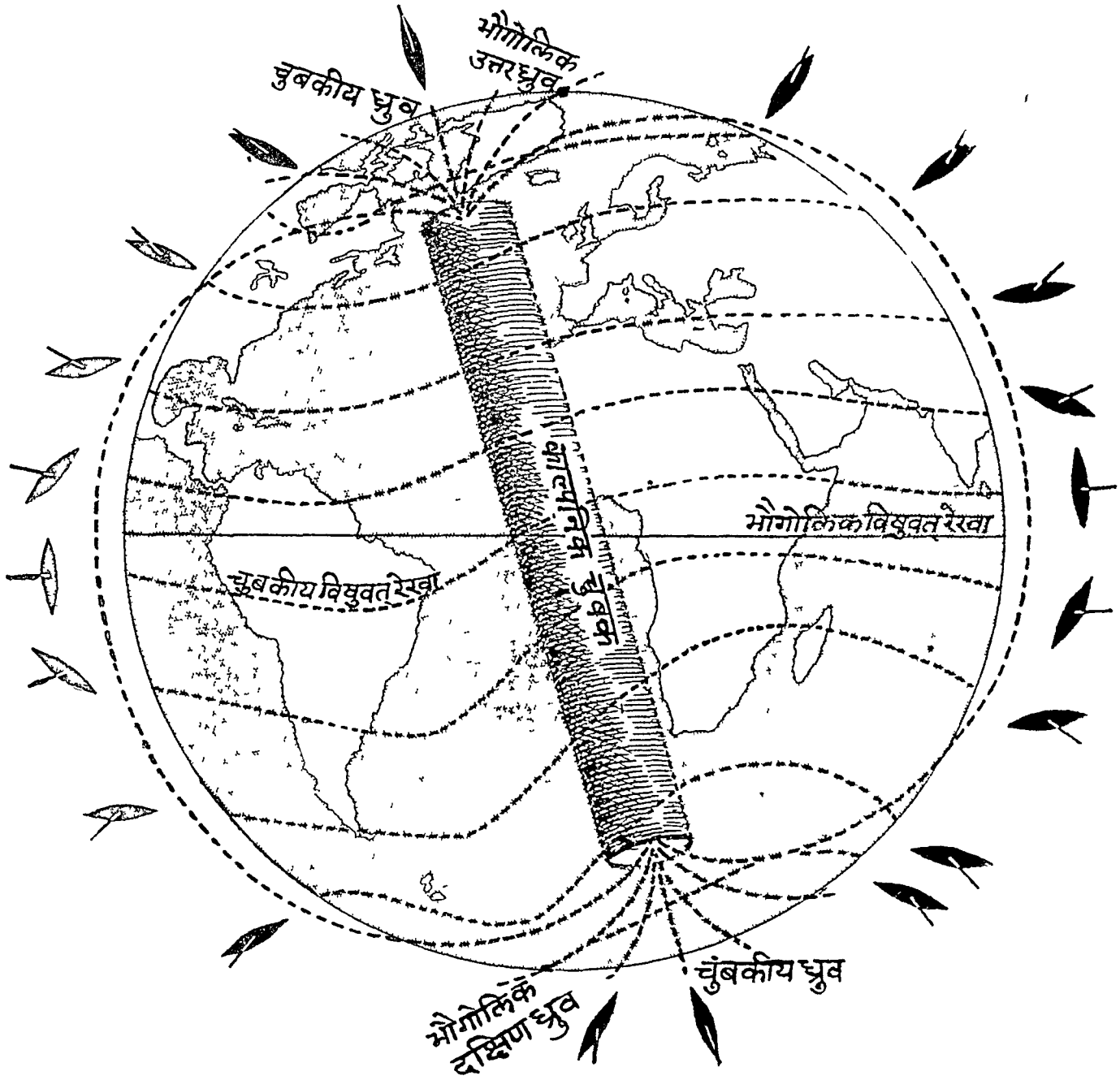
सोलहवी सदी में डॉ० गिल्बर्ट ने पृथ्वी के गोले का इसी प्रकार का एक मॉडल बनाकर तथा उसमें एक छड़ चुंबक रखकर पृथ्वी के धरातल पर भिन्न-भिन्न स्थानों में चुंबकीय सुई के दिशान्तर का तथ्य सिद्ध किया था।

प्रकाश' या 'अरोरा आस्ट्रेलिस' की रंगबिरगी चमक भी प्रचुरता से देखने में आती है। अतः स्पष्ट है कि सूर्यकलकों, पृथ्वी के चुम्बकीय तूफान तथा उत्तरी और दक्षिणी प्रकाश का प्रदर्शन तीनों ही एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। सूर्य-कलक वास्तव में सूर्य के धरातल के आवर्त्त हैं, जो उद्वेलित अवस्था मे होते हैं। सूर्य के इन गड्ढों में से अगणित सख्या में ऋणात्मक विद्युत् कण निकलकर पृथ्वी की ओर आते हैं। पृथ्वी के वायुमण्डल के बाह्य स्तर मे प्रवेश करने पर ये वायुकणों से टकराकर उन कणों में से विद्युत् कण अलग कर देते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप वायुमण्डल के उर्ध्व स्तरों मे एक प्रकार की विद्युत् धारा प्रवाहित होने लगती है। इसी विद्युत् धारा के चुम्बकीय प्रभाव से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र मे विशेष परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं। ध्रुवों की ओर सूर्य से निकले हुए विद्युत् कण अधिकतम सख्या मे आकर्षित होते हैं। वहाँ वायुकणों से टकराकर रग-बिरंगे प्रकाश उत्पन्न करते हुए वे 'अरोरा' के दृश्य उपस्थित करते हैं। इसी विद्युत् धारा के संस्पर्श मे आकर रेडियो की तरंगें भी क्षुब्ध हो हमारे रेडियो-यंत्रो मे व्यर्थ की कड़कड़ आवाज़ पैदा करती हैं।

पृथ्वी की कहानी
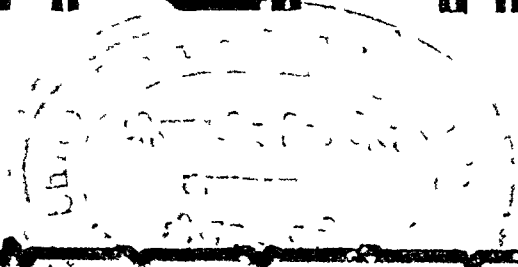
दक्षिणी अमेरिका का दैत्याकार अजगर—एनाकोण्डा

इसकी एक जाति लंका मे भी पाई जाती है। यह तीस-चालीस फीट तक लंबा होता है और अर्धजलचर होने के कारण पानी मे भी उतरकर शिकार करता है। कभी-कभी वह आक्रमण करके नाविकों सहित मामूली नौकाओं तक को उलट देता है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित है। प्रायः यह जलाशयों के पास पेडो पर लटके हुए पडा रहता है और रात को पानी पीने के लिए आनेवाले प्राणियों को हडप लेता है।

भारतवर्ष तथा अन्य देशों के वर्तमान और प्राचीन उरंगम

२—विषैले और विषहीन सर्प

पिछले लेख मे हम उरगमो के दो समूहों—कच्छप और मगर—का वर्णन कर चुके हैं। अब हम प्रस्तुत और आगे के लेख में इस वर्ग के शेष दो प्राणियों—सर्प और छिपकली—के विषय मे आपको जानने योग्य कुछ साधारण बातें बताएँगे। आशा है, इस लेख द्वारा आप भयानक विषैले और विषहीन उपयोगी सर्पों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करके लाभ उठा सकेंगे।

सर्प से भय

'सर्प' शब्द सुनते ही हमारे हृदय मे एक विशेष प्रकार का भय समा जाता है। उसकी कल्पना करते ही हमारी आँखों के सम्मुख पृथ्वी पर रेंगनेवाले एक पतले, लम्बे, चिकने और भयानक प्राणघातक जीव का चित्र खिच जाता है। यदि कही आते-जाते हुए सचमुच मे सर्प हमारे सामने आ पडता है तो हमे सबसे पहला विचार उससे बचकर भागने का ही होता है। उसे देखते ही हमे अपने प्राणो की शका होने लगती है और हो भी क्यो न? जिसने एक बार भी साँप के काटे हुए किसी मनुष्य को मरते देखा है, वह उसे कभी भूल नहीं सकता। उसकी दुर्दशा देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हट्टा-कट्टा मनुष्य भी विषैले सर्प के काटते ही घबड़ा उठता है। पलभर मे उसके शरीर का बल न जाने कहाँ चला जाता है और वह किसी प्रकार भी अपने आपको सँभाल नहीं पाता! वह भूमि पर शिथिल होकर गिर पड़ता है। जैसा कि डा० रामशरणदास ने अपने 'सर्प-संसार' में लिखा है—"उसकी आँखे लाल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द पड़ जाती है, माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगती हैं और वह प्यास से व्याकुल हो जाता है। पानी उसके गले से नीचे नहीं धँसता। रोगी मूर्छित हो जाता है, उसका सारा शरीर पसीने में लथपथ होकर ठडा हो जाता है और साँस जल्दी-जल्दी चलने लगती है। कभी-कभी शरीर फूल जाता है और प्रायः जीभ भी फूलकर मुँह से बाहर निकल पड़ती है। शरीर का रग बिलकुल बदल जाता है (नीला-सा पड़ जाता है) और मुँह से राल टपकने लगती है। कुछ समय बाद ऐंठन आरम्भ होती है, साँस भी रुकने लगती है तथा अत मे मनुष्य मर जाता है।" श्वासोच्छ्वास सर्वथा बन्द होने से पूर्व साँप द्वारा काटे गए मनुष्य के शरीर मे प्रायः जोर के आक्षेप आते हैं, परन्तु हृदय एक या दो मिनट अधिक देर तक धड़कता रहता है।

बहुतेरे विषैले सर्पों द्वारा काटे गए व्यक्ति की रक्षा का कोई अचूक उपाय अभी तक नही मालूम हुआ है और यदि कोई उपाय हो भी तो बहुधा दशा इतनी जल्द खराब हो जाती है कि चिकित्सा का अवसर भी नही मिल पाता। "नौ फीट सात इंच लम्बे एक नाग से काटा गया आदमी पन्द्रह मिनट मे मर गया था और एक कुली स्त्री बीस मिनट में समाप्त हो गई थी।" आदमी तो क्या, असली काले शेषनाग के काटने से हाथी जैसे विशाल जीव भी शीघ्र ही यमलोक को सिधार जाते हैं! सर्प द्वारा काटे जाने के तीन घटे के अन्दर ही अन्दर हाथी मरता देखा गया है। यह जरूर है कि हाथी के शरीर की मोटी खाल पर साँप के दाँत नही गड़ते, लेकिन उसकी सूँड़ के छोर या नाख़ूनों के सिरे पर, जहाँ खाल नर्म होती है, डसने से तुरंत विष का प्रभाव पड़ता है।

एक और कठिनाई यह है कि यह घातक जीव अचानक आक्रमण कर बैठता है। कोई नही कह सकता कि किस समय यह निकल आएगा और मनुष्य को काट लेगा। दिन में, रात्रि के अंधकार में, घर में, खेत में अथवा सुन-

सान जगल मे चलते-फिरते या बेखबर सोते हुए मनुष्य सर्प से डसे गए हैं। धरती, दीवार, वृक्ष, छप्पर आदि से निकलकर एकाएक ये भयंकर शत्रु आदमी पर हमला कर बैठते हैं। बहुधा मनुष्य को यह भी पता नही चलता कि किस जाति का सर्प उसे काट गया है और कभी-कभी तो विषहीन सर्प के काटने से भी घबड़ाकर रोगी की हृदय की गति बन्द हो जाती है। ससार में प्रति वर्ष एक लाख से भी अधिक मनुष्य इस भयकर जीव के काटने से अपने प्राण खो बैठते हैं। अकेले भारतवर्ष में नाग (कोबरा) और करैत जातियो के सर्प बीस हजार प्राणियों को प्रति वर्ष मौत के घाट उतार देते हैं। सब जाति के सर्पों द्वारा मरनेवालों की सख्या हमारे देश मे लगभग एक सौ प्रति दिन है।

परन्तु यह सब होने पर भी हमे सर्प से इतना अधिक भयभीत न होना चाहिए, क्योंकि प्रायः जो सर्प हमे दृष्टि-गोचर होते हैं वे अधिकतर विषैले नही होते। ससार मे प्रायः एक हजार सात सौ जातियों के सर्प पाए जाते है, जिनमें से केवल लगभग तीन सौ जातियाँ ही अधिक विषैली हैं। तीन सौ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनकी लार में थोडा-सा विष मिला रहता है—ये साधारणतया मनुष्य के लिए हानिकारक नही होती और इनमें विषैले दाँत भी नही पाए जाते। यह विषहीन और विषैले सर्पों के बीच की श्रेणी है। शेष सब सर्प विषहीन होते हैं। यह भी न भूलना चाहिए कि विषमय सर्पो के काटने पर भी मर जाना आवश्यक नही है। बहुधा ऐसा भी होता है कि जब वे काटते हैं तब शरीर मे उतना विष नही डाल पाते कि जिससे काटे गए प्राणी की मृत्यु हो जाय। कुछ सर्पों के पास तो इतना विष कभी होता ही नही और जिनके पास होता भी है तथा जो उसे डाल भी सकते हैं, उन्हे काटते समय या तो पूरा विष उतारने का अथवा उचित प्रकार से दाँत गड़ाने या फन मारने का अवसर ही नही मिलता। यही कारण है कि साँप से काटे गए मनुष्य बच जाते हैं। ऐसे ही लोगों को बचते देख-कर जत्र-मंत्र अथवा जड़ी-बूटी तथा अन्य औषधियों के गुणों मे हमे विश्वास हो जाता है। वस्तुतः काटने-वाले सभी साँप विषधर नही होते और विषहीन सर्प द्वारा काटे गए लोग अवश्य ही बच जाते हैं—उनके लिए एक चुटकी राख, सँपेरों की औषधि, अथवा मत्र सभी एक-से उपयोगी हैं। हाँ, डर से अथवा घाव के पक जाने से यदि मृत्यु हो जाय तो यह बात दूसरी है।

शरीर-रचना

सर्प का शरीर लम्बा और बल खाने वाला होता है तथा उसकी खाल के ऊपर चीमड़ छिलके रहते हैं। न उसके सीने की हड्डी होती है और न अगली टाँगें। अधि-काश मे पिछली टाँगे भी नही पाई जाती; लेकिन अजगर जैसे कुछ साँपों मे पिछली टाँगों के मूल पाये जाते हैं। सर्प का शरीर तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—सिर, धड़ और पूँछ। सिर के सिरे पर खुलनेवाला मुँह, दो आँखे और दो नथुने होते हैं। सिर के पीछे दूर तक धड़ रहता है और उसके पीछे का थोड़ा-सा भाग पूँछ कहलाता है। जहाँ धड और पूँछ मिलते हैं, वहाँ नीचे की ओर एक छिद्र होता है, जिसे मलद्वार कहा जाता है। इस द्वार से मल के अतिरिक्त मूत्र तथा अडे भी निकलते हैं। धड़ और पूँछ देखने में एक समान लगते हैं, परन्तु सुविधा के लिए मलद्वार से आगे के भाग को धड़ और पीछे के भाग को पूँछ कहते हैं। सर्प के गर्दन नहीं होती। सर्प की आँखों मे हमारे आपके जैसे पलक भी नहीं होते। उनमें दोनों पलक मिलकर एक पारदर्शक झिल्ली बन जाते हैं। यह झिल्ली आँखों के ऊपर मढ़ी रहती है। यही कारण है कि उसकी आँखे सदा खुली और घूरती हुई-सी दिखाई देती हैं। सर्प का सिर और मुँह दोनों ही देखने मे छोटे होते हैं। परन्तु वह अपने से कई गुनी मोटी वस्तु निगल लेता है। यह कैसे? उसके ऊपरी जबडे की हड्डियाँ कई भागों मे बँटी रहती हैं। ये हड्डियाँ और दोनों जबड़े एक दूसरे से ऐसी लचीली मांश-पेशियों और ततुओं से जुड़े होते हैं, जो रबड़ की तरह खिंच जाते हैं। आवश्य-कतानुसार जबड़े खूब फैल जाते हैं। इस प्रकार अधिक मोटा शिकार भी सुगमता से उसके मुख मे प्रवेश कर जाता है। सर्प की जिह्वा बड़ी विचित्र होती है। वह लम्बी, पतली, नर्म और आगे को चिमटे के समान फटी होती है, अतः देखने मे वह दोहरी जान पड़ती है। मुँह बन्द रहने पर भी वह एक छेद द्वारा ओठो के बीच से बाहर निकलकर इधर-उधर लपलपाया करती है। साँप अपनी जिह्वा द्वारा यह पता लगा लेता है कि उसके सम्मुख का शिकार या अडा कितना मोटा है और वह उसे निगल सकेगा या नही। उसकी जिह्वा मे स्वाद का अनुभव करने की शक्ति नही होती और न उसको इसकी आवश्यकता ही जान पड़ती है। जब वह अपने शिकार को बिना काटे ही पूरा निगल लेता है तो फिर उसके स्वाद से उसे क्या सरोकार? जीभ का मुख्य कर्त्तव्य उसे अपने सम्मुख की वस्तु तथा मार्ग बताने का है। यही कारण है कि जब साँप चलते-फिरते हैं तो अपनी जीभ को बाहर निकाले रहते हैं। वह

उनकी स्पर्शेन्द्रिय है। सर्प की जिह्वा मे एक और विशेषता होती है, जो किसी अन्य प्राणी मे नही पाई जाती। वह यह कि जब वह मुँह के भीतर बन्द रहती है और उस समय यदि मुँह खोलकर देखा जाय तो उसका कही पता नही मिलता! इसका कारण यह है कि सर्प के मुँह के भीतर एक झिल्ली की थैली होती है, जिसमें सिकुड़कर जीभ बन्द हो जाती है। सम्भव है, यह झिल्ली इसीलिए बनाई गई हो कि कड़े भोजन को समूचा निगलते समय जीभ जैसे कोमल और आवश्यक अंग को कोई हानि न पहुँचे।

अन्य उरंगमों की भाँति सर्प के दाँत भी केवल पकड़ने के लिए होते हैं, भोजन चबाने या कतरने के योग्य वे नही होते। वे नुकीले और भीतर की ओर मुड़े रहते हैं। एक बार शिकार उनमे फँस जाने पर सहज मे छूटकर मुँह के बाहर नही आ सकता। जबड़ों की प्रत्येक गति से मुँह का ग्रास भीतर की ही ओर सरकता है। यही कारण है कि जल्दी में पकड़ी गई अप्रिय वस्तु को भी साँप को निगलना ही पडता है। ऐसी अवस्था मे कभी-कभी गला घुट जाने से उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

१

अ ब स

२

१. घास में मिलनेवाले साधारण विषहीन साँप का सिर—चिमटे के समान फटी हुई जिह्वा पर ध्यान दीजिए; २. अ. साँप का विषदंत—बीच की नली से ही विष उतरता है; २. ब. जबड़े की हड्डियाँ और विषदंत मुँह बंद होने की दशा में; २. स. वही, मुँह खुला रहने की दशा में।

लाक्षणिक, विषहीन और निर्दोष सर्पों के दोनों जबड़ो और तालू मे क्रमशः नुकीले और ठोस दाँत होते हैं। लेकिन दबोइया (Viper), झनझनिया (Rattlesnake) आदि जैसे विषमय सर्पों के ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतों के सिवाय और दाँत नही होते। ये लम्बे दाँत विष की ग्रंथि (थैली) के नीचे एक चलनशील हड्डी मे जुड़े रहते हैं और हर दाँत के भीतर विष प्रवेश करने के लिए एक नली बनी रहती है।

दक्षिणी अफ्रीका में अंडे खानेवाले सर्पों की एक जाति मे दाँतों का एक विचित्र स्वरूप मिलता है। ये सर्प तीन फ़ीट से अधिक लम्बे होते और उनका सिर मनुष्य की अँगुली के बराबर मोटा होता है। किन्तु ऐसी अवस्था मे भी वे छोटी मुर्गी के अंडे तक को सहज मे निगल लेते हैं। उनके असली दाँत बहुत छोटे होते हैं, लेकिन इसके बदले उनकी गर्दन की रीढ़ के हर मोहरे मे दाँत जैसी हड्डी बढ़ी हुई होती है, जो गले मे भीतर की ओर उभरी हुई रहती है। जब अंडा सर्प के गले मे पहुँचता है तो मांस-पेशियो के सिकुड़ते ही उसके ये विचित्र भीतरी दाँत दबोच-कर उसे कुचल देते हैं। इस प्रकार अंडे की सामग्री पेट में पहुँच जाती है और छिलका कुछ समय पश्चात् बाहर उगल दिया जाता है! अंडा तोड़ने की ऐसी अद्भुत रचना और किसी भी प्राणी मे नही पाई गई है।

साँप के कान भीतर होते हैं, बाहर नही। उसके हृदय मे चार कोठरियों की अपेक्षा तीन ही कोठरियाँ होती हैं और फेफड़ा भी दो के बजाय एक ही होता है। उसकी दोनों लार-ग्रंथियाँ काफ़ी बड़ी होती हैं। कई साँप एक निश्चित अवधि पूरी होने पर अपने ऊपर की खाल को ज्यों-की-त्यों उतार फेंकते हैं। इसे साँप का केंचुली निकालना या उतारना कहते हैं।

सर्प केवल शिकार की खाल और मास को ही नही, बल्कि चिड़ियों के पर, अंडों के छिलके तथा शिकार की हड्डियाँ व सींग जैसे पदार्थों के कठोर भागों को भी गलाकर पचा लेता है। ऐसी कठोर वस्तुओं को पचाने में उसे बहुत समय भी नही लगता। अजगर बड़े-से-बड़े शिकार—बकरी अथवा घड़ियाल—को भी सात-आठ दिन में पचा लेता है। अन्य उरंगमों की भाँति सर्प भी शरीर मे काफ़ी चर्बी रहने के कारण बहुत दिनों तक भूखे रह सकते हैं। साँप की सभी जातियों मे नर और मादा दोनो

प्रकार के प्राणी होते हैं। अधिकतर सर्प अडज होते हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमे मादाएँ बच्चे देती हैं।

साँप बिना हाथ-पैर के कैसे चलता है ?

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब सर्प के शरीर में चलने-फिरने के लिए हाथ-पैर-जैसे कोई भी अग नही होते तो वह शान्तिपूर्वक, सरलता से, घास पर तेजी से किस प्रकार सरकता चला जाता है ? इसका कारण केवल उसकी हड्डियो और पसलियों की अनोखी रचना है। साँप के शरीर की हड्डियाँ एक दूसरे से गेंद-गड्ढे वाले जोडो की रीति से जुडी रहती हैं। हमारे शरीर मे भुजाएँ और टाँगे ऐसे ही जोडों द्वारा धड़ से जुडी हुई हैं। जिस तरह हम बिना किसी कठिनाई के अपनी भुजाओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, अगल-बगल घुमा-फिरा लेते हैं, उसी प्रकार सर्प भी अपने लम्बे शरीर को इन जोडो के द्वारा जहाँ से चाहे शीघ्र ही तोड-मरोड सकता है। उसकी पसलियाँ, जो गिनती मे २०० से ३०० जोड अथवा उससे भी अधिक होती हैं, चलने मे उसे विशेष सहायता पहुँचाती हैं। इन पसलियों के नीचे के छोर पेट की ऊपरी खाल पर उगे हुए कडे छिलकों से जुडे रहते है और ये ही पैर का काम देते हैं। जब साँप चलते है तो एक भाग के छिलके से भूमि को दृढता से पकड लेते ह और तब उनके आगे का शरीर और पसलियाँ आगे को तनती या बढती हैं। पसलियों के साथ-साथ उनसे जुडे हुए छिलके भी सरकते हैं। इस प्रकार शरीर आगे को बढता है। फिर अगले छिलके भूमि को पकडते हैं और पिछले छोड़ देते हैं, जिससे पसलियों के आगे बढते ही शरीर का पिछला भाग आगे को घसिट आता है। इसी क्रिया को जल्दी-जल्दी करने से बिना हाथ-पैरवाला यह जीव अपने शरीर को इधर-उधर बल देते हुए बडी तेजी से सरकाता या घसीटता हुआ चला जाता है। चिकने स्थान पर साँप की गति अवश्य बहुत मन्द पड जाती है, क्योंकि उसके शरीर के छिलके घासदार या खुरदरी भूमि को जितनी सुगमता से पकड लेते हैं, उतनी सरलता से चिकनी भूमि को नही पकड पाते।

स्वभाव

सर्पों के स्वभाव मे ध्यान देने योग्य सबसे मुख्य बात यह है कि वे सुस्त और कायर जीव होते हैं। मनुष्य का खटका पाते ही अथवा उसे देखते ही वे भागकर छिपने की चेष्टा करते हैं। जब उन्हे भागने का मार्ग या छिपने का स्थान नही मिलता अथवा कोई उन्हे छेडता है तभी वे मनुष्य पर वार करते हैं। बहुधा अनजान में उन पर पर पड जाने पर या भूमि पर सोये हुए मनुष्यो के नीचे दब जाने पर भी उन्होंने दसद्यात किया है। कई यात्रियों ने लिखा है कि जिस समय विषधर सर्प जगल मे धूप सेते रहते हैं उस समय यदि कोई सवार या पैदल मनुष्य उस स्थान पर आ निकलता है तो उन्हे वहाँ से हटना अच्छा नहीं लगता। तब अश्वारोही या घोडे को अपनी समीपता बताने के लिए सर्प अपना मुँह ऊपर उठाकर अपनी काली जिह्वा को जल्दी-जल्दी लपलपाने लगते हैं। सर्पों का रग जगल से मिलता जुलता होने के कारण वे स्पष्ट दिखाई नही देते, किन्तु उन की हिलती हुई जीभ जब सामने पड जाती है तब आगन्तुक घोडा अथवा मनुष्य उसे देखते ही भय से उछलकर अलग हट जाता और सर्प वहीं पर चैन की बसी बजाता रहता है।

उत्तरी कटिबन्ध के शीत-प्रदेश को छोडकर संसार के सभी देशों मे सर्प पाये जाते हैं। इनकी अधिकाश जातियाँ स्थलवासी हैं, परन्तु दलदल, नदियों और समुद्र मे भी बहुत-सी जातियाँ निवास करती हैं। कुछ जातियाँ वृक्षो पर ही रहती हैं। स्थलवासी जातियाँ पानी में भी तैर सकती हैं, किन्तु कई पनियर सर्प जल से बाहर आते ही प्राण त्याग देते हैं। १६,००० फीट ऊँचे पर्वतों पर भी सर्प पाये गए सर्प प्रायः स्वय बिल नहीं बनाते, वरन् चूहों और चींटी हैं। आदि के बिलों, वृक्षों के कोटरों तथा पुराने मकानों के खँडहरों पर ही अपना अधिकार जमाकर रहते हैं।

ग्रीष्म-ऋतु मे सर्प सध्या-समय भोजन की खोज मे इधर-उधर भटकते रहते हैं। कभी-कभी चूहे, छछूँदर, मुर्गी के बच्चे अथवा अडों की खोज करते हुए वे बस्तियों और घरो मे भी प्रवेश कर जाते हैं। प्रकृति ने उन्हे एक ऐसी अद्भुत शक्ति (शरीर को बढाने और सिकोडने की) दी है, जिसके द्वारा देखते-ही-देखते वे छोटे बिल या दरार मे घुस जाते हैं और जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं अपने शरीर को फैलाकर अपने से कई गुना मोटा शिकार हडप कर जाते हैं।

यदि कोई चूहा या मेढक सर्प से पीछा छुडाने के लिए किसी सोए हुए मनुष्य के बिस्तर में घुस जाता है, तो सर्प भी वहाँ जाकर उसे पकडने की चेष्टा करते हैं और ऐसी दशा में अधिकतर उस मनुष्य को काट लेते हैं।

शरद् ऋतु मे सर्प अपने निवासस्थानों से बहुत कम बाहर निकलते हैं। जिन देशों मे शीत की अधिकता रहती है, वहाँ वे निराहार सर्दी की मौसम भर पडे रहते हैं। शीत

का प्रभाव कम होने पर कभी-कभी बाहर निकलकर खाने योग्य जो भी छोटे जीव पाते हैं उन्हे हड़प कर जाते हैं। अडे और चिड़ियों के बच्चो को वे बड़े स्वाद से खाते हैं। जैसा कि डा० रामशरणदासजी ने लिखा है, पक्षियों के अडे खाने के लिए सर्प पेड़ो पर भी चढते है। यदि उनको पता चल जाय कि पेड की दरार में पक्षी के घोंसले हैं तो वे उसमे अपना सिर घुसेड़ देते हैं। इस प्रकार एक सर्प एक बार एक छेद मे सिर डालकर मरा हुआ लटकते देखा गया था। सभव है कि पक्षी के बच्चों को खाने के पश्चात् उसका गला इतना फूल गया हो कि वह उस छेद द्वारा बाहर न निकल सका हो, और लटकते ही लटकते उसके प्राण निकल गए हों।

कुछ सर्पिणी नरम परन्तु चीमड खोलवाले अंडे देती है। अधिकाश वे गर्मियों के ही दिनों मे अडे देती हैं और उन्हे ऐसे सूखे स्थान पर गड्ढा बनाकर रखती हैं, जहाँ धूप से वे स्वय ही सेवित हो सकें। अजगर अपने अंडों को बेखबर नही छोडता। जब तक कि उनमे से बच्चे नही निकलते, मादा अडो के ढेर को चारों ओर मे घेरकर पडी रहती है और उसी की गर्मी से वे सेवित होते हैं। अजगर सर्पिणी एक बार मे लगभग चालीस अडे देती है। परन्तु कोई-कोई सर्पिणी एक बार में सौ अडे तक दे देती है। करैत आठ-दस ही अडे देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आया है कि सर्प स्वयं अपने अडों को खा जाते हैं। सर्प के बच्चों अथवा पोओं के अडे मे से बाहर निकलने के पहले ही उनके एक या अधिक दाँत निकल आते हैं, जिनसे अंडे की खोल को काटकर वे बाहर निकल आते हैं। सर्प की कुछ जातियों मे से पोए प्रस्फुटित अवस्था तक माता के पेट ही मे रहते हैं और अलग-अलग झिल्ली मे लिपटे हुए उत्पन्न होते हैं। जन्मते ही झिल्ली फाड़कर वे बाहर निकल आते हैं और चारों तरफ फैलकर आहार की खोज मे तल्लीन हो जाते हैं। विषैले सर्प के बच्चों मे जन्म से ही विष होता है, इसलिए बच्चे समझकर उनसे बेपरवाह रहना भूल है।

सर्प बोल भी सकते हैं, परन्तु अपने-अपने अनोखे ढग से। उनकी फुफकार से तो सभी परिचित हैं। अफ्रीका का 'पफ ऐडर' नामक साँप फेफड़ो मे खूब हवा भरकर नथुनो से ऐसी तीव्रता से निकालता है कि सनसनाती हुई उसकी फुफकार बड़ी दूर तक सुनाई पड़ती है। उत्तरी अमेरिका का 'बुलस्नेक' अर्थात् साँड सर्प ऐसी तेज आवाज से बोलता है कि वह ३० या ३५ गज की दूरी से सुनी जा सकती है। भारतीय धामन सर्प भी विचित्र शब्द निकालते हैं। कुछ सर्प बगल के छिलको को एक दूसरे से अथवा भूमि से रगड़कर आवाज उत्पन्न कर सकते हैं। सबसे विचित्र आवाज उत्पन्न करनेवाले छिलके भारतवर्ष के 'झनझनिया सर्प' की दुम पर होते हैं। इसका चित्र पृ० २६०१ पर देखिए।

साँप की हड्डियों और पसलियों का अद्भुत ढाँचा

साँप की हड्डियाँ और पसलियाँ हैं, उसे तेज़ी से शरीर को बल देते हुए रेंगकर आगे को सरकने में मदद देती है।

सर्प बड़े कठोर जीव हैं। इनका धड़ सिर से अलग हो जाने पर भी बड़ी देर तक पृथ्वी पर रेंगता रहता है। सिरवाला भाग भी काफी समय तक जीवित रहता है। मुँह भी खुलता और बन्द होता रहता है, साथ ही जीभ भी बाहर-भीतर निकलती रहती है!

नाना प्रकार के सर्प

साँप छोटे-बड़े अनेक मेल के होते हैं। कोई तो दो-तीन इंच ही लम्बे होते हैं और कोई तीस चालीस फ़ीट तक लम्बे और तीन मन तक भारी! यहाँ पर हम उनमें से कुछ के विषय मे आपको थोड़ी-सी मनोरञ्जक बातें बताएँगे। पृथ्वी के सब सर्प नौ गणों अथवा वर्गों में विभाजित किए गए हैं। इनकी सूची पृ० २५९४ की तालिका में दी गई है। उक्त सूची से सहज मे पता चलता है कि भारतवर्ष और ब्रह्मा मे कही-न-कही सभी वर्गों के सर्प पाए जाते हैं।

सर्पों के नौ गण या वर्ग, वंश और उनके लक्षण तथा निवास-प्रदेश

गण का नाम	जाति-संख्या	निवास-प्रदेश	मुख्य लक्षण	विषैले या विषहीन
१. टाइफ़लोपिडी	१८	समस्त कटिबन्ध और उपकटिबन्धीय देश (स्थल)।	बिल बनानेवाले, केंचुए जैसे अंधे, कीटभुक्, पीठ और पेट पर समान आकार के छिलके।	विषहीन, निर्दोष
२. ग्लाकोनिडी	२	अफ्रीका, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, अमेरिका के उष्ण भाग और पश्चिमी द्वीप-समूह (स्थल)।	बिल बनानेवाले, केंचुए जैसे अंधे, कीटभुक्। आँखों के चिह्न होते हैं। पेट पर छिलके और केवल नीचे के जबड़े में ही दाँत।	,,
३. इलीसिडी	२	दक्षिणी - पूर्वी एशिया, ब्रह्मा, मलाया प्रायद्वीप, लका, इडोचीन (स्थल)।	छोटे।	,,
४. यूरोपेलटिडी	४४	दक्षिणी भारत, पश्चिमी घाट तथा लका की पहाड़ियाँ (स्थल)।	दो फीट तक छोटे, लम्बे। छोटी पूँछ पर खुरदरी अद्‌भुत ढाल होती है।	,,
५. जीनोपेलटिडी	१	(स्थल) ब्रह्मा।	इन्द्रधनुष-सा रंगवाला।	,,
६. एम्बलीकिफेलिडी	५	आसाम, ब्रह्मा, पूर्वी हिमालय (स्थल)।	भुथुरी खोपडी वाला।	,,
७. बोइडी	४	बोआ वंश—दक्षिणी अमेरिका के गर्म देश, बिलोचिस्तान, भारतवर्ष, प्राचीन दुनिया के गर्म भाग, दक्षिणी मेक्सिको। अनाकोंडा—दक्षिणी अमेरिका और लका।	बड़े डीलवाले अजगर। मलद्वार के दोनों ओर पिछली टाँग की जगह एक छोटा अकुर रहता है। बड़े बली होते हैं और भेड - हिरन जैसे पशुओं को दबाकर मार डालते हैं तथा फिर उन्हे समूचे ही निगल जाते हैं। दुम से पकड़ने का काम लेते हैं। पेट के छिल्के इतने चौडे नही होते कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक सके।	विषहीन, हानिकारक
८. वाइपेरिडी	१६	प्राचीन दुनिया, इगलैंड, अफ्रीका, योरप, एशिया।	ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतो के अतिरिक्त और दाँत नही होते। बच्चे देते हैं, किंतु अडे नही।	विषधर, हानिकारक, प्राणघातक
९. कोलुब्रिडी	२३१	उत्तरी गोलार्द्ध (जल-स्थल और वृक्षवासी)।	सबसे बडा गण, जिसमे बहुत से निर्दोष, कुछ थोडे विषैले (जिनमे विषदंत पीछे रहते हैं), कुछ महान् विषैले (जिनमें विषदंत सामने होते हैं) सर्प सम्मिलित हैं।	१९ जातियाँ विषधर-प्राणघातक; शेष विषहीन

तीन सौ छब्बीस जातियो मे से केवल अड़तीस जातियों के ही सर्प कम या अधिक विषैले होते हैं और ये सब सूची मे दिए हुए अंतिम दो गणों में ही सम्मिलित हैं।

छोटे अंधे सर्प

अब हम कुछ खास-खास सर्पों का हाल लिखेंगे। स्थल पर बिल बनाकर रहनेवाले अति मनोरंजक सर्पो मे से एक मलाया प्रायद्वीप का लाल चिह्न वाला सर्प है। वहाँ के निवासी उसे अपनी भाषा मे 'ऊलर किपाल दुआ' अथवा दो सिर वाला साँप कहते हैं। उसके निराले स्वभाव के ही कारण उसे इस नाम से पुकारा जाता है। उसकी दुम का छोर लाल रग के तीन प्रत्यक्ष धब्बों-से सुशोभित रहता है। ये धब्बे थोड़ी देर के लिए दो आँखो और खुले मुँह का धोखा देते हैं। उठी दुम को देखकर देखनेवाले तत्काल ही भ्रम मे पड़कर उसे गुस्से में भरे हुए जीव का-सा समझते है। यह सर्प भयभीत होते ही अपनी पूँछ ऊपर उठा लेता है और इससे पहले कि उसका शत्रु भ्रम से सचेत हो वह शीघ्र ही पीछे खिसक जाता है। यदि शत्रु वार भी करता है तो उसके सिर के स्थान पर दुम ही घायल होती है। इस प्रकार उसकी जान बचना सम्भव हो जाता है।

बिल बनानेवालों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य सर्प 'जान्स' है। इसका भी शरीर मोटे केंचुए के समान प्रतीत होता है। इसीलिए बहुधा साधारण भारतवासी उसे दोमुँहा या दोमुँही कहते है। अधिकतर ये सर्प कच्चे घरो मे निकल आया करते हैं और लड़के उन्हे हाथ में लटकाकर बाहर फेंक आते हैं। इनका रग हल्का या चटक कत्थई होता है और पीठ पर टेढ़े-मेढे धब्बे होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी है, जिनके ऐसे धब्बे नही होते।

विशालकाय सर्प—पाइथन या अजगर

सर्पों में सबसे बड़े सर्प विषहीन होते है, किन्तु अपने बल द्वारा वे बडे-बडे पशुओं को भी दबाकर मार डालते हैं। साधारणतया लोग इन सब बड़े सर्पों को अजगर के नाम से पुकारते है। इनके दो प्रमुख वशो के नाम 'पाइथन' और 'बोआ' है। इन वशों के सर्प दैत्याकार होने पर भी यथार्थ मे प्राचीन है। पूर्वीय गोलार्द्ध के बिल बनानेवाले छोटे सर्पों के समान इन अजगरो मे कूल्हे की हड्डी और पिछली टाँगों के शेष भाग अभी तक उपस्थित हैं। उनमे विष-सम्बन्धी हथियारो की नीव भी नहीं पड़ी है, फिर भी वे बडे बलवान् और भयकर हैं। बड़े-बडे जानवरो के शरीर के चारो ओर अपने बदन को रस्सी के समान लपेटकर वे इतने बल से उन्हे जकड़ते हैं कि उनकी हड्डियाँ चूर-चूर हो जाती हैं और तुरन्त ही वे मर जाते हैं। तब ये अजगर उन्हे सिर की ओर से निगल लेते हैं।

पाइथन की कई जातियाँ पुरानी दुनिया में अफ्रीका, लका, दक्षिणी भारत, बगाल, आसाम, हिमालय, ब्रह्मा, स्याम, मलाया प्रायद्वीप, निकोबार अथवा पूर्वीय द्वीप-समूह और पूर्वीय आस्ट्रेलिया मे पाई जाती है। एक और जाति नई दुनिया के दक्षिणी मेक्सिको मे भी पाई जाती है। अजगर सब देशों की जन्तुशालाओ मे पाले जाते है। भारतवर्ष के सँपेरे भी उन्हे अपनी पिटारियो मे लिये घूमा करते हैं। अन्य सर्पो के विपरीत पाइथन के गर्दन भी रहती है, या यों कहिए कि उसका सिर पिछले भाग (गर्दन) से मोटा, मुँह बहुत बड़ा, और धड़ चिपटा तथा बीच मे सबसे मोटा होता है। उसकी पीठ पर टेढ़े-मेढ़े चौकोर पीले रग के चकत्ते रहते हैं।

सबसे बडा पाइथन मलाया और हिन्दचीन का जालीदार पाइथन है, जो कभी-कभी तीस फ़ीट से भी अधिक लम्बा होता है! उसकी मोटाई तरुण मनुष्यों की जाँघ के बराबर होती है! बड़े सर्पो के विषय मे मनुष्यों ने बहुत-सी झूठी-सच्ची बाते गढ़ी हैं और उनके बहुत-से किस्से प्रचलित हैं। रोमनों के काल के एक अजगर के लिए कहा जाता है कि वह हाथी का गला घोटकर उसे मार डालता था! एक शताब्दी पहले की प्रकृति-वैज्ञानिक पुस्तकों मे लिखा है कि लका मे एक ऐसा महान् अजगर मिलता है, जो भैंसे को निगल जाता है। पर यह सब केवल काल्पनिक कहानी ही है। डाक्टर बूरजेस बारनेट ने एक ग्यारह फ़ीट के पाइथन को हिरन निगलकर बेहोश पड़ा देखा था। इसी प्रकार एक भारतीय पाइथन ने एक बार एक तेन्दुआ, जो दुम छोड़कर चार फीट लम्बा था, खा लिया था। अजायबघरों मे पले हुए पाइथनों को कभी-कभी सुअर के बच्चे और छोटे बकरे खाने को दिए जाते हैं। पर सब पाइथन इतने बड़े नही होते। भारतवर्ष और अफ्रीका के साधारण पाइथन पन्द्रह फीट से अधिक लम्बे नही होते। अफ्रीका के पाइथनों मे सबसे प्रसिद्ध पश्चिमी भाग मे मिलनेवाले अजगर और दक्षिणी भागो के पहाड़ों पर रहनेवाले चट्टानी पाइथन हैं। ये अपनी सुन्दर खाल के लिए हजारों की संख्या में मारे जा चुके हैं। आॅस्ट्रेलिया मे भी बड़े-बड़े सुन्दर रंग के पाइथन मिलते हैं, जो अपने रग के हिसाब से कालीन, हीरा और याकूती पाइथन कहे जाते हैं। आॅस्ट्रेलिया का सबसे बड़ा पाइथन अग्रेजी भाषा मे स्क्रूब

नई दुनिया का दवोचनेवाला वोआ नामक अजगर
यह विशालकाय सर्प बीस फीट तक लंबा पाया गया है।

कहलाता है। यह बीस फीट लम्बा होता और उत्तर में पाया जाता है।

वोआ

वोआ की भी गणना पाइथन की तरह अजगरों मे की जाती है। जिस प्रकार पाइथन विशेप-कर पुरानी दुनिया के निवासी हैं, उसी प्रकार वोआ अधिकतर नई दुनिया के जीव हैं और दक्षिणी अमेरिका के गर्म भागों मे ही मिलते हैं। वोआ की दो जातियाँ विलोचिस्तान, सिन्ध, पजाव, गगा की घाटी तथा निचले वगाल में भी पाई जाती है।

नई दुनिया का साधारण वोआ, जिसे दवोचनेवाला वोआ कहा जाता है, मेक्सिको से ब्रेजील के नीचे तक के जगलों में विशेषकर पूर्वीय प्रदेश में पाया जाता है। ये सर्प अपने वश मे सबसे वड़े नहीं हैं। ये अधिकतर वारह फीट के होते हैं, लेकिन कोई-कोई बीस फीट तक भी लम्वे होते हैं। ये देखने मे सुन्दर और स्वभाव में निर्दोष होते हैं। कभी-कभी चूहों की खोज मे ये खेतों मे भी चले जाते हैं।

वोओं के दाँत लम्वे तथा वडे शक्तिशाली होते हैं। क्रोध मे आकर ये शत्रु को अपने दाँतों से ऐसे कसकर पकड लेते हैं कि फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है। वोओं और पाइथनों का अतर पहचानने का एक सहज लक्षण यह है कि पाइथन के सिर पर छिलके विल-कुल नही होते, जबकि वोओं के सिर के पिछले भाग में छोटे-छोटे छिलके होते हैं।

वृक्ष पर रहनेवाले छोटी जाति के बोआ भी बड़े भडकीले रग के होते हैं। इनमे सबसे सुन्दर बोआ दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी-पश्चिमी देशों में पाए जाते हैं। उनके चमकीले चटक हरे रग पर सफ़ेद और शर्बती रंग के ऐसे सुन्दर चित्र बने रहते हैं कि जिनकी शोभा का वर्णन करना कठिन है! सर्प-ससार मे सम्भवतः ये सबसे सुन्दर प्राणी हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वे अजायबघरो मे बंदी होने पर पनप नही पाते। अन्य जातियों मे से धनुषिये नामक बोआ अमेरिका में पाये जाते हैं और एक दूसरी जाति के मडागास्कर द्वीप मे। वृक्षवासी बोआ साधारण बोआ और पाइथनों के समान अडे नही देते। वे अपनी सतान को सशरीर जन्म देते हैं। इनका जन्म तो धरती पर होता है, परन्तु पैदा होते ही वे पेड़ पर चढ़ जाते हैं और भूमि पर के शत्रुओं से अपनी रक्षा करते हैं।

एनाकोण्डा

सबसे बड़े डील-वाले अजगरों की दो जातियाँ 'एनाकोण्डा' नाम से प्रसिद्ध हैं। यह शब्द लंका से निकला जान पड़ता है, क्योंकि एक एनाकोण्डा वहाँ मिलता है और दूसरा उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका मे। लका की एनाकोण्डा जाति पाइथनों की कई जातियों मे से एक है। वहाँ ऐसा एक अजगर तेतीस फीट लम्बा मिला था! अमेरिका के एनाकोण्डा बोआ गण के सर्प हैं, जिन्हे वैज्ञानिक भाषा मे यूनेक्टीस म्युरीनस कहते हैं। उनकी पीठ पर काले धब्बों की दोहरी कतारें होती हैं। सर्प-संसार में इस भयानक अजगर की गणना सबसे विशालकाय सर्पों मे की जाती है। ये तीस-चालीस फीट तक लम्बे होते हैं। बुटानटन (ब्रेज़िल) के अजायबघर में एक एनाकोण्डा की बत्तीस फीट लम्बी खाल रक्खी है! एनाकोण्डा अर्धजलचर जीव है। यह विशेषकर रात्रि मे शिकार करता है। पानी में पड़ा हुआ यह उन जानवरों की घात मे रहता है, जो नदी के किनारे अपनी प्यास बुझाने आते हैं। कहा जाता है कि नई दुनिया का एनाकोण्डा अपने पुरानी दुनिया के भाइयो के समान पेड़ पर भी चढ़ जाता है और वही से लटके-लटके नीचे से निकलनेवाले शिकार को धर दबाता है। पृष्ठ २५८८ पर इस भयानक जीव का एक चित्र दिया गया है।
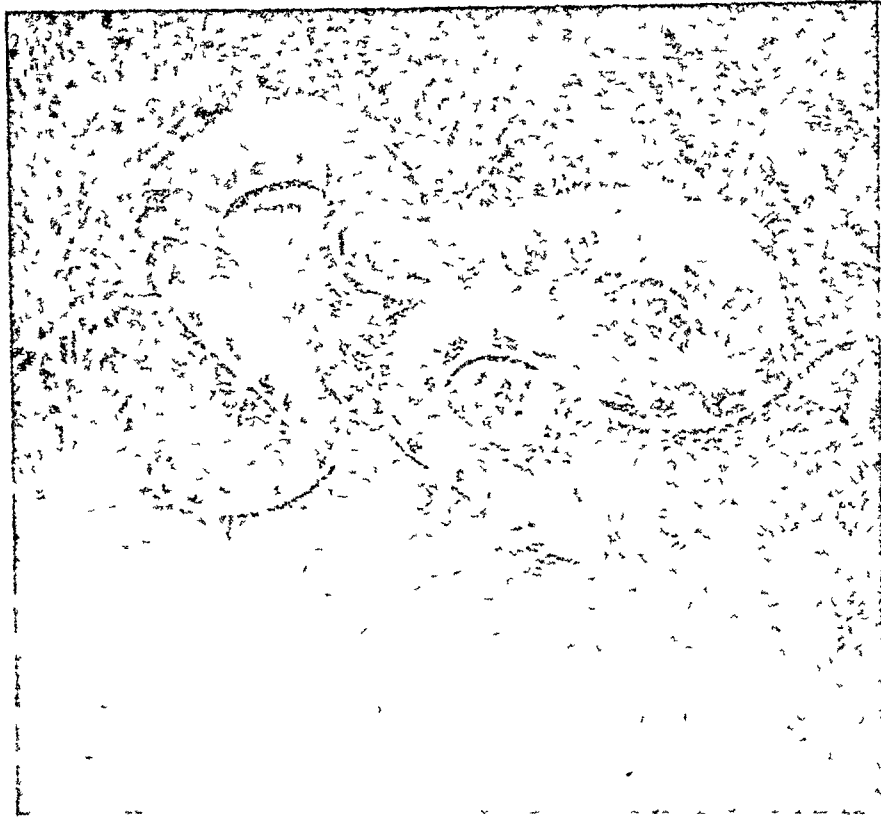
भारतीय पनियर सर्प—यह विषैला नहीं होता। यह स्वभाव से उम्दा तैराक तो होता ही है, साथ ही बड़ी तेज़ी से धरती पर रेंग भी सकता है।

बिना विषदंत के अन्य सर्प

बिना विषदंतवाले लाक्षणिक सर्पों मे से अफ्रीका-निवासी अडा तोड़नेवाले एक उपसमूह का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। शेष उपसमूहो में नाना प्रकार के स्थल, जल अथवा वृक्ष पर रहनेवाले सर्प हैं, जो लगभग डेढ़ सौ वंशों मे विभाजित है। इनमे से एक घास मे रहनेवाले सर्प हैं, जिनकी मध्यमान लम्बाई लगभग तीन फीट होती है। ये प्रायः पानी के आस-पास ही रहते हैं, क्योंकि इन्हे तैरना और मेढक खाना अति प्रिय होता है। ये सर्प भूलकर भी काटने की चेष्टा नहीं करते। फिर भी बेचारे हानिकारी समझे जाकर मार डाले जाते हैं। किन्तु इनमे से बहुत-से निर्दोष सर्प शत्रुओं को इस बात का धोखा देने के लिए कि वे विषैले हैं, भरसक प्रयत्न करते हैं। भारतीय 'चूहे-सर्प', जिन्हे हम 'धामन' नाम से पुकारते हैं और जिनकी कई जातियाँ हैं, सिर उठाकर नाग की भाँति आक्रमण करते हैं।

अन्य अहानिकर सर्प इससे भी अधिक चकमा देते हैं। उत्तरी अमेरिका के सुअर-जैसी नाकवाले सर्प का सिर चिपटा और तिकोना होता है, जिससे देखनेवाले यह समझकर कि इनके विष-ग्रन्थियाँ हैं, उनसे सतर्क हो जाते हैं। इतना ही नही, वे अपनी गर्दन को भी चिपटा कर लेते हैं,

और मुँह खोलकर फुफकार छोडते है, ताकि अनजान मनुष्य उन्हे प्राणघातक समझ उनसे दूर भाग जाएँ।

यहाँ हमे ऐसे एक और सर्प का ध्यान आता है, जिसके विषय मे सब भारतवासियो को जानकारी रखना चाहिए। वह है 'भेड़िया सर्प' अथवा 'उल्फ सर्प'। इस निर्दोष सर्प का रूप-रग ऐसा होता है कि मनुष्य को सहसा वह विपैला साधारण करैत जैसा जान पडता है। दोनो ही जाति के सर्पो की काली पीठ पर सफेद डमरू की शक्ल की दोहरी अर्ध-गोलाकार धारियाँ होती हैं। दोनो मे भिन्नता यह होती है कि भेडिया सर्प मे ये धारियाँ सिर से आरम्भ होकर पूँछ की नोक से कुछ पहले ही समाप्त हो जाती हैं और विषैले करैत मे सिरे से थोडी दूर पर वे आरम्भ होती और पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। यह भेद याद रखने योग्य है, क्योकि ये दोना सर्प आबादी मे रहना पसद करते हैं और घरों के निकट पाये जानेवाले सर्पों मे से आधे ये निर्दोष भेड़िया-सर्प ही होते हे।

ब्रेजिल का झूठा दबोइया (वाइपर) धोखा देने मे बड़ा मक्कार होता है। उसके विषदत जैसे बडे दाँत होते है, परन्तु उनमे विष-प्रणाली नही होती। ये झूठे विषदत देखने भर के ही होते हैं। ऐसा माना जाता है कि विपमय सर्पो का विकास इसी समूह के सपो मे से हुआ है।

ब्रिटेन का एकमात्र विपैला सर्प—वाइपर
इस सर्प का दंतक्षत घातक होता है, साथ ही इसमे विष-संबंधी व्यवस्था भी अन्य सर्पों मे अधिक विकसित होती है।

सर्पों मे विष-सम्बन्धी व्यवस्था

सपो मे विष उत्पन्न करने की क्रिया बडी ही मनोरंजक है। जिस प्रकार हमारे मुँह मे थूँक बनानेवाली ग्रन्थियाँ हैं, उसी प्रकार इन उरगमों मे भी थूँक उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ हुआ करती हैं। इनमे से आँख के पासवाली ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे विकसित होकर थूँक के स्थान पर विष उत्पन्न करने लगती हैं। विकास की दूसरी सीढी पर विषदत नियत हो जाते हैं और तब ग्रन्थियों का सरोकार इन दाँतो तथा जबडे की मास-पेशियों से हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इस व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करने मे असमर्थ हैं, किन्तु उपर्युक्त पक्तियों से आप यह समझ गए होंगे कि सर्प का विप वास्तव मे उसका एक विशेष प्रकार का थूँक ही है।

झूठे वाइपर-समूह के सपो की विप-ग्रन्थियाँ मुँह मे बहुत पीछे की ओर होती हैं। इनसे निकलनेवाली छोटी नलिकाएँ झूठे विपदतो की जड के पास खुलती हैं। अतः विप दाँतों मे होकर नहीं आता, वह तो मुँह के भीतर ही रह जाता है। उसका कर्त्तव्य मुँह मे पहुँचे हुए घायल शिकार के अन्दर प्रवेश करने और शिथिल करके उसे मार डालने का होता है, जिससे सर्प उसे सहज मे निगल ले। यह व्यवस्था उस व्यवस्था से कही घटिया है, जो नाग और करैत जैसे घातक सपो मे पाई जाती है। यही कारण है कि पीछे की ओर विपदतवाले सर्प कम विपैले माने जाते हैं और आगे की ओर विप-दतवाले सर्पों से, जो कि महान् विषैले होते हैं, वे पृथक् रक्खे जाते हैं। अतः लाक्षणिक सर्पों के तीन समूह माने गए हैं—(१) बिलकुल निर्दोष सर्प, (२) पीछे की ओर विषदतधारी सर्प, (३) अग्र-विषदतधारी सर्प।

पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्प

पीछे की ओर विषदतधारी सर्पो मे से अभी तक केवल एक ही सर्प मनुष्य के लिए अधिक विषैला सिद्ध हुआ है और वह है दक्षिणी अफ्रीका का 'बूमस्लैंग'। डच भाषा मे बूम का अर्थ वृक्ष और स्लैंग का अर्थ है सर्प। बूमस्लैंग वृक्ष पर रहनेवाला एक बडा सर्प है। विज्ञानवेत्ता इसे

बहुत समय तक अहानिकर समझते थे, पर अफ्रीका-निवासी इसे विषैला मानते थे। साधारणतया जनता के प्रचलित विचार ही सही निकल जाते हैं। कई एक योरपीय इनके काटने पर मृत्यु से बच भी गए हैं। सम्भव है कि इनमें विषैले दाँत पीछे होने के कारण उनका पूर्ण प्रभाव मनुष्य पर न पड पाता हो।

पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्पों मे सबसे सुन्दर विटपवासी सर्प ही होते हैं। मलाया का काला तथा सुनहरा सर्प, एव भारतवर्ष के दक्षिणी-पूर्वी भाग मे तथा ब्रह्मा मे १,५०० फीट की ऊँचाई पर पाए जानेवाले सर्प बड़े ही मजुल होते हैं। इनका चटक रंग वृक्ष के पत्तो और उनकी छाया से तथा पतला शरीर शाखाओ अथवा टहनियो से ऐसा मिल जाता है कि बहुधा पथिक उसे देख ही नही पाता।

अमेरिका के नुकीले सिरवाले भूरे वृक्षवासी सर्पो मे हमे रग द्वारा अदृश्य होनेवाले सर्पों का एक उत्तम उदाहरण मिलता है। जिस प्रदेश मे लाइना नामक लता (जो कि देखने में रस्सी के समान भूरे रग की होती है) बहुतायत से पाई जाती है, वहाँ के घने जगलो मे ये रहते हैं। इस लता की छाल और इस सर्प के शरीर पर एक जैसे धब्बे होते हैं। उनमे इतनी समानता होती है कि वहाँ के लोग सर्प तथा लता दोनों को एक ही नाम—'वेजूको'—से पुकारते हैं। सर्प लता की जटाओ मे फदा डाले चुपचाप लटके रहते है और पास से निकलनेवाली छिपकलियो को हड़प कर अपना पेट भरते हैं। ये जीव पक्के वृक्षवासी होते हैं, कदाचित् ही भूमि पर उतरते हों। असावधान छिपकलियो को यह अस्पष्ट सर्प धोखा देकर शीघ्र ही काल के मुँह मे पहुँचा देता है।

भारतीय दुमुँहा सर्प

इस साँप के दरअसल दो मुँह नही होते, केवल उसकी दुम ऐसी बनी होती है कि दूसरा मुँह होने का भ्रम हो जाता है।

अग्रविषदंतधारी सर्प

सब प्राणघातक सर्पों मे विषदंत आगे की ओर रहते हैं। अब हम अपने तथा अन्य देशों मे पाये जानेवाले ऐसे ही भयंकर तथा विचित्र सर्पों का सक्षिप्त वर्णन करेंगे। अति विषैले कोलुब्रिडी वर्ग के सर्प चार समूहों मे विभाजित हैं—कोबरा, करैत, कोरल और कापरहेड। इन सबमे विष की बड़ी ग्रन्थियाँ होती हैं और विष के दाँत मुँह मे आगे की ओर रहते हैं, अतः शिकार पर आक्रमण करते समय वे सहज मे उस तक पहुँच जाते हैं। पीछे की ओर विषदन्तवाले सर्पो के दाँतो की अपेक्षा आगे के विषदन्तवाले सर्पो के दाँत अधिक उपयोगी होते हैं। इनमे विष ले जानेवाली प्रणाली एक नलिका मे होकर दाँत के छोर तक पहुँच जाती है। ये विषदन्त मानों एक प्रकार की इंजेक्शन देनेवाली महीन पिचकारियाँ हैं, जो विष को छेद के पेंदे तक पहुँचा देती हैं। योरप को छोड़कर अन्य सभी महाद्वीपों मे ये विषमय सर्प पाये जाते हैं और सर्प द्वारा मृत्यु होनेवाले प्राणियों की हत्या में सबसे बड़ा हाथ इन्ही का है। इन चारो समूहों मे से सबसे अधिक मृत्यु कोबरा द्वारा होती है।

नागो में सबसे भयानक और तेजस्वी वे हैं, जिन्हे हम अपने देश में शेषनाग, महानाग, नागराज अथवा शखचूड़ के नाम से पुकारते हैं। ये बड़े वीर और निपुण होते हैं। इनका सिर चिपटा, मुड़ा हुआ, थूथनी के समान होता है, जिसके पीछे गरदन की खाल फैलकर फन का रूप धारण कर लेती है। यह फैलाव पसलियों के फैलते ही खाल के तन जाने से होता है। इनकी आँखो मे विचित्र ज्योति होती है, जिससे वे बहुत सचेत प्रतीत होते हैं। इनका रंग जैतूनी या गहरे भूरे से लेकर बिल्कुल काला तक होता है, जो अनोखा-सा दिखता है। उसमे जहाँ-तहाँ पीलापन और कालिमा लिये हुए कुछ पट्टियाँ होती हैं और कभी-कभी ये पट्टियाँ छोटी-छोटी चित्तियो से युक्त होने के कारण धब्बेदार रेखायें जैसी लगती हैं। युवा शेषनाग का रंग नवजात नाग से बिल्कुल भिन्न होता है। साधारणतया शेषनाग की लम्बाई ग्यारह-बारह फीट की होती है, किन्तु

कोई-कोई नाग पन्द्रह-सोलह फीट लबाई के भी मिले हैं! पौराणिक गाथाओं के अनुसार पृथ्वी एक हजार फनवाले महान् शेषनाग के सिर पर रक्खी हुई है और जब वह महान् शेष जँभाई या अँगडाई लेता अथवा करवट बदलता है तब भूमि हिलती है और भूमि के इस हिलने को भूडोल कहते हैं! इसी सम्बन्ध में एक और रोचक बात हमें सुनने को मिली है। कुछ पडितों का कथन था कि पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोहे की लाट शेषनाग के सिर पर गडी हुई है। कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज ने इस कथन की वास्तविकता जानने के लिए उसे खोदने की आज्ञा दी और खोदने पर वास्तव में लाट के सिरे पर रुधिर प्राप्त हुआ! दिल्ली-अधिपति द्वारा इस प्रकार सताये जाने पर उस नागराज ने श्राप दिया, जिसके फलस्वरूप उस राजा का राज्य नष्ट हो गया!

उपर्युक्त विचारों के सम्बन्ध मे हमे कुछ कहना नही है, पाठक स्वय ही वास्तविकता को परख ले। किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि भारतवासी नागराज से सदैव भयभीत रहते आए हैं और उसे अलौकिक शक्तिधारी मानते हैं।

अति विषैला और भयानक सर्प—गहुअन नाग या कोबरा

इसके फन पर पीछे की ओर गाय के खुर की शक्ल का एक काला और सफेद चिह्न बना रहता है। चित्र में इसका सामने का भाग भी प्रदर्शित है।

नागराज विश्व का सबसे अधिक विषमय तथा घातक सर्प है। वह बहुत ही फुर्तीला तथा शीघ्रगामी होता है। कहा जाता है कि थोड़ी दूर आगे गए हुए घोडे को भी वह सरलता से पकड़ लेता है। वह शीघ्र ही क्रोधित होनेवाला और आक्रमण के लिए सदैव प्रस्तुत रहनेवाला प्राणी है। जिस समय वह पृथ्वी से अपना धड ऊपर उठाकर, फन फुलाये, चमकीली आँखें निकालकर खडा हो जाता है, उस समय कौन ऐसा प्राणी होगा जो स्वय भयभीत न होकर उसे डरा सके? प्रसव-काल तथा वर्षा के पश्चात् इसका क्रोध और भी तीव्र हो जाता है और जरा-सी भी छेड़-छाड़ करने पर वह सीधा शत्रु पर टूट पडता है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि शेषनाग किसी प्राणी को देखते ही उसका पीछा करता है। वस्तुतः क्रुद्ध होने पर ही वह हमला करता है। अन्य विषधर सर्पों की अपेक्षा उसमें विष कही अधिक होता है। राजर्स साहब का कथन है कि एक आदमी को मारने के लिए जितने विष की आवश्यकता होती है, उसका दस गुना विष शेषनाग के एक दाँत मारने में निकला करता है।
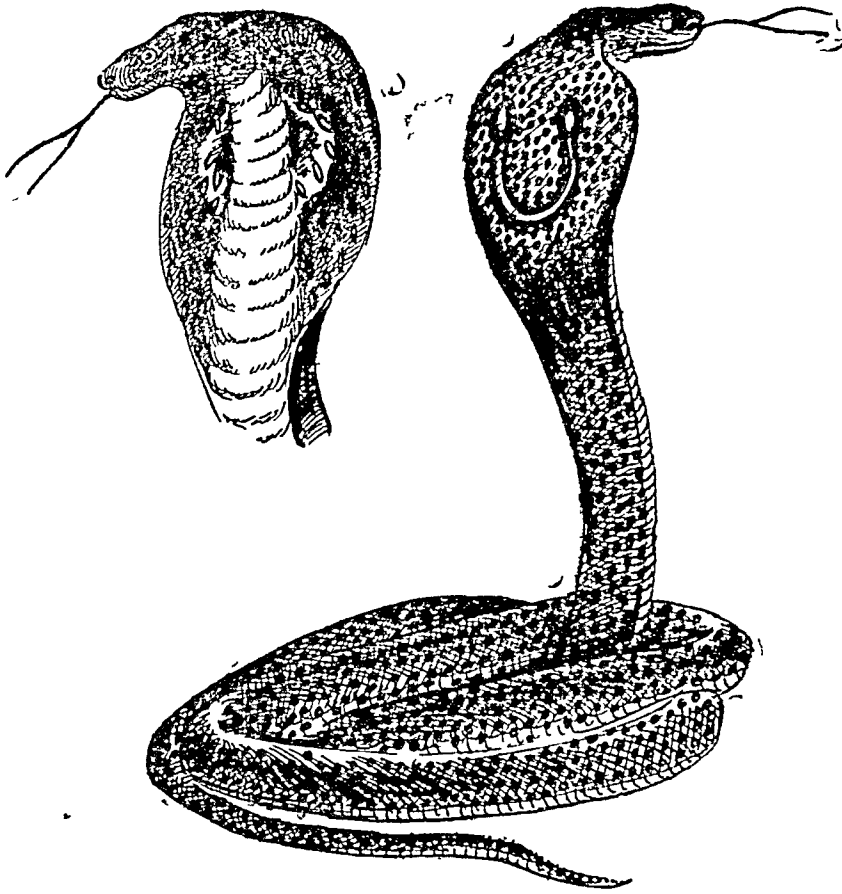
यह हमारा परम सौभाग्य है कि यह नागराज प्रचुर नहीं है और जगलों के कट जाने से उसकी सख्या धीरे-धीरे और भी कम होती जा रही है। भारत में यह विशेषकर हिमालय, आसाम और दक्षिणी भारत के सदा हरे घने पहाड़ी जगलो के एकान्त स्थानो मे ही निवास करता है। किन्तु मैदानी जंगलों में भी यह जीवन व्यतीत कर सकता है। पहाडियो पर यह समुद्रतल से सात हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बहुधा वृक्षों पर चढ जाता है और बड़ा अच्छा तैराक भी होता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त यह ब्रह्मा, इन्डोचीन, दक्षिणी चीन, अडमन द्वीप-समूह, मलाया प्रायद्वीप तथा फिलीपाइन द्वीप-समूह मे भी मिलता है।

इन राक्षसी उरगमों का भोजन भी बड़ा विचित्र है। ये मुख्यतः अन्य सर्पों को खाना ही पसन्द करते हैं, चाहे वे विषहीन हो अथवा विषमय। करैत जैसे विषैले सर्पों को समूचा निगल जाने पर भी यह सर्प जैसे का तैसा रहता है!

बम्बई के एक संग्रहालय में एक नाग अन्य फनियर नागों को वैसे ही खा जाता था, जैसे निर्दोष साँपों को। एक बन्दी शेषनाग ने तो इतने सर्प खाए थे कि वे एक में मिलाने से १६४ फ़ीट लम्बे होते थे! इसीलिए संस्कृत में इसका एक नाम 'भुगगभुक्' भी है।

फनवाला गेहुँअन नाग

शेषनाग के पश्चात् दूसरा भयानक सर्प कोबरा है, जो हमारे देश में नाग, फनियर, गेहुँअन अथवा गोखुरा नाम से प्रसिद्ध है। इससे भी लोग भयभीत रहते हैं। लम्बाई में तो यह केवल छः फीट होता है, किन्तु इसका फन नागराज के फन से भी बड़ा होता है और यह भी जोश या क्रोध में अपना शरीर उठा लेता है। यही कारण है कि यह फनियर कहलाता है। गेहुँआ अथवा खैरे रग का होने के कारण लोग इसे गेहुँअन भी कहते हैं। इसके फन पर पीछे की ओर बहुधा गौओं के खुर की भाँति काला और सफ़ेद चिह्न रहता है और फन के नीचे की ओर भी इसी प्रकार के दो या एक धव्वे होते हैं। दो धव्वेवाले सर्प को कलकत्ते के आस-पास रौखुड़ा कहा जाता है। एक धव्वेवाले को कहीं-कहीं क्यूटिया भी कहते हैं। अंग्रेजी भाषा मे फनवाले चिह्न को चश्मे के आकारवाला माना जाता है। कभी-कभी यह चिह्न नहीं भी रहता और कुछ नाग ऐसे भी हैं, जो फन निकाल ही नही सकते।

गेहुँअन सर्प खटका पाते ही घबड़ा जाता है और छेड़ने पर शीघ्र ही सिर उठाकर फन फैलाये धनुषाकार रूप में अपनी गर्दन टेढी करके खड़ा हो जाता है और जिस जीव से रुष्ट होता है उस पर थोड़ी-थोड़ी देर मे आक्रमण करता है। आक्रमण करते समय वह तेज फुफकारी छोड़ता हुआ उठे हुए टेढ़े धड़ को आगे फेक-कर मारता है। कभी-कभी क्रोधित होने पर यह नाग अपने शत्रु के पीछे दौडता भी है और पास आने पर सिर उठाकर आक्रमण करता है। काटते समय यह बहुत देर तक शत्रु के शरीर में दाँत घुसेड़े रहता है, जिससे घाव मे काफी विष प्रवेश कर जाय और शिकार बचने न पाए। यह नाग साधारणतः छछूँदर, चूहा तथा मेंढक पर जीवन-निर्वाह करता है। चूहे का पीछा करते हुए यह बड़ी तेज़ी से भागता है और मेंढक पकड़ते समय इसका सिर मेंढक की उछाल के साथ हवा मे दिखाई देता है और बात की बात मे मेंढक उसके मुँह में प्रवेश कर जाता है।

प्रत्येक मदारी दो-एक ऐसे साँप अपने साथ लिये रहते हैं और बीन बजाकर इनका खेल तथा नेवले से इनकी लड़ाई दिखाकर पैसा कमाते हैं। यदि आपने यह युद्ध देखा है तो क्या कभी यह भी विचार किया है कि नेवले से लड़ते समय सर्प सदैव अपना बचाव ही क्यों करता रहता है? वह नेवले पर आक्रमण क्यो नही करता? इसका कारण सरल है। नेवला सर्प का भोजन नही है और वह अपनी स्वाभाविक बुद्धि से जानता है कि नेवला उसे कोई विशेष हानि नही पहुँचा सकता। अतएव ऐसी अवस्था में उस पर आक्रमण करना व्यर्थ है।

भारतीय कोबरा एशिया महाद्वीप के सभी पूर्वी-दक्षिणी देशों में मिलता है, पर भिन्न-भिन्न स्थानों मे इसमें कुछ अन्तर मिलता है। सम्पूर्ण काला नाग मलाया में ही होता है। चश्मे जैसे चिन्हवाला नाग बहुधा मकानों तथा झोपड़ों के आस-पास रहता है और एक आँख जैसे चिन्हवाला नाग विशेषकर दलदल मे ही पाया जाता है। कही-कहीं के लोग इस घातक जीव की उपासना भी करते हैं और नागदेव को दूध पिलाकर प्रसन्न करते हैं। किन्तु यह बड़ी अज्ञानता तथा भूल है। इसकी भी एक कहानी है। एक समय कोई देवता जंगल मे सोए हुए थे कि उन पर धूप
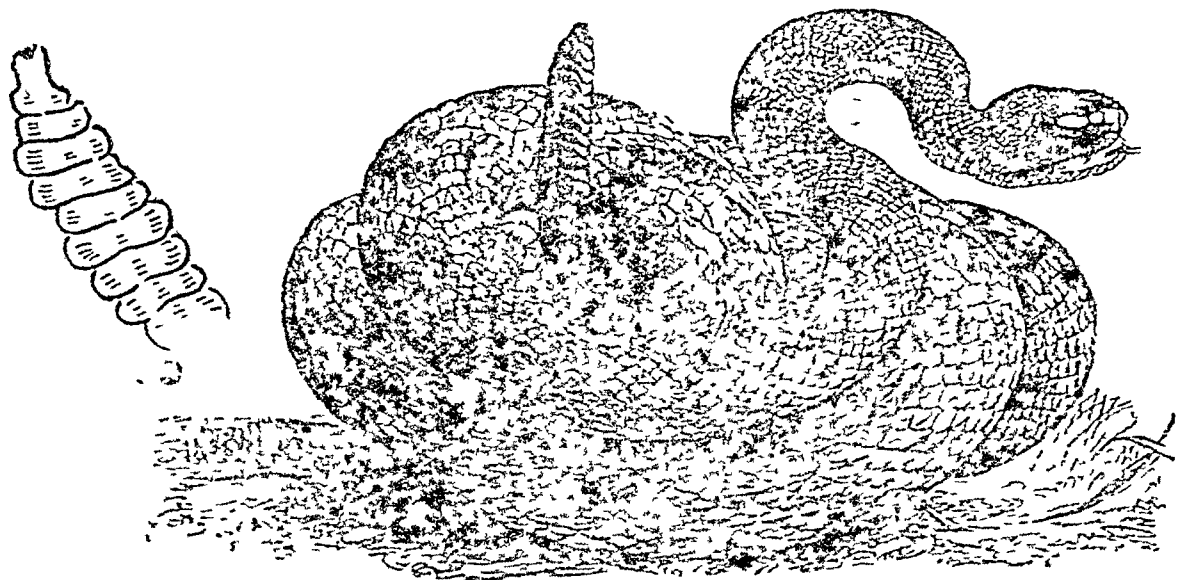
झनझनिया सर्प (Rattlesnake) और उसकी विचित्र दुम
यह साँप विषैला होता है और इसकी खास विशेपता इसकी दुम होती है, जो चित्र में बाईं ओर को अलग से दिखाई गई है। जब कोई खटका होता है तो यह इस दुम को झनझनाता है।

आ गई। यह देखकर एक नाग पास गया और अपना फन फैलाकर उसने देवता के मुख पर छाया कर दी। इस बात से देवता इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने सर्प को आशीर्वाद दिया। उसके सिर पर उन्होने जो हाथ रक्खा उसकी ही अँगुलियो का चिन्ह उस सर्प के फन पर बन गया। तभी से नाग के फन पर यह पवित्र चिन्ह रहने लगा और लोग उसकी उपासना करने लगे।

करैत बगेरस वश का सर्प है, जो सयुक्त प्रान्त मे बहुत मिलता है। इसका विप नाग के विप से चौगुना-पचगुना अधिक तीव्र होता है। यह छोटा—चार फीट का—सर्प अपने से बडे नागो से कम घातक नही होता। यह समूहो मे बस्तियो के निकट खेतों मे या छोटी झाड़ियों के जगलो मे पानी के आस-पास रहना पसन्द करता है। करैत साधारणतः अन्य साँपों को खाता है, परन्तु कभी-कभी चूहे, छिपकलियाँ, मेढक आदि भी वह खा लेता है। दिन मे तो यह छिपा रहता है और रात्रि मे भोजन की खोज मे निकल पड़ता है। छेडे जाने पर यह अपने सिर को शरीर की कुण्डलियो मे छिपाकर निश्चिन्त हो जाता है और थोड़ी देर तक चुप्पी साधे पडा रहता है।

साधारण करैत की पहचान यह है कि उसकी चमकीली काली या चटक कत्थई रग की पीठ पर आर-पार पतली श्वेत धारियाँ पडी होती हैं, जो सिर के पीछे से आरम्भ होकर पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। इसके पेट का रग मोती के समान सफेद होता है। पीठ के मध्य भाग के छिलके बगल के छिलको से बडे और कुछ-कुछ पतले होते है। उसकी दुम के नीचेवाले छिलके समूचे होते हैं।

करैत की एक जाति के पीठ पर पीले और काले गडे अर्थात् चौड़ी धारियाँ पड़ी रहती हैं। ऐसे करैत को चितकौड़िया और साधारण करैत को कौडिया चितकौडिया भी कहते है। चितकौड़िया करैत विशेपकर जङ्गली स्थानो मे रहना पसन्द करता है।

विष थूकनेवाले भयानक सर्प

अफ्रीका मे सात जातियो के नाग पाए गए हे। इनमे से सबसे भयानक 'वृक्ष कोबरा' अथवा माम्बा है। वह अधिकतर दक्षिणी भागों के जगलों मे मिलता है। उसकी दो जातियाँ है—एक हरा, जो नौ फीट तक लबा होता है और दूसरा काला, जिसकी लम्बाई लगभग १३ फीट की होती है। नागराज के बाद सबसे अधिक और अत्यन्त प्राणघातक विप काले माम्बा मे ही होता है। अफ्रीका मे एक और विचित्र नाग रिंघल (जिसें दक्षिणी अफ्रीका का थूथनवाला नाग कहते हैं) पाया जाता है। इस प्रदेश के अतिरिक्त यह विश्व के किसी भी भाग मे नही पाया जाता। इसमे दो विशेपताएँ होती हैं—पहली यह कि क्रोध करने पर यह मुँह से फुफकारी के साथ ऐसी तेजी से विप थूकने लगता है कि उसकी बौछार ढाई-तीन हाथ दूर तक जाती है। विप की छीट आँख मे पडने से तेज जलन होने लगती है और प्रायः आँख फूट भी जाती है। इसीलिए इस साँप को पकडते समय सँपेरे अपनी आँखो की रक्षा के हेतु चश्मे पहन लेते हैं। दूसरी विशेप बात यह है कि यह अन्य नागो के समान अडे नही देता, वरन् छोटे-छोटे बच्चे देता है।

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप भी अपने विषैले सर्पो के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के समस्त सर्पो मे से दो तिहाई सर्प विपैले हैं, किन्तु १०५ जातियों मे से केवल पाँच जातियाँ ही प्राणघातक हैं। ये सब उसी कोलुब्रिडी गण के जीव हैं, जिसमें कोबरा और करैत सम्मिलित हैं। इनमे सबसे बडे और सबसे विपैले भूरे रग के टाइपन और देखने मे ताँबे जैसे सिर वाले कोपरहैड सर्प हैं। टाइपन की लम्बाई दस फीट या उससे भी अधिक होती है और वह भयकर भी अधिक होता है। मनुष्य को देखते ही वह एकाएक आक्रमण कर बैठता है और एक बार ही मे विप के इतने बूँद काटे हुए घाव मे भर देता है कि जो बीस आदमियो को ठिकाने लगाने के लिए यथेष्ट होता है।

मणि जैसे सुन्दर सर्प

अमेरिका महाद्वीप मे अग्रदतधारी विपमय सपो की एक जाति होती है, जो कोरल कहलाती हैं। ये सब सर्प असाधारण मनोहर होते हैं। उन पर अत्यन्त सुन्दर चित्रकारी बनी रहती है। उन्हे देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो चमकते हुए चटकीले लाल और पीले मूँगे के छिलके एक के पीछे एक जड दिए गए हो। कैसे आश्चर्य की बात है कि ये मणि जैसे सुरूप जीव भी अत्यत विषैले हैं। उनकी लम्बाई दो या तीन फीट की होती है और सिर भी छोटा ही होता है, इसलिए वे मनुष्य जाति पर अपने विप का प्रयोग बहुत कम कर पाते है। उनके विषदत बहुत लम्बे होते हैं। साधारण दशा मे ये दाँत मुख के पीछे रहते हैं, परन्तु जब सर्प चोट करने को होता है तो वे मुडकर जबड़ो के सामने निकल आते हैं। यदि वे सदा इसी अवस्था मे रहे तो सर्प के लिए भोजन पाना और मुँह बन्द करना कठिन हो जाय। अचम्भे की बात है कि ये प्राणघातक जीव भी बडे सहज मे पाले जा सकते है। पीरू मे एक स्कूल के मास्टर साहब ने ऐसे दो साँप निर्दोष जानकर पाल लिये थे। वे

पाइथन वंश का महान् सर्प—अजगर

यह संसार का सबसे बडा और भारी सर्प माना जाता है । कोई-कोई अजगर ३० फ़ीट से भी अधिक लंबे और लगभग तीन मन तक भारी पाए गए हैं । अजगर के बारे मे यह प्रसिद्ध है कि वह अपने शिकार को समूचा ही निगल जाता है । उसकी जकड इतनी सुदृढ होती है कि एक बार उसके पाश मे फँसने पर फिर शिकार की हड्डी-पसलियों की कुशल नही । चित्र में पेड के तने से एक हिरन को जकड़े हुए यह दैत्याकार जीव दिग्दर्शित है ।

उन्हे अपनी मेज की दराज मे रखते थे । किन्तु दोनो सर्प उसमें से निकलकर इधर-उधर घूमा करते और मास्टर की कलम और हाथ पर चढकर खेला करते थे । लोगो के कहने पर भी मास्टर साहब अपने इन पालतू खिलौनों को न छोड़ते थे । परन्तु एक दिन जब उनमे से एक ने एक छिपकली को, जो उसे खाने को दी गई थी, एक ही चोट मे ऐसा बेजान कर डाला कि मानों उस पर बिजली गिर पड़ी हो, तब मास्टर साहब की आँखे खुली और उन्होने उन सर्पों को जगल मे छुड़वा दिया ।

विषमय तथा विषहीन सर्पों की अचूक पहचान

शोक की बात है कि हमारे देश मे कई सौ मनुष्य प्रतिवर्ष सर्प के काटने से मरते है तो भी उनके विषय मे अब तक जनता को इतना ज्ञान नही है कि जान सके कि मनुष्य को विषैले अथवा विषरहित सर्प ने काटा है। इसकी पहचान जानना आवश्यक है और यह इतनी कठिन भी नही है कि साधारण व्यक्ति जान न सके । यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह पहचान डीलडौल, फन या ऐसी ही मोटी-मोटी बातों से नही हो सकती । कुछ सहायता पूँछ के आकार से मिल सकती है, किन्तु सर्प के शरीर पर जो चिह्न और स्केल अथवा सिन्ने होते हैं, यदि उनकी सावधानी से जाँच की जाय तो ठीक-ठीक पता लग जाता है कि अमुक सर्प विषधर है अथवा विषहीन । इस विषय की जानकारी के लिए अगले पृष्ठ पर दी गई सचित्र तालिका देखिए ।

विषैले और विषहीन सर्पों के पहचानने की रीति

पूछ दाहिनी बाईं ओर से चिपटी हो
तो
सर्प समुद्री **विषैला** होगा

पूँछ गोल या लगभग गोल हो
तो
सर्प स्थलवासी **विषैला** या **विषहीन** होगा

पीठ और पेट पर एक ही जैसे स्केल या सिन्ने हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा

पेट पर के सिन्ने बड़े और चौड़े हों, लेकिन इतने नहीं कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** होगा

पेट पर के सिन्ने इतने चौड़े हों कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** या **विषैला** होगा
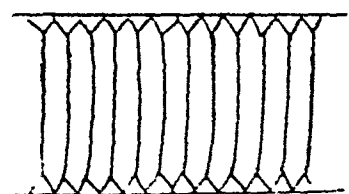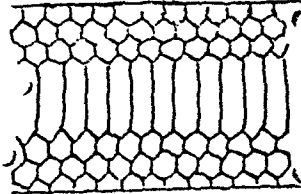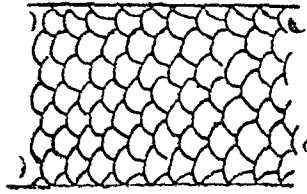
सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों और नाक व आँख के बीच में गड्ढा हो
तो
सर्प **विषैला**—गड्ढेदार दबोइया होगा

सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों परन्तु नाक व आँख के बीच में गड्ढा न हो
तो
सर्प **विषैला**—बिना गड्ढेदार दबोइया होगा

सिर पर बड़े-बड़े स्केल हों
तो
सर्प **विषैला** या **विषहीन** होगा
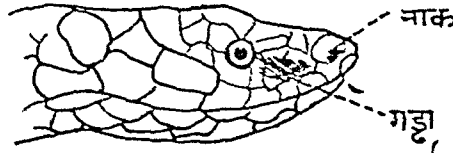
(१) ऊपर के ओठ का तीसरा स्केल आँख व नाक के स्केल को छूता हो
तो
सर्प **विषैला** होगा

(२) पीठ पर बीच के स्केल दूसरों की अपेक्षा बड़े हों और उन पर अर्धगोलाकार धारियाँ हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल इकहरे हों
तो
सर्प **विषैला** करैत होगा

(३) यदि न. १ और न. २ के कोई चिह्न न हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा
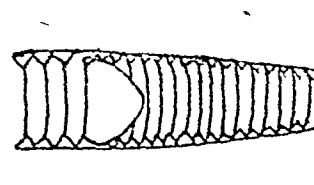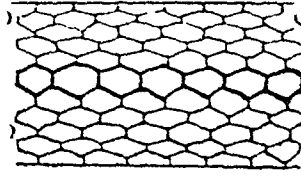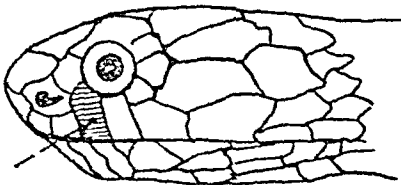
गर्दन और फन पर चश्मे के आकार या 'वी' जैसा चिह्न हो, पेट पर रंगीन धब्बे हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल दोहरे हों
तो
सर्प **विषैला** कोबरा या नाग होगा

पेट पर लाल मूँगे के रंग की धारियाँ हों
तो
सर्प **विषैला** कोरल होगा
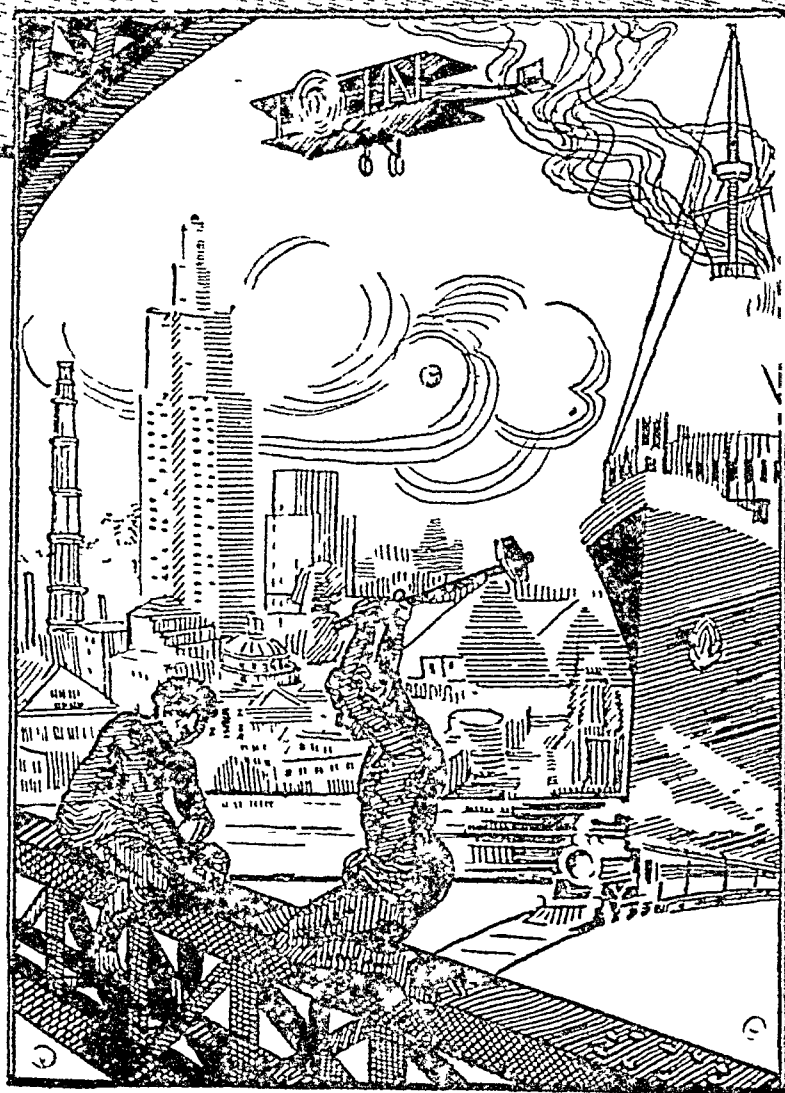
मनुष्य
की कहानी

विचारमग्न मानव

मनुष्य की एक मुख्य विशेषता यही है कि वह एक विचार करनेवाला प्राणी है। [प्रस्तुत चित्र मे फ्रेंच मूर्त्तिकार रोदाँ की सुप्रसिद्ध कलाकृति "Thinking Man" (विचारक मानव) प्रदर्शित है]

हमारे सोचने की क्रिया
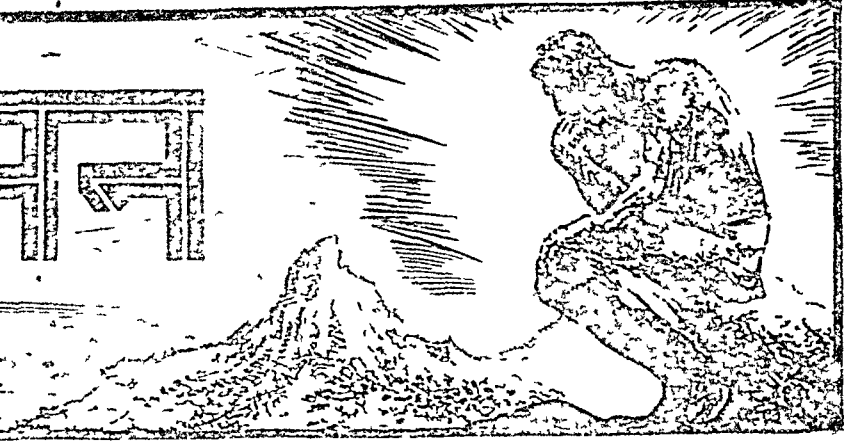
बचपन से ही हम यह सोचने के आदी हो गए हैं कि मनुष्य और पशु मे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ पशु के अन्दर विचार करने की शक्ति नही होती, वहॉ हम विचारशील प्राणी हैं। इसके पहले कि हम इस तथ्य की सत्यता की परीक्षा करें, हमे यह देखना है कि विचार है क्या, इसका मनोवैज्ञानिक आधार और रूप क्या है और प्राणी विचार अथवा चिन्तन कैसे करता है।

विचार-क्रिया मनोवैज्ञानिकों के लिए हमेशा से एक गहन समस्या रही है, और अब तक भी यह प्रश्न हल नही हो पाया है। जितने मनोविद् हैं, उतने ही सिद्धान्त हैं। उन सबका यहॉ पर विस्तीर्ण वर्णन कर सकना सभव नही, फिर भी मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख मैं अवश्य करूँगा, तथा अपना विचार भी देने की चेष्टा करूँगा।

पहले के एक लेख में मै बता चुका हूँ कि मनोवैज्ञानिकों का एक स्कूल अथवा संप्रदाय सयोजनावादी (Sensationist) कहलाता है। इनका ऐसा विश्वास है कि मनुष्य की सारी अनुभूतियो के मूल आधार उसके अन्दर होने वाली सवेदनाएँ है। बाहरी जगत् से प्राप्त होनेवाले प्रत्येक उद्दीपन का एक विशेष सावेदनिक प्रतिवेदन होता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के सवेदनो के सयोजन से मानसिक अनुभूति होती हैं। इस सम्प्रदाय के मत को आप साधारणतः 'मानसिक रसायन' का नाम दे सकते हैं।

सयोजनावादी अपने परीक्षणो के लिए अन्तर्दर्शन के सिवाय और किसी चीज का सहारा नहीं लेता। मानसिक क्रिया को वह अन्तर्दर्शन के द्वारा टुकडे-टुकड़े करके उसके मूल सवेदनो मे परिवर्त्तित करने की चेष्टा करता है, और उसकी खोज कुछ इस प्रकार की होती है—अमुक अनुभूति अमुक-अमुक सवेदनों का मिश्रण है।

अपनी खोजो के सिलसिले मे जब ये मनोवैज्ञानिक विचार-क्रिया पर पहुॅचे तो उनकी यह धारणा हुई कि आदमी प्रतिरूपो के द्वारा ही विचार करता है। उन्होंने यह समझा कि बाहरी वस्तुओं के मानसिक प्रतिरूप की भिन्न-भिन्न सयोजना का अनुभव ही विचार है। एक बात हमेशा याद रखने की है कि सयोजनावादी मन को सक्रियता प्रदान नही करता। उसका विश्वास है कि मन एक अक्रिय वस्तु है, और उसके अन्दर स्वय कुछ करने की शक्ति नही। वह अनुभूतियो को ग्रहण कर सकता है, उनके साथ खिलवाड नही कर सकता। किसी हद तक इस सिद्धान्त की निरर्थकता मै पहले भी बता चुका हूँ। लेकिन उस समय इनका ही जोर था।

पेरिस के एक महान् मनोविद् आल्फ्रेड बिने (१८५७—१९११) ने आदमी की तर्कना-शक्ति के सबध मे एक पुस्तक लिखी। उस समय उसने वैज्ञानिक परीक्षणों की उतनी पर्वाह नही की थी। लेकिन पीछे इसी सबध मे खोज करते हुए उसने एक महान् तथ्य का आविष्कार किया। पहले उसने भी यही सिद्धान्त निश्चित किया था कि विचार प्रतिरूपों का खेल मात्र है। लेकिन १९०० ई० मे (१४ वर्ष और १३ वर्ष उम्र की) अपनी दो लड़कियों पर उसने परीक्षण करना शुरू किया। वह उन्हे छोटे-छोटे प्रश्न देता था, जिनका उत्तर उन्हे देना पड़ता था। उत्तर पा जाने के बाद बिने उनसे इस तरह के प्रश्न करता था—इस सवाल के हल करने मे तुमने कैसे सोचा? यह उत्तर तुम्हे किस प्रकार सूझा? यह वस्तु तुम्हे क्योंकर सूझी? क्या तुमने उसे देखा या अपने मन मे उसका नाम लिया? कुछ मौकों पर तो लड़कियो ने वस्तुओ के प्रतिरूपो का देखना स्वीकार किया, किन्तु अधिकतर उन्होंने यह बताया कि उन्हे किसी प्रकार का प्रतिरूप दिखाई नहीं दिया, प्रश्न मिलते ही उन्हे उत्तर सूझ गया। परिणाम यह हुआ कि लाचार होकर प्रतिरूपो वाले सिद्धान्त

का बिने को त्याग करना पडा। बिने ने प्रतिरूप-रहित विचार को नाम देने की कोशिश की और उसे कोई उचित नाम नही मिला। उसने कहा—सोचना सोचने ही के जरिए चलता है। हम सोचते कैसे हैं? सोचने के द्वारा। यही उसका उत्तर था।

इन पक्तियों के लेखक ने अपने अनेक लेखों मे आदमी को विचार का पुतला साबित किया था, और कभी उसके ध्यान मे इस सोचने की क्रिया का विश्लेषण करने की बात नही आई थी। जब पहले पहल मनोविज्ञान की कक्षा मे विचार-क्रिया का प्रश्न उठा, और लेक्चरर महोदय ने यह बताया कि विचार प्रतिरूप-रहित हो सकते हैं, तो मुझे आश्चर्य-सा हुआ था। मैं स्वय हमेशा से यही समझता आया हूँ कि आदमी शब्दों की सहायता से ही विचार करता है। मेरा अभी भी यही खयाल है कि कम-से-कम वे लोग जिन्हे गम्भीर चिन्तना करनी पडती है, अपने मन मे शब्दों अथवा भाषा के जरिए ही विचार करते हैं। मैं जब विचार करता हूँ तो, चाहे छोटी से छोटी ही बात क्यों न हो, यही पाता हूँ जैसे मैं स्वय से बातें कर रहा होऊँ। अगर कोई प्रश्न मुझसे किया जाता है तो उसका जवाब यदि तुरन्त मुझसे न माँगा जाय तो मालूम होता है जैसे उत्तर वाक्यों मे मेरे मन मे आ जाता है। और अगर तुरन्त बोलना पड़ता है तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे बोलने के साथ ही सोचने का काम होता जा रहा है। इसे यों समझा जा सकता है कि चुपचाप सोचने मे जहाँ भाषा अन्दर ही अन्दर प्रवाहित हो रही थी, वहाँ अब वह मानों बाहर आकर चल रही है।

जब मैंने गभीरतापूर्वक इस प्रश्न को अपने हाथों मे लिया और परीक्षण करने लगा तो कम-से-कम एक आदमी मुझे ऐसा मिला जिसने बताया कि उसे विचार करने मे कभी प्रतिरूप, भाषा अथवा और किसी प्रकार के सकेत की आवश्यकता नही पडती। उसने बताया कि जब वह सोचता है, तो ऐसा मालूम होता है मानों सिर्फ सोच रहा हो। प्रश्न कीजिए, उत्तर मानों पहले से ही तैयार था, सिर्फ कह देने अथवा लिख देने की देर है। कुछ एक पात्र ऐसे भी थे, जिन्होंने विचार मे प्रतिरूपों का होना भी बताया और प्रतिरूप-विहीन विचारों का होना भी।

आप स्वय भी इस प्रकार का एक परीक्षण अपने या अपने मित्रों पर करने की चेष्टा करें। एक पहेली (अगर चित्र-पहेली हो तो और भी अच्छा) ले लें और उसका हल खोजने की कोशिश करें। हल हो जाने पर अपनी अनुभूतियों का अन्तर्दर्शन कीजिए। देखिए कि प्रश्न का हल ढूँढते हुए आपने क्या अनुभव किया था? क्या आपने कुछ इस प्रकार की भाषा मे विचार किया था—"प्रश्न तो सीधा-सा है, लेकिन इसका उत्तर क्या होगा? यह रेखा जो बाईं ओर से आकर दाहिनी ओर निकल गई है उसका मतलब क्या है? और फिर ऊपर से और एक रेखा आकर किसे काट रही है? अच्छा, ठीक तो है। बस, इसी ओर से होकर चलने से ठीक स्थान पर पहुँचा जा सकता है।" आदि। अथवा आपके मन की आँखों के सामने पहेली के चित्र घूम रहे थे, और भिन्न-भिन्न रेखाओं के इर्द-गिर्द घूमती हुई पेन्सिल की तस्वीर दिखाई दे रही थी, अथवा पहेली आपके सामने थी, आप के अन्दर जो अनुभव हो रहे थे, उनके लिए आप कोई नाम नही दे सकते और उत्तर स्वय ही सूझता-सा जान पड़ा।

मार्बे नामक एक जर्मन मनोविद्याविशारद विचार-निर्द्धारण पर खोज कर रहा था। किसी बात की सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय करना ही, उसके मत से, विचार-निर्द्धारण है। उसने अपने पात्रों के सामने अत्यत सरल प्रश्न रखे, और उन पर उनका निर्णय पूछा। प्रश्न ऐसे होते थे, जिनका उत्तर अत्यंत आसानी से दिया जा सकता था। उत्तर पा जाने के बाद अन्तर्दर्शन के द्वारा उनकी मानसिक अनुभूति का वर्णन कराया जाता था। अधिकतर यही पाया गया कि इन अनुभूतियों के संबध में पात्रों के पास कहने को कुछ नही था, मानो उत्तर आप-से आप उनके मन में आ जाते थे।

इसी सिलसिले में एक और दिलचस्प बात का पता लगा। अनेक अवसरों पर पात्रों ने उत्तर देने के पहले एक प्रकार की झिझक का होना बताया। उन्हे अपने उत्तर के समीप पहुँचने मे एक प्रकार का सन्देह-सा होता मालूम हुआ, एक प्रकार का अविश्वास-सा उन्होंने अनुभव किया। झिझक, सन्देह, अविश्वास या विश्वास आदि के वर्तमान होने को उक्त पात्रों ने उस समय की मनोवैज्ञानिक परिभाषा के शब्दों मे वर्णन करने की कोशिश की। उन्होंने उन्हे प्रतिरूप का नाम देना चाहा, लेकिन किसी प्रकार भी अपने अनुभवों को प्रतिरूप कह सकना उनके लिए असंभव मालूम हुआ। मार्बे ने देखा कि वह एक ऐसे तथ्य पर पहुँचा है जो उस समय के मनोविज्ञान में एक नई चीज थी, और उसने इसका नाम दिया, 'Bewusstseinslage', अथवा 'चेतना की परत',

जिसका किसी प्रकार 'चैतन्य प्रतिन्यास' अनुवाद किया जा सकता है।

आख (जन्म—१८७१) नामक एक दूसरे विद्वान् ने सहज प्रतिक्रिया पर परीक्षण किया, और अन्तर्दर्शन के जरिए अनुभूतियों के विश्लेषण की चेष्टा की। आपने दौड़ की प्रतियोगिता तो अवश्य देखी होगी। आपने खयाल किया होगा कि दौड़ शुरू होने के पहले प्रत्येक दौड़नेवाला एक पंक्ति मे खड़ा होता है। एक आदमी पहले 'रेडी' (अथवा तैयार) बोलता है, और सभी सावधान हो जाते हैं। एक, दो, तीन कहते ही दौड़ शुरू हो जाती है। बहुत जगहों पर 'रेडी' कहने के बाद पिस्तौल दागी जाती है। पिस्तौल की आवाज होते ही दौडनेवाले दौड़ शुरू कर देते हैं।

आख और एक और मनोविज्ञ—वाट—ने इस प्रकार की दौड़ में दौड़नेवालों से यह प्रश्न किया कि दौड़ शुरू करने में निश्चय करने की क्रिया कब होती है ? क्या पिस्तौल दगने पर वे सोचते हैं कि अब दौड़ना चाहिए, और यह सोचने के बाद वे दौड़ना आरम्भ करते हैं ?

उनसे प्राप्त सामग्री से यह नतीजा निकला कि दौड़ने की तेयारी, दौड़ने का निश्चय तो वास्तव में पिस्तौल दगने के पहले ही हो जाता है। पिस्तौल दगने पर और कुछ सोचना-विचारना नही रह जाता, आप से आप दौड़ने की क्रिया आरंभ हो जाती है। अगर कोई दौड़नेवाला संकेत मिलने के बाद निश्चय करने लगे तो वह फिसड्डी ही रह सकता है। संकेत मिलने के पहले तक ही निश्चय आदि सब कर लिये जाते हैं, संकेत मिलने के पश्चात् और कोई मानसिक क्रिया करने को नही रह जाती।

इस प्रकार के अन्वेषणों के जरिए किसी काम के पूर्व के समय में ही तैयारी के महत्व का पता लगा। पहले लोगों का ऐसा विश्वास था कि कोई भी काम करने के लिए जब उद्दीपन मिलता है तो उसके बाद ही काम के संबंध में आदमी अपना निश्चय और धारणा बनाता है। लेकिन इस नई खोज ने इस सिद्धान्त को सपूर्णतः उलट दिया। इस प्रथम तैयारी को Einstellung का नाम दिया गया। कुल्पे की गोष्ठी के मनोविदों की यह सबसे बड़ी देन है, और इसने प्राणियों के आचार अथवा चेष्टा को समझने में अत्यधिक सहायता दी।

विचार का सबसे सरल रूप है सामने पड़ी हुई वस्तु का अपने अन्दर अनुभव करना। इसका क्लिष्ट रूप है, जो चीज सामने नहीं, ज्ञानेन्द्रियों के परे है, उसकी चिन्ता करना। हम अपने प्रत्यक्ष दर्शनवाले अध्याय में प्रत्यक्ष दर्शन संबंधी विचार के विषय में कुछ बाते बता चुके हैं। अब हम अपने सोचने को ध्यान मे रखते हुए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वस्तुओं के अनुभव को तौलने की चेष्टा करें।

हमारे सामने टेबल पर एक ग्लास शर्बत पड़ी है। हमारे चक्षु-पटल पर ग्लास के द्वारा प्रकाश मे होते हुए प्रकंपन पड़ते हैं, जिनका सीधा प्रभाव हमारी दृष्टि-नाड़ियो पर होता है। दृष्टि-नाड़ियाँ किसी विशेष प्रकार से इसे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र मे पहुँचा देती हैं और हमें ग्लास का बोध होता है। हम कहते हैं, हम एक ग्लास देख रहे हैं, जिसके अन्दर लाल-लाल-सी कोई तरल वस्तु है। नासा-रंध्रों के जरिए शर्वत की सुगध हमारे मस्तिष्क में पहुँचती है। हमारे पहले के अनुभव हमे बताते हैं कि उक्त ग्लास के अन्दर पड़ी हुई चीज शर्वत है। अगर हम शर्वत को छूकर देखें तो हमारी स्पर्शेन्द्रियाँ यह भी बतलाएँगी कि यह एक शीतल पदार्थ है।

इस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियो के सीधे ससर्ग में आने के कारण एक बाहरी वस्तु हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्रों को उद्दीप्त करती है, और हमारे अन्दर प्रस्तुत मन नामक कोई चीज उसे एक विशेष पदार्थ समझ लेती है, अर्थात् उक्त अनुभूति को एक अर्थ प्राप्त हो जाता है। इस अर्थ को देनेवाला है हमारा मन, जिसके अन्दर प्राचीन अनुभव भरे पड़े हैं।

थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि आपने अपने जीवन में कभी ग्लास देखा नही है, और न शर्वत देखी है या पी है। तो सामने शर्वत का ग्लास देखकर यद्यपि आपके अन्दर वे सारी अनुभूतियाँ होंगी जो आपकी ज्ञानेन्द्रियाँ आपके भीतर पैदा कर सकती हैं, फिर भी आप उसे कोई नाम नही दे सकते, उसका अर्थ नही लगा सकते। सीधी भाषा मे, आप यह नहीं समझ सकते कि यह कौन-सी चीज है !

एक कहानी है कि एक बहुत बड़ा ज्योतिषी किसी राजा के दरबार मे पहुँचा। राजा ने अपनी मुट्ठी मे एक सोने की अँगूठी बन्द कर ज्योतिषी से यह बताने को कहा कि यह क्या चीज है। ज्योतिषी ने अपनी सारी विद्या लगा दी और मुट्ठी के अन्दर की चीज़ का इस प्रकार वर्णन किया—"गोल-गोल है, किसी कीमती धातु की है, उसमें एक पत्थर भी है।" राजा ने पूछा—"लेकिन यह है कौन-सी चीज ?"

ज्योतिषी ने तपाक से कहा—"पहिया !"

ठीक जो भूल ज्योतिषी ने अँगूठी को पहिया बताकर की, वही भूल आपका मन भी कर सकता है, अगर उसे किसी वस्तु का पूर्व-ज्ञान न हो।

यहाँ पहुँचने पर सयोजनावादी कह सकता है कि आखिर हम भी सयोजना के उसके सिद्धान्त पर ही पहुँचे। कुछ हद तक बात ठीक भी है। यह तो मानना ही पडेगा कि किसी प्रकार के अनुभव को उसके सपूर्ण अर्थ मे समझ सकने के लिए अपने पहले के अनुभव से उसे सयोजित करना ही पडेगा। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह सयोजन-क्रिया प्रतिरूपो के द्वारा सपादित होती है? अथवा और भी कोई उपाय है, जो इस क्रिया को सहायता तो देता है, लेकिन जिसके लिए सयोजनावादी मनोवैज्ञानिकों के पास कोई नाम नही।

ऊपर हम बता चुके है कि यद्यपि बहुत-से विचार प्रतिरूपों की सहायता से भी होते हैं, लेकिन ऐसे अवसरों की भी कमी नही जबकि आप किसी प्रकार के प्रतिरूप का विद्यमान होना नही अनुभव करते। वैसी अवस्था मे सयोजना और विचार प्रतिरूप-रहित ही होते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि सयोजनावादी मनोविज्ञ मन के अन्दर किसी प्रकार की क्रियात्मकता का होना नही मानते, फिर भी अपने पात्रो को एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दर्शन करने का आदेश देते हैं। चेष्टावादी (आचरणवादी) मनोवैज्ञानिक भी मन की क्रियाशीलता के सिद्धान्त को बिल्कुल नही मानते। उनका कहना है कि मन सोच नही सकता, कल्पना नही कर सकता, इच्छा नही कर सकता, और न निश्चय ही कर सकता है। वह एक निष्क्रिय पदार्थ है और उसका सारा अस्तित्व केवल उद्दीपन और प्रतिवेदन (प्रतिक्रिया) पर निर्भर है। अगर आपकी उँगली मे सुई चुभोई जाय तो उसका सवेदन एक विशेष नाडी-मार्ग से मस्तिष्क मे पहुँचेगा और उसकी प्रतिक्रिया होगी आपकी उँगली का उद्दीपन के स्थान से अलग खिच जाना। चेष्टावादी कभी यह नही कहेगा कि सुई चुभ जाने का कष्ट आपने अनुभव किया और आपने चाहकर उँगली हटा ली। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि उँगली मे सुई गड़ी भी और आपकी उँगली नही हटी। चेष्टावादी कहेगा, मस्तिष्क से बाहर की ओर प्रवाहित होनेवाली प्रतिक्रिया का नाडी-मार्ग मे कही पर अवरोध हो गया, जिसके कारण होनेवाली प्रतिक्रिया न हो सकी। यानी आप किसी प्रकार सोचने को स्वाधीन नही—जो कुछ होता है, आपकी नाड़ियाँ करती हैं। 'आप' नाम की कोई चीज ही नही।

एक पिंजडे मे एक बिल्ली को बद कर दीजिए। पिजडे मे एक खटका ऐसा लगा दीजिए, जिसे अगर बिल्ली अपने पजे से मारे तो पिंजडे का दरवाजा खुल जाय। बाहर कुछ खाने को रख दीजिए ताकि बिल्ली बाहर आने की चेष्टा करे। आप पाइएगा कि पहले बिल्ली अपने मुँह और पजों से पिजडे को जहाँ-तहाँ मारती है। हो सकता है कि कुछ देर तक उसके प्रयत्न विफल जाँय। अचानक उसका पजा खटके पर पड जाता है और पिजडे का दरवाजा खुल पडता है। मान लीजिए कि बीस बार की चेष्टा और विफलता के बाद बिल्ली को सफलता मिली है। दूसरी बार बिल्ली को फिर उसी प्रकार बद कर दीजिए। हो सकता है कि इस बेर दस बार व्यर्थ प्रयत्न करने के बाद ठीक स्थान पर पंजा मारकर बिल्ली दरवाजा खोल लेती है। तीसरी बार बिल्ली दो-एक बार इधर-उधर करने के बाद ही दरवाजा खोल लेती है, जिसके बाद वह बराबर बद होते ही ठीक स्थान पर पहुँच कर पजा मारती है।

हम-आप कह सकते हैं कि बिल्ली ने खटके और दरवाजे के खुलने का सबध समझ लिया है। इसलिए यद्यपि जब तक वह इस सबध को नही जानती थी बेकार इधर से उधर पजे मारती भटकती थी, पर अब वह तुरन्त दरवाजा खोल लेती है। यानी अब वह कुछ इस प्रकार सोच सकती है—"इस पिजडे मे मैं बद हूँ, बाहर खाना रखा है—मुझे भूख भी लगी है—बाहर निकल सकती तो ठीक होता लेकिन निकलूँ कैसे?—ठीक तो है, वह दरवाजा है—पहले हमने इधर-उधर पजा मारा था तो नही खुला था—उस खटके पर पजा मारने से दरवाजा खुल गया था—हाँ, उस पर ही पजा मार दूँ।"

लेकिन चेष्टावादी इसे व्यर्थ की बकवास कहेगा। उसका कहना यह होगा कि खटके पर पंजा मारना बिल्ली के पूरे वातावरण-रूपी उद्दीपन की प्रतिक्रिया है और जिस प्रतिक्रिया ने उसकी शारीरिक क्षुधा को सन्तुष्ट किया है, बिल्ली की कार्य-नाडियाँ और स्नायु वही प्रतिक्रिया दुहराएँगे।

ऊपर से देखने पर यह सिद्धान्त उतना गलत नही मालूम पडता। लेकिन आप उनसे यह पूछिए कि सन्तोष पाने की शारीरिक क्रिया और पजा मारने की प्रतिक्रिया का सबध किस प्रकार जुडता है। अगर यह बात ठीक हो कि एक ही प्रकार के उद्दीपन और प्रतिवेदन को बार-बार दुहराया जाय तो एक विशेष नाड़ी-मार्ग का निर्माण हो जाता है और उस कार्य के करने मे आसानी होती है

(इसे हम अभ्यास कहते हैं), तो बिल्ली ने भूल ही अधिक बार की थी और उसे भूल करने का अभ्यास पड़ना चाहिए था ! फिर एक बार ठीक स्थान पा जाने पर अनेकों बार की दुहराई प्रतिक्रिया एकाएक बन्द क्यों हो जाती है ? चेष्टावादी के पास इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं।

लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हमने बिल्ली के सोचने के जिस ढंग की कल्पना ऊपर की है, वह बिल्कुल ठीक है। बिल्ली ने हमसे तो कभी नहीं कहा कि वह इस प्रकार सोचती है। हाँ, उसके आचरण को देखा जाय तो इतनी बात माननी पड़ती है कि वह भी किसी-न-किसी प्रकार सोचती है अवश्य । हम उसके विचारने को 'प्रत्यक्षदर्शी विचार' कह सकते हैं। उसका विचार यों चलने के बजाय कि "पहले पंजा मारा था, दरवाजा खुला, अब पंजा मारूँ तो फिर दरवाजा खुलेगा", यूँ चलेगा—"पंजे का मारना और दरवाजा खुलना ।" उसकी चिन्ता मे 'चूँकि' और 'इसलिए' की गुंजायश नहीं। दो काम आपस मे एक-दूसरे से संबंधित हैं, और वह सिर्फ इस संबंध को समझ सकती है। कारण आते ही कार्य कर डालना ही उसके विचार का अन्तिम कार्य है।

जानवरों को छोड़कर आप असभ्य मनुष्यों और बच्चों पर आइए तो वहाँ भी यही बात मिलेगी। हमारे आठ मास के शिशु किरणकुमार ने कल खामख्वाह दीए की लौ पर उँगली लगा दी, और जब उँगली जो जली तो आपने रोना शुरू किया। अब फिर जो उसकी उँगली पकड़कर दीए की ओर ले जाई जाती है तो चट से हटा लेता है।

हम-आप शायद कुछ इस तरह सोचें—"अभी जो मैंने दीए की लौ पर उँगली दी तो उँगली जल गई। दीए की लौ उँगली को जला देती है। इसलिए उसे उँगली से छूना खतरनाक है।" लेकिन शायद किरण ऐसा नहीं सोचता। दीए का देखना और उँगली हटा लेना, ये दोनों कार्य उसके मन में एक साथ संयोजित हो गए हैं। दीए के देखने के बाद इससे उँगली जल जाती है, यह अवस्था उसके दिमाग में नहीं आती। वह तो सिर्फ दीया देखता है और उँगली हटा लेता है।

मनुष्य ज्ञान के जितने ही ऊँचे स्तर पर चढता जाता है, उतनी ही उसके सोचने की क्रिया मिश्रित एवं क्लिष्ट होती जाती है। मानसिक रसायनवाले मनोविद् चाहे जितना ही कहें कि हमारा सोचना सिर्फ कुछ प्रतिरूपों की संयोजना के द्वारा चलता है, हमें तो यह मानना ही पड़ता है कि वही संयोजनावादी जब अपना सिद्धान्त बनाने के लिए गंभीर चिन्ता करता है, अथवा अपनी पुस्तक लिखने लगता है तो सिर्फ कुछ प्रतिरूपों के सरल संयोग से ही काम नहीं लेता। उसे भी अपने मन को सक्रिय बनाना पड़ता है। अर्थात् जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें सीधे अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, उन अप्रत्यक्ष चीजों के संबंध मे, चाहे फिर वे पदार्थ हों या अपदार्थ, हम सक्रिय रूप मे विचार करते हैं। हम तरह-तरह की ऐसी बातें भी गढ़ लेते हैं, जिनका अस्तित्व प्रकृति में कहीं नहीं। आप कह सकते हैं, सरल-सरल भावों के मिश्रण से हम क्लिष्ट भावों का निर्माण कर लेते हैं। इसके साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विचार करने के लिए कुछ हद तक हम स्वाधीन हैं।

अगर हम एक कदम बढ़कर फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त पर अपनी इस समस्या को तौलें तो हमें पता चलेगा कि विचार करने की हमारी स्वाधीनता कुछ और भी कम हो जाती है, और कुछ ऐसी चीजें भी हैं, जिनका हमारे विचारों पर बहुत काफी प्रभाव है। उनमें एक सबसे जबर्दस्त चीज है हमारा अचेतन।

फ्रॉयड के मत से हमारा मन कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमे एक भाग का नाम फ्रॉयड ने 'अचेतन' रखा है। यह अचेतन हमारे सम्पूर्ण मन के दो-तिहाई से अधिक हिस्से को घेरे हुए है। हमारे मन का चेतन हिस्सा हमारे मन का शायद एक-चौथाई ही है। जो कुछ हमारी चेतना में है, उससे कहीं बहुत अधिक हमारे उस अचेतन मे पड़ा हुआ है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हमें किसी तरह नहीं हो सकता। यह अचेतन अपने दामन में छिपी हुई चीजों को तरह-तरह के छद्मवेशों से प्रकट किया करता है। सपने के रूप मे, पागलपन के रूप में, बोलचाल मे, भूलों के रूप मे अथवा और दूसरी तरह के संकेतों और प्रतीकों के द्वारा इसके अन्दर के भाव बाहर आते हैं और हमारे चेतन आचरण पर हमारे अचेतन का बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। आप ऐसे उदाहरण अपने दैनिक जीवन मे सैकड़ों पा सकते हैं। हमारे सपनों मे चलते विचार, बुखार में सन्निपात के समय के हमारे विचार, पागल के विचार आदि यही सिद्ध करते हैं कि हमारी चेतन विचार-क्रिया पर हमारे अचेतन का प्रभाव कुछ कम नहीं। लेकिन अभी भी सोचने की क्रिया के संबंध में सभी मनोविज्ञ एकमत नहीं हो सके हैं, और इस क्षेत्र में नई खोजों की काफी गुंजायश है। समय और अन्वेषण ही इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर दे सकेंगे।

आधुनिक पुतलीघर का करघा या बुनने का यंत्र

इस प्रकार की बुनने की सैकडों पेचीदा मशीनें मिलों में लगी रहती हैं और उनपर तेजी से सैकडों फीट लंबा कपडे का थान बुनता हुआ वेलनो पर लिपटता जाता है। इन मशीनों पर जिस-जिस डिज़ाइन का ताना-बाना तैयार करके लगा दिया जाता है, उसी डिज़ाइन का कपडा बनता चला जाता है।
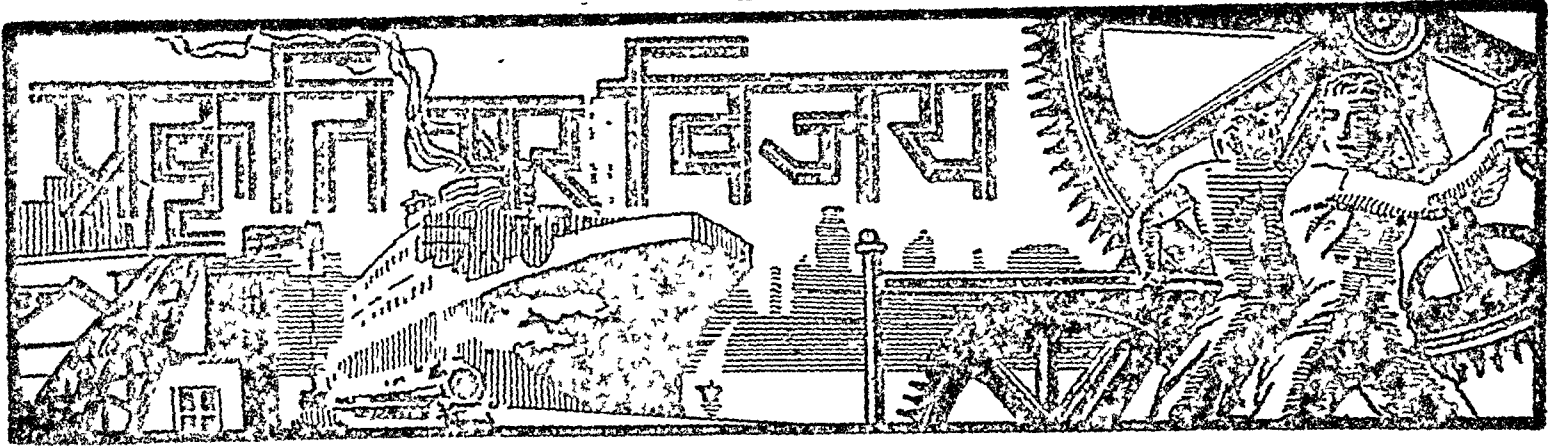
चरखे और करघे से पुतलीघर तक

सूती वस्त्र-निर्माण की कहानी

कपडा बुनने की कला कदाचित् उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानवीय सभ्यता। सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक दिनों में ही विभिन्न देशों के लोगों ने करघे पर कपडा बुनना सीख लिया था। सुन्दर आकृति के वस्त्रों के निर्माण में उन्होंने सौंदर्य और कला का प्रदर्शन प्रचुर मात्रा मे किया था। उस सुदूर अतीत से लेकर आज तक सामाजिक वाह्याडवर का प्रदर्शन वस्त्रों की श्रेष्ठता द्वारा ही किया गया है। मिस्र के स्तूपों मे से प्राप्त मोमियाइयों (सुरक्षित शवों) पर लिपटे हुए वस्त्रों को देखकर हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं कि आज से ३००० वर्ष पूर्व का मिस्र-निवासी कपडा बुनने की कला में कितना सिद्धहस्त था! इन परिधानों मे सन के रेशे प्रचुरता से काम मे लाए गए थे। किन्तु ये इतनी अच्छी तरह से बुने गए थे कि ३००० वर्ष उपरान्त भी वे पहले जैसे ही मुलायम और सुन्दर बने रहे, उनका रंग और उनकी चमक इतने दिनो उपरान्त भी जैसी की तैसी बनी रही! विशेषज्ञों की धारणा है कि इस यन्त्र-युग के बावजूद भी आधुनिक काल के बुने हुए कपडे कला की दृष्टि से प्राचीन मिस्र के कपड़ों की गणना में टिक नहीं सकते!

खेतों में कपास की चिनाई का दृश्य। इसी कपास से प्राप्त होनेवाली रुई पर सूती वस्त्र-निर्माण निर्भर है।

आइए, देखें जिस प्रकार इस के उपरान्त दूसरे आविष्कारकों ने चरखे और करघे को शनैः-शनैः सुधारकर उन्हे दानवाकार मशीन का रूप दे डाला। इन मशीनों के विकासक्रम को समझने के पूर्व हमें चरखे और करघे का ही कुछ अध्ययन करना होगा। भला कौन भारतवासी ऐसा होगा, जिसके लिए आज दिन 'चरखा' एक अपरिचित वस्तु हो! जब से गाधीजी ने खादी का आदोलन उठाया है और हाथ की कताई-बुनाई पर महत्त्व दिया है, तब से 'चरखा' मानों इस देश की राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया है—यहाँ तक कि हमारे राष्ट्रीय तिरगे झडे पर भी उसने स्थान पा लिया है, उस पर उसकी तस्वीर बनी रहती है। चरखा लकड़ी का एक अत्यत सरल यंत्र होता है, जिसमे एक ओर एक तकुआ रहता है, जो एक घूमनेवाली डोरी से एक पहिए से सबधित रहता है। जब पहिया जोर से घुमाया जाता है तो तकुआ भी घूमने लगता है और तकुए के कई चक्कर लग जाते हैं। इस तकुए पर रुई की पूनी का सिरा लगाकर दूसरे हाथ मे हल्के-हल्के उसे खींचते हुए सूत काता जाता है। इसका सिद्धान्त वही है, जो तकली का है।

बुनने का सबसे सरल यंत्र हमारे जुलाहों का करघा है। वैसे तो

पहनने के लिए परिधान सलाइयों की सहायता से सूत मे फन्दे डालकर भी बनाए जा सकते हैं। क्रोशिया या सलाइयों की सहायता से बनिआइनें और स्वेटर आदि बिने ही जाते हैं। किन्तु कपडे के बुनने में एक नियमित रूप से आड़े और खडे सूत क्रम से एक-दूसरे के नीचे बिठाए जाते हैं। लम्बाई के सूत 'ताना' कहलाते हैं और आडे सूत 'बाना'। देहात का एक साधारण बढई भी लकड़ी के टुकड़ों से आसानी से करघा तैयार कर लेता है। ताने के सूत एक कतार में सजा दिए जाते हैं—सामने के वेलन में ये सूत व्यवस्थापूर्वक लपेट दिये जाते हैं। करघे के चौखटे में ऊपर दो डण्डे लगे रहते हैं—ये डण्डे नीचे के दो डण्डों से सम्बद्ध होते हैं, ताकि पैरों से उस 'ट्रेडिल' को दबाने पर ये डण्डे बारी-बारी से उपर उठ सकें। ऊपर-नीचे के डण्डों में मजबूत धागे बँधे रहते हैं। दोनों जोड़े डण्डों के धागों की कुल सख्या ताना के धागों की संख्या के बराबर होती है। प्रत्येक धागे मे एक नन्हा-सा गोल फन्दा लगा होता है, जिसमें से होकर ताने के धागे गुजरते हैं। इस तरह के किनारे से ताने का पहला धागा डण्डे के एक जोडे के पहले धागे के फन्दे मे से गुजरता है तो ताने का दूसरा धागा दूसरे जोडे डण्डे के पहले धागे मे से, फिर तीसरा धागा पहले जोडे के धागे के फन्दे में से। इस प्रकार ताने के आधे धागे एक जोड़े डण्डे से सम्बद्ध हो जाते हैं और आधे दूसरे जोडे डण्डे से। ट्रेडिल दबाने पर ताने के आधे धागे नीचे को हो जाते हैं और आधे ऊपर को उठ जाते हैं। अब इन दोनों के बीच से ढरकी को गुजारते हुए दाहिने से बायीं ओर को फेंकते हैं। इस प्रकार वह बाने का धागा बिठा देती है। ट्रेडिल को फिर दबाने पर ताने के आधे धागे जो पहले नीचे थे, ऊपर हो जाते हैं और ऊपरवाले नीचे चले जाते हैं। अब ढरकी को बायें से दाहिनी ओर को फेंका जाता है और बाने का धागा ताने के साथ फिर बुन जाता है।

हमारे देश में सूत कातने का सबसे सरल यंत्र—तकली

इस प्रकार के करघे हमारे देहातों में खूब काम में लाए जाते हैं, किन्तु बडे पैमाने पर कपडा तैयार करने के लिए केवल करघे से ही काम नहीं चल सकता। उत्पादन बढाने के लिए मशीनों का उपयोग अनिवार्य था। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय इँगलैंड के लकाशायर के एक अनपढ़ व्यक्ति जेम्स हारग्रीव्ज को प्राप्त है। हारग्रीव्ज का जन्म एक गरीब घराने मे १७४५ ई० में हुआ था। बड़ा होने पर यह भी अपने पैतृक व्यवसाय जुलाहे के काम मे लग गया। घर पर उसकी स्त्री चरखे पर सूत कातती और उसे लेकर वह कारखाने मे बुननेवालों के पास पहुँचा आता। ऐसा कहा जाता है कि एक दिन जब वह कारखाने जाने के लिए तैयार हुआ, तो उसने
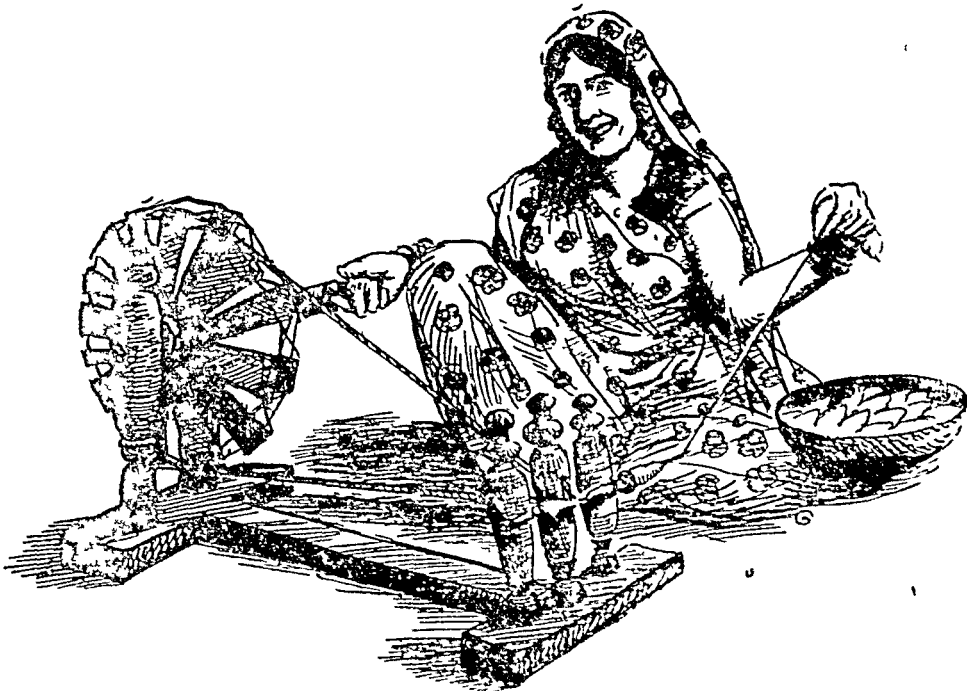
भारतीय चरखा

जिस पर मिलों के आविर्भाव के पहले हमारे वस्त्र-उत्पादन की सारी नीव प्रस्थापित थी।

देखा कि अभी पर्याप्त मात्रा में सूत तैयार ही नहीं हुआ। क्रोध में आकर उसने चरखे को पैर से ठोकर लगाई। उसने आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा कि लुढक जाने पर भी चरखे का पहिया घूम रहा था और तकुए पर सूत कतता चला जा रहा था। अचानक उसे सूझा कि एक ही पहिए के घुमाने से यदि कई तकुए चलाए जा सकें तो निस्सदेह सूत की निकासी कई गुना बढ़ जायगी। अतएव पड़ोसियो की दृष्टि बचाकर उसने छिप-छिपकर नए ढग के सूत कातने की मशीन कुछ ही दिनों में तैयार कर ली। इस मशीन मे एक ही पहिए के घूमने से आठ तकुओं पर सूत लिपटते थे। हारग्रीव्ज और उसकी पत्नी ने अपने इस नए यत्र 'स्पिनिंग जेनी' के वारे में किसी से एक शब्द भी न कहा। चुपके-चुपके सूत कातकर ये उनसे स्वयं ही कपड़ा बुन लेते या जुलाहो के पास उसे बेच आते। पडोसियों ने सोचा कि हारग्रीव्ज दम्पति अकेले इतनी अधिक मात्रा में सूत तैयार कर लेते हैं, तो इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य होगा। उनकी बढ़ती हुई आय को देखकर पास-पडोस के जुलाहे ईर्ष्या से जलने लगे। यह ईर्ष्या यहाँ तक बढी कि उन्होंने कस्बे के अन्य निवासियो को भी उन-के खिलाफ भडकाया। आखिर एक दिन आस-पास के लगभग ५,००० व्यक्तियो ने हारग्रीव्ज के घर पर धावा बोल दिया और उसकी 'स्पिनिग जेनी' की धज्जियाँ उडा दीं, साथ ही उन लोगों ने उस बेचारे के घर का अन्य सामान भी तोड़-फोड डाला।

इंगलैण्ड का पुराना चरखा
बड़ी मशीनों के आविर्भाव से पहले वहाँ इसी से सूत काता जाता था।

पड़ोसियों की कोप-दृष्टि से बचने के लिए हारग्रीव्ज दम्पति को कस्बा छोड़कर नाटिंघम भागना पड़ा। नाटिंघम में हारग्रीव्ज टामस जेम्स नामक एक व्यक्ति के सम्पर्क में आया। जेम्स के पास कुछ थोड़ी पूँजी भी थी। इसी पूँजी से दोनों ने मिलकर 'स्पिनिग जेनी' की मशीन तैयार करनी शुरू की और धीरे-धीरे सभी जगह सूत कातने के लिए इस मशीन का प्रयोग लोगों ने करना शुरू कर दिया।

सूत कातने की मशीन के विकास में सर रिचार्ड आर्क-राइट का नाम भी विशेष महत्व रखता है। आर्कराइट को तो हारग्रीव्ज से भी अधिक यातना अपने आविष्कार के कारण भोगनी पड़ी थी। उसका जन्म प्रेस्टन नगर मे १७३२ ई० मे एक ग़रीब घर में हुआ था। अपने पिता की वह तेरहवी सन्तान था, अतः आर्कराइट तथा उसके भाई-बहनों की शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। कुमारावस्था मे ही अपनी जीविका के लिए उसे नाई का पेशा अपनाना पड़ा। लङ्काशायर मे घर-घर वह हजामत बनाने के लिए फेरी लगाता। धीरे-धीरे लङ्काशायर के जुलाहों के करघे से वह भली भाँति परिचित हो गया। उन दिनों रुई से कते हुए सूत इतने मजबूत नही हुआ करते थे कि उनसे ताने का काम लिया जा सके, अतः ताना डालने के लिए 'लिनन' का सूत काम मे लाया जाता। किन्तु 'लिनन' आयरलैण्ड से मँगाना पड़ता—अतः यह महँगा तो पड़ता ही, साथ ही यातायात के साधनों की कमी के कारण प्रायः उसके पहुँचने में देर भी हो जाती। ऐसी दशा में लङ्काशायर के कारीगर बेकार बैठे रहते। अक्सर आर्कराइट जब फेरी पर जाता तो लोग उसे वापस लौटा देते कि खाने के लिए पैसे नही है तो बाल कटाने के लिए कौन खर्च करेगा! आर्कराइट ने कुछ तो अपने स्वार्थ के लिए कि उसका काम न रुकने पाए, और कुछ इस उद्देश्य से कि वह अपने पड़ोसियों की आर्थिक स्थिति को सुधार सके, सोचना शुरू किया कि किस प्रकार सूत कातने की मशीन में सुधार किया जाय कि रुई के सूत भी इतने मजबूत कत सकें कि उनसे ताने का काम लिया जा सके। इसी उधेड़बुन में वह लगा हुआ था कि एक दिन वह एक लोहे के कारखाने मे गया। उसने बेलनों के बीच से लोहे के तार को खिचते हुए देखा। तुरंत ही उसने सोचा कि 'क्या रुई की पूनिओं से सूत खीचने के लिए बेलनों का प्रयोग नही किया जा सकता?'

इस नई सूझ के नशे मे वह हज्जाम के पेशे को छोड़कर अनुसन्धान में जुट गया और उसने दृढ़ संकल्प किया कि सूत कातने की मशीन मे क्रान्तिकारी सुधार करके ही रहूँगा। इस सिलसिले में उसने अपने

सभी प्रयोग घर के अन्दर तहखाने के भीतर किए थे, क्योंकि वह भली भाँति जानता था कि लोगों को उसके इरादे का यदि पता लग गया तो उसकी मशीन और स्वय उसकी भी खैर नही। वेचारा रात को ही अपने प्रयोग करता। एक दिन उसकी मशीन की घर्राहट की आवाज पड़ोस के दो बुड्ढों के कान मे पड़ी तो उन्होंने दरवाजे की झिरी मे झाँककर देखा कि आखिर बात क्या है। दूसरे ही दिन तमाम कस्बे मे उन्होंने खबर फैला दी कि रात को आर्करांइट शैतान का आवाहन करता है और शैतान के बाजे की धुन पर वह स्वय नृत्य करता है।

किन्तु आर्करांइट अपने पड़ोसियों की अशुभ कामनाओं से निरुत्साहित नहीं हुआ। अन्त मे १७७५ ई० में उसने सूत कातने की अपनी नई मशीन का पेटेन्ट करा ही लिया। यह मशीन पूनी बनाने से लेकर मजबूत सूत कातने तक सभी काम कर लेती। साथ ही इससे कते हुए सूत इस योग्य होते कि वे ताने पर भी लगाए जा सके। प्रेस्टन के निकट ही उसने अपनी फैक्टरी खडी की थी, पर उसे अपनी ही आँखों के सामने उपद्रवियों द्वारा विनष्ट होते भी उसे देखना पड़ा। किन्तु आर्करांइट साहस खोना जानता ही नहीं था। अन्याय के विरुद्ध वर्षों तक वह लड़ता रहा और अन्त मे उसने अपने विरोधियो को नीचा दिखाया। पचास वर्ष की अवस्था में उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की; धन-मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में भी वह सफल हुआ और अन्त मे गवर्नमेण्ट ने उसे 'सर' की उपाधि से विभूपित किया।

वस्त्र-व्यवसाय के विकास के इतिहास मे सैमुएल क्राम्पटन का नाम भी अमर रहेगा। क्राम्पटन का जन्म १७५३ ई० मे बोल्टन नगर में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उसे भी पेट पालने के धन्धे में लग जाना पड़ा। दिन को घर के अन्य लोगों के साथ वह सूत कातने की फैक्टरी में काम करता। फैक्टरी मे उसने देखा कि कातते समय सूत बार-बार टूट जाया करता था। उसने सोचा कि यदि ऐसी मशीन तैय्यार हो सके कि उससे कातने पर सूत टूटे नहीं तो समय की भारी बचत होगी। फिर तो रात को घर पर जब सब लोग सो जाते तब वह तरह-तरह के प्रयोग करने मे जुट जाता,
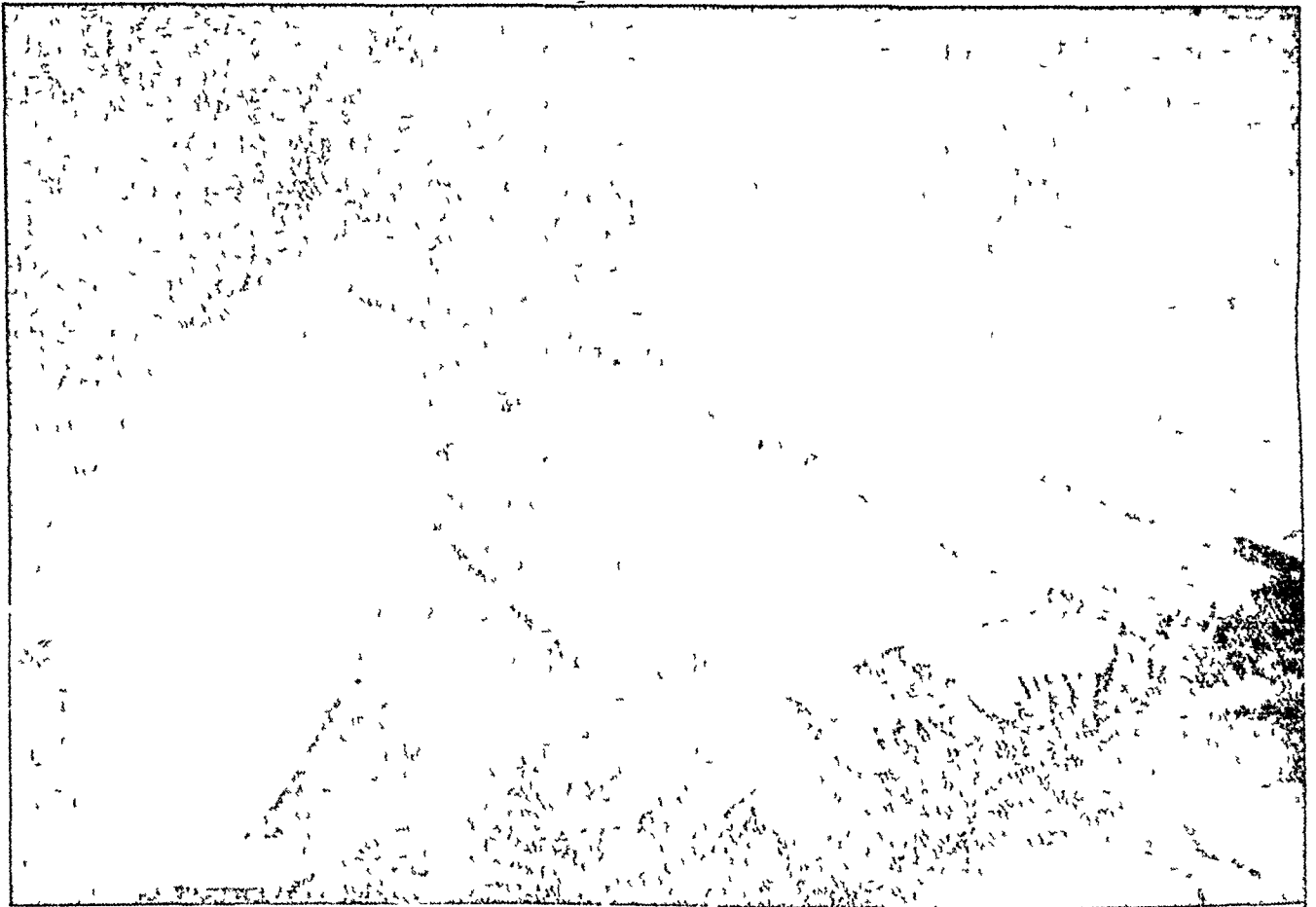
कपड़ा बुनने का सबसे सरल यंत्र—एक ग्रामीण करघा

यद्यपि हाथ से चलाए जानेवाले जुलाहों के बढिया करघों और पुतलीघर के करघों में इससे कहीं अधिक यांत्रिक पेचीदगी होती है, फिर भी उनकी बुनाई का सिद्धान्त वही है जो इस सरल करघे का है।

ताकि कोई ऐसी मशीन तैय्यार की जाय जो प्रचुर मात्रा मे तेज रफ़्तार से सूत तैय्यार कर सके। अपने प्रयोगों के सिलसिले मे उसे भी हद दर्जे की सतर्कता से काम लेना पड़ता। अपनी मशीन के पुर्जों को अलग करके वह छत के अन्दर एक दराज मे छिपा दिया करता ताकि घर मे आने-जानेवालो को उसकी मशीन के बारे मे किसी तरह की खबर न लग सकें। वह बखूबी जानता जानता था कि पास-पड़ोस के लोगों को उसके इस नवीन प्रयास की यदि खबर लग गई तो न उसकी खैर और न उसकी मशीन की। पूरे पाँच साल के अनवरत परिश्रम के उपरान्त वह अपनी मशीन का निर्माण पूरा कर पाया। उसने सूत कातनेवाली इस नई मशीन का नाम 'म्यूल' (खच्चर) रक्खा, क्योंकि यह हारग्रीव्ज और आर्कराइट की मशीनो के मेल से तैय्यार की गई थी।

सूत कातनेवाली मशीन का आविष्कारक सर रिचार्ड आर्कराइट

बोल्टन के फैक्टरीवालो ने क्राम्पटन की मशीन को अपनी फैक्टरियों मे लगवाया, किन्तु पॉच वर्ष के अनुसन्धान और परिश्रम के उपरान्त अपने इस आविष्कार के लिए बेचारे क्राम्पटन को कुल ६० गिनी ही मिली। प्रत्येक फैक्टरीवाले ने एक गिनी अपनी ओर से क्राम्पटन को दी। इस प्रकार ६० फैक्टरियो से ये ६० गिनियां इकट्ठी हुई थी। तमाम लङ्काशायर में कुछ ही दिनों के अन्दर क्राम्पटन की म्यूल मशीनें लग गई। इसकी वजह से फैक्टरीवालो की आय बेहद बढ़ी, किन्तु क्राम्पटन को एक पैसा भी बोल्टन के बाहर से कही नही मिला। अन्त मे उसने गवर्नमेण्ट से अपील की कि उसकी आविष्कार की हुई मशीन ४० लाख से ऊपर की संख्या मे देश के विभिन्न स्थानों मे काम मे आ रही है जबकि हारग्रीव्ज और आर्कराइट की मशीनो की तादाद दो-तीन लाख से अधिक नही है—अतः उसे उसकी मिहनत के लिए पारिश्रमिक मिलना चाहिए। फलस्वरूप गवर्नमेण्ट की ओर से इस आविष्कार के लिए उसे ५००० पौण्ड का पुरस्कार मिला। किन्तु यह छोटी सी रकम उसे वृद्धावस्था मे ग़रीबी से न बचा सकी। उन दिनों उस पर तरस खाकर बोल्टन के फ़ैक्टरी-मालिको ने अपनी ओर से चन्दा इकट्ठा करके १०० पौण्ड वार्षिक के हिसाब से उसे पेन्शन देने का इन्तजाम किया। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली आविष्कारक को, जिसके आविष्कार की बदौलत अनेक व्यक्ति लखपती हो गए, स्वयं वृद्धावस्था मे दूसरों के दान पर आश्रित होना पड़ा!

हारग्रीव्ज़ द्वारा आविष्कृत सूत कातने की मशीन 'स्पिनिग जेनी'

यद्यपि सूत कातने की तरह-तरह की मशीनें अब तक तैय्यार हो चुकी थीं, किन्तु कपड़ा बुनने के लिए अभी हाथ के ही करघे काम मे लाए जाते थे। नाटिंघम के एक

कपास में से बिनौला अलग निकालने की मशीन ! बिनौला-रहित कपास ही रुई कहलाता है।

युवक पादरी एडमण्ड कार्टराइट ने सोचा कि कपड़ा बुनने के लिए भी मशीन का ही प्रयोग क्यों न किया जाय। उसने जब अपना विचार वस्त्र-व्यवसाइयों के सामने प्रकट किया तो उन लोगों ने उत्तर दिया कि ऐसी मशीन का बनाना असम्भव है। किन्तु कार्टराइट ने अपनी धुन नही छोड़ी और अन्त मे उसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया।

गिर्जाघर के इस पादरी को करघे के पुर्जों का ठीक ज्ञान भी प्राप्त न था। अतः अपने अवकाश के समय वह फैक्टरियो मे जाकर गौर से देखता कि करघे किस तरह चलाये जाते हैं। आखिर अपनी सारी पूँजी लगाकर कार्टराइट ने कपड़ा बुनने की मशीन तैय्यार कर ही डाली—और अपनी इस मशीन के परिचालन के लिए उसने एक छोटा भाप का इंजिन भी बनाया। उसकी मशीन की उपयोगिता तत्काल ही सिद्ध हुई और तुरंत ही मैन्चेस्टर की फैक्टरियों से उसे इस ढंग की ४०० मशीनों का आर्डर मिला। किन्तु तत्कालीन जुलाहों ने कार्टराइट की मशीन का घोर विरोध किया, यहाँ तक कि कार्टराइट के कारखाने पर, जिसमे ये मशीनें तैयार की जा रही थीं, उन्होंने धावा बोलकर उसे फूँक दिया। किन्तु कुछ दिनो उपरान्त अन्य आविष्कारों की भाँति कार्टराइट की मशीन को भी धीरे-धीरे सभी लोगों ने अपनाया और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने कार्टराइट को उसके परिश्रम और आर्थिक व्यय के लिए १० हजार पौण्ड का पुरस्कार भी दिया।

बुनने और कातने की मशीनों की कार्य्यक्षमता के बेहद बढ़ जाने से कपास बोनेवाले किसानों के सामने एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। उनके मजदूर ओटे हुए कपास से इतनी जल्दी बिनौले अलग नहीं कर पाते थे कि फैक्टरियों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए वे
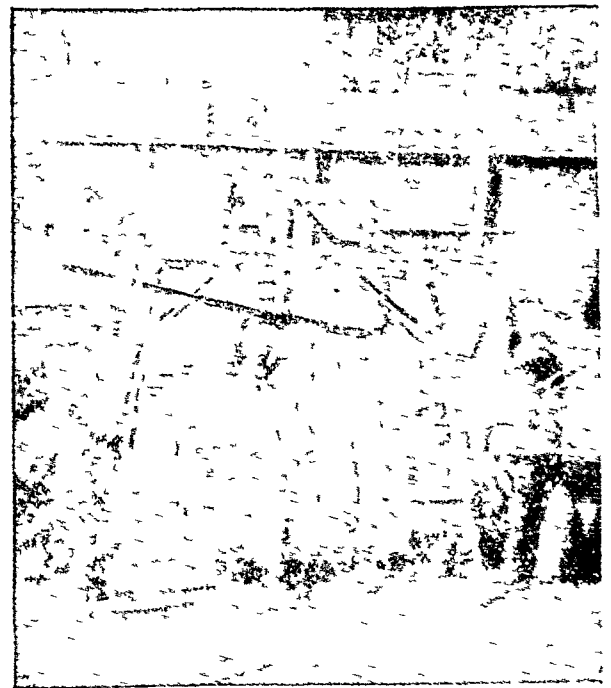
कपास मे से रुई को निकालकर इसी प्रकार की गाँठों में कस दिया जाता है। यही गाँठे पुतलीघरो में भेजी जाती हैं।

साफ की हुई रुई समय पर सप्लाई कर सकें। आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है, अतः इस मुश्किल को हल करने के उद्योग में बिनौला साफ करने की 'जिनिङ्ग मशीन' का जन्म हुआ। इस मशीन की सहायता से अकेला एक व्यक्ति दिन भर में ५०० सेर रुई में से बिनौला अलग कर सकता है।

अब आइए, देखें पुतलीघर में विभिन्न मशीनें किस प्रकार रुई साफ करके उसे धुनती हैं, उसकी पूनी बनाती हैं, उन्हें सूत में कातती हैं और फिर ताना-बाना डालकर उनसे भाँति-भाँति के वस्त्र तैयार कर लेती हैं।

पहले पुतलीघरों में खूब कसकर बँधी हुई रुई की गाँठें मालगोदाम से ले आई जाती हैं। गाँठ में से रुई काम में लाने के पूर्व उसमें से दो मुट्ठी रुई निकालकर विशेषज्ञ उसकी भलीभाँति जाँच करते हैं कि रुई के रेशे किस श्रेणी के हैं। जाँच करते समय विशेषज्ञ रुई को दोनों हाथों से पकड़कर उसे एक विशेष अन्दाज से खींचता है। फिर उसमें से थोड़ी रुई लेकर वह दोनों अँगूठों से उसके रेशे को खींचकर देखता है कि उसके रेशे औसत रूप से कितने लम्बे हैं, क्योंकि रुई की श्रेष्ठता उसके रेशों की लम्बाई पर ही निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए पश्चिमी द्वीपसमूह की रुई संसार के अन्य देशों की रुई की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, क्योंकि इसके रेशे की लम्बाई २ इञ्च तक पहुँचती है। मिस्र की रुई में पौने दो इञ्च लम्बे रेशे होते हैं। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की रुई द्वितीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे एक इंच से लेकर सवा इंच तक लम्बे होते हैं। भारत की रुई जो अच्छी जाति की हुई तो उसके रेशे $\frac{7}{8}$ इञ्च से लेकर १ इञ्च तक लम्बे होंगे। किन्तु अधिकांश भारतीय रुई तृतीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे $\frac{1}{2}$ इञ्च से लेकर $\frac{3}{4}$ इंच तक लम्बे होते हैं। रुई का वर्गीकरण उसके रेशों की इस लम्बाई के अनुसार ही किया जाता है। तभी यह निश्चय किया जा सकता है कि इससे कितना बारीक सूत काता जायगा।

तदुपरान्त गाँठ खोल ली जाती है और मजदूर उसे रुई साफ करनेवाली पहली मशीन पर ले जाते हैं। वहाँ हाथ से उठा-उठाकर रुई के ढेर को वे मशीन के हरकत करते हुए 'बेल्ट' पर डालते हैं। यह बेल्ट लकड़ी की तीलियों से बना होता है। मशीन के अन्दर एक बेलन घूमता रहता है, जिसमें लंबी-लंबी कीलें लगी रहती हैं। ये कीलें रुई की गाँठों को अच्छी तरह बिखेर-कर रुई को खोल देती हैं। इससे रुई की गर्द अलग होकर नीचे गिर जाती है। तदुपरान्त रुई को दूसरी मशीन में डालते हैं। इस मशीन के बेलन में इतनी अधिक संख्या में कीलें लगी रहती हैं कि इसका नाम ही "साही" बेलन पड़ गया है, क्योंकि साही के काँटों की तरह इसकी कीलें भी अगणित होती हैं। इस मशीन में रुई के रेशे और भी खुल जाते हैं। अब इस मशीन में से निकलने पर एक चौड़े मुँह की नली द्वारा हवा की साँस के जोर से रुई खिंचकर तीसरी मशीन में पहुँचती है। इस मशीन का नाम 'ओपनर' है। यहाँ पर भी रुई साफ करने तथा उसके रेशे को खोलकर मुलायम करने की क्रिया जारी रहती है। तदुपरान्त रुई को दो-तीन और मशीनों में से

आधुनिक पुतलीघर में सूत कातनेवाली मशीनों का तांता
यह अद्भुत मशीन केवल एक-दो श्रमिकों की ही देखरेख में एक निश्चित समय में उतना सूत कात सकती है, जिसे हाथ के चरखे पर कातने के लिए कम से कम ४००० कातनेवाले चाहिएँ।

रुई की पूनियाँ बन जाने पर तब इस प्रकार मशीन द्वारा छ-छ· पूनियो को एक लंबी पूनी के रूप मे परिवर्त्तित किया जाता है। कभी-कभी यह क्रिया छ·-सात बार दुहराई जाती है।

होकर गुजरना होता है और अन्त मे वह लोहे के वेलनो के बीच से स्वच्छ रुई की तह के रूप मे निकलती है । यह तह आध इच मोटी और ४ फीट चौडी होती है। यह लम्बी तह वेलन के रूप मे लपेट ली जाती है। किन्तु रुई साफ करने की क्रिया अभी भी पूर्ण नही हुई। रुई की तह का वेलन अब एक दूसरी मशीन मे से होकर गुजरता है। यहाँ पर रेशे और भी मुलायम और साफ किये जाते हैं। फिर इस मशीन से भी रुई की तह वेलन के रूप मे ही लिपट-कर बाहर निकलती है। इस तरह साफ और धुनी हुई रुई के वेलन ट्राली पर खडे कर दिये जाते हैं और मजदूर उस ट्राली को लोहे की पटरियो पर ठेलकर कार्डिंग रूम (पूनीघर) मे ले जाते हैं।

पूनी तैयार करनेवाली मशीन मे एक खोखले ढोल के अन्दर वेलन तेजी से घूमता है। वेलन के धरातल पर बहुत-सी कीलें निकली रहती हैं। ढोल के भीतरी धरातल पर भी कीलें गडी रहती हैं। घूमते समय वेलन की कीलें ढोल की कीलो के बीच मे से होकर गुजरती हैं। ढोल मे धुनी हुई रुई जब पड़ती है तो वेलन की कीलें निरन्तर रुई के रेशों को कघे की तरह एक ही दिशा मे खीचती हैं। इस प्रकार रुई के सभी रेशे एक-दूसरे के समानान्तर हो जाते हैं। ऐसी ही दो तीन मशीनो मे से गुजरने के बाद मुलायम हुए रेशोवाली इस रुई के गादे को एक ऐसी मशीन मे से होकर जाना पड़ता है जो उसे खीचकर फुलफुली लम्बी पूनी का रूप देती है। यह पूनी लगभग १ इच मोटी होती है। रेशे को समान बनाने के लिए ६-६ पूनियो को पुनः एक साथ मशीन मे डालकर उनसे एक पूनी खीचते हैं। कभी-कभी तो यह क्रिया ६-७ बार दुहराई जाती हैं। इस क्रिया मे मशीन पूनियों में ऐंठन भी डाल देती है। जितनी बार इस क्रिया की पुनरावृत्ति की जाय उतना ही बढ़िया सूत पूनी से प्राप्त होगा।

सूत कातनेवाली आधुनिक मशीने अपना काम अत्यन्त फुर्ती के साथ करती हैं। इन मशीनों के प्रत्येक 'बाबिन' (Bobbin) के सिरे पर धातु की एक गराडी लगी रहती है, जिसके किनारे कुछ बाहर की ओर निकले हुए होते हैं। गराड़ी के किनारे पर एक नन्हा-सा छल्ला फिट किया रहता है। इस छल्ले का मुँह कटा रहता है ताकि उसके मुँह के दोनो होंठ गराड़ी के किनारे को पकड़े रहे। पूनी का धागा बाबिन मे लगने के पहले इसी छल्ले मे से होकर गुजरता है। यह छल्ला गराड़ी के किनारे पर तेजी के साथ परिक्रमा लगाता है—एक मिनट मे लगभग ८००० बार। मशीन को देखने पर छल्ले हरकत करते हुए दिखलाई नही पड़ते, किन्तु हाथ लगाने पर छल्ले का घूमना मालूम पड़ता है। छल्ले के घूमने से धागे में ऐंठन पड़ती जाती है और पूनी में खिचाव भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार तेजी के साथ धागा कतता जाता है। पूनी

और छल्ले के बीच लगभग १० इंच की दूरी रहती है, जिससे निरन्तर १० इच लम्बे धागे में ऐंठन पड़ती रहती है। इस प्रकार धागे मे प्रति इच ६४ ऐंठने पड़ती हैं।

शुष्क प्रदेशों की मिलो मे जिस कमरे मे कताई की मशीने चलती हैं, उस कमरे मे वायु को आर्द्र रखने के लिए भाप की फुआर हवा मे छोड़ते रहते हैं, क्योंकि अधिक शुष्क वायु मे बारीक धागे काते नही जा सकते।

धागों को कताई की मशीन से रीलो पर उतार लेने के बाद तुरन्त ही उन्हे बुनाई विभाग में नही भेजते, क्योंकि रील पर से उतारने पर उनकी ऐंठन खुल जाती है। अतः बुनाई विभाग मे भेजने के पहले या जुलाहों के हाथ बेचने के पूर्व सूत मे एक नियत परिमाण मे नमी का प्रवेश कराया जाता है। कम-से-कम आठ प्रतिशत जल-वाष्प धागे के अन्दर मौजूद होनी चाहिए।

कताई की विशालकाय मशीने यद्यपि तीव्र वेग से चलती हैं और हजारों धागे एक साथ ही काते जाते है, किन्तु यदि एक भी धागा कताई के सिलसिले मे टूटा तो मशीन फौरन् रुक जाती है। तब संचालक तुरन्त ही धागे को जोड़ता है और मशीन को फिर से चालू करता है। पिछले वेलन के ऊपर ही प्रत्येक धागे पर एक-एक दोमुँही सुई लटकती रहती है। जब तक धागे तने रहते हैं, ये सुइयाँ भी धागो पर समतुलित रहती है, किन्तु धागे के टूटते ही उसके ऊपर टँगी हुई सुई नीचे वेलन पर गिर जाती है। फलस्वरूप वेलन को एक हलका-सा धक्का पहुँचता है। उस धक्के के जोर से वह एक लीवर परिचालित करता है, जो मशीन को गियर से हटाकर उसे रोक देता है।

अब बुनाई का काम शुरू हुआ। पर इसके पहले ताना के लिए धागे पर कलफ चढाना होता है। इसके लिए साबूदाने और आटे के कलफ के गर्म घोल मे धागा डाल कर बाहर निकाल लिया जाता है और उसे सुखाने के लिए ताँबे के खोखले वेलनों पर लपेटते हैं। इस वेलन के अन्दर निरन्तर गर्म भाप भेजी जाती है, जो वेलन को ठीक इतना ही गर्म रखती है कि धागे सूख तो जायँ किन्तु वे जलने न पायें। वेलन पर से जब धागे उतारे जाते हैं तो वे एक डण्डे के ऊपर नीचे से इस प्रकार गुजारे जाते हैं कि एक धागा ऊपर से गुजरता है तो उसके बगल का धागा नीचे से। इस तरह धागे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, वे एक दूसरे से चिपकने नही पाते। तदनन्तर धागा बुनने-वाली मशीन के वेलन पर लपेटा जाता है।

अब इससे ताना तैयार करते हैं। यह काम केवल विशेषज्ञो को ही सौपा जाता है। ताना तैयार करने के लिए प्रत्येक धागा सूत के छोटे-छोटे फन्दों मे से गुजारा जाता है। फिर ये धागे एक कंघे की शक्ल की फ्रेम के दाँतो मे से गुजारे जाते हैं। इस कंघे के दाँत धातु की तीलियो के बने होते हैं। कघे के फ्रेम की चौड़ाई जितनी बड़ी होगी, उतने
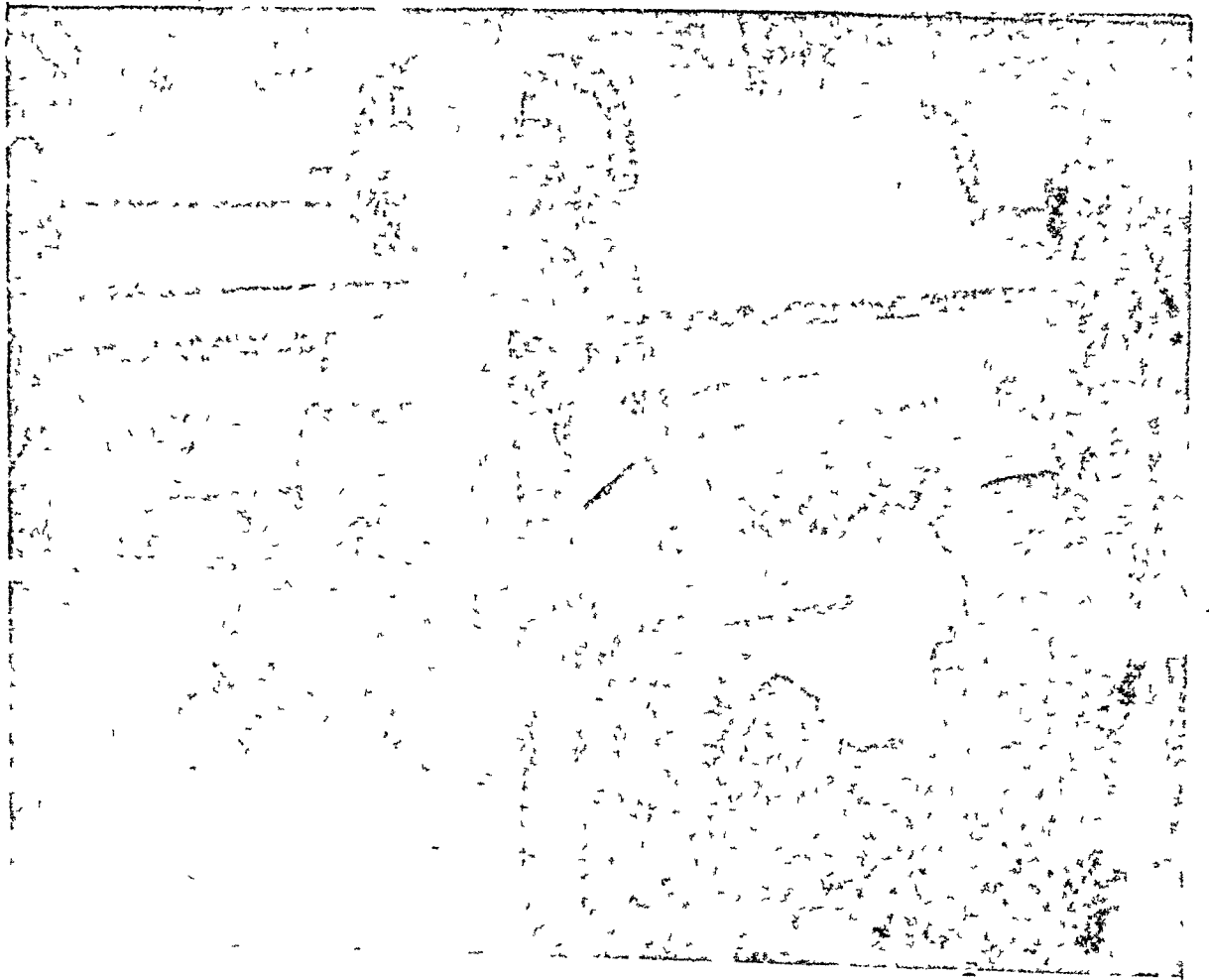
ताना तैयार किया जा रहा है

बुनाई आरंभ करने के पहले विशेषज्ञ सूत के धागों को मनोनीत डिज़ाइन का वस्त्र बनाने के उद्देश्य से एक कंघे की शक्ल के फ्रेम के दाँतो मे पिरोकर इस प्रकार ताना तैयार करता है।

ही अर्ज का कपड़ा मशीन पर तैयार हो पायगा। साधारण बुनाई के लिए कघे के हर दॉत के बीच से एक धागा खीचना होता है। किन्तु विभिन्न डिजाइनो की बुनाई के लिए कघे के दॉतो के बीच से एक धागा, फिर बगल की झिरी से दो, फिर एक, तब तीन—इस तरह काफी पेचीदा हिसाव हो जाता है। धागा खीचनेवाले ने जरा-सी गलती की कि कपड़े के डिजाइन मे नुक्स आ गया। किन्तु विशेषज्ञ इस कठिन काम को भी सरलतापूर्वक विना गलती किए करते रहते हैं।

ताना तैयार हो जाने पर वह बुनाई की स्वयक्रिय मशीन मे फिट कर दिया जाता है। यहॉ शटल अपने आप विद्युत्गति से एक से दूसरी ओर दौड लगाकर वाना डालकर भिन्न-भिन्न डिजाइनो के कपड़े तैयार करते हैं। स्वयक्रिय यत्र अपने आप शटल के खाली होने पर उसमे धागा भी भर देते हैं, जिससे हर तरह से समय की बचत हो जाती है।
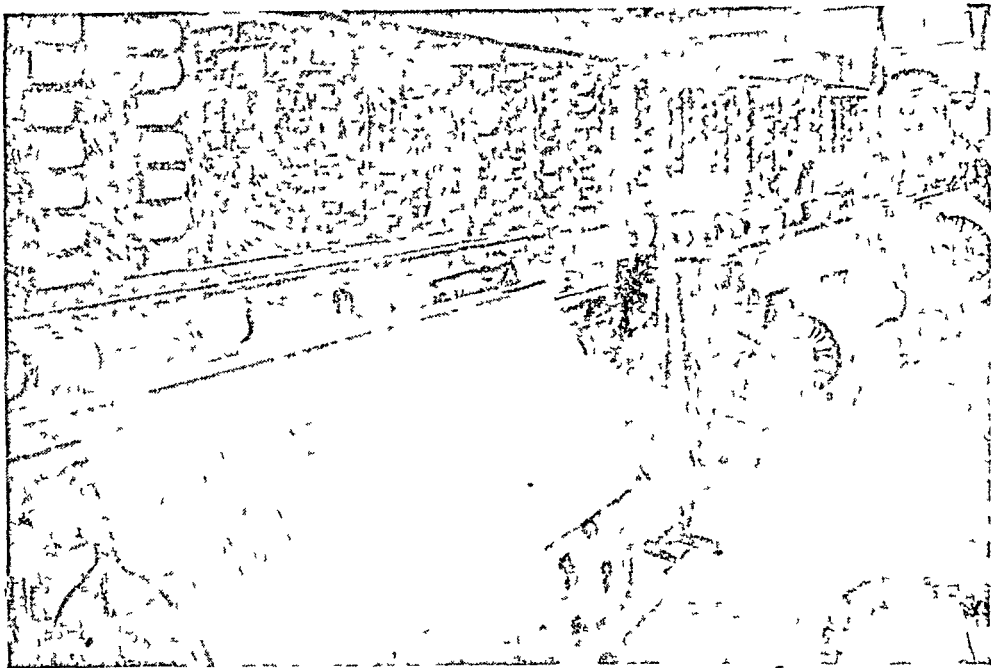
इन मशीनों पर ताना भरनेवाले धागों को आवश्यक चौडाई में एक के पास एक व्यवस्थित करके एक वेलन पर लंबाई के रुख लपेटा जाता है। यह क्रिया इस प्रकार संपन्न की जाती है कि क्या मजाल कि एक भी धागा दूसरे मे उलझ जाय। सभी एक-दूसरे के समानान्तर और निर्धारित फ़ासले पर रहते है।

पुतलीघर का बुनाई का विभाग बहुत अधिक कोलाहलमय विभाग होता है। अक्सर एक वडे पुतलीघर मे इस विभाग मे दो हजार तक 'लूम' (बुनाई की मशीने या करघे) लगे रहते है, जिनमे विद्युत् गति से प्रतिमिनट २००' वार इधर से उधर दौडनेवाली ढरकियों (Shuttles) तथा अन्य पुर्जों की खटखट के मारे काफी हगामा मचा रहता है। ये करघे कई आकार-प्रकार के होते हैं और उनमें से बहुतेरे तो पेचीदा यत्रों के ऐसे जंजाल होते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वे एक साथ ही विभिन्न रगों के धागों को अत्यत उलझनवाली डिजाइनो मे बुनकर कपड़े पर मनमानी चित्रकारी उतार देते हैं। उनमे से कई इतने अधिक वडे होते हैं कि उन पर वारह फीट तक चौड़ा कपड़ा बुना जा सकता है। इन आश्चर्यजनक मशीनों मे रंग-विरगे डिजाइनों के कपड़े बनाने के लिए एक विशेष प्रकार की यत्र-व्यवस्था होती है, जिसे 'जेकर्ड की यत्र-व्यवस्था' कहते हैं। इस यत्र-व्यवस्था की तुलना हम पियानो नामक वाद्ययत्र से कर-सकते हैं। जिस प्रकार पियानो के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के छिद्र उसमे से निकलनेवाले विभिन्न स्वरों का नियत्रण करते हैं, उसी तरह इस बुनाई की मशीन पर लगे हुए एक छिद्रमय कागज के छेदों द्वारा कपडे की निश्चित डिजाइन का निर्धारण होता है।

लूम पर से छूट जाने पर भी कपडे के थान की अभी पूरी तरह मुक्ति नही हो पाती—इसके बाद अभी तरह-तरह के रासायनिक द्रव्यों से धोकर उसे एकदम सफेद करने, उस पर कलफ चढाने, उसे आवश्यक रग से रँगने, लोहा करके उस पर चमक लाने तथा उसको निर्धारित आकार में काटकर उसकी तह करने का काम बाकी रहता है। इसके अतिरिक्त यदि उस पर छीट आदि की-सी किसी प्रकार की छपाई करना हुई तो और भी कई मशीनों पर से होकर उसे गुजरना पडता है। जब ये सब प्रकियाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब अत मे थानों पर कपडे की नाप, मिल का लेबल और नबर आदि छापकर उन्हे गोदामों मे भेज दिया जाता है, जहॉ से गॉठों मे कसकर वे स्थान-स्थान के बाजारो मे खपत के लिए भेजे जाते हैं।
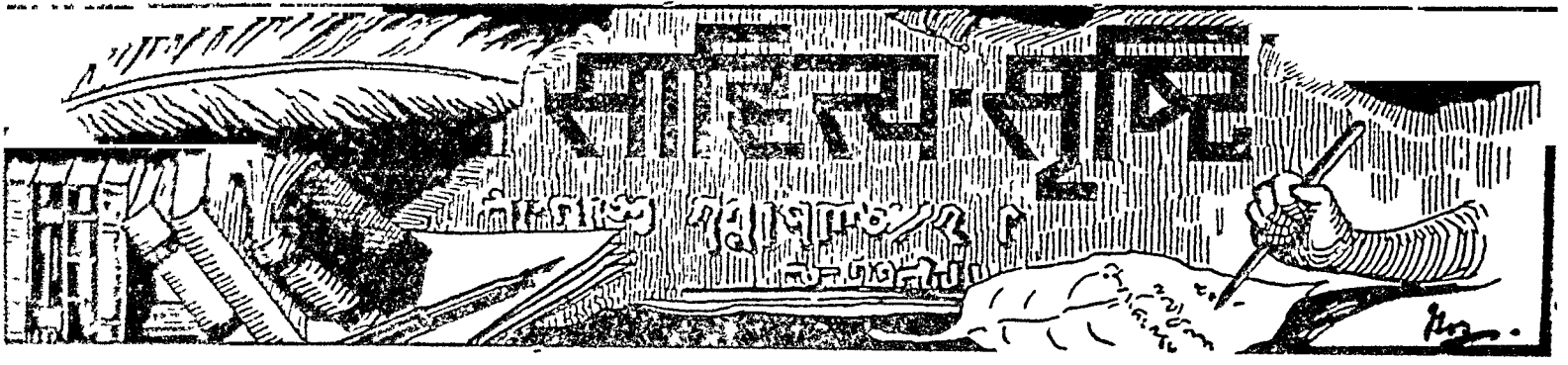
संस्कृत-वाङ्मय—७

कालिदासोत्तर-काल

कालिदास के बाद भी काव्य में वह परम्परा चलती रही, जिसका वाल्मीकि और कालिदास ने आरम्भ किया था। भारवि, भट्टि, कुमारदास और माघ इसी कालिदासोत्तर-काल में हुए। हम इसे 'कालिदासोत्तर-काल' इस कारण कहते हैं कि यद्यपि स्वय कालिदास का समय तो पाँचवीं सदी में ही बीत चुका था, फिर भी उनके काव्य की मुद्रा से ही बाद के कवियो की कृतियाँ अङ्कित होती रहीं। बहुत-कुछ उनका अपना होते हुए भी काव्य-लक्षणों और गुणों के विचार से इन बाद के कवियों की कला उस गुप्त-कालीन महाकवि की कला का उपसंहार मात्र थी। अब हम इन उत्तरकालीन कवियों की रचनाओं पर विचार करेंगे।

१. भारवि

अपने जीवन के सम्बन्ध मे भारवि भी संस्कृत कवि-परम्परा के अनुसार हमे कुछ नही बताते—उन्होंने अपने जीवन-चरित के सबध में कोई चिह्न न छोड़े। बाह्य प्रमाणों से भारवि ६३४ ई० के पूर्व के ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसी साल के खुदे ऐहोल के लेख में कालिदास के साथ ही उनका नाम भी उद्धृत है। फिर 'काशिका-वृत्ति' मे भी उनका उद्धरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि उनका महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' जहाँ एक ओर कालिदास का ऋणी है वहाँ उसी ने दूसरी ओर माघ के 'शिशुपालवध' को प्रभावित भी किया है। बाण ने भारवि का उल्लेख नहीं किया। इससे जान पड़ता है कि भारवि, बाण से कुछ ही पूर्व हुए थे। दोनों के समय में विशेष अन्तर न होने से भारवि बाण की श्रद्धा के पात्र न हो सके। भारवि को ५०० ई० के बाद और ५५० ई० के आसपास ही रखना उचित होगा।

भारवि द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' है। इस महाकाव्य की कथा-वस्तु महाभारत से ली गई है। महाभारत में एक प्रसंग आता है, जब पाण्डव अपनी पत्नी के साथ बारह वर्षों तक वनवास करने को बाध्य होते हैं। उस समय द्वैत वन मे द्रौपदी पाण्डवों को अपनी प्रतिज्ञा भंग करने के लिए उकसाती है। युधिष्ठिर दिये हुए वचन के पक्ष मे बोलते हैं और भीम द्रौपदी का पक्ष लेकर युक्तियों का खंडन करते हैं। महर्षि व्यास पाण्डवों को द्वैत वन छोड़कर काम्यक वन चले जाने की सलाह देते हैं। वहाँ पहुँचने पर युधिष्ठिर अर्जुन को भारत-युद्ध से पूर्व शिव का अस्त्र प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। अर्जुन हिमालय मे जाकर कठोर तप करते हैं। वहाँ उनका एक प्रबल किरात से युद्ध होता है। वह किरात वास्तव में शिव ही सिद्ध होता है, जो अर्जुन को पाशुपतास्त्र के साथ और भी वर प्रदान करता है। अन्य देवता भी उसे वर देते हैं। महाभारत की इस कथा को भारवि ने अपनी कला और काव्यधारा से चमत्कृत कर दिया है। किरातार्जुनीय के आरम्भ में ही पाठक को कलाकार भारवि का साक्षात्कार होता है। उसकी परिमार्जित शैली महाभारत से कही सुन्दर प्रतीत होती है, जब महाकवि प्राचीन आख्यायिका की अनलकृत मानव-पीड़ा से ऊपर उठ जाता है और अपने काव्य का आरम्भ उस चर के प्रत्यावर्तन के साथ करता है जो दुर्योधन का आचरण जानने के अर्थ युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त हुआ था। अभिनय-शक्ति को परिवर्धित करने में यह चर का सम्वाद निस्सन्देह अत्यन्त शक्तिपूर्ण है। वह कहता है कि दुर्योधन ने अपने धर्माचरण से प्रजा का हृदय हर लिया है। इस पर द्रौपदी युधिष्ठिर पर व्यंग-बाण छोड़ती हुई उसे युद्ध करने को उत्तेजित करती है। किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग मे इस विषय का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे द्रौपदी के पक्ष मे प्रयुक्त युक्तियाँ हैं। युधिष्ठिर आचार और वचन के गौरव का सहारा लेता है। तीसरे सर्ग में वह व्यास की सम्मति लेता है। व्यास कहते हैं कि युद्ध तो होगा ही, परन्तु चूँकि शत्रु प्रबल है इसलिए अर्जुन हिमालय मे इन्द्र की

सहायता के लिए तप करे। उनकी बात मानकर अर्जुन तपस्या करता है। एक यक्ष अर्जुन को राह दिखाता हुआ हिमालय की ओर ले जाता है। चौथे सर्ग में कवि की कृति अत्यन्त नवीन आकार धारण करती है। उसकी शैली प्रौढ़ और अलंकृत हो जाती है। भाषा के ऊपर कवि की शक्ति पूरी-पूरी प्रदर्शित होती है। अर्जुन को यक्ष लिये जाता है और शरत् का वर्णन मूर्त्तिमान् हो उठता है। पाँचवें सर्ग में हिमालय की सुन्दरताओं का वर्णन है। फिर शिव और पार्वती के इन्द्रकील शिखर पर अर्जुन को तप का स्थल बताकर यक्ष अन्तर्धान हो जाता है। अर्जुन का घोर तप गुह्यकों को डरा देता है और वे उससे त्राण पाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं। इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओं को अर्जुन का तप नष्ट करने को भेजता है (सर्ग छः)। सातवें सर्ग में इन्द्रकील पर्वत पर देवताओं का अवतरण वर्णित है। आठवें में अप्सराएँ अपने प्रासादों को छोड़कर वन में पुष्पचयन करती फिरती हैं। गंगा उन्हें स्नान के निमित्त आमन्त्रित करती है और अप्सराओं के जलविहार, उनके स्नान, आदि का कवि अत्यन्त मार्मिकता से वर्णन करता है। नवें सर्ग में संध्यासमय सूर्य क्षितिज के ओट में हो जाता है और चन्द्रमा धीरे-धीरे उसकी मूर्द्धा पर चढ़ता है। रजनी की चन्द्रकिरणों के नीचे अप्सराएँ जब गन्धर्वों का अपने प्रणय से अभिसिञ्चन करती हैं तब कवि की लेखनी से सुधा बरसने लगती है। रमणीय प्रभात प्राची में प्रस्फुटित होता है। आगे के सर्ग में अप्सराएँ फिर अपने विनिश्चित कार्यक्रम की ओर झुकती हैं। ऋतुएँ अपने नवाभरणों से उनकी सहायता करती हैं, परन्तु उस नव-वयस्क कठिन तपस्वी अर्जुन को वे जीत नहीं सकतीं। ग्यारहवें सर्ग में अपने भेजे हुए निमित्तों के असफल होने पर स्वयं इन्द्र ऋषि के रूप में अर्जुन के सम्मुख उपस्थित होता है और उसके तप की कठोरता देख स्तब्ध रह जाता है। फिर भी वह कहता है कि तप और शस्त्र दोनों का एक साथ व्यवहार अनुचित है। अर्जुन उसकी इस युक्ति को मानता हुआ भी कहता है कि वह अपने कुल के गौरव की रक्षा करेगा। इन्द्र उसके अध्यवसाय और उत्साह से प्रसन्न होकर अपने को प्रकट करता है और उसे शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की सम्मति देता है। ग्यारहवें सर्ग के बाद कवि फिर महाभारत का आश्रय लेता है। अर्जुन बारहवें सर्ग में शिव की प्रसन्नता के लिए तप करता है। महर्षि लोग स्वयं विचलित होकर शिव की प्रार्थना करते हैं और शिव अर्जुन को 'नर' की संज्ञा देकर उसके अमानवी रूप का उनके प्रति व्याख्यान करते हैं। मूक नाम का असुर शूकर का रूप धारण कर अर्जुन का वध करने का प्रयत्न करता है। शिव अपने भूतों को अर्जुन की रक्षा के लिए भेजते हैं। तेरहवें सर्ग में शूकर अर्जुन के सामने आता है और उसके तथा शिव के बाणों से एक साथ बिंध जाता है। अर्जुन अपना बाण लेने के लिए उसकी ओर बढ़ता है, परन्तु एक किरात शूकर को अपने मालिक शिव के नाम में माँगता है। इस पर चौदहवें सर्ग में अर्जुन शूकर को अपने शिकार की वस्तु बताता हुआ एक लम्बी व्याख्या करता है। किरात लौटकर शिव को यह सन्देश सुनाता है और शिव अपने गणों को अर्जुन के विरुद्ध भेजते हैं। परन्तु अर्जुन उनके शरों को विफल कर देता है। पन्द्रहवें सर्ग में शिव और स्कन्द भागी हुई गण-सेना को लौटा लाते हैं। शिव और अर्जुन के बीच भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। सोलहवें सर्ग में शिव के दिव्य अस्त्रों की प्रबल मार से अर्जुन जर्जर हो जाता है। फिर भी सत्रहवें में वह अपना धनुष धारण करता है और चट्टानों तथा पेड़ों से शिव पर प्रहार करता है। परन्तु सारा प्रयत्न व्यर्थ होता है। अन्त में दोनों में द्वन्द्व-युद्ध होता है और शिव अपना रूप अर्जुन पर प्रकट करते हैं। अर्जुन शिव की पूजा और उनकी स्तुति करता है और शिव तथा अन्य दिक्पाल अनेक दिव्यास्त्र अर्जुन को प्रदान करते हैं। इस प्रकार पशुपतास्त्र अर्जुन को प्राप्त होता है, जिसके लिए उसने कठिन तप किया था। यही किरातार्जुनीय की सर्गांश कथा है, जो निस्सन्देह महाभारत के प्रसंग से कहीं सुन्दर है और जिसे भारवि के 'अर्थगौरव' की शैली परिमार्जित करती है।

भारवि के अर्थगौरव और शैली-सौन्दर्य्य के निदर्शन के निमित्त कुछ उद्धरण देना उचित होगा। नीचे का श्लोक राजा की कुशलता का साक्षी है—

कृतप्रमाणस्य महीम्महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः
न विव्यथे मनो न हि प्रियप्रवक्तुमिच्छन्ति मृषाहितैषिणः

नीचे के श्लोक में दुर्योधन की सुन्दर प्रशंसा है।—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा तेन विजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

दिवसावसान और रात्र्यागम पर भारवि ने सूर्यास्त और चन्द्रोदय का अभिराम वर्णन किया है—

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पंकजं मधु भृशं रसयित्वा।
क्षीवतामिव गतः क्षितिमेष्यंल्लोहितं वपुरुवाह पतंगः॥

रात्रि और चन्द्रमा का एक और सुन्दर वर्णन नीचे के श्लोक में है—

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भइवेन्दुः॥

फिर शिशिर का वर्णन भी सुन्दर है और अनेक स्थलो पर कालिदास के ऋतुसंहार का स्मरण करा देता है। इसमे सन्देह नहीं कि भारवि की मेधा आरम्भिक कालिदास के ऋतुसंहार से कही बढकर प्रखर और परिपक्व है। एक उदाहरण यह है—

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः॥

एक जल-विहार का वर्णन भी अत्यन्त मनोमोहक है। जल में डुबकी लगाने के कारण युवतियों की केशराशि उलझ गई है। उनसे मुखमण्डल ढक गया है। कमल और आच्छादक भ्रमरपंक्ति का स्मरण कवि को हो आता है—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः॥

प्रियदर्शन से विकृत आत्मचेष्टा का एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम्॥

किरातार्जुनीय के अनेक स्थल सजीव और हृदयग्राही है और यद्यपि भारवि प्रसाद और काव्यरंजन में कालिदास की समता नहीं कर सकता, फिर भी इसमे सन्देह नहीं कि उच्चाशयता और अर्थ की गुरुता मे वह असाधारण है। वैसे भारवि ने जहाँ-तहाँ शब्दो की बाजीगरी भी की है। नीचे के उदाहरण में पंक्ति आगे-पीछे दोनो ओर से एक-सी पढ़ी जाती है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥

भारवि का अर्थगौरव विशिष्ट है, परन्तु उसकी शैली कालिदास की भाँति न तो प्रसादपरक है और न त्रुटियो से नितान्त रहित। कितने स्थलों पर अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन से उसने शैली को बोझिल कर दिया है। व्याकरण के चमत्कार दिखाने के लिए अनेक प्रसगों मे प्रयत्न किये गये हैं। पाणिनि के कई 'अलौकिक' नियम अकारण बरते गये हैं। अलकारो और छन्दो के प्रयोग मे अवश्य भारवि का स्थान बहुत ऊँचा है। साधारणतया वह सरल छन्दो का ही प्रयोग करता है। केवल एक ही कठिन छन्द उद्गाता का प्रयोग उसने सत्रहवें सर्ग में किया है। इस सर्ग का अन्तिम श्लोक प्रहर्षिणी है। पाँचवे और अठारहवे सर्गों मे उसने सोलह प्रकार के विविध छन्दों का उपयोग किया है। तीसरे, सोलहवे और सत्रहवे मे इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति का प्रयोग हुआ है। पहले चौथे और चौदहवे सर्गो मे वंशस्था का और दूसरे मे वैतालीय का। इसी प्रकार पूरे अठारहवे सर्ग मे द्रुतविलम्बित, छठे मे प्रमिताक्षरा, सातवे मे प्रहर्षिणी, नवे मे स्वागता और दसवे मे पुष्पिताग्रा प्रयुक्त हुई हैं। ग्यारहवे और पन्द्रहवे सर्गों मे श्लोक और तेरहवे मे औपच्छन्दसिक का प्रयोग हुआ है।

२. भट्टि

भट्टि एक विचक्षण कवि है, जिसका 'रावणवध' काव्य 'भट्टिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। कवि की विचक्षणता इस बात में है कि उसकी रचना श्लेषात्मिका है और उसका 'रावणवध' काव्य होते हुए भी व्याकरण का एक ग्रन्थ है! कवि का कहना है कि उसने वलभी के राजा श्रीधरसेन के आश्रय मे अपना काव्य लिखा। परन्तु श्रीधरसेन नाम के वलभी मे चार राजा हुए हैं, इनमे से आखिरी ६४१ ई० में मरा था। इस प्रकार यद्यपि हम भट्टि का काल ठीक-ठीक तो निर्धारित नही कर सकते, परन्तु उसकी निचली सीमा अवश्य प्रस्तुत कर सकते हैं। ६४१ ई० वही निचली रेखा है, जिसके पूर्व ही भट्टि रखा जा सकता है। बी० सी० मजूमदार ने इस भट्टि को मन्दसोर लेख का कवि वत्सभट्टि माना है, परन्तु नाम की एकता को छोड़कर दोनो कवियों मे अन्य कोई समानता नही। मजूमदार महोदय इस बात को सर्वथा भूल गए हैं कि वत्स-भट्टि मन्दसोर के अपने प्रशस्ति-लेख में जहाँ व्याकरण की भद्दी भूले करता है, प्रस्तुत भट्टि वहाँ न केवल व्याकरण का पण्डित ही है वरन् व्याकरणपरक ग्रन्थ भी लिखता है! इन बातो को देखते हुए भट्टि और वत्सभट्टि को एक नही माना जा सकता। हाँ, इसके साथ ही एक दूसरा विचार अवश्य उपस्थित हो जाता है। 'भट्टि' शब्द संस्कृत 'भर्तृ' का प्राकृत है। कोई आश्चर्य नहीं कि अनुश्रुति की परम्परा मे यह नाम भर्तृहरि के नाम से मिल गया हो। उसी परम्परा के अनुसार कभी कभी भट्टि भर्तृहरि का पुत्र या भाई भी माना जाता है। परन्तु इन नामों से भी शाब्दिक समानता के अतिरिक्त उनकी एकता में कोई अन्य बाह्य प्रमाण नहीं। एक बात स्पष्ट है कि भट्टि-काव्य ने माघ को काफी प्रभावित किया है। 'शिशुपाल-वध' में उस महाकवि ने व्याकरण की अनेक

प्रक्रियाओं का प्रयोग किया है। निस्सन्देह भट्टि माघ का पूर्वकालिक कवि था। एक और बात ध्यान देने की यह है कि भट्टि का उल्लेख भामह ने किया है। अपने काव्य के अन्त मे भट्टि लिखता है कि उसकी रचना व्याख्या द्वारा ही समझी जा सकती है—वह मतिमानो के लिए उत्सव है और मूर्खों के लिए शूल।

भामह ने भी ठीक इसी प्रकार के भावो के एक श्लोक का प्रयोग किया है। भट्टि ने अलकारों की जो तालिका दी है वह कई अंशों मे मौलिक है। यह प्रसग तब विशेषतया स्पष्ट हो जाता है जब हम भट्टि को दडी और भामह से मिलाते है।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'भट्टिकाव्य' श्लेषात्मक है। इसका प्रयत्न द्विधा है। जहाॅ यह व्याकरण की रचना है, वही इसका उद्देश्य राम की कथा कहना भी है। रूप में यह बाईस सर्गो मे विभक्त है और इसके चार काड हैं। पहले चार सर्गों तक व्याकरण के विविध नियमो का उल्लेख है। पॉचवे से नवे तक के सर्गों में प्रमुख विधान हैं और दसवे से तेरहवे तक के चार सर्ग काव्यालकारो का निरूपण करते हैं। भारतीय आलोचकों ने भट्टि को महाकवि की उपाधि दी है। इसमे सन्देह नही कि एक पूरे काव्य को श्लेषात्मक रूप में लिखना यद्यपि पहले दर्जे के कवि का चमत्कार नही तथापि इस कार्य का सम्पादन नगण्य कवि द्वारा भी सम्भव नहीं। इसलिए भट्टि को कवि-परम्परा मे उच्च स्थान देना ही उचित होगा। उसकी शैली मे श्लेष होते हुए भी असमस्त पदों का प्रचुर समावेश है। नीचे के श्लोक उस शैली के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किए जा सकते हैं। रावण सहायता के लिए कुम्भकरण के समीप जाकर उसे उत्तेजित करता है :—

नाज्ञासीस्त्वं सुखी. रामो यदकार्षीत्स राक्षसान्
उदतारीदुदन्वन्तम्पुरं नः परितोऽरुधत्।
व्यज्योतिष्ट रणे शस्त्रैरनैषीद्राक्षसान्क्षयम्॥
न प्रावोचमहं किंचित्प्रियं यावदजीविषम्।
बन्धुस्त्वमर्चित. स्नेहान्माद्विषो न वधीर्मम॥
वीर्यम्मा न ददर्शस्त्वं मा न त्रास्थाः क्षताम्पुरम्।
तवाद्राक्ष्म वयं वीर्यं त्वमजैषीः पुरा सुरान्॥

उदाहरण से स्पष्ट है कि भट्टि की शैली अनलकृत और साधारण है, असमस्त और सरल। परन्तु निश्चय ही उसमें वर्णरंजन का अभाव है। उसमे आभरण की क्षीणता स्पष्ट है। नीचे के उदाहरण मे एक मुहाविरे का भी प्रयोग हुआ है—

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥

कही-कही भट्टि मे सुन्दर काव्य-प्रवाह भी मिल जाता है, जैसे :—

जलद इव तडित्वान्प्राज्यरत्नप्रभाभिः
प्रतिककुभमुदस्यन्निस्वनं धीरमन्द्रम्।
शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चै-
र्विविधमणिविचित्रम्प्रोन्नतःसोऽध्यतिष्ठत्॥

परन्तु अन्य स्थलों पर भट्टि की शैली मे प्रचुर शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है।

भट्टि के काव्य में छन्दों का क्रम इस प्रकार है। श्लोक का प्रयोग अधिकतर हुआ है—विशेषकर चार से नवे और चौदह से बाईसवे सर्ग मे। इन्द्रवज्रा की उपजाति शाखा पहले, दूसरे, ग्यारहवे और बारहवे मे प्रयुक्त है। तेरहवे सर्ग मे आर्या का गीति रूप मिलता है। पुष्पिताग्रा अधिकतर दसवे मे प्रयुक्त हुई है। प्रहर्षिणी, मालिनी, वशस्था, औपच्छन्दसिक और वैतालीय लगभग छः बार व्यवहृत हुए हैं और अश्वललित, नन्दन, नर्कुटक, पृथ्वी और रुचिरा केवल एक-एक बार। अन्य छन्दों मे से निम्नलिखित का भी जहाॅ-तहाॅ प्रयोग हुआ है—त्रोटक, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, तनुमध्या, प्रमिताक्षरा, प्रहरणकलिका, मन्दाक्रान्ता और स्रग्धरा।

३. कुमारदास

कुमारदास का भी व्यक्तित्व अस्पष्ट है और उसके जीवन के सम्बन्ध मे भी हमारा ज्ञान थोडा है। अनुश्रुति उसे कालिदास का मित्र मानती है। तदनुसार कालिदास सिहल मे मरे थे और मित्र-स्नेह के फलस्वरूप कुमारदास ने सजीव चितारोहण किया था। पर इसमे सन्देह नही कि यह किम्वदन्ती सारहीन है।

कवि कुमारदास की रचना 'जानकीहरण' है, जो एक लम्बे काल तक उपलब्ध न था। इसका एक शब्दशः सिंहली अनुवाद मात्र प्राप्य था, परन्तु अब दक्षिण से एक सस्कृत पाठ भी उपलब्ध हो गया है। सिहली अनुश्रुतिं के अनुसार कुमारदास इसी नाम का सिहल का एक राजा था। कुमारदास नाम के एक राजा ने निस्सन्देह वहाॅ सन् ५१७ से ५२६ ईस्वी तक राज्य किया भी था। परन्तु यह अनुश्रुति सिहल मे बहुत पुरानी नही ठहराई जा सकती। निश्चित बात यह है कि कुमारदास कालिदास की काव्यकला से काफी प्रभावित हुआ था और उसने उस महाकवि की शैली और वस्तु-सामग्री का अनेक प्रकार से अनुकरण

किया है। इस वक्तव्य की सार्थकता 'जानकीहरण' के अनेक स्थलों का रघुवंश के बारहवें सर्ग से मिलान करने से स्पष्ट हो जाती है। इसमें भी कोई सन्देह नही कि कुमारदास को 'काशिकावृत्ति' का ज्ञान था, जो ६५० ईस्वी के लगभग लिखी गई थी। इस प्रकार वह इस तिथि से पूर्व नही रखा जा सकता। फिर वामन को निश्चय ही कुमारदास का ज्ञान था। वामन ने कुमारदास के काव्य में मिलनेवाले 'खलु' शब्द के आरम्भ मे प्रयोग की निन्दा की है। उसने जिस श्लोक को उद्धृत किया है, वह विद्वानों की सम्मति में 'जानकीहरण' के ही लुप्त भाग का है। इस कारण इसके कवि को वामन के समय अर्थात् लगभग ८०० ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा। संभवतः कुमारदास माघ का पूर्ववर्त्ती था। उसके एक श्लोक की प्रतिध्वनि माघ के एक श्लोक मे सुन पड़ती है। लगभग ६०० ईस्वी मे होनेवाले राजशेखर ने कुमारदास की निम्न श्लोक में प्रशंसा की है :—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

अपनी काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने मेधाविरुद्र के साथ-साथ जानकीहरण के रचयिता कुमारदास को भी 'अन्ध' लिखा है। सम्भव है, राजशेखर का यह वक्तव्य सही हो।

राजशेखर की यह विज्ञप्ति कि रघुवंश के रहते जानकीहरण की रचना करना कुछ हँसी-खेल न था, प्रचुर अर्थ रखती है। एक ही वस्तु पर दो कवियों का लिखना उत्तरकालीन कवि के लिए एक समस्या खड़ी कर देता है, विशेषकर जबकि पूर्वकालीन कवि काव्य-शक्ति में प्रबल हो गया हो। जानकीहरण का रघुवंश से विषय-साम्य निस्सन्देह इसी प्रकार की एक समस्या उपस्थित करता है, परन्तु इससे इस कृति के रचयिता की प्रतिभा भी स्थापित हो जाती है। कुमारदास ने जिस कुशलता से अपने काव्य की 'वस्तु' का निर्वाह किया है वह सर्वथा सराहनीय है—विशेषकर इस कारण कि उसका पूर्ववर्त्ती कवि कालिदास की कोटि-का है। जहाँ-जहाँ गुंजायश हुई है, वहाँ-वहाँ कुमारदास ने नवीनता का भी सहारा लिया है और स्थान-स्थान पर उसका वर्णन काफी मार्मिक बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में जानकीहरण के कतिपय स्थलों का सिंहावलोकन आवश्यक होगा। परन्तु उससे पूर्व इस महाकाव्य के प्रबध-प्रवाह पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

जानकीहरण बीस सर्गों में प्रणीत काव्य है। इसके पहले सर्ग में दशरथ, उनकी रानियों और अयोध्या का सुन्दर काव्यपरक वर्णन है। दूसरे में बृहस्पति रावण की साहसिकता का वर्णन करते हुए विष्णु से सहायता की प्रार्थना करते हैं। तीसरे में दशरथ अपनी रानियों के साथ प्रमदवन में विहार करते हैं। इस सर्ग में, किरातार्जुनीय की ही भाँति, स्वयं राजा दृश्यों का वर्णन करता है। फिर कवि जल-विहार का वर्णन करता है और राजा सूर्यास्त का। तदनन्तर रात्रि और सूर्योदय के सौन्दर्य-वर्णन हैं। चौथे सर्ग में दशरथ के पुत्रों का जन्म तथा विश्वामित्र के आश्रम मे राक्षसी ताड़का के उपद्रव और अन्त में उसके वध का उल्लेख है। फिर पाँचवे मे इस राक्षस-युद्ध का क्रम कुछ विस्तार से चलता है। छठा सर्ग मिथिला मे जनक और विश्वामित्र के बीच खुलता है और सातवे में सीता और राम का मिलाप है। राम सीता के सौन्दर्य की सराहना करते हैं और कवि दोनों के प्रेम और विवाह का वर्णन करता है। आठवे सर्ग मे राम-सीता के गार्हस्थ्य जीवन के कुछ मार्मिक स्थल वर्णित हैं। कुमारदास के सूर्यास्त और रात्रि-वर्णन अत्यन्त रोचक हैं। नवे की कथा अयोध्या में खुलती है और दसवे सर्ग मे दशरथ राम का युवराज-तिलक करना चाहते और राजधर्म पर एक लम्बा अवतरण देते हैं, जिससे कथा-प्रवाह कुछ शिथिल पड़ जाता है। वनगमन और सीताहरण के प्रसंग इसी सर्ग के अन्तर्गत हैं। अगले सर्ग में काफ़ी वेग और शीघ्रता के साथ हनुमान और राम का साहचर्य, बालि का मदमर्दन आदि वर्णित हैं। फिर इसी मे वर्षा का अत्यन्त रोचक वर्णन है। बारहवें सर्ग मे शरद् का आरम्भ है। सुग्रीव और लक्ष्मण वाद-प्रतिवाद करते हैं और राम को सीता के विरह में विषाद होता है। यह प्रसग जहाँ-तहाँ बदलता हुआ तेरहवें सर्ग तक चलता है। चौदहवे सर्ग मे वानरों द्वारा समुद्र पर सेतुबन्धन का दृश्य है और अगले सर्ग मे अगद राम का दूत बनकर रावण की सभा में जाता है। सोलहवे सर्ग में राक्षसों और उनकी लका का वर्णन है और शेष पाँच सर्गों (१७-२२) मे राम की विजय का। इस प्रकार कुमारदास के जानकीहरण के प्रबन्धानुक्रम के वस्तुबन्ध मे काफ़ी कुशलता है।

ऊपर कुमारदास पर कालिदास की शैली और वस्तु दोनों के ऋण की बात कही गई है। उस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना युक्तिसंङ्गक होगा। कुमारदास ने भी कालिदास की भाँति वैदर्भी शैली का ही प्रयोग किया। एकाध विद्वान् कुमारदास की शैली को 'गौड़ी' भी मानते हैं। इनके अग्रणी श्रीनन्दार्गिकर हैं। परन्तु जानकीहरणकार की

शैली अधिकतर वैदर्भी ही प्रतीत होती है। कुमारदास ने अनुप्रास का अच्छा प्रयोग किया है, परन्तु यह प्रयोग काफी सयत है। यमक का प्रयोग भी मर्यादा का उल्लघन नहीं करता। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

अतनुनातनुना घनदारुभिः स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा
रुचिरभाचिरभासितवर्त्मना प्रखचिता खचिता ननदीपिता ॥

कहीं-कहीं तो कुमारदास काव्य-सौन्दर्य मे बहुत ऊँचा उठ जाता है। उसकी शैली मे अद्भुत विलास और ध्वनि और छन्द मे एक अनुपम रमणीयता लहराने लगती है, रस बरसने लगता है। राम का बालपन कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है:—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥

निम्न उद्धृत श्लोकों पर कालिदास की स्पष्ट छाप है, फिर भी कुमारदास के गौरव पर किसी प्रकार का आघात नहीं होने पाता। इन श्लोकों की कमनीयता रस के साहित्य में अपना स्थान रखती है:—

पुष्परत्नविभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पणं तु न चकांक्ष योषिता स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनम् ॥

कालिदास का एक तत्प्रासगिक वर्णन ठीक इसी प्रकार है—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥

इस प्रकार निम्नलिखित श्लोक पर भी कालिदास का प्रभाव प्रचुर है, फिर भी कुमारदास के हाथ से यह सुन्दर बन पड़ा है—

कैतवेन कलहेषु सुप्तया स क्षिपन्वसनमात्तसाध्वसः।
चोर इत्युदितहासविभ्रमं सप्रगल्भवखण्डितोऽधरे ॥

वितर्क का सुन्दर स्थल कुमारदास ने अपने एक श्लोक में उपस्थित कर दिया है, जिसमें उसने विधाता तक को नहीं छोड़ा है—

पश्यन्हतो मन्मथबाणपातैः शक्तो विधातुं न मिमील चक्षुः।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः ॥

कुमारदास के दो और श्लोक उदाहरणतः दिए जाते हैं, जिनमें स्नेह और निसर्ग का वर्णन प्रचुर है। इनमें अन्त का श्लोक भारवि का स्मरण कराता है।—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥
वासन्तिकस्यांशुचयेन भानोर्हेमन्तमालोक्य हतप्रभावम्।
सरोरुहामुद्धतकण्टकेन प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन ॥

छन्दों का अनुक्रम और प्रयोग कुमारदास में काफी पुष्ट है। इस विचार से वह कवि भारवि से दूर और कालिदास का समाश्रयी है। दूसरे, छठे और दसवें सर्ग में उसने श्लोक का प्रयोग किया है, ग्यारहवें में द्रुत-विलम्बित, और तेरहवे में प्रमिताक्षरा का। इन्द्रवज्रा की उपजाति शाखा का उपयोग कुमारदास ने पहले, तीसरे और सातवें सर्ग मे किया है और वशस्था का पाँचवें, नवे, बारहवे और तीसरे में। वैतालीय चौथे और रथोद्धता आठवे में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त जानकीहरण में शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, अवितथ, शिखरिणी, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता और मालिनी का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। कुमारदास माधुर्य और रस के प्रवाह मे कालिदास के नितान्त समीप पहुँच जाता है।

४. माघ

माघ संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में से एक है। पदलालित्य में इसकी जोड़ का दूसरा कवि नहीं—ऐसा संस्कृत के समालोचकों का मत है। माघ कौन था, यह कहना तो इतना सरल नहीं, परन्तु अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि ने अपने सबध में कुछ वक्तव्य अधिक किया है। और यद्यपि हम उसके दिए हुए आँकड़ों से उसका चरित नहीं सकलित कर सकते, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अशों में उसका कुछ भान हमें अवश्य हो जाता है। माघ के कथनानुसार उसके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था और उसके पितामह का सुप्रभदेव। सुप्रभदेव वर्मलात अथवा वर्मलाख्य नामक किसी राजा के अमात्य थे। कील-हार्न साहब ने वर्मलात नामक राजा के सबध का एक शिलालेख छापा है, जो सन् ६२५ ईस्वी का है। माघ के पितामह सुप्रभदेव संभवतः इसी वर्मलात के मत्री थे। इस दशा में माघ का समय प्राय. निश्चित हो जाता है और उसे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम रख सकते हैं। इस तिथि की अन्य बाह्य प्रमाणों से भी पुष्टि हो जाती है। माघ निस्सन्देह भारवि के बाद का कवि है। भारवि को उसने अपना आदर्श भी बनाया जान पड़ता है। भारवि के 'मुहुर्मुहुः' पर मानों माघ का संशोधन है—'किमु मुहुर्मुमुहुर्गतभर्तृकाः। माघ को 'काशिका वृत्ति' का भी ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग के ११२वें श्लोक में काशिका के (टीकाकार) 'न्यास-कार' जिनेन्द्रबुद्धि के प्रति स्पष्ट संकेत है। जिनेन्द्रबुद्धि का काल ७०० ईस्वी के लगभग है। माघ भी इसी समय

के आसपास हुए होंगे। माघ के उक्त संदर्भ की कुछ लोगों ने अन्य प्रकार से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसका युक्तिसंगत अर्थ न्यासकारपरक ही लगता है। इससे माघ का काल अनुमानतः ७०० ईस्वी के आसपास ही रहा होगा। इस तिथि की प्रतिष्ठा कुछ और प्रमाणों से भी हो जाती है। माघ को हर्ष के 'नागानन्द' का निश्चित ज्ञान था। यह कहना कि माघ का अनुकरण वासवदत्ताकार सुबन्धु ने किया है, नितान्त अग्राह्य है। इसमें सन्देह नहीं कि माघ को वासवदत्तावाली कथा मालूम थी, मगर इससे सुबन्धु के अनुकरण की बात नहीं सिद्ध होती। वास्तव में सुबन्धु और माघ दोनों का आश्रय भास हो सकता है, जिसने वासवदत्ता के सबंध के तीन-तीन नाटक लिखे हैं। कथा-सार जानना एक बात है और अनुकरण करना दूसरी। कालिदास ने भी इसी प्रकार अपने 'मेघदूत' के 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' पद में वासवदत्ता की कहानी की ओर संकेत किया है। अतः माघ का समय ७०० ई० के लगभग मानना उचित होगा।

माघ का यश उसके महाकाव्य 'शिशुपालवध' पर अवलंबित है। यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नों में से एक है और इसी के कारण माघ कालिदास और भारवि के समकक्ष गिने जाते हैं। कुछ साहित्य-मर्मज्ञ तो माघ को कालिदास से भी ऊँचा मानते हैं। परन्तु इस महाकवि की शैली और काव्यगुणों पर विचार करने के पूर्व उसके काव्यप्रबन्ध पर एक दृष्टि डाल लेना अधिक उचित होगा। 'शिशुपालवध' का कथाप्रसंग महाभारत से लिया गया है। महाभारत की कथा मे कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय का अनुष्ठान करने के लिए उत्साहित करते हैं। उस यज्ञ में भीष्म की सम्मति से कृष्ण को प्रमुख स्थान मिलता है। चेदिराज शिशुपाल इस कार्य के अनौचित्य पर बिगड़कर सभाभवन छोड़ देता है। युधिष्ठिर उसे मनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कृष्ण की बड़ाई करते हैं। शिशुपाल सभा में विद्रोह का सूत्रपात करता है और यज्ञ नष्ट कर देने की चेष्टा करता है। युधिष्ठिर जब भीष्म की ओर देखते हैं तो भीष्म कृष्ण की पूजा और शिशुपाल की उपेक्षा करने की सलाह देते हैं। इस पर शिशुपाल भीष्म का अपमान करता है। भीष्म उसका प्रतिकार करते हुए याद दिलाते हैं कि कृष्ण शिशुपाल के सौ अपशब्दों को सहन करने के लिए उसकी माता के प्रति प्रतिबद्ध हैं। इस पर शिशुपाल कृष्ण की निन्दा करता है। कृष्ण को वह अपनी वधू चुरानेवाला चोर और ग्वाल कहता है। कृष्ण अपशब्दों से आहत होकर शिशुपाल का मस्तक अपने चक्र से काट लेते हैं। इस महाभारत की कथा का माघ ने अपनी काव्यकला द्वारा काफ़ी परिमार्जन किया है। उसके प्रबन्ध का काव्य-प्रवाह महाभारत से कहीं तरल है।

अब किंचित् 'शिशुपालवध' के प्रबन्ध का दिग्दर्शन करें। उसके पहले सर्ग मे ही माघ ने एक मनोहर परिवर्त्तन किया है। नारद इन्द्र की ओर से दूत बनकर वसुदेव के घर जाते और मानवों तथा देवताओं के शत्रु शिशुपाल का वध करने की कृष्ण से प्रार्थना करते हैं। कृष्ण उद्धव और बलराम से सम्मति लेते हैं। इस पर बलराम युद्ध की सलाह देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय का निमन्त्रण स्वीकार करने की। इस सबंध में राजनीति की भी काफ़ी छान-बीन होती है। फिर कृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं। यह प्रसग तीसरे सर्ग तक चलता है। चौथे सर्ग मे रैवतक पर्वत का वर्णन है। पाँचवें सर्ग मे स्कन्धावारों में ठहरी सेना का सुन्दर वर्णन है। छठे सर्ग के दृश्य बड़े सुन्दर हैं। सेना के साथ रानियाँ भी पालकियों पर सवार हैं और अनेक भद्र नारियाँ घोड़ों और खच्चरों पर आरूढ़! मार्ग मे जल-विहार और प्रसाधन के मनोरम वर्णन माघ ने किए हैं। सातवे और आठवे सर्गों में अन्य यादव अग्रणी भी कृष्ण का अनुकरण करते हुए वन और जल में विहार करते हैं। यह प्रसग शृंगार का अद्भुत वर्णन हमारे सामने रखता है और नवे सर्ग तक चलता है। दसवें मे यादवों के आपान और रमण का वर्णन है। यादवों का मद्यपान प्रसिद्ध है। इसमें उनकी आसक्ति इतनी घनी थी कि उनका संहार भी अन्त मे इसी कारण हुआ। महाकवि माघ उनके आपान और रमण-वर्णनों में नहीं थकता। ग्यारहवे में रजनी के अवसान के बाद सूर्यागम होता है और बारहवें में यादव-सेना यमुना पार करती है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करते हैं, जहाँ युधिष्ठिर उनका स्वागत करते हैं। अश्वघोष और कालिदास की भाँति राज-मार्ग पर जाते हुए कृष्णदर्शन के लिए लालायित नारियों को कवि प्रकोष्ठ-वातायनों में विक्षिप्त-सी ला खड़ी करता है। चौदहवें में कवि फिर महाभारत का सहारा लेता है, परन्तु उसका पदलालित्य महाभारतकार से कहीं स्वादुल है। इसमें कृष्ण की पूजा होती है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल कृष्ण का विरोध और भीष्म से वाद-विवाद करता है, फिर

सभा छोड़कर युद्ध के निमित्त अपनी सेना प्रस्तुत करता है। सोलहवें में शिशुपाल का दूत युद्ध का संदेश लाता है। सात्यकि और उस दूत में कहा-सुनी होती है। दूत सगर्व उत्तर देता है। सत्रहवें सर्ग मे दोनों सेनाएँ युद्ध के निमित्त बढ़ती हैं। अन्त में कृष्ण और शिशुपाल युद्ध करते हैं। शिशुपाल मारा जाता है (१६)।

कुछ भारतीय जिज्ञासुओं ने माघ में कालिदास और भारवि दोनों के गुणों का होना बताया है और दोनों से उसे विशिष्ट कहा है। इसे स्वीकार करना कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि माघ में पदलालित्य उच्चकोटि का है, परन्तु कालिदास की काव्य-कला के सम्मुख सचमुच ही वह सर्वथा विजित है। इतना जरूर है कि उसके अनेक स्थलों का सौन्दर्य भारवि में नहीं मिलने का—विशेषकर उसका प्रणय का रोमाञ्चक वर्णन तो स्तुत्य है। उसका वर्णन-वैचित्र्य, विलास-व्यजना, पदध्वनि की झंकृति आदि भारवि मे अप्राप्य हैं, फिर भी भारवि का अर्थगाम्भीर्य, उसकी शब्दशक्ति और गति की गुरुता माघ के बस की नहीं। दोनों ही वास्तव में अपने-अपने स्थान पर स्तुत्य हैं। माघ वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के ऋणी हैं, जैसा वह अपने वर्णनों में स्वीकार भी करते हैं। परन्तु माघ इतना पद-लालित्य रखते हुए भी शाब्दिक बाजीगरी से अपने को न बचा सके। कालिदास को छोड़कर संस्कृत कवियों मे बहुत कम ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपने को काव्य की कृत्रिम कलाबाजी से बचा पाया है। शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में इस शाब्दिक इन्द्रजाल का अच्छा उदाहरण मिलता है। वहाँ माघ सेना के व्यूह की उपमा सर्वतोभद्र, चक्र, गोमूत्रिका आदि छन्दों से युक्त महाकाव्य से देते हैं। निस्सन्देह माघ वहाँ सुरुचि से अत्यन्त दूर जा पड़ते हैं। श्लेष का प्रयोग सस्कृत कवियों ने बहुलता से किया है—स्वय कालिदास इससे वरी नहीं हैं, परन्तु उस महाकवि की सुरुचि और कला की मर्यादा का ज्ञान उसे बचा लेता है। पर माघ और भारवि दोनों उस श्रृङ्खला मे जकड़कर कभी-कभी अनर्थ कर बैठते हैं। फिर भी श्लेष पर जहाँ-तहाँ माघ ने सुन्दर आधिपत्य दर्शाया है।

नीचे के श्लोक में जिस पदलालित्य और स्वरझंकृति का माघ ने उद्घाटन किया है, वह संस्कृत में बेजोड़-सा है। केवल यही एक श्लोक कवि की सत्ता स्थापित कर देने के लिए पर्याप्त है—

सटाछटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंहसैंहीमतनुं तनु त्वया।
समुग्धकान्तास्तनसंगभंगुरैरुरोविदारम्प्रतिचस्करे नखैः॥

नीचे के श्लोकों में 'सेना-यान' और युद्ध का अत्यन्त ओजपूर्ण और सशक्त वर्णन है—

आयान्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना—
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगाना—
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यमाजाम्॥
सजलाम्बुधरारवानुकारी ध्वनिरापूरितदिन्मुखो रथस्य।
प्रगुणीकृतकेकमूर्ध्वकण्ठैः शितिकण्ठैरुपकर्णयाम्बभूव॥
तूर्यारावैराहितोत्तालतालैर्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः।
नृत्ते चञ्चुःशून्यहस्तप्रयोगं काये कूजन्कम्बुरुच्चैर्जहास॥
कश्चिन्मूर्छामेत्यगाढ प्रहारः सिक्तः शीतैः शीकरैर्वारणस्य।
उच्छ्वस्वासप्रस्थिता तं जिघृक्षुर्व्यर्थाकूता नाकनारी मुमूर्छा॥
त्यक्तप्राणं संयुगे हस्तिनीस्था वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुः
प्राप्याखण्डं देवभूयं सतीत्वादाशिश्लेष स्वैव कञ्चित्पुरंध्री॥

माघ ने कहीं-कहीं तो ऐसे स्थलों की अभिसृष्टि कर दी है, जो प्रसाद और भावगुरुता में साधारणतया अप्राप्य हैं। जिस शक्ति और गाम्भीर्य के साथ शिशुपाल कृष्ण का सभा में विरोध करता है, वह सर्वथा स्तुत्य है और माघ ने उसे अद्भुत काव्यकला से विभूषित किया है।

माघ के अलंकार बोझिल नहीं सरल हैं, उनके अनु-प्रासों में शक्ति है। भाषा के प्रयोग में माघ असाधारण हैं, व्याकरण मे वह है भट्टि-सा पण्डित। छन्दों के प्रयोग में भी वह कम कुशल नहीं है। साधारणतया श्लोक ही शिशुपाल-वध में प्रयुक्त हुआ है, विशेषकर दूसरे और उन्नीसवें सर्गों मे। वंशस्था की उपजाति शाखा पहले और बारहवे सर्ग में मिलती है तथा इन्द्रवज्रा और उद्गाता क्रमशः तीसरे और पन्द्रहवे में। इसी प्रकार औपच्छन्दसिक का प्रयोग बीसवें, द्रुतविलम्बित् का छठे, पुष्पिताग्रा का सातवे, प्रमिताक्षरा का नवें, प्रहर्षिणी का आठवे, मञ्जुभाषिणी का तेरहवे, मालिनी का ग्यारहवे और रथोद्धता का चौदहवें में प्रयोग हुआ है। रुचिरा, वसन्ततिलका, वैतालीय और शालिनी क्रमशः सत्रहवे, पाँचवे, सोलहवे और अठारहवे में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग भी माघ ने किया है, जैसे स्वागता, गीति, उत्सर, कलहस, चित्रलेखा, जलधरमाला, जलोद्धतगति, तोटक, दोधक, धृतश्री, पृथ्वी, प्रभा, प्रमदा, भ्रमरविलसित, मञ्जरी, महामालिका, वश-पत्रपतित, वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा, स्रग्विणी, हरिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, और शार्दूलविक्रीड़ित। इतने छन्दों का एक ग्रन्थ में प्रयोग शायद अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इससे माघ का उन पर अधिकार स्पष्ट है।

अमेरिका के आदिम निवासी—(१)

नई दुनिया के सुविशाल भूखण्डों में बसनेवाली अगणित आदिम जातियों का इतिहास दीर्घ-कालिक होने पर भी आज हमे केवल टूटी शृंखला के रूप में ही उपलब्ध है। श्वेत जातियों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अपना बहुत-कुछ गँवा दिया है और आज वे लुप्तप्राय हो रही हैं। उनकी पूर्वकालीन विशिष्ट सभ्यता को स्वार्थरत विजेताओं ने निर्मूल कर डालने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। अमेरिका-महाद्वीप के विभिन्न भूभागों में आज के दिन उन जातियों के मुट्ठीभर प्रतिनिधि वनवासियों और खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते दिखाई देते हैं। और अपने पूर्वजो के जीर्ण-शीर्ण गौरव-स्मारकों के द्वारा ही वे हमें अपने भूतकाल का कुछ-कुछ आभास दे पाते हैं। उन अभागे प्राणियों का रोमांचक इतिहास अतीत के आवरण में छिपा हुआ है और मानव-विज्ञान के आचार्यों के लिए अनुसधान और खोज का वह एक महत्त्वपूर्ण विषय बना हुआ है।

पृथ्वी के अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसंधानो की भाँति अमेरिका के भूभागों की सबसे पहली खोज का कार्य्य भी वहाँ के प्राथमिक उपनिवासियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ होगा। अनुमानतः किसी एशियाई बंजारे या 'कोलम्बस' जैसे किसी अज्ञातनामा अपरिचित साहसी व्यक्ति ने प्रागऐतिहासिक युग में ईस्टकेप, साइबेरिया और अलास्का के मध्यवर्त्ती सागर की पतली पट्टी को पार करके यहाँ की भूमि पर पहलेपहल पदार्पण किया होगा। उस युग में या तो सागर का वह भाग बर्फ से ढका रहा होगा, जिसे पाँव-पैदल चलकर पार करना कठिन न रहा होगा, अथवा उन लोगो ने खाल की बनी डोंगियों या नौकाओं का ही आश्रय लिया होगा, जैसा कि आज भी प्रायः एस्किमो जाति के प्रतिनिधियों में प्रचलित देखा जाता है।

उत्तरी अमेरिका के वे प्राथमिक निवासी धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढते गए और उनके वंशजों ने अधिक उपजाऊ भूभागों तथा अनुकूल जल-वायुवाले प्रदेशों में प्रवेश किया। आहार की खोज में भटकनेवाले उन अहेरियों को यह सुविस्तृत अक्षत भूमि अवश्य ही स्वर्ग-तुल्य प्रतीत हुई होगी। मार्ग-अवरोध करनेवाले शत्रुओं के अभाव में इन आगन्तुकों की लहरों की वह सर्वप्रथम ऊर्मि-धारा असाधारण गति से फैलकर बह चली होगी। "अमेरिडों" अथवा अमेरिकन-इंडियन जातियों के पूर्वजों का यह आगमनकाल ४०००-५००० ई० पू० माना जाता है, यद्यपि इस विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। सच पूछा जाय तो अमेरिका के आदिम-निवासियों का सर्वप्रथम आगमन-काल प्रमाणों के अभाव में आज तक अनिश्चित ही है। खुदाई में भूगर्भ से निकले पत्थर के भद्दे और अधूरे औज़ारों व शरीर के ढाँचों से भी इस संबंध में कुछ ठीक पता नहीं लगता।

कालान्तर में इन आगन्तुकों के वंशजों का इतना विस्तार हुआ कि जिस समय योरप से श्वेताङ्गों का यहाँ आगमन हुआ, उस समय उन लोगो ने उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों के अतिरिक्त पास-पड़ोस के टापुओं में भी आर्कटिक-तट से लेकर टिएर्रा-डेल-फ्यूएगो के छोर तक इनका आधिपत्य देखा। सोलहवीं शताब्दी में योरपीय जातियों के आक्रमणों से पहले, सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में इन प्राथमिक आगन्तुक एशियाई अहेरियों के वंशजों ने उच्च कोटि की सभ्यताओं के विकास में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर ली थी। उनकी कार्यक्षमता के चमत्कारों के आगे पुरानी दुनिया की आरंभिक सभ्यता की देन भी फीकी पड़ जाती है।

हिमाच्छादित आर्कटिक-तट के निवासी, बर्फ़ के घर बनाकर रहनेवाले, रोएँदार-पशु-चर्मधारी एस्किमो से लेकर अमेजन नदी और उसकी शाखाओं से सिक्त प्रदेश के उष्ण सघन वनों के भीतर खजूर की पत्तियों की कुटिया में आवास करनेवाले नग्न बर्बरों तक उन आदिम निवासियों ने अपने

को प्रकृति और स्थानीय वातावरण के अनुकूल बनाने के अगणित प्रमाण प्रदर्शित किए। प्रत्येक दशा में इन लोगों ने प्रकृति के रहस्यों को जानकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के हेतु उनसे काम लेना सीख लिया था। 'शोशोनी' जाति के आदिम व्यक्तियों के विचरणशील दलों ने 'महान् तरेटी' (Great Basin) की शुष्क मरुभूमि के बिखरे हुए कँटीले पौधों को ही अपना आहार बनाया। उन्होंने स्थानीय जल-प्रपातों और स्रोतो की स्थितियाँ जान ली और घास के टिड्डों, पतिंगों तथा झीलों के कीटडिम्बों को पकड़ना सीख लिया। तेज दौड़नेवाले शशकों को पकड़ने के लिए वे जाल बनाने लगे और झाड़ियों व घास-फूस के द्वारा अपने रहने की झोपड़ियाँ तैयार करने की कला भी उनको ज्ञात हो गई। आवश्यकताओं की पूर्त्ति की चेष्टा मे उनको क्रमशः ज्ञान की भी प्राप्ति होती गई। उन सीधे-सादे मानव-समूहों की समाज-व्यवस्था का आधार केवल कुटुम्ब ही था—उसी पर उनकी समाज की भित्ति प्रस्थपित थी।

धीरे-धीरे इनमे जातियाँ और उप-जातियाँ बनती गई और समय बीतने पर उनमे विशुद्ध और वर्णसंकर वर्ग-उपवर्गों का विभाजन हुआ। अमेरिका महाद्वीपों के उन आदिम निवासियों की अनेक जातियों तथा उपजातियों के नाम इस प्रकार विद्वानो द्वारा प्रकट किए जाते हैं—अल्गोन, कुइ-आन, हुरोन, इरोकुओई, डाकोटा या सिओयुक्स, अथाबा-स्कन्, शोशोनी, पानी, मुस्कोगी, चेरोकी, अपाचे, मोकुई, पुएब्लो, चेयेन्ने, चिबका, चाको, पाएजे, कोकोनुको, बार्रे, अरावाक, कारिब, वर्राग्रू, बेतोये, क्यूरेतू, कुरतू, जिवारो, जापारो, यूनका, कुइचुआ (इन्का), हुआन्का, अयमारा, ऐन्तसुयू, चिन्चासुयू, तिना, मोजो, चिकुइतो, ताकाना, गुआरानी, तूपी, गेस, जुरी, बोतोकुदोस, बोरोरो, पुरुस, काराझुयाना, अरायूकानियन, पुएल्चे, तेहुएल्चे, ओना, यहगन, अलाकलुफ, पायागुआ, चारुआ, अबीपोने, लूले, मताको, मोकोबी, तोबा, गुआयकुरु, मय-कुइचे या हुआ-क्सतेकन, इरजा, लकैन्दन्, नाहुआन, ऐज्तेक, पिपिल, निकुईरन्, गुआईकुरन्, ओपातापीमा, ताराहुमारा, तिन्ने, सेरी, तारस्कान, मझालजिन्का, ओतोमी, जोकुए-मिक्से, मिक्सतेको, जपोतेक्, हुआवे, चोरोतेगन, लेकन या चोन्तल, तालामका, क्यूना और कुएवे आदि। इन सभी जातियों का यदि पूर्ण परिचय दिया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। प्रस्तुत लेख मे हम कुछ विशेष जातियो का उल्लेख करेंगे, जिनकी शाखाएँ और उपशाखाएँ पूर्वकथित भेद-विभेदो के साथ अमेरिका मे विस्तृत हुईं।

जिस समय अमेरिका की भूमि पर सर्वप्रथम पदार्पण करनेवाली आदिम जातियो के कुछ प्रतिनिधि आहार और आवास की खोज मे चेष्टारत होकर अब भी प्रकृति से संघर्ष ही कर रहे थे, उसी युग मे गुआतेमाला के पर्वतीय पठारों, मोतागुआ नदी की वनाच्छादित उष्ण तरेटियो और युकेतॉन-प्रदेश की कटकाकीर्ण भूमि पर मय जाति की उस महान् सभ्यता के उद्भव और विकास का आरम्भ हो रहा था, जिसकी अवधि १६०० वर्षो की मानी जाती है। इसी भाँति पैसिफिक महासागर-तटवर्ती शुष्क मरुस्थली तथा ऐन्डीज पर्वतों के नग्न, ठढे, पठारों मे प्राचीन पेरू की इन्का-जातीय विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति ने भी कालान्तर में असाधारण उन्नति की। दूसरी ओर, स्पेनवालों के आगमन से कुछ पहले, मेक्सिको की हरी-भरी उपत्यका मे, ऐज्तेक-जाति ने एक परम शक्तिशाली सैनिक-राष्ट्र का निर्माण करने मे सफलता प्राप्त की। जहाँ-जहाँ योरपीय अनुसंधानकारियों ने शुरू में कदम रखे, वहीं उनको आदिम निवासियों की सांस्कृतिक विभिन्नता और वाता-वरण के अनुकूल बनने की क्षमता का परिचय प्राप्त हुआ।

यह विभिन्नता, अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में भाषाओं और बोलचाल के अन्तर द्वारा स्पष्ट होती गई। अकेले मेक्सिको के उत्तरी भाग मे ही, श्वेतागों के प्रवेश के समय ५० असंबद्ध भाषाएँ बोलनेवाले वर्ग थे और कम-से-कम ७०० पृथक् उप-भाषाएँ प्रचलित थीं, जो एक दूसरे से उसी प्रकार भिन्न थीं जैसे अंग्रेजी भाषा फ्रेंच व जर्मन भाषाओं से भिन्न है। भाषा की दृष्टि से शब्द-कोषों और व्याकरणों की नियम-विभिन्नता भी इन जातीय वर्गों मे पूर्णरूपेण पाई जाती थी। इससे स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न नस्लों के असंख्य मनुष्य दीर्घकाल तक परस्पर पृथक् रहकर अमेरिका के इस भूभाग में जीवन-यापन करते रहे।

नई दुनिया के इन भूभागों मे ध्वनिसूचक लेखनकला का विकास न होने के कारण अधिक समय तक किसी भी स्थानीय भाषा को स्थायित्व प्रदान करने की सम्भावना नही रही। अमेरिका की सभी देशी भाषाएँ सूक्ष्म विचारो और अन्तर्दर्शी अर्थ-सूचक अवश्य थी। प्रयोक्ताओं के अनुभवो के अनुरूप ही उनका शब्द-भांडार रचा गया था और उनकी व्याकरण-शैली दुरूह होने पर भी नियमित थी।

भाषाओं के अनुसार इंडियन जातियों के मुख्य वर्गों मे, मेक्सिको के उत्तरी भूभागों में "एस्किमाउआन्", जो समस्त आर्कटिक-तट को समेटे हुए अलास्का से ग्रीनलैंड तक फैले हैं, "अथापास्कान्", जिनमे अलास्का और

हड्सन की खाड़ी के पश्चिम में भीतरी कनाडा तक का अधिकाश भाग बँटा हुआ है और जो पुनः एरिजोना, नव-मेक्सिको व पश्चिमी टेक्सास् में प्रकट होते हैं; "अलगोन्कुइन" जो दक्षिणी कनाडा के आरपार रॉकी-पर्वतों से अटलान्तिक महासागर तक, 'ग्रेट लेक्स' के दक्षिण मे टेनेस्सी प्रदेश तक बढ़े हुए हैं, तथा "इरोकुओइआन्", जिनमें सेंट लारेन्स नदी की उपत्यका, एरी व ओन्टेरिओ झीलो के आसपास का प्रदेश दक्षिण में उत्तरी जार्जिया तक सम्मिलित है, अपना विशेष स्थान रखते हैं।

"शोशोनियन" वर्ग मे "ग्रेट बेसिन" का प्रदेश और उत्तरी टेक्सास तथा "सिओयुआन" में "विशाल मैदानों" और कैरोलिना व वर्जीनिया के कुछ भूभाग बँटे हुए हैं। इनके अतिरिक्त "मुस्खोजियन" वर्ग का विस्तार मिस्सिसिपी की अधिकाश रियासतो, अल्बामा, जार्जिया और फ्लोरिडा तक माना जाता है। बहुतेरे छोटे-छोटे वर्ग भी हैं, जिनका अस्तित्व पैसिफिक-तट पर पारस्परिक विभिन्नता के साथ दिखाई देता है और जिनको उत्तरी अमेरिका के मानचित्र पर जहाँ-तहाँ बिन्दुओं के रूप में अंकित किया गया है।

आइए, अब हम इंडियन जाति के मनुष्यों के रंग-रूप और व्यक्तित्व पर भी विचार करें। नई दुनिया के दोनों महाद्वीपों मे यत्र-तत्र वे दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें से अधिकाश वर्णसंकर ही प्रतीत होते हैं। श्वेतांगों के सम्पर्क से इंडियन स्त्रियों के जो सन्ताने उत्पन्न हुई वे रहन-सहन, रंग-रूप में विशुद्ध इंडियनों से सर्वथा भिन्न हैं। सामूहिक

एक अमेरिकन रेड इंडियन सरदार
इसकी अद्भुत वेशभूषा पर ग़ौर कीजिए!

रूप मे यदि देखा जाय तो इन लोगो की आकृतियों मे उतना अन्तर नहीं मिलता जितना कि उनकी सस्कृति और .भ्यता में पाया जाता है।

साधारणतया सभी अमेरिकावासी इडियनों को मगोल-वर्ग से सबधित माना जा सकता है, जिसके अन्तर्गत पूर्वी एशिया के लोग गिने जाते हैं। सभी इडियनों के केश सीधे या किचित् घुँघराले कृष्ण-वर्ण, आँखे भूरी, और शरीर का रग गहरा (कुछ कालापन लिये) होता है। नई दुनिया की विभिन्न उप-जातियों मे शारीरिक रग की विभिन्नता कुछ अशों मे अवश्य मिलती है। सबसे मुख्य अन्तर चेहरे की बनावट, शिर के आकार और कद मे होता है। पूर्वी यूनाइटेड स्टेट्स और "विशाल मैदानो" के इलाकों के निवासी रेड इडियन साधारणतया लम्बे और हृष्टपुष्ट तथा गृद्ध-चचु जैसी नाकवाले (जो इडियन जाति की विशेषता मानी जाती है) हुआ करते थे। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी व दक्षिणी प्रदेशों मे आज भी अल्प सख्या मे ऐसी आकृतियों वाले आदिम निवासी दिखाई देते हैं। इसके विपरीत मेक्सिको, मध्य-अमेरिका तथा अमेजन की तरेटी मे रहनेवाले इडियन कद मे अपेक्षाकृत नाटे, रग मे अधिक गहरे और चौड़ी तथा चिपटी नाकवाले होते थे।

अमेरिका की कुछ आदिम जातियों को एक तरह के लाल रंग या गेरू से अपना शरीर रँगने का बडा चाव था, जिसके कारण विदेशों से आनेवाले प्रारम्भिक यात्रियों ने उन्हे देखकर "रेड स्किन्स" या "लाल चमड़ीवालों" की उपाधि दे दी और इसी उक्ति के आधार पर यह भ्रम-मूलक विचार फैल गया कि इडियन जाति के व्यक्तियो की चमडी का रग स्वाभाविक लाल या ताम्र-वर्ण का होता है। वास्तव मे, उनका रंग पीलापन लिये हुए गोरा और न्यूनाधिक अन्तर के साथ मटमैला देखा जाता है। किसी-किसी प्रदेश के इडियन भूरे तथा गेहुएँ रग के भी होते हैं। स्थानीय वातावरण का उनके त्वचा-वर्ण पर अत्यधिक प्रभाव पडा है, जिसके परिणामस्वरूप काले रग के इडियन भी कहीं-कहीं दिखलाई पडते हैं।

उत्तरी अमेरिका की आदिम जातियों का उल्लेख करते समय पाश्चात्य विद्वानों ने उनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—पहली श्रेणी मे "वैकउड्स और अटलाटिक तट पर रहनेवाले", दूसरी मे "मैदानों के रहनेवाले" और तीसरी मे "रॉकी पर्वतों तथा पैसिफिक तट के निवासी"। पहली श्रेणी मे आनेवाली इडियन जातियों के लोग वृक्षो की छाल के त्रिकोणाकार तम्बू बनाकर उनमें रहते थे। दूसरी श्रेणी के लोग भैंस की खालों के घरों में रहते थे और मुख्यतया खानाबदोशों की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर -मारे-मारे फिरा करते थे। उन्होंने स्पेनवासियों का आक्रमण होने पर अल्पकाल मे ही आक्रमणकारियों की देखादेखी घुडसवारी मे दक्षता प्राप्त कर ली थी। तीसरी श्रेणी मे आनेवाली जातियों मे खानें खोदनेवाले दीनहीन श्रमिको से लेकर अपेक्षाकृत सभ्य 'प्यूएब्लो' अर्थात् नागरिक इडियन समिलित हैं। ये लोग अपने रहने के लिए ऊँची-ऊँची पत्थर और ईंटों की इमारते बनाया करते थे, जिनके भग्नावशेष आज भी पाये जाते हैं। उन्हे देखकर इन लोगों की स्थापत्य-कुशलता पर आश्चर्य करना पडता है। पहाड़ों पर सुविशाल दुर्गों की भाँति सुदृढ और भव्य प्रासादों का निर्माण करनेवाली उन आदिम जातियों के मुट्ठीभर वशज आज भी वर्तमान हैं, जो भवन-निर्माण-कला मे अपना सानी नहीं रखते।

स्थानीय भाषा और मिलती-जुलती बोली की दृष्टि से इडियन जातिवालो के निम्नलिखित प्रमुख वर्ग माने जाते हैं—अल्गोनकुइन—जिनकी बस्तियाँ समस्त उत्तरी अमेरिका में दूर-दूर तक फैली हुई थीं, हुरोन-इरोकुओई—जो बडे शूर-वीर और लडाके होते थे तथा बडी-बडी झीलों के आस-पास बसे हुए थे, डाकोटा या सिओयुक्स—जो मध्यवर्ती मैदानों के निवासी थे; अथाबास्कन—जिनकी आवासभूमि पश्चिमी प्रदेश माना जाता है, शोशोनी और पॉनी—जो अथाबास्कन जातिवालो के पड़ोसी थे; मस्कोगी या क्रीक इंडियन—जो दक्षिणी प्रदेश में रहते थे और अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य कहे जाते थे। इन सभी वर्गों के व्यक्तियों में परस्पर न्यूनाधिक अन्तर था। सारे महाद्वीप मे, उस आदिम युग मे, एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक प्रकार की सभ्यताओं और सस्कृतियों का विकास हो रहा था, जिनमे से आगे चलकर मेक्सिको-वासी ऐज़्तेक-जैसे शक्तिशाली राष्ट्रो ने जन्म लिया।

दक्षिणी और मध्य अमेरिका की आदिम जातियों के आरभिक इतिहास के विषय मे अधिक पता नही चलता। सर्वप्रथम स्पेन के कुछ साहसी यात्री वहाँ आए और उनके कथनानुसार हमे ज्ञात होता है कि समुद्र-तटों, जगलो, पहाडो और समतल मैदानो मे सर्वत्र ऐसी आदिम जातियो की बस्तियाँ थी, जिनकी रहन-सहन नीचे दर्जे की और पशुओं-जैसी थी। सम्भव है कि जातीय द्वेष के कारण ही इन लोगो ने उनके बारे मे ऐसी धारणा की हो, क्योंकि वे स्वीकार करते हैं कि "विषैले बाणों से आगन्तुक विदेशियों पर वहाँ के लोग आक्रमण

करते थे और उनको पराजित कर पाना कठिन था। वे घनी झाड़ियों और वृक्षों की आड़ से छिपकर शत्रुओं से लड़ते थे और पीछा करने पर भी हाथ न आते थे। वे लम्बे-लम्बे बाँसों के चोंगों से फूँक मारकर बाण चलाते थे और उनके निशाने बहुत कम चूकते थे। उनका यह शस्त्र बड़ा ही भयकर था और इसकी मार से बचना कठिन हो जाता था, क्योंकि इसका प्रयोग करने मे न किसी प्रकार का शब्द होता था और न बाण चलने की आहट ही मिलती थी। ये लोग अपने शिकार को फँसाने मे "लासो" नामक रस्सियों के एक फंदे का प्रयोग करते थे और उसे फेकने मे अत्यधिक निपुण थे। एक और अस्त्र, जिसका प्रायः वे व्यवहार करते थे, "बोला" कहलाता था। इस अस्त्र में रस्सी के एक छोर पर पत्थर का एक भारी गेंद बँधा रहता था, जिसे तेजी से घुमाकर वे शत्रु को लक्ष्य कर फेंकते थे। यह "बोला" एक भीषण हथियार था और इसको अधिक भयकर बनाने के लिए कभी-कभी वे लोग छोटी-छोटी रस्सियों में पत्थर के कई छोटे-बड़े गेंद बाँधकर उन रस्सियों को बड़ी रस्सी से सयुक्त कर लेते थे। "बोला" के फेंकने की कला मे ये लोग पूर्णतया दक्ष थे।

इसमें सन्देह नहीं कि स्पेनिश आक्रमणकारियों के आग्नेय शस्त्रों के आगे इन बेचारे स्थानीय निवासियों की सदा पराजय ही होती थी, परन्तु अवसर पाकर वे अनेक मौकों पर अपने शत्रुओं से बदला भी लिया करते थे। घुड़सवारी उन्होंने अपने गोरे शत्रुओं से ही सीखी थी और अल्प-काल में ही इस कला में असाधारण दक्षता प्राप्त कर ली थी। घोड़े की पीठों से वे शत्रुओं पर लुकछिपकर आक्रमण करते और [illegible] भाग निकलने की सारी युक्तियों के जानकार हो गए थे। स्पेनवालों की बस्तियों पर हमला करने का इनका ढंग भी बड़ा ही विचित्र होता था। वे [illegible] कई रस्सियों में बाँधकर अपने आगे-आगे भगाते थे और शत्रुओं को उनकी टापों से कुचलकर मार डालने की चेष्टा करते थे। इस भगदड़ में जो इधर-उधर भागने की चेष्टा करता वह उनके विषैले बाणों का लक्ष्य बनता। परन्तु प्रायः एक शताब्दी तक विदेशियों से लड़ते रहने के बाद भी उनकी पराजय ही हुई और वे वन मे भाग जाने को बाध्य हो गए। अपनी आवासभूमि की रक्षा में इन लोगों ने लाखों की संख्या मे अपनी जानें गँवाईं, परन्तु अंत में उनका देश स्पेनिश आक्रमणकारियों ने जीत ही लिया।

अमेरिका में आज के दिन पाए जाने वाले इंडियनों के बचे-खुचे प्रतिनिधियों में से एक । यह बुढ़िया कैसे मज़े से सिगरेट पी रही है !

अधिकाश मे, श्वेत जातियों के सर्वप्रथम प्रतिनिधियों के साथ अमेरिका की इडियन जाति के लोगों ने अच्छा व्यवहार किया और जो कुछ उन्होंने चाहा वह उन्हे बिना मूल्य दिया गया अथवा परिवर्त्तन मे साधारण वस्तुएँ लेकर बेच डाला गया। पर जब उनको आगन्तुकों की स्वार्थपरता, इस देश पर अधिकार करने की निश्चित अभिलाषा और ठगी का पता चला तो ये लोग सतर्क हुए और अपनी आत्मरक्षा तथा देश-रक्षा के लिए कटिबद्ध हुए। फिर तो चालाकी और उद्दण्डता से उन्होंने शत्रुओं को मारना अपने जीवन का सकल्प बना लिया, जिसके फलस्वरूप सामूहिक रूप में विदेशियों का विनाश होने लगा। पर उनके पास तोपें और बन्दूकें नही थीं, अतएव स्पेनिश आक्रमणकारियों द्वारा भी वे बुरी तरह मौत के घाट उतारे जाने लगे। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि अमेरिका की भूमि पर पदार्पण करनेवाले उन स्पेनवासियों मे अधिकाश व्यक्ति डाकू और परले सिरे के बदमाश ही थे, जो अपने अपराधों के कारण राज्य के कोपभाजन बनकर स्पेन से भाग खड़े हुए थे और छोटे-मोटे जत्थों के साथ लूटमार करने व देशों को जीतने की भावना लेकर नई दुनिया में आ बसे थे। ये बन्दीगृहों के काढ़े, शराबी, जुआखोर, आवारे, विदेश में भाग्यपरीक्षा करने वाले सैनिक, मल्लाह तथा बरकन्दाज लोग अपनी समस्त

उच्छृखलता, वासना और रक्त-लिप्सा लेकर उन सीधे-सादे इडियन लोगों की आवास-भूमि को श्मशान बना उसमें अपने अत्याचारों का ताण्डव करते हुए स्वच्छद विचरने लगे। उन्होंने आग्नेय शस्त्रों की सहायता से उन निरीह मानवों के रक्त की मनमानी होली खेलकर उनको दासता की शृखलाओं में जकड दिया और अपनी स्वार्थसाधना में सलग्न उन श्वेतागों ने अपने सैकडों उपनिवेश, जागीरें, जमीदारियाँ और राज्य वहाँ स्थापित कर डाले। अकारण ही निरपराध इडियन स्त्री-पुरुषों और बच्चों की सामूहिक हत्याएँ उन्होने की, जिनका उद्देश्य केवल मनोविनोद या धार्मिक बर्बरता ही रहा होगा। नैतिक आचरण मे गिरे हुए व्यक्तियो से और आशा ही क्या हो सकती थी!

थोडे ही वर्षों बाद अपना सारा ऐश्वर्य खोकर इन दीनहीन, पराजित, अभागे इंडियन लोगों की सहस्रों टोलियाँ विजेताओ का दासत्व स्वीकार कर उनके जूठे टुकड़ो पर अपना जीवनयापन करती दिखाई देने लगी। उनसे जीभर बेगार ली जाती थी और बात-बात मे उन पर कोड़ो की मार पड़ती थी। विजेताओं की दृष्टि मे उनके प्राणों का कुछ भी मूल्य न था। वे कीट-पतगों से भी गई-बीती जिन्दगी बिताने को बाध्य कर दिए गए थे। उन्हे सोने की खानों मे काम करना पड़ता था। धीरे-धीरे लाखों की सख्या मे वे मरने लगे, किन्तु नए-नए दास पकड़कर लाने का क्रम विजेताओं ने बराबर जारी रखा और उस शोषण-नीति द्वारा वे दिनोंदिन सम्पन्न होते रहे। इन आक्रमणकारियों के अमानुषिक अत्याचार की वह रक्तरजित कहानी बडी ही विषम है, जिसका उल्लेख कुछ भावुक विदेशी यात्रियों ने अपने सस्मरणो मे किया है। उनका आँखोंदेखा वर्णन पढकर रोगटे खडे हो जाते हैं और हमे सदेह होने लगता है कि वे स्पेनिश आक्रमणकारी मनुष्य थे या राक्षस! सुनने में आया है कि जगलों के नरभक्षी असभ्य जातियो के लोग भी उन नरराक्षसों का मास खाने मे घृणा करते थे! इस प्रकार अमेरिका की आदिम जातियों के समूचे वश और परिवार निर्मूल होते गए और कालान्तर में उनकी सख्या बहुत ही कम हो गई।

विद्वानों का अनुमान है कि पूर्वकाल में आदिम इडियनो की सबसे घनी बस्तियाँ और उपनिवेश दक्षिण-पूर्वी इलाकों में थे तथा मिस्सीसिपी नदी के पूर्व में और कैलिफोर्निया मे भी उनकी सख्या बहुत अधिक थी। कारण यह था कि उन भूभागों में आहार की प्रचुरता थी और वहाँ की जलवायु भी अनुकूल थी। कई शताब्दियों की अवधि मे, जब इडियन जातियों के पारस्परिक लडाई-झगडों के फलस्वरूप सहसा उनकी प्रगति और विस्तार में बाधाएँ पड़ने लगीं, तब वे उक्त प्रदेशों को छोडकर और आगे बढने और फैलने लगे। इस भाँति इन साहसी मनुष्यों ने नई दुनिया को खोजकर उसे बसाया और अपनी मौलिक सभ्यताओं और सस्कृतियों का वहाँ विकास किया। ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे "नार्समेन" कहलानेवाले योरपीय आक्रमणकारियों ने अमेरिका के उस इलाके मे, जो न्यूइंग्लैंड के नाम से प्रसिद्ध है, उतरकर जिन असभ्य आदिम जातियों के मनुष्यो को देखा था, उनके विषय मे लिखे हुए विवरण से पता चलता है कि वे अल्गोनकुइआन जाति के इडियन थे, जिनके रस्मरिवाज आगे की कुछ शताब्दियों तक भी न बदल सके।

"नार्समेन" लोगो के कथनानुसार इंडियन जातियों के व्यक्ति भारी डीलडोल के, खूँख्वार और असहनशील थे। उनके केश भद्दे, आँखें बडी और गाल चौडे थे। वे पशु-चर्मो के वस्त्र धारण किये रहते थे तथा धनुष-बाणों और पत्थर की कुल्हाड़ियों का व्यवहार करते थे। वृक्षों के वल्कल से बनी छोटी-छोटी नौकाओ मे बैठकर वे नदियो मे स्वच्छन्दता से विचरण करते थे और विदेशियों के हाथ पशुओं की रोएँदार खाले बेचकर बदले में उनसे लाल फलालैन की पतली पट्टियाँ प्राप्त करने को उत्सुक रहते थे, जिन्हे वे अपने सिर के चारों ओर लपेट लेते थे। विदेशी आगन्तुकों के लोहे के औजार देखकर उन्हे बड़ा आश्चर्य होता था और जब एक बार उन्होंने श्वेतागो द्वारा लाये गए एक साँड का रँभाना सुना, तो वे घबड़ाकर दूर भाग गए। 'नार्समेन' लोगों ने उनके "स्वय उपजनेवाले खेतों" का भी उल्लेख किया है, जो उस प्रदेश मे पाए जाते थे, किन्तु यह निश्चित करना असभव है कि वे खेत बोई हुई ज्वार के थे या जगली धान के। यह सत्य है कि आगामी शताब्दी तक विदेशियो से इडियन लोगो का व्यापार-सम्बन्ध स्थापित रहा, किन्तु जिस प्रकार स्पेनवासियों ने दक्षिणी अमेरिका में राज्य-स्थापना का आरम्भ कर दिया, उसी प्रकार आगे चलकर उत्तरी अमेरिका मे भी फ्रेंच, अग्रेज और डच लोगो ने अपने पैर फैलाने आरम्भ कर दिये। अमेरिका के अनेक भूभागों मे मूल्यवान खनिज पदार्थों की अधिकता, उपजाऊ भूमि, शिकार की सुविधाएँ और सस्ते मजदूरों की प्राप्ति, इन सारी सुविधाओं को हस्तगत करने का लोभ संवरण करना योरपीय जातियों के लिए असम्भव था। अतः थोड़े ही प्रयास से उन्होंने इडियन लोगों को मार भगाया तथा उनकी

भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। शताब्दियों तक इसी क्रम की पुनरावृत्ति होती चली गई और सभी इंडियन जातिआँ या तो विदेशियों का दासत्व करने को बाध्य हुईं, या फिर वे लड़कर कर मिटी अथवा जंगलों और पहाड़ों मे भाग गई। इसके अतिरिक्त अधिकारप्राप्ति के लिए विदेशियो के अपने पारस्परिक संघर्ष मे भी इन बेचारो की ही आहुतियाँ अधिक दी गई। व्यापारिक लाभ और राज्य-स्थापना की प्रवृत्तियो के कारण विदेशियो की जो पारस्परिक लड़ाइयाँ अनेक वर्षो तक बराबर चलती रही, उनमे उन आदिम जातियो को ही अपना रक्त बहाने को बाध्य होना पडता था। इंडियनो का यह रोमांचक इतिहास वास्तव मे बड़ा दयनीय है। बाहरी मैत्री का दिखावा, दगा-फरेब, और चालबाजी तथा अवसर आने पर बलप्रयोग द्वारा भी इडियन जातियो का शोषण ही आगन्तुक विदेशियों की सम्मिलित नीति रही। इतना ही नही, उन्होने अपने ईसाई धर्मप्रचारकों की टोलियाँ भेजकर उन अभागों की परम्परागत मूर्तिपूजा और जातीय धर्म-भावना को भी मिटाने मे कोई कसर बाकी नही रखी। फिर भी जीवन की उन विषम परिस्थितियों का वीरता से सामना करते हुए कुछ इण्डियन जातियों ने अपनी मौलिकता को न खोते हुए विदेशियों से लड़ाई जारी रखी। इस प्रकार जिन्होने अपने देश के इन आक्रमणकारियो से लोहा लिया उन साहसी जातियों मे अल्गोन कुइऑन, इराकुओइऑन, और सिओयुक्स नामक जातियाँ मुख्य थी। इराकुओइआन जाति के लोग सब से भयंकर होते थे और अपनी बस्तियो के चारों ओर लकड़ी के मोटे लट्ठों का ऊँचा प्राचीर बनाकर रहते थे। 'ईरी' तथा 'आन्तेरिओ' झीलो के पूर्वी और दक्षिणी इलाक़ों में उनकी आबादी अधिक थी और हडसन तथा ओहिओ नदी के बीच का सारा प्रदेश एक जमाने मे उनके ही अधिकार में था।

अमेरिका के आदिम वासी वृक्षों की खालों और बल्लियों से इस प्रकार की नौकाएँ बनाने में बड़े निपुण थे।

अमेरिकन इतिहास के प्रारम्भ-काल में अपने पड़ोसी अल्गोन क्विऑन जाति के लोगों से निरन्तर लड़ते रहने के कारण इराकुओइऑन जाति के केवल कुछ इने-गिने परिवार ही बचे रह गए थे, जिनकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। किन्तु इसी अवसर पर डच लोगों ने उन्हें बन्दूकों और तोपों के चलाने मे दक्ष कर दिया और उन्हे अपने शस्त्रास्त्र भी पर्याप्त मात्रा में दे दिए। डेकॉनाविडॉ और हायावॉथॉ जैसे जातीय नेताओं को पाकर यह जाति और भी प्रबल हो उठी। फलतः मोहॉक, ओनोनडागा, सेनेका, ओनेइडा, और कायुगा नामक देशी जातियों के साथ

मिलकर इरा क्रुग्रोइग्रॉन लोगों ने एक सम्मिलित राष्ट्र-मंडल की स्थापना की, जिसे फ्रेंच लोग "लाग हाउस" और अग्रेज "पच-राष्ट्र" कहते थे। पूर्वीय वनस्थली की आदिम सभ्यता के अनुरूप इस मडल के रीतिरिवाज और धारणाएँ बड़ी विचित्र थीं। पाप और पुण्य की व्याख्या ये लोग जानते ही न थे। उपवास अथवा नशीले पदार्थों के प्रयोग से स्वप्नों और काल्पनिक दर्शनों के माध्यम द्वारा वे लोग मृतात्माओं से नियमित रूप से वार्त्तालाप किया करते थे। इस प्रकार उन्हे आत्मा और उसके आवागमन मे पूर्ण विश्वास था। मृतकों के शवों के साथ रखे जाने-वाले विविध वस्त्रालकारों और खाद्य-पदार्थों के नियमों द्वारा इस धारणा की पुष्टि होती है। इतना सब करने पर भी इडियन लोग मृतात्माओं से डरते थे और उनको पुनः वापस आने से रोकने के लिए विशेष उपचारों का आश्रय लेते थे। किसी सगठित शासन-पद्धति या केन्द्रीय सत्ता और राजा का अधिकार मानने की कल्पना भी उनके मन मे नही आती थी।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध था, इडियन लोग तात्कालिक परिणामों पर अधिक विश्वास रखते थे। जब किसी इडियन को यह अनुमान होता कि उसे किसी दुष्ट आत्मा ने घेर लिया है तो वह तत्काल उस आत्मा के निमित्त बलि-प्रदान करके या भेंट-पूजा द्वारा उसे संतुष्ट करके छुटकारा पाने का उपाय सोच लेता। अतएव यह निश्चित है कि उसका ध्यान अनुकूल व प्रतिकूल शक्तियों की ओर समान रूप से लगा रहता था। ईसाई धर्मप्रचारकों ने इडियन जातियों की इन भावनाओं को "शैतान की उपासना" कहकर उनको असभ्य बतलाया है। पर सत्य तो यह है कि इडियन लोगों के इस अन्धविश्वास की आड में एक निराकार अलौकिक प्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व की धारणा छिपी हुई थी, जो उनके विश्वासानुकूल समस्त चराचर मे व्याप्त होकर उन सभी गोचर पदार्थों को सजीव कर देती है, जिनके द्वारा मनुष्य के भाग्य का नियंत्रण होता है। अल्गोनकुइग्रान जाति के लोग उस शक्ति को 'मैनितो', शोशोनी लोग 'पोकुन्त' और इरोकुओई लोग 'ओरेन्दा' कहते थे। वह शक्ति 'जीवन का मूलतत्त्व' के नाम से पुकारी जा सकती है। आरम्भिक योरपीय यात्रियों ने इस धारणा के मूल आशय को न समझकर साधारणतया उसे 'महान् आत्मा' के नाम से ही उल्लिखित किया है।

इंडियन लोगों में मृतकों के सम्बन्ध में बड़े समारोह-पूर्ण सस्कारों का प्रचलन था। हुरोन जाति में मृत व्यक्ति का शव वृक्षों की छाल से बने शवाधार में झुके हुए आसन से बिठा दिया जाता था। गाँव के निकट एक ऊँचा मचान बनाकर उस पर वह शवाधार भाँति-भाँति के भोजन, वस्त्र, अलकार आदि उपहारों के साथ रख दिया जाता और तब मृतक के सगे-सम्बन्धी लौट आते थे। फिर प्रत्येक १२ वर्ष की अवधि के उपरान्त मृतकों के विराट भोज के अवसर पर जाति के जो लोग उस अवधि में मरते थे उन समस्त मृत व्यक्तियों के शरीर शवाधारों से निकाल-निकाल कर उनके स्वजनों द्वारा लाये जाते थे। उनकी अस्थियों को बडे स्नेह और सत्कार के साथ साफ किया जाता था और तब फिर उनको सबसे अच्छे बारीक वस्त्रों मे लपेटकर भली प्रकार ढँककर, लोग अपने-अपने गाँवों में उन्हे ले जाते थे, जहाँ नये-नये बहुमूल्य उपहारों के साथ उनका थोडी देर तक प्रदर्शन किया जाता था। वहाँ से फिर मृतकों के सगे सम्बन्धी उन अस्थियों को उठाकर एक बहुत बड़े मुर्दे दफनाने के सार्वजनिक गढ़े तक ले जाते थे। एक निश्चित तिथि आने पर जाति के समस्त मृत व्यक्तियों की अस्थियाँ बडी धूम-धाम और समारोह के साथ उस गढ़े मे डाल दी जाती थीं। ब्रेब्यूफ नामक एक योरपीय धर्म-प्रचारक, जो घटनावश एक ऐसे ही मृतक-सस्कार के अवसर पर उपस्थित था, अपने सस्मरणों में लिखता है :—

"मैदान के बीच में एक बड़ा-सा गढा था—लगभग दस फीट गहरा और पन्द्रह फीट चौडा। उसके चारो ओर मच की भाँति एक ऊँचा मचान बँधा हुआ था। गढ़े के ठीक ऊपर कई लट्ठे आडे बँधे हुए थे, जिनमें मृतकों की अस्थियों की बहुत-सी गठरियाँ लटकी हुई थी। जो व्यक्ति हाल मे ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे, उनके समूचे शव गढ़े के भीतर पेडों की छाल के बिछौनो और चटाइयों पर लिटा दिये गये थे। भेंट-उपहार की सारी वस्तुएँ एकत्र की गई थी, जिनमे बहुमूल्य पोशाके और गहने भी सम्मिलित थे। तब सस्कार-समारोह आरम्भ हुआ। ठीक सात बजे मृतकों की सारी अस्थियाँ गढ़े मे डाल दी गई। मैं बड़ी कठिनाई से गढ़े के निकट पहुँच सका, क्योंकि इंडियन लोगों की अपार भीड धक्कामुक्का करके आगे बढने की चेष्टा कर रही थी। चारो ओर कोलाहल मच रहा था। आधे सडे, सूखे और बदबूदार नरककालों को उस गढ़े मे डालने का दृश्य बड़ा ही वीभत्स और रोमांचकारी था। मृतकों के सगे-संबधी और

दर्शकों ने इतना शोर मचा रखा था कि कुछ सुनाई ही न देता था। दस-बारह व्यक्ति गढ़े के भीतर उतरकर कंकालों को चारों ओर सम्हाल-सम्हालकर रखते जाते थे। गढ़े के ठीक बीचोबीच तीन केतलियाँ उन्होंने रख दी थीं, जो संभवतः मृतात्माओं के व्यवहार निमित्त थी। एक में बड़ा-सा छेद था, दूसरी का दस्ता नदारद था और तीसरी बहुत हल्की तथा कम दामों की जान पड़ती थी। बाद मे रात्रि के समय बची-खुची गठरियाँ, जिनमे मृतको की अस्थियाँ बँधी हुई थी, ज्यों की त्यों गढ़े में फेक दी गई। जगह-जगह आग जलाई गई। शोक-गीतो का गायन आरम्भ हो गया और असंख्य आवाजे उस सन्नाटे मे ऊँची उठने लगी। अनाज से भरी कई टोकरियाँ गढ़े में पड़ी हुई अस्थियों और कंकालों पर उँडेल दी गईं, जिसके पश्चात् बहुत-से रोएँदार पशुचर्म ऊपर से डाल दिये गये। जब दफनाने का कार्य समाप्त हो गया, तब समारोह से सम्बन्ध न रखनेवाले दर्शकों और अभ्यागतों को प्रचुरता से भेंट-उपहार बाँटे गए और एक विराट भोज के उपरान्त मृतक-सस्कार का यह अनोखा कृत्य समाप्त हुआ।"

सच पूछा जाय तो इंडियन का धर्म उसकी स्वाभाविक प्रकृति-अध्ययनशीलता के आधार पर ही निर्मित था। प्रति दिन वह पूर्व मे सूर्य का उदय और पश्चिम में अस्त होते देखा करता था, जिसके उज्ज्वल प्रकाश मे आकाश के नैश-प्रहरी तारागणों का अस्तित्व लुप्त हो जाता था। वह नियमित रूप से चन्द्रमा का बढ़ना-घटना भी देखता था। ऋतुओं का क्रमिक आवागमन तथा दिन-रात के छोटे बड़े होने की अवधि भी वह अनुभव से जानने लगा था। ऋतुओं से ही पशुओं, पक्षियों और जलचरों का स्थानान्तरित होना तथा वृक्षों और पौधों का फलना-फूलना सम्बन्धित है, यह भी उससे छिपा न था। ग्रीष्म की तपन, शरद की शीत, धूप और वर्षा, बिजली, हवा और बर्फ़ का पड़ना भी ऋतुओं पर अवलंबित है, यह बात भी उसे ज्ञात हो चुकी थी। कभी तो प्रकृति अपनी उदारता दिखलाती और कभी उसके कोप से मनुष्य को जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के पूर्ण अभाव का सामना करना पड़ता। समय-समय पर

रेड इंडियनों की चिपेवा जाति के योद्धा युद्ध के लिए सुसज्जित होकर रण-यात्रा पर जा रहे हैं!

इन लोगों में पहले ज़रा-सी बात पर रण-दुंदुभि बज जाया करती थी और टोली बनाकर ये लोग धावा बोल देते थे। लड़ाई पर जाते समय योद्धा लोग अपनी-अपनी विचित्र ढंग की पोशाक पहनकर तरह-तरह से अपने चेहरे और बदन रँगते थे और कूच करने के पहले काफ़ी नृत्य-भोज आदि होते थे!

अपने अदृश्य आक्रमण द्वारा रोग और बीमारियाँ उसे घेर लेतीं और वह चलने-फिरने से भी मजबूर हो जाता। सीधा-सादा इंडियन इन सारी बातों को किसी अलौकिक शक्ति की प्रेरणा का फल समझकर अपनी विवशता अनुभव करता। कार्य्य और कारण, सत्य और सिद्धान्त, विनाश और सृजन के रहस्यों को, अनुभव करते हुए भी, वह समझ न पाता था। इडियन-मस्तिष्क की ऐसी समस्त भावनाओं और विचारों का परिचय आडम्बरयुक्त भाषा मे कही गई उसके देश की प्रचलित किम्वदन्तियों में पर्याप्त रूप से मिलता है, जो उसके जातीय वीरों की शौर्य्य-सराहना के हेतु रची गई थी।

प्रत्यक्षतया सभी अमेरिकन इडियन सूर्य की चाल देखने और अध्ययन करने मे निपुण थे और उसी के द्वारा वे अपना वर्ष-विभाजन किया करते थे। दिन और रात का होना, उनका घटना बढना और चन्द्रमा की कलाओं का परिवर्त्तन काल-परिमाण जानने के उनके मुख्य साधन थे। प्राकृतिक परिवर्त्तन और मौसमी वायु के परिणामो को देखकर उन लोगों ने वर्ष को कई ऋतुओं मे बाँट लिया था। ऋतुओं के महत्त्व को वे समझते थे और इस ज्ञान का उनकी रहन-सहन और जीवनचर्या पर गहरा प्रभाव पडता था। पूर्व के भूभागों मे रहनेवाली जातियाँ वर्ष मे पाँच ऋतुओं का आवागमन मानती थीं—(१) वसन्त, (२) ज्वार-पकने का समय, (३) ग्रीष्म या "ऊँचा-सूर्य होने का समय", (४) पतझड़-काल और (५) जाडा या बर्फ और शीत का मौसम। इरोकुओई जातिवाले ऋतुओं के परिवर्त्तन को "जीवन के देवता" और "पथरीली बिल्ली" (जो बर्फ और शीत की देवी तथा कर्त्री कही जाती थी) का अनवरत द्वन्द्व युद्ध मानते थे। विभिन्न प्रदेशों मे भिन्न-भिन्न रहन-सहनवाली इडियन जातियों मे यदि ऋतुओं का विभाजन-क्रम भी भिन्न माना जाता था तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं। खेती-किसानी करनेवाली जातियों के विचार शिकारी तथा अन्य जातियों के विचारों से सर्वथा निराले होते थे। कृषि-जीवी लोगो को स्थानीय वातावरण से पता चल जाता था कि प्रकृति की किन-किन अवस्थाओं का महत्त्व उनके लिए सबसे अधिक है। शुष्क अरिजोना प्रदेश के निवासी प्यूएब्लो इडियन तथा नव-मेक्सिको के रहनेवालों को इरोकुओई जातिवालों की अपेक्षा बरसात का महत्त्व अधिक प्रतीत होता था। बीज का उगना, वार्षिक पौधों का फलना-फूलना और सूख जाना, वृक्षों में बौर आना, पत्तियाँ व कोंपलें निकलना, फलों का आना, पतझड़ होना, पशुओं, पक्षियों और मछलियों का स्थानान्तरित होना व जोड़े खाना आदि घटनाओं का समय देखकर ऋतुओं का विभाजन किया जाता था। सासारिक जीवन-सम्बन्धी विचारों का इन लोगों के धर्म में पूर्ण समावेश था। विभिन्न ऋतुएँ कतिपय विशेष देवी-देवताओं से सम्बन्धित थीं और देवी-देवताओं को प्रायः चार या छः दिशाओं का स्वामी माना जाता था। इडियन लोग अपनी इन धारणाओं को ही सर्वोपरि समझकर परम्परागत रूढियों के कट्टर अनुयायी बने हुए थे।

अमेरिकावासी इडियन लोगों में ऐसी अनेक गुप्त-समितियाँ और टोलियाँ थीं, जिनके सदस्य समाज में केवल विचित्र प्रकार की नक़ाबें और चेहरे तथा अजीब तरह की पोशाकें पहनकर ही निकला करते थे। उन पोशाकों और चेहरों के द्वारा वे लोग विभिन्न देवी देवताओं के स्थानापन्न प्रतिनिधि बनकर जनता में अपनी उपासना द्वारा अर्जित शक्ति और दैवी चमत्कारों के प्रदर्शन की सामर्थ्य का आतक जमाये रहते थे। जनता उनके कथन में अन्धविश्वास रखती थी। विदेशी यात्रियों ने इरोकुओई जाति में प्रचलित एक 'नक़ाबपोशों की समिति' का उल्लेख किया है, जो आज भी गुप्त रूप से उन लोगों में वर्तमान है। रेड इ डियन की मानसिक कल्पना के अनुसार आसपास के वन्य प्रदेशों और जनशून्य स्थानों व झीलों के निकट विचित्र प्रकार की प्रेतात्माओ का आवास होता था। शिकारी लोग आखेट की दुर्घटनाओं का कारण भयानक अमानुषिक प्रेतात्माओं से मुटभेड़ होना मानते थे, जिनको प्रायः वे स्वप्नावस्था मे भी देखा करते थे। इन नक़ाबपोशों मे अनेक प्रकार की बीमारियों को दूर करने की शक्ति भी होती थी, ऐसा लोगों का विश्वास था। स्वप्न में ऐसे 'चेहरे' का दर्शन करनेवाला व्यक्ति यह आदेश भी प्राप्त कर लेता था कि यदि वह तदनुरूप 'चेहरा' बनवाकर धारण करे और कुछ विचित्र मन्त्र-गीतों का गाना सीख ले तो उसमें भी दूसरो की चिकित्सा करने और रोगियो को अच्छा करने की शक्ति आ सकती है। यदि उन 'चेहरों' को सम्मानपूर्वक समय-समय पर तम्बाकू और राख की भेंट नहीं दी जाती थी तो वे लोगों को रोगग्रसित कर देते थे, जिनसे मुक्ति दिलाने की सामर्थ्य केवल उनमें ही होती थी। ये चेहरे और आकृतियाँ अनेक प्रकार की होती थीं। प्रायः एक टेढ़ी और टूटी नाकवाला 'चेहरा' इनमे अधिक देखने में आता था, जिसका कथन था कि उसके मुँह पर पहाड़ गिर पड़ा था। दूसरे 'चेहरे' अपनी भोंडी और भद्दी

आकृतियों का कारण यह बतलाते थे कि रोगात्माएँ होने के कारण वे "जीवन के देवता" से निरंतर संग्राम करते रहे, जिससे उनकी यह दुर्गत हो गई।

प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वप्न में देखे गए 'चेहरे' आकृतियों में ही भिन्न नही होते थे वरन् उनके स्वभावों और कार्यों में भी भिन्नता होती थी। कुछ काले, कुछ लाल, कुछ श्वेत होते थे तथा कुछ कमसिन और कुछ बूढ़े भी होते थे। अधिकाँश मे वे बदसूरत और डरावने ही देखे जाते थे। वसन्त तथा पतझड़ की ऋतुओं मे, जब कि साधारणतया बीमारियाँ अधिक फैलती हैं, 'चेहरों की समिति' नाना प्रकार के रंग-बिरगे अद्भुत आकृतियो वाले चेहरे पहनकर, अपने सदस्यों का गरोह साथ लिये जाति के समस्त व्यक्तियों के घरों मे घुसती फिरती थी। वे कछुओं की पीठ के बने बड़े-बडे झुनझुने (जो खड़खडाहट का शब्द करते थे) हाथों में हिलाते हुए, विचित्र प्रकार का शोर मचाते हुए, सानुनासिक स्वरों में वार्तालाप करते बस्तियों में घूमा करते थे। इडियन लोगों का विश्वास था कि ऐसा करने पर आक्रमणकारी रोगात्माएँ डरकर भाग जाती थी। पुराने जमाने में इन विचित्र 'चेहरों' के लम्बे-लम्बे जुलूस पाँव-पैदल जातीय बस्तियों में स्वच्छन्द विचरण करते रहते थे। आजकल इरोकुओई लोगों की बस्तियाँ एक-दूसरे से काफी दूरी पर मिलती हैं, क्योंकि उनकी संख्या कम हो गई है। अतएव 'चेहरों की समिति' के सदस्य अपनी पुरानी पोशाके पहन कर अब खुली मोटरों में यात्रा करते हुए द्वार-द्वार घूमते हैं! इरोकुओई और अल्गोनकुइअोन, दोनों जातियों के व्यक्तियों का विश्वास है कि एक "लम्बी नाक" नामक चेहराधारी नरभक्षी है, जो बच्चों को उठा ले जाता है। बालक-बालिकाओं को शिक्षा देते समय वे लोग शारीरिक ताड़ना से काम नही लेते, वरन् उनको यह कहकर डराते हैं कि "लम्बी नाक" आकर उनको पकड़ेगा और अपनी बड़ी भारी संदूक में बन्द करके उठा ले जाएगा। साधारणतया इतनी धमकी बालकों को शिष्टतापूर्ण आचरण सिखाने के लिए पर्याप्त होती है और वे "लम्बी नाक" से बेहद डरते हैं!

इरोकुओई जाति की एक स्त्री और उसका शिशु बच्चे के विचित्र पालने की कलापूर्ण चित्रकारी पर ध्यान दीजिए।

इंडियनो की धारणा थी कि प्रत्येक प्रकार के अनाज तथा खाद्य पदार्थ की उत्पत्ति का कोई न कोई दैवी कारण अवश्य होता है, अतएव उनमे यह रिवाज बन गया कि प्रत्येक नवीन खाद्य का स्वयं व्यवहार करने से पहले उस खाद्य के नियामक देवता को उसका भोग अवश्य लगाया जाय। अतः मार्च महीने के प्रारम्भ मे इडियन लोगों की बस्तियों में प्रतिवर्ष एक भारी मेला लगा करता था, जबकि नए फूले हुए 'मेपल' नामक छायादार वृक्षों से दूध या मीठा रस निकाला जाता था और आबाल-वृद्ध-वनिता सब सामूहिक रूप से आनन्दोत्सव मनाते थे। कड़ाके की सर्दी लानेवाली शरद ऋतु के बीतने और वसन्त तथा ग्रीष्म के आगमन के बीच की अवधि की सुन्दर ऋतु प्रसन्नता और आनन्द का उद्रेक करनेवाली समझी जाती थी और उससे ही श्रम-काल या ऋतु-आरम्भ गिना जाता था।

मेनोमिनी लोगों में 'मेपल' की शकर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सुन्दर दन्तकथा प्रचलित है। उन लोगों में यह किंवदती प्रचलित है कि जिस समय सर्वप्रथम मानव सृष्टि का का आरम्भ हुआ तब मनुष्य को वृक्ष से दूध निकालने की क्रिया का ज्ञान न था। एक दिन बूढी नानी नोकोमिस ने मानाबुशा को, जो एक महान् जातीय वीर और मनुष्य का मित्र था, वृक्षों में छेद करके दूध निकालना सिखा दिया। किन्तु जो दूध निकला वह शुद्ध गाढ़े शर्बत के रूप में था। बुद्धिमान् मानाबुशा ने सोचा—"यह बात तो अच्छी नहीं। यदि इतनी सरलता से शकर बनने लगेगी तो लोगों

को काफी काम न रहा करेगा। इस कार्य्य को और भी कठिन बना देना चाहिए, जिसमें लोग परिश्रम करते रहें और उनमे काहिली या अकर्मण्यता न आने पाए।'' अतएव इसी विचार से मानाबुशा सबसे ऊँचे वृक्ष की चोटी पर चढ गया और अपने हाथ से उसने सब वृक्षों पर इस प्रकार जल छिड़का मानों पानी बरस रहा हो। परिणाम यह हुआ कि उन वृक्षों से निकलनेवाला दूध पानी जैसा पतला हो गया जैसा कि आज भी निकलता है। उसी दिन से इडियन लोगों को शकर बनाने मे पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है, लकड़ी काटना पड़ती है, छाल के बर्तन बनाने पड़ते हैं और दूध इकट्ठा करके कई रात उसे उबालना पड़ता है, तब कही वह व्यवहार करने योग्य होता है। हॉ, आजकल नये-नये साधनों का आविष्कार हो जाने के कारण उनके द्वारा लोग बड़ी सरलता से 'मेपल' वृक्षों के दूध से शकर तैयार कर लेने लगे हैं।

इडियनों से फ्रेंच उपनिवेशकों ने 'मेपल' वृक्षों का दूध जमा करके सुखाने की विधि सीखी और बदले मे उनको लोहे की केतली का व्यवहार सिखलाया, जिससे शकर बनाने के तरीक़ों में उन्नति हो सकी। श्वेतागों के आगमन से पूर्व सम्भवतः इडियन लोग उस दूध को पूर्णतया सुखाते न थे वरन् मधुर गाढ़े रूप मे ही उसका व्यवहार करते थे तथा उसे एक स्वास्थ्यप्रद स्फूर्तिदायक पेय समझते थे। उनकी बस्तियों की सीमाओं के अन्तर्गत लगे हुए 'मेपल' वृक्षों के झुंड विशेष परिवारों की सम्पति माने जाते थे और पीढी-दर-पीढी उसी परिवार के वशज उनसे लाभ उठाते थे।

अपनी स्वाभाविक प्रतिभा और सूझ से ही इडियनों ने कठोर शीत पर भी विजय पाने की युक्ति जान ली थी। 'स्नो-शू' या बर्फ़ पर चलने के जूते, जिन्हें पहनकर वे कोसों तक जमी हुई बर्फ के ऊपर सरलता से पॉव-पैदल यात्रा कर सकते हैं, उनके अपने ही आविष्कार थे। कई प्रकार के जूते व्यवहार में लाए जाते थे, किन्तु सबके सब एक ही सिद्धान्त पर बनते थे। एक स्थानीय वृक्ष विशेष की लचीली लकड़ी को भाप द्वारा झुकाकर समुचित आकार में लाना पड़ता था और कच्चे पशुचर्म की पतली पट्टियाँ, पशुओं की आँतड़ियाँ, ताँत या रेशेदार छाल के कटे हुए मोटे धागों के बुने हुए जाल से मढ़कर वे जूते तैयार किए जाते थे। उपयोग के अनुरूप ही उन जूतों की बनावट और उनका आकार हुआ करता था, जैसे जगलों या खुली बर्फ पर अथवा सख्त या मुलायम बर्फ पर चलने के अलग-अलग जूते बना करते थे। जब कोई व्यक्ति अचानक घर से बाहर बर्फ के तूफान में फँस जाता था तो वह बात की बात में अपने पहनने के लिए आसपास के वृक्षों की हरी टहनियों और पतली छाल के द्वारा उसी जगह एक जोड़ा उपयोगी जूते तैयार कर लेता था।

सघन वनों में रहनेवाली इडियन जातियों के सबसे उपयोगी आविष्कारों में वृक्ष की छाल या वल्कल से बनाई हुई नौकाओं का विशिष्ट स्थान माना जाता है, जो ग्रीष्मऋतु मे उनकी यात्रा का मुख्य साधन होती थीं। पूर्व की वनस्थली वास्तव में झीलों और नदियों का प्रदेश थी, जहाँ यातायात के मुख्य मार्ग जलाशयों से होकर निकलते थे। सेंट लारेन्स नदी के दक्षिण में बसी हुई कुछ इडियन जातियाँ लकडी के मोटे लट्ठों को आग और पत्थर के बसूलों से कोरकर खोखला कर लेतीं और उन्हीं की डोंगियाँ बनाकर काम मे लाती थीं। वन्य-प्रदेशों मे एक अन्य नौका का अधिक व्यवहार होता था, जिसमें हल्की देवदार की लकड़ी के ढॉचे पर वृक्षों की छाल मढ़ दी जाती थी। कभी-कभी छाल के बजाय उस प्रदेश में अधिकता से पाए जानेवाले "मूस" नामक बारहसिंगे की खाल भी नौकाओं पर मढ़ी जाती थी। किन्तु साधारणतया वृक्ष की छाल ही हल्की और चिमड़ी होने के कारण काम मे लाई जाती थी, क्योंकि छाल प्रत्येक मौसम मे वृक्षों से छीली जा सकती थी और सरलता से उपलब्ध होती थी। आज भी जिस प्रकार की नौकाओं का व्यवहार इंडियन लोगों में प्रचलित है, वे नाजुक होते हुए भी इतनी हल्की होती हैं कि आवश्यकता के समय एक व्यक्ति एक नौका को सरलता से अपनी पीठ पर लादकर दूर की बस्ती तक ले जाता है। इसी कारण सम्भवतः ऐसी नौकाओं का प्रचलन अधिक होता रहा और महाद्वीप के सुदूर भूभागों की यात्राएँ भी इन नौकाओं द्वारा सुगम हो गईं।

प्रारम्भिक अनुसधानकर्त्ताओं ने उपरोक्त प्रकार की नौकाओं द्वारा ही उत्तर-पूर्व के सघन बनों मे पहुँचकर वहाँ का कोना-कोना छान डालने मे सफलता पाई। यद्यपि नौकाओं के बनाने का प्रचलित ढँग एक जैसा ही था, परन्तु उनके अन्य उपादान सब देशी जातियों में भिन्न-भिन्न हुआ करते थे, जिनके कारण किसी नौका को देखकर केवल आकार द्वारा ही उसके निर्माण-स्थल का बहुत-कुछ पता बताया जा सकता था।

विश्व
की कहानी
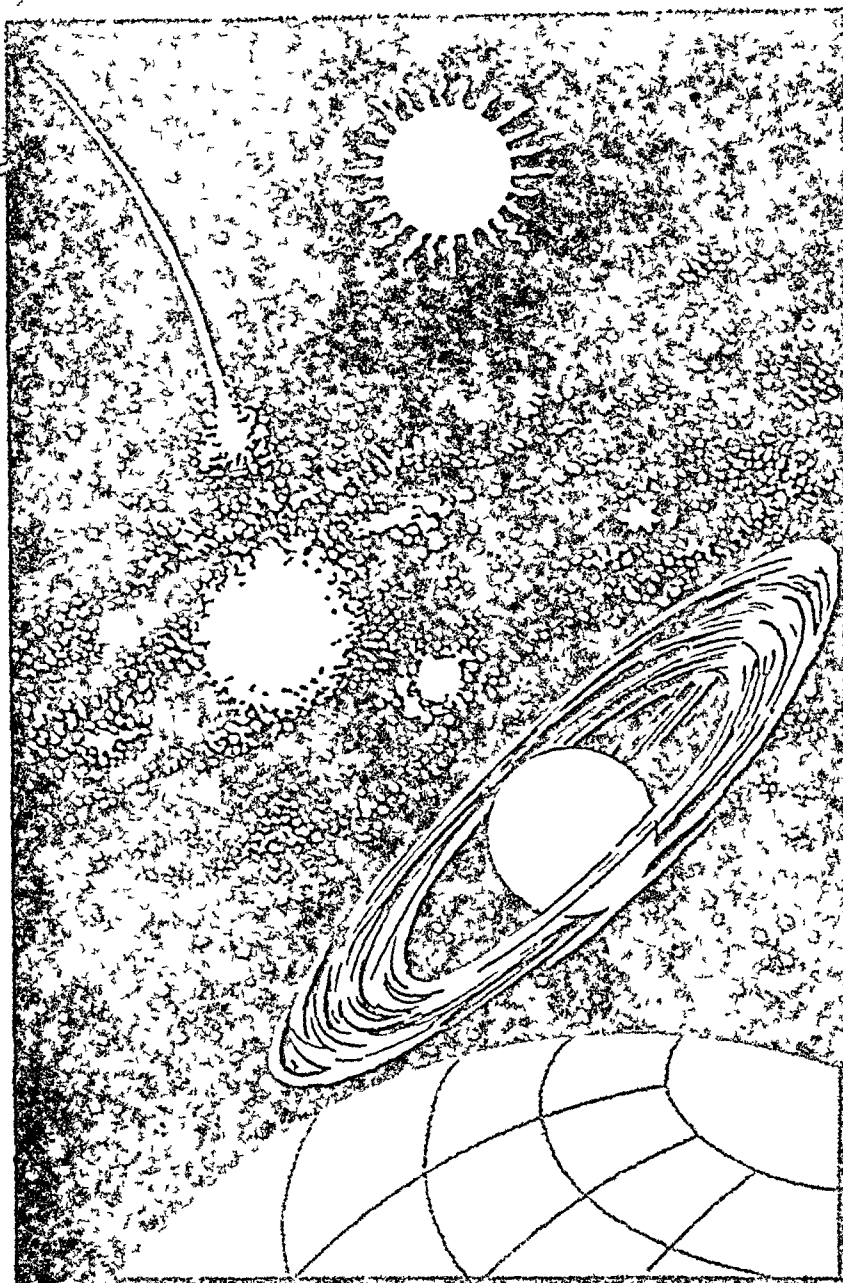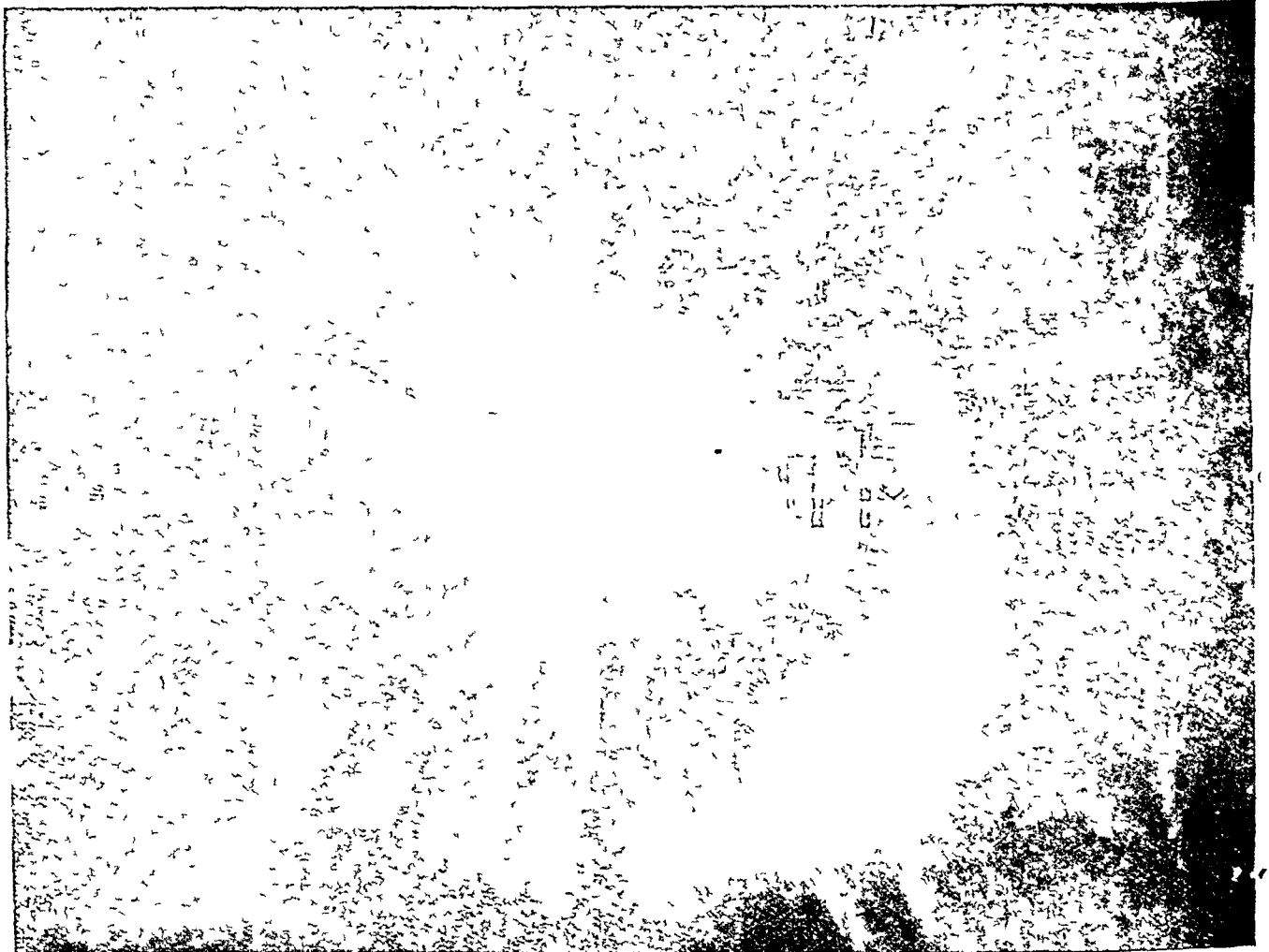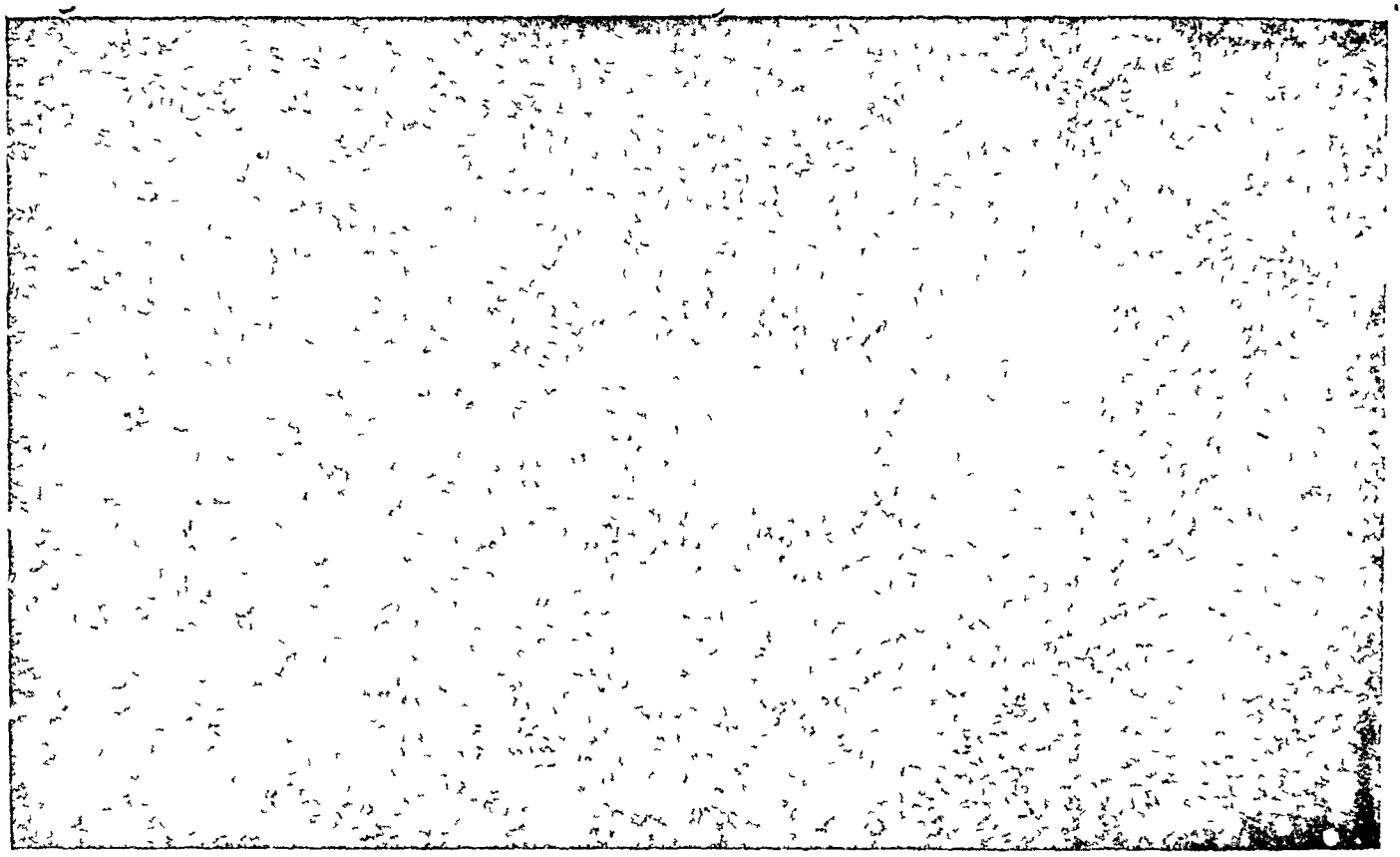
युग्म, परिवर्त्तनशील और नूतन तारे

तारों में अनेक ऐसे हैं जो मानों जोड़ी बाँधकर आकाश में विचर रहे हैं, कई ऐसे हैं जिनकी चमक नियमित अथवा अनियमित रूप से घटती-बढ़ती दिखाई देती है, और कुछ ऐसे भी है जो अदृष्ट की ओट मे से मानों एकाएक प्रकट होकर एकबारगी ही दमक उठते और पुनः मंद पड़ जाते हैं। प्रस्तुतः लेख में इन्हीं युग्म, परिवर्त्तनशील और नूतन तारों का संक्षिप्त किन्तु मनोरंजक विवरण दिया जा रहा है।

युग्म तारे

दूरदर्शक के आविष्कार के बाद से ही लोगों ने देखा कि कुछ तारे दोहरे दिखलाई पड़ते हैं; उनमें वस्तुतः दो तारे हैं, जो इतने समीप हैं कि कोरी आँख से वे एक तारे-से जान पड़ते हैं। इन दोहरे या युग्म तारों पर पहले तो किसी ने विशेष ध्यान नही दिया, परंतु अठारहवी शताब्दी में सर विलियम हरशेल ने सोचा कि इन युग्म तारों में से एक बहुत दूर होगा, एक अपेक्षाकृत निकट, और इसलिए यदि इनकी जाँच छः-छः महीने पर की जाय तो इन तारों के बीच की दूरी घटती-बढ़ती दिखलाई पड़ेगी। कारण यह है कि छः महीने मे पृथ्वी अपने स्थान से लगभग साढ़े अठारह करोड़ मील हट जाती है और इसलिए निकटतर तारे की दिशा में अवश्य कुछ परिवर्त्तन हो जाना चाहिए।

विधिपूर्वक जाँच करने से पता चला कि आकाश के बहुत-से तारे युग्म तारे हैं; कुछ मे तो तीन या तीन से भी अधिक तारे हैं। संभावना-सिद्धान्त के आधार पर गणना करने से पता चला कि यदि तारे अनियमित रूप से आकाश मे बिखरे होते तो इतने युग्म तारे आकाश में नही दिखलाई पड सकते। इसलिए अवश्य ही युग्म तारो में कोई भौतिक संबध होगा, केवल इतना ही नही कि संयोगवश एक तारा दूसरे की सीध मे स्थित है, चाहे दोनों एक दूसरे से बहुत दूरी पर हों। कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर युग्म तारों की जाँच फिर से की गई और तब बहुत से युग्म तारों के दोनो साथियों मे भौतिक संबध रहने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। यह देखा गया कि एक तारा दूसरे की प्रदक्षिणा करता है।

कुछ तारों में दो विभिन्न अवयवों के रहने का और उनके बीच भौतिक संबंध रहने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि तारे का प्रकाश घटा-बढ़ा करता है, और प्रकाश ठीक इस प्रकार घटता-बढ़ता है मानों फीका तारा चटक तारे की प्रदक्षिणा करते-करते उसके सामने आकर उसके प्रकाश को छेक लेता हो।

सुविधा के विचार से विभिन्न प्रकार के युग्मों के लिए विशेष नाम रख दिए गए हैं। वे तारे जो केवल संयोगवश एक ही दिशा मे रहने के कारण एक दूसरे के पास दिखलाई पड़ते हैं, परंतु वस्तुतः एक दूसरे से बहुत दूर हैं, "चाक्षुस युग्म" कहलाते हैं। वे युग्म तारे जिनके अवयवों मे भौतिक संबंध है और जो एक दूसरे के इतने समीप हैं कि दोनों गुरुत्वाकर्षण-नियम-बद्ध होकर एक दूसरे की प्रदक्षिणा करते हैं, "भौतिक युग्म" या "यमज" तारे कहलाते हैं। वे तारे जिनके अवयव एक दूसरे के इतने समीप हैं कि हमारे बड़े दूरदर्शकों मे भी पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, परंतु जिनको हम वर्णपटों की जाँच से जानते हैं कि वे यमज हैं, "वर्णपटीय यमज" कहलाते हैं। अंत मे वे तारे, जिनको हम प्रकाश के विशेष रूप से घटने-बढ़ने के कारण यमज मानते हैं, "ग्रहणकारी यमज" कहलाते हैं।

यमज या चाक्षुस?

यदि कोई तारा दूरदर्शक मे युग्म जान पड़ता है तो प्रश्न उठता है कि वह यमज है या केवल चाक्षुस युग्म! यदि वर्षों तक बारबार वेध करने पर पता चले कि युग्म का एक अवयव दूसरे के चारों ओर चक्कर लगा रहा है, अथवा यदि दोनों अवयवों की निजी गतियाँ एक ही हों, तो

अवश्य ही वह तारा यमज होगा। परंतु यदि दोनों अवयवों की निजी गतियाँ विभिन्न हों तो तारा केवल चाक्षुस युग्म है। यदि अवयवों मे निजी गति कुछ भी न हो तो यह पता चलाना कठिन होता है कि तारा यमज है या चाक्षुस युग्म, परन्तु तब भी सभावना यही रहती है कि तारा यमज है।

आँख से दिखलाई पडनेवाले तारों मे लगभग नवाँ हिस्सा युग्मों का है, अर्थात् नौ मे से एक तारा ऐसा है कि दूरबीन मे वह दोहरा दिखलाई पडता है। इससे स्पष्ट है कि तारो का युग्म होना कोई विचित्र बात नहीं है। बहुत-से तारे युग्म होते हैं। त्रिगुण तारे भी (वे तारे जो दूरदर्शक मे तीन अति समीप तारो के समूह जैसे दिखलाई पड़ते हैं) बहुत-से हैं और कुछ चतुर्गुण तारे भी हैं। कस्तूरी (क मिथुन) मे ६ तारे हैं।

सौ से ऊपर यमजों की कक्षाओं की गणना की जा सकी है। ६ वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक मे चक्कर लगानेवाले यमज मिले हैं। १०० से अधिक वर्षों मे चक्कर लगानेवाले यमज भी हैं, परतु इतनी मथर गति से चलनेवाले तारों का चक्रकाल ठीक ठीक जानना कठिन होता है। ऊपर कई बार यह लिखना पड़ा है कि युग्म तारों में से एक अवयव दूसरे की प्रदक्षिणा करता है, परन्तु कौन अवयव किसकी प्रदक्षिणा करता है? सच बात तो यह है कि दोनों अवयव चक्कर काटते रहते हैं। उनका गुरुत्व-केन्द्र—अर्थात् उनको जोड़नेवाली रेखा पर वह विंदु जहाँ रस्सी बाँधकर लटकाने से वे समतुलित रहेंगे—स्थिर रहता है और दोनों अवयव इस विंदु की प्रदक्षिणा करते हैं। यदि इच्छा हो तो हम किसी एक अवयव को स्थिर मानकर उसकी ही अपेक्षा दूसरे अवयव की गति पर विचार कर सकते हैं। इसलिए यह कहना भी कि प्रत्येक तारा दूसरे की प्रदक्षिणा करता है अनुचित न होगा। यदि अवयवों में से एक अवयव दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा हो तो गुरुत्व-केन्द्र बड़े तारे के पास ही रहेगा और इसलिए ऐसा ही जान पड़ेगा कि छोटा अवयव बडे की प्रदक्षिणा कर रहा है।

यमज तारे महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं कि हम उनके द्रव्यमानों की गणना कर सकते हैं—उनकी तौल जान सकते हैं। इस विषय पर पहले ही विचार किया जा चुका है।

वर्णपटीय यमज

जब किसी तारे का प्रकाश शीशे के त्रिपार्श्व (शीशे की क़लम) में से होकर आता है तो प्रकाश फैलकर रगीन वर्णपट में परिणत हो जाता है, जिसमें इंद्रधनुष के सभी रग वर्त्तमान रहते हैं। अधिकाश वर्णपटों मे काली रेखाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं। तारा स्थिर रहेगा तब तक तो ये रेखाएँ निश्चित स्थानों मे रहेंगी, परतु यदि तारा हमसे दूर जाता रहेगा तो ये रेखाएँ एक ओर को कुछ हट जायँगी। यदि तारा हमारी ओर आता रहेगा तो रेखाएँ दूसरी ओर विचलित हो जायँगी। वस्तुतः रेखाओं के विचलन को नापकर हम बतला सकते हैं कि तारा किस वेग से हमारी ओर आ रहा है अथवा हमसे दूर भाग रहा है।

यदि किसी यमज के अवयव एक दूसरे के बहुत समीप हों तो अवयवों का वेग अधिक होगा, क्योंकि अवयव जितने ही अधिक समीप रहते हैं वे उतने ही अधिक वेग से नाचते हैं। यदि दोनों अवयव प्रकाशमान हों तो दोनों के वर्णपट बनेंगे, परतु जब एक तारा हमारी ओर आता रहेगा तो दूसरा हमसे दूर जाता रहेगा। परिणाम यह होगा कि वर्णपट की काली रेखाएँ जब एक तारे के लिए दाहिनी ओर हटेंगी तो दूसरी के लिए बाईं ओर। इस प्रकार वर्णपट मे प्रत्येक काली रेखा दोहरी हो जायगी और हमें पता चल जायगा कि तारा इकहरा नहीं, यमज है। तब चक्रकाल, द्रव्यमान आदि का भी पता सुगमता से चल जायगा।

आँका गया है कि आकाश में कई हजार भौतिक यमज तारे होंगे। कई सौ तारों की कक्षा आदि का हमे पूर्ण ज्ञान हो गया है। इनके चक्रकाल सवा दो घंटे से लेकर दस-पद्रह साल तक निकले हैं। निस्सदेह, भविष्य मे, जब हमारे यत्रों की शक्ति और बढ जायगी, हम अनेक दूसरे तारों के भी युग्म होने का प्रमाण पाएँगे।

ग्रहणकारी यमज

बहुत पहले से लोगों ने देखा था कि अलगूल (ख तिमि) नामक तारे की चमक घटा-बढा करती थी। सन् १७८२ ई० मे एक ज्योतिषी ने पता चलाया कि अलगूल की चमक नियमित रूप से घटती-बढ़ती है। २ दिन ११ मिनट तक चमक स्थिर रहती है और तब घटने लगती है। पाँच घटे मे प्रकाश घटकर पहले का एक तिहाई ही रह जाता है। इसके बाद प्रकाश पाँच घटे मे बढकर फिर पहले-जैसा हो जाता है। प्रकाश के घटने-बढ़ने के ढग से यह निश्चित है कि इस तारे मे दो अवयव हैं और जब मन्द अवयव दूसरे के सामने आ जाता है तो प्रकाश घट जाता है। इसलिए अलगूल ग्रहणकारी यमज है। आकाश

में लगभग २०० तारे इस प्रकार के हैं। जब दोनों अवयवो की चमकों में अधिक अन्तर नहीं रहता तब एक चक्रकाल में दो बार प्रकाश घटता है—एक बार तब जब गौण तारा प्रधान के सामने आ जाता है और एक बार फिर तब जब गौण तारा प्रधान तारे के पीछे जा छिपता है। इन दोनों अवसरो पर प्रकाश उतना ही नहीं घटता। जब गौण तारा प्रधान के सामने आ जाता है तब प्रकाश अधिक घटता है। चमक के घटने-बढ़ने के लेखा-चित्र (ग्राफ़) से तथा वर्णपट-प्रदर्शक की सहायता लेने से ग्रहणकारी यमजों के अवयव-तारों का सापेक्षिक व्यास, उनकी चमक और दूरी आदि सबका पता चल सकता है। कुछ ग्रहणकारी यमज इसी पृष्ठ के चित्र में दिखलाए गए हैं।

परिवर्त्ती तारे

केवल ग्रहणकारी तारे ही ऐसे नहीं हैं जिनकी चमक घटती-बढ़ती रहती है। बहुत-से अन्य तारे हैं जिनकी चमक घटती-बढ़ती है और इस ढग से कि वे ग्रहणकारी यमज नहीं हो सकते। कुछ फीके तारे तो एकाएक इतने चमक उठते हैं कि सभी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसे तारे बहुधा "नूतन तारे" कहलाते है, क्योंकि चमक उठने के पहले अधिकतर वे इतने मन्द रहते हैं कि उनके अस्तित्व की ओर किसी का ध्यान नहीं गया रहता। १३४ ई० पू० में इसी प्रकार के एक नवीन तारे को यूनानी ज्योतिषी हिपार्कस ने देखा। तब उसने ज्ञात तारों की सूची रखने की आवश्यकता अनुभव की और इस प्रकार प्रथम तारा-सूची बनी।

हारवार्ड वेधशाला में समय-समय पर तारों के फ़ोटोग्राफ़ लिये जाते हैं। एक ही क्षेत्र के दो समय पर लिये गए इन फोटोग्राफ़ों की तुलना से परिवर्त्तनशील चमक के तारो का ज्ञान तुरन्त हो जाता है। अधिकांश परिवर्त्ती तारो का पता इसी प्रकार लगा है। ज्ञात परिवर्त्ती तारों की संख्या ५००० से अधिक है। परन्तु विधिपूर्वक खोज न होने के कारण अवश्य ही इससे कही अधिक परिवर्त्ती तारे होंगे। बर्लिन-बाबेल्सबर्ग वेधशाला ने परिवर्त्ती तारों की वृहद् सूची छापी है और इसकी पूर्त्ति के लिए (लड़ाई के पहले) नवीन परिवर्त्ती तारों की सूची प्रति वर्ष छपा करती थी।
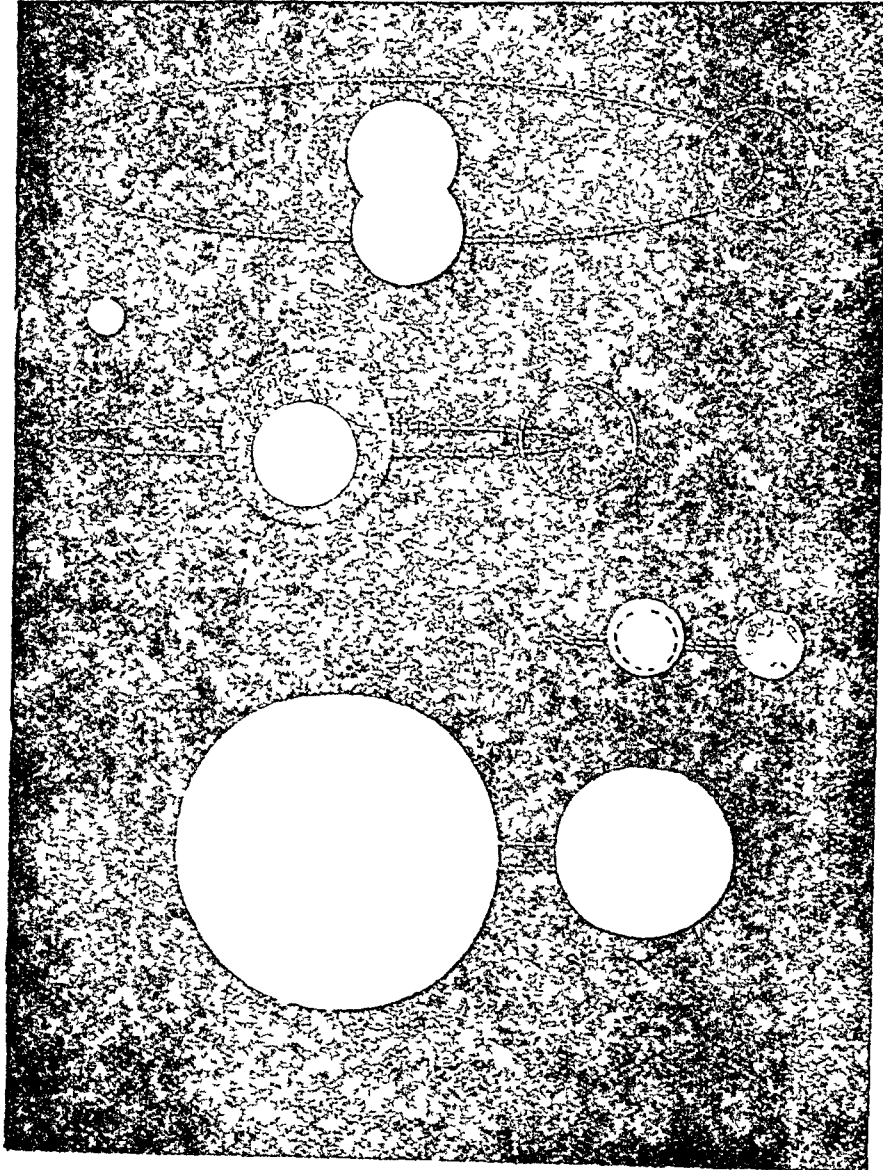
कुछ ग्रहणकारी यमज

(क) 'ख रथी'; (ग) 'U वृषपर्वा'; (घ) 'RT ययाति'; (च) 'TX शर्मिष्ठा'। चित्र मे उपरोक्त यमजों में से प्रत्येक के दोनों अवयवों के तुलनात्मक आकार, उनकी एक-दूसरे के प्रति सापेक्षिक स्थिति, भ्रमण-कक्षा तथा किस प्रकार एक की आड में दूसरे के आ जाने से ग्रहण-सा लग जाता है और फलतः चमक घट जाती है यह दिखाया गया है। इन नक्षत्रों के आकार की तुलना के लिए 'ख' द्वारा सूर्य का आकार निदर्शित दिया गया है। [यह चित्र रसेल, ड्यूगन और स्टीवर्ट की 'एस्ट्रॉनामी' नामक पुस्तक के आधार पर बनाया गया है]

जब किसी परिवर्त्ती तारे का प्रथम बार पता चलता है

तब ज्योतिषीगण उसकी चमक को नापने या आँकने का कार्य आरम्भ कर देते हैं और कुछ समय में चमक के घटने-बढने का नियम ज्ञात हो जाता है। इस कार्य में अव्यवसायी ज्योतिषी (वे जो वेतनभोगी नही हैं और केवल अवकाश के समय शौक के लिए ज्योतिषिक वेध करते हैं) बहुत उपयोगी कार्य कर सके हैं। अमेरिका में 'परिवर्त्ती तारा-वेधकों का अमेरिकन संघ' बना है, जिसके सदस्य संगठित रूप से इस कार्य को करते हैं। वेध करना सरल है, क्योंकि ज्ञात तारों की तुलना मे इष्ट तारा कितना चमकीला है—किन किन तारों से अधिक और किन-किन से कम चमकीला है—बस इतना ही देखना रहता है। परन्तु चमक को इतनी बार और इतने समय तक आँकना पडता है और ससार मे व्यवसायी ज्योतिषी इतने कम हैं और वे इतने विभिन्न कार्यों मे फँसे हैं कि विना अव्यवसायी ज्योतिषियों की सहायता के काफी काम नही हो पाता।

परिवर्त्ती तारों के बारे में क्या सीखा गया है?

किसी तारे की चमक स्थायी रूप से घटती या बढ़ती चली जाय इसका उदाहरण अभी तक नहीं मिला है। जहाँ तक पता चला है, बहुत-से तारों की चमक घटती-बढती रहती है, कुछ मे तो नियमित रूप से और कुछ में अनियमित रूप से। नियमित रूप से परिवर्त्तन होनेवाले तारों में एक तो ग्रहणकारी तारे हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। शेष (लगभग १०००*) तारों की चमक अन्य कारणों से घटती-बढती है, परन्तु उनमे भी एक नियत चक्रकाल होता है, जिसके बाद तारे की चमक फिर पहले जैसी हो जाती है और चमक फिर पहले के क्रम से घटती या बढती है। अनियमित रूप से घटने बढ़नेवालों मे एक तो नूतन तारे हैं, जो साधारणतः वे पुराने तारे होते हैं जिनकी चमक एकाएक बहुत बढ़ जाती है और तब धीरे-धीरे बहुत समय तक घटती रहती है, और शेष (लगभग १५०) वे तारे हैं जिनके लिए कोई नियत चक्रकाल नहीं है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि परिवर्त्ती तारे सभी दैत्य तारे हैं। ग्रहणकारियों को छोड अन्य परिवर्त्तियों की चमक के घटने-बढने का कारण ठीक ज्ञात नही है, परन्तु कुछ मे स्पष्ट जान पड़ता है कि तापक्रम के घटने-बढने के कारण प्रकाश घटता-बढता है, क्योंकि साथ-साथ तारे के रग, वर्णपट आदि मे भी चमक के अनुसार ही परिवर्त्तन होता है।

सीफिआइड परिवर्त्ती

नियमित परिवर्त्तियों मे 'सीफिआइड परिवर्त्ती' बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका प्रकाश साधारणतः कुछ शीघ्र बढ़ता है और तब कुछ अधिक समय मे धीरे धीरे घटता है। तारे की चमक में साधारणतः एक श्रेणी से कम ही अंतर पड़ता है। वर्णपट में भी साथ-साथ अंतर पडता जाता है। परंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सीफिआइडों में चक्रकाल और वास्तविक चमक मे सबध रहता है। चक्रकाल १२ घटे से लेकर १०० दिन तक हो सकता है, परतु ये सब सीफिआइड एक ही नियम से बद्ध हैं। इससे लाभ यह होता है कि सीफिआइड कहीं भी हो, केवल उसके प्रकाश-परिवर्त्तन के चक्रकाल को देखकर हम उसकी वास्तविक चमक जान सकते हैं। फिर प्रत्यक्ष चमक को नापकर हम तारे की दूरी बहुत सचाई से जान सकते है और दूरी का ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। कई तारापुंजों मे—तारों के उन गुच्छो में जो दूरदर्शक से देखने पर हजारों तारों के झुंड जान पड़ते हैं—बहुत से सीफिआइड भी हैं। इससे उन तारा-पुंजों की दूरी हमे ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार सीफिआइड वे भेदिया हैं, जो आकाश के दूरतम पिंडों की स्थिति हमें बता देते हैं।

सीफिआइडों की चमक में क्यों परिवर्त्तन हुआ करता है, इस पर बहुत विचार किया गया है। वर्त्तमान सिद्धान्त यह है कि ये तारे अभी वायव्य रूप मे हैं और जिस प्रकार घड़ी का लगर अपनी समतुलन स्थिति—खडी दिशा—से हटाए जाने पर इधर-उधर दोलन करता रहता है, उसी प्रकार ऐसा तारा, जो तप्त गैसों का गोला है, अपने समतुलन की स्थिति—एक निश्चित नाप के गोले—के इधर-उधर दोलन करता है। दोलन कैसे आरभ हुआ था यह दूसरी बात है, परतु एक बार दोलन उत्पन्न होने से वह बहुत समय तक चलता रहेगा यह निश्चित है। आलकारिक भाषा मे हम कह सकते हैं कि इन दैत्य तारों का पेट फूलता-पिचकता रहता है, मानों वे साँस लेते हों। उनके शरीर के इस घटने-बढ़ने के कारण उनकी चमक भी घटती बढ़ती रहती है।

हमारा ध्रुव तारा भी सीफिआइड है और इसका चक्रकाल लगभग चार दिन है, परतु उसकी चमक में इतना कम परिवर्त्तन होता है (कुल मिला कर ०.०८ श्रेणी) कि बिना सूक्ष्म नापों के इसका पता हमे चल ही नही सकता।

दीर्घकालिक परिवर्त्ती

सीफिआइडों और ग्रहणकारियों को छोड अन्य नियमित परिवर्त्तियों में वे प्रमुख हैं, जिनको दीर्घकालिक परिवर्त्ती कहा जाता है। इनका चक्रकाल लगभग ३०० दिन होता

* संख्याएँ सन् १९२९ की सूची के अनुसार दी गई हैं।

है, यद्यपि व्यक्तिगत तारों के चमककाल ५०-६० दिन से लेकर २ वर्ष तक होते हैं। इनमें विशेषता यह है कि चमक की कमी-वेशी बहुत अधिक होती है। इनमें से सबसे प्रसिद्ध तारा मीरा (द तिमि) है। महत्तम चमक पर यह तारा तीसरी या चौथी श्रेणी का सा हो जाता है और आकाश के उस क्षेत्र में जहाँ यह है सबसे अधिक चमकीला जान पड़ता है, परन्तु लघुतम पर यह नवीं श्रेणी का हो जाता है और केवल दूरदर्शक से ही देखा जा सकता है। चमककाल थोड़ा-बहुत घटता-बढ़ता है। चमककाल का मध्यम मान (औसत) ३३० दिन है। चमक क्यों घटती-बढ़ती है इसका अभी कुछ पता नहीं है, परन्तु संभव है कि सीफ़ाइडों की तरह दीर्घकालिक परिवर्तियों में भी दोलन होता हो, यद्यपि कुछ अज्ञात कारणों से सिद्धान्त और वेध में पूर्ण एकता अभी स्थापित नहीं हो पाई है। दीर्घकालिक परिवर्ती भी दैत्य तारे होते हैं।

२२ मई, १८८८ ई०

३ जून, १९१८ ई०

७ जून, १९१८ ई०

८ जून, १९१८ ई०

गरुड़ तारा-समूह का सन् १९१८ वाला नूतन तारा

ऊपर बाईं ओर २२ मई, सन् १८८८ ई० के दिन लिया गया इसी तारे का एक फ़ोटो है, तदनंतर जून १९१८ ई० की क्रमशः ३, ७ और ८ तारीख़ों के दिन लिये गए उसी के फोटो प्रदर्शित हैं। देखिए, दो दिनों ही में यह तारा एकाएक प्रज्वलित होकर कितना अधिक चमकीला हो उठा था! चित्र में तारे के आसपास का विम्ब तथा घड़ी की सुई जैसी खड़ी रेखा वास्तविक नहीं है, ये चीज़ें फोटो लेने के यंत्र-संबंधी कुछ विशेप उपकरणों के कारण चित्र में आ गई हैं।

नूतन तारे

कभी-कभी आकाश में नवीन तारे दिखलाई पड़ जाते हैं। ये वास्तव में अत्यंत मंद साधारण तारे होते हैं, जो एकाएक चमक उठते हैं और फिर धीरे-धीरे मंद हो जाते हैं। 'ययाति' तारा-समूह का सन् १९०१ वाला नूतन तारा पहले १३वीं श्रेणी का था, अर्थात् वह इतना फीका था कि केवल बड़े ही दूरदर्शक से देखा जा सकता था, परंतु महत्तम चमक पर वह अभिजित तारे के समान चमकीला हो गया। 'गरुड़' तारा-समूह का सन् १९१८ वाला नूतन तारा पहले ११वीं श्रेणी का था, अर्थात् केवल अच्छे दूरदर्शक से ही देखा जा सकता था, परंतु महत्तम चमक पर यह लगभग लुब्धक के समान चमकीला हो गया, जो आकाश का सबसे चमकीला तारा है। 'शर्मिष्ठा' तारा समूह का सन् १५७२ वाला नूतन तारा कुछ समय तक तो इतना चमकीला था कि वह शुक्र की महत्तम चमक की बराबरी कर सकता था और दिन में भी दिखलाई पड़ता था। इस नूतन तारे का नाम टाइको तारा पड़ गया है, क्योंकि इसको टाइको ब्राही ने देखा था। यह तारा धीरे-धीरे मंद होकर सोलह महीने बाद अदृश्य हो गया। उस समय दूरदर्शक का आविष्कार नहीं हुआ था, नहीं तो संभवतः वह हमें बराबर दिखलाई पड़ता और हम आज भी बतला सकते कि वह कौन सा तारा था जो टाइको के समय में इतना चमक उठा था।

एक दूसरा प्रसिद्ध नूतन तारा वह है जो सन् १६०४ में 'गरुड़' तारा-समूह में दिखलाई पड़ा था। इसको केपलर ने

देखा था। यह तारा कुछ सप्ताह तक बृहस्पति के समान चमकीला रहा; फिर मंद पड़ गया, तो भी लगभग दो वर्षों तक कोरी आँख से दिखलाई पड़ता रहा।

जब किसी मंद तारे की चमक बढने लगती है तो वह बड़े वेग से बढती है। साधारणतः दो-तीन दिन मे चमक महत्तम तक पहुँच जाती है। 'गरुड' तारा समूह के १९१८ वाले नूतन तारे की चमक आधे घटे में आधी श्रेणी बढ गई। फिर २४ घंटे में चार-पाँच श्रेणी का अतर पड़ गया; अर्थात् एक दिन मे वह तारा पहले की अपेक्षा सौ गुना अधिक चमकीला हो गया।

सन् १९२५ मे 'चित्रकार' तारा-समूह का एक नूतन तारा (Nova Pictoris) एकाएक प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होकर दो भागों मे विभाजित होते देखा गया था, जिससे ज्योतिषियों को बडा कुतूहल और आश्चर्य हुआ था। यह पहला ही मौका था जब कि आधुनिक ज्योतिषी को अपनी आँखों से किसी तारे को प्रत्यक्ष रूप में विभाजित होकर दो यमज पिण्डों मे परिवर्त्तित होते देखने को मिला था। यह तारा पृथ्वी से लगभग ५०० प्रकाश-वर्ष की दूरी पर था, अतएव उसके इस प्रकार भडककर दो पिण्डों में विभाजित हो जाने की घटना का पता पृथ्वी पर पाँच सौ वर्ष बाद लग पाया, क्योंकि प्रकाश को उक्त तारे से पृथ्वी तक आने मे इतने ही वर्षों का समय लगा होगा। यह नूतन तारा १२०००,००० मील प्रतिदिन की गति से फूला था, यहाँ तक कि अल्पकाल ही मे उसका आकार फूलकर ज्येष्ठा (Antares) जैसे बृहद् दैत्य तारे के आकार के लगभग बढ़ गया था।

अनुमान किया जाता है कि नवी श्रेणी से अधिक चमकीले नूतन तारों की सख्या प्रति वर्ष दस और बीस के बीच होती होगी। इस प्रकार नूतन तारे कोई विरली वस्तु नहीं हैं, हाँ, ऐसे नूतन तारे जो कोरी आँख से दिखलाई दें कभी-ही-कभी दिखलाई पड़ते हैं।

नूतन तारों की उत्पत्ति का क्या रहस्य है, इसका पूर्णतया सतोष-जनक उत्तर अभी नहीं प्राप्त हो सका है। तारों के भड़क उठने के बाद वे फिर कुछ समय में पूर्ववत् हो जाते हैं; इससे यह सिद्ध होता है कि तारों में कोई चिरस्थायी परिवर्त्तन नहीं होता। सभवतः उनमें से कोई ज्वलत गैस निकल पडती होगी, जैसे हमारे सूर्य से उद्गारी ज्वालाएँ निकला करती हैं, परतु इनसे कहीं अधिक बड़े पैमाने पर। क्यों ऐसा होता है यह कहना कठिन है। हो सकता है कोई अन्य पिड उस तारे के पास आ जाता हो और गुरुत्वाकर्षण से दोनों में मुठभेड़ हो जाती हो। परंतु सभावना-सिद्धांत से पता चलता है कि तारों में मुठभेडें इतनी अधिक सख्या में न हो पाती होंगी, जितने नूतन तारे प्रति वर्ष दिखलाई पड़ते हैं। नवीन भौतिक विज्ञान के अनुसार परमाणुओं में बहुत-सी शक्ति भरी रहती है, जो परमाणुओं के विनाश से ताप, प्रकाश आदि के रूप में प्रकट हो सकती है। वस्तुतः, नवीन भौतिक विज्ञान का विश्वास है कि ताप और द्रव्य एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप हैं और एक को दूसरे में परिणत करना सभव होना चाहिए। द्रव्य के जलने की वहाँ बात नहीं है; परमाणुओं के सीधे ताप में परिणत होने की बात है। सभव है कि तारों पर वहाँ की भयकर गरमी, चाप आदि के कारण ऐसा परिवर्त्तन आप से आप होता हो, और यदि यह धारणा ठीक है तो नूतन तारों का जन्म परमाणुओं की शक्ति के फूट पडने से होता होगा। इस विस्फोट का कारण यह हो सकता है कि विश्व में सदा दौड़ते रहनेवाले असख्य पिंडों मे से कोई छोटा पिड उस तारे पर आकर गिर पडे। परतु अभी यह लाल-बुझक्कड़ की ही सूझ है।

तारों के इस प्रकार एकाएक भड़क उठने की यह क्रिया इतनी सामान्य है कि प्रायः १ खरब वर्ष में प्रत्येक तारे के जीवन मे एक बार ऐसी घटना का घटित होना सभव है। इसी मत के अनुसार यह भी अनुमान किया जाता है कि हमारा सूर्य भी कभी न कभी इसी प्रकार फूलकर भड़क उठेगा। उस समय हमारी पृथ्वी तो उसके प्रचण्ड उत्ताप से इसी प्रकार जल जायगी जैसे किसी भट्टी मे कपूर की डली का हाल होता है। परन्तु इससे हमे घवडाने की जरूरत नही, क्योंकि यदि कभी यह बात हुई भी तो अभी कम से कम दस करोड़ वर्ष तक इसके घटित होने की कोई भी सम्भावना नहीं।

इस फोटो में बाईं ओर के निचले कोने में 'U वृषपर्वा' नामक ग्रहणकारी यमज की चमक घटते-बढ़ते दिखाई दे रही है। इस प्रकार का फोटो लेने के लिए एक ही प्लेट पर काफ़ी समय तक प्रकाश-दर्शन कराया गया था।
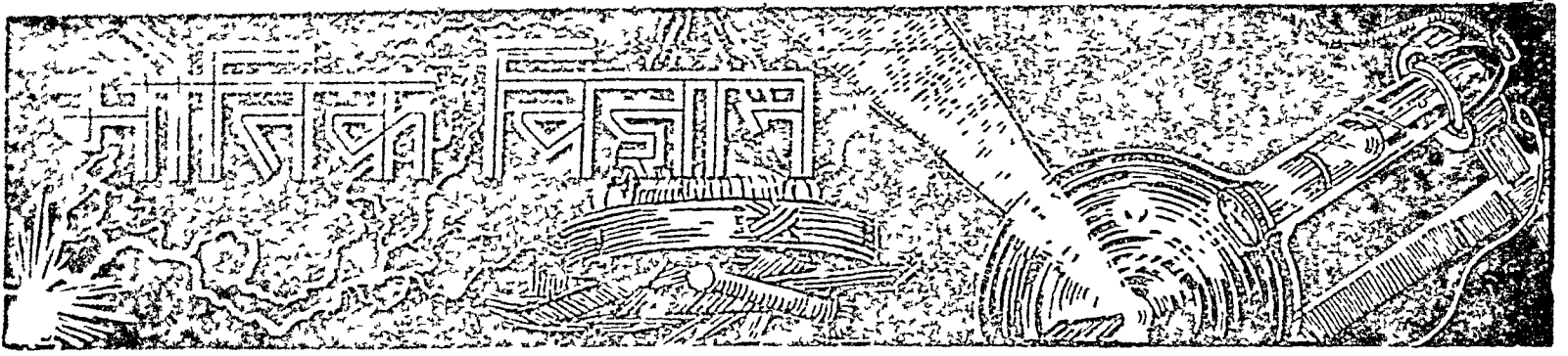
विद्युत-शक्ति

प्रस्तुत लेख द्वारा हम भौतिक विज्ञान के उस महत्त्वपूर्ण अंग—विद्युत-शक्ति—के अध्ययन की ओर अब अग्रसर हो रहे हैं, जिसकी जादूभरी लीलाओं के बल पर मनुष्य ने अपने आज के युग को मानों यंत्रों द्वारा जकडकर एक नया ही रूप दे डाला है ! अभी इस स्तंभ के अंतर्गत अगले कई प्रकरणों तक इस विषय का हमारा अध्ययन जारी रहेगा—प्रस्तुत लेख तो इस लेखमाला की एक प्रारंभिक प्रस्तावना मात्र है !

सौ सवा सौ वर्ष पहले कदाचित् स्वप्न में भी किसी को अनुमान नहीं हो सकता था कि मनुष्य के हाथ में एक ऐसी शक्ति आनेवाली है जो कोयला, हवा तथा पानी के झरनों को अपने वश मे करके सैकड़ों मील की दूरी पर तरह-तरह की मशीनों का सञ्चालन करेगी ! किन्तु आज बीसवीं सदी का यह युग इसी शक्ति—विद्युत्—के प्रभाव से मानों ओतप्रोत-सा हो रहा है।

आज के मानव ने इस अद्भुत शक्ति की सहायता से अपने चारों ओर के वातावरण को पूर्णतया बदल डाला है। सैकड़ो मील की दूरी पर बिजली उत्पन्न करके पतले तारों द्वारा उसे बड़े-बडे शहरों तथा देहातों मे पहुँचाकर उसने उससे बीसियों तरह के काम लेना शुरू किया है। विद्युत् की सहायता से वह आँखों में चकाचौध उत्पन्न करने-वाली रोशनी पैदा करता है, हज़ारों अश्वबल के इंजिनों का
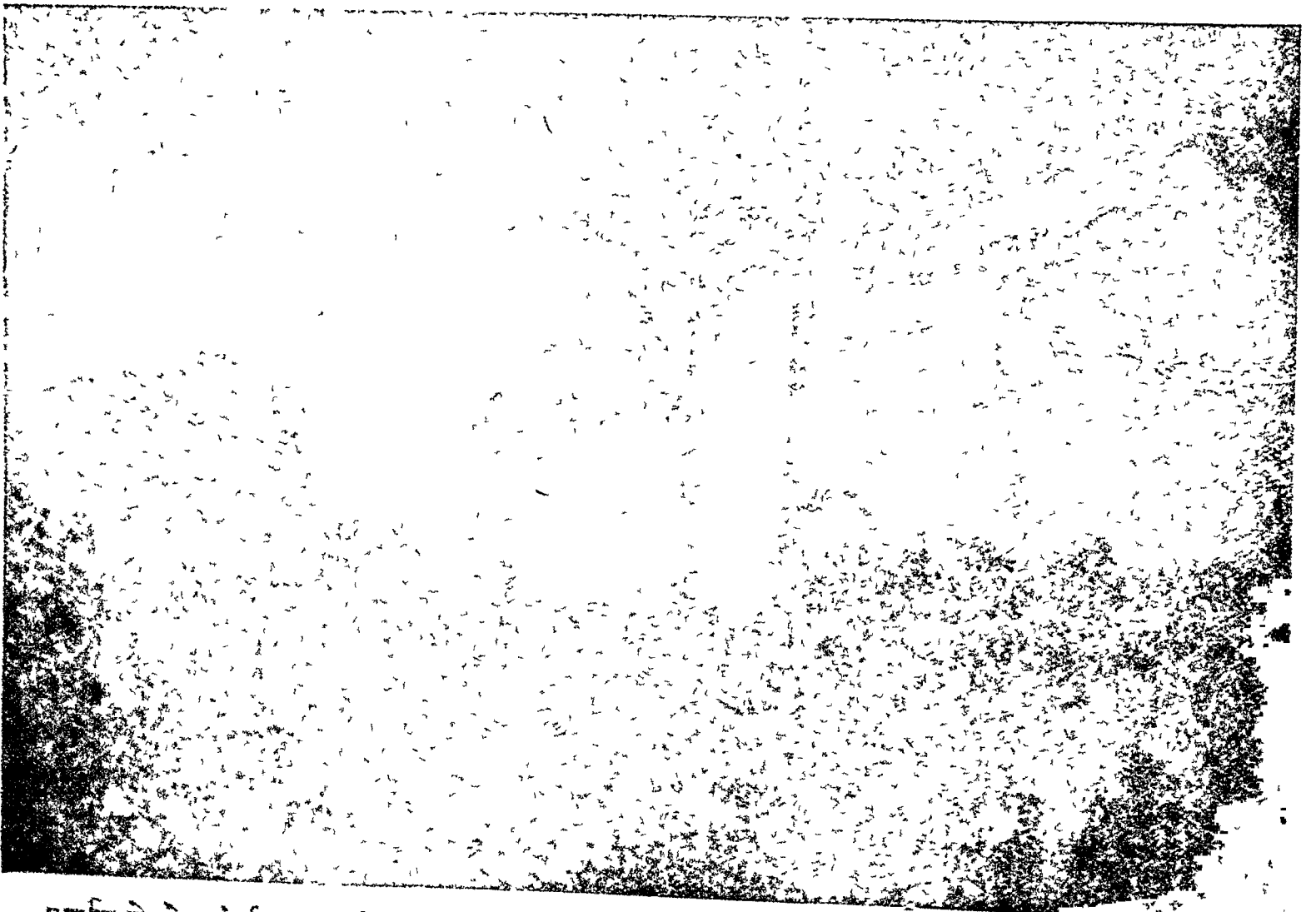
प्रकृति के क्षेत्र में विद्युत् की रहस्यमयी शक्ति का प्रत्यक्ष प्रदर्शन—आकाश में कौंधती हुई बिजली
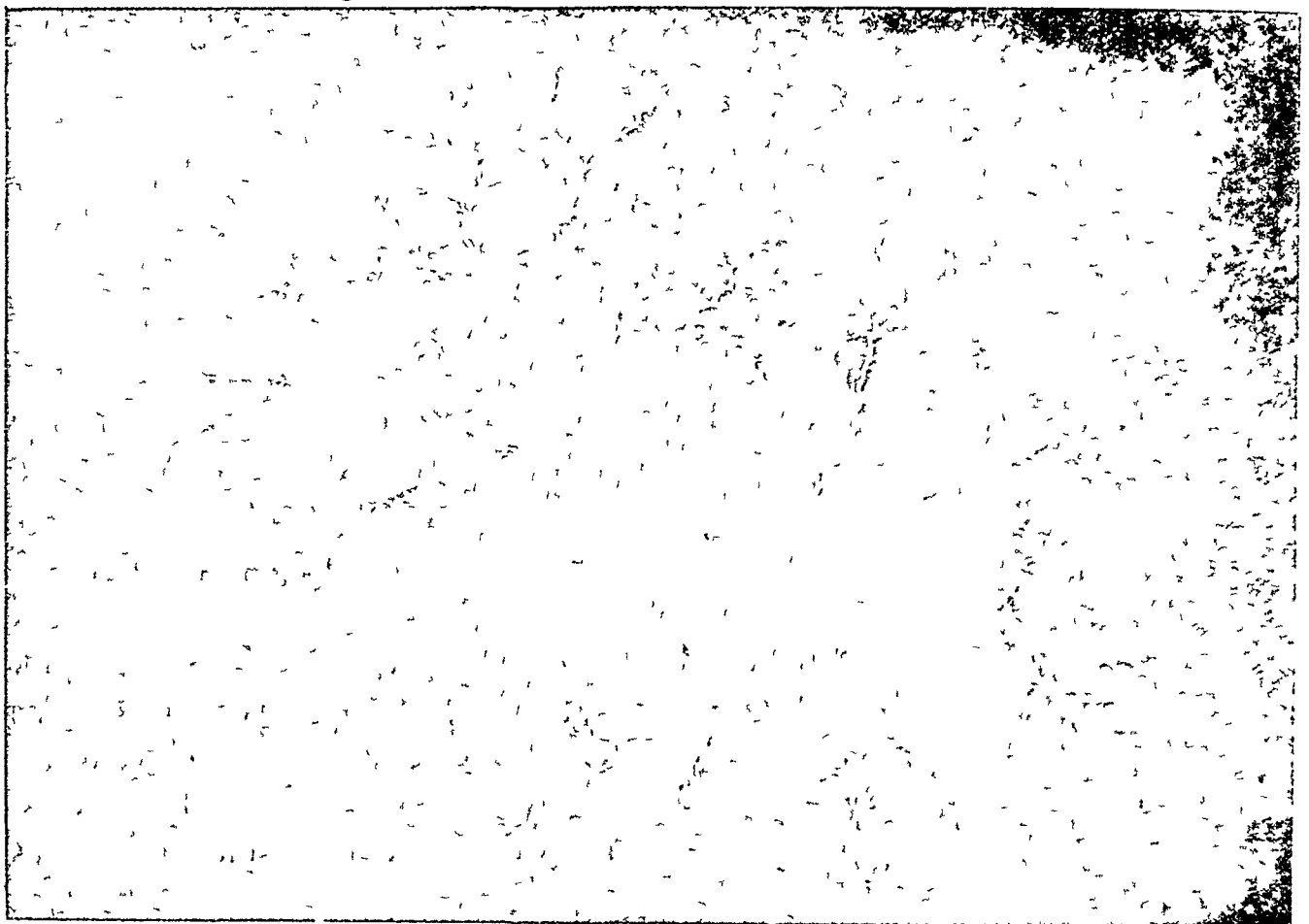
मनुष्य द्वारा उत्पादित विद्युत् और प्राकृतिक रूप में दमकनेवाली आकाशीय बिजली की कौंध में कितनी समानता है, यह प्रस्तुत चित्र को पिछले पृष्ठ के फ़ोटो से मिलाकर आप जान सकते हैं। यह एक साधारण बिजली के तार से उत्पन्न विद्युत्-द्युति का फ़ोटोग्राफ़ है।

सञ्चालन करता है, बिजली ही से वह भट्टी मे हद दर्जे की गर्मी उत्पन्न करता है तथा घर के झाड़ू लगाने से लेकर चूल्हा जलाने और चक्की चलाने तक के काम लेता है। विद्युत्-शक्ति की ही बदौलत आज मनुष्य टेलीफोन पर हजारों मील की दूरी पर बातचीत करने में समर्थ होता है, रेडियो पर बिना तार की मदद से ससार के किसी भी कोने से दूसरे कोने तक क्षण मात्र मे समाचार भेज सकता है तथा टेलिवीजन में इस शक्ति का प्रयोग करके घर बैठे ही सैकड़ों मील के फासले पर होनेवाली घटनाओं को तत्काल ही देख सकने मे भी समर्थ होता है। विद्युत्-शक्ति की सहायता से ऐसी तीव्र किरणें उत्पन्न की जा सकती हैं, जो आपके शरीर ही को नहीं बल्कि लोहे की चादरों को भी पार कर जाती हैं।

यह शक्ति इतनी जबर्दस्त है कि लम्बी लम्बी ट्रेनों को भी तेज रफ्तार से खींच सकती है, साथ ही छोटे-छोटे बारीक़ कामों को भी वह बखूबी पूरा कर सकती है। उदाहरण के लिए यह शक्ति उस्तरे से आपकी दाढी भी साफ कर सकती है तथा यन्त्रों द्वारा कपडे पर सुन्दर बारीक़ बेलबूटे तक काढ़ सकती है।

बिजली के पखे और स्टोव आदि से तो आप परिचित होंगे ही, अब विद्युत्-धारा से आपका लिहाफ भी गर्म किया जाने लगा है। लिहाफ के भीतर महीन तार की एक जाली रख दी जाती है। इस जाली को एसबेस्टस की खोल के अन्दर रखते हैं, ताकि लिहाफ जल न जाय। विद्युत्-धारा जब इस जाली में प्रवाहित होती है, तब लिहाफ धीरे-धीरे खूब गर्म हो जाता है। विद्युत् से इस तरह कोट भी गर्म किए जाते हैं। आठ दस मील की ऊँचाई पर जिस समय वायुयान उड़ता है, वायुयान-सचालक को भयानक सर्दी का सामना पडता है। इस अवसर पर विद्युत्-शक्ति से गरम किए जानेवाले कोट की सहायता से ही वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ होता है।

टॉर्च की बैटरी आप हर महीने बदलते हैं, किन्तु अब ऐसे टॉर्च बनने लग गए हैं, जिनके लिए बैटरी की आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसे टॉर्च में एक कमानी
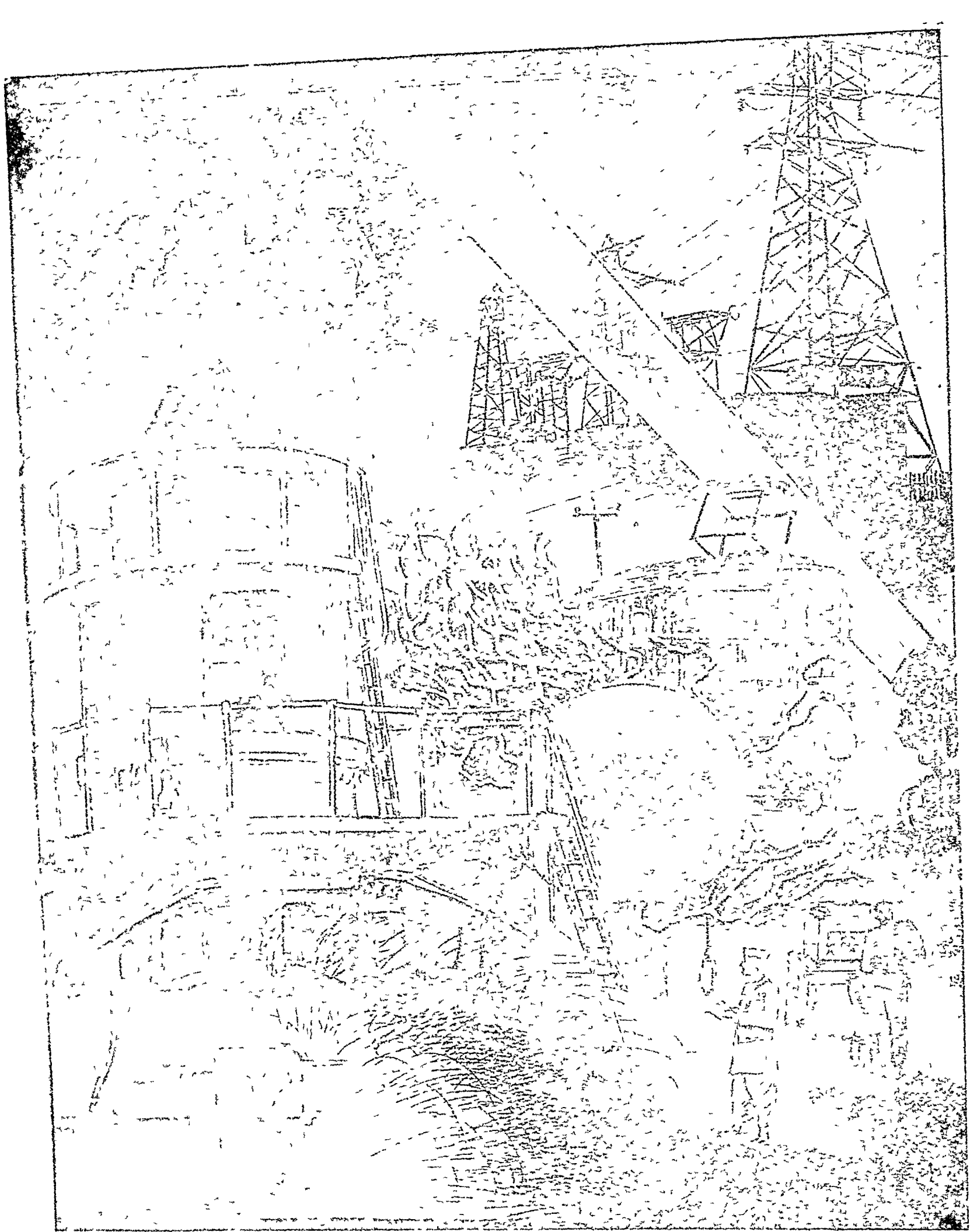
विद्युत् द्वारा प्रकृति पर विजय

विद्युत्-शक्ति के रूप में मनुष्य ने प्रकृति को अपनी दासी बना लेने की मानों एक अमोघ कुंजी पा ली है और उसी के बल पर तार, टेलीफोन, विद्युत् लैम्प, रेडियो, वायरलेस, विद्युत्-रेलगाड़ी आदि, आदि सैकड़ों विचित्र आविष्कार प्रस्तुत कर इस बीसवीं सदी को यथार्थ में एक यंत्र-युग में परिणत कर दिया है ! ऊपर के चित्र में बिजली के बल पर मनुष्य द्वारा खड़ी की गई नई दुनिया की एक झलक आप देख सकते हैं ।

लगी होती है, जिसके दबाने से उसके भीतर ही एक छोटा-सा डायनमो चलने लगता है, जो टॉर्च के बल्ब में रोशनी पैदा करने के लिए विद्युत्-धारा उत्पन्न करता है।

'फोटो-इलेक्ट्रिक सेल' नामक विद्युत्-यंत्र से इञ्जीनियरों ने आश्चर्यजनक करतब कर दिखाए हैं। ये फोटो-इलेक्ट्रिक सेलें मानों जादू की आँखे हैं। फोटो-इलेक्ट्रिक सेल प्रकाश की किरणों से प्रभावित होती हैं। जब प्रकाश की किरणे सेल पर पडती हैं तो उसमे बिजली की धारा प्रवाहित होने लगती है। फोटो-इलेक्ट्रिक सेल का प्रयोग सबसे पहले योरपवालों ने सडकों पर रोशनी बुझाने और जलाने के लिए किया था। शाम को अँधेरा होने पर सेल की विद्युत्-धारा एकाएक रुक जाती है, फलस्वरूप सड़क के लैम्प का स्विच खुल जाता है और सड़क के तमाम खम्भो के लैम्प अपने आप जल उठते हैं। प्रातःकाल उजेला होते ही सेल मे फिर विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है और तब स्विच बन्द हो जाता है और लैम्प अपने, आप बुझ जाते हैं।

योरप के बडे-बडे होटलों में दरवाजा खोलने के लिए भी इन फोटो-इलेक्ट्रिक सेलों का ही प्रयोग अब होने लगा है। दरवाजे से दो क़दम की दूरी पर एक ओर एक लैम्प रखा रहता है, जिसकी पतली किरणें दूसरी तरफ रखी हुई सेल पर पड़ती हैं। कोई व्यक्ति जब दरवाजे की ओर अग्रसर होता है तो एक क्षण के लिए सेल पर उसकी छाया पड़ती है। फौरन् ही सेल की विद्युत्-धारा थोडी देर के लिए रुक जाती है और दरवाजे को खोलनेवाले यंत्र का स्विच खुल जाता है। इस प्रकार दरवाजा अपने आप खुल जाता है।

चोर-डाकुओं से माल की रक्षा करने के निमित्त भी इस अद्भुत सेल की सहायता ली गई है। तिजोरी के पास ही अँधेरे मे एक ओर यह सेल रखी रहती है। इस सेल पर दूसरी ओर से अल्ट्रा-वायलेट नामक अदृश्य किरणे पड़ती रहती हैं। रात के अंधेरे मे जब चोर घर के भीतर घुसता है, तब वह समझता है कि चारों ओर अधकार ही अधकार है, उसे कोई देख नही रहा है। किन्तु ज्योंही वह तिजोरी के पास पहुँचता है, सेल की जादू की आँखे अपनी पलकें हिलाती हैं और फौरन् ही आपके कमरे या पुलिस-दफ्तर मे खतरे की घण्टी बज उठती है।

रात की रोशनी का प्रश्न भी बिजली ने सफलतापूर्वक हल किया है। तीव्र प्रकाश के विद्युत्-लैम्प ने फैक्टरियों और कारखानों में रात के समय भी दिन सरीखा प्रकाश उत्पन्न किया है, ताकि वहाँ २४ घण्टे बराबर काम होता रहे। शाम होते ही ज्योंही स्विच खोला गया त्योंही फैक्टरी में चारों ओर दिन के समान उजेला फैल गया! बन्दरगाह पर भी सर्चलाइट की तेज रोशनी में हजारों टन का बोझा लिये हुए जहाज रात में निरापद विचरा करते हैं।

विशेष ढग के बने हुए विद्युत्-लैम्प अँधेरे और तग मकानों के अन्दर स्वास्थ्यप्रदायिनी अल्ट्रा-वायलेट किरणें भी हमे प्रदान करते हैं। इन रश्मियों से घर के अन्दर रहनेवालों को प्रायः वही लाभ होता है जो सूर्य्य की धूप में बैठने से हो। इस तरह बिजली के अल्ट्रा-वायलेट लैम्प ने हजारों घरों के अन्दर स्वास्थ्य का सदेश इन रश्मियों द्वारा पहुँचाया है। प्रयोगशाला के अन्दर भी तीव्र प्रकाश की सहायता से अणुवीक्षण यत्र द्वारा वैज्ञानिक नन्हें-नन्हे कणों का निरीक्षण करके बहुमूल्य जानकारी प्राप्त करता है।

साधारण ढग के विद्युत्-लैम्प मे विद्युत्-शक्ति का लगभग ८० प्रतिशत भाग उष्णता उत्पन्न करने मे व्यय हो जाता है। प्रकाश के रूप में केवल २० प्रतिशत विद्युत्-शक्ति ही हमें लभ्य हो पाती है। अतः इस अपव्यय को रोकने के लिए वैज्ञानिकों ने काफी माथापच्ची की है। इस क्षेत्र में प्रकृति वैज्ञानिकों से कही आगे बढी हुई है—जुगनू की रोशनी मे उष्णता के रूप में शक्ति का तनिक भी अपव्यय नहीं होता। वैज्ञानिकों ने भी जुगनू ही की भाँति ठण्डी रोशनी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए शीशे की लम्बी नली मे थोड़ी-सी गैस डालकर उसमें उच्च मान की विद्युत्-धारा प्रवाहित कराते हैं। ऐसी दशा मे गैस गर्म नहीं होने पाती और लगभग समूची शक्ति प्रकाश के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है।

वायुयान-चालकों को सहायता पहुँचाने के लिए तेज़ रोशनीवाली सर्चलाइट भी बिजली ही से परिचालित होती है। ससार की सबसे बड़ी सर्चलाइट फ्रान्स में बनी है। इसकी रोशनी एक अरब मोमबत्तियों के प्रकाश के बराबर है। इसकी रोशनी पूरे तीस मील की दूरी तक पहुँचती है! समूचे लन्दन पर की रोशनी केवल १० लाख मोमबत्तियों की रोशनी के बराबर है। अब आप फ्रान्स की इस सर्चलाइट की रोशनी का अनुमान लगा सकते हैं। लन्दन और पैरिस के बीच वायुयानों के पथप्रदर्शन के लिए १० प्रकाश-स्तम्भ बने हुए हैं। रात को लन्दन से पैरिस जानेवाले वायुयानों को एक-न-एक प्रकाशस्तम्भ हर समय नज़र आता रहता है। इन प्रकाश-स्तम्भों का सारा काम स्वयंक्रिय होता रहता है। सूर्य्यास्त होने पर अपने आप इनके विद्युत्-लैम्प जल
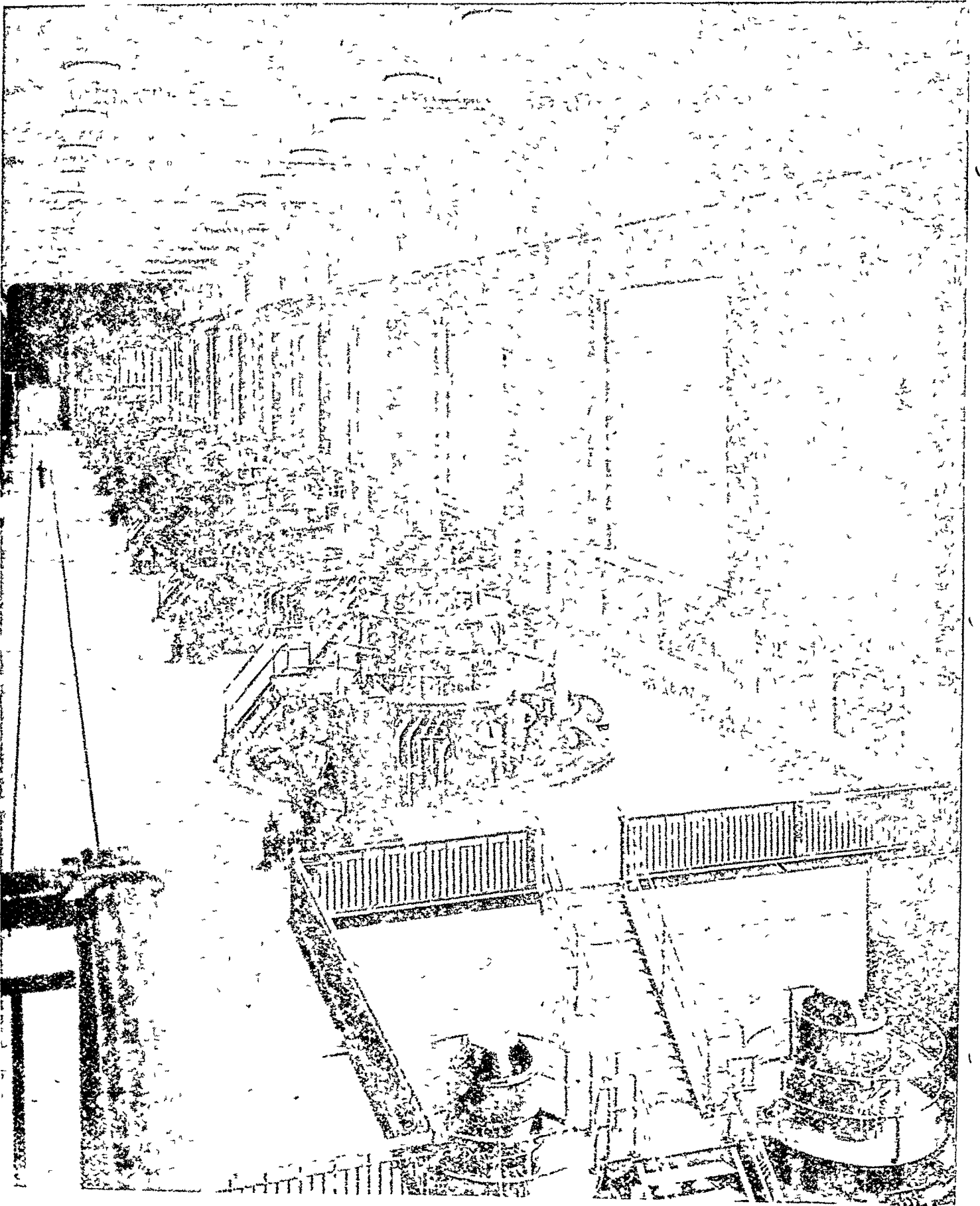
विद्युत् उत्पन्न करने के एक आधुनिक विशाल कारखाने का दृश्य

यह अमेरिका के सुप्रसिद्ध नायग्रा-जलप्रपात से बिजली पैदा करने के लिए क्वीन्स्टन नामक स्थान में प्रस्थापित विशाल बिजलीघर के भीतर का दृश्य है। चित्र मे लम्बी कतार में जो भीमकाय यंत्र लगे दिखाई दे रहे हैं, वे उन १० टरबाइन विद्युतोत्पादक यंत्रों के शीर्ष भाग है, जो प्रपात की जलशक्ति द्वारा संचालित होकर ५५०,००० अश्वबल से अधिक शक्ति का विकास कर लगभग ११०००० वोल्ट बिजली पैदा करते हैं। यह बिजली तार द्वारा २५० मील से भी अधिक दूरी तक के स्थानों को पहुँचाई गई है!
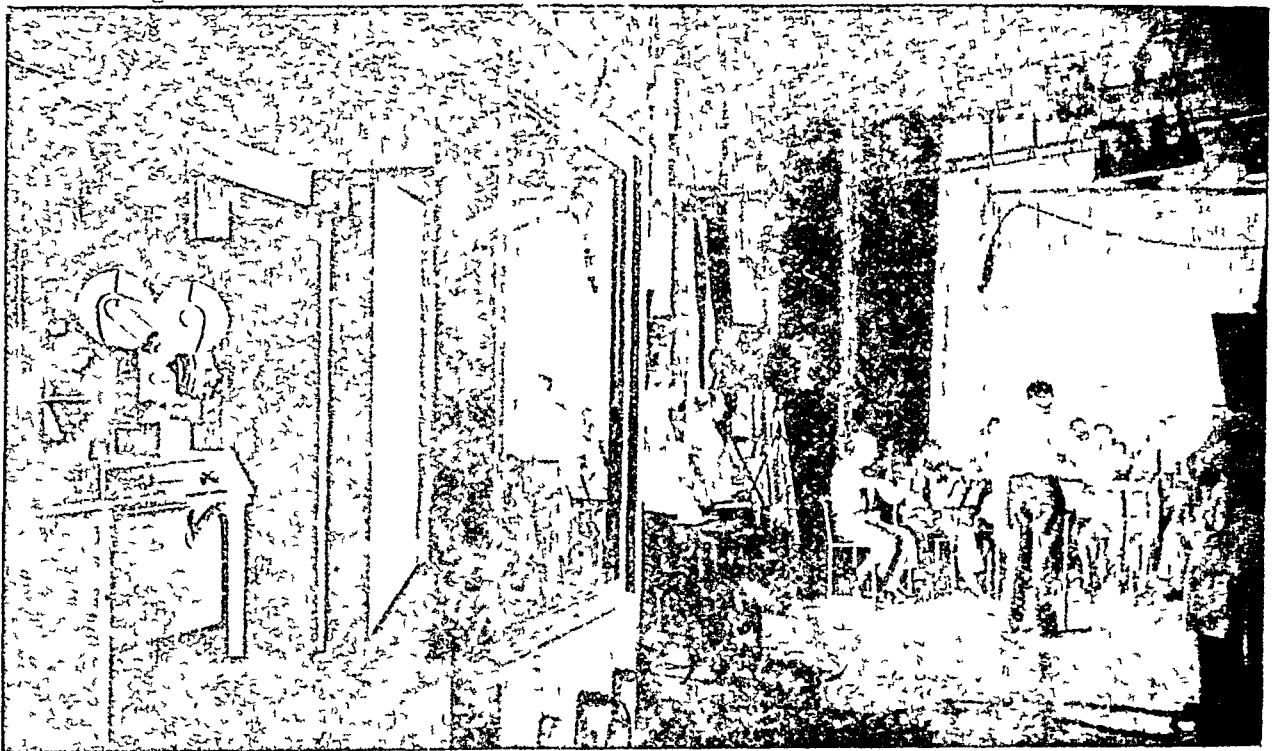
विद्युत्-शक्ति का एक नया चमत्कार—टेलिवीज़न या दूरदर्शन

यह लन्दन के सुप्रसिद्ध एलेक्ज़ेण्ड्रा राजप्रासाद में प्रस्थापित टेलिवीज़न के स्टूडियो का दृश्य है। बाईं ओर के कोने में वह विद्युत्-यंत्र रक्खा हुआ है, जिसकी सहायता से स्टूडियो के संगीत के साथ-साथ निर्धारित दृश्य भी बेतार की सहायता से सैकड़ों मील दूर तक ब्रॉडकास्ट किया जाता है।

उठते हैं और सूर्योदय होने पर रोशनी स्वय बुझ जाती है। अमेरिका मे एक नए ढंग की सर्चलाइट तैयार की गई है। रोशनी को दूर तक फेंकने के लिए उसमे लेन्स या दर्पण की मदद नहीं ली जाती, अतः इसकी रोशनी से आँखों मे चकाचौंध नहीं उत्पन्न होती, फिर भी एक मील की दूरी पर आप इसकी रोशनी मे समाचारपत्र आसानी से पढ़ सकते हैं।

फैक्टरी-कारखानों की अनेक समस्याओं को भी विद्युत्-शक्ति ने हल किया है। उदाहरण के लिए कारखानों की भट्टियाँ विशेष तप्त होती हैं। इनके तापक्रम को नापने के लिए साधारण कोटि के पारे के थर्मामीटर काम में नहीं लाये जा सकते, क्योंकि भट्टी मे डालते ही थर्मामीटर की काँच की नली पिघल जायगी और पारा उबलने लगेगा। ऐसी भट्टी के उच्च तापक्रम को नापने के लिए 'थर्मोइले-क्ट्रिक पाइरोमीटर' (विद्युत्-थर्मामीटर) काम मे लाए जाते हैं। इस पाइरोमीटर मे प्लेटिनम तथा रेडियम धातुओं के दो छड चीनी मिट्टी की नली मे रखे रहते है। दोनों छड एक सिरे पर एक दूसरे से जुटे रहते हैं, तथा उनके दूसरे सिरे विद्युत्-धारामापक यन्त्र से सम्बद्ध होते हैं। जिस सिरे पर दोनों छड़ एक दूसरे से जुटे रहते हैं, उसे भट्टी के अन्दर रखते ही विद्युत्-यत्र में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, जो तापक्रम के अनुपात में ही घटती-बढ़ती है। अतः भट्टी के तापक्रम का पता चल जाता है। इस यन्त्र की सहायता से २५०० अंश सेंटीग्रेड तक का तापक्रम नाप सकते हैं।

कई सूक्ष्मग्राही थर्मामीटर भी विद्युत् की सहायता से बनाए गए हैं। ये थर्मामीटर 'रेडियो-माइक्रोमीटर' कहलाते हैं। इनकी सहायता से ज्योतिषज्ञ करोड़ों मील की दूरी पर स्थित नक्षत्रों के तापक्रम को नापने में समर्थ होता है। ५ मील की दूरी पर रखी हुई मोमबत्ती के ताप को भी यह सूक्ष्म यन्त्र नाप लेता है।

अस्पतालों मे भी विद्युत्-यन्त्र से 'एक्स रे' उत्पन्न करके डाक्टरों ने अपनी चिकित्सा-प्रणाली में उससे भरपूर लाभ उठाया है। फेफड़े मे कोई खराबी है तो डाक्टर एक्स-रे द्वारा फेफड़े का फोटो लेकर उसे आपके सामने रख देता है। युद्ध मे आहत व्यक्तियों के शरीर के अन्दर कहाँ हड्डी टूटी हुई है अथवा किस स्थान पर गोली शरीर मे घुसी पड़ी है, यह मालूम करने के लिए भी एक्स रे द्वारा उस अंग का फ़ोटो लिया जाता है।
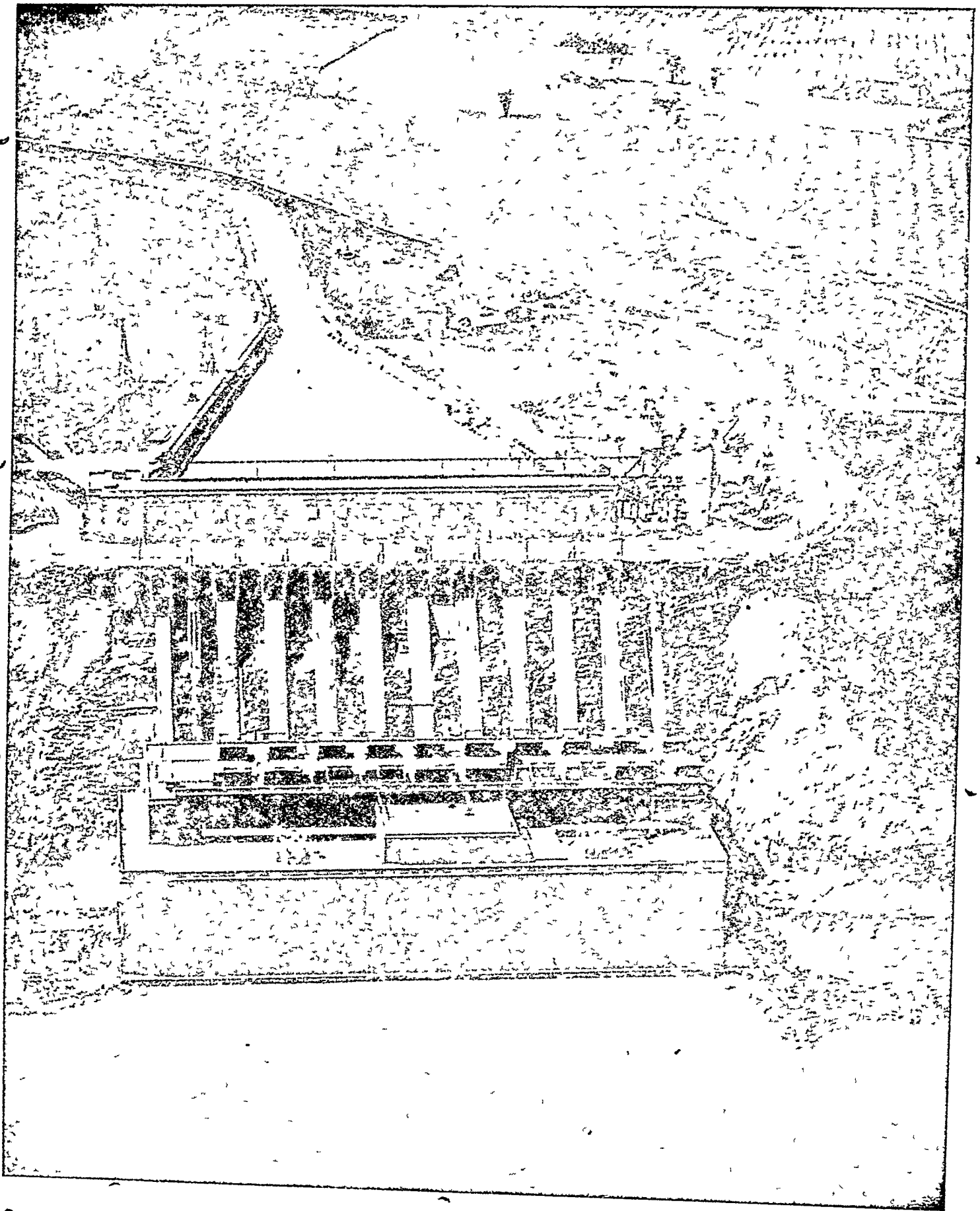
अमेरिका के प्रसिद्ध नायग्रा जलप्रपात की जलशक्ति से बिजली पैदा करने के लिए क्वीन्स्टन नामक स्थान में प्रस्थापित बिजलीघर का बाहरी दृश्य। इसमें लगे हुए विशाल विद्युतोत्पादक टरबाइनों के लिए पृ० २६५५ का चित्र देखिए!

संसारव्यापी पिछले महायुद्ध में भी विद्युत्-शक्ति ने कम महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया है। विद्युत्-शक्ति पर ही अवलम्बित रेडियो-तरंगों की सहायता से वैज्ञानिकों ने 'रेडर' नामक यंत्र इस युद्ध में तैय्यार किया, जो दूर से ही वायुयानों के आने की सूचना, उनकी रफ़्तार तथा उनकी ऊँचाई आदि का ठीक-ठीक पता बतला देता है! १९४० में जब जर्मन बमवर्षक वायुयान हजारों की संख्या में इङ्गलैण्ड पर बमवर्षा करने के लिए आते थे, तब 'रेडर' की

सहायता से ही उनके आने की खबर पाकर ब्रिटिश उड़ाकू वायुयान पहले से ही आकाश मे उडकर जर्मन वायुयानों को खदेडने का प्रयत्न करते थे। रात के अँधेरे मे तूफान तथा कुहरे मे भी 'रेडर' अपना उत्तरदायित्व सफलतापूर्वक सँभालता है।

जलशक्ति से विद्युत् बहुत सस्ते मे उत्पन्न की जा सकती है। अमेरिका मे नायग्रा जलप्रपात से अपरिमित मात्रा मे विद्युत् शक्ति उत्पन्न करके सैकडों मील दूर तक उस शक्ति का प्रयोग मशीनो के सचालन तथा घर मे रोशनी पैदा करने एव चूल्हा जलाने के लिए किया गया है। विद्युत् शक्ति के प्रयोग मे सबसे बडी सुविधा यह है कि इसके लिए कारखाने में न ब्वॉयलर की जरूरत होती है, न भट्टी की। थोडी-सी जगह में सफाई के साथ विद्युत्-यत्र लगाए जा सकते हैं। बस एक ही स्विच के दबाने से मशीन चालू हो जाती है। न गर्द-गुब्बार, न धुँआ।

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल अथवा विद्युत्-आँखे

इस जादू-जैसे विद्युत्-यंत्र की करामात से अँधेरे में सेंध देते हुए चोर द्वारा किसी जौहरी की खिडकी का शीशा तोडे जाते समय उसमे प्रदर्शित जवाहरात अपने आप नीचे खिसककर तिजोरी मे चले जाते है और सुरक्षित हो जाते है। साथ ही तुरंत ख़तरे की घंटी भी बज उठती है।

भारत में कोयले तथा खनिज तैल की खानें बहुत कम स्थानों पर हैं और वे भी दूर-दूर हैं। अतः पर्वतों के झरनों की शक्ति से विद्युत् उत्पन्न करने की ओर विशेषज्ञो का ध्यान गया। फलस्वरूप पजाब, युक्तप्रान्त, मद्रास और मैसूर में जलप्रपातों से विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करने के लिए अनेक पावर-हाउस बनाए गए हैं। फिर भी हिसाब लगाया गया है कि भारत के जलप्रपातों मे ३ करोड ६० लाख अश्वबल की शक्ति मौजूद है, जिसमे से अभी तक केवल ७ लाख अश्वबल की शक्ति ही विद्युत् में परिणत की गई है। आशा की जाती है कि युद्धोत्तर निर्माण-योजना में जल शक्ति का अधिकाश भाग, जो व्यर्थ नष्ट हो रहा है, विद्युत्-शक्ति में परिणत किया जा सकेगा और तब वास्तव में भारत के कल-कारखानों का भविष्य भी उज्ज्वल बन सकेगा।

पिछले १५ वर्षों में विद्युत्-शक्ति ने विज्ञान की अनेक मूल समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। विद्युत्-धारा की सहायता से ही प्रयोग करके यह बात पहले प्रमाणित की गई कि सभी पदार्थों के परमाणुओं के अन्दर ऋणाणु (इलेक्ट्रान्) पाए जाते हैं। पदार्थ के परमाणुओं मे अपार शक्ति निहित है—इतनी कि हम स्वप्न मे भी उसका अनुमान नही कर सकते। वैज्ञानिक इस धुन में हैं कि परमाणुओं मे निहित शक्ति-भण्डार को अपने वश में करें। अमेरिका इस क्षेत्र के अनुसन्धानों मे अग्रगण्य हो रहा है। यूरैनियम नामक मूलतत्त्व के परमाणु की शक्ति को वश मे करके अमेरिकन वैज्ञानिकों ने ब्रिटिश तथा स्वीडिश वैज्ञानिकों की सहायता से परमाणु बम जैसे भयावह अस्त्र का निर्माण किया है। बहुत सम्भव है, निकट भविष्य मे ऊँचे वोल्टेज की विद्युत् धारा की सहायता से अणु परमाणुओं मे निहित शक्ति को वैज्ञानिक पूर्ण रूप से अपने वश मे कर लें। तब कदाचित् हमारी सभ्यता इतिहास के एक नए युग में प्रवेश करेगी, जिसे 'परमाणु युग' का नाम दिया जा सकेगा।

जीव-पदार्थों में रहनेवाले तत्त्वों का नायक—कार्बन

कोयला, ग्रफ़ाइट तथा हीरा—इन तीन रूपान्तरों मे रहनेवाले तथा अपनी अद्भुत रासायनिक लीलाओं द्वारा लाखों जीव-पदार्थों एवं कृत्रिम यौगिकों की रचना करनेवाले तत्त्व की कथा

प्रकृति में कार्बन

जब जलती हुई लकड़ी अथवा उसके अगारे बुझा लिए जाते हैं तो जो काली वस्तु निकल आती है, उसे हम 'लकड़ी का कोयला' कहते हैं। यह कोयला रासायनिक तत्त्व 'कार्बन' का ही एक रूप-मात्र होता है। केवल लकड़ी ही नही, किसी भी वनस्पति पदार्थ—फल, फूल, बीज, पत्ती, छाल, छिलका, आदि—अथवा किसी भी प्राणि-पदार्थ—मास, हड्डी, खाल, चमड़ा, बाल, आदि—को आग मे झुलसाने या जलाकर बुझा लेने से हमे कार्बन का यही काला रूप कोयला दिखाई पड़ने लगता है। कपडा, काग़ज, शक्कर, रोटी, आदि के झुलसाने पर भी हमे उसी रूप मे कार्बन दृष्टिगोचर होता है—ये सभी वस्तुएँ वनस्पति पदार्थों से बनी होती हैं। वास्तव मे, कार्बन जीव-जगत् के सारे पदार्थों का प्रमुख तत्त्व है। अपनी चार सयोजन-शक्तियों द्वारा वह लगभग एक दर्जन तत्त्वों, विशेषतः हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, गधक, फास्फरस और हैलोजन, अथवा उनके परमाणु-समूहों में से एक या अधिक से सबद्ध होकर अगणित यौगिक रूपों मे प्रकट होता है। जीव-कलेवरों के नाना अद्भुत पदार्थों की सृष्टि इसी प्रकार सभव हो सकी है।

पेड-पौधों को अपने शरीर के निर्माण के लिए आवश्यक कार्बन श्वास द्वारा हवा मे मिली हुई 'कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस' (CO_2) से मिलता है। इससे वे कार्बन ले लेते हैं और शेष ऑक्सिजन हवा को लौटा देते हैं (दे० पृ० २०)। खुली हवा मे निरंतर ०·०३ प्रति शत, अर्थात् १०,००० भागों मे तीन भाग, कार्बन डाइ-ऑक्साइड बनी रहती है। अल्प मात्राओं में वह पानी में भी घुली रहती है। यदि ऐसा न होता तो पानी के भीतर पेड़-पौधों का जीवन संभव न हो सकता।

धरती के स्तरों मे से निकलनेवाली प्राकृतिक गैसें और पेट्रोलियम द्रव भी विभिन्न हाइड्रो-कार्बनों, अर्थात् कार्बन और हाइड्रोजन के यौगिकों के मिश्रण होते हैं। सभाव्यतः पेट्रोलियम द्रव और प्राकृतिक गैसें भी जीव-पदार्थ हैं जो दबाव और गर्मी के प्रभाव से धरती की तहों मे दब गए हुए सामुद्रिक जीवों के विच्छेदन से उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार जैसे जगलों के दब जाने से कोयले की खानों की उत्पत्ति हुई है।

सयुक्तावस्था में कार्बन कार्बोनेट लवणों में भी अधिकता से पाया जाता है। इनमें कैल्शियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) प्रधान है। खड़िया*, चूने का पत्थर, सगमर्मर, कैल्साइट और आइसलैण्ड-स्पार इसी यौगिक के विभिन्न खनिज रूप हैं। इसके अलावा कैल्शियम कार्बोनेट ककड तथा अनेक स्तरयुक्त पत्थरों में भी रहता है। अंडों के छिलकों और जलजीवों के कोशों (घोंघा, आदि) मे भी प्रधानतः कैल्शियम कार्बोनेट ही रहता है। पिसी हुई खड़िया को सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखने से पता लगता है कि वह अति सूक्ष्म जल-प्राणियों के शवों से बनी हुई है। ये प्राणी मरकर दीर्घ काल तक समुद्र की तह पर निक्षिप्त होते रहे होंगे, और फिर भूकंप द्वारा इस तह के समुद्र-तल के ऊपर उठ आने के कारण इन निक्षेपों ने पहाड़ियों का रूप धारण कर लिया होगा। आज इन्हीं पहाड़ियों से खड़िया खोदकर निकाली जाती है। सूक्ष्मदर्शक

* स्कूलों मे काम में लायी जानेवाली 'चाक' की बत्तियाँ खड़िया की नहीं, कैल्शियम सल्फ़ेट की होती हैं। रासायनिक दृष्टि से उनको 'चाक' कहना गलत है।
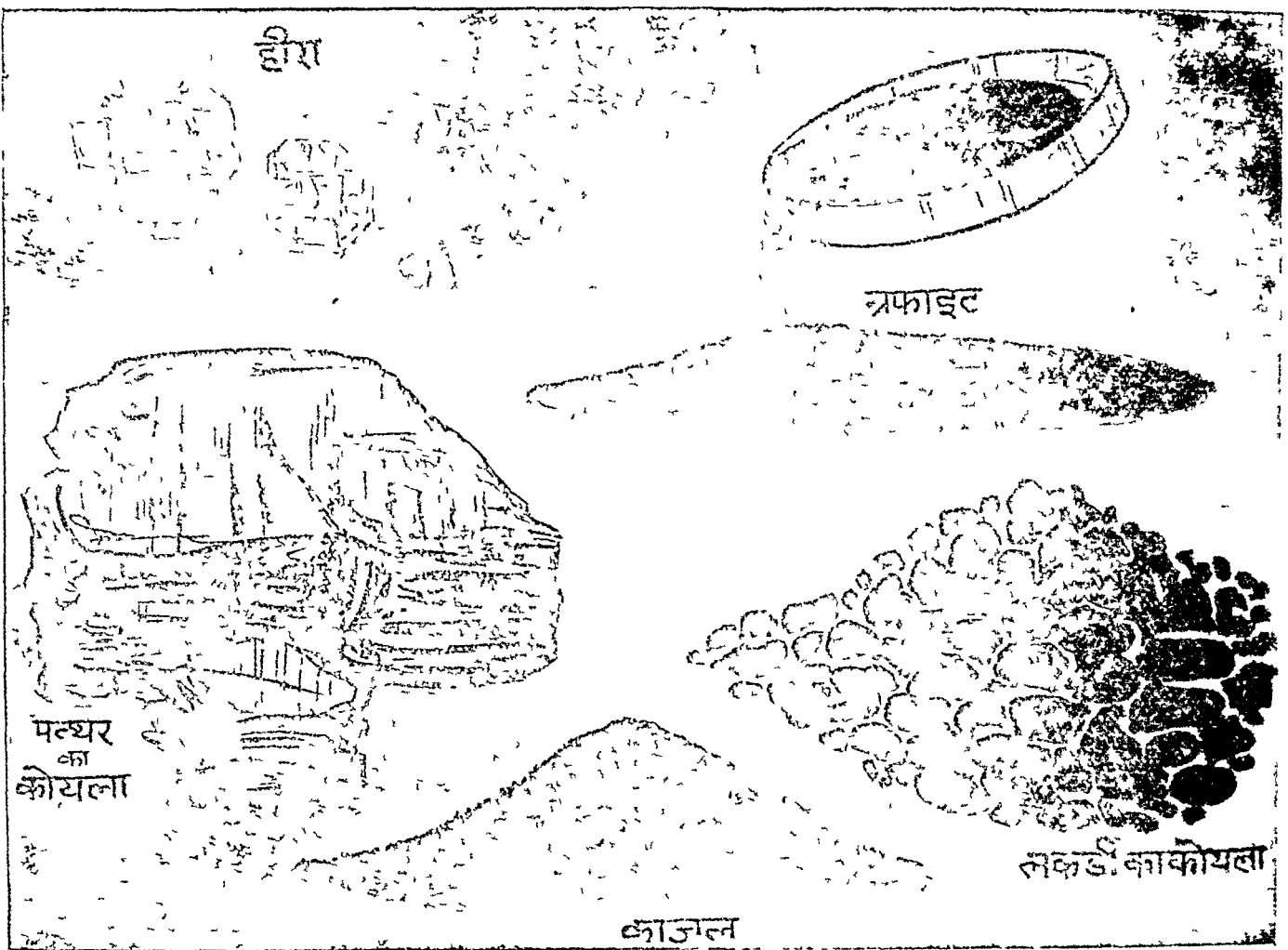
कार्बन के नाना रूप

हीरा और ग्रफाइट कार्बन के दो मणिभीय रूपांतर हैं। कोयला, काजल आदि की गणना अमणिभ रूपांतरों में होती है, यद्यपि वास्तव में ये ग्रफ़ाइट के ही विभिन्न रूप हैं।

द्वारा यह पता लगता है कि खडिया के एक घन इंच मे लगभग दस लाख ऐसी ठठरियाँ रहती हैं, अतः इन पहाड़ियों के बनने में जलजीवों के कितने पंजर एकत्र होंगे! कैल्शियम के अलावा मैगनीशियम, लोहा, सीसा, जस्ता, बेरियम, स्ट्राशियम, ताँबा, सोडियम आदि धातुओं के कार्बोनेट भी खनिज रूप मे मिलते हैं। अधिकतर इन खनिजों से या तो उनकी धातुओं का निर्माण होता है या उन धातुओं के अन्य लवण तैयार किए जाते हैं।

मुक्तावस्था मे कार्बन प्रकृति मे तीन रूपों में मिलता है—पत्थर का कोयला, ग्रफाइट और हीरा। कोयला प्रत्यक्षतः अमणिभ और ग्रफाइट एवं हीरा मणिभीय होते हैं। उपरोक्त अन्य दो रूपातरों की अपेक्षा पत्थर का कोयला कहीं अधिक परिमाणों मे मिलता है। पृथ्वी के गर्भ मे वह कई फीट मोटी तहों के रूप मे जमा है और इन्हीं स्तरों से खोदकर निकाला जाता है। पत्थर का कोयला न केवल आधुनिक भाप के इंजनों का ईंधन ही है, बल्कि सैकड़ों उपयोगी कार्बनिक और कुछ अकार्बनिक पदार्थों का प्रभव भी है। ये पदार्थ हवा की अनुपस्थिति में उसके 'शुष्क स्रवण' द्वारा प्राप्त होते हैं।

प्राकृतिक कोयले की उत्पत्ति का इतिहास अगणित युगों पुराना है। करोड़ों वर्ष पहले, जब मनुष्य का नाम-निशान तक न था—जब प्राणि-जगत् का विकास केवल रेंगनेवाले जानवरों तक ही सीमित था—दलदल-युक्त धरातल पर बड़े-बड़े घने और सैकड़ों फीट ऊँचे तक जंगल लगे हुए थे। उन दिनों पेड़ सभी पुष्पहीन थे—फूलों का विकास ही न हुआ था—और न गानेवाली चिड़ियाँ ही थीं और न गिलहरियाँ ही। सैकड़ों वर्ष तक इन भीषण जगलों के वृक्ष बढ़ते रहे और हर
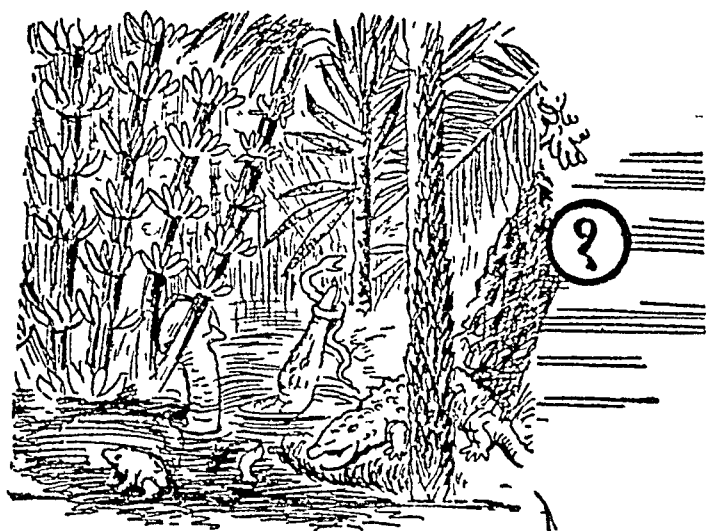
पत्थर के कोयले की उत्पत्ति

(१) पुरातन जंगल। (२) भूडोलों के कारण समुद्र में धँसा हुआ वही जंगल। (३) पहले जंगल से उत्पन्न कोयले का स्तर और उसके ऊपर जमी हुई मिट्टी पर उगता हुआ दूसरा जंगल। (४) समुद्र में धँसा हुआ दूसरा जंगल और उसके ऊपर जमता हुआ मिट्टी का स्तर। खानों में पाई जानेवाली कोयले की पट्टियों (Seams) की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।
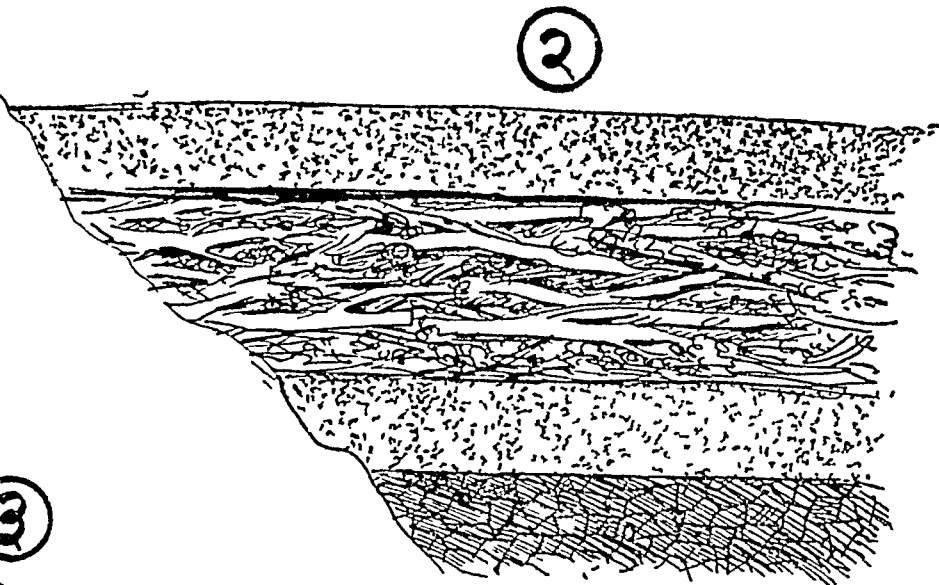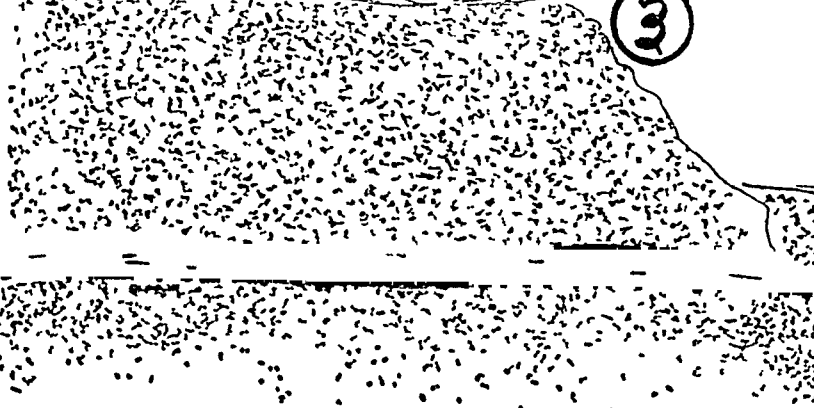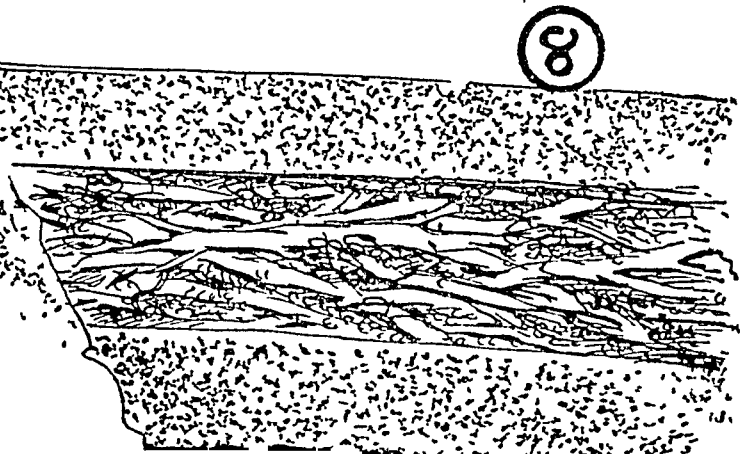
साल असख्य पत्तियाँ और वृक्षों के अन्य भाग दलदलों मे गिर गिरकर मिलते और दबते रहे, और उन पर फिर अन्य पेड़ उगते रहे। धीरे-धीरे युगों तक भौगर्भिक परिवर्त्तन होते रहने के कारण क्रमशः ये जंगल नीचे धँसकर समुद्र में डूब गए और उन पर बालू और मिट्टी की तहें जमने लगी। इसी दशा में अपने ऊपर के स्तर के भारी बोझ से दबे हुए वे हजारों वर्ष पड़े रहे। दबाव से उन वनस्पति-कलेवरों का स्तर अधिकाधिक कड़ा होता और धरती के अंदर की गर्मी के कारण झुलसता गया; यहाँ तक कि अंत में उसने कठोर चमकदार काले कोयले का रूप धारण कर लिया !

कभी-कभी यह धँसी हुई धरती फिर समुद्र-तल के ऊपर उठ आई, उन पर कोयलेवाले जंगल फिर उठे, वे फिर समुद्र में धँसे, और कोयले का एक और स्तर पूर्वानुसार तैयार हो गया। वास्तव मे, यह घटना-चक्र जितनी बार चला, कोयले के उतने ही स्तर बने। कोयले की खदानों

में इसीलिए बहुधा कई पट्टियाँ पाई जाती हैं। इन्हे अंग्रेजी मे 'सीम' (Seam) कहते हैं।

प्राकृतिक कोयले का चार प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है। ये उसकी उत्पत्ति की चार विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक होते हैं।—

(१) **पीट**—यह कोयला ढीली बनावट का, नरम, हलका और उत्पत्ति की प्रथम अवस्था में होता है। इसमें लकडी के रेशे तक रहते हैं। जहाँ सूखी लकडी में ५० भाग कार्बन, ६ भाग हाइड्रोजन और ४४ भाग ऑक्सिजन के रहते हैं, वहाँ पीट में इन तत्त्वों के क्रमशः ६०, ५·६, और ३४·१ भाग रहते हैं। इन अंकों से पीट में लकड़ी के कार्बनीकरण की अवस्था का अनुमान हो सकता है।

(२) **लिग्नाइट**—यह पीट से अधिक कड़ा, भूरे-लाल रग का तथा अत्यन्त भंगुर पदार्थ होता है, और कोयले की उत्पत्ति की दूसरी अवस्था का प्रतिनिधि है। इसमें कार्बन के ६७ और हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन के क्रमशः ५·२ और २७·८ भाग रहते हैं। यह बहुत धुआँ देता हुआ जलता है, लेकिन पीट से अधिक आँच देता है।

(३) **बिटुमिनस कोयला**—खदानों से सबसे अधिक कोयला इसी प्रकार का निकलता है। यह काला, कठोर और पथरीला होता है, और उसकी चट्टानों में बहुधा वनस्पति-कलेवरों के प्रस्तरीभूत अवशेष अपने मूल रूप में मिलते हैं। इसमें कार्बन के ८८·४ और हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के क्रमशः ५·६ और ६ भाग रहते हैं। यह तेज धुआँदार लौ के साथ जलता है और लिग्नाइट से अधिक आँचदार होता है। कोल-गैस, कोल-तार, कोक, आदि वस्तुएं इसी कोयले के शुष्क स्रवण द्वारा बनाई जाती हैं।

(४) **ऐन्थ्रासाइट**—यह पत्थर के कोयले की उत्पत्ति की अंतिम अवस्था में और उसका सबसे शुद्ध रूप होता है। इसमें कार्बन के ६४ और हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन के क्रमशः ३·५ और २·५ भाग रहते हैं। यह सबसे कड़ा और भारी, ऊँचे तापक्रम पर आग पकड़नेवाला, और बिना धुआँ की तथा सबसे अधिक आँचदार लौ के साथ जलनेवाला होता है। इसीलिए यह भाप के ब्वॉयलरों में व्यवहृत होता है।

यह स्पष्ट है कि कोयला जितना ही ठोस होता है और साथ ही साथ उसमें जितना ही अधिक कार्बन रहता है, वह उतना ही कठिनता से आँच पकड़नेवाला लेकिन उतनी ही अधिक आँचदार लौ से जलनेवाला होता है। कार्बन के मणिभीय रूप और भी ऊँचे तापक्रम पर आँच पकड़नेवाले होते हैं। ऊपर कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के भागों की जो संख्याएँ दी हुई हैं, वे केवल औसत की सख्याएँ हैं; वास्तव में, किसी भी प्रकार के कोयले के विभिन्न नमूनों में अवयवों के परिमाणों में कुछ न कुछ अंतर होता ही है। इसके अतिरिक्त पत्थर के कोयले में इन तत्त्वों के अलावा अल्पांशों में कुछ अन्य तत्त्व, विशेषतः नाइट्रोजन और गधक, भी सयुक्तावस्था में रहते हैं।

पत्थर के कोयले के विभिन्न प्रकारों तथा उनकी बनावटों से उसके पूर्वोक्त इतिहास की सत्यता स्पष्टतः प्रमाणित हो जाती है। कोयले की पट्टी के ऊपरवाले स्तर—"कोयले की छत"—में भिदी हुई वृक्षों की कार्बनीभूत शाखाएँ और उनके नीचे के स्तर में कार्बनीभूत जड़ों के अवशेष मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि कोयले के जगलों में कुछ पेड़ सीधे अर्थात् बिना गिरे ही दब गए होंगे।

कोयला संसार के बहुत-से भागों में पाया जाता है। उत्तरी अमेरिका (प्रधानतः संयुक्त राष्ट्र), ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, चेकोस्लोवेकिया, फ्रांस, रूस, बेल्जियम, जापान, चीन, भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया (न्यू साउथ वेल्स), दक्षिणी अमेरिका (चिली, कोलम्बिया, पीरू और ब्रेजिल) और दक्षिण अफ्रीका—इन सभी देशों में उसकी खुदाई होती है।

कार्बन के दो अन्य प्राकृतिक रूप, जो मणिभीय और ऐन्थ्रासाइट से भी अधिक शुद्ध होते हैं, ग्रफाइट और हीरा हैं। ग्रफाइट लगभग ६७ प्रतिशत शुद्ध कार्बन होता है। ग्रफाइट आग्नेय चट्टानों में पाया है, जिससे यह पता लगता है कि बहुत ही ऊँचे तापक्रम और दबाव के प्रभाव में कोयले के प्रायः सभी अपद्रव्य विच्छिन्न होकर निकल गए होंगे, और वह मणिभीभूत होकर ग्रफाइट के रूप में रह गया होगा। हाल ही में वैज्ञानिक कृत्रिम विधि से भीषण तापक्रम और दबाव में कार्बन को पिघलाने में सफल हुए हैं और यह देखा गया है कि ठडा होने पर यह पिघला हुआ कार्बन ग्रफाइट के रूप में ठोस होकर रह जाता है। सम्भव है कि प्राकृतिक ग्रफाइट का उत्पादन इसी प्रकार हुआ हो। एक्स-किरणों द्वारा परीक्षा से यह प्रकट होता है कि ग्रफाइट में कार्बन के परमाणु एक निश्चित ढंग से व्यवस्थित रहते हैं। उनकी मणिभता

पत्थर के कोयले की एक आधुनिक खदान का दृश्य

का कारण यही है ।* वस्तुतः मणिभ वही वस्तु होती है, जिसमे उसके परमाणु अथवा अणु एक ढग से सजे रहते हों। जिसमे यह सजाव नहीं वही अमणिभ होते हैं। हीरा भी अपने कार्बन के परमाणुओं के ऐसे ही सजाव के कारण मणिभीय होता है (दे० पृ० २६६६ का चित्र)।

ग्रफाइट की खानों की खुदाई प्रधानतः साइबेरिया, लका, इटली, सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका), मेडागास्कर, आस्ट्रिया और बेवेरिया (जर्मनी) मे होती है।

हीरा कार्बन का सबसे शुद्ध, शुभ्र और सुन्दर मणिभ रूप है। अपनी विरलता एव उत्कृष्टता के कारण वह बहुत ही मूल्यवान होता है। एक समय था जब हीरे की खुदाई केवल दक्षिण भारत में गोलकुंडा की खानों मे होती थी। यहाँ के हीरे सर्वथा पारदर्शक और रगहीन होते थे, और अपनी उत्कृष्टता के लिए ससार भर में प्रसिद्ध थे। ब्रिटेनवालों ने सबसे पहले भारतीय हीरों को ही देखा था। गोलकुंडा का सबसे प्रसिद्ध हीरा 'कोहिनूर' (प्रकाश का पर्वत) है। उसकी तौल पहले १८६ कैरट (१ कैरट = ०·२ ग्राम = ३·१७ ग्रेन = लगभग १ रत्ती) थी। वह पहले मुगल बादशाहों के पास रहकर फिर भारतीय राजाओं के पास रहा। सन् १८४६ में वह रानी विक्टोरिया को भेट कर दिया गया। वहॉ वह फिर काटा गया और उसकी तौल १०६ कैरट रह गयी। आजकल वह ब्रिटिश मुकुट मे जडा हुआ है। गोलकुंडा की हीरे की खाने अब खाली हो चुकी हैं, और आजकल हीरे की खुदाई का सबसे बड़ा काम किम्बर्ली (दक्षिण अफ्रीका) मे होता है। वहाँ हीरा प्रागैतिहासिक काल के ज्वालामुखी पहाड़ों के कूपों में भरी हुई आग्नेय चट्टानों में पाया जाता है। इन चट्टानों को 'नीली मिट्टी' कहते हैं। इन्हे खोदकर बाहर डाल दिया जाता है, जहॉ वे लगभग एक वर्ष तक पडी रहती हैं और जलवायु के प्रभाव से चूर्ण हो जाती हैं। इस चूर्ण मे से बडे-बडे हीरे हाथ से बीन लिए जाते हैं। शेष नीली मिट्टी को पानी मे मिलाकर चरबी से ढके हुए तख्तों पर से बहाया जाता है, जिससे हीरे के कण चरबी में भिद जाते हैं और मिट्टी पानी के साथ मिली हुई बह जाती है। हीरे की उत्पत्ति भी सभाव्यतः भीषण ताप और गर्मी के प्रभाव से कार्बन के मणिभूत होने से हुई होगी। किंवर्ली की खानों से निकलनेवाला सबसे बड़ा और प्रसिद्ध हीरा 'कलिनन' था। यह सन् १९०५ में टी० कलिनन की भूमि मे स्थित खान मे पाया गया था। सन् १९०७ में वह एडवर्ड सप्तम को भेंट कर दिया गया। पहले उसका वजन ३०२५।।। कैरट (१।।। पौंड) था, लेकिन बादशाह के पास आने के बाद वह दो टुकड़ों में काट डाला गया। एक का नाम 'स्टार ऑफ़ अफ्रीका' रखकर उसे बादशाह के राजदड में जड़ दिया गया है और दूसरा राजमुकुट में जड़ा है। एक दूसरे संसार-प्रसिद्ध हीरे का नाम 'होप' है। उसका वजन ४४·५ कैरट है और रंग बड़ा ही सुन्दर नीला।

हीरे मे नाना प्रकार के रंग धातव अपद्रव्यों की लेश-मात्र उपस्थिति में आ जाते हैं। भूरे और काले रग के हीरे, जिन्हें क्रमशः 'कार्बोनैडो' और 'बोर्ट' कहते हैं, सुंदर न होने के कारण आभूषणों के काम मे नहीं आते।

कार्बन की इतनी जगत्व्यापी उपस्थिति होने पर भी वह धरती के पिण्ड और वायुमडल का केवल ०·१९ प्रतिशत अश है!

कार्बन के नाना रूपों का कृत्रिम उत्पादन

कार्बन के विभिन्न प्राकृतिक रूप मानव-आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं होते, अतः उनकी पूर्ति कृत्रिम उत्पादन द्वारा की जाती है। कार्बन का कृत्रिम अमणिभ रूपातर 'चारकोल' आवश्यकतानुसार विभिन्न जीव-पदार्थों को जलाकर तैयार किया जाता है। इस प्रकार बनाए जानेवाले कोयलों मे 'लकडी का कोयला', 'कोक', 'हड्डी का कोयला' और 'काजल' प्रमुख हैं।

लकडी का कोयला हमारे दैनिक जीवन की एक साधारण वस्तु है। लकड़ी के अगारों को बुझा लेने से वह रह जाता है। बडे परिमाणों मे लकड़ी का कोयला उन जगलों में बनाया जाता है, जहॉ वह सस्ती होती है। सूखी लकडी के लट्ठे अथवा छोटे-छोटे टुकडे, बीच में हवा के लिए रास्ता छोड़ते हुए, गोल ढेर के रूप में जमा कर दिए जाते हैं। यह वायु-मार्ग चिमनी का काम करता है। कुछ छोटे

*हाल ही मे एक्स-किरणों द्वारा कोयले के शुद्ध रूपों— यथा कोक, लकडी का कोयला, काजल आदि—की परीक्षा हुई है। इससे यह पता चला है कि इनमे भी परमाणुओं की व्यवस्था लगभग वैसी ही होती है जैसी ग्रफ़ाइट मे। अंतर केवल इतना ही होता है कि उनके कण अपेक्षया बहुत ही छोटे होते है और इसी कारण वे बेचमकदार और अमणिभ दिखाई देते है। इस प्रकार कार्बन के दो ही रूपांतर (ग्रफ़ाइट और हीरा) होते हुए भी कोयले को 'अमणिभ' कहकर उसका पृथक् वर्णन इसलिए आवश्यक है कि उसके गुण मणिभीय रूपातरों के गुणों से बहुत भिन्न होते है।

सूराख पेंदे पर भी छोड़ दिए जाते हैं, जिनमे से हवा भीतर जाती है। तब घास मिली हुई मिट्टी से यह राशि ढक दी जाती है और बीच के मार्ग से उसमे आग लगा दी जाती है। केवल उतनी ही हवा भीतर जाने दी जाती है, जिससे लकड़ी सुलगती रहे, अर्थात् उसके अन्य वाष्पशील पदार्थ निकल जायँ, किन्तु कोयला कम-से-कम जले। कुछ दिनो के बाद जब बीच के वायु-मार्ग से निकलती हुई धुएँदार पीली लौ के स्थान मे कार्बन-मोनॉक्साइड की धूम्रहीन नीली लौ जलने लगती है तो मालूम हो जाता है कि लकड़ी पूर्णतः कोयले में बदल गई है। तब सब वायुद्वारों को बद कर दिया

लकड़ी के कोयले का बड़े परिमाण में उत्पादन

जाता है जिससे कोयला बुझ जाता है। इस प्रकार लकड़ी के भार का लगभग २० प्रतिशत कोयला बनता है।

यदि हवा की अनुपस्थिति मे लकड़ी ऊँचे तापक्रम पर लोहे के रिटार्ट में गर्म की जाय तो उसके विभिन्न वाष्पशील पदार्थ इकट्ठे किए जा सकते हैं। इस विधि को लकडी का 'शुष्क स्रवण' अथवा 'विनाशकारी स्रवण' कहते हैं। इसमें न केवल लकड़ी के भार का २५ प्रतिशत कोयला ही रिटार्ट मे बच रहता है, बल्कि लकड़ी की गैस, मेथिल अल्कॉहल, सिरके की अम्ल (ऐसिटिक ऐसिड) और लकड़ी का अलकतरा नामक उपयोगी कार्बनिक पदार्थ भी प्राप्त होते हैं। इसका विस्तृत वर्णन हम आगे कभी करेंगे। लकडी का कोयला बनाने की यह विधि आधुनिक है। इसमे लकड़ी का कोई अंश बेकार नहीं जाने दिया जाता।

लकड़ी के चूल्हे पर गर्म किए जाने से बर्त्तन पर जो काला चिकटा पदार्थ जम जाता है, वह लकड़ी का अलकतरा ही होता है। बर्त्तन से यह मुश्किल से छूटता है। तवे का तापक्रम अलकतरे के घनीभूत होने के तापक्रम से अधिक ऊँचा होता है, इसलिए उस पर अलकतरा नहीं, केवल काजल ही जमता है, जो आसानी से छूट जाता है। तवे का माँजना बटलोई के माँजने से इसीलिए अधिक आसान होता है। जिन रसोइयों मे लकड़ी का ईंधन काम में आता है, उनकी दीवाले, दरवाजे तथा उनमे हमेशा रक्खी जानेवाली वस्तुओं पर भी लकडी के अलकतरे की एक भूरी अथवा काली चिकनी तह जम जाती है, यह आपने देखा होगा। लकड़ी का कोयला अथवा कोक के प्रयोग से बर्त्तन, दीवाले आदि उस तरह काली नही होती और न धुआँ ही होता है, कारण इनमें से कार्बन के अलावा अन्य वाष्पशील पदार्थ निकल चुके होते हैं।

लकड़ी का कोयला छिद्रमय होता है और इसके छेदों में हवा रहती है। इसीलिए उसका घनत्व पानी से कम

हो जाता है और वह उस पर तैरता है। यदि एक बोतल मे पानी लेकर कोयले का एक टुकड़ा उसमे छोड़ दिया जाय और फिर पंप द्वारा उस बोतल की हवा निकाल दी जाय, तो कोयले से हवा के बुलबुले निकलते हुए दिखाई देगे और वह धीरे धीरे पानी मे बैठ जायगा। कोयले के छेदों से हवा निकल जाने पर उनमे पानी भर जाता है और वह पानी से भारी हो जाता है। वायुरहित कोयले का विशिष्ट घनत्व लगभग १·५ होता है, अर्थात् वह पानी से लगभग ड्योढा भारी होता है।

लकडी का कोयला केवल ईंधन ही नहीं है, वह कई अन्य कामों में भी आता है। अत्यत छिद्रमय होने के कारण उसमे गैसों और वाष्पों को शोषित कर लेने की अद्भुत सामर्थ्य होती है। जो गैस जितनी ही सरलता से घनीभूत होनेवाली होती है, अर्थात् जिस गैस का क्थनाक जितना ही कम होता है, वह गैस उतनी ही अधिक तत्परता के साथ और अधिक मात्रा में लकड़ी के कोयले मे अधिशोषित होती है। अपने इसी गुण के कारण लकडी का कोयला पानी साफ करने (दे० पृ० ५३८) तथा गैस-मास्क मे गैसों का शोषण करने के लिए प्रयुक्त होता है। गैसों को शोषित करने की सबसे अधिक सामर्थ्य नारियल आदि फलों के खपटो अथवा बेंत की लकड़ी के कोयले में होती है, इसलिए गैस-मास्कों में यही कोयला काम आता है (दे० पृ० १७६७-६८)। दाँत का मजन बनाने में बहुधा लोग बादाम के छिलको के कोयले को काम में लाते हैं, वह भी अकारण नहीं। जब काम में लाए गए कोयले की शोषण-शक्ति जाती रहती है तो यह हवा की अनुपस्थिति मे फिर से रक्त-तप्त किया जाता है। ऐसा करने से उसमे से शोषित द्रव्य निकल जाता है,
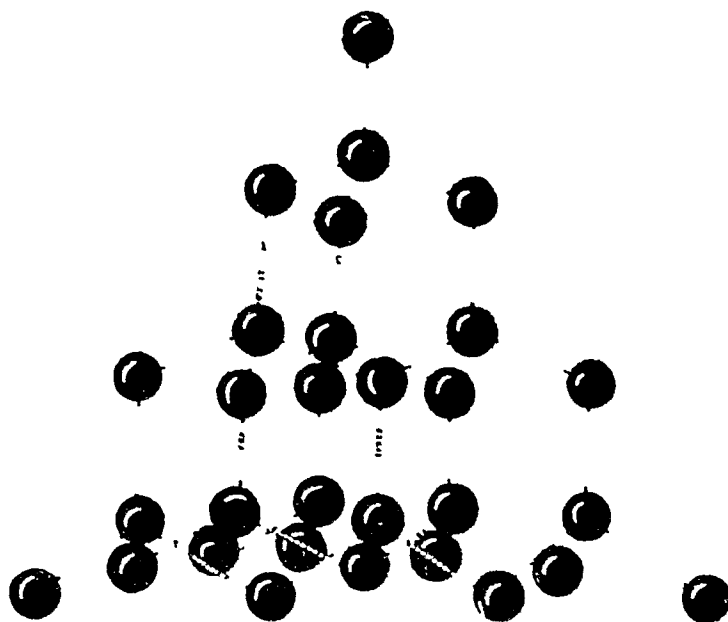
हीरा मे कार्बन के परमाणुओ का सजाव
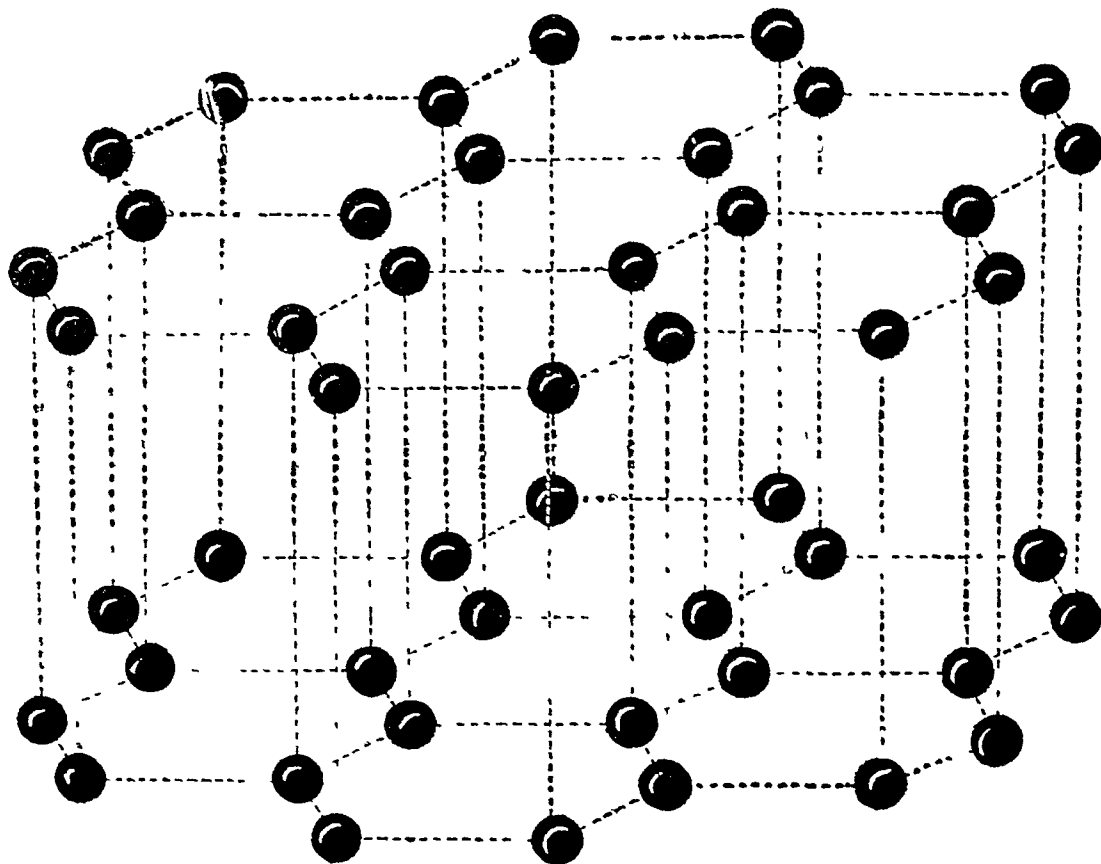
ग्रफाइट मे कार्बन के परमाणु दूसरे ही ढंग से स्थित रहते है। हीरा और ग्रफाइट का अंतर परमाणुओं के सजाव की विभिन्नता के ही कारण होता है।

और वह फिर क्रियाशील हो जाता है। पानी को साफ़ करने का कोयला भी समय समय पर बदल देना चाहिए, नही तो उसके द्वारा शोषित गंदगी कीटाणुओं के पनपने का आधार बन जाती है।

पिछले संसारव्यापी युद्ध के समय से पेट्रोल की कमी के कारण मोटरकारें 'चारकोल गैस-प्लांटों' द्वारा चलाई जाती हैं। इनमें इंजिन में जलनेवाला कार्बन मोनॉक्साइड का गैसीय ईंधन लकड़ी के कोयले पर हवा की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

लकड़ी का कोयला ताप और विद्युत् का परिचालक नहीं होता, इसलिए उसका उपयोग बिजली की सेलों तथा अन्य यन्त्रों के बनाने में नही होता।

'हड्डी का कोयला' अथवा 'प्राणि-चारकोल' हड्डियों को लोहे के रिटार्टों में गर्म करके बनाया जाता है। हड्डियों के वाष्पशील पदार्थ स्रवित होकर अन्य पात्रों मे इकट्ठे हो जाते हैं और रिटार्टों मे केवल हड्डी का कोयला रह जाता है। इसमें अमणिभ कार्बन केवल १० प्रतिशत ही रहता है, शेष ८० प्रतिशत कैल्शियम फ़ास्फेट और १० प्रतिशत कैल्शियम कार्बोनेट आदि होते हैं। इस कोयले में घोलों मे से गदी गैसों और रंगदार घुले हुए द्रव्यों को शोषित कर लेने की विलक्षण शक्ति होती है। गुड़ के शरबत अथवा नील या कोई कार्बनिक रंग के घोल में हड्डी का कोयला मिला दीजिए, और मिश्रण को खूब चलाकर छन्ना काग़ज से छान लीजिए। आप देखेंगे कि स्वच्छ रंगहीन शर्बत अथवा पानी ही छनकर निकलता है। उसी प्रकार हाइड्रोजन सल्फाइड आदि कोई गधयुक्त गैस पानी में घोलकर और उसमें हड्डी का कोयला मिलाकर उसे छान लीजिए, तो छनता हुआ पानी बिल्कुल गधहीन होगा। अपने इसी गुण के कारण हड्डी का कोयला शक्कर आदि को साफ़ करने में उपयुक्त होता है। भारतवर्ष मे इसका व्यवहार शक्कर की मिलों में बहुत कम होता है; कारण, अधिकतर हिंदू उसे अपवित्र समझते हैं (दे० पृ० २०६६)। प्रयुक्त प्राणि-चारकोल को लोहे मे रक्त-तप्त करने से वह फिर क्रियाशील हो जाता है।

हड्डी के कोयले को हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के घोल के साथ उबालने से उसके कैल्शियम फास्फेट आदि लवण घुल जाते हैं और छानने से प्रायः शुद्ध चारकोल निकल आता है। उसे 'आइवरी ब्लैक' (Ivory black) कहते हैं, क्योंकि यह रँगने के काम में आता है। वध किए हुए जानवरों के रुधिर को हड्डी की तरह रिटार्टों में जलाने से 'रुधिर का कोयला' बनाया जाता है। इसमे भी हड्डी के कोयले जैसे गुण होते हैं।

'काजल या कालिख' मिट्टी के तेल के लैम्पों के ऊपरी ढक्कन के भीतर जमा हुआ मिलता है, इसीलिए अंग्रेजी में इसे 'लैम्प-ब्लैक' कहते हैं। बग़ैर चिमनी के चिराग़ों और लैम्पों की लौ से काजल अधिक मात्रा में निकलता है, कारण चिमनी की अनुपस्थिति में लौ को निरंतर वायुधारा नही मिलती और तेल का बहुत-सा कार्बन बिना जले ही निकल जाता है। बड़े परिमाणों में काजल मिट्टी का तेल, तारपीन का तेल, अलकतरा, मोम आदि ऐसे कार्बनिक पदार्थों को अपर्याप्त हवा में जलाकर बनाया जाता है, जो कार्बन के धनी होते हैं। इनके धुएँ को एक ऐसे कोठे मे ले जाया जाता है, जिसमे मोटे कंबल लटके रहते हैं। धुएँ से काजल के कण कंबलों के पृष्ठ पर निक्षिप्त हो जाते हैं। आधुनिक विधि मे धुआँ ऐसे कोठे में प्रविष्ट होता है, जिसमे धातु के प्लेट और उनके बीच-बीच में धातु के बने तार लटके रहते हैं। प्लेट और तार ऊँचे वोल्टेज (२०,००० वोल्ट) की बिजली से आविष्ट कर दिए जाते हैं, और प्लेटों पर वही आवेश रक्खा जाता है, जो धुएँ के कणों के आवेश से विरुद्ध हो। काजल के कण कोठे में पहुँचकर प्लेटों की ओर आकर्षित हो जाते हैं और उन पर लगकर विसर्जित हो जाते हैं। इस प्रकार निरंतर निक्षेप द्वारा जब काजल के कण बड़े हो जाते हैं तो वे झड़कर कोठे की फ़र्श पर जमा होने लगते हैं।

अमेरिका मे काजल प्राकृतिक गैस को जलाकर तैयार किया जाता है। एक कुण्डलाकार नली के छेदों से निकलकर गैस जलती है, और इस प्रकार जलती हुई अनेकों ज्वालाओं से निकलती हुई कालिख ऊपर घूमते हुए लोहे के एक पात्र के बाहरी पृष्ठ पर जमती और चाकू द्वारा खुरचकर एक शकु-रूप 'हॉपर' में गिरती हुई थैलों मे इकट्ठी होती रहती है। इस प्रकार बने हुए काजल को 'गैस ब्लैक' या 'कार्बन ब्लैक' कहते हैं।

टायर बनाने की रबड़ में बहुत-सी कालिख छोड़ी जाती है। लिखने, रँगने और छापने की काली स्याहियाँ और जूते की पालिश बनाने मे भी उसका उपयोग होता है।

कालिख मे थोड़े-से तैलीय अपद्रव्य रहते हैं। उसे क्लोरीन गैस की धारा मे गर्म करने से वे भी निकल जाते हैं और सर्वथा शुद्ध कार्बन बन जाता है।

काजल के अत्यन्त छोटे कणों के बीच हवा भिदी रहने से वह बहुत ही हलका होता है, किंतु वायुमुक्त अवस्था में वह भी पानी से १·७ गुना भारी होता है। ताप और विद्युत् का यह भी परिचालक नहीं होता।

शकर के ताप-विच्छेदन द्वारा जो कार्बन रह जाता है, उसे 'शकर का कोयला' कहते हैं। यह सबसे शुद्ध चारकोल होता है, और जो रही-सही हाइड्रोजन का लेश मात्र उसमे रह जाता है वह क्लोरीन में गर्म करने से उससे निकल जाता है। इस कोयले का प्रयोग रसायन में शत प्रतिशत शुद्ध कार्बन की भाँति होता है। उसके जल जाने पर जरा भी राख नहीं बचती।

पत्थर के कोयले को रिटार्ट मे हवा की अनुपस्थिति में गर्म करने से विभिन्न गैसीय तथा वाष्पशील पदार्थ निकल जाते हैं और एक छिद्रमय हलका कोयला बच रहता है, जिसे 'कोक' कहते हैं। उस कोक के गुण पत्थर के कोयले की क़िस्म और उसके गर्म करने की अवस्थाओं पर निर्भर रहते है, लेकिन प्रधानतः उसका वर्गीकरण दो प्रकारों मे किया जाता है—'सॉफ्ट कोक' और 'हार्ड कोक'। पहली किस्म काली, और दूसरी गहरी भूरी, अधिक भारी, बहुत चमकदार और अत्यधिक दबाव पर टूटनेवाली होती है। 'साफ्ट कोक' घरों मे ईंधनों के काम आता है और 'हार्ड कोक' धातुओं के निर्माण मे ऑक्साइडों को धातुओं मे अवकृत करने, भट्ठियों मे जलाने और विभिन्न निर्माण-विधियों मे मीनारों को भरने के काम आता है।

भारतवर्ष के शहरों मे इधर लगभग दस वर्षों से 'साफ़्ट कोक' ईंधन का घरेलू प्रचार बहुत हुआ है। यह मुश्किल में आँच पकड़ता है, लेकिन एक बार दहक उठने के बाद बेधुआँदार तेज आँच के साथ बहुत देर तक जलता है। पेट्रोलियम के अलकतरे के स्रवण से जो पदार्थ बच रहता है, उसे 'पेट्रोलियम कोक' कहते हैं। यह घरेलू ईंधन और ग्रफाइट बनाने के काम में आता है।
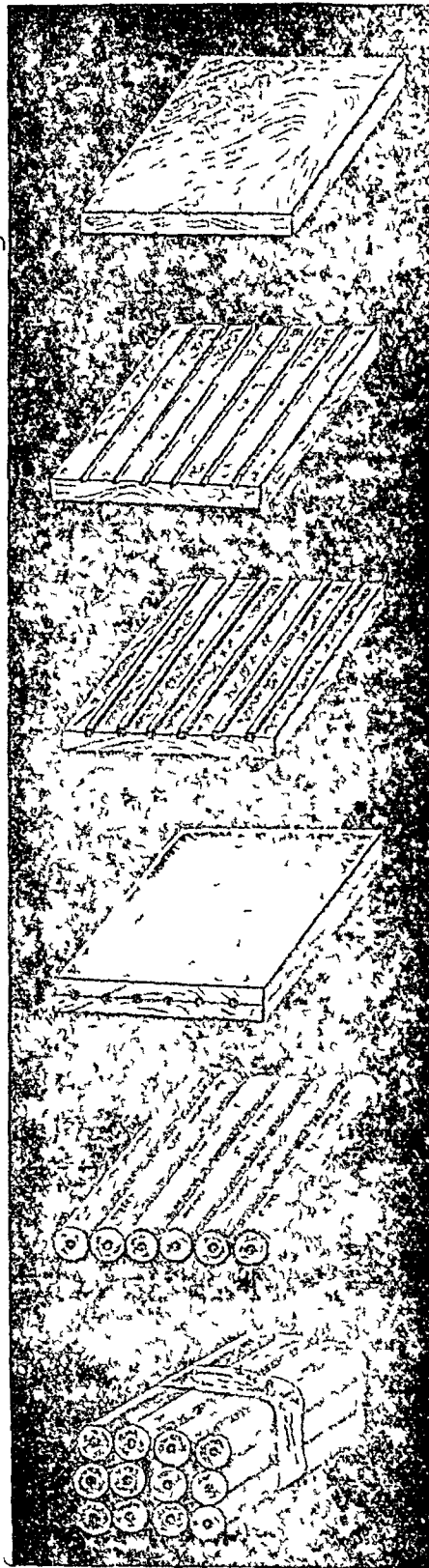
पेन्सिलों का निर्माण
लकडी के तख्ते मे सूराख करके, फिर उसे बीच से काट कर और इस प्रकार बनी हुई नालियों में ग्रफाइट की बत्तियाँ लगाकर पेन्सिले किस प्रकार तैयार की जाती है, यह इस चित्र मे प्रदर्शित है।

जिन रिटार्टों में पत्थर का कोयला गर्म किया जाता है, उसके भीतरी पृष्ठ के ऊपरी भागों मे एक कठोर प्रकार का कार्बन जम जाता है। इसे 'गैस कार्बन' कहते हैं। यह प्रायः शुद्ध कार्बन और पानी से लगभग ढाई गुना भारी होता है। यह कार्बन ताप और बिजली का अच्छा सचालक होता है। अतः अपने इस विशेष गुण के कारण वह बिजली की सेलों, भट्टियों, आर्कलैम्पों आदि के इलेक्ट्रोड बनाने के काम में आता है।

कार्बन के मणिभीय रूपांतरों का कृत्रिम निर्माण बिजली के उपयोग से किया जाता है। ग्रफाइट अमेरिका के नियाग्रा प्रपात के निकट, बिजली अत्यन्त सस्ती होने के कारण, बनाया जाता है। पिसा हुआ पेट्रोलियम-कोक अथवा एंथ्रासाइट कोयला थोडी-सी बालू के साथ मिलाकर बिजली की एक आयताकार भट्टी में भर दिया जाता है। इसे बालू और कोयले के मिश्रण से ढककर बिजली की प्रबल आती जाती धारा (ए० सी०) द्वारा २४ से ३० घण्टे तक उत्तप्त करते रहते हैं। यह धारा कार्बन के दो दडो के बीच रुकती हुई कार्बन की छड़ों से होकर प्रवाहित होती है। भट्टी का तापक्रम ३५०० °C तक पहुँचता है और उसमे

ऐसी रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, जिनसे कार्बन ग्रफ़ाइट मे बदल जाता है। बालू अर्थात् सिलिकन डाइ-ऑक्साइड (SiO_2) पर कार्बन की क्रिया द्वारा सिलिकन कार्बाइड (SiC) बनता है और बालू की ऑक्सिजन कार्बन के सयोग से कार्बन मानॉक्साइड गैस (CO) में परिणत होकर निकल जाती है। भट्टी के ऊँचे तापक्रम पर सिलिकन कार्बाइड सिलिकन और ग्रफाइट-रूप कार्बन मे विच्छिन्न हो जाता है। सिलिकन वाष्प-रूप मे उड़ जाता है और ग्रफ़ाइट रह जाता है।

ग्रफाइट का रंग भूरा काला होता है और उसमें धातुओ की-सी चमक होती है। पानी से वह २। गुना और लकड़ी के कोयले से लगभग ड्योढ़ा भारी होता है। वह बहुत ही कोमल और छूने में चिकना होता है—उसके अणु एक दूसरे पर से अत्यन्त सरलता से फिसल सकते हैं। इसीलिए वह मशीनों में दिये जानेवाले तेल के स्थान में व्यवहृत होता है। कृत्रिम ग्रफ़ाइट बहुत ही शुद्ध और कंकड़ी-रहित होता है। धातुपृष्ठो को चिकनाने और दानेदार बारूद को पालिश करने के लिए भी वह उपयुक्त होता है। कोमल होने के कारण ग्रफ़ाइट द्वारा काग़ज़ पर लिखा जा सकता है। ग्रीक भाषा मे 'ग्रफीन' का अर्थ 'लिखना' होता है, अतः ग्रफाइट का नाम अपने इसी गुण पर पडा है। अपने इसी गुण के कारण वह पेन्सिल बनाने में उपयुक्त होता है। इस काम के लिए प्राकृतिक ग्रफ़ाइट का व्यवहार होता है। पहले इसे पीस और धोकर उसमे यदि कोई कंकड़ियाँ हुईं तो निकाल डाली जाती हैं। फिर सुखाकर उसे कंकड़ीरहित चिकनी मिट्टी के साथ अत्यन्त महीन पीस लिया जाता है। बत्तियों को बनाने में इस मिश्रण को पानी के साथ गूँधकर जलप्रेरित दबाव द्वारा गोल छेदों मे से निकाला जाता है। इन्हे सुखाकर पेन्सिल की लम्बाई के बराबर के टुकड़ों में तोड़ लिया जाता है। पेन्सिल को जितनी ही कड़ी (हार्ड) बनाना होता है, उतनी ही अधिक चिकनी मिट्टी ग्रफाइट के साथ मिलाई जाती है। सबसे कड़ी अर्थात् "H H H H" और "H H" पेन्सिलों मे सबसे अधिक चिकनी मिट्टी रहती है और सबसे नरम अर्थात् "H B" और "B B" पेन्सिलों में सबसे कम। बत्तियों को किसी लकड़ी से ढक कर मशीनों द्वारा पेन्सिलें किस प्रकार तैयार कर ली जाती हैं, यह पृ० २६६८ के चित्र से स्पष्ट है। सीसे की तरह चमकदार और भूरी-काली होने के कारण पहले लोग ग्रफाइट को 'प्लम्बैगो' और 'काला सीसा' के नाम से पुकारते थे—वे यह न पहचान सके थे कि वह कार्बन का एक प्रायः शुद्ध रूपांतर है। इसीसे पेन्सिलों को अबतक लोग 'ग्रफ़ाइट पेन्सिल' न कहकर 'लेड पेन्सिल' ही कहते हैं, यद्यपि पेन्सिल मे सीसे (लेड) का नाममात्र भी नही होता!

ग्रफाइट ताप और बिजली का अच्छा सचालक होता है, इसी कारण वह बिजली के कोष्ठों और भट्टियों के इलेक्ट्रोडों (विद्युत् द्वारों) के बनाने में बहुत काम आता है। विद्युत्-मुद्रण* मे भी इसीलिए उसका उपयोग होता है। ग्रफाइट, चिकनी मिट्टी और बालू का मिश्रण धातुओं को पिघलाने की मूषाएँ (घरियाँ) बनाने और कैल्शियम, अलुमीनियम आदि धातुओं का निर्माण करनेवाले विद्युत्-कोष्ठो की भीतरी सतह को मढ़ने मे व्यवहृत होता है।

हीरे के कृत्रिम उत्पादन की विधि का आविष्कार फ़ास के रसायनशास्त्री मोयसाँ ने सन् १८९३ में किया था। उसने बिजली की एक भट्टी में लोहे और कुछ शुद्ध कार्बन (शकर के कोयले) का मिश्रण ग्रफ़ाइट की मूषा मे रखकर लगभग ३५००°C तक गर्म किया। लोहा लगभग १५००°C पर ही पिघल जाता है और पिघले हुए लोहे मे कार्बन घुल जाता है। अतः इस प्रकार तरल लोहे में कार्बन का एक घोल तैयार हो गया। इस मूषा को पिघले हुए शीशे (३२७°C) में बुझा लिया गया। इससे पिघले हुए मिश्रण की बाहरी तह जमकर ठोस और दृढ़ हो गई। कार्बनयुक्त पिघला हुआ लोहा ठंडा होने पर प्रसारित होता है, किन्तु ऊपरी तह के ठोस लोहा में परिणत हो जाने के कारण अन्दर के पिघले हुए द्रव्य को प्रसार के लिए स्थान न मिल सका। अतएव अन्दर इतना घोर दबाव पैदा हुआ कि ठंडा होने पर कार्बन अपने अधिक घने रूपो—ग्रफ़ाइट और हीरा—में मणिभित हो गया। जमे हुए लोहे को ठंडा हो जाने के बाद हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में छोड़ दिया गया, जिससे लोहा घुल गया और ग्रफाइट, काले हीरे (बोर्ट) और रंगहीन हीरे बच रहे। इस विधि से बहुत ही छोटे-छोटे हीरे बनते हैं, उनका व्यास $\frac{1}{2}$ मिलीमीटर तक भी मुश्किल से पहुँचता है।

*छपाई की इस विधि में मोम अथवा दूसरे पदार्थ का बना हुआ साँचा ग्रफ़ाइट के एक पृष्ठ से ढक लिया जाता है और उस पर बिजली द्वारा ताँबा धातु अथवा अन्य धातु विक्षिप्त कर ली जाती है। इस प्रकार ढले हुए टाइपों के पीछे सीसा अथवा ऐसी ही कोई अन्य धातु उन्हें मजबूत करने के लिए लगा ली जाती है। फिर उनसे छपाई होती है।
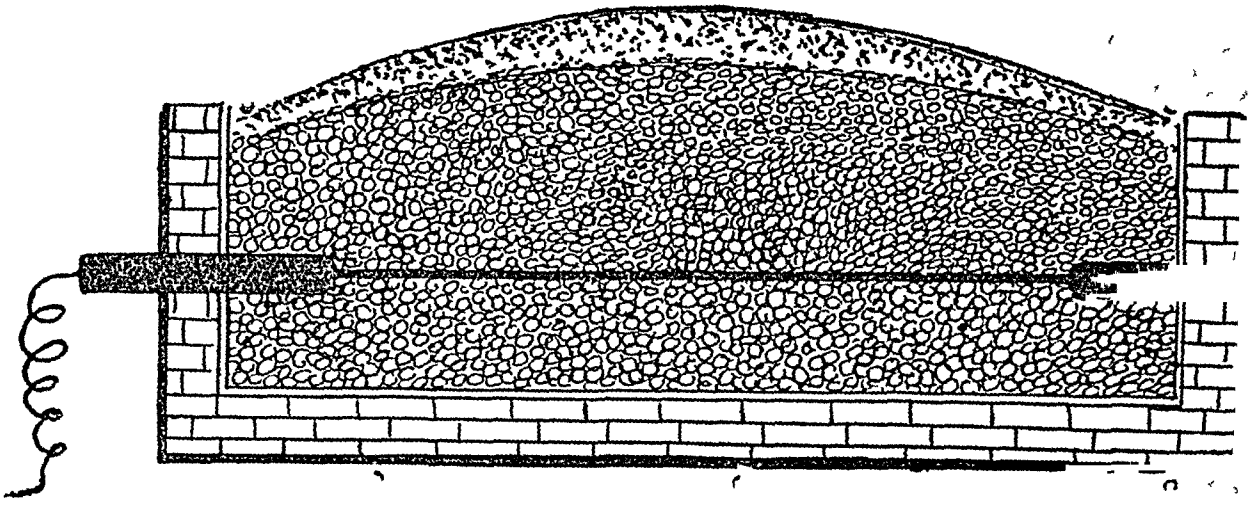
कोयले को ग्रफ़ाइट मे परिणत करनेवाली बिजली की भट्टी

इसमें बालू और पेट्रोलियम-कोक अथवा ऐंथ्रासाइट कोयले का मिश्रण ३२००°C तक गर्म होता है। कार्बन से संयुक्त होकर बालू (सिलिकन-डाइऑक्साइड) की ऑक्सिजन कार्बन मोनॉक्साइड के रूप में निकल जाती है और सिलिकन कार्बाइड में बदल जाता है। तापक्रम ऊँचा उठाने पर यह कार्बाइड विच्छिन्न हो जाता है। सिलिकन बाष्प रूप में उड़ जाता है और कार्बन ग्रफ़ाइट रूप में रह जाता है। आविष्कर्त्ता के नाम पर इस विधि को 'एचिसन की विधि' कहते हैं।

हीरा ससार की कठोरतम वस्तु है। काले हीरे नगीनों के काम के नही होते, इसीलिए वे कड़े पत्थर तथा शीशा काटने और पत्थरों में सूराख करने की बर्मियों के बनाने में व्यवहृत होते हैं। इन्हीं का चूर्ण रगहीन हीरों को चिकनाने में भी काम आता है। हीरा कार्बन के अन्य सभी रूपों से घना होता है—उसका आपेक्षिक घनत्व ३·५ होता है। पारदर्शक वस्तुओं में हीरे की वर्त्तकता (प्रकाश-किरणों के मार्ग को मोड़ देने की शक्ति) सबसे ऊँची होती है। शीशे का वर्त्तनांक १·५० तो हीरे का २·४५ होता है। इसीलिए बहुत-सी प्रकाशकिरणें उसके पृष्ठ पर से लौट आती हैं और वह चमकने लगता है। आभूषणों में व्यवहार के लिए हीरा ऐसे रूप में काटा जाता है कि उसमें से प्रकाश का परावर्त्तन अधिकतम हो। कोहिनूर का १८६ कैरट से १०६ कैरट में काटा जाना इसीलिए आवश्यक था। एक्स - किरणों के लिए हीरा पारदर्शक और शीशा अपारदर्शक होता है। दोनों वस्तुओं के भेद की परीक्षा इस प्रकार सरलता से हो सकती है। हीरा शीशे की भाँति बिजली का संचालक नही होता।

रासायनिक गुण

कार्बन तत्त्व, चाहे वह किसी भी रूप में हो, ऑक्सिजन से संयुक्त होकर अपनी आक्साइडों में बदल जाता है। ऑक्सिजन की अपर्याप्त मात्रा में कार्बन मोनॉक्साइड (CO) और उसकी अधिकता में कार्बन डाइआक्साइड (CO_2) उत्पन्न होती है। कार्बन-ऑक्सिजन का संयोग तापोत्पादक होता है, और घरेलू अँगीठियों और चूल्हों, कारखानों की भट्टियों और इंजिनों के ब्वॉयलरों में यही ताप व्यवहृत होता है। कार्बन के विभिन्न रूप विभिन्न तापक्रमों पर आँच पकड़ते हैं। जो रूप जितना ही छिद्रमय, हलका और असंगठित बनावट का होता है, उतने ही कम तापक्रम पर आँच पकड़नेवाला और सरलता से जलनेवाला होता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी का कोयला सबसे अधिक सरलता से, साफ्ट कोक अधिक कठिनता से और ग्रफ़ाइट तथा हीरा अधिकतम कठिनता से आग पकड़ते हैं। जहाँ कार्बन के अमणिभ रूप ५००°C के नीचे तक ही गर्म करने पर जलने लगते हैं, वहाँ ग्रफाइट ६५०°C तक और हीरा ८५०°C तक गर्म करने पर जलते हैं।

कार्बन केवल मुक्त ऑक्सिजन से ही नहीं, वरन् तप्तावस्था में धातुओं की ऑक्साइडों से भी ऑक्सिजन निकालकर उससे संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार धातुओं की आक्साइडें धातुओं में बदल जाती हैं। इसी अल्पकारी गुण के कारण कोक लोहा, जस्ता, राँगा, सीसा आदि धातुओं और फास्फरस अधातु के उत्पादन में व्यवहृत होता है। रक्त-तप्त कार्बन भाप से भी ऑक्सिजन निकालकर उससे संयुक्त हो जाता है:—

$$H_2O + C = H_2 + CO$$
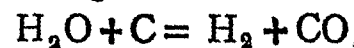
इस प्रकार हाइड्रोजन और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों का मिश्रण ईंधन के काम में लाया जाता है। ये दोनों गैसें प्रज्वलनशील होती हैं, और उनके मिश्रण को जल की क्रिया
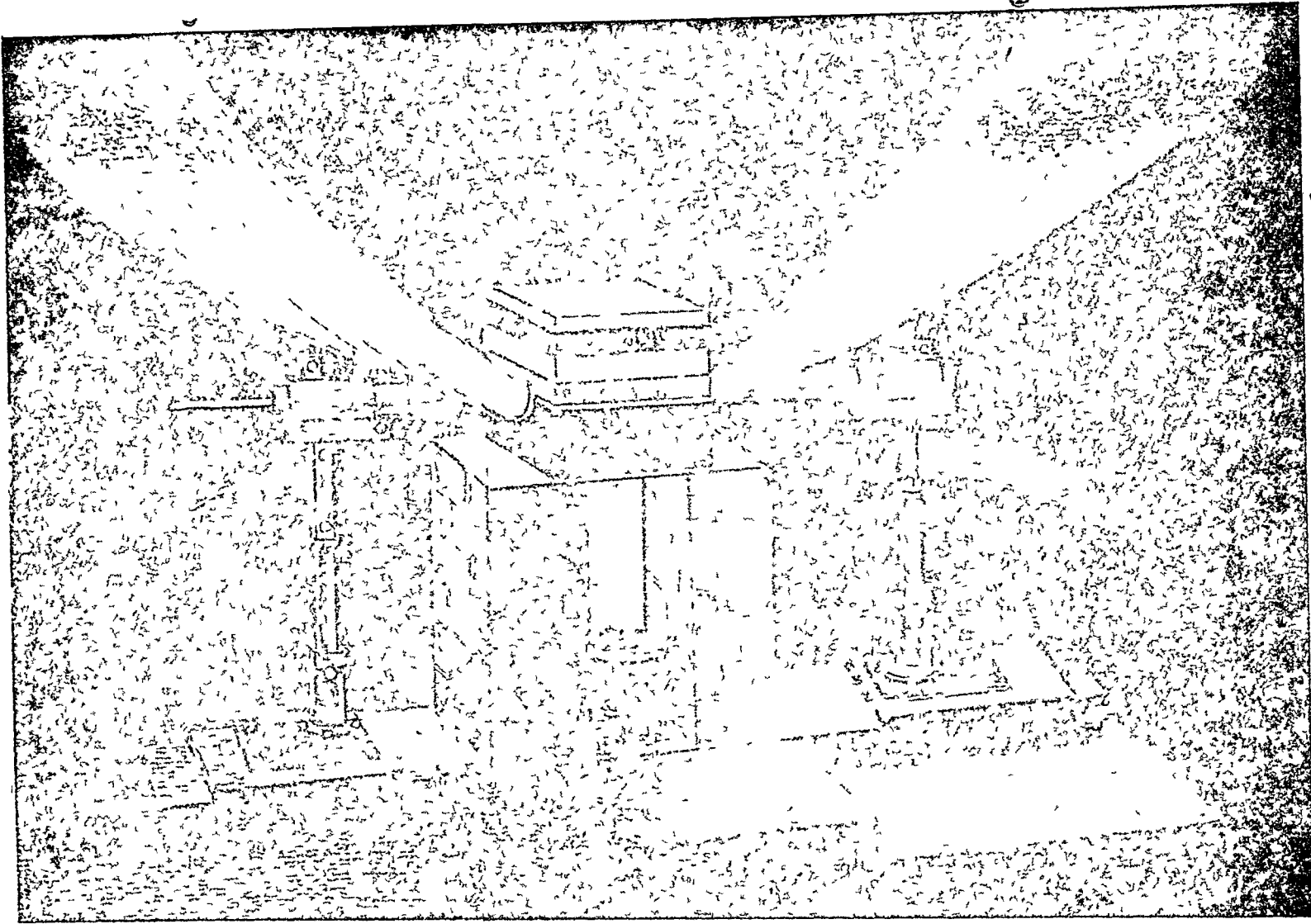
मोयसाँ की बिजली की भट्टी

इसी भट्टी के उपयोग से मोयसाँ ने कोयले से हीरे का कृत्रिम उत्पादन किया था । कार्बन अथवा ग्रफ़ाइट के दंड, जो विद्युत-द्वारों का काम करते है, पहले से खिसकाकर एक दूसरे से लगा दिए जाते हैं । विद्युत्-धारा को खोलकर जब वे अलग किए जाते है तो उनके बीच में दमकते हुए कार्बन वाष्प का एक बिजली का चाप उत्पन्न हो जाता है । इसका तापक्रम ३५००°C तक जाता है ।

से प्राप्त करने के कारण पानी की गैस (Water gas) कहते हैं ।

रक्ततप्त कार्बन गंधक के वाष्प से सयुक्त होकर कार्बन डाइसल्फाइड मे परिणत होता है । यह द्रव कार्बनिक पदार्थों का एक महत्त्वपूर्ण घोलक है और विषाक्त होने के कारण चूहों और कीड़ों को मारने में व्यवहृत होता है ।

अद्भुत तत्त्व

अपनी किस विशेषता के कारण कार्बन जीव-जगत् के तत्त्वों का नायक बन बैठा है ? इस प्रश्न का उत्तर सन् १८३१ से लेकर सन् १८६५ तक के कालांतर में जर्मनी के प्रसिद्ध रसायनशास्त्रियों फ्रेडरिश वोलर, जस्टस वॉन लीबिग और फ्रेडरीश आगस्ट केकुले के वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा दिया जा सका । कार्बनिक रसायन के विकास का श्रेय वास्तव में जर्मनी को ही प्राप्त है, और यही कारण है कि गत महायुद्ध के पहले तक रगों आदि कार्बनिक पदार्थों के निर्माण मे वह अगुआ रहा है । सन् १८५८ मे केकुले ने यह बताया कि चार सयोजन-शक्तियोंवाले कार्बन के परमाणु मे परस्पर छोटी अथवा बड़ी लड़ियों के रूप मे संबद्ध हो जाने की अद्भुत सामर्थ्य होती है—

$$- \overset{|}{\underset{|}{C}} - \overset{|}{\underset{|}{C}} - \overset{|}{\underset{|}{C}} - \overset{|}{\underset{|}{C}} - \overset{|}{\underset{|}{C}} -$$
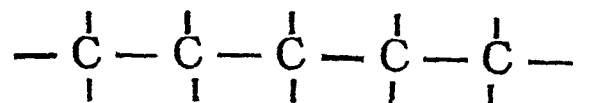
न जाने कितने कार्बनिक यौगिकों के अणुओं मे कार्बन-परमाणुओं की इस प्रकार की छोटी-बड़ी शृखलाएँ रहती हैं । कार्बन परमाणुओं के आस-पास शेष सयोजन बंधकों द्वारा उन शृंखलाओं से हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हैलोजन, आदि कुछ तत्त्व एक-एक अथवा समूहों में नाना

प्रकार से सबद्ध होकर विभिन्न अणुओं की रचना करते हैं। सन् १८६५ मे केकुले ने यह भी बताया कि बहुधा छः-छः कार्बन परमाणुओं की लड़ियाँ फिर अपने से जुड जाती हैं। अपने इन अनुसधानों में मस्त रहता हुआ केकुले बहुधा ध्यान-मग्न हो जाता था और सोते हुए इसी सबध में स्वप्न देखा करता था। तब परमाणु नाना प्रकार से उसके सामने नाच उठते थे। अपने एक ध्यान मे उसने कार्बन-परमाणुओं को मुक्त लड़ियों मे जुड़ते हुए देखा था। जब भी वह ऐसे स्वप्न देखता, तो जागने पर उनके रेखा-चित्र बना लेता। एक बार उसने स्वप्न में देखा कि कार्बन-परमाणुओं की एक जजीर के सिरे आपस में जुड़ गए—एक सर्प ने अपनी ही पूँछ को मुँह में दाब लिया। बेञ्जीन (C_6H_6 दे० पृ० १६६०) के अणु की छः कार्बन-परमाणुओं की बद्ध श्रृखलाओं का आविष्कार इसी प्रकार से हुआ। उसने इस लड़ी को षटकोण के आकार में प्रकट किया। इस स्वप्न को उसने प्रकाशित तभी किया, जब प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर लिया कि वह सच्चा था। उसके कथनानुसार हमे अपने ऐसे स्वप्नों को तभी प्रकाशित करना चाहिए, जब हम जागते हुए उनकी सत्यता को प्रमाणित कर लें। जिन यौगिकों मे कार्बनों की केवल खुली लड़ियाँ रहती हैं, उन्हे 'मुक्तश्रृंखल यौगिक' और जिनमें बद लड़ियाँ रहती हैं उन्हें 'बद्धश्रृखल यौगिक' कहते हैं। सारे कार्बनिक यौगिक इन्ही दो वर्गों मे विभक्त हैं। तेलों और चर्बियों के अवयवों मे कार्बनों की लम्बी-लम्बी खुली लडियाँ रहती हैं, इसीलिए मुक्तश्रृखल यौगिको को 'वसीय यौगिक' (Aliphatic Compounds) भी कहते हैं। बद्ध-श्रृंखल यौगिक प्रायः सुरभिमय होते हैं, इसलिए इन्हें 'सुरभित यौगिक' (Aromatic Compounds) भी कहते हैं। छः-छः कार्बनों की बद लडियाँ चित्र-सूत्र में षट-कोणों के रूप मे प्रदर्शित की जाती हैं। बहुधा इस प्रकार के दो या अधिक षट्कोण परस्पर सबद्ध हो जाते हैं। हम प्रस्तुत और आगे के पृष्ठ के चित्र-सूत्रों द्वारा कुछ सुपरि-चित कार्बनिक पदार्थों के अणुओं की रचना प्रदर्शित कर रहे हैं।
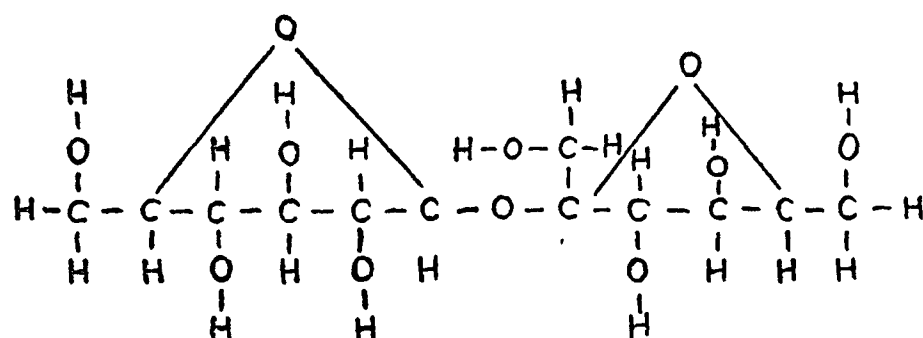
गन्नेकी शकर ($C_{12}H_{22}O_{11}$) गन्ने की शकर के अणु में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु किस प्रकार परस्पर संबद्ध रहते हैं, यह बाईं ओर के इस चित्र-सूत्र से व्यक्त है।

```
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   O     H
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   ||    |
H-C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - O - C-H
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |         |
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H         |
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   O     |
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   ||    |
H-C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - O - C-H
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |         |
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H         |
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   O     |
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   ||    |
H-C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - C - O - C-H
  |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |   |         |
  H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H   H         H
```
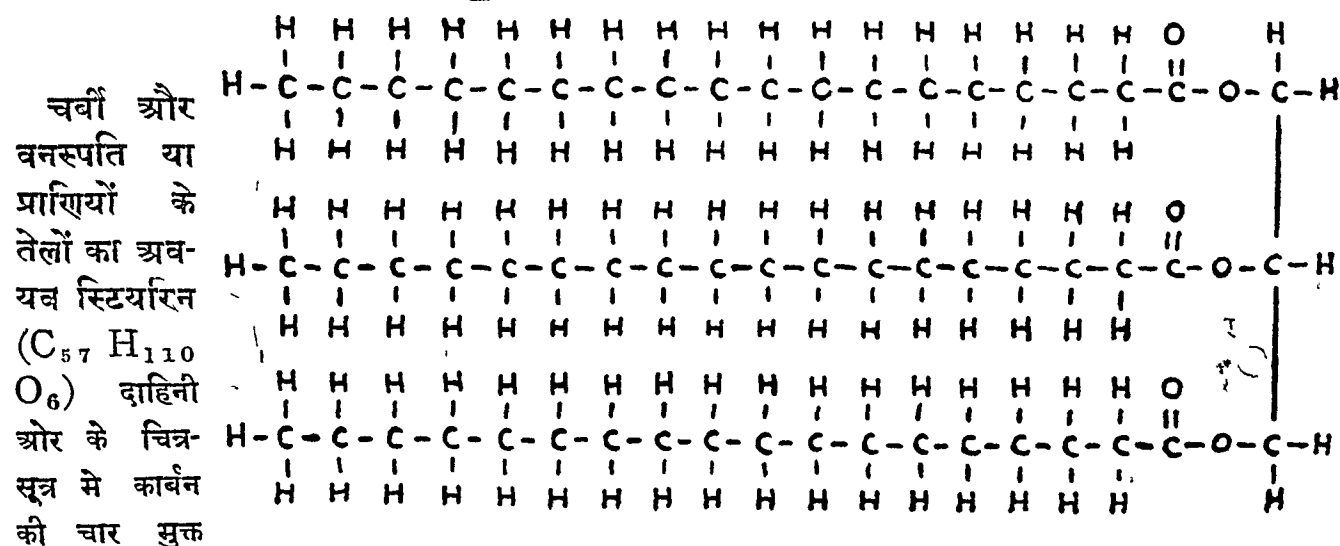
चर्बी और वनस्पति या प्राणियों के तेलों का अवयव स्टिर्यारिन ($C_{57}H_{110}O_6$) दाहिनी ओर के चित्र-सूत्र मे कार्बन की चार मुक्त श्रृंखलाओं के आस पास हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु संबद्ध है। कार्बन की चार, ऑक्सिज़न की दो, और हाइड्रोजन की एक संयोजन शक्तियाँ उनके परमाणुओं के आसपास की रेखाओं की संख्या द्वारा प्रदर्शित हैं।
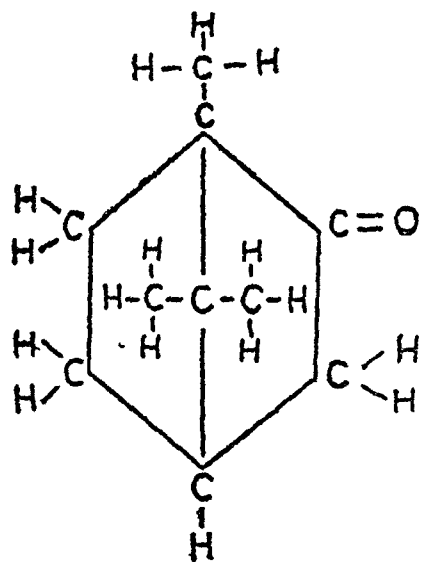
कपूर ($C_{10}H_{16}O$)

यह और इसके बाद दिए हुए पदार्थ 'बद्ध-शृंखल' अथवा 'सुरभित' यौगिक हैं। बेन्ज़ीन के छः कार्बन परमाणुवाले पटकोण के आसपास कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणुओं के इस प्रकार संबद्ध हो जाने से कपूर का अणु बनता है। आजकल कपूर कृत्रिम रीति से भी बनाया जाता है।
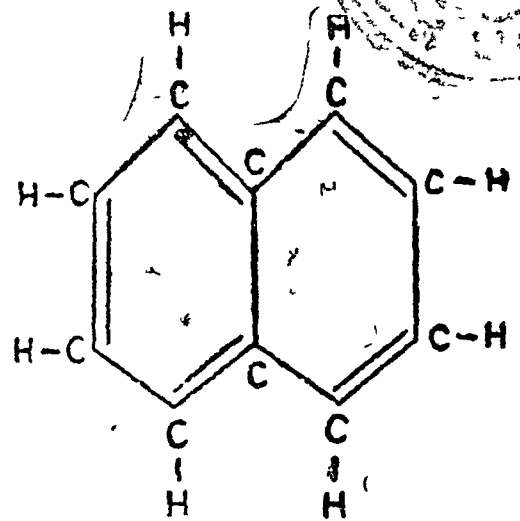
नैफ्थलीन ($C_{10}H_8$)

नैफ़्थलीन के अणु में बेन्ज़ीन के दो षटकोण संबद्ध रहते हैं। यह कोलतार से निकाला जाता है और उससे अन्य परमाणुओं को संबद्ध करके नाना प्रकार के कार्बनिक यौगिक तैयार कर लिए जाते हैं।
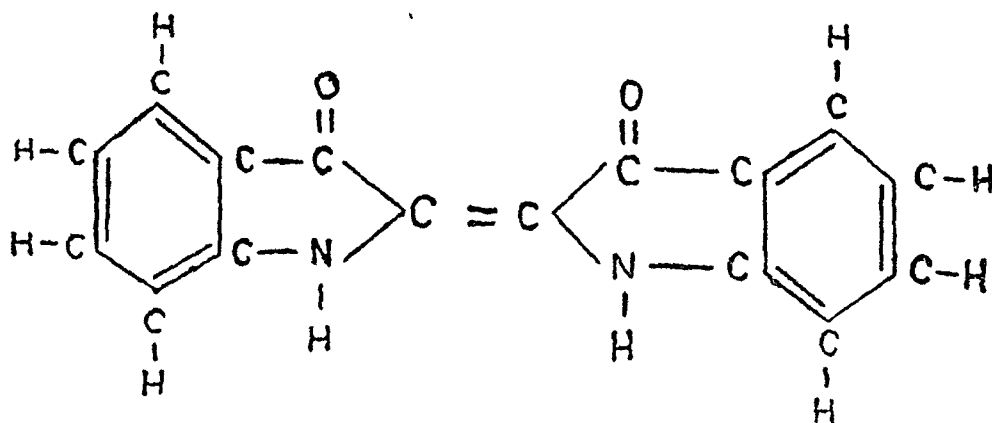
नील ($C_{16}H_{10}O_2N_2$)

नील के अणु में बेन्ज़ीन के दो षट-कोणों के आसपास और बीच में अन्य परमाणु इस प्रकार संबद्ध रहते हैं। इसके कृत्रिम उत्पादन ने भारत वर्ष की नील की खेती को ख़त्म कर दिया था। इसमें तथा कुनीन, रंग, आदि अनेक यौगिकों में सुरभि नहीं होती, तथापि वर्गीकरण की दृष्टि से इन सबकी गणना 'सुरभित यौगिकों में होती है। (दे० बायाँ चित्र)

कुनीन ($C_{20}H_{24}N_2O_2$)

कुनीन के अणु में एक नैफ़्थलीन और एक बेन्ज़ीन की शृंखलाओं के आसपास अन्य परमाणु इसी प्रकार स्थित रहते हैं। यही अणु जूड़ी के कीटाणुओं का घातक होता है।
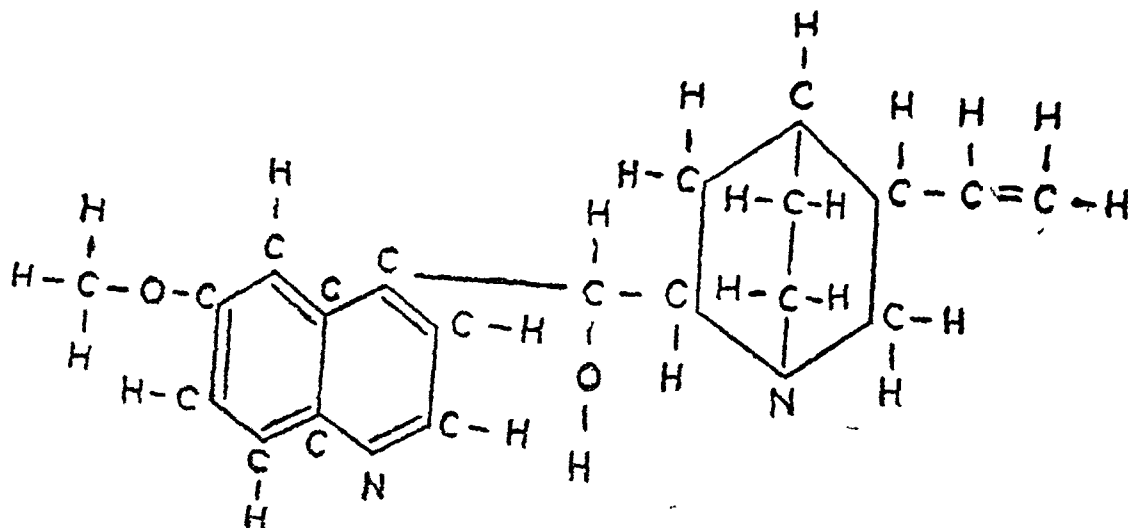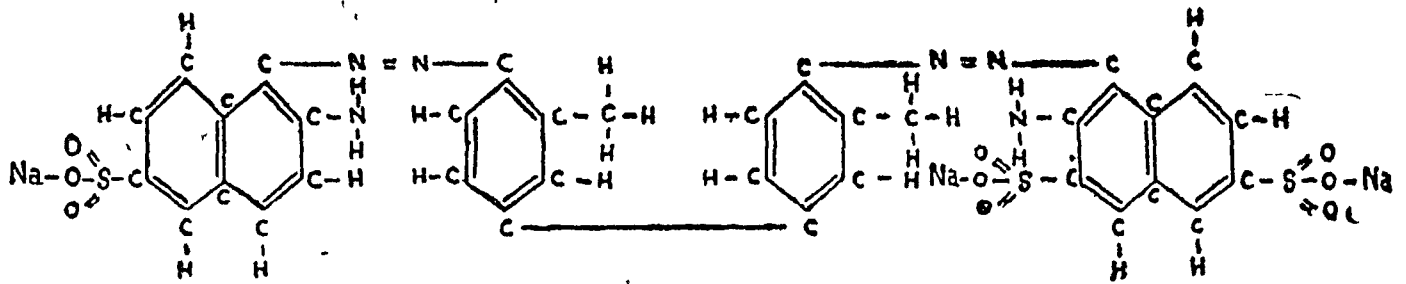
'ब्रिलियंट कांगो' नामक कृत्रिम लाल रंग ($C_{34} H_{25} O_9 N_6 S_3 Na_3$)

यह कृत्रिम रंग नैफ्थलीन और बेंजीन की दो-दो शृंखलाओं को इसी प्रकार संवद्ध करके और उनसे कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, गंधक और सोडियम के परमाणुओं को इस तरह संयुक्त करके तैयार किया जाता है। यह पदार्थ जीवजगत् में नहीं, केवल प्रयोगशाला में ही उत्पन्न होता है ! रासायनिक कारीगरी का यह एक नमूना है।

इन चित्र-सूत्रों से कार्बन तथा कुछ अन्य तत्त्वों के परमाणुओं के विभिन्न प्रकार से सबद्ध होने का अनुमान हो सकता है। अनेकों जीव-पदार्थों, यथा स्टार्च, सेलुलोज, प्रोटीनों आदि के अणुओं मे हजारों परमाणु इतने उलझे हुए सयुक्त हैं कि उनका अणु-सूत्र अभी तक निर्धारित नहीं हो सका। कार्बन को छोडकर और किसी भी तत्त्व में इस प्रकार शृखलाओं के रूप मे सबद्ध होने की शक्ति नहीं होती। इसीलिए अकार्बनिक यौगिकों में एक अणु में अधिकतर दो-चार और कभी-कभी दस-बीस परमाणु ही रहते हैं।

आपको यहाँ दिए हुए चित्र-सूत्र देखकर ज्ञात हुआ होगा कि बिना चित्र-सूत्र के कार्बनिक यौगिक की प्रकृति समझ लेना सभव नहीं। कार्बनिक रसायन में चित्र-सूत्र का महत्त्व इसीलिए बहुत अधिक है। बहुधा भिन्न भिन्न कार्बनिक यौगिको मे विभिन्न तत्त्वों के उतने ही परमाणु रहते हैं, अर्थात् उन सबका अणु-सूत्र वही होता है, लेकिन अणु-रचना की विभिन्नता के कारण उनके गुणों मे अतर हो जाता है। इस प्रकार के यौगिकों को आइसोमर कहते हैं। C_2H_6O अणुसूत्र के दो यौगिक एथिल अल्कॉहल (C_2H_5OH) और मेथिल ईथर (CH_3OCH_3) होते हैं, क्योंकि इनके चित्रसूत्र भिन्न होते हैं—

```
  H H              H     H
  | |              |     |
H-C-C-O-H        H-C-O-C-H
  | |              |     |
  H H              H     H
```
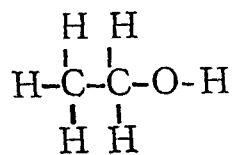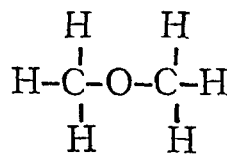
एथिल अल्कॉहल मेथिल ईथर

$C_{10}H_{16}O$ अणुसूत्र के कपूर के अलावा ११६ और यौगिक होते हैं। अकार्बनिक जगत् में आइसोमर होते ही नहीं। आइसोमरिज्म का यह सिद्धान्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक वोलर तथा उसके मित्र और सहयोगी लीबिग के आविष्कारों का फल है।

कार्बन की उपरोक्त विशेषताओं के ही कारण जहाँ अकार्बनिक यौगिकों की सख्या हजार दो हजार ही है, वहाँ कार्बन के ज्ञात यौगिकों की सख्या ढाई लाख से भी अधिक पहुँच चुकी है। वास्तव में कार्बन के यौगिकों की सख्या की कोई सीमा ही नहीं है, उसी प्रकार जैसे ईंटों से बनाए जानेवाले मकान की विभिन्न डिजाइनों की कोई सीमा नहीं होती। एक समय था जब वैज्ञानिक यह समझते थे कि जीव-कलेवरों में रहनेवाले कार्बनिक पदार्थों की उत्पत्ति ईश्वरीय शक्ति द्वारा ही हो सकती है, पर आज रसायनशास्त्री प्रयोगशालाओं के नाना कार्बनिक पदार्थों का निर्माण विभिन्न परमाणुओं अथवा परमाणुसमूहों को कार्बनों के आसपास अपनी इच्छानुसार बिठाकर एक से एक विचित्र पदार्थों का सश्लेषण कर लेता है—ऐसे पदार्थों का भी जिनका अस्तित्व जीव-जगत् मे नही होता। नील तथा अन्य अनेकानेक सस्ते तथा सुदर रग उसी प्रकार निर्मित होते हैं। बहुत सभव है कि भविष्य मे आटा, शकर, प्रोटीन, चर्बी आदि खाद्य पदार्थ का भी निर्माण कोयले, पानी और हवा से सस्ती विधियों द्वारा हो सके। तब हम आज की तरह अपनी जीविका के लिए खेती पर इतना अधिक निर्भर न रहेंगे !

इस प्रकार आपने देखा कि यह काला कार्बन कृष्ण की भाँति कुछ अन्य चुने हुए तत्त्वों के साथ नाना प्रकार की अद्भुत रासायनिक रास लीलाओं को ठानकर जीव-जगत् का सचालन करता है ! इस महान् तत्त्व के लिए यदि हम यह कहे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि यदि धरती पर कार्बन न होता, तो वह जीवनशून्य होती !

पृथ्वी
की कहानी
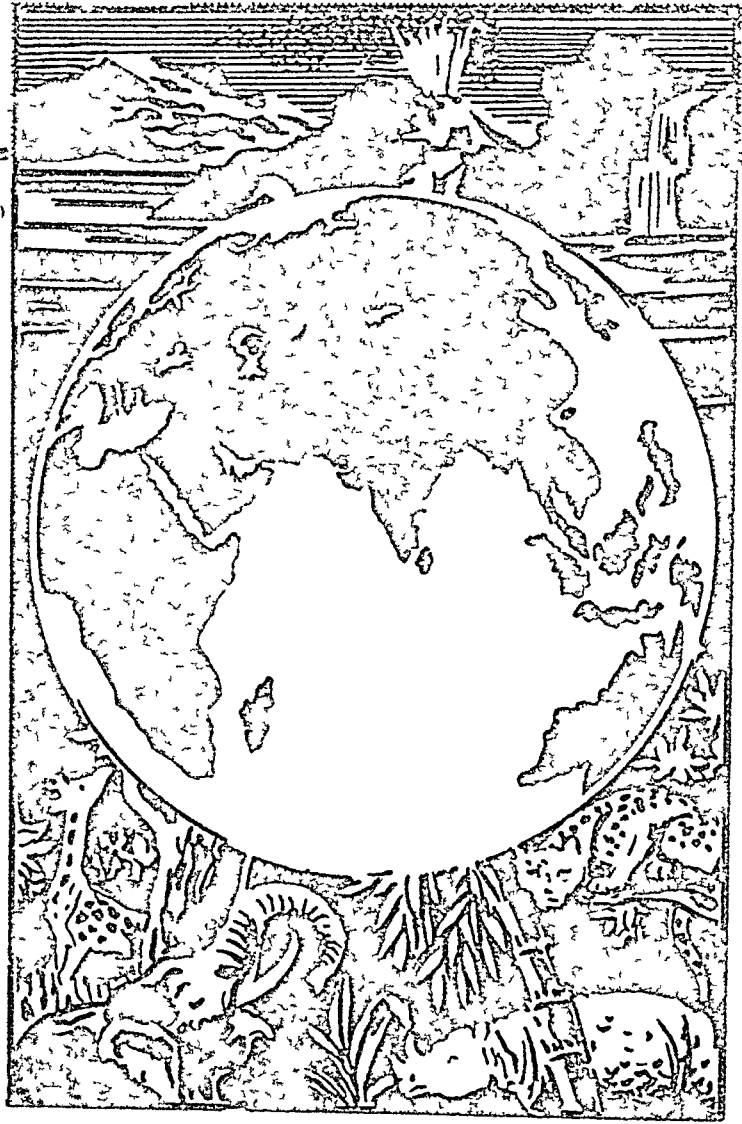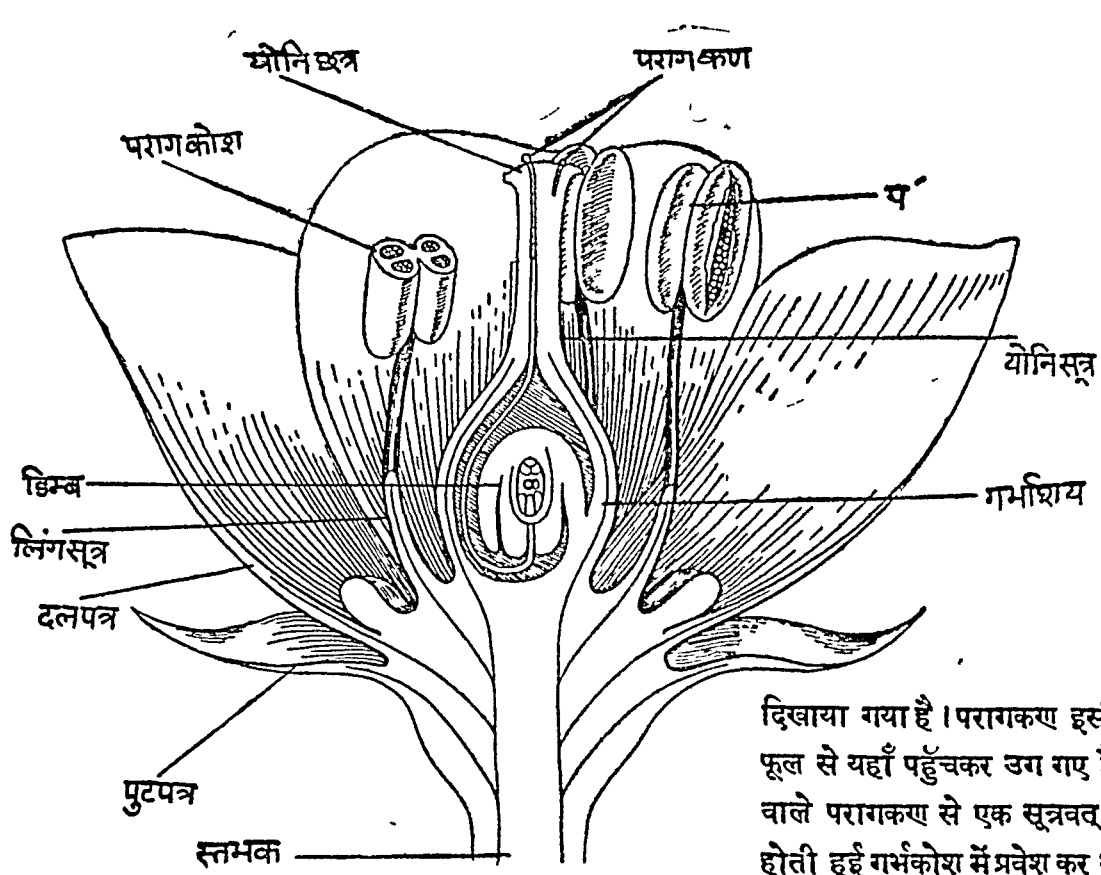
चि० १ यह एक आदर्श पुष्प का मानचित्र है, जिसमें उसे बीच से आधा चीर-कर उसकी जननेन्द्रियाँ तथा अन्य भाग स्पष्ट दिखाए गए हैं। बाईं ओर का परागकोश काटकर दिखाया गया हैं। दाहिनी ओर के परागकोश प' में कपाटस्फोटन दिखाया गया है। परागकण इसी जाति के किसी दूसरे फूल से यहाँ पहुँचकर उग गए हैं। इनमें से बाईं ओर वाले परागकण से एक सूत्रवत् नली योनिनलिका से होती हुई गर्भकोश में प्रवेश कर गई है। यहाँ परागकण के दोनों नरनाभिक इस सूत्रवत् नली से बाहर आ गर्भकोश के अंदर एक अंड से और दूसरा आनुपंगिक नाभिक से मिलता है।

दलपत्र
मधुकोश
पुंकेसर
योनिनलिका
पुटपत्र
स्तंभक
पुष्पनाल
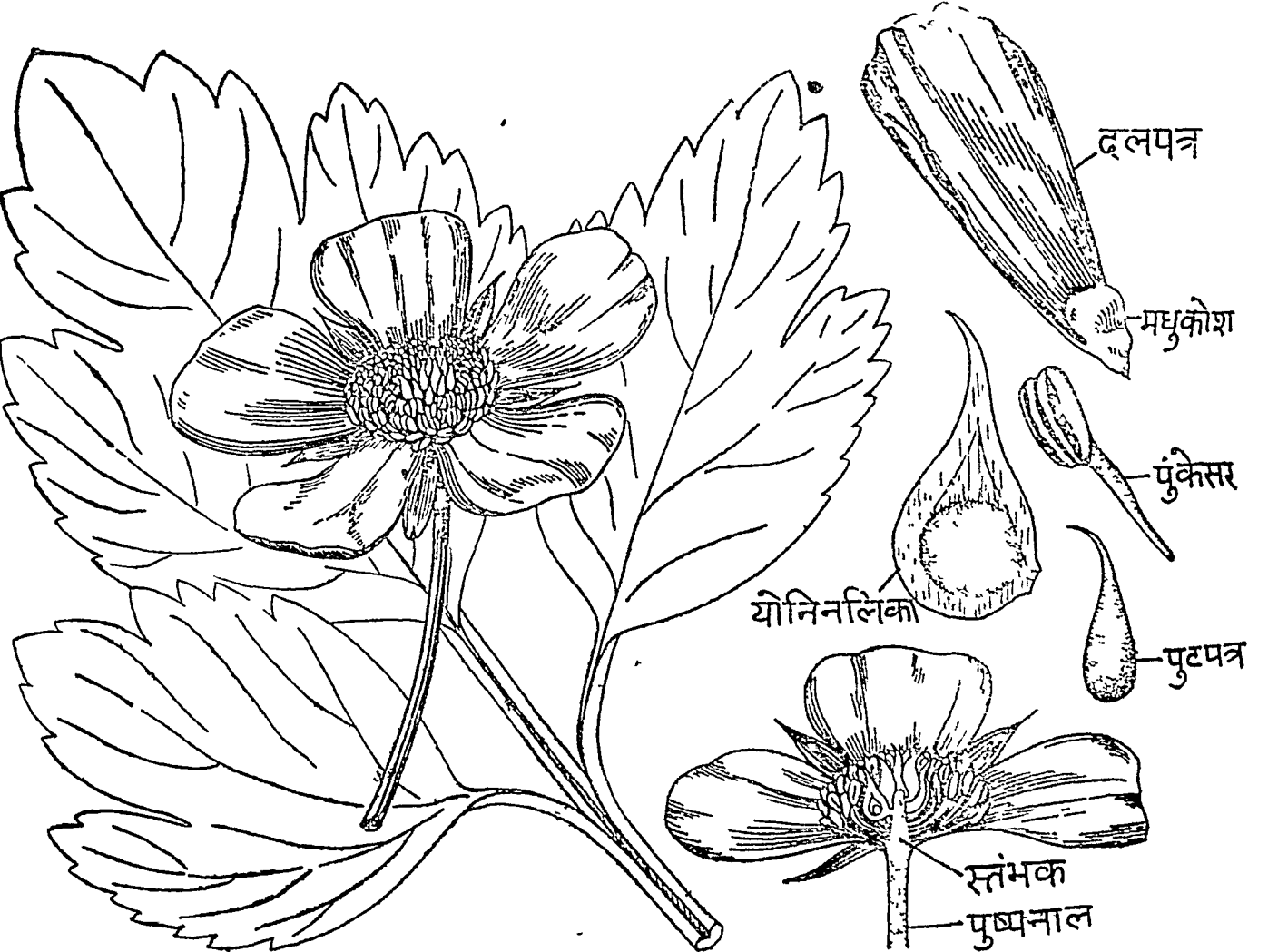
चि० २—देवकांडर (दाहिनी ओर पुष्प के विभिन्न अंगों को अलग-से चित्रित कर दिखाया गया है)

पौधों के विशेषाङ्ग—फूल (१)

अब तक इस खड में जिन बातों की चर्चा की गई है वे प्रायः पौधों के जड़, तना, पत्ती जैसे पोषक अंगों से ही सम्बन्ध रखती हैं। इन अंगों के आकार, आकृति, रचना आदि के भेद; साधारण, अनियमित, विशेष कार्य्य तथा रूप-रूपान्तर आदि लगभग सभी बातों पर न्यूनाधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। अब हम आपका ध्यान पौधों के विशेषाङ्ग—फूल, फल, बीज—की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, फूल में पौधे की जननेन्द्रियाँ रहती हैं (चित्र १), जिनके मेल से ही फल और बीज बनते हैं। रहस्यमयी प्रकृति की अपूर्व लीला से ये जननेन्द्रियाँ विविध रूप के सुवासित पर्दों की ओट में छिपी रहती हैं। पौधों के गूढतम रहस्य की टोह लगाने के लिए हमे, विवश हो सारे आवरण हटाकर न केवल इनके अंग-प्रत्यंग का पाठकों को निःसंकोच दिग्दर्शन कराना होगा, वरन् साथ ही साथ इन सरस सुकोमल अगों की नस-नस अलग कर इनके भीतरी रूप पर भी विचार करना होगा। आशा है, उदार-हृदय पाठक हमें इस धृष्ट व्यवहार के लिए क्षमा करेंगे।

हमारी कहानी का श्रीगणेश फूल से ही होता है। किसी अश मे पौधों के इस महत्वपूर्ण अग की चर्चा पहले ही (देखिए पृ० २८४-२९०) की जा चुकी है; परन्तु जिन बातों पर अब हम विचार करना चाहते हैं उनकी यथार्थ जानकारी के लिए कुछ अधिक जाँच की आवश्यकता है।
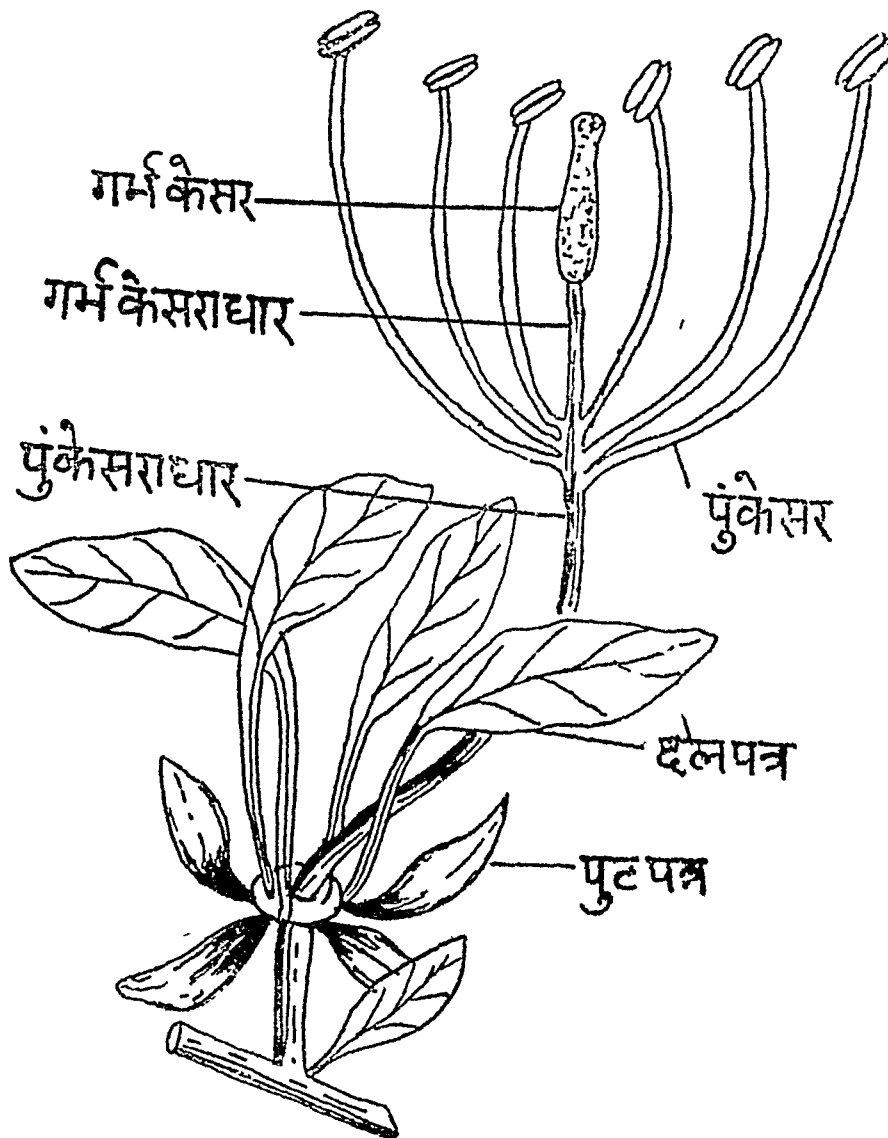
चि० ३—हुरहुर

फूल क्या है, कदाचित् यह समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं! यह पौधे का इतना स्पष्ट अंग है कि छोटे-छोटे बच्चे तक इससे परिचित रहते हैं। फिर भी इसके वास्तविक रहस्य का प्रायः अधिक लोगों को यथेष्ट ज्ञान नही होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से फूल एक टहनी है, जिसका विकास दूसरी टहनियों की भाँति कली-रूप में होता है। यह बात कुछ निराली-सी भले ही लगे, परन्तु है यह यथार्थ और प्रमाणित। अन्य शाखाओं की तरह फूल में भी पर्व,

चि०—४
गुलहड़ का फूल
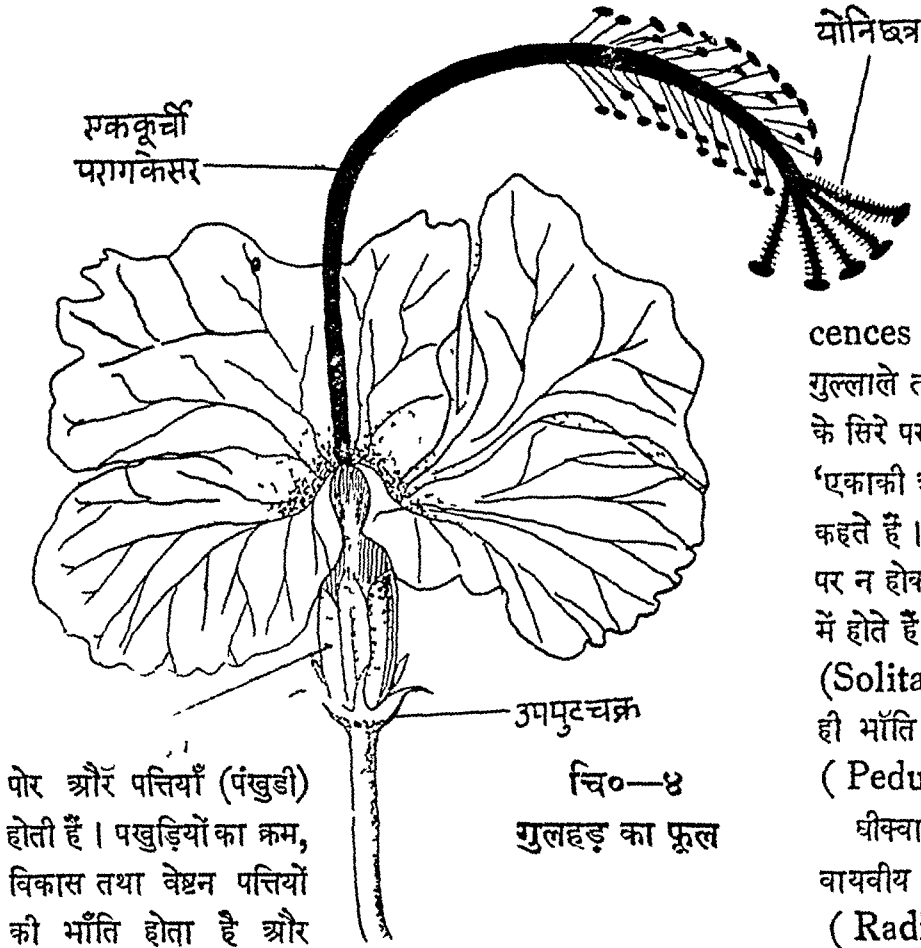
पोर और पत्तियाँ (पंखुडी) होती हैं। पखुड़ियों का क्रम, विकास तथा वेष्टन पत्तियों की भाँति होता है और पुष्पदंड की रचना साधारण शाखा की-सी। फिर भी साधारण पत्तियों और पंखुडियों के कार्य्य में बड़ा अन्तर होता है। यही अन्तर इनकी विभिन्नता और पुष्पपत्रों की विलक्षणता का मुख्य कारण है।

प्रायः फूलों में दो भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं। नीचे की ओर डठल या 'पुष्पनाल' (Pedicel) और सिरे पर 'स्तम्भक' (Receptacle) अर्थात् वह भाग जिसमें पखुड़ियाँ लगी रहती हैं (चित्र २)। कुछ फूलों मे स्तम्भक नही होता। ऐसे फूलों को 'विनाल' (Sessile) और डठलवालों को 'सनाल' (Pedicellate) कहते हैं।

अधिकतर फूलों के गुच्छे होते हैं और ये अनेक प्रकार के 'व्यूहों' (Inflorescences) में सजे रहते हैं। कभी-कभी ये पोस्ते, गुल्लाले तथा स्वर्णक्षीर के फूलों की तरह शाख के सिरे पर अकेले ही होते हैं। ऐसे फूलों को 'एकाकी अग्रस्थ' (Solitary terminal) कहते हैं। कभी-कभी एकाकी फूल शाख के सिरे पर न होकर उसके अगल-बगल पत्तियों के पार्श्व में होते हैं। ऐसे फूलों को 'एकाकी पार्श्वक' (Solitary axillary) कहते हैं। इन दोनों ही भाँति के फूलों के डठलों को 'पुष्पदंड' (Peduncle) कहते हैं।

घीक्वार, प्याज, सुदर्शन जैसे पौधों में, जिनमें वायवीय तना नहीं होता, पुष्पदड 'मूलारोही' (Radical) पत्तियों के बीच भूमि के अन्दर से निकलता है। इसमें न पत्तियाँ होती हैं और न टहनियाँ। इसे 'पुष्पध्वज' (Scape) कहते हैं।

स्तम्भक—स्तम्भक में तीन संक्षिप्त पोर होते हैं और पुष्पपत्र इन्हीं से निकलते हैं; परन्तु बहुधा ये इतने सटे रहते हैं कि इनका पता नहीं चलता। कभी-कभी इनमें का एक-न-एक पोर थोडा-बहुत बढ भी जाता है, जिससे इसका यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है। पुटचक्र और दलचक्र के बीच के ऐसे बढे पोर को 'पुष्पमुकुटाधार'
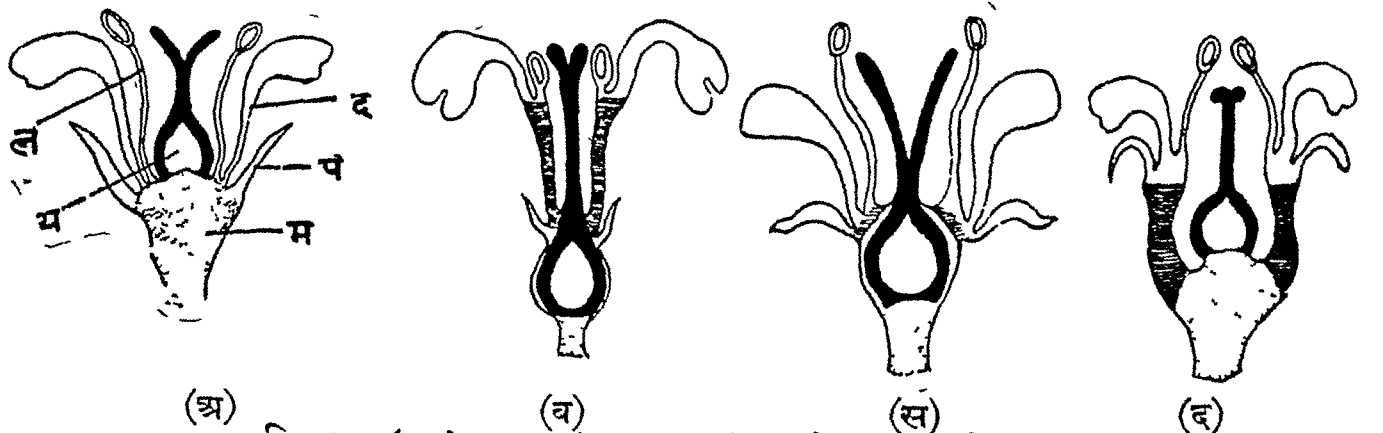
चि० ५—(अ) अधस्थ, (व, स) परिस्थ और (द) ऊर्ध्वस्थ पुष्पपत्रक्रम
[म = स्तंभक, प = पुटचक्र, द = दलचक्र, ल = लिंगचक्र, य = योनिचक्र]

(Anthophore), दलचक्र और लिंगचक्र के बीच के बढ़े पोर को 'पुंकेसराधार' (Androphore) और लिंगचक्र और योनिचक्र के बीच के बढ़े पोर को 'गर्भ-केसराधार' (Gynophore) (चित्र ३) कहते हैं।

कभी-कभी स्तम्भक की नोक, जैसा कि धनिया तथा गाजर में होता है, गर्भाशय के बीच से होती हुई ऊपर निकल आती है। इसे 'फलाधार' (Carpophore) कहते हैं।

साधारण रूप से स्तम्भक कुछ लम्बा-सा, बेलनाकार, बटन-जैसा होता है और फूल के अंग इस ढंग से निकलते हैं कि सबसे नीचे पुटचक्र, फिर दलचक्र, इन दोनों के ऊपर लिंगचक्र और सबके ऊपर अन्त में योनिचक्र होता है (चित्र १-२)। इस क्रम को अधस्थ (Hypogynous) कहते हैं (चि० ५ अ)। ऐसे फूलों मे गर्भाशय ऊर्ध्वस्थ (Superior) और फूल के दूसरे भाग अधस्थ (Inferior) होते हैं। देवकांडर (*Ranunculus*) (चि० २), गुलहड़ (चि० ४) तथा और बहुत सारे पौधों मे ऐसे फूल होते हैं। गुलाब जैसे फूलों मे स्तम्भक बीच में कटोरी जैसा (नतोदर) हो जाता है और इसके शिखर पर, जो ऐसी रचना के बीच में होता है, गर्भाशय रहता है। पुटचक्र, दलचक्र तथा लिंगचक्र ऐसे स्तम्भक की कोर से बराबरी पर इकट्टे निकलते हैं, जिससे ये सारे अंग तथा योनिचक्र बराबर पर ही क्रमबद्ध रहते हैं। इसे 'परिस्थ' (Perigynous) क्रम कहते हैं (चि० ५ ब-स)। गर्भाशय ऐसे फूलों में भी ऊर्ध्वस्थ होता है। ऐसे क्रमवाले फूलों में स्तम्भक कभी छिछला, कभी कुछ गहरा और कभी अत्यन्त गहरा होता है। कभी-कभी स्तम्भक परिस्थ क्रम की सबसे बढ़ी-चढ़ी अवस्थावाले फूलों के स्तम्भक के समान गहरी कटोरी जैसा होता है; परन्तु इसकी कोरें ऊपर को अधिक बढ़ी होती हैं, जिससे गर्भाशय प्याली के अन्दर बन्द हो जाता है। पुटचक्र, दलचक्र, लिंगचक्र तथा योनिचक्र के अन्य भाग ऐसे गर्भाशय के ऊपर से निकलते हैं। इस क्रम को 'ऊर्ध्वस्थ' (Epigynous) कहते हैं। इस भाँति के फूल शतपत्री वर्ग (सूरजमुखी आदि), गर्जरादि वर्ग (सौंफ, धनिया आदि) और मजिष्ठादि वर्ग (कदम्ब, रजनीगन्धा आदि) मे होते हैं। इन फूलों मे गर्भाशय अधस्थ और फूल के दूसरे अंग ऊर्ध्वस्थ होते हैं (चि० ५ द)।
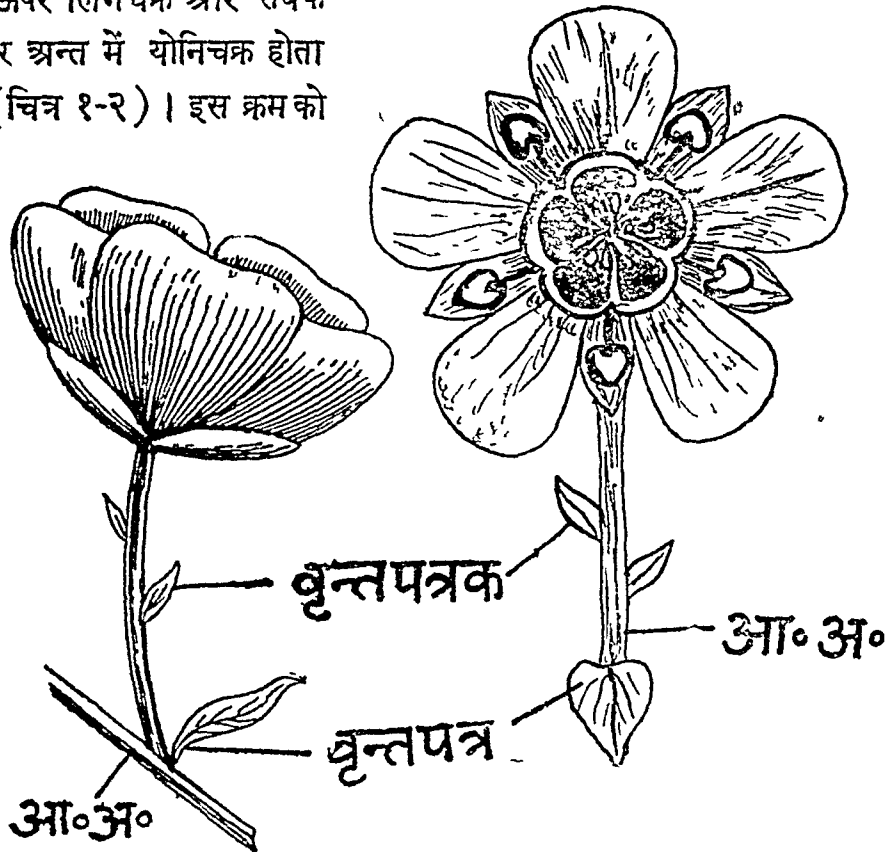
चि० ६—लाक्षणिक व्यवस्थित समाक्षांत पुष्प तथा पुष्पचित्र
(आ० अ० = आद्य अक्ष)

फूलों में स्तम्भक के नलिकाकार भाग को प्रायः 'पुट-नलिका' (Calyx tube) कहते हैं। यथार्थ में यह स्तम्भक का ही भाग है। कुछ फूलों में स्तम्भक पर मधु-ग्रन्थियुक्त मांसल अंग होता है, जिसे बिम्ब (Disc) कहते हैं। इससे शहद आता रहता है। बिम्ब के रूप और आकार में बड़ा अन्तर होता है। मधुकोश फूल के दूसरे अंगों के रूपान्तर से भी बन जाते हैं। देवकान्डर में

चि० ७—तीक्ष्णकंटकी
इस पौधे के फूलों में वृन्तपत्र पंखुड़ी की तरह रँगदार और भड़कीले होते हैं।

प्रत्येक पखुड़ी के आधार पर भीतरी ओर मधुकोश होता है (चि० २)। अतीस (*Aconitum*) मे दलों की जगह दो मधुकोश होते हैं। गुलखैरू (Hollyhock) के हर पुटपत्र की भीतरी ओर मधुकोश होता है।

वृन्तपत्र (Bracts)—प्रायः फूल पत्तियों अथवा वल्कपत्र-जैसी रचनाओं के पार्श्व मे होते हैं (चि० ६)। इन्हे वृन्तपत्र कहते हैं। कभी-कभी ऐसे अग पुष्पनाल पर साधारण वृन्तपत्र और फूल के बीच मे भी होते हैं। इन्हे 'वृन्तपत्रक' (Bracteoles) कहते हैं (चि० ६)। वृन्तपत्र के आकार, क्रम, रग, गठन तथा कार्य में बड़ा अन्तर होता है और इसलिए इनके कई भेद माने जाते हैं। तीक्ष्णकटकी (चित्र ७) मे ये पखुड़ी की तरह रगदार और भडकीले होते हैं, जिससे इन्हे 'दलवत' (Petaloid) कहते हैं। सूरन, अरुई, करियारी, नारियल और ताड़ की जाति के दूसरे पेड़ों मे एक बडा-सा वृन्तपत्र होता है, जो प्रायः सब फूलो को ढके होता है। ऐसे वृन्तपत्र को 'फन' (Spathe) कहते हैं। कभी-कभी फन बहुत बडा होता है। एक जाति के सूरन (*Amorphophallus Titanum*) में फन एक गज से भी अधिक ऊँचा होता है। गेंदा, गुलदावदी, सूरजमुखी वग़ैरह मे फूलों के गुच्छे के नीचे सारे वृन्तपत्र इकट्ठे निकलते हैं, जिनसे बहिर्वास जैसा मडल बन जाता है। इसे 'वृन्तपत्रच्छद' (Involucre) कहते हैं। इन पौधों में पुटचक्र या तो होता ही नही या अत्यन्त क्षीण होता है और वृन्तपत्रच्छद से ही इसका काम निकलता है। सौंफ, अजवायन, धनिया आदि में भी ऐसे वृन्तपत्र होते हैं। इन पौधों में पुष्पव्यूह प्रायः 'सयुक्त सचूड' (Compound Umbel) होता है। इनके द्वितीयक वृन्तपत्रों के समूह को 'वृन्तपत्रच्छदिका' (Involucel) कहते हैं। गोधूमी वर्ग (गेहूँ, जई आदि) में फूल सयुक्त पुष्पव्यूह में होते
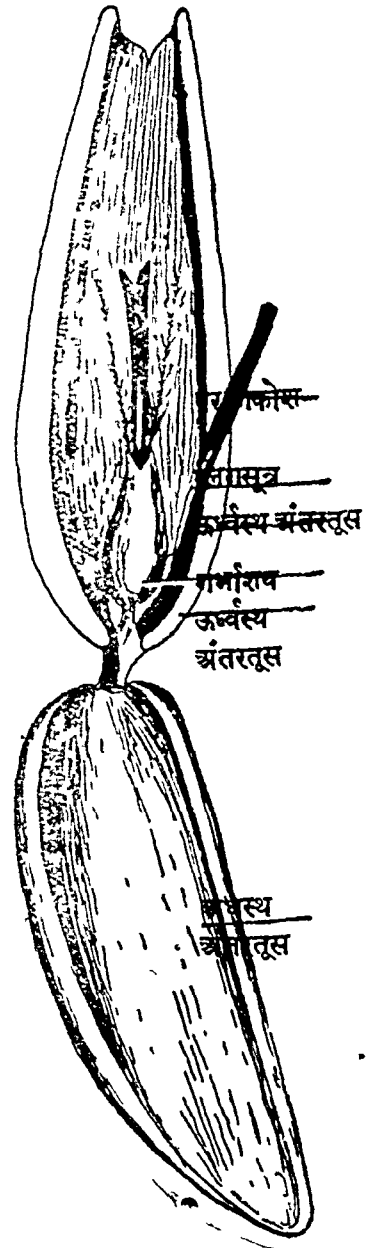
चि० ८—गोधूमी वर्ग (गेहूँ, धान, घास आदि) के पौधों का फूल

हैं। इनमें 'निदडिका' (Spikelet) के नीचे की ओर के वृन्तपत्रों को 'तूस' (Glumes) और बाक़ी को 'अन्तरतूस' (Palea) कहते हैं (चि० ८)। तूसो के पार्श्व मे फूल नही होते। अन्तरतूसों की नोक पर अकसर काँटा जैसा भाग होता है, जिसे 'सीकुर' (Awn) कहते हैं। प्रत्येक फूल में दो अन्तरतूस होते हैं—एक बाहरी, जिसे अधस्थ कहते हैं और दूसरा भीतरी जिसे ऊर्ध्वस्थ कहते हैं।

पुष्पावरण (Floral Envelopes)—फूल का सबसे मनोहर तथा आकर्षक भाग 'दलचक्र' (Corolla) है। लोकमत से यही फूल का सर्वस्व है और प्रायः फूल से लोगों का इसी से अभिप्राय रहता है; परन्तु बहुतेरे फूल ऐसे हैं, जिनमे दलचक्र होता ही नहीं (चि० ८)। इसलिए यह धारणा ठीक नहीं जँचती। साधारण फूल में, जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, पुटचक्र, दलचक्र, लिंगचक्र और योनिचक्र ये चार भाग होते हैं (चि० १०)। पुटचक्र और दलचक्र फूल के अनावश्यक अंग हैं; इन्हे 'बाह्यावरण' (Outer Envelopes) कहते हैं। प्रायः इनके रूप, रंग, आकार आदि बहुत भिन्न होते हैं। इस अवस्था में बाहरी मंडल को 'पुटचक्र' (Calyx), उसकी पत्तियों को 'पुटपत्र' (Sepals), और भीतरी को 'दलचक्र' (Corolla) तथा पँखुडियों को 'दलपत्र' अथवा 'दल' (Petals) कहते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता और बाह्यावरण के दोनों घेरों के अवयव एक जैसे होते हैं। कुछ पौधों मे केवल एक ही मंडल होता है। इन दोनों रूप मे बाह्यावरण को 'परिसचक्र' (Perianth) कहते हैं। कभी-कभी बाह्यावरणों का एक मडल पुटचक्र या दलचक्र मे से एक के लुप्त हो जाने से भी रह जाता है। ऐसी दशा में उसे परिसचक्र न कहकर 'अवशेष चक्र' का नाम देते हैं। मोरवेल (*Clematis*) के फूल में पुष्पावरण का केवल एक ही घेरा होता है; परन्तु यह बात दलचक्र के अभाव से समझी जाती है। इसलिए इसे यहाँ परिसचक्र न कहकर 'पुटचक्र' ही कहेंगे। बथुवा (*Chenopodium*), चौलाई (*Amarantus*) तथा भाँग (*Cannabis*) के फूलों में पुष्पावरण में एक ही मंडल होता है, परन्तु यह अवस्था इनकी वंश-परम्परा है। अतः ऐसे फूलों के बाह्यावरण को 'परिसचक्र' ही कहेंगे। जिन फूलों में दोनों मंडल (पुट और दलचक्र) होते हैं, उन्हें 'उभयावरणी'(Dichlamydous), जिनमें एक होता है उन्हे 'एकावरणी' (Monochlamydous) और जिनमें एक भी नहीं होता उन्हें 'अनावरणी' (Achlamydous) या 'नग्न' (Naked) कहते हैं (चि० ८)।

चि० ९—स्ट्राबेरी

इसके फूलों में पुटचक्र के नीचे एक दूसरी ऐसी ही रचना होती है, जिसे 'उपपुटचक्र' कहते हैं।

फूल के प्रधान अंग (Essential Organs)—लिंगचक्र और योनिचक्र फूल के प्रधान अंग हैं। लिंगचक्र से 'परागकण' (Pollen) और योनिचक्र से 'बीजांड' (Ovules) बनते हैं, जिनके मेल से बीज बनते हैं। गुलहड़, कमल, गुलाब वगैरह साधारण फूलों में दोनों ही अंग एक ही फूल में होते हैं, जिससे इन्हे 'उभयलिंगी' (Hemaphrodite or Bisexual) कहते हैं; परन्तु जब ये अलग-अलग फूलो में होते हैं तो फूल को एकलिंगी कहते हैं। एकलिंगी फूल कद्दू, खीरा, लौकी
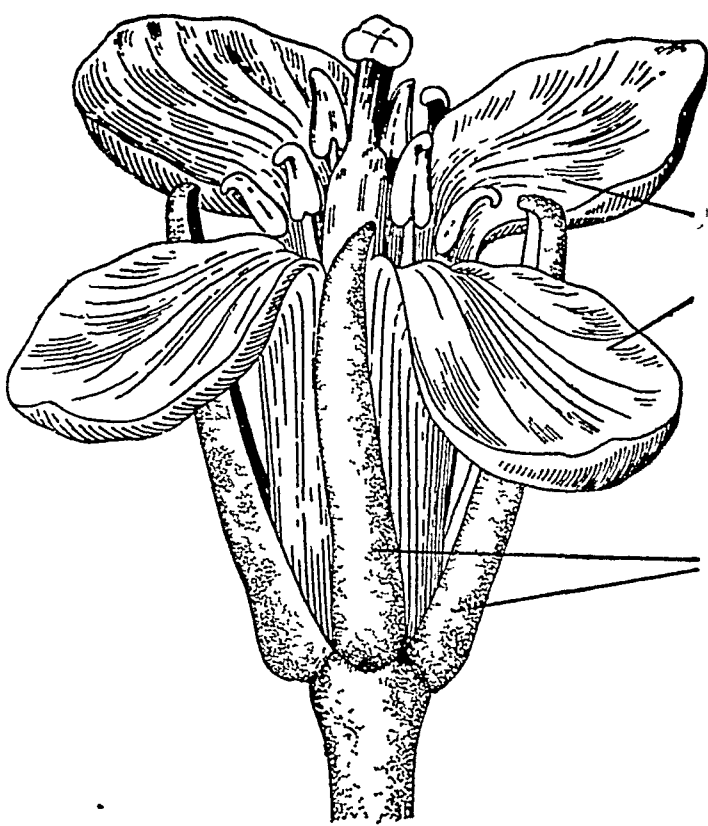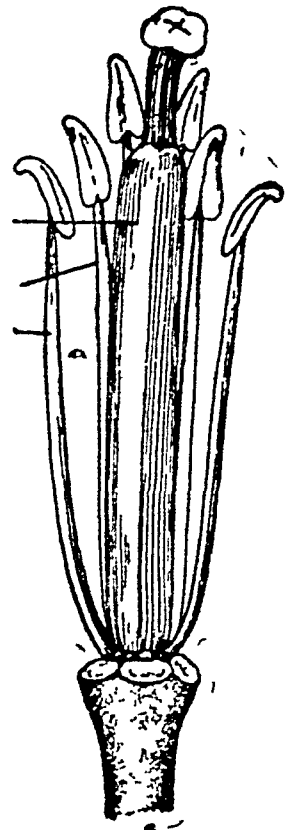
चि० १०—सरसों का फूल (अ) पूर्ण पुष्प; (ब) पुटपत्र और दल तोड़ देने के बाद ।

इत्यादि मे होते है। एकलिगी परागकेसरवाले फूलों को 'नर' (Male) या 'केसरिक' (Staminate) और गर्भकेसरवालों को 'नारी' (Female) या 'गर्भकेसरिक' (Pistillate) पुष्प कहते हैं। यदि नर और मादा फूल एक ही पौधे मे हुए, जैसा कि कद्दू, तरोई, कटहल आदि में होता है, तो उसे 'उभयलिगी' (Monœcious) और यदि वे अलग-अलग पौधों मे हुए, जैसा कि पपीते और भाँग मे होता है, तो उन्हे 'विभक्तलिगी' (Diœcious) कहते हैं। जब कभी नर, नारी और उभयलिगी फूल एक ही पौधे मे होते हैं तो उसे 'बहुलिगी' (Polygamous) कहते हैं। जिन फूलों मे न नर फूल होते हैं और न मादा, उन्हे 'नपुंसक' कहते हैं। यदि फूल मे चारों अंग संपन्न हुए तो उन्हे 'सम्पूर्ण' या 'पूर्ण' (Complete) और यदि एक न एक अग लुप्त हो तो उन्हे 'अपूर्ण' (Incomplete) कहते हैं।

पुष्पपत्रक्रम (Floral Phyllotaxy)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पत्तियों की भाँति पखुड़ियाँ भी क्रमबद्ध होती हैं। अधिकतर फूलों मे ये स्तम्भक के इर्दगिर्द घेरों (Whorls) मे होती हैं और तब पुष्पपत्रक्रम 'चाक्रिक' (Whorled or Cyclic) होता है (चि० १०)। कभी कभी, जैसा कि नागफनी और चौधारा के फूलों में होता है, पखुड़ियों का क्रम 'घुमावदार' (Spiral) भी होता है। ऐसे फूलों को 'अचाक्रिक' (Acyclic) कहते हैं। जिन फूलों में कुछ अंग घुमावदार क्रम से और दूसरे चाक्रिक क्रम से निकलते हैं, उन्हे 'अर्धचाक्रिक' (Hemicyclic) कहते हैं। देवकांडर (चि॰ २) में पुटपत्र और दलपत्र चाक्रिक क्रम से और पुंकेसर और योनिनलिका घुमावदार क्रम मे होते हैं।

पुष्पपत्रवेष्टन—कली मे पंखुडियों की सजावट को पुष्पपत्रवेष्टन कहते हैं। इसमे दो बातो पर विचार करना होता है—पर्णसवलन (Vernation) और पुष्पमुकुलरचना (Aestivation)। फूल की व्याख्या करते समय प्रायः पुष्पमुकुलरचना पर ही विचार करते हैं और बहुधा पुष्पपत्रवेष्टन का इसी से ही मतलब रहता है। पर्णसवलन कली की अविकसित पखुडी का रूप है। इससे अभिप्राय है कि खिलने के पहले पत्ती कली मे किस भाँति मुडी या लिपटी रहती है। पुष्पमुकुलरचना कली के प्रत्येक घेरे की पत्तियों के लगाव-सजाव या आपसी सबध को कहते हैं।

इससे अभिप्राय यह है कि फूल की पंखुड़ियों की कोरें प्रत्येक घेरे में अलग-अलग, आपस मे स्पर्श करती हुई या एक दूसरे को ढके हुए हैं। यदि सरसो, कनेर, मटर, गुलहड़ तथा दूसरे फूलों की कलियों की जाँच की जाय, तो इन दोनों ही बातों में इन फूलों मे आपस मे बड़ा अन्तर मिलेगा। किसी भी पौधे की सारी कलियों में दोनों ही विशेषताएँ एक जैसी होंगी। यथार्थ में ये पौधों के लाक्षणिक तथा जातीय चिह्न हैं। बहुधा एक वर्ग के सारे पौधों में पुष्पपत्रवेष्टन एक ही ढग का होता है। साधारण पत्तियों और पंखुड़ियों के पत्रसंवलन और पुष्पमुकुलरचना में इतनी समानता होती है कि दोनों की व्याख्या समान शब्दों द्वारा की जाती है। फूलों में दोनो ही को वेष्टन के अन्तर्गत मानते हैं।

पर्णसंवलन के कुछ साधारण भेद—(चि० ११) यदि कली के रूप मे पुष्पपत्रों मे न झुर्रियाँ हों न शिकन और न वह मुडी हो न लिपटी तो उसे 'सपाट' (Plane) कहेंगे। यदि पत्ती का एक ओर का आधा भाग मुडकर दूसरी ओर के भाग से सटा हो तो उसे 'पार्श्ववलित' (Conduplicate) कहते हैं। यदि पत्ती मे ताड की पत्ती की भाँति लम्बाई की ओर को कई बल पडे हों तो उसे 'अनेकवलित' (Plicate or Plaited) कहते हैं। अगर बिना किसी विशेष ढग के, जैसा कि गुल्लाले की पंखुड़ी में होता है, बहुत से शिकन पडे हों, तो उसे 'अतिवलित' (Crumpled) कहते हैं। यदि वह केले की पत्ती की तरह कली में गुड़रीदार या कुंडलाकार रूप में हो तो उसे 'चक्रवलित' (Convolute) कहते हैं। यदि, जैसा कि कोकाबेरी की पत्ती की अवस्था रहती है, दोनों धारें लिपटकर ऊपर बीच में आ गई हों तो उसे 'अन्तर्वलित' (Involute) कहते हैं। इसके विपरीत यदि वे इसी ढंग से नीचे की ओर को मुडी हों तो उसे 'बहिर्वलित' (Revolute) कहते हैं। यदि, जैसा कि पर्णांगों की नवीन पत्ती में होता है, घडी की कमानी की तरह पत्ती नोक की ओर से आधार की ओर को मुड़ी हो तो उसे 'अग्रवलित' (Circinate) कहते हैं।

चि०—११
पर्णसंवलन के कुछ भेद

पुष्पमुकुलरचना—(चि० १२) पुष्पमुकुलरचना के चार मुख्य भेद हैं—(१) विरल (Open), (२) क्रमाच्छादित (Twisted), (३) आच्छादित (Imbricate) और (४) धारास्पर्शी (Valvate)। विरल अवस्था में पंखुड़ियाँ पड़ोसवाली पंखुड़ियों से बिल्कुल ही अलग-अलग होती हैं। ऐसे फूल सरसों (चि० १०) और मूली में होते हैं। धारास्पर्शी क्रम में पखुडियों की कोरें पडोस की पंखुडियों को स्पर्श किए रहती हैं, ढकती नहीं हैं (चि० १२ अ) (उदाहरणार्थ, गुलहड़ के पुटपत्र चि० ४)।
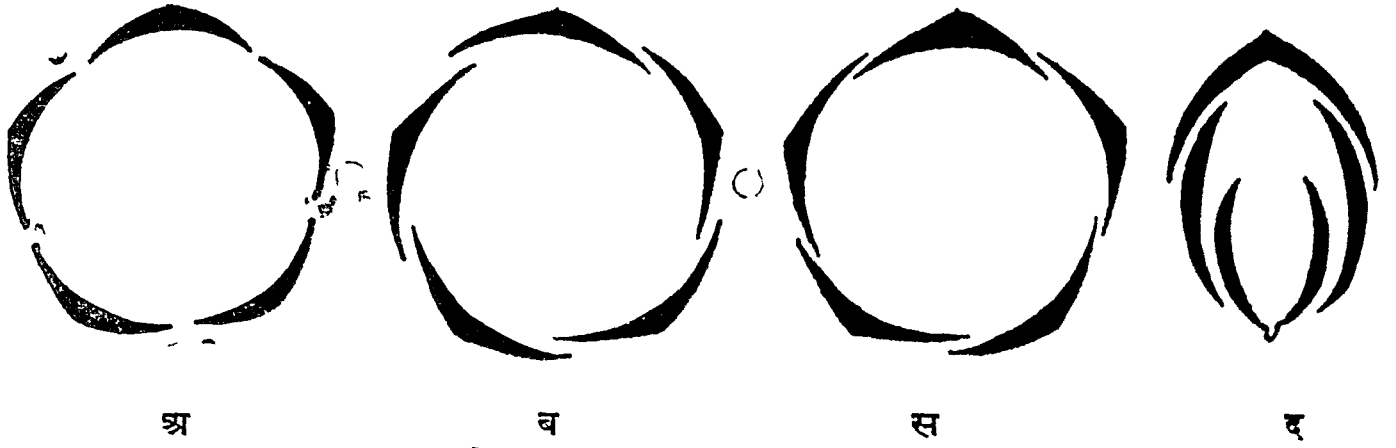
चि० १२—पुष्पमुकुलरचना के कुछ भेद
(अ) धारास्पर्शी, (ब) क्रमाच्छादित, (स) उद्गामी आच्छादित, (द) अभिगामी आच्छादित

क्रमाच्छादित अवस्था में प्रत्येक दल की एक कोर अन्दर और पड़ोस की पखुडी से ढकी तथा दूसरी बाहर और पड़ोसवाली पंखुडी को ढके रहती है (चि० १२ ब) । ऐसा क्रम कनेर की पखुड़यों का होता है। आच्छादित पखुड़ियाँ एक दूसरे को ढके अवश्य रहती हैं, परन्तु क्रमाच्छादित ढग से नहीं। आच्छादित मुकुलरचना के तीन विशेष भेद हैं, उद्गामी (Ascending) (चि० १२ स), अभिगामी (Descending) (चि० १२ द) और कनूकन्शियल (Quincuncial) । उद्गामी अवस्था अमलतास तथा गुलमोहर के दलपत्रों की होती है। इस रूप में पृष्ठस्थ (Posterior) पखुडी कलिकावस्था में सबसे अन्दर रहती है और दाएँ-बाएँ के पार्श्विक दल इस पर चढ़े रहते हैं। अभिगामीक्रम इसके विपरीत होता है; अर्थात् ऐसे फूलों की पृष्ठस्थ पंखुड़ी सबसे बाहर रहती है। वह पड़ोस की दोनो पखुड़ियों पर चढ़ी होती है। ऐसे फूल अगस्त्य, पलास, सेम आदि में होते हैं (चि० १२ द)। कनूकन्शियल क्रम वाले फूलों मे भी उद्गामी और अभिगामी आच्छादित क्रमवाले फूलों की भाँति पाँच पुष्पपत्र

⊕

वृन्तपत्र

(स)

अक्ष

(अ)

(ब)
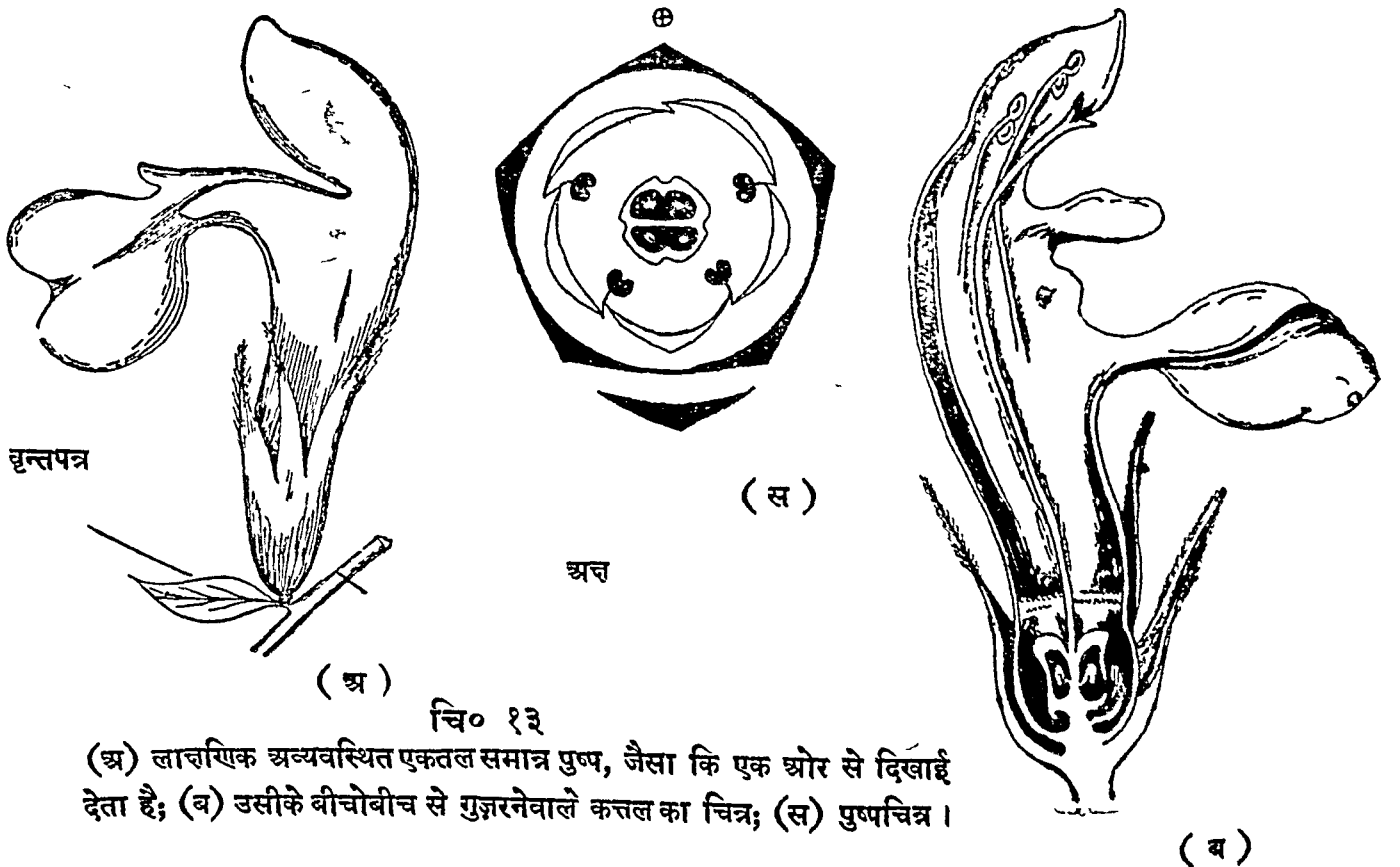
चि० १३
(अ) लाक्षणिक अव्यवस्थित एकतल समात्र पुष्प, जैसा कि एक ओर से दिखाई देता है; (ब) उसीके बीचोबीच से गुज़रनेवाले कत्तल का चित्र; (स) पुष्पचित्र ।

होते हैं; परन्तु ऐसे फूलो में दो पखुड़ी बाहर, दो भीतर और पाँचवी का एक किनारा बाहर और दूसरा भीतर रहता है।

फूल के विभिन्न अंगों के रूपान्तर और कर्त्तव्य

लाक्षणिक फूल में चारों भाग—पुटचक्र, दलचक्र, लिंग-चक्र और योनिचक्र—होंगे। इन अगों के अवयवों की संख्या समान और ये एक दूसरों से अलग-अलग होंगे। प्रत्येक भाग के अवयव रूप, रंग, आकार आदि में भी एक जैसे, दूसरे अंग के अवयवों से स्वतंत्र और अपने पड़ोस वाले मंडल के अवयवों से पर्य्यायक्रम में होंगे। परन्तु ऐसे फूल बहुत कम दिखलाई देते हैं। सम्भव है, आज से बहुत पहले किसी समय मे अधिक फूल ऐसे ही रहे हों। परिस्थिति के अनुसार फूल के विभिन्न अंगो में अनेक परिवर्त्तन हुए। यही बात है कि अधिकतर फूलों की रचना हमारे काल्पनिक फूल से इतनी भिन्न हो गई है और बहुत तरह के फूल उत्पन्न हो गए हैं।

यदि कुछ फूलों की जाँच की जाय तो इनकी रूप-विभिन्नता का कारण कुछ विशेष बातों पर निर्भर जान पड़ता है। इनमें से मुख्य हैं—(१) फूल के अवयवों की संख्या मे परिवर्त्तन, (२) फूल के अंगों की स्थिति, (३) पुष्पपत्रों का आकार तथा रूप और (४) पुष्पांगों का निजासंग तथा परासंग।

१—फूल के अवयवों की संख्या में परिवर्त्तन—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कल्पित मौलिक फूल में हर भाग के अवयवों की संख्या समान होती हैं, परन्तु साधारण फूलों में ऐसी अवस्था नही मिलती और इस संख्या मे कमी और अधिकता दोनों ही बाते मिलती हैं। संख्या में अधिकता प्रायः फूल के किसी भी मडल में एक के वजाय कई मंडल उत्पन्न हो जाने से होती है। कभी-कभी ऐसा अवयव-विभाजन से भी होता है। इस प्रकार पुष्पपत्रों की सख्या साधारण संख्या की द्विगुण, त्रिगुण आदि हो जाती है। विशेषकर, ऐसी दशा लिंगचक्र की होती है।

फूल के अवयवो की सख्या मे कमी किसी भी मंडल मे अपूर्ण विकसन (Suppression) अथवा उसके लोप से उत्पन्न होती है। बहुधा यह कमी लिंगचक्र मे ही देखी जाती है। फूल के अंगों के अवयवों की संख्या उनका वंशलक्षण है और इसकी परीक्षा से इनकी जाति तथा वर्ग का पता लग जाता है।

हम अन्यत्र देख चुके हैं कि गुप्तबीज पौधों के दो समूह हैं—एकदली और द्विदली। इन दोनों की पत्तियों के नाड़ी-क्रम तथा इनकी आन्तरिक रचना के भेद से भी हम परिचित हैं। इनके फूलों में भी विभिन्नता होती है।

यदि हम फूलों के लुप्त अंगों की ओर विशेष ध्यान न दे तो हम देखेंगे कि इनके अवयवों की संख्या दो-दो, तीन-तीन, चार-चार या पाँच-पाँच होती है, जिससे इन्हे हम द्विभागशील (Dimerous), त्रिभागशील (Trimerous), चतुर्भागशील (Tetramerous) या पंचभागशील (Pentamerous) कहते हैं। द्विदली पौधों के फूल द्विभागशील, चतुर्भागशील अथवा पंचभागशील होते हैं और एकदली पौधों के फूल त्रिभागशील होते हैं। फिर भी इस नियम को अचल नही कह सकते। कुछ द्विदली पौधों में फूल त्रिभागशील होते हैं।

२—फूल के अंगों की स्थिति—साधारण क्रम से फूल के प्रत्येक अंग के अवयव अपने पड़ोसवाले अंगों के अवयवों के पर्य्यायक्रम में होते हैं; अर्थात् दलपत्र पुटपत्रों के सामने (अभिमुख) नही, वरन् दो पुटपत्रों के संधिस्थान अर्थात् इनके बीच की जगह के सामने होते हैं (चि० ६)। यही क्रम पंखुड़ियों और पुंकेसर का भी रहता है। यदि किसी चक्र में एक से अधिक घेरे होते हैं तो इन घेरों के
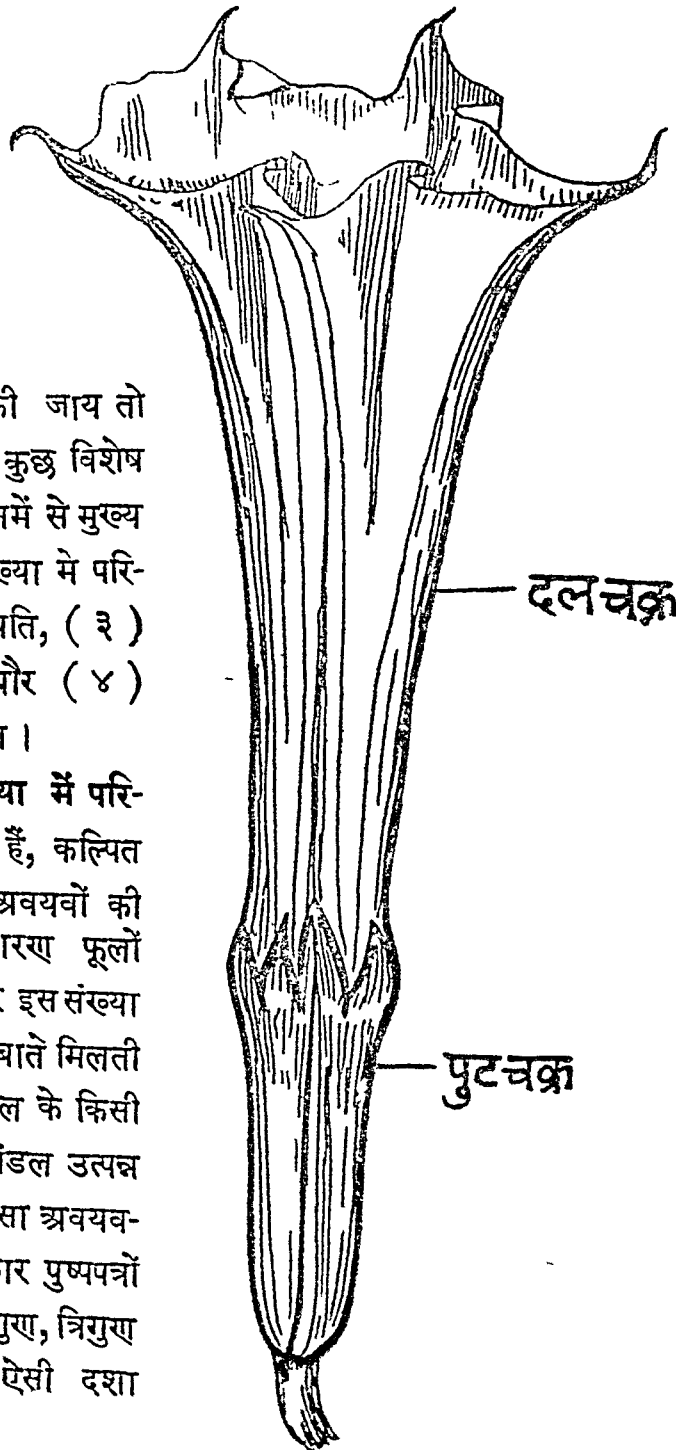
चि० १४—धतूरे का फूल

अवयव भी ऐसे ही क्रमबद्ध रहते हैं। कभी-कभी इस नियम मे उलट-फेर भी हो जाता है। घुमावदार (Spiral) क्रमवाले फूलों मे कभी पडोसवाले अगों के अवयव पर्यायक्रम मे न होकर आमने-सामने होते हैं। चाक्रिक फूलो मे भी कुछ विशेष कारणों से ऐसा हो जाता है।

जोंकमारी (*Anagalis arvensis*) तथा बिसखोपरा (*Primula*) मे फूल पचभागशील होते हैं, परन्तु परागकेसर दलो के सामने होते हैं, और इन्हें 'दलपत्राभिमुख' (Antepetalous) कहते हैं। साधारण प्रकार से, फूल के अन्य अगों के अवयवों की भाँति, इन्हे भी पर्य्यायक्रम मे होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नही है। अब प्रश्न यह है कि इन फूलों में ऐसी विलक्षणता कैसे उत्पन्न हो गई। अनुमान किया जाता है कि किसी समय इन फूलों मे, अथवा उन वृक्षों के फूलों में, जिनसे इनकी उत्पत्ति हुई है, पुंकेसर के दो मंडल थे जो एक दूसरे से और दलों से पर्य्यायक्रम में थे; परन्तु इनका बाहरी चक्र लुप्त हो गया है, और केवल भीतरी चक्र रह गया है, जो यथार्थ में लुप्त चक्र के पर्य्यायक्रम में और इसलिए पंखुड़ियों के अभिमुख है। यही कारण है कि पुष्पपत्रक्रम परिवर्त्तित हो गया है। कुछ फूल ऐसे भी होते हैं कि जिनमें दलपत्र, पुटपत्र आदि का तो केवल एक ही मंडल होता है, परन्तु परागकेसर के दो मंडल होते हैं और बाहरी चक्र दलों के पर्य्यायक्रम में न होकर उनके अभिमुख होता है। यह विलक्षणता परागकेसर के चक्रों की स्थानाच्युति (Displacement) के कारण समझी जाती है और इसे 'द्विगुणकेसरित' (Obdiplostemonous) अवस्था कहते हैं।

योनिचक्र की अवस्था बहुधा फूल के दूसरे अगों से अधिक भिन्न होती है। इसमे फूल के दूसरे अगों से अधिक परिवर्त्तन हो गया है और इसके भाग बहुत-कुछ लुप्त हो गए हैं, जिससे योनिनलिकाओं के स्थान का फूल के शेष अगों से विशेष सबध नही जान पड़ता।

३—पुष्पपत्रों का आकार तथा रूप—आदर्श फूल मे प्रत्येक भाग के अवयव आकार तथा रूपरग आदि मे समान होंगे और फूल 'व्यवस्थित' (Regular) होंगे (चि० ६)। जिन फूलों मे ऐसा नहीं होता और किसी न-किसी मडल के पुष्पपत्र रूप तथा आकार में समान नहीं होते, उन्हें 'अव्यवस्थित' (Irregular) (चि० १३) कहते हैं। यह भेद विशेषकर दलों में ही होता है। व्यवस्थित फूलों को 'समाकृति' (Actinomorphic) कहते हैं। ऐसे फूल कम से कम दो धरातलों मे समान भागो मे बाँटे जा सकते हैं। अव्यवस्थित फूलों मे कोई-कोई तो ऐसे होते हैं, जो एक धरातल में समान भागों मे विभाजित हो सकते हैं, परन्तु कुछ के समान भाग हो ही नहीं सकते। पहली श्रेणी के फूलो को 'एकतलसमात्र' (Zygomorphic) और दूसरी श्रेणीवालों को 'विसगतावयव' (Asymmetric) कहते हैं। अवयव-असमानता फूल के किसी न किसी अग में अतिवृद्धि, बहिरुद्भेद अथवा अविकसन (Abortion) मे उत्पन्न होती है।

फूल के अगों में परिवर्त्तन से भी कभी-कभी उसकी आकृति में अन्तर पड़ जाता है। अतीस के दलपत्र मधुकोश में परिवर्त्तित हो गए हैं, जिससे इसके फूल की बनावट इस समाज (देवकाडर वर्ग) के दूसरे फूलों से बिलकुल ही निराली हो गई है।

४—पुष्पाङ्गों में निजासंग (Cohesion) और परासंग
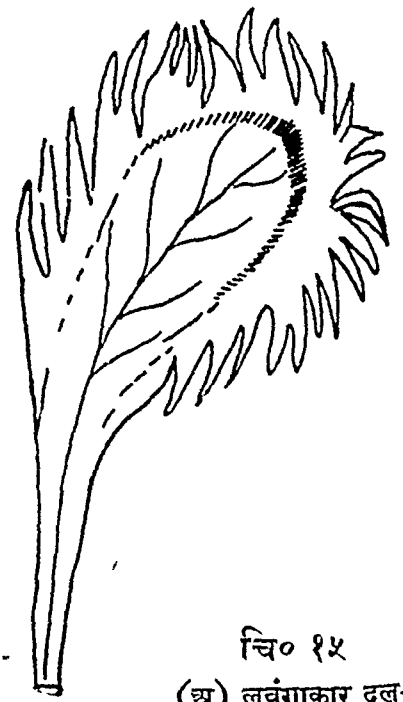
चि० १५
(अ) लवंगाकार दल-चक्र; (ब) सपदक दल

(Adhesion)—वनस्पति-शास्त्र मे निजासग फूल के किसी अग के अवयवों के पारस्परिक मिलान (पुटपत्रों, दलपत्रों आदि के आपसी मिलान) को कहते हैं। धतूरे अथवा लाल मिर्च के पुष्पावरणों मे पुटपत्र अथवा दल अलग-अलग नही होते; वरन् इन दोनों ही की सयुक्तावस्था के कारण पुटचक्र और दलचक्र के सम्पूर्ण घेरे बन जाते हैं (चित्र १४)। पाँच पुटपत्रों के मेल से 'सयुक्त पुटचक्र' (Gamosepalous Calyx) और पाँच दलों के मेल से 'सयुक्त दलचक्र' (Gamopetalous Corolla) बनता है। जब अवयव अलग-अलग हों तो उन्हे 'विभक्त' (Poly) और जब वे मिले होते है तो उन्हे 'संयुक्त (Gamo-) कहते हैं। इस प्रकार पुटचक्र 'विभक्तपत्री' (Polysepalous) या 'संयुक्तपत्री' (Gamosepalous) और दलचक्र 'विभक्तदली' (Polypetalous) या 'सयुक्तदली' (Gamopetalous) होता है। गुलहड में सारे लिगसूत्र मिले होते हैं, जिससे एक नली-सी बन जाती है और परागकोश इससे निकलते हैं। ऐसे परागकेसर (चि० ४) को 'एककूर्ची' (Monadelphous) कहते है। सूरजमुखी, कटेरी, बैंगन आदि में फूल के सब परागकोश आपस मे मिले होते हैं, जिससे इन्हें 'संयुक्तपिटक' (Syngenesious) कहते हैं। जब किसी फूल में परागकेसर के सूत्रों के मेल से दो, तीन अथवा अधिक गुच्छे बन जाते हैं तो इनके अनुसार इन्हें द्विकूर्ची (Diadelphous), त्रिकूर्ची (Triadelphous) अथवा बहुकूर्ची (Polyadelphous) आदि कहते हैं। योनिनलिकाएँ भी आपस में एक दूसरे से मिली या अलग-अलग होती हैं। जब ये अलग-अलग होती हैं, जैसा कि देवकांडर के फूल में होता है (चि० २) तो योनिचक्र को 'विभक्त योनिनलिका युक्त' (Apocarpous) कहते हैं और जब ये, जैसा कि धतूरे या गुलहड़ के फूल मे होता है, आपस मे मिली रहती है तो इन्हे 'सयुक्तयोनि' (Syncarpous) कहते हैं। बहुधा फूलो में गर्भाशय ही मिले होते हैं और शेष दो भाग स्वतत्र रहते हैं।

परासंग एक मडल के अंगों के दूसरे मडल के अंगों के साथ के मेल को कहते हैं। पुटचक्र और दलचक्र का मिलान बहुत कम होता है; परन्तु दलों और लिगसूत्रो का मिलान अधिक फूलों में मिलता है। बहुधा संयुक्तदली फूलों में यह अवस्था मिलती है। जिस समय धतूरे के तुरही जैसे दलचक्र को चीरकर देखा जाता है तो इसके दलों के अन्दर की ओर लिगसूत्र चिपके मिलते हैं। लिगसूत्रों का कुछ भाग और परागकोश स्वतंत्र होते हैं। ऐसी दशा में पुंकेसर को 'दलसंलग्न' (Epipetalous) कहते हैं। योनिचक्र और लिगचक्र का सलग्नत्व बहुत कम मिलता है। इस अवस्था को 'उभयकेसरसलग्न' (Gynandrous) कहते हैं।

चि०—१६
(अ) मटर का फूल; (ब) मटर के फूल का पुष्पचित्र

फूल के अंगों की कुछ विशेष बातें—फूल के विभिन्न अंगों के कर्त्तव्य तथा आकृति आदि के यथार्थ भेद का पता तभी चल सकता है जब हम इस ओर ध्यान दें कि इन अंगों की रचना का एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध है। इसका निर्णय केवल फूलों की जाँच से ही किया जा सकता है। यह पुरानी धारणा कि फूलों के विचित्र रूप-रंग मनुष्य

चित्र १७—गुलाब

इसके अनेक दलपत्र पुंकेसर के परिवर्त्तन से पैदा हो गए हैं। दलचक्र को यहाँ 'गुलावाकृति' कहेंगे।

के मनोरंजन के लिए हैं, आज से बहुत दिन पूर्व ही निर्मूल सिद्ध हो चुकी है और अब प्रायः सभी जानते हैं कि ये सारी बातें फूलों मे सेचन करनेवाले पतिंगों को पैठने देने के लिए अथवा वर्जित पतिंगों को उनसे दूर रखने के हेतु ही हैं। बहुधा इस रहस्य का फूल के पुटचक्र और दलचक्र से ही विशेष सम्बन्ध रहता है। इन बाह्या-वरणों से फूलों को कई लाभ होते हैं। कली-रूप में ये फूल के विशेषांग अर्थात् पुंकेसर तथा गर्भकेसर के कोमल अंगों की रक्षा करते हैं। विकसित फूल मे ये प्रायः पराग को हवा और ऐरे-गैरे पतिंगों से सुरक्षित रखते हैं। यदि ऐसा न होता तो सम्भव है, इस अमूल्य द्रव्य का अधिक भाग वायु में उडकर इधर-उधर हो जाता या उसे दुष्ट कीड़े ही चट कर जाते। कुछ फूलों मे ये स्वपिंडसयोग (Autogamy अर्थात् अपने ही पराग से बीजांड के गर्भाधान) मे सहा-यक होते हैं। बहुतेरे फूलों मे दलों के रूप-गंध कीड़ों को आकर्षित करते हैं। ये कीड़े एक फूल का पराग दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुँचाते हैं, जिससे गर्भाधान होता है और बीज बनते हैं। मधु की रक्षा भी इन्हीं अंगों से होती है। कर्त्तव्य के अनुसार फूलों के इन अंगों मे बडा अन्तर देखा जाता है, जिससे इनकी अलग-अलग जाँच की आवश्य-कता है। सेचन जैसी पौधों की विशेष क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण इनकी आकृति आदि पर भी विचार करना होगा।
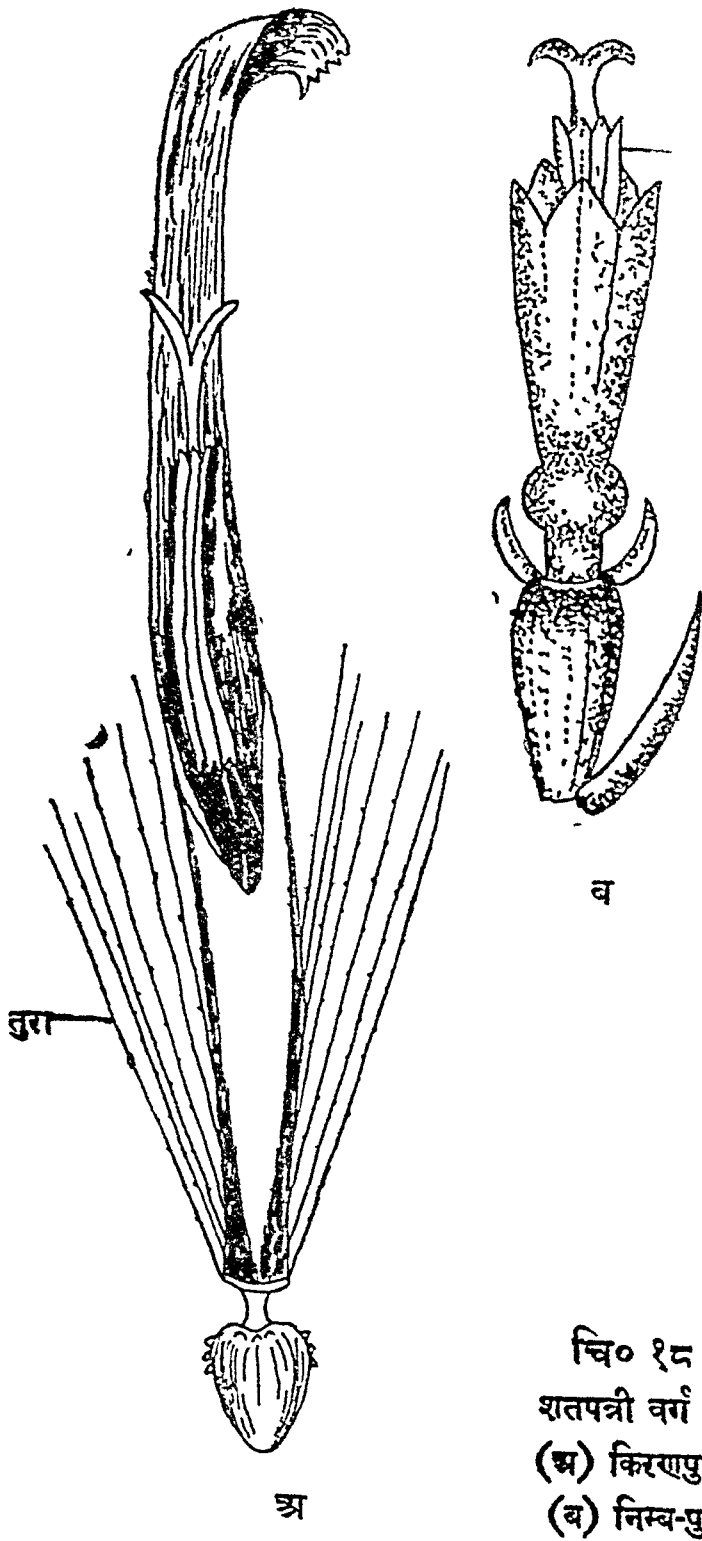
चि० १८
शतपत्री वर्ग के
(अ) किरणपुष्प;
(ब) निम्ब-पुष्प

पुटचक्र—गाजर, धनिया, सौंफ आदि में जहाँ, एक ही स्थान से कई फूल निकलते हैं, पुटचक्र के केवल चिह्नमात्र मिलते हैं। फूलों के गुच्छों के नीचे पुटपत्र-जैसा वृन्तपत्र-समूह होता है। विषनाग (*Delphinium*) मे इसके विपरीत पुटपत्र ही फूल में सबसे आकर्षक होते हैं। इस फूल में पृष्ठस्थ (Posterior) पुटपत्र 'लांगुलिक' (Spurred) होता है। संयुक्त दलचक्र का लांगुल, जिसमें मधुकोश होता है, इसके अन्दर दस्ताने के भीतर उँगली की भाँति सुरक्षित रहता है। नागकेसर (*Tropeolum majos*) में भी पुटचक्र लांगुलिक होता है; परन्तु दल लांगुलिक नहीं होता। इस फूल के पुटपत्रों में ही मधुकोश होता है। अतीस में पुटचक्र 'कंटोपाकार' (Galeate) होता है। कन्टोप दो पृष्ठस्थ दलों के मिल जाने से बनता है। इससे परागकेसर और मधुकोश की रक्षा होती है। गुलाब (चि० १७) का 'चम्बूसम' (Urn-shaped) चमकीला हरा भाग, जिसे लोग प्रायः पुटचक्र समझते हैं और जिससे फल का सुर्ख बाहरी भाग बनता है, 'स्तंभक' है। इस फूल में पुटपत्र पाँच और स्वतंत्र होते हैं और ये फल पकने पर भी लगे रहते हैं। इन्हे 'चिरस्थायी' (Persistant) कहते हैं। सेब, नाशपाती तथा स्ट्राबेरी (चि० ६) में भी चिरस्थाई पुटपत्र होते हैं। बहुत-से फूलों में पुटपत्र 'पूर्वपाती' (Deciduous) होते हैं और वे फल तैयार होने के पूर्व ही गिर जाते हैं। पोस्ते तथा करुए (इसे स्वर्णक्षीर भी कहते हैं) में पुटपत्र फूल खिलते ही गिर जाते हैं और कली मे कोमल अगों की रक्षा के अतिरिक्त इनसे फूल को और कोई लाभ नहीं होता। इन्हे 'लोल' (Caducous) कहते हैं। किसी-किसी फूल के चिरस्थायी पुटपत्र फूल खिलने के बाद भी बढ़ते रहते हैं और फल बनने पर भी उस पर लगे रहते हैं। ऐसे पुटचक्र को 'सहवर्धिष्णु' (Accrescent) कहते हैं। रसभरी के फूल के ऊपर का खोल ऐसे पुटचक्र से ही बनता है। यह फल के वायु द्वारा प्रसारण में बड़ी मदद करता है। बैंगन, असगंध तथा धतूरे में भी इसी भाँति का पुटचक्र होता है।

स्ट्राबेरी (चि० ६) तथा गुड़हल (चि० ४) के फूलों में पुटचक्र के नीचे एक दूसरी ऐसी ही रचना होती है, जिसे 'उपपुटचक्र' (Epicalyx) कहते हैं। बहुत सम्भव है, यह फूल पर रेंगकर चढ़नेवाले कीड़ों के मार्ग
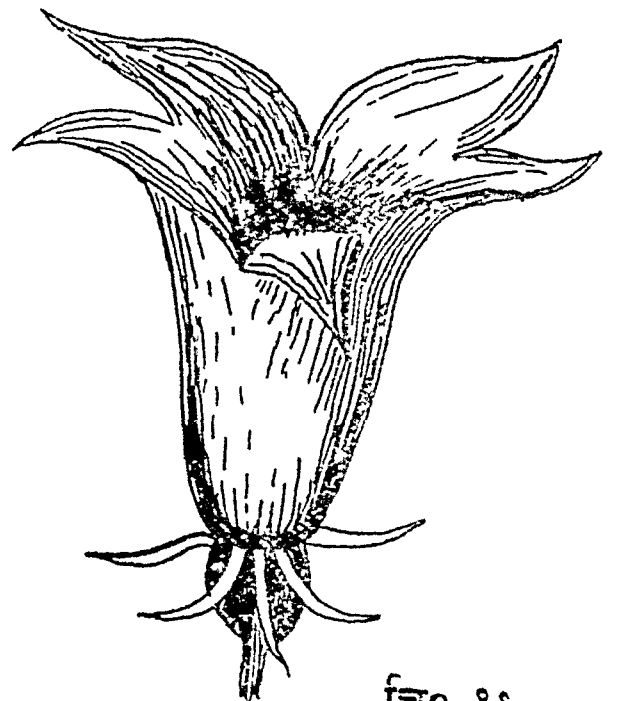
चि० १६

चि० २०
द्विओष्ठी जृम्भमुखी दलचक्र
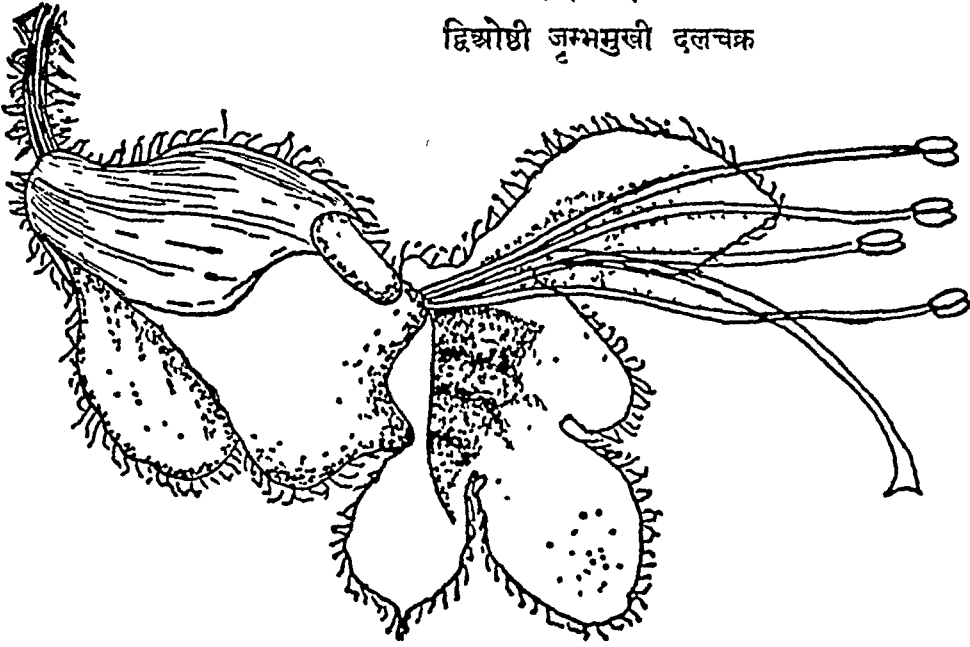
में बाधा पहुँचाता हो, जिससे उसके कोमल अंगों की रक्षा होती है। 'कुप्पाकार' (Globose) और 'कलशाकार' (Saccate) पुटचक्र फूल के कोमल अगों की हानिकारक पतिगों से रक्षा करने मे सबसे अधिक उपयोगी प्रतीत होते हैं। ऐसे फूलों मे उपद्रवी कीडे पुटचक्र मे छेद करने पर भी मधु तक नही पहुँच पाते, केवल लम्बी सूँड़-वाले पतिगों की ही मधु तक पहुँच होती है। इन्हीं पतिगों द्वारा इन फूलों मे सेचन होता है।

दलचक्र—दलचक्र के पुटचक्र से भी अधिक रूप-रूपान्तर होते हैं। परन्तु यदि विचार किया जाय तो ऐसा होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। पौधों के सेचन मे इस अग का सबसे अधिक भाग रहता है। यही बात इस अग की बनावट में इतने परिवर्त्तन की जड़ जान पडती है। यदि आप कमल, गुलाब, कनेर, पिटूनिया, वेला, नरगिस, केवडा तथा दूसरे परिचित फूलों की वनावट पर विचार करें तो आपको इनमें बड़ा अन्तर मिलेगा। यथार्थ में दलचक्र की इतनी क़िस्मे हैं कि इन सबकी यहाँ चर्चा करना असम्भव है। इसलिए हम केवल कुछ खास-खास उदाहरण देकर इस अग की आकृति का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। सरसों (चि० १०) तथा मूली के फूल में चार पुटपत्र दो मंडलों में होते हैं। आमने सामनेवाले पुटपत्र बगली पुटपत्रों के किनारों को ऐसे ढके रहते हैं कि पुटचक्र की एक नकली नली-सी बन जाती है। दलपत्र 'सपदक' (Clawed) होते हैं और इस नली के ऊपर 'स्वस्तिकाकार' (Cruciform) रूप मे फैले रहते हैं (चि०१०)। दलचक्र को 'स्वस्तिकाकार' कहते हैं। मधुप्रेमी पतिगों के लिए ऐसे दलों पर बैठकर मधु खोजने का अच्छा सुभीता रहता है। डायन्थस (*Dianthus*),
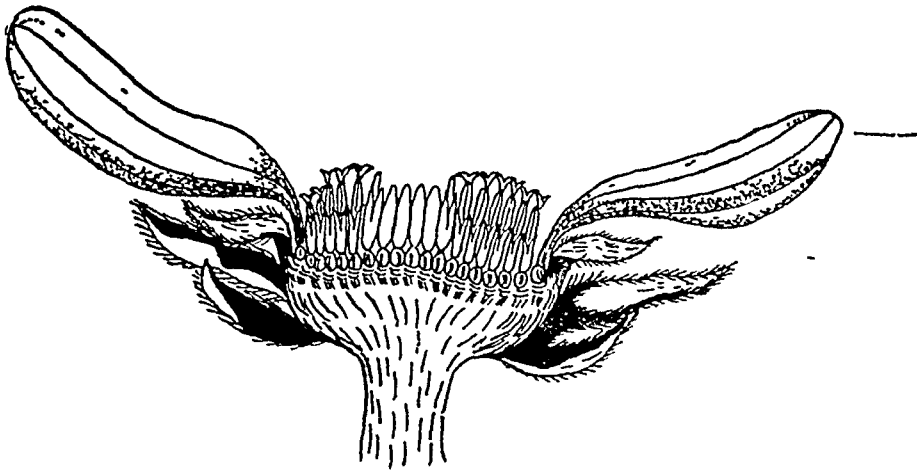
चि० २१—सूर्यमुखी का फूल
यह एक नहीं, अनेक पुष्पों का समूह है। बाहर किरणपुष्प और अंदर निम्बपुष्प है।

स्वीट विलियम (Sweet William), कारनेशस (Cornations) आदि पौधों के फूलों में दलचक्र कुछ और ही ढंग के होते हैं। इनमे पुटचक्र संयुक्त और नलिकाकार होता है, परन्तु दलचक्र विभक्तदली तथा दल सपदक होते हैं। मधु पुटचक्र के निचले भाग में रहता है और इस तक केवल लम्बी सूँड़वाले पतिंगे ही, जिनके द्वारा इस पौधे में सेचन होता है, पहुँच पाते हैं। देखने में ऐसे फूल कुछ-कुछ लौंग जैसे लगते हैं, जिससे इन्हें 'लवंगाकार' (Caryophyllaceous) (चि० १५) कहते हैं। ऐसे कुछ फूलों में 'मधुपथप्रदर्शक रेखाएँ' (Honey guides) भी होती हैं। 'गुलाबाकृति' (Rosaceous) दलचक्र में पाँच स्वतंत्र और खुले दल होते हैं, परन्तु ये सपदक नही होते। इन फूलों मे प्रायः स्तम्भक भी फैला रहता है। जंगली गुलाब तथा देवकान्डर मे ऐसा दलचक्र होता है। हमारे बगीचे के सुपरिचित साधारण गुलाब मे अनेक दलपत्र पुंकेसर के परिवर्त्तन से पैदा हो गए हैं। दलचक्र को यहाँ भी गुलाबाकृति ही कहेंगे। स्वतंत्र दली फूलों में 'चित्रांगाकार' (Papillionaceous) दलचक्र सबसे विचित्र है (चि० १६)। शिम्बी वर्ग के अन्तर्गत 'अपराजिता उपवर्ग' (Papillionatae) में ऐसा दलचक्र होता है। इस फूल में पाँच दल होते हैं और पृष्ठस्थ दल, जिसे 'पताका'(Standard) कहते हैं, सबसे बड़ा और कली में सबसे बाहर होता है। दो पार्श्विक और दो पूर्ववर्त्ती दल इनसे छोटे होते हैं और ऊपर की ओर वाले दल निचले वालों को ढके रहते हैं (चि० १६)। निचले दोनो दलों के मेल से एक परनाली-सी रचना बन जाती है, जिसे नौका (Keel) कहते है। पताका पार्श्वी दलो को और ये नौका को ढके रहते हैं।

सयुक्त दलचक्र के और भी अधिक भेद हैं। इनकी बनावट का सम्बन्ध भी सेचन और पतिगों से ही रहता है।

मुकुट
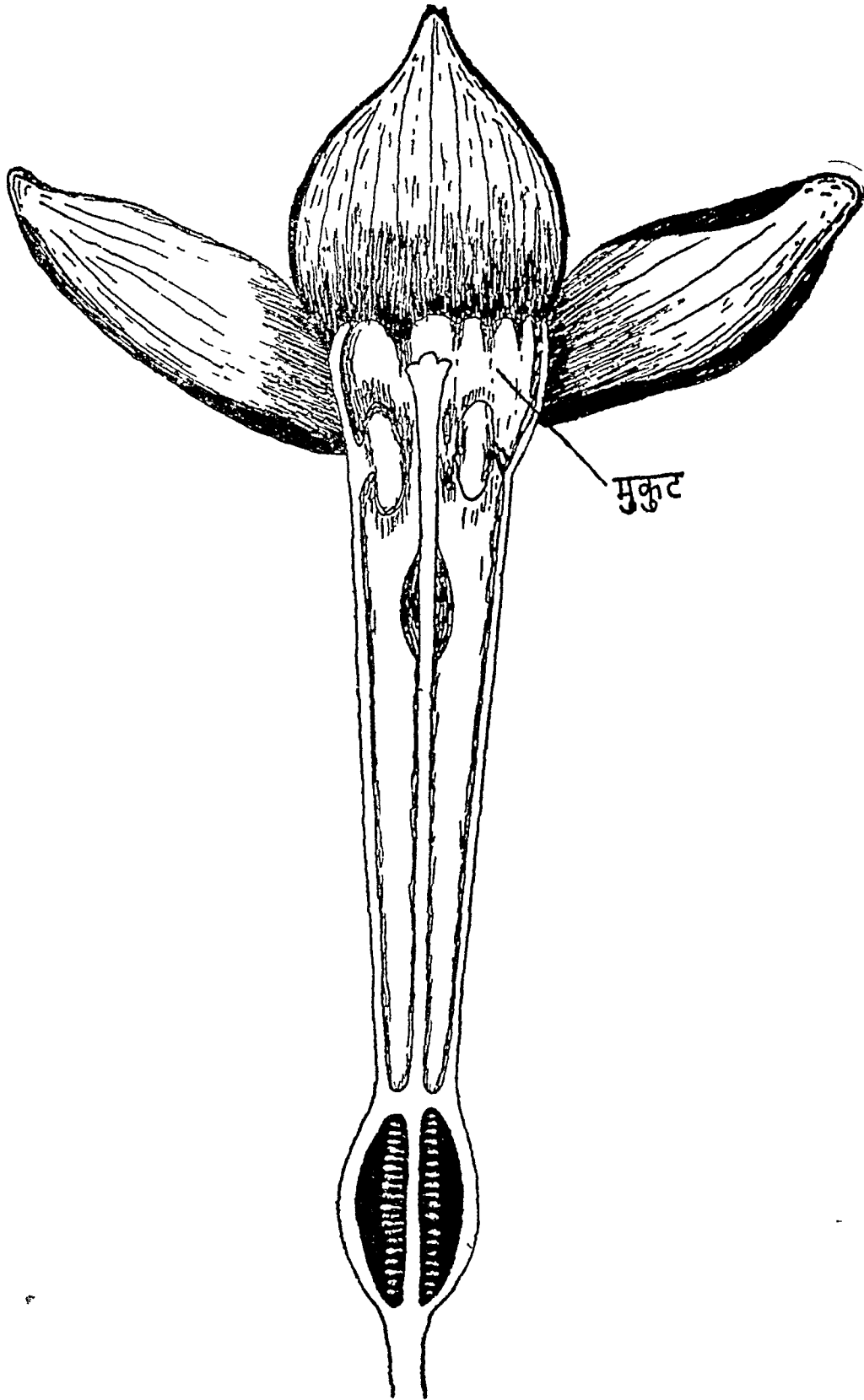
चि० २२
नरगिस की जाति के पौधे का फूल
यह बीच से दो भाग करके दिखाया गया है। इसमें पुष्प त्रिभागशील होते हैं।

यदि दलचक्र नली-जैसा ऊपर से नीचे तक एक ही चौडाई का हो, जैसा कि सूर्य्यमुखी (चि० २१) तथा गेंदा के बिम्बपुष्पों मे होता है, तो उसे 'नलिकाकार' (Tubular) कहते हैं। यदि इसकी बनावट घटी-जैसी हो तो उसे 'घटिकाकार' (Campanulate) (चि० १६) कहते हैं। यदि निचला भाग कम चौड़ा और ऊपर को कुछ-कुछ फैलता गया हो तो उसे 'फनेलाकार' (Infundibuliform) कहते हैं। कुछ फूलों के दलचक्र दीपक या प्याली-जैसे होते हैं। इन्हें 'दीपकाकार' (Salver-shaped) कहते हैं। फनेलाकार फूल तम्बाकू तथा पिटूनिया में होते हैं।

अव्यवस्थित सयुक्तदली फूलों मे द्विओष्ठी (Bilabiate) फूल विशेष उल्लेखनीय हैं (चि० २०)। इन फूलों के दो भेद हैं। एक प्रकार के ऐसे फूलो मे गला खुला रहता है जैसा कि तुलसी, देवना, दीर्घोष्ठ (*Salvia*) आदि में होता है और दूसरी भाँति के फूलों में इसके विपरीत गला बद रहता है, जैसा कि सहदेई तथा एण्टीराइनम् (*Antirrhinum*) मे होता है। पहली क़िस्म के फूलों को 'जृम्भमुखी' (Ringent) और दूसरी भाँति वालों को 'बद्धमुखी' (Personate) कहते हैं। लम्बोष्ठ दलचक्र मे पाँच दलों का अलग-अलग पता लगना भी कठिन होता है, परन्तु यदि हम स्मरण रक्खें कि पुटपत्र साधारण प्रकार से दलपत्रों के पर्य्यायक्रम मे होते हैं तो इसका पता लग सकता है। इस नियम के आधार पर ज्ञात होता है कि निचले होंठ के बीच का भाग, जो प्रायः कुछ फटा-सा होता है, एकदल है और उसके दायें-बायें के दो 'उपांग' (Appendages) बगलवाले दो दलों के अवशेष भाग हैं। बाक़ी के दो दलों से फन या टोप-जैसा ऊपरी होंठ बनता है। मधुमक्खियों द्वारा सेचन का ऐसे फूल से विशेष सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध में बद्धमुखी फूलों की रचना और भी अधिक विचार करने योग्य है। इसके होंठ तभी खुलते हैं, जब कोई ताक़तवर या वज़नी कीड़ा निचले होंठ पर आ बैठता है।

साधारण सयुक्त दलचक्र में 'कलशाकार' दलचक्र भी होता है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, ऐसा दलचक्र गोलाकार होता है। कलशाकार ही दलचक्र से मिलता-जुलता 'चम्बूकार' (Urceolate) दलचक्र होता है। ऐसे दलचक्र मे लम्बी सूँडवाले पतिंगे ही सेचन कर सकते हैं। अगूर के फूल का दलचक्र और भी विचित्र होता है। इसके दलपत्र हरे तथा सादे होते हैं और इसलिए पतिंगों के आकर्षण के लिए यह निरानिर बेकार होते हैं और फूल खिलने के थोड़े ही समय मे मुरझाकर गिर जाते हैं। परन्तु गिरने के पूर्व इसके पाँचों दल ऊपर की ओर को जुड़े रहते हैं, जिससे एक सुन्दर गुवज सा गर्भाशय और लिंगचक्र के ऊपर बन जाता है। यह इन कोमल अगों की रक्षा करता है।

पुष्पावरणों पर विचार करते समय शतपुष्पी वर्ग के फूलों का उल्लेख किए बिना यह विषय अधूरा ही रह जायगा। इस वर्ग के पौधों मे बहुत सारे 'लघुपुष्प' (Florets) एक ही स्तम्भक से निकलते हैं। गेंदा, सूरजमुखी (चित्र २१) गुलदावदी, जिन्हे साधारण मत से फूल मानते हैं, वास्तव मे फूलों के गुच्छे हैं। इसकी परीक्षा इन पौधों मे बडी सुगमता से हो सकती है। यदि ऐसे पुष्पगुच्छ को बीच से दो भाग में चीरकर देखा जाय तो बीच की ओर 'बिम्बपुष्प' (Disc florets) मिलेंगे और बाहरी ओर 'किरणपुष्प' (Ray florets)। बिम्बपुष्प (चित्र १८) नलिकाकार और पूर्ण होते हैं। किरणपुष्प (चित्र १८) बहुधा इनसे भिन्न होते हैं। दोनों ही भाँति के फूलों में दलचक्र के आधार के नीचे गर्भाशय होता है और योनिनली का अधिक भाग दलों में छिपा रहता है। केवल इसकी नोक, जिसके सिरे पर विभक्त योनिछत्र होता है, बाहर निकली होती है।

पुटपत्रों के रूपान्तर से एक रोमवत् रचना बन जाती है, जिसे 'तुरा' (Pappus) कहते हैं। इस वर्ग के कितने ही पौधों में तुरा फल पकने पर भी उनके शिखर पर लगा रहता है और हवा में फूलों के छितराने में सहायता करता है।

कुछ फूलों मे दलचक्र पर पंखुडियों के भीतर की ओर एक विशेष रचना होती है, जिसे 'मुकुट' (Corona) कहते हैं (चि० २२)। यह दलों से ही उत्पन्न होता है और किसी-किसी फूल में बडा सुन्दर होता है, जिससे ऐसे फूलों का आकर्षण और भी बढ़ जाता है। कभी-कभी यह विशेष रूप से स्पष्ट नही होता। नरगिस के फूल का मुकुट आकर्षक और कनेर का साधारण होता है। झूमकलता (*Passiflora*) के मुकुट के विषय में कहते हैं कि इसमे छोटे-छोटे पतिंगे फँस जाते हैं। शकरँखोरे (Humming Birds) इन्ही की खोज में फूलों मे घुसते रहते हैं और इस प्रकार एक फूल का पराग दूसरे तक पहुँचाकर इनमे सेचन करते हैं। कुछ फूलो मे ऐसा मुकुट पतिंगों को उलझा रखता है, जिससे ये फूल मे उपद्रव नही कर पाते।

मनुष्य की कहानी
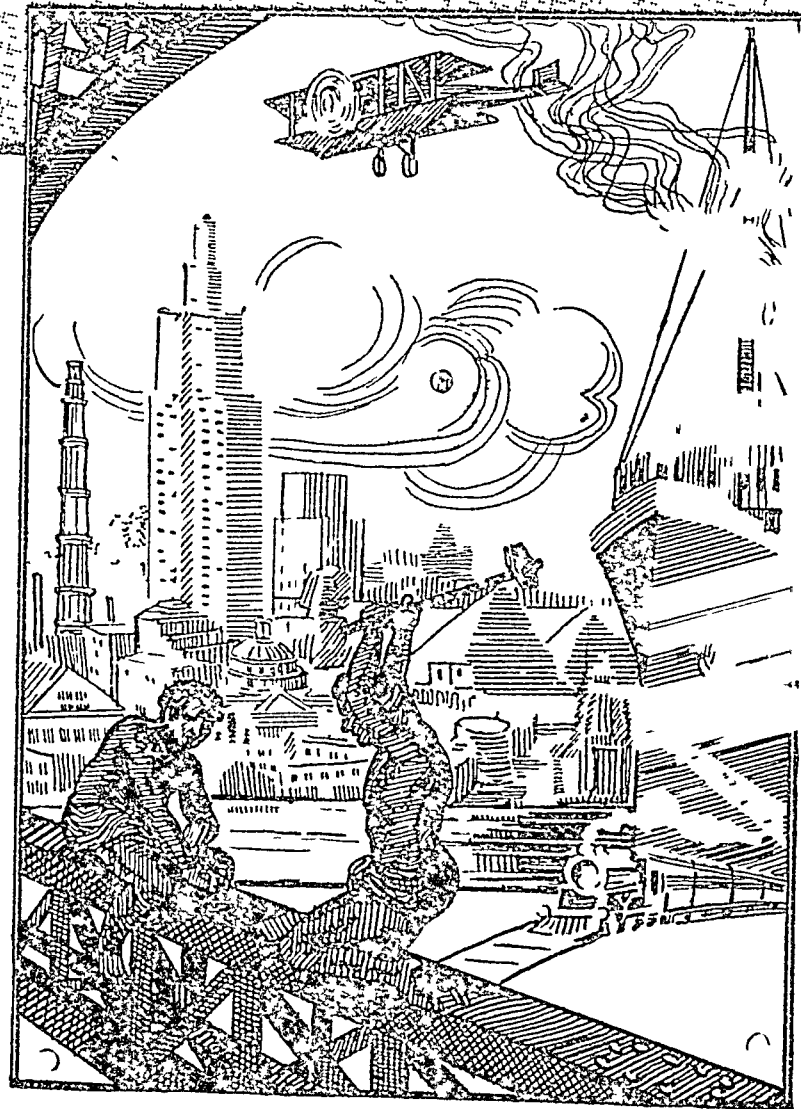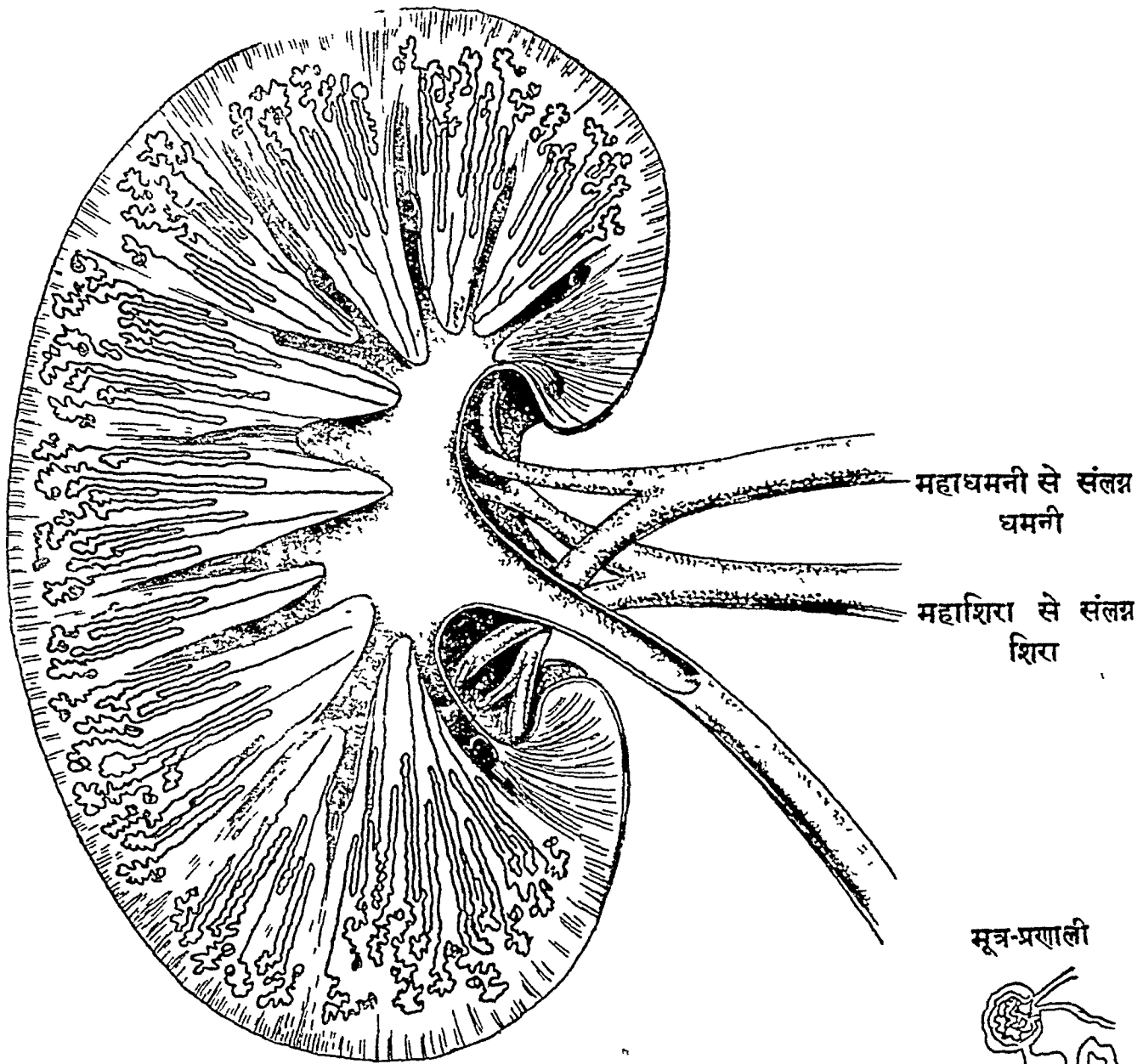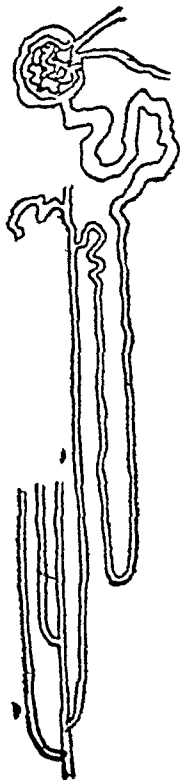
हमारे शरीर-यंत्र के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—वृक्क या गुरदे की सूक्ष्म रचना

वृक्क या गुरदा दूषित मल पदार्थ से लदे हुए रक्त में से हानिकारक अपद्रव्यों को छानकर मूत्र के रूप में बाहर निकालने के लिए प्रकृति द्वारा नियोजित संस्थान का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। जैसा कि पृ० २६१७ के चित्र से आप जान सकते हैं, हमारे शरीर मे ऐसे दो गुरदे रहते है, जो दो मूत्र-प्रणालियों द्वारा मूत्राशय या मसाने से जुडे रहते हैं। प्रस्तुत चित्र में एक गुरदे को बीच में से तराश कर उसकी आन्तरिक रचना परिवर्द्धित करके दिखाई गई है। आप देख सकते है कि वृक्क में अनेक पतली-पतली ऐसी सूक्ष्म नलियों का जंजाल-सा रहता है, जिनमें से प्रत्येक के शीर्ष भाग रक्त-केशिकाओं के झुंडों से संलग्न रहते है। यही नलिकाएँ रक्त-शोधन और मूत्र-रचना के लिए किस प्रकार एक जादू के छन्ने का-सा काम करती हैं, यह लेख में पढ़िए। दाहिनी ओर ऐसी ही एक सूक्ष्म नली का परिवर्द्धित चित्र दिया गया है। वृक्क के मध्य भाग में जो खोखला-सा अंश है, उसमें कई मीनारों जैसी रचनाओं के शिखर निकले हुए आप देख सकते हैं। इन्हीं शिखरों में बने छिद्रों में से स्रवित होकर मूत्र मूत्र-प्रणाली में जाता है।
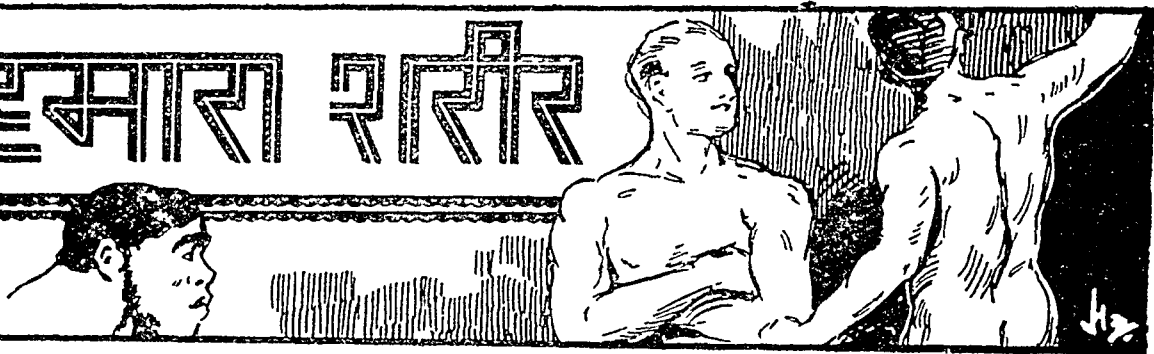
मलोत्सर्जन-संस्थान

मूत्र-वाहक संस्थान—वृक्क (गुरदे), मूत्राशय और मूत्रमार्ग

प्रस्तुत लेख में हम मलोत्सर्जन-संस्थान के विषय में आपको बतायेंगे। जिस भाँति पोषण-संस्थान, श्वासोच्छ्वास-संस्थान, रक्त-सचारक-संस्थान आदि शरीर के लिए परम आवश्यक हैं, उसी भाँति यह संस्थान भी है।

यह प्रकृति का नियम है कि जहाँ कोई वस्तु निर्मित होती है वहाँ कुछ न कुछ नष्ट भी होता है। शरीर के कोष भी इसी नियमानुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। इस नष्ट होने की क्रिया से जो दूषित पदार्थ बनते हैं, उन्हें रक्त धो-बहाकर एकत्रित कर लेता है और फिर वह कई रीतियों से उसे शरीर के बाहर निकालता है। यह तो आप पढ़ ही चुके हैं कि फेफड़ों के सहारे हम किस तरह कारबोनिक ऐसिड गैस बाहर निकालते हैं और यह भी आप जान चुके हैं कि खाल के छिद्रों में से कुछ पदार्थ पसीने के साथ बाहर आते हैं। आप यह भी जानते हैं कि हमारे ग्रहण किये गये भोजन के सभी अंश आँतों में सोखकर शरीर के कार्य मे नही आते, थोड़े बहुत भाग नित्य ही अपच रह जाते हैं, जिसे शरीर मल के रूप में प्रतिदिन बाहर निकालता है। यदि यह दूषित पदार्थ शरीर से बाहर नहीं निकल पाए तो शरीर के दूषित होने की सम्भावना होती है। शरीर के इन दूषित व हानिकारक पदार्थों को दूर करने की एक और विधि भी है। इस विधि से जो मल बाहर निकाला जाता है, उसका रूप न तो वायु जैसा गैसीय है और न मल-जैसा ठोस ही। वह पसीने की भाँति तरल है। आप समझ गए होंगे कि वह क्या है। वह है मूत्र। जो अंग इस मूत्र को बनाने और त्यागने के काम आते हैं, उनकी गणना मूत्र-वाहक सस्थान मे की जाती है। मलोत्सर्जन-संस्थान में इनका मुख्य स्थान समझा जाता है।

इस संस्थान के चार प्रधान भाग हैं—(१) वृक्क, जो रक्त से मूत्र को पृथक् करते हैं, (२) मूत्र-प्रणालियाँ जो उसे मूत्राशय तक पहुँचाती हैं, (३) मूत्राशय, जहाँ वह एकत्रित होता है, और (४) मूत्रमार्ग, जिसके द्वारा वह शरीर से बाहर आता है।

वृक्क या गुरदे

वृक्क दो हैं। ये कमर में मेरुदड के दोनों ओर सटे हुए चर्बी की एक तह में घुसे रहते हैं। इनका ऊपरी भाग नीचे की पसलियों से और निचला भाग कमर की बड़ी पेशियों से सुरक्षित रहता है। ये आकार में सेम के बीज के समान, किन्तु डीलडौल में उससे कहीं बड़े होते हैं। इनकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इच और मुटाई १ इंच के लगभग होती है। एक वृक्क का भार लगभग २ छटाँक होता है। बायें ओर का वृक्क दाहिने से कुछ लम्बा तथा ऊपर की तरफ़ होता है। वृक्क गहरे भूरे रग के होते हैं। प्रत्येक गुरदे के ऊपरी सिरे पर एक छोटी-सी गिल्टी रहती है, जिसे उपवृक्क कहते हैं। इसके विषय में आपको आगे बताया जायगा।

सेम के बीज के तुल्य इन गुरदों के वे भाग जो मेरुदंड की तरफ़ होते हैं कुछ अन्दर की ओर दबे रहते हैं। इसी स्थान पर वृक्क की रक्त-नलियाँ इनके भीतर प्रवेश करती हुई दृष्टिगोचर होती है। इनके अतिरिक्त वृक्क के इसी स्थान से एक नली, जिसे मूत्र-प्रणाली कहते हैं, निकलती भी है।

गुरदों को यदि बीच से लम्बा काटकर निरीक्षण किया जाय तो उनके अन्दर दबे हुए स्थान की ओर एक खाड़ी ऐसा शून्य स्थान दिखाई देगा। इस शून्य स्थान में चारों ओर का भाग, जो ठोस-सा प्रतीत होता है, बहुत-सी पतली-पतली नलिकाओं से निर्मित होता है। ये नलिकाएँ बहुत लम्बी होती हैं और बहुत मोड़-तोड़ के पश्चात् और नलिकाओं से मिलकर बड़ी नलियों द्वारा कुछ मीनारों की चोटियों पर छोटे-छोटे छिद्र द्वारा वृक्क के शून्य स्थान में खुलती हैं। इन नलिकाओं का दूसरा सिरा गेंद के समान फूला होता है, जिनमे रक्त-केशिकाओं का समूह मिला रहता है।

शरीर दुर्बल हो जाता है और मूत्राशय में कोई रोग होने की सम्भावना होती है। एक और वस्तु जो साधारण मूत्र में थोड़ी मात्रा में मिलती है, यूरिक एसिड है। यह छोटे रवों के आकार में जम जाता है। मूत्र में इसके सदैव आने अथवा अधिक मात्रा में रहने से गठिया रोग होने की संभावना रहती है। इसी प्रकार जब मूत्र में प्रोटीन या शकर का अंश आने लगता है, तब भी स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ऐसी दशा में मूत्र का गुरुत्व बढ़ जाता है, साथ ही वह काफ़ी मात्रा में निकलने लगता है। शकर सहित बहुत अधिक मात्रा में मूत्र-प्रवाह होने की रोग-दशा 'बहुमूत्र', 'मधुमेह', 'डायबीटीज' आदि नामों से पुकारी जाती है। इसी प्रकार प्रोटीन (या अलब्यूमीन) का मूत्र के साथ निकलना वृक्क-प्रदाह या दूसरे किसी रोग की सूचना समझी जाती है। आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में मूत्र-परीक्षा को, इसीलिए, बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

(दाहिनी ओर)

नर-मूत्रवाहक-संस्थान की पेचीदी रचना

इसका सामने का दृश्य पृ० २६६७ के चित्र में दिग्दर्शित किया जा चुका है—यह उसका बाज़ू की ओर से दिखाई देनेवाला विस्तृत चित्र है। देखिए किस प्रकार मूत्राशय और शुक्राशय दोनों से क्रमशः निकलती हुई मूत्र और शुक्र-प्रणालियाँ एक ही निकास-नली में जा मिलती हैं। [१ मूत्र-प्रणाली, जो वृक्क से आ रही है ; २ मूत्राशय का गर्त्त (खोलकर दिखाया गया है) ; ३ मूत्राशय की दीवार ; ४. शिश्न-मूल (प्रोटेस्ट) ग्रंथि ; ५ काउपर-ग्रंथि ; ६ मूत्रमार्ग ; ७. शिश्न ; ८ उपांड ; ९. शुक्र-ग्रंथि, १० अंडकोश, ११ शुक्र-प्रणाली ; १२. शुक्राशय ।]
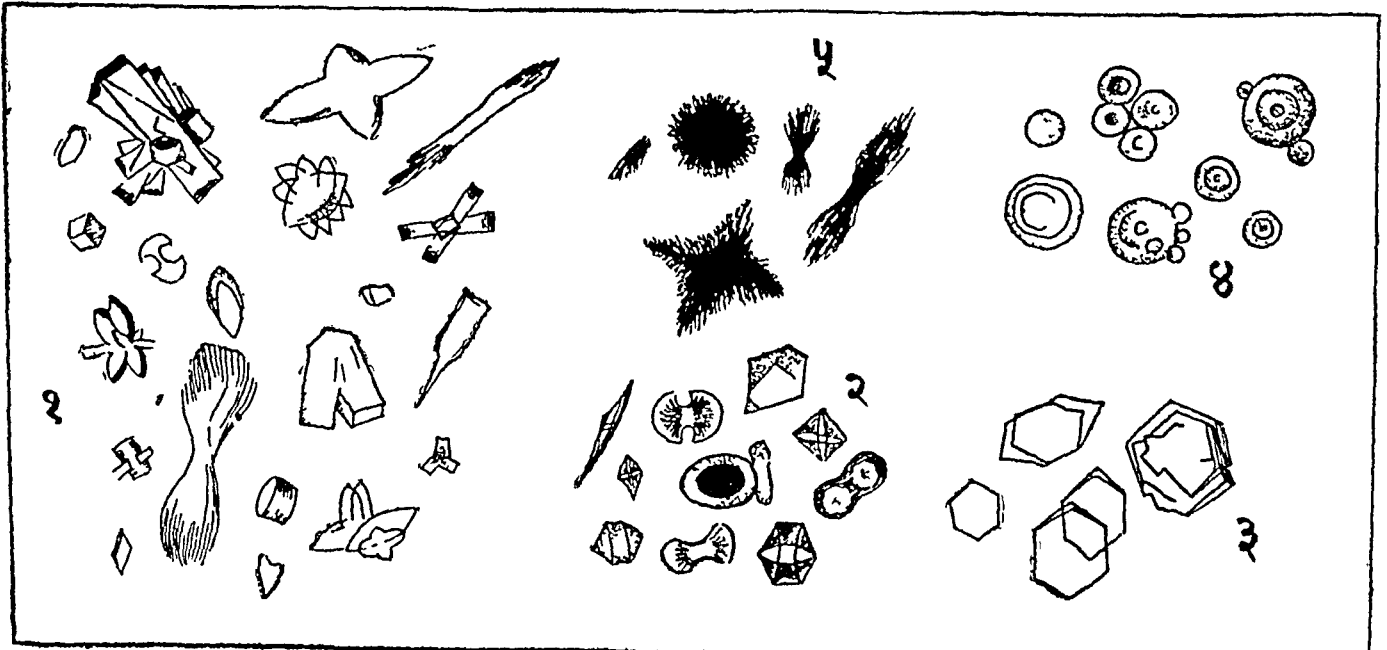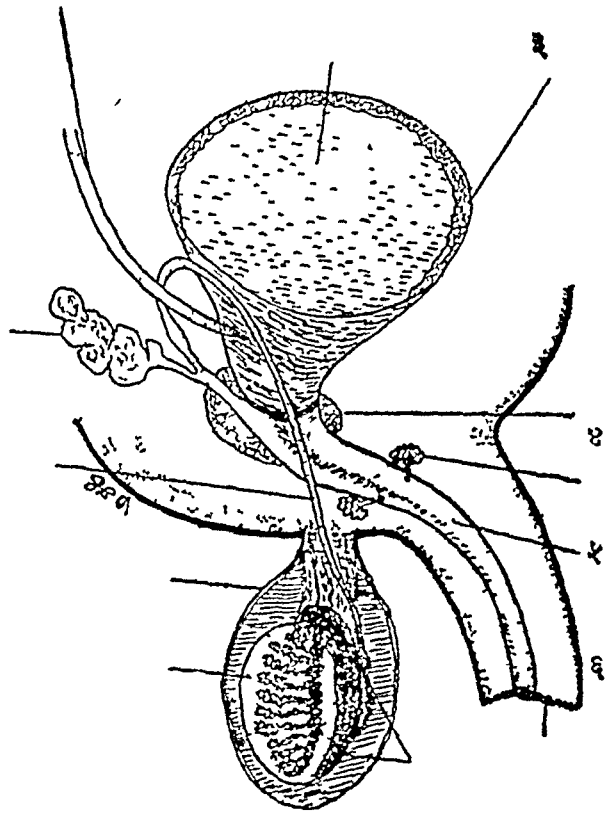
मूत्र की तलछट में पाए जानेवाले अपद्रव्यों के रवे

१. यूरिक ऐसिड ; २ कैल्शियम आक्सेलेट ; ३. साइस्टिन ; ४ ल्यूसिन ; ५. टायरोसिन ।
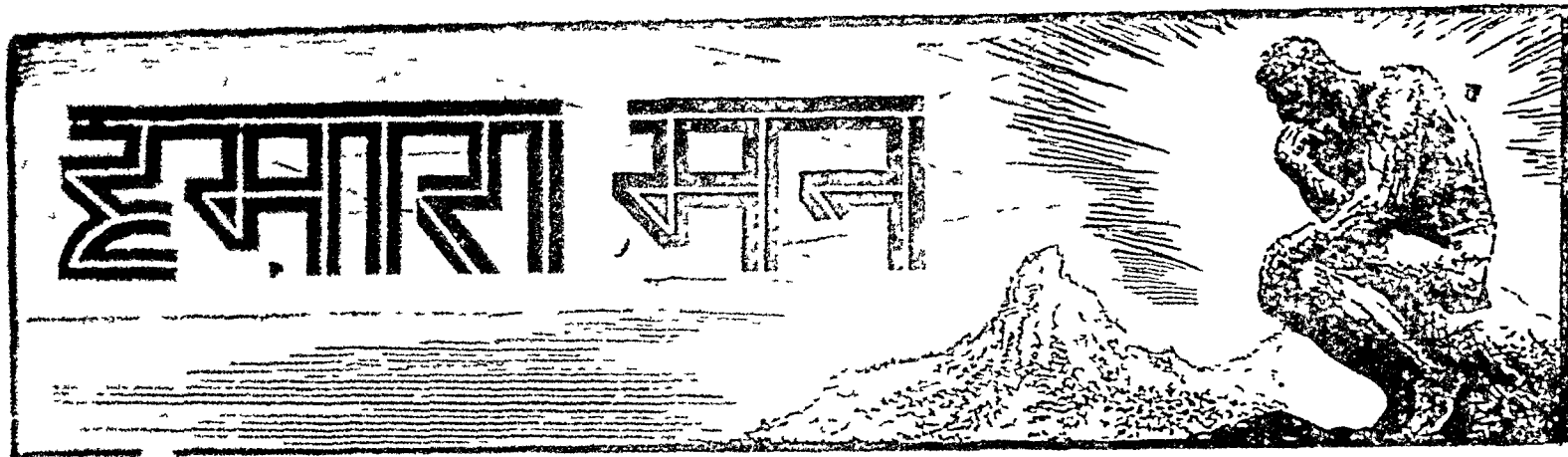
इच्छा और आभिप्रायिक क्रिया

"ख़ून !" डॉक्टर ने कहा।

मैं अस्पताल निरीक्षण के लिए गया हुआ था। पता चला, डाक्टर साहब पोस्ट-मार्टम कर रहे हैं। पूछने पर मालूम हुआ, पुलिस-केस है, मामला खून का है।

डॉक्टर तो शरीर की चीरफाड़ कर सिर्फ़ इतना बता सकता था कि मृत्यु का कारण क्या था—ज़हर देकर मारा गया है या किसी प्रकार के अस्त्र-प्रयोग द्वारा, या कोई और कारण है। लेकिन मारने का उद्देश्य क्या था, हत्याकारी ने किस अभिप्राय से ऐसा किया, अथवा यदि यह आत्महत्या थी तो क्यों, आदि बताना या इसका पता लगाना पुलिस का काम हो सकता है, डाक्टर का नहीं। पूछने पर डाक्टर ने बताया भी नहीं, यद्यपि सारी बातें जानते हुए भी मैंने उत्सुकता से पूछा ही।

अगर कोई आचरणवादी मनोविद् घटनास्थल पर होता तो उसने बड़ी आसानी से अपनी आँखें मूँद ली होतीं और वह कह देता—'हत्याकारी की कुछ विशेष नाड़ियों में मृत व्यक्ति की कुछ विशेष हरकतों के कारण कुछ विशेष प्रकार के स्फुरण होने के फलस्वरूप जो बाहरी क्रिया हुई उसी का परिणाम इस दूसरे व्यक्ति की मृत्यु है।'

संयोजनवादी शायद बिल्कुल चुप रहा होता या उसने कहा होता कि इन फ़ालतू बातों से मनोविज्ञान को कोई वास्ता नहीं।

लेकिन ऐसी हालत में मनोविज्ञान की व्यर्थता छोड़ और कुछ सिद्ध नहीं होता। इसके अलावा पुलिस या क़ानून इन दलीलों से चुप भी नहीं बैठ जाते। उन्हें तो हत्या के संबंध की सारी बातें जाननी ही हैं और इसका भी पता लगाना ही है कि इस हत्या का उद्देश्य क्या है।

दैनिक जीवन में क्षण-क्षण पर जो कुछ भी होता है, उसमें हम कहते हैं कि प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई उद्देश्य रहता ही है। अगर मेरा छोटा भाई रोज़ स्कूल जाता है तो इसमें भी उसका एक अभिप्राय है। अगर हम सिर्फ़ यही कह दें कि उसकी नाड़ियों की विभिन्न धाराएँ उसे ऐसा करने को प्रेरित करती हैं तो यह एक असंभव-सी बात छोड़ और कुछ नहीं होगी।

मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में अपने प्रयोगों के सिलसिले में प्रायः ही यह बात हमारे दिमाग़ में आया करती थी कि टिचनर जहाँ अपने विद्यार्थियों से कोई प्रयोग करने को कहता है और साथ ही यह भी कहता है कि इच्छा नाम की कोई चीज ही नहीं, वहाँ वह इस तरह अपनी आँखें वास्तविकता के प्रति मूँद लेता है। टिचनर ने जब संयोजनावाद को रूप देने का निश्चय किया तो उसने अपने प्रयोगों के द्वारा यह बताया कि मनोविज्ञान किन रास्तों पर होकर सच ही मनोविज्ञान हो सकता है। क्या वह स्वयं यह बात कह सकता था कि उसके इस कार्य में कोई अभिप्राय नहीं था, कोई उद्देश्य नहीं था ?

वाटसन के मनोविज्ञान में अभिप्राय का कोई स्थान नहीं। परन्तु वह एक स्थान पर लिखता है—

"१६१२ में चेष्टावादियों ने यह निश्चय किया कि चाहे तो मनोविज्ञान को तिलांजलि दे दी जाय अथवा इसे एक भौतिक विज्ञान बना दिया जाय...। आदमी के क्रिया-कलापों में चेष्टावादी की दिलचस्पी एक दर्शक की दिलचस्पी से बहुत अधिक है—वह तो मनुष्य की प्रतिक्रियाओं पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है।" आप स्वयं देख लें, वाटसन के ये वाक्य उसके आन्तरिक अभिप्राय को कितने जोर के साथ व्यक्त करते हैं।

आप चाहे जिस तरह से भी देखने की चेष्टा करें, आपको यह बात माननी ही पड़ेगी कि मनुष्य के जीवन में अभिप्राय एवं इच्छा का एक प्रमुख स्थान है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसे मनोविज्ञान में कौन-सी जगह दी जाय ?

जब तक मनोविद् सिर्फ मनोविज्ञान की बात सोचते रहे, उन्होंने अभिप्राय को न सिर्फ पीछे डालकर रखा, बल्कि उसके अस्तित्व तक को अस्वीकार कर दिया। लेकिन जैसे ही उन्हे समाजविज्ञान अथवा सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र मे कदम रखना पडा, उन्होंने देखा कि इच्छा तथा अभिप्राय को छोडकर एक पग भी आगे बढा नही जा सकता। चाहे टिचनर हो अथवा वाटसन, कूओ हो या पावलोव, भले ही वे अपनी प्रयोगशालाओं मे अभिप्राय की निरर्थकता पर बडे-बडे भाषण देते रहे, लेकिन जहाँ पर मनुष्य-मनुष्य के आपसी सबध की बात है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का वास्ता है, वे चाहें तो अपनी अज्ञानता अथवा जिद को मानकर चुप रह सकते हैं अन्यथा उन्हे अभिप्राय के अस्तित्व को मानना ही पडेगा।

यही हाल हुआ मैकडूगल का। वह सामाजिक मनोविज्ञान में दिलचस्पी ले रहा था और व्यक्ति की समाज मे की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन उसका सारा ध्यान ले रहा था। उसने देखा कि आदमी अपनी वैयक्तिक या सामाजिक जिस किसी भी हैसियत से जो कुछ करता है उसके पीछे कोई-न-कोई मतलब रहता है। उसने यह भी देखा कि मनोविज्ञान के इस पहलू को उस समय के मनोविद्याविशारदों ने बुरी तरह बिसार रखा था, और यह समाजशास्त्री तथा अर्थशास्त्रियों के लिए ही छोड रक्खा था कि किसी प्रकार का मनोविज्ञान तैयार कर वे अपना काम चला लिया करें।

और मैकडूगल ने इसीलिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सामाजिक मनोविज्ञान की भूमिका" (Introduction to Social Psychology) लिखी। इसने उस समय के मनोविज्ञान मे एक क्रान्ति खडी कर दी।

किसी भी मनोवैज्ञानिक को समाजशास्त्र के क्षेत्र में आते ही कुछ ऐसे ही प्रश्नों का सामना करना पडता है—मनुष्य गोष्ठी बनाकर क्यों रहता है? उसे एक राज्य कायम करने की आवश्यकता क्यों पडती है? क्या समाज के अन्दर व्यक्ति की भलाई ही बडी चीज है अथवा अधिकतम सख्या की अधिकतम भलाई ही श्रेय है? क्या अच्छा-बुरा का विचार करनेवाली आत्मा कोई आन्तरिक शक्ति है? इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने की मनोविदों ने कभी तकलीफ ही नहीं उठाई।

मैकडूगल ने देखा, इस शुतुर्मुर्ग वाले सिद्धान्त से काम नही चलने का। और उसने पाया कि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे एक अभिप्राय होता है। वह बेमतलब कुछ भी नहीं करता। उसके कुछ अभिप्राय चेतन हो सकते हैं, कुछ ऐसे हो सकते हैं जो चेतन न होते हुए भी उसके जीवन के साथ ही मिले हुए हैं। और फलतः उस महान् मनोवैज्ञानिक ने सहजात वृत्तियों के सबध मे कुछ सिद्धान्त निश्चित किए।

मैकडूगल ने अपने सिद्धान्त का नाम अभिप्रायवाद (Purposivism) रक्खा। उसके मनोविज्ञान को 'Hormic' मनोविज्ञान भी कहा जाता है। इसके अर्थ यह होते हैं कि प्राणी के प्रत्येक कार्य के पीछे अभिप्राय होते हैं, जो ही उसे कार्य करने की प्रेरणा देते रहते हैं।

अभिप्रायो का विश्लेषण करते चलिए तो आपको मालूम होगा कि प्राणी के अस्तित्व के लिए कुछ खास चीजों की आवश्यकता है, जैसे जीने के लिए उसे भोजन चाहिए, शत्रु से बचना चाहिए, और अपनी जाति अक्षुण्ण रखने के लिए प्रजनन की व्यवस्था करनी चाहिए। इन सारी चीजों को कार्यरूप देने के लिए उसे और भी कुछ विशेष कार्य करने चाहिएँ। कोई यह नहीं कहता कि प्राणी अपने जन्म के बाद इन सारी बातों को एक-एक कर सोचता है। प्रकृति स्वय इन चीजों को उसके अन्दर भर कर ही भेजती है। उसे इस संबध में विचार नहीं करना पड़ता, वे तो स्वय समयानुसार प्रकट होती जाती हैं और प्राणी को तदनुसार कार्य करने को प्रेरित तथा बाधित करती हैं। हम-आप इनका नाम देते हैं—सहजात वृत्तियाँ। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, ये सहजात वृत्तियाँ हमारे-आपके जन्म के साथ ही आती हैं।

आपने शायद कभी यह देखा हो कि कुत्ते को हड्डी का टुकड़ा मिलने पर वह उसे चूसने के बाद मिट्टी मे गाड रखता है। प्रत्येक कुत्ता ऐसा ही करता है। अगर किसी खास कुत्ते ने ऐसा किया होता तो आप कह सकते थे कि चूँकि उसे हड्डी का टुकड़ा बडे भाग्य से ही प्राप्त होता है, अतः भविष्य मे फिर उसका मजा लेने के खयाल से वह ऐसा करता है। लेकिन जब हर कुत्ता यही करता है, चाहे वह भारत का हो या तिब्बत का, लखनऊ का हो या लदन का, तो यह मानना ही पडेगा कि उसके इस आचरण के पीछे और कोई गहरी चीज है।

यह है उसकी सहजात प्रवृत्ति। इन प्रवृत्तियों की सत्ता क्यों है, यह नहीं बताया जा सकता। वे केवल हैं और इसीलिए हैं। आप उनका विश्लेषण कर अधिक से अधिक यह बता सकते हैं कि अमुक-अमुक प्रवृत्तियों से अमुक-अमुक फ़ायदे हैं। लेकिन जब वे आदमी के अन्दर हैं तो अपनी

पूर्त्ति कराके ही छोड़ेंगी। और तब आपको यह मानना पड़ता है कि यही मानसिक शक्तियाँ हैं जो उद्देश्य निर्धारित करती हैं और मनुष्य की चेष्टाओं को रूप देती हैं। विचार तो सिर्फ इनका हथियार है, जो इनकी ही सेवा के लिए है।

मजे की बात यह है कि एक अर्से से बडे-बड़े विचारक इस बात पर जोर देते आ रहे हैं कि मनुष्य और इतर प्राणियों का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ और प्राणी प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होते हैं, वहाँ मनुष्य प्रवृत्तियों से बिल्कुल स्वाधीन है, वह सिर्फ अपनी विचार-बुद्धि द्वारा ही काम करता है। परन्तु वास्तविकता इस धारणा के बिल्कुल विपरीत है।

मैकडूगल ने प्राथमिक अभिप्राय इन प्रवृत्तियों को ही ठहराया। हर्बर्ट स्पेन्सर का कहना था कि प्रवृत्ति प्रतिवर्त्तों की एक reflex लड़ी मात्र है। लेकिन मैकडूगल ने देखा कि प्रवृत्तियाँ नाड़ियों की यान्त्रिक गतिमात्र ही नहीं। उसने तो यह भी देखा कि साधारण बुद्धि प्रवृत्ति और भावावेश को प्रायः एक ही समझती है। जैसे उदाहरणार्थ भय को ही ले लीजिए। इसे एक प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है और एक भावोद्वेग भी। यही हाल औत्सुक्य आदि का भी है।

मैकडूगल ने यह तय किया कि प्रत्येक प्रवृत्ति के केन्द्र में कोई न कोई भावोद्वेग है। इससे अलग एक और वस्तु है जो एक विशेष लक्ष्य की ओर बढ़ने की चेष्टा करती है। उदाहरण के लिए भय की प्रवृत्ति में पलायन की प्रेरणा है, क्रोध का भाव है तथा शत्रु पर आक्रमण की इच्छा है।

मैकडूगल के अनुसार प्रवृत्ति ही प्राथमिक उद्देश्य है, जो प्रत्येक कार्य के लिये प्रेरणा देती है। इसके मुख्य तीन भाग हैं:—

१—एक ओर तो कार्य की प्रेरणा जाग्रत करनेवाला वह स्वभाव है, जो बाहरी अथवा भीतरी उद्दीपन को देखता है।

२—दूसरी ओर वह स्वभाव है, जो चेष्टा को रूप देता है, अथवा अवस्था में परिवर्त्तन लाता है।

३—इन दोनों के बीच भावावेश रहता है।

इस तरह मन की प्रवृत्ति में एक खास पदार्थ का [illegible], पलायन, आक्रमण तथा क्रोध आदि सभी निहित हैं।

कुछ कुछ इसी से मिलती जुलती बात गेस्टाल्ट स्कूल के मनोवैज्ञानिक भी करते हैं। उनका विश्वास है कि मन का एक काम [illegible] है इस तरह के रिक्त स्थान की पूर्त्ति करना। अगर किन्हीं दो चीजों के बीच किसी प्रकार की खाई है तो यह उसे पाट देना चाहता है। उसे तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक दोनों चीजों के बीच सबंध स्थापित न हो जाय। इसलिए उनके विचार से किन्हीं भी दो चीज के बीच सबंध कायम कर देना ही मन का प्राथमिक उद्देश्य है।

एक उदाहरण लीजिए। एक बक्सा है, जो चारों ओर से बन्द है, और आप नहीं जानते कि यह किधर से खुल सकता है। आप उसे देखते हैं और आपको आश्चर्य होता है। आप यह भी देखते हैं कि एक लोहे का टुकड़ा उसी स्थान पर थोड़ा हटकर पड़ा हुआ है। आप सोचते हैं, हो सकता है उस लोहे के टुकडे और बक्से के खुलने से कोई मतलब हो। और तब आप बक्से को उलट कर देखते हैं कि ठीक तो है, नीचे एक छेद है। आप उस लोहे के टुकड़े को उस छेद मे डालते हैं, उसे घुमाने का प्रयत्न करते हैं और फौरन् ही वह बक्सा खुल जाता है। और इसके साथ ही आपको शान्ति मिल जाती है।

जब तक आपको उस लोहे के टुकड़े और बक्से के बीच का सबंध नहीं सूझा था तब तक मन एक प्रकार की अशान्ति का बोध कर रहा था—उसके अन्दर एक रिक्त स्थान वर्त्तमान था। यह रिक्तता उसे सह्य नहीं थी, जैसे भी हो उसे वह पूरा करना चाहता था। पूरा होते ही उसकी अशान्ति का अन्त हो जाता है।

गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के मत से हम इस अशान्ति को ही प्राथमिक उद्देश्य समझ सकते हैं।

मैं पलग पर बैठा लिख रहा हूँ, और मेरा सवा वर्ष का शिशु किरणकुमार बार-बार दावात पकड़ने की कोशिश कर रहा है। मैंने उसे पलंग से नीचे उतार दिया है। वह अपनी माँ का आँचल पकड़कर मेरी ओर दिखलाकर कह रहा है—ऊँ. ऊँ।

क्या आप कह सकते हैं, उसका यह कार्य उद्देश्यहीन है?

वाटसन भले ही कह दे कि हाँ। पर हमारे-आपके जैसा गृहस्थ तो सिर्फ यही कहेगा कि दावात को हस्तगत करना ही उस शिशु का उद्देश्य और उसकी स्याही से अपना स्वाँग बना लेना ही उसका अभिप्राय है।

और मैं उसकी इस महत्त्वपूर्ण इच्छा मे बाधक हूँ। लेकिन किया क्या जाय, प्रत्येक पिता ऐसा ही नासमझ हुआ करता है!

छः हज़ार वर्ष प्राचीन मोहेंजोदड़ो के आश्चर्यजनक ध्वंसावशेषों का एक दृश्य

यह चौक नं० ६६ के मकान नं० १३ के अवशेषों का फोटो है । इस प्रकार की साफ़-सुथरे ढंग की ईंटों से बनी हुई चौकोर दीवारों, पानी के बहाव के लिए निर्मित की गई पक्की मोरियों और नालियों, काफ़ी लंबी-चौड़ी गलियों और सड़कों, तथा विधिवत् स्नानागारों और जलाशयों आदि से युक्त छः हज़ार वर्ष पूर्व की इस भारतीय नगरी के स्थापत्य ने संसार के इतिहासज्ञों को चकित कर दिया है। [फ़ोटो—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' की कृपा से]
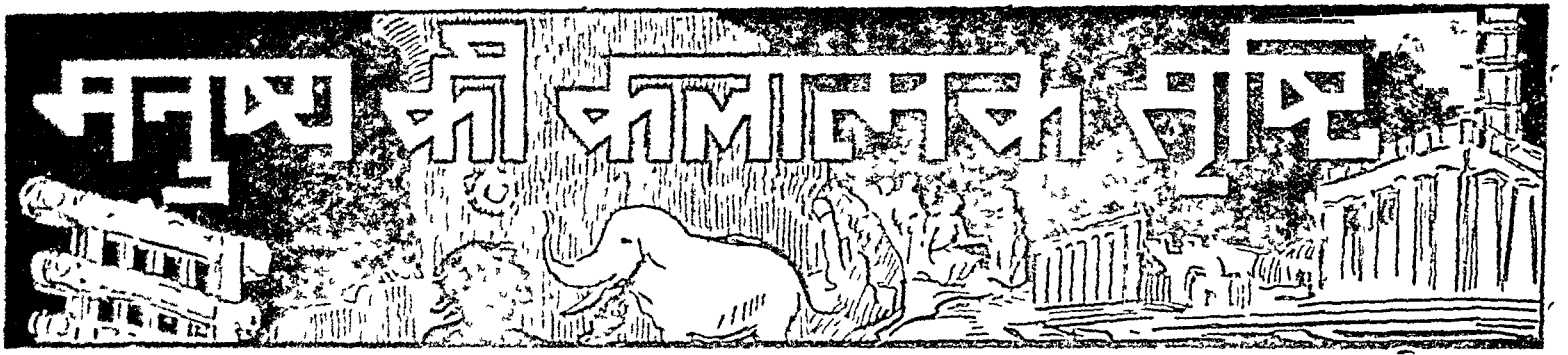
भारतीय कला—(२)

प्रागैतिहासिक युग

भारत की प्रागैतिहासिक कला का भी श्रीगणेश हम बहुत-कुछ उसी प्रकार होते देखते हैं, जैसा कि अन्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रागैतिहासिक कला का सर्वाङ्गसंपूर्ण इतिहास तो संभवतः कभी भी रेखांकित न किया जा सकेगा, अतः प्रस्तुत लेख में भी हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर ही प्रकाश डाल पाएँगे। विशेषज्ञों ने इतिहास से परे के उस पुरातन युग की पुरातत्त्व-विषयक ढेरों सामग्री को भूगर्भ में से खोद निकाला है, उसकी भूस्तर-विज्ञान, शिलीभूत-विद्या तथा मानव-शास्त्र की दृष्टि से गहरी छानबीन की है, और इस प्रकार प्राप्त सामग्री पर से बहुतेरे कामचलाऊ नतीजे निकले हैं। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के इतिहास का आदि-प्रस्तरयुग लगभग १७००० ईस्वी पूर्व, उत्तर-प्रस्तर-युग ७००० से ६००० ईस्वी पूर्व और लौह-ताम्र-कांस्य युग ४००० से १००० ईस्वी पूर्व के लगभग आरंभ होता है। इस ढंग में इस प्रागैतिहासिक युग से मिली हुई सारी सामग्री बहुत कुछ वैसी ही है जैसी अन्य देशों में मिली है, अतएव इस दृष्टि से भारत के प्राक्-काल के चकमक पत्थर से बने औजार-हथियार, अस्त्र-शस्त्र, मिट्टी के बर्त्तन आदि अपनी कोई ऐसी विशेषता नहीं रखते जो दूसरी जगहों से प्राप्त सामग्री की तुलना में उन्हें किसी प्रकार की विशिष्टता प्रदान कर सके। इसमें संदेह नहीं कि इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से इन वस्तुओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु यदि हम उनमें वास्तविक कला के अंकुर खोजना चाहें तो अभी वे हमें देखने को नहीं मिलते—वह तो बहुत बाद की बात है।

भारत की प्रागैतिहासिक युग की गुहा-चित्रकारी का विवेचन यदि हम किसी सुनिश्चित तिथिक्रम में करना चाहें तो यह संभव नहीं है। परन्तु चूँकि वही भारतीय कला के प्रस्फुटन के आदि अंकुरों के रूप में हमें उपलब्ध है, अतएव यहाँ हम एक-दो विशिष्ट उदाहरण लेकर कुछ विस्तारपूर्वक उसकी आलोचना करेंगे। ये गुहा-चित्र सारे भारतवर्ष में काफ़ी विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए मिलते हैं—उनकी शृंखला उत्तर-पश्चिम में सुदूर क़लात से आरंभ होकर बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड, मिर्ज़ापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन के कुर्नूल
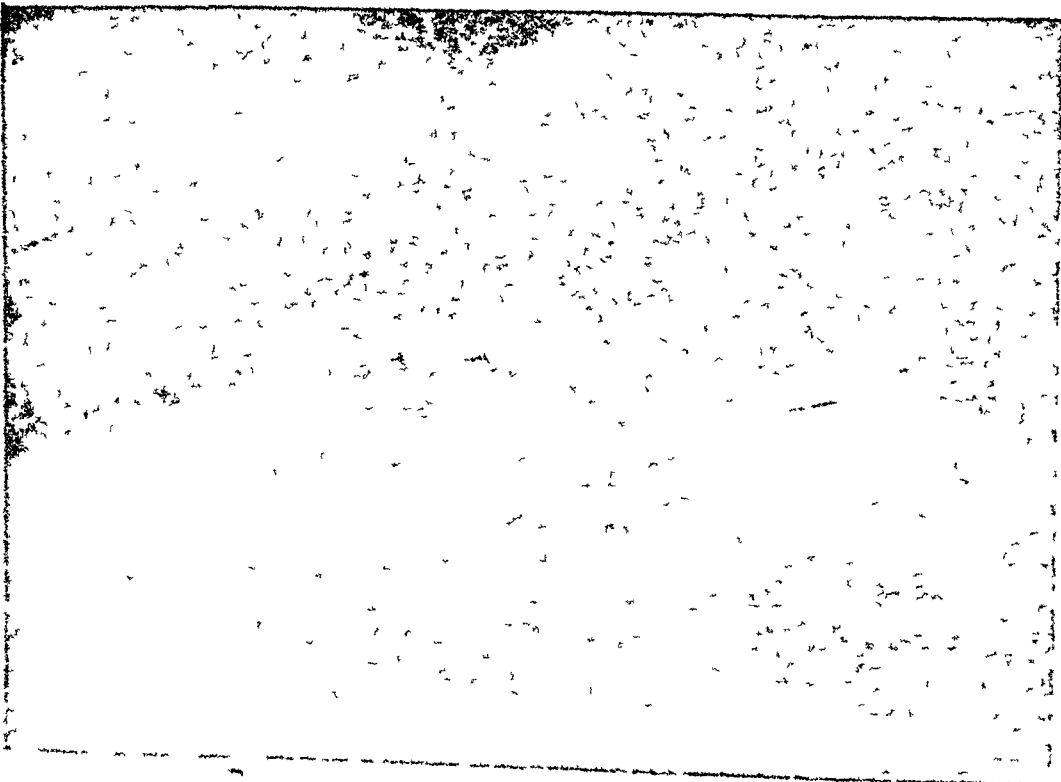
घाटशिला में प्राप्त प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों का एक नमूना

और वाइनाड़ जिलों की 'विल्ला सुर्गम' तथा 'एडाकाल' गुफाओं में जाकर समाप्त होती है। इस संबंध में एक बात बड़े मार्के की यह है कि हिमालय में अब तक प्रागैतिहासिक गुहाचित्रकारी के ऐसे कोई भी नमूने नहीं मिले हैं, यद्यपि आदिकाल ही से वह प्रदेश हमारे यहाँ 'देवों की निवासभूमि' माना जाता रहा है। इसका कारण कोई-कोई यह बताते हैं कि भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से हिमालय का उद्भव बहुत बाद को हुआ है, और कोई इस सिलसिले में उस महान् प्रागैतिहासिक मध्य-एशियाई महासागर का ही नाम लेते हैं, जिसने एक जमाने में सारे उत्तरी भारत और तिब्बत के प्रदेश को परिप्लावित कर मध्यभारत तथा दक्खिन के भूभाग को उस शेष भूखंड से एकदम पृथक् कर रक्खा था, जिसे कि आज हम एशिया के नाम से पुकारते हैं। जो कुछ भी कारण हो, इस बात के रहस्य का अभी तक कोई संतोषजनक निराकरण नहीं हो पाया है।
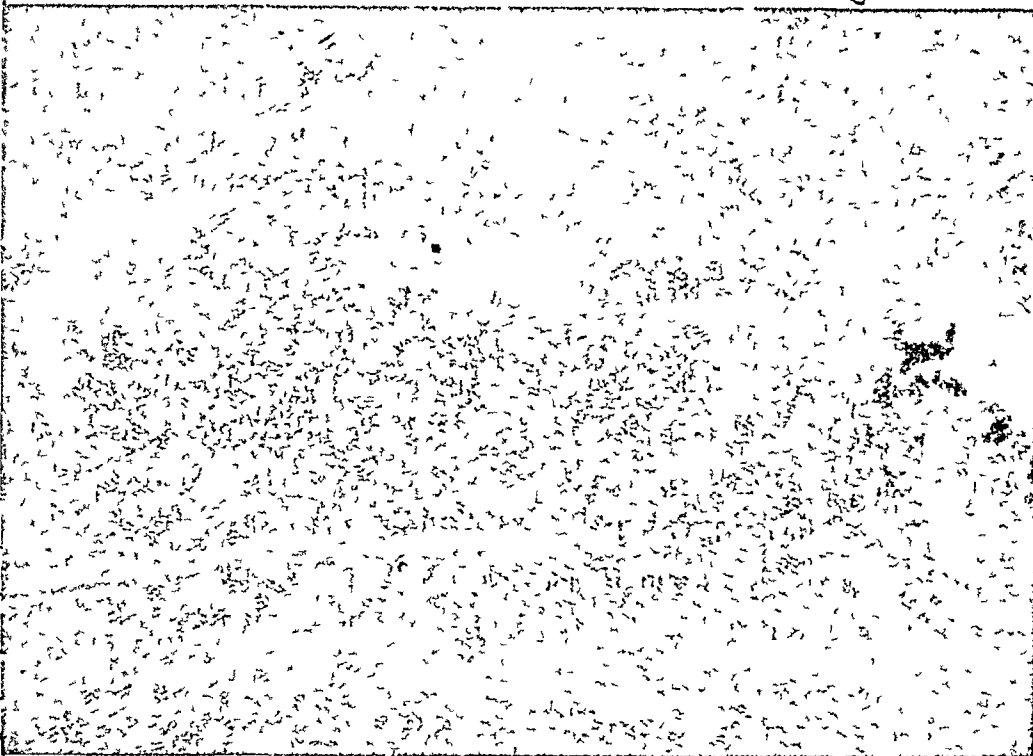
सिंघनपुर की गुफाओं के प्रागैतिहासिक चित्रों का एक उदाहरण।

भारतवर्ष में जो प्रागैतिहासिक कंदरालय अब तक मिले हैं, उनमें सबसे प्राचीन हैं 'बिल्ला सुर्गम' नामक गुफाएँ। ये गुफाएँ सबसे पहले कैप्टेन न्यूबोल्ड द्वारा सन् १८४४ ई० में खोजी गई थीं और उन्होंने ही इनकी बहुत-कुछ आरंभिक छानबीन भी की थी, यद्यपि विशेषज्ञों द्वारा उनका विधिवत् अनुसंधान किया गया लगभग ४० वर्ष बाद। इन गुफाओं में अत्यंत प्राचीन ढंग के मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़ों और बहुतेरे पुराने जानवरों की अस्थियों के रूप में तो काफी मूल्यवान् सामग्री मिली है, परन्तु उनमें किसी तरह की भित्ति-चित्रकारी, या खुदाई-नक्काशी का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता। यह धारणा की जाती है कि इन गुफाओं में जो एक गुफा आज 'परियों का कक्ष' कहकर पुकारी जाती है, वह संभवतः ऐसे तांत्रिक अनुष्ठानों के प्रयोग के लिए काम में लाई जाती रही हो जैसे कि आदि शक्ति की आराधना-उपासना में प्रयुक्त होते हैं।

वाइनाड की 'एडाकाल गुफाएँ' कालीकट से लगभग ५६ मील और उटकमंड से भी करीब उतने ही फासले पर स्थित हैं। उनका पता पहलेपहल १९०१ ई० में एक अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेंट, मि० फासेट, द्वारा लगा था और उनमें कई मानवाकृतियाँ तथा पशुओं के खुदे हुए शिला-चित्र पाए गए हैं। इन खुदे हुए शिला-चित्रों की सबसे मनोरंजक विशेषता सिर पर धारण किए हुए एक विचित्र प्रकार के वेश से युक्त उनमें प्रचुर रूप से पाई जानेवाली मानवाकृतियाँ हैं। अनेक पशुओं की भी आकृतियाँ उनमें सम्मिलित हैं और स्वस्तिक, सूर्य-चक्र, तथा चतुष्कोण तांत्रिक यंत्र जैसे आमतौर से पाए जानेवाले सामान्य भारतीय प्रतीक भी उनमें देखने को मिलते हैं।

पहाड़ी चट्टानों पर खुदे हुए शिला-चित्रों का एक और मनोरंजक उदाहरण कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० पचानन मित्र ने सिंघभूम जिले के मऊभंदर गाँव के पास घाटशिला नामक स्थान में खोज निकाला था। ये शिला-चित्र काले पाषाण पर नक्काशी किए हुए हैं और उनमें तथा ऑस्ट्रेलिया के 'ब्रेंट्री बे' नामक स्थान में पाए गए प्रसिद्ध शिला-चित्रों में एक निश्चित समानता दिखाई देती है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)।

विगत शताब्दी के अंतिम दिनों में मि० जॉन कॉकबर्न नामक एक योरपीय सज्जन को कैमूर-पहाड़ियों के सिलसिलों में कई प्रागैतिहासिक चित्रों का पता लगा।

यह चित्रकारी साधारणतः चट्टानों के पृष्ठों पर तथा ऐसी कंदराओं में, जो कि 'शिला कुटीर' (Rock Shelters) के नाम से पुकारी जाती हैं, की गई है और कैमूर-पहाड़ियों के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सिलसिलों एवं उनके बीच के पठार के प्रदेश में भी पाई गई है, जिसकी कि चौड़ाई बीस से तीस मील तक है और जो मिर्जापुर तथा चुनार से पामौगा और चित्रकूट तक फैला है। इन गुहा-चित्रों में से अधिकांश में शिकारियों और आखेट के ही दृश्य चित्रित हैं। मिर्जापुर के परगना अहरौरा के भल्दुरिया नामक स्थान के चित्र में एक ऐसे कृष्णमृग के शिकार का दृश्य है जिसके सींग आगे को निकले हुए हैं और लोहरी-गुफा के चित्र में बिड़ाल-वर्ग के किसी जानवर को शिकार में मारने का दृश्य अंकित है। इसमें शिकारी हाथ में एक मशाल या फेंकने के बर्छे-जैसी कुछ चीज ऊँचा उठाए हुए प्रदर्शित है। इसी प्रकार सोन नदी की उपत्यका में छप्पै-चौरासी नामक स्थान के सम्मुख स्थित लिखुनिया नाम की शिला-कुटीर के चित्र में एक शिकारी पत्थर के भाले से एक हरिणी का शिकार करते हुए दिखाया गया है। इन दुर्गम कंदराओं में से अधिकतर प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विषयक सामग्री के एक प्रकार के अजायबघरों जैसी हैं, जिनमें पाए जानेवाले [illegible] पत्थर के छुरी-चाकुओं, बाणों के फलों, बरछियों, परशुओं, मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों, जली हुई हड्डियों और शिलीभूतों के अवशेषों को छाँटकर एक बढ़िया संग्रह इकट्ठा किया जा सकता है। घोरमांगर नामक स्थान की गुफा में शिकार का एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण दृश्य चित्रित है, जिसमें एक साथ छः आदमी एक [illegible] गैंडे पर आक्रमण करते हुए दिखाए गए हैं। इनमें से एक को गैंडे ने अपने थूथन के सींग से लपेटकर ऊँचा उछाल दिया है। गैंडे [illegible] शैली में का एक आदमी, जो अपने सिर पर एक असाधारणतया बड़ा शिरोवेश धारण किए हुए है और संभवतः इन सबका सरदार है, गैंडे की पीठ में अपना बर्छा घुसेड़कर उसको दूसरी ओर मोड़ने के प्रयत्न में संलग्न दिखाया गया है। उसकी भावभंगी से ऐसा प्रतीत होता है मानों उसने वार करने में अपने वजन का सारा जोर भाले के ऊपर लगा दिया हो! क्रोधित गैंडे के सामने की ओर जो दो आदमी हैं, उनमें से एक की मुद्रा अत्यन्त सतेज और कर्मण्य गतिशीलता की द्योतक है। उसके हाथ में है कड़े किए हुए काठ का एक साधारण भाला, जिसमें आस-पास दो अतिरिक्त फल लगे हुए हैं। इस भाले को वे गैंडे की छाती पर सधाने हुए है।
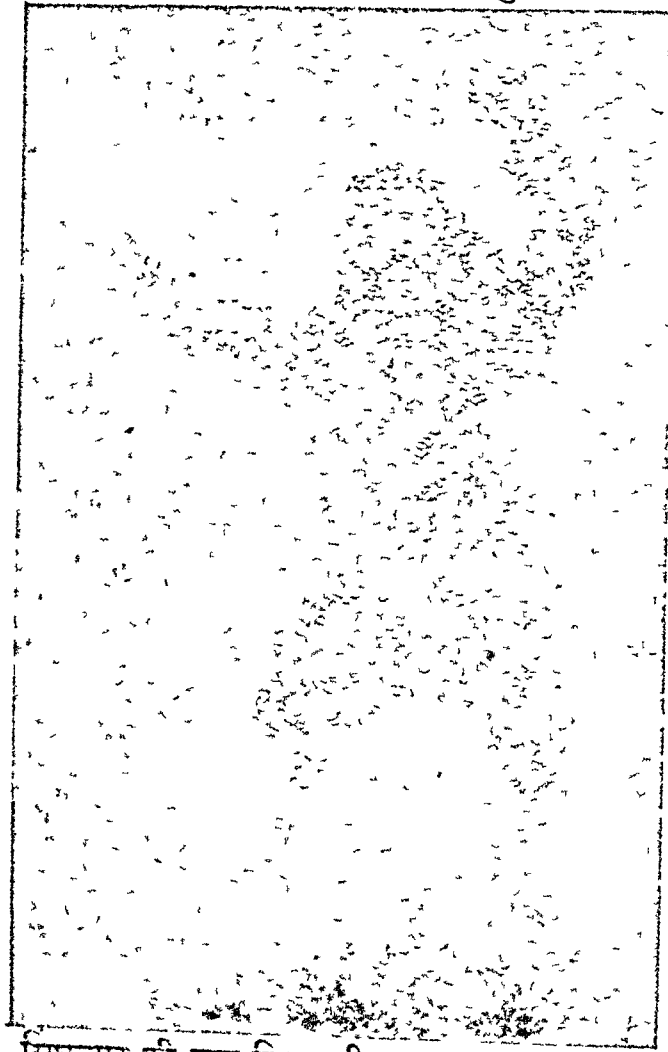
सिंघनपुर की गुहा-चित्रकारी का अन्य एक नमूना।

इसी तरह के शिकार के दृश्य परगना बरहर के रूप नामक गाँव में और बिजयगढ़ के समीप हरिनहरणा नामक स्थान की गुफा की चित्रकारी में भी पाए जाते हैं। बघेलखण्ड के मोरहना पहाड़ और घरवी पहाड़ की कंदराओं में लाल गेरू के रंग में रूखे ढंग से की गई एक तरह की चित्रकारी मिलती है, जिसमें एक बहुत ही पुरातनताद्योतक गतिहीन शैली में सामान्य शिकार के दृश्यों के अलावा प्राचीन पत्थर गढ़नेवालों की जिन्दगी के कुछ दृश्य चित्रित हैं। इसी प्रकार के लाल गेरू में विंध्याचल के बलुए पत्थर पर चित्रित अन्य कुछ प्रागैतिहासिक रेखाचित्र मि० सिल्वेराड नामक सज्जन ने मानिकपुर रेल्वे स्टेशन से १॥ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित सरहाट में, बदौसा रेल्वे स्टेशन से १६ मील दक्षिण स्थित गुडहमपुर में, मानिकपुर से १२ मील दक्षिण-पूर्व में मोजा कठौता ममनिया के कुड़ियाकुंड नामक स्थान में और चौरी की जंगल-चौकी से १॥ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित कपटिया नामक स्थान में भी खोज निकाले थे। इन रेखाचित्रों में विशेषज्ञों ने आदि भारतीय-ऑस्ट्रेलियन संस्कृतियों के सम्मिलन का बहुत-कुछ आभास पाया है और इनके आधार पर प्राचीन भूगोल तथा मानवशास्त्र के

संबंध में तरह-तरह की अटकल-पच्चू धारणाएँ खड़ी की गई हैं।

किन्तु अब तक जितनी भी ऐसी प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रकारियाँ इस देश में पाई गई हैं, उनमे हमारे अपने मतलब की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण हैं मध्यप्रदेश की सिरगुजा रियासत के रायगढ नामक स्थान के समीप की एक पहाडी पर स्थित कुछ गुफाओं की चित्रकारी। इस स्थल पर पहुँचने के लिए सबसे नजदीक का स्टेशन बंगाल-नागपुर-रेल्वे का नहरपाली स्टेशन है, जिसके ठीक उत्तर में दो मील के फ़ासले पर एक ऊँचा चट्टानी टीला दिखाई पडता है। इसी के दक्षिणी पृष्ठ मे निर्मित कुछ छिछली गुफाओं में सन् १६१० में बगाल-नागपुर-रेल्वे के एक अफ़सर, मि० एडरसन, ने ऊपर उल्लिखित महत्त्वपूर्ण चित्रकारी की खोज की थी। इस पहाडी की तलहटी में सिघनपुर नाम का एक गाँव बसा हुआ है, इसीलिए इन गुफा-चित्रों का नाम उक्त गाँव के नाम पर ही पड़ गया है। सिघनपुर के ये भित्ति-चित्र तीन वर्गों मे बँटे हुए हैं—१. वे जो कंदरा की ही दीवारों पर चित्रित हैं; २. वे जो समीप के एक गहरे खड्ड के पृष्ठ पर रेखाकित हैं; ३. वे जो बिल्कुल खुली हुई चट्टानों के पृष्ठ पर चित्रित हैं। भारतीय कला के विख्यात इतिहासज्ञ और जानकार मि० पर्सी ब्राउन का मत है कि इन भित्ति-चित्रों मे स्पष्टतया दो विभिन्न शैलियाँ दिखाई पडती हैं, जिनमें एक प्राचीनतर और अधिक स्पष्ट, तथा दूसरी किचर-पिचर ढंग की और लापरवाह जैसी है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मिट्टी का बर्त्तन (फ़ो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

जो चट्टानों के पृष्ठ इस चित्रकारी के लिए काम में लाए गए हैं, वे कोई खास तौर से इस कार्य के लिए तैयार किए गए नही जान पडते, वल्कि चित्रकार ने अपनी मनमानी चाह के अनुसार ही शिला-पृष्ठ के अधिक चिकने भागों को अपने काम के लिए चुन लिया है। यह चित्रकारी लाल गेरू के रग से की गई है, जो कि इस स्थान के आस-पास सुलभ्य है और रंग सभवतः बाँस या नरकुल से बनाई गई कूँचियों से लगाया गया होगा। बल्कि अधिक सभावना तो यह है कि रगों को लगाने के लिए जिस तूलिका से काम लिया गया होगा वह कूँची या ब्रुश जैसी न होकर लेखनी की तरह कड़ी और नुकीली रही होगी। इस पर भी इन चित्रों की रेखाओं मे जो मृदु सुकुमारता की झलक दिखाई देती है, उसका कारण सभवतः समय का प्रभाव अथवा उक्त चट्टानों की जाति-विशेषता रही हो, जिससे कि रंग उनमें सोखा जाकर उनकी रगों में प्रविष्ट हो गया है।

इन चित्रों के विषय हैं—१. आखेट के दृश्य; २. मानव-समूह; ३. चित्र-लिपि, और ४. पशुओं, उरंगमों आदि की आकृतियाँ। प्रस्तुत लेख के साथ इन गुहा-चित्रों के जो नमूने दिए जा रहे हैं, उनमें पृ० २७०४ के चित्र में शिकारियों द्वारा सभवतः एक जंगली भैंसे के आखेट का सतेज चित्राकन है। इस चित्र में कलाकार ने बड़े दर्शनीय ढग से भैंसे द्वारा शिकारियों में से एक व्यक्ति के उछाल दिए जाने की क्रिया दिग्दर्शित की है और शेष व्यक्तियों में से कुछ ऐसे दिखाए गए हैं मानों या तो वे मर चुके हों या सख्त घायल हो गए हों। दूसरे नमूने में (दे० पृ० २७०५ का चित्र) सभवतः शिकारियों द्वारा घेरे जाने पर सामना करने के लिए उठ खड़े हुए एक भालू का चित्र है, जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि रायगढ के आसपास का प्रदेश इन दिनों भी भालुओं के लिए प्रख्यात है।

इन भित्ति-चित्रों में चित्रित मानव-समूहों का रेखांकन भी बहुत ही दिलचस्प है। अधिकतर लोग या तो किसी धार्मिक रस्म को अदा करते हुए या नृत्य करते हुए ही दिखाए गए हैं। प्रायः ऐसे प्रत्येक चित्र मे नृत्य के समय की गतियुक्त टेढी-मेढी टाँगों और ऊपर उठी हुई बाहों वाली मुद्रा ही प्रदर्शित है। चित्रलिपि के आलेखों मे से कई तो रंग-ढग में इतने क्लिष्ट हैं कि आज के दिन पढ़कर उनके अर्थ को समझना असभव-सा है। हाँ, पशुओं और उरगमों के

जो चित्र अंकित किए गए हैं, वे एकदम सजीव-जैसे और ओजपूर्ण हैं। छिपकलियों के चित्र तो खास तौर से बहुत अच्छे हैं और एक पशु-चित्र में, जो सम्भवतः साँभर का प्रतीत होता है, कई नैसर्गिक विशेषताएँ प्रत्यांकित दिखाई देती हैं।

इन चित्रों की कलात्मक व्यञ्जना यद्यपि उच्च कोटि की नहीं है, फिर भी उनमें से कुछ में तूलिका के प्रयोग की वैसी ही विधि का आभास हमें मिलता है, जैसा कि स्पेन में कोगूल नामक स्थान के भित्ति-चित्रों के आदिकालीन चित्रांकनों में के प्राचीनतर नमूनों में निदर्शित है। सिंघनपुर के इन भित्ति-चित्रों की प्रमुख कला-विशेषता उनका उल्लसित भाव-प्रदर्शन तथा विषयांकन सबंधी उनका धाराप्रवाह है। इन गुहा-चित्रों और प्रागैतिहासिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पर की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

मोहेंजोदड़ो की खुदाई में निकली मूर्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कलाकृति

यह किसी योगी की मूर्ति मानी जाती है। (फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

को नहीं मिल सकते, क्योंकि संभवतः धुँधले पड़ जाने के कारण कालान्तर में सद्भावनापूर्वक उनका जीर्णोद्धार किया जाता रहा और उनका वही रूपान्तर अब हमें उपलब्ध है। फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मूल रूप में इस गुहा में ऐसी ही चित्रित पट्टियों की एक ही केन्द्र से विकीर्ण एक पूरी शृखला-सी थी, जिसमें मानवाकृतियाँ, पशु और भवन आदि विविध विषयों का निदर्शन किया गया था। बाद के जीर्णोद्धारकों द्वारा उनका बहुत-कुछ रूपान्तर हो जाने पर भी उनमें हम उस युग की मूर्त्ति एवं भवन-निर्माण-कला की शैली विशेष के साथ बहुत-कुछ समानता पाते हैं। ये चित्र-पट्टियाँ मछलियों, मकरों तथा अन्य जल-जीवों की आकृतियों के बार बार प्रयोग से बनाए गए एक प्रकार के बार्डर से परिवेष्ठित हैं। सच पूछिए तो इन चित्रों में जो कहानी चित्रांकित की गई है, उसका पूरा रहस्योद्घाटन तथा अर्थ-विवेचन अभी तक हो पाया नहीं है।

जोगीमारा की यह कंदरा केवल १० फीट लंबी और ६ फीट चौड़ी है और उसकी ऊँचाई इतनी कम है कि कोई भी औसत क़द का आदमी खड़ा होकर उसकी छत को छू सकता है। गुफा का एक पृष्ठ खुला हुआ है, अतएव उसके भीतरी हिस्से में काफी उजाला रहता है।

इस गुहा-चित्रशाला मे ऊपर उल्लिखित आलकारिक चित्र-पट्टियों के अतिरिक्त एक-दो ऐसे चित्र भी हैं, जिनमें कुछ स्वतंत्र विषयों का रेखाङ्कन हुआ है, जैसा कि वृक्ष के नीचे बैठे हुए पुरुषों की एक टोली का अथवा एक पुष्करिणी के बीच खडी नर्त्तकियों की एक जोड़ी का चित्र। इनमे हम प्राचीन काल के भवनों तथा रथों के से वाहनों के भी अविकसित चित्रण के कुछ नमूने देख सकते हैं। इन चित्रों में जो कलातत्त्व है, वह अजता, बाघ अथवा सिगरिया के विख्यात भित्ति-चित्रों से बहुत अधिक निम्न कोटि का है, इसमे सदेह नही, परन्तु इन आदिकालीन चित्रांकनों में आगे आनेवाले उषःकाल की अरुणिमा का कुछ धूमिल आभास अवश्य देखा जा सकता है।

ऊपर उल्लिखित प्रागैतिहासिक कला तथा कदरा-चित्रों की मजिल से उठकर एकदम मोहेंजोदडो और हड़प्पा की कला की ओर अग्रसर होना काफी लबी छलाँग भरने जैसा है, और आज से तीस वर्ष पूर्व तो प्रागैतिहासिक स्थिति से इतिहास की ओर की इस कुदान के बीच का फासला कहीं और भी अधिक था, क्योंकि तब तक इतिहास से परे के धुँधले युग की आदि कला और आरभिक बौद्धों की सुविकसित प्रौढ़ कला के बीच के युग के सबध में किसी को भी कोई जानकारी न थी। धन्यवाद है श्री राखालदास बेनर्जी और दयाराम साहनी तथा उनके मोहेंजोदड़ो-हडप्पा-सबधी अनुसन्धानों को, जिनकी वजह से भारतवर्ष का आदि इतिहास अब ४००० ईस्वी पूर्व तक मानों पीछे खिसका दिया गया है और उसकी कड़ी सुमेरियन संस्कृति से जुड गई है, जिसका कि वह अब पुरखा माना जाने लगा है।

मोहेंजोदडो से प्राप्त एक देवी की मृण्मय-मूर्त्ति (फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

मोहेंजोदड़ो के मुकाम की स्थिति का पता तो सिध के राज्याधिकारियों को बहुत अर्से से था, परन्तु उसके ध्वसावशेषों की प्रागैतिहासिकता का रहस्योद्घाटन उस समय तक नहीं हुआ जब तक कि सन् १९२२ मे स्वर्गीय श्री राखालदास बेनर्जी ने उसकी खुदाई के काम का श्रीगणेश न किया। इस खुदाई से पहले ही मोहेंजोदडो के खँडहरों पर एक स्तूप खड़ा था और आम तौर से यह धारणा की जाती थी कि वहाँ के शेष अवशेष भी उसी काल के होंगे जिस काल के कि वहाँ के बौद्ध स्मारक थे, अर्थात् ईस्वी सन् की आरभिक शताब्दियों के। परन्तु उन बौद्ध अवशेषों की खुदाई कराते समय श्री राखालदास को दैवयोग से धरती में से कई अनोखी मिट्टी की मुद्राएँ मिलीं, जिन्हें पहचानते उन्हें देर न लगी कि वे उसी जाति की थीं जिस जाति की मुद्राएँ पजाब के मांटगुमरी जिले के हड़प्पा नामक स्थान के ध्वंसावशेषों में पहले मिल चुकी थीं और जिनकी जानकारी भारतीय पुरातत्वविदों को काफी अर्से से थी। इन मुद्राओं पर एक ऐसी अज्ञात लिपि में कुछ आलेख अकित थे, जिसका आज दिन अर्थ नहीं लगाया जा सकता था। बहुत पहले सन १८५३ ई० में सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् जनरल कनिंघम ने जाकर हड़प्पा के खँडहरों का निरीक्षण किया था और वहाँ उन्हें अधिकतर एकशृग (Unicorn) जैसे किसी पशु की आकृति तथा किसी अज्ञात चित्रलिपि में अंकित आलेखों से खचित ऐसी ही मुद्राएँ देखने को मिली थीं। इस जगह का और वहाँ से मिली सामग्री का वर्णन उन्होंने १८७५ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में किया था, किन्तु उसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक वह मामला यों ही पडा रहा, उसे किसी ने फिर से उठाया ही नहीं। जब श्री राखालदास को ताम्र-पाषाण-युग की-सी प्रतीत होनेवाली ठीक हडप्पा में मिली मुद्राओं जैसी ही वे मुद्राएँ मोहेंजोदडो के मुकाम पर भी मिलीं तो उन्होंने अपनी इस खोज का महत्त्व समझा और फलतः उन्होंने उस बौद्ध विहार के आसपास और भी अधिक खुदाई करने के प्रति पैर बढाया। यहाँ यह बता देना अप्रासगिक न होगा कि मोहेंजोदडो की आबोहवा उग्र होने के कारण अत्यंत कष्टप्रद थी और डेरे-तबुओं में जीवन बिताते समय की मुसीबतों का भी कोई पारावार न था। साथ ही भारत-सरकार की ओर से इस खुदाई के काम के लिए आवश्यक धन भी उपलब्ध नहीं हो रहा था। परन्तु इन सब आपदाओं का सामना करते हुए भी श्री बेनर्जी ने वीरतापूर्वक खुदाई का वह काम जारी रक्खा।

भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर-जनरल, सर जॉन मार्शल, ने श्री वेनर्जी के कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनकी निम्न शब्दों में उचित ही सराहना की है—“मोहेंजोदडो मे उनका काम जैसा कि आज दिन दिखाई देता है वैसा सरल कदापि नही था, वह एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था। हड़प्पा में मिली सामग्री के अलावा (और उसे भी श्री वेनर्जी ने स्वय देखा नही था) सिंधु-काँठे की इस सभ्यता के संबंध मे इस समय तक किसी को भी कुछ ज्ञात नहीं था। इस पर मुसीबत यह थी कि उस सभ्यता के भवनों के खँडहरों के रूप मे जो थोड़े बहुत अवशेष उन्होंने खोदकर बाहर निकाले थे, वे सब ऐसी ईंटों से बने हुए थे, जो कि ऊपरी स्तर के बौद्ध स्तूप और विहार के निर्माण में काम में ली गई ईंटों जैसी ही थीं और इन अवशेषों का इन बौद्ध इमारतों के साथ इतना निकट का सादृश्य था कि आज भी उनका भेद बता पाना सरल नहीं होता। यह सब कुछ होते हुए भी श्री वेनर्जी ने अपनी प्रौढ कल्पना-बुद्धि द्वारा अनुमान किया और बिल्कुल सही अनुमान किया कि ये नीचे के स्तर के अवशेष अवश्य ही उन बौद्ध इमारतों से, जो कि उनसे केवल एक-दो फीट ऊपर ही बनी थीं, लगभग दो-तीन हजार वर्ष पहले की रचनाओं के अवशेष थे! यह कोई मामूली सफलता का कार्य न था।”

श्री वेनर्जी की इस आरभिक खोज के बाद तो सर्व श्री मार्शल, दीक्षित, साहनी, वत्स, हारग्रीव्ज और मेके आदि द्वारा मोहेंजोदडो के इस मुक़ाम की खूब विस्तार के साथ खुदाई का काम सम्पन्न किया गया और फलतः खानगी व आम मकानों और भवनों, सडकों और गलियों, मोरियों और परनालों तथा स्नानागारों और जलाशयों से युक्त एक सारा नगर खण्डहरों के रूप में पृथ्वी के गर्भ में से निकल आया। साथ ही ऊपर उल्लिखित जैसी हजारों मिट्टी की मुद्राएँ, खिलौने, मूर्त्तियाँ, छोटे-छोटे गहने, मिट्टी के पात्र, पत्थर के बटखरे, सामान भरने के नाँद, मनके और आभूषण आदि भी काफी तादाद में खुदाई में निकले और अब भी लगभग नित्य ही कुछ न कुछ मिलता ही रहता है। इस सामग्री में मिट्टी की मुद्राएँ, जो इस मुक़ाम पर चारों ओर प्रचुर मात्रा में मिली हैं, बहुत उम्दा ढंग की हैं और उनके उपर एकशृंग, वृषभ, गैंडे, हाथी, शेर, मगर आदि-आदि पशुओं की आकृतियों के साथ-साथ एक ‘अज्ञेय’ चित्र-लिपि मे कुछ न कुछ आलिखित है। ठीक इन्ही में की कुछ मुद्राएँ सुदूर मेसोपटामिया (इराक़) और इलाम मे भी मिली है, जो कि निर्विवाद रूप से प्राक्-सार्गोनिक युग की मानी जाती हैं। स्वयं सर जान मार्शल लिखते हैं कि “उर और किश से प्राप्त ऐसी ही दो मुद्राओं के नमूनों से यह ठीक ही निर्णय किया गया है कि सिंधु-काँठे की यह सभ्यता कम से कम २८०० ईस्वी पूर्व से पहले की होनी चाहिए।” ताँबे और काँसे के हथियार-औजार भी मोहेंजोदड़ो में पाए गए है। स्पष्टतया ये सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि इस सिंधु-सभ्यता के निर्माताओं के पीछे एक और भी प्राचीन इतिहास-परम्परा रही होगी।
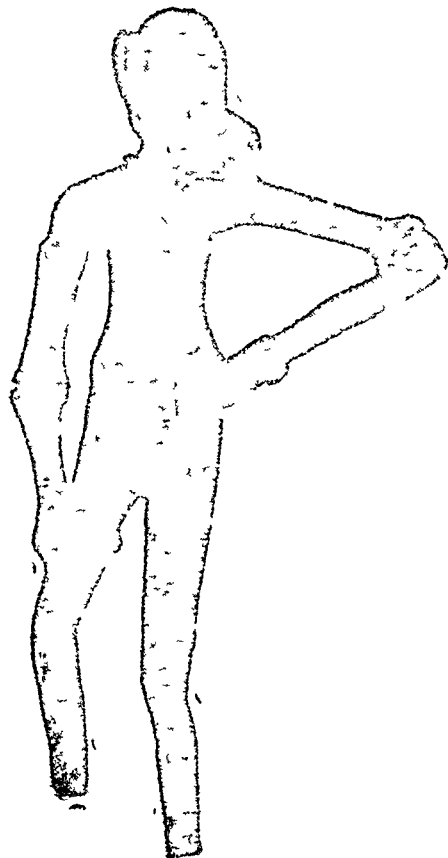
मोहेंजोदडो से प्राप्त काँसे की नर्त्तकी की मूर्त्ति

इन भारतीय पुरातत्त्वावशेषों के सुमेरियन सादृश्य पर प्रो० साइस, गेड और स्मिथ ने काफ़ी जोर दिया है। मार्शल का मत है कि वैदिक और सिंधु-सभ्यताओं मे कोई संबंध नही था। वस्तुतः यह बताना बड़ा मुश्किल है कि सिंधु-सभ्यता के ये लोग सचमुच कौन लोग थे। कई विद्वानों के अनुसार सिंधु-सभ्यता का विकास करनेवाले लोग दरअसल कौन थे यह विवादग्रस्त विषय है। सबसे अधिक बुद्धिसंगत मत यही प्रतीत होता है कि वे लोग भारतवर्ष के आर्य्यों से पहले के निवासी (संभवतः द्रविड़ लोग) थे, जिनका वेदों में “दस्यु”, “असुर”, या “पणि” आदि नामों द्वारा उल्लेख मिलता है, और जिनकी सभ्यता लगभग दो या तीन हजार ईस्वी पूर्व उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारी आर्य्यों के ज्वार में विनष्ट हो गई थी।

कला की दृष्टि से बहुतेरी सुन्दर मुद्राओं और मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सामग्री मे सब से उल्लेखनीय सेलखरी की बनी हुई सभवतः एक योगी की मूर्त्ति (दे० पृ० २७०७ का चित्र) और काँसे की

एक नर्त्तकी की छोटी-सी मूर्त्ति है (दे० पृ० २७०६ का चित्र)। रचना-कौशल और भाव-प्रदर्शन के लिहाज से ये दोनों कलाकृतियाँ मोहेंजोदड़ो मे देवी माता तथा पगड़ीधारी बौने कीचकों की हजारों की तादाद मे पाई गई अन्य मृण्मय-मूर्त्तियों से कही बढ़ी-चढ़ी हैं।

मोहेंजोदड़ो ही की तरह हडप्पा से प्राप्त सामग्री भी, जिसकी खुदाई का काम श्री दयाराम साहनी ने कराया था, अति मनोरञ्जक है। इन दोनों स्थानों की सस्कृतियों में, जैसा कि उनकी खुदाई में निकले हुए मकानों, पानी बहने की मोरियों और परनालों, ईंटों, मिट्टी के पात्रों, अस्त्र-शस्त्रों, घरेलू काम की वस्तुओं, गहनों-आभूषणों और मुद्राओं से प्रकट होता है, इतनी अधिक परिपूर्ण समानता है कि यह बिना किसी हिचकिचाहट के माना जा सकता है कि इन दोनों ही नगरों का जीवन एक-जैसी संस्कृति से परिप्लावित था और उनमे निरन्तर पारस्परिक ससर्ग प्रस्थापित था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हडप्पा के खॅडहर आज से बहुत पहले ही सन् १८५३ ई० में जनरल कनिघम द्वारा देखे जा चुके थे, परन्तु पुरातत्त्व की दृष्टि से एक मूल्यवान् स्थल के रूप में उसका महत्त्व बहुत दिनों तक किसी ने भी नही समझा। इसका नतीजा यह हुआ कि कनिघम द्वारा उल्लिखित वहाँ की बहुतेरी इमारतों की दीवारों की ईंटें लाहौर-मुलतान रेलवे की १०० मील लम्बी सडक की गिट्टी की पूर्त्ति करने के हेतु ढहा दी गई और पास-पड़ोस के गाँववाले तो अपने मकान बनाने के लिए हड़प्पा की इमारतों की इन पक्की ईंटों को न जाने किस जमाने से लगातार काम मे लेते आ रहे थे। खैर, जो कुछ भी सामग्री वहाँ अवशिष्ट है उसके स्तरों की विधिवत् अनुसधान द्वारा की गई जाँच के उपरान्त यह मत निश्चित किया गया है कि यहाँ की प्राचीनतम रचनाओं की तिथि ३२५० ई० पू० तक पुरानी मानी जा सकती है। श्री दयाराम साहनी के तत्त्वावधान मे की गई खुदाई और शोध के बाद श्री माधोस्वरूप वत्स द्वारा और अधिक खोज इस स्थान की की गई और फलतः मोहेंजोदडो के मकानों से बिल्कुल मिलते-जुलते पक्की ईंटों से बनाए गए कई मकान यहाँ भी निकले, जिनमें बाक़ायदा पक्की फर्शें, सीढीदार जीने, पानी बहने के लिए मोरियाँ और नालियाँ, कूडा-कर्कट फेंकने की नाँदें, गन्दा पानी जमा करने के हौज, कुएँ और अनाज भरने की खत्तियाँ आदि निर्मित हैं। इन इमारतों के खॅडहरों के अलावा मोहेंजोदडो जैसी ढेरों मुद्रा और मुद्रिकाएँ, मिट्टी की मूर्त्तियाँ, स्फटिक मणियों से गूँथी हुई मालाएँ, गोमेदक, सूर्यकान्तमणि, वैदूर्य आदि रत्नों से जटित सोने के आभूषण, ताँबे और काँसे के बर्त्तन, औजार-हथियार, खिलौने, हाथीदाँत की चीजें, पत्थर की पटरियों पर खुदे आलेख, मिट्टी, पाषाण और ग्लेज की हुई मृत्तिका द्वारा बनाई गई न जाने कितनी पशु-आकृतियाँ आदि चीजें यहाँ की खुदाई में निकली हैं, जिनमें कोई-कोई तो बहुत ही कलापूर्ण हैं। परन्तु इस सारी सामग्री में सौंदर्य्य की दृष्टि से जिन्हे सिरताज कहा जा सकता है, वे हैं क्रमशः धूसरवर्ण तथा लाल पत्थर की वे दो शीशविहीन खण्डित मानव-मूर्त्तियाँ, जिन्हे खोजने का श्रेय क्रमशः श्रीदयाराम साहनी और श्री माधोस्वरूप वत्स को प्राप्त है। इन प्रतिमाओं की श्रेष्ठ कला की तुलना मे रक्खी जाने योग्य एक भी वस्तु हमें मोहेंजोदडो से प्राप्त सामग्री मे नही मिलती—ये उन ढेरों आदिदेवियों की बर्बरसम भौंडी मूर्त्तियों के झुंड के बीच उसी प्रकार से अलग से अपनी शोभा निखराए उन्नतमस्तक खडी हैं, जैसे कि बत्तखों के झुंड के बीच हसों का एक जोड़ा खडा हो! विशेषकर नर्त्तक की उस शीर्षहीन प्रतिमा के ललित और सुकुमार शिल्प-गढन को देखकर तो इतना अधिक आश्चर्यचकित हमें रह जाना पडता है कि हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सचमुच ही यह कलाकृति एक ऐसे पुरातन युग की है, जब

हडप्पा से प्राप्त लाल बलुए पत्थर की शीर्षहीन अद्भुत खडित मूर्त्ति (फो० भा० पु० वि०)

मात्रा में मँगवा कर काम में लाया जाता रहा। ये दोनों पत्थर बाद के ऐतिहासिक युग में मूर्त्ति के काम मे लाए जाते नहीं पाए गए। इसी बात पर जोर देते हुए सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "पजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रांत मे पाई गई ढेरों भारतीय-यूनानी मूर्त्तियों में एक भी ऐसी नहीं है जो इन दोनों प्रकार के पत्थरों मे से किसी से बनाई गई हो।"

मोहेंजोदड़ो की खुदाई में निकला एक पक्का कुवा

तले दोनों ओर दिग्दशित दो यथार्थ गड्ढों तथा सूक्ष्मतापूर्वक चपटे कर दिए गए उसके नितंब भाग पर जरा ध्यान दीजिए। देह की सुघड गठन के यथार्थ प्रत्याङ्कन का यह एक सर्वाङ्ग-संपूर्ण नमूना कहा जा सकता है और यूनानी कला के श्रेष्ठतम उदाहरण की तुलना में रक्खा जा सकता है। इस मूर्त्ति में अंकित आकृति की मुद्रा, विशेषकर उसका बाहर की ओर निकला हुआ उदर, स्पष्टतया एक भारतीय लाक्षणिक विशेषता है। इन दोनों मूर्त्तियों के खोज के स्थान, जिससे वे निर्मित हुई हैं वह पत्थर, एव उनकी रचना शैली आदि इस बात की निर्विवाद रूप से गवाही देते हैं कि वे प्रागैतिहासिक युग की हैं।

मोहेंजोदडो से प्राप्त मुद्राओं के नमूने (फ़ो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

इस मूर्त्ति मे सामने का भाग प्रत्याङ्कित है, अतएव देखने में यों वह बहुत सरल है। परन्तु उसका सारा सौंदर्य उसमें निदर्शित शरीर के मासल भागों के उस सुरुचिपूर्ण और यथार्थ गढ़न मे है, जिसे देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इस सिलसिले मे उसके कमर के हिस्से में रीढ के

मोहेंजोदड़ो और हडप्पा के बाद पुनः ऐतिहासिक युग के साथ अपना क्रम जोडने के लिए लगभग २००० वर्ष की एक खाई लाँघना आवश्यक है। अतः अगले प्रकरण मे हम ई० पू० ६४२ से आरभ कर शैशुनाग, नद, मौर्य्य और शुंग युगों की कला पर लिखेंगे।
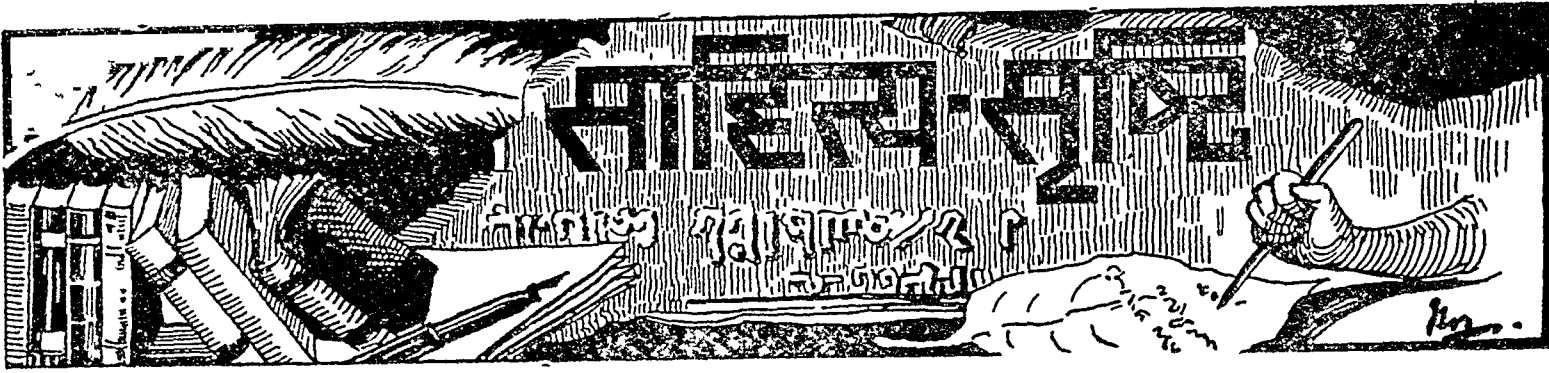
संस्कृत-वाङ्मय—८

मध्य-काल

संस्कृत-काव्य का मध्य-काल लगभग ७०० ईस्वी के बाद आरम्भ होकर १२०० ईस्वी में समाप्त होता है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम इस काल को 'पूर्व' और 'उत्तर' दो युगों मे विभक्त कर सकते हैं। इनमें पूर्व-काल प्रायः ७०० ई० से ६५० ई० तक और उत्तर-काल लगभग ६५० ई० से १२०० ई० या उसके बाद तक है। यह युग-विभाग केवल कृत्रिम है और अध्ययन की सुविधामात्र के लिए यह विभाजन किया गया है, इसे न भूलना चाहिए। इसी कारण इन युगों की जो तिथि-रेखाएँ खीची गई हैं, उन्हें नितान्त अनुलंघनीय भी नहीं समझना चाहिए। ऐतिहासिक निरूपण मे आवश्यकता और उपादेयता के अनुसार वे घटती-बढ़ती रहेगी।

१. पूर्व-काल

पूर्व-काल में काव्य अर्थात् महाकाव्य की परम्परा कुछ टूट-सी गई। उत्तर-काल मे उसका एक प्रकार से पुनरुद्धार-सा हुआ। तत्कालीन साहित्य की पर्यालोचना करते समय हम उसकी चर्चा करेंगे। पूर्व-काल मे साहित्य-क्षेत्र से, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, महाकाव्य अथवा गेय काव्य (Lyric) उठ-सा गया। उसके स्थान मे हम 'शतकों' की प्रतिष्ठा पाते हैं। शतकों मे एक सौ अथवा उससे कुछ ऊँची-नीची संख्या में श्लोक मिलते हैं। इसमे सन्देह नही कि मौलिक रूप में शतक में सौ श्लोक ही रहे होंगे और पश्चात्काल में उनकी संख्या बढा दी गई होगी। इन शतकों की संख्याओं का घटना-बढना काव्यो की अपेक्षा सरल था, क्योंकि इनमे 'वस्तु' अथवा 'प्रबन्ध' जैसी तो कोई चीज थी नही, जिसे पूर्व और पर के मिलान से सम्हाला जा सकता। इस कारण प्रक्षेपकों के लिए सुविधा हो गई। प्रक्षिप्त श्लोकों की गुंजायश जब काव्यों और प्रबन्धपरक अन्य ग्रन्थों में हो गई है तो असम्बद्ध स्वतःपूरित शतक-श्लोकों के बीच उनका खप जाना तो साधारण-सी बात थी। अस्तु।

भर्तृहरि

यह पूर्व-काल वस्तुतः शतक-युग है और इसमें दो विशिष्ट शतककार हुए हैं। इनमें से एक तो है भर्तृहरि और दूसरा अमरु। भर्तृहरि का संबध तीन शतकों से है, जिनके नाम हैं (१) नीति-शतक, (२) शृंगार-शतक और (३) वैराग्य-शतक। ये तीनों एक ही व्यक्ति के हैं इसमे सन्देह हो सकता है और कतिपय विद्वानों ने सन्देह किया भी है, परन्तु प्राचीन अनुश्रुति और साहित्य-जिज्ञासु दोनों ने इन तीनों शतकों को भर्तृहरि की ही रचना मानी है। साथ ही भाषा और वर्णन-संबधी जिन आँकड़ों से कृति-विशेष व्यक्ति-विशेष की रचना मानी जाती है, उनके प्रयोग से भी उन तीनों शतकों का कर्त्ता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। ध्वनि, रस, रुचि-वैचित्र्य, शब्द-कौशल आदि सब एक ही व्यक्ति-विशेष के लगते हैं। इससे तीनों को भर्तृहरि की कृतियाँ मानना ही उचित है।

भर्तृहरि कौन थे, यह कहना भी कठिन है। संस्कृत कवियों और ग्रन्थकारों में जो निरीहता रही है, उसके कारण उन्होंने अपनी कृतियों में किंचित् ही अपने विषय मे कुछ कहा है। वास्तव मे अपने को वे काल की गणना से विमुक्त कर काल और देश दोनो को लाँघ गए। भर्तृहरि उन्हीं काल का अतिक्रमण कर गए कवियों में से एक हैं। किवदन्तियाँ उन्हे प्रख्यात राजा, विक्रम का भाई और स्वयं एक राजा कहती हैं। परन्तु उनमें कहाँ तक ऐतिहासिक सत्यता है, यह कहना इस समय असंभव है। उनके समय और व्यक्तित्व पर आठवी सदी ईस्वी के आरम्भ में भारत-भ्रमण करनेवाले चीनी यात्री ईत्सिंग ने कुछ प्रकाश डाला है। ईत्सिंग ने नालन्द के बौद्ध महाविहार और विश्वविद्यालय में सालों रहकर बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया था। उसने भारत-संबंधी अपने ग्रन्थ मे नालन्द में पढ़ाए जानेवाले पाठ्यक्रम का उल्लेख किया है। उससे एक ओर तो जान पड़ता है

कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि दोनों एक ही व्यक्ति थे। दूसरी ओर उनके व्याकरण-ग्रन्थ के भी नाम मिल जाते हैं। ईत्सिंग ने लिखा है कि उसके नालन्द-निवास के चालीस वर्ष पूर्व भारत का भर्तृहरि नाम का एक अत्यन्त कुशल वैयाकरण मरा था। निस्सन्देह ईत्सिंग का संकेत शतककार वैयाकरण भर्तृहरि के प्रति ही था, जिसके व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' को देखने का उसे अवसर मिला था। यह 'वाक्यपदीय' प्राचीन भारतीय व्याकरण-परम्परा का अन्तिम रत्न था। ईत्सिंग के कथनानुसार इस भर्तृहरि का उसके समय से चालीस वर्ष पूर्व देहान्त हुआ था। इस प्रकार भर्तृहरि का देहावसान ६५० ई० के लगभग हुआ जान पडता है। इस चीनी यात्री के लेख से यह भी विदित है कि भर्तृहरि बौद्ध थे और बौद्ध सम्प्रदाय द्वारा समर्थित प्रथा के अनुसार सात बार ससार का त्याग और सात बार गार्हस्थ्य का ग्रहण कर चुके थे। इसमें उस भारतीय किंवदन्ती का भी कुछ आभास मिलता है, जिसके अनुसार भर्तृहरि ने अपनी रानी के असंयत चित्त और विलास के कारण वैराग्य ग्रहण कर लिया था। इसकी पुष्टि में भर्तृहरि के नीति-शतक का निम्न श्लोक उद्धृत किया जाता है—

> यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
> धिक् तं च मदनं च इमां च मां च॥

ईत्सिंग ने जिस कहानी का सहारा लिया है, उसके अनुसार एक बार भर्तृहरि ने जब विहार मे पदार्पण किया तब उसमें प्रवेश करते ही उसने एक छात्र को रथ जोतकर द्वार पर खडा रखने का आदेश किया, जिसमें सांसारिक भोग की कामना बलवती हो उठने पर वह शीघ्र प्रासाद को लौट सके। ईत्सिंग ने ऐसे एक श्लोक का भी उद्धरण दिया है, जिसमें भर्तृहरि ने अपने दुर्बल चित्त और द्विधा जीवन की निन्दा की है। एक बात यहाँ यह भी विचारणीय है कि शतकों का भर्तृहरि 'वेदान्त-शैव' है, बौद्ध नहीं, जैसा उसके अनेक श्लोकों से विदित होता है। एक मे तो उसने देवता केवल 'केशव' या 'शिव' को ही माना है—'एको देवः केशवो वा शिवो वा।' यदि भर्तृहरि बौद्ध होता तो कम-से कम इन देवों मे से एक को तो बुद्ध रखता। वैराग्य का देव उसने यहाँ बुद्ध को न मानकर शिव को माना है। इससे भर्तृहरि को बौद्ध नहीं माना जा सकता। फिर उत्तर भारत, विशेषकर पूर्वीय सयुक्त-प्रान्त और बिहार, में जो एक विशेष प्रकार के वैरागी गा-गाकर भिक्षाटन करते हैं, वे अपने को 'भरथरी-सम्प्रदाय' के बताते हैं और अपने भजनों को भी वे 'भरथरी' कहते हैं। संभवतः शैव-वैरागियों का यह सम्प्रदाय भर्तृहरि द्वारा ही प्रवर्त्तित हुआ है।

इस सिद्धान्त को मानने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि भर्तृहरि का सबध कभी किसी राजसभा से था, या शायद वे स्वयं एक छोटे-मोटे राजा थे और युवावस्था में शैव होते हुए भी वृद्धावस्था में बौद्ध हो गए। तभी नालन्द के बौद्ध महाविहार मे उनके ग्रन्थों का अध्यापन और स्वय उनका स्तवन सभव हो सका होगा। जिस श्लोक का एकांश ऊपर उद्धृत किया गया है, उसके अन्य अंशों से ज्ञात होता है कि यौवन मे विलास की ओर उनकी प्रवृत्ति थी। यथार्थतः वह श्लोक युवावस्था का ही प्रतीत होता है, क्योंकि कवि उसमे 'भूपति' की मित्रता, 'पत्तन' के वास, और 'सुंदरी' नारी की अब भी विकल्प से इच्छा करता है—

> एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा
> एको वासः पत्तनेवा वने वा
> एका नारी सुंदरीवा दरी वा॥

श्री पाठक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वैयाकरण भर्तृहरि बौद्ध था और ईत्सिंग का प्रासगिक वर्णन भी इस बात की पुष्टि करता है। उसके ग्रन्थों का नालन्द के बौद्ध विश्वविद्यालय में पाया जाना इसे और सिद्ध कर देता है। सभव है, शतकों के ब्राह्मण-धर्मपरक होने से ईत्सिंग ने उनका स्पष्ट उल्लेख न किया हो। ईत्सिंग कम से कम इतना तो अवश्य लिखता है कि भर्तृहरि वैयाकरण होने के अतिरिक्त मानव-जीवन-सबधी सिद्धान्तों का भी रचयिता था। 'मानव-जीवन-सबंधी सिद्धान्त' या विचार क्या नीतिपरक नहीं हो सकते? सभवतः ये मानव-जीवन सबधी विचार नीति, शृंगार और वैराग्य-शतकों मे ही निरूपित थे। पर बौद्ध सम्प्रदाय-विरोधी होने के कारण उनका स्पष्टतः उल्लेख ईत्सिंग न कर सका। अधिक सभव यह है कि शतकों की रचना व्याकरण की रचना अथवा बौद्ध दीक्षा के पूर्व ही भर्तृहरि ने की होगी। इसी कारण उनके प्रति केवल सकेतमात्र ईत्सिंग कर सका।

कुछ आश्चर्य नही कि भर्तृहरि के शतकों के सारे श्लोक उस कवि के न हों, बल्कि उनमे से कुछ औरों के भी हों। सकलन में इस प्रकार का प्रयास सभव है। 'नीति' और 'वैराग्य' शतकों में इस प्रकार की संभावना अधिक

थी, क्योंकि इसी तरह पचतंत्र का भी तो किसी न किसी रूप में निर्माण हो चुका था। फिर इस नीतिपरक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य नीति-सुभाषित ग्रथ भी उपलब्ध थे और वैराग्य के संबंध में तो अनेक ब्राह्मण-बौद्ध गाथाएँ प्रसिद्ध और प्रचलित थी। शृंगारशतक में अवश्य इस प्रकार के प्रक्षेपकों की सभावना कम दीख पड़ती है, क्योंकि उसमें आए श्लोकों की शब्द-योजना और शैली प्रायः एक हाथ द्वारा ही प्रणीत प्रतीत होती है। इसमे भी यद्यपि सकलन की संभावना सर्वथा असंभावित नही समझी जा सकती तथापि कई कारणों से हम इसे एक व्यक्ति की कृति मान सकते है। इतना स्मरण रखना फिर भी आवश्यक है कि इसमें भी श्लोक जोड़े जा सके होंगे, यद्यपि उनकी सख्या प्रचुर न रही हो। शृंगारशतक के प्रारंभिक श्लोक प्रणय और नारी-सौन्दर्य सबधी हैं। उसके बाद दृश्य बदल जाता है और प्रणय की ऋतुपरक स्थितियो और विलासानन्द से हम नीति और तप से प्रादुर्भूत सुख की ओर झुकते हैं। इस दृश्य मे जिन श्लोकों का ग्रन्थन है वे बुद्धिपरक हैं। तदनन्तर का प्रसग वैराग्य के छोरों को छू लेता है। कवि को नारी का सौन्दर्य विष-सा लगता है और विलास मानव को पार्थिव पाश मे जकडनेवाला साधन-सा प्रतीत होता है। मानव श्रम का सुखद अन्त कवि की इस अन्तिम चेष्टा में वैराग्य और शिव तथा ब्रह्मा के स्तवन में ही है। कवि की मेधा इसे अद्भुत काव्यक्षमता से घोषित करती है।

भर्तृहरि की भाषा परिमार्जित और शैली नितान्त सरल है। यद्यपि कही-कही पद समस्त हो जाते हैं परन्तु फिर भी कवि की कृतियों में अटूट प्रवाह है। भावों को संक्षिप्त करने की उसमे अद्भुत क्षमता है। रत्नों की भाँति उसके श्लोक स्वतः पूर्ण होते हुए भी एक अटूट श्रृंखला का सृजन करते हैं। श्लोकों में पाण्डित्य, माधुर्य, तर्क, शक्ति सब कुछ मिल जाते हैं और काव्यपरक सौंदर्य की भी उसमें कमी नहीं। भट्टि-काव्य के रचयिता कविवर भट्टि को ही कविगुण से विभूषित होने के कारण जो विद्वान् भर्तृहरि मानते हैं वे अवश्य इस बात को भूलते हैं कि दोनों मे काव्यशक्ति प्रचुर होने पर भी दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हैं और उनमें पर्याप्त अतर है। दोनों दो विभिन्न व्यक्ति ही होने चाहिएँ। एक व्यक्ति होने का संदेह अधिकतर इस कारण भी हो जाना है कि दोनों ही कवि होने के अतिरिक्त वैयाकरण हैं। फिर भी इसमे सदेह नही कि भट्टि के काव्य का माधुर्य भर्तृहरि के श्लोकों मे मिल जाता है, यद्यपि वे प्रबन्ध-काव्य मे नहीं पिरोए गए हैं। नीति, शृंगार, करुणा, वैराग्य, जिस-जिस प्रसंग में भर्तृहरि ने श्लोक कहे हैं ये श्लोक उस-उस प्रसंग क पूर्णतया चरितार्थ करते हैं। साफ-सुथरी भाषा मे, स्वच्छ अकृत्रिम शैली मे, स्पष्टता और शक्तिपूर्वक भाव हमारे सामने आते हैं। सस्कृत भाषा का वह गुण जिसे 'संश्लिष्टि' कह सकते हैं, अत्यन्त प्रचुर मात्रा में भर्तृहरि में विद्यमान है। विश्लेषण से परस्पर दूर के भावों को एकत्र कर सश्लिष्ट पदावली में प्रस्तुत करना संस्कृत कवियों का ही काम रहा है, जिसमें भाषा ने उनकी विशेष सहायता की है। अधिक से अधिक दूरीभूत भावों को एकत्र कर संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने की इस शक्ति मे भर्तृहरि निस्सन्देह बेजोड हैं। उसके श्लोकों का एक-एक पद एक-एक ग्रन्थि है, जिसके खुलने से भावों की शृंखलाएँ एक के बाद एक अनवरत निकल पड़ती हैं।

अब हम भर्तृहरि की काव्य-कृतियो के कुछ नमूने देखे। नीचे लिखे उदाहरण में कवि नर का आदर्श उपस्थित करता है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

मानव-जीवन के चार आश्रमों को कवि ने निम्न रूप से रखा है—

आयुर्वर्षशतं नृणां रात्रौ तदर्धं गतम्
तस्यार्धस्य परस्यचार्धमपरम्बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवेद्वारितरङ्गबुद्बुदसमे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

मानव-जीवन के विविध स्तरों का एक ही श्लोक में भर्तृहरि ने अपूर्व वर्णन किया है। लम्बे वक्तव्य को इसमें अद्भुत क्षमता से संक्षिप्त कर दिया है—

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डित तनुः
नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्॥

मनुष्य के क्षणभगुर जीवन का इससे अधिक विडम्बनापूर्ण चित्र अन्य नहीं मिलता। एक ही श्लोक मे कवि ने अनेक दृश्य बदले हैं, जिनका अन्त करुण और विषादयुक्त है। इसे पढ़कर किंचित् भय का संचार हो जाता है। नीचे के श्लोक में सुख-दुःख और अन्य द्वन्द्वात्मक सांसारिक विषयों का उल्लेख है:—

आक्रान्तम्मरणेन जन्म जरसा यात्युत्तमं यौवनम्
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः।

लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥

नीचे के श्लोक मे कवि सर्वशक्तिमान् काल की स्तुति करता है। ससार के शक्ति-परिचायक रूप कितने क्षणिक हैं, काल की सहारक चोट से वे किस प्रकार देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं, यह अद्भुत वेग और शक्ति से कवि ने बताया है—

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्तेबन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

वर्णन अत्यन्त आकर्षक और नाट्यपूर्ण है। इसी प्रकार का एक अन्य वर्णन अद्भुत क्षमता का है, जिसमें उपालम्भ की मात्रा भय का सचार करती है। कवि नीति-वैपुल्य के भेरी-घोष से मानव को सावधान करता है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीम्प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

नीचे के श्लोक मे कवि संन्यस्त सुख की अभिलाषा करता है—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ॥
किं तैर्भाव्यंम्मम सुदिवसैर्यैर्युते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जठरहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये ॥

वैराग्य शतक का एक सुन्दर श्लोक मानव-जीवन के अन्त पर परितोष लेता है। शरीर के विविध अवयवों के पचत्व को प्राप्त होने मे कवि परम सुख का अनुभव करता है। सुचरितों से आवागमन के बन्धनों को काट ब्रह्म में लय हो जाना उसका चरमानन्द है। प्रकृति के अवयवों के साथ मानव ने अपना अन्तिम बन्धुत्व और चिरसखित्व स्थापित किया है—

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥

शृगार शतक के श्लोक प्रसाद, ध्वनि और माधुर्य में असाधारण हैं। हमे खेद है कि स्थानाभाववश उसके उद्धरण यहाँ प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं। भर्तृहरि ने अपनी रचनाओं में निम्नलिखित छन्दों का उपयोग किया है—शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, श्लोक, वसन्ततिलक, स्रग्धरा, आर्या, गीति, इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, वशस्था, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रासमक। इनमें से पहले पॉच छन्द मुख्य हैं और उनमे भी शार्दूलविक्रीडित प्रमुख है।

भर्तृहरि का नाम सस्कृत-साहित्य में पर्याप्त आदर से लिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि उन्होंने कोई महाकाव्य नही लिखा, परन्तु उनके तीनों शतक माधुर्य में एक ऊँचा स्थान रखते हैं। नीति और वैराग्य-शतकों के अतिरिक्त शृगार-शतक तो विशेष औत्सुक्य से पढ़ा जाता है। यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं कि वैयाकरण होते हुए भी भर्तृहरि ने मधुर कविता की। इस विषय में कवि भट्टि उनका पूर्ववर्त्ती था।

अमरु

शतककारों की शृगारिक पदावली में अमरु का स्थान सब से ऊँचा है। 'अमरु-शतक' असाधारणतया लोकप्रिय हो गया है। अपने बाद की कविता पर जितना प्रभाव अमरु ने डाला है उतना अन्य कम व्यक्तियों ने डाला है। आज की प्रान्तीय भाषाओं का प्राचीन काव्य अधिकतर इसी कवि द्वारा प्रभावित है। हिन्दी के बिहारी आदि रीतिकाल के कवि और दोहाकार अमरु के विशेष प्रकार से ऋणी हैं। जैसे हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के नीतिकार कवियों पर भर्तृहरि के नीति-शतक का प्रभाव है, वैसे ही हिन्दी के शृगारी दोहाकार अथवा अन्य प्रान्तीय आरंभिक कवि अमरु-शतक का ऋण वहन कर रहे हैं। परन्तु भर्तृहरि की ही भाँति अमरु अथवा अमरुक के जीवन के आँकडे भी नही मिलते। उसका काल निश्चित करना भी टेढी खीर है। उसके प्राचीनतम टीकाकार अर्जुन वर्मा १२१५ ईस्वी में हुए थे। इससे अमरु इस काल से पूर्व के तो ठहर ही जाते हैं। इससे काफी पहले आनन्दवर्धन ने भी अमरु-शतक का हवाला दिया है। और आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के लगभग हमे ज्ञात है। इससे अमरु इस काल से भी पूर्व के सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार लगभग ८०० ईस्वी में होनेवाले विचक्षण काव्यजिज्ञासु वामन ने भी अमरु का नाम न देकर उसके शतक से तीन श्लोक उद्धृत किए हैं। इन प्रमाणो से अमरु-शतक का प्रणयन ७५० ईस्वी से पूर्व रखा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने अमरु को कालिदास के आस-पास और भर्तृहरि का पूर्ववर्त्ती माना है, पर ऐसा मानने मे प्रमाण हमारे सहायक नहीं। भाषा, शैली, और शतक-

प्रणाली पर विचार करने से भी विदित होता है कि अमरु की परिणति ६५० ईस्वी से पहले अर्थात् भर्तृहरि से पूर्व की नहीं हो सकती।

अमरु-शतक के सम्बन्ध में एक किवदन्ती यह है कि शंकराचार्य ने काम के रहस्य को जानने के लिए योग द्वारा एक काश्मीरी राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया। फिर उस राजा के अन्तःपुर की सौ नारियों के साथ रमण करने से जिस-जिस रस और सुख का उन्हे अनुभव हुआ उन्ही का निरूपण अमरु-शतक मे है। निस्सन्देह इस किवदन्ती पर विचार करने का कोई कारण नही हो सकता। यह भी कहा गया है कि अलकार-पुस्तकों में दी गई नायिकाओ का इसमे नख-शिख वर्णन है। यह मत चौदहवी सदी के शतक टीकाकार वेमभूपाल का है। इसी प्रकार एक मत यह भी है कि यह नायिका-भेद का शतक है। वास्तव मे इन दोनों विचारों मे कोई यथार्थता नही। इसे तो शृगार का ही एक शतक मानना चाहिए। इस और भर्तृहरि के शृगार-शतक मे अन्तर केवल इतना है कि जहॉ भर्तृहरि ने प्रणय और नारियों के जीवन का साधारण वर्णन किया है, उनका जीवन मे स्थान बताया है, वहॉ अमरु ने जीवन की अन्य सारी अवस्थाओं को छोड़कर केवल प्रणयियों का पारस्परिक सम्बन्ध, विरह, मिलन, विषाद, आनन्द का ही शृंगारिक चित्रण किया है। अमरु के शतक में भर्तृहरि के शोच और अन्त्य वैराग्य का अभाव है। वह जीवन का रमणीय प्रभात है। उसका कवि जीवन के संध्यागम की कल्पना भी नहीं करता।

अमरु के दमकते प्रणय-राग पर फलाशंका की श्यामता नही चढती। विवेकशून्य अल्हड़ प्रेम ही उस कवि के तुणीर का एकमात्र शर है। उसी से वह अपने असख्य विविध घाव करता है। परन्तु उसके किए घावों से प्रणयी रोते नही वरन् स्मित हास्य करते हैं। जीवन के गम्भीर रहस्य, उसकी जटिल आध्यात्मिकता, और उसके विडम्बनाभरे चक्र अमरु के सुमधुर तरल भावों को बोझिल नहीं करते। अमरु की शतक शैली काव्य-कामिनी का अट्टहास है। इसमें प्रणय की प्रक्रियाएँ हैं, उसमे भी प्रणयी बिंधते है, उच्छ्वसित होते हैं, विरहानल में प्रज्वलित होते हैं, पर अन्त उनका मुस्कान में होता है।

अमरु के छन्दों में शार्दूलविक्रीड़ित की बहुलता है। वसन्ततिलक, हरिणी, स्रग्धरा और शिखरिणी का भी उस कवि ने प्रायः प्रयोग किया है, और जहाँ तहॉ श्लोक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, तथा मन्दाक्रान्ता भी मिल जाती हैं। प्रांजल भाषा में सुन्दर अभिव्यञ्जना और समर्थ शैली में रचा अमरु का यह शतक संस्कृत-साहित्य में एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

२. उत्तर-काल

महाकाव्यों की परम्परा, जो मध्यभारत में टूट सी चली थी, काश्मीर में अब भी चलती रही। पूर्व-काल में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अधिकतर शतक अथवा सुभाषितों की स्फुट कविताएँ लिखी गई, परन्तु उत्तर-काल में फिर एक बार हम काव्यों की ध्वनि सुनने लगते हैं। वैसे पूर्व-काल की काव्य-परम्परा बिलकुल टूटी नही और यदि हम काल-क्रम के अनिवार्य आँकड़ों से ही इतिहास का निर्माण करें तो उत्तर-काल के अनेक प्रारभिक कवियों को पूर्व-काल में ही रखना होगा। उत्तर-काल के काव्यों में से अधिकतर उपलब्ध हैं, या कम-से-कम अन्य ग्रन्थों में उनके उदाहरण मिल जाते हैं। एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि उत्तरकालीन काव्यकारों मे अधिकतर काश्मीर के थे। इसमें सन्देह नही कि इनमें से कोई वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ आदि के समकक्ष नहीं खडा हो सकता, फिर भी उनका उल्लेख अनिवार्य है, क्योंकि इस काल के अच्छे-बुरे काव्य-क्षेत्र के अग्रणी वही हैं। पहले उत्तर-काल के कवियों में से उनका वर्णन अनिवार्य है, जो समय के विचार से तो पूर्व-काल के हैं, परन्तु सन्धि-काल पर खड़े होने के कारण उत्तरकालीन कवि-शृंखला की आरंभिक कड़ियाँ जैसे हैं।

मेण्ठ

इन उत्तरकालीन कवियों में मेण्ठ अथवा भर्तृमेण्ठ सबसे प्राचीन था। उसकी प्रशंसा कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी मे की है। मेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नाम का एक काव्य लिखा था। उस समय काश्मीर का राजा मातृगुप्त था। कल्हण लिखता है कि राजा मातृगुप्त, जो स्वयं कवि था, हयग्रीववध से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने मेण्ठ को पारितोषिक में काव्य-ग्रन्थ को रखने के लिए एक स्वर्ण की थाली दी, जिससे उसकी सुरभि निकल न जाय। परन्तु मेण्ठ राजा की प्रशंसा से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने थाली स्वीकार न की। उसने मातृगुप्त की प्रसन्नता सौवर्ण थाली से कहीं अधिक मूल्यवान् समझी। कल्हण ने मातृगुप्त को प्रवरसेन का पूर्ववर्ती कहा है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश मातृगुप्त को कालिदास माना है, परन्तु निस्सन्देह इस सिद्धान्त में कोई तथ्य नही है। मातृगुप्त के काल का ठीक-ठीक तो पता नहीं चलता,

परन्तु उसने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी यह सही है। इस टीका के कुछ उद्धरण मिलते हैं। स्वय कल्हण ने मातृगुप्त के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। अनु-श्रुति के अनुसार मेण्ठ का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। एक गणना मे मेण्ठ का नाम वाल्मीकि के साथ आता है और दूसरी मे सुबन्धु आदि के साथ। काश्मीर की गद्दी पर मातृगुप्त का उत्तराधिकारी प्रवरसेन बैठा और चूँकि मेण्ठ मातृगुप्त का समसामयिक था, अतः हम शायद उसे ईसा की छठी सदी के उत्तरार्ध में रख सकते हैं। इस प्रकार मेण्ठ सेतुबन्धकार का समकालीन सिद्ध होता है! परन्तु इस तिथि को भी सर्वथा सही मानने मे आपत्ति हो सकती है, मेण्ठ के कुछ उद्धरण सुभाषितों में मिलते हैं।

भौमक

मेण्ठ के कुछ ही समय बाद भौमक नामक काश्मीरी कवि ने 'रावणार्जुनीय' नाम से एक महाकाव्य लिखा। इसे उलटकर 'आर्जुनरावणीय' भी कहते हैं। इस काव्य का उद्देश्य भी भट्टिकाव्य की भाँति व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करना है। इस काव्य का प्रबन्ध रामायण से लिया गया है। रामायण के उस प्रसग का, जिसमें कार्त्त-वीर्यार्जुन द्वारा रावण-बन्धन का वर्णन है इसमें रोचकता-पूर्वक अकन हुआ है। रावण और अर्जुन कार्त्तवीर्य के युद्ध अथवा पारस्परिक सबन्ध का निरूपण इसके २७ सर्गों मे हुआ है। सस्कृत के कुछ ही काव्य इतने सर्गों मे संपन्न हुए। भौमक को भीम, भूम अथवा भूमक भी कहते हैं।

हलायुध

लगभग इसी काल मे अथवा इसके कुछ बाद दक्षिण में एक हलायुध नाम का कवि हुआ था। था तो वह भी वैयाकरण, पर उसने भी काव्य के बहाने व्याकरण लिखने की प्रथा का अनुसरण किया है। हलायुध के काव्य का शीर्षक है 'कविरहस्य'। इसमे राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण (तृतीय) की प्रशस्ति दी हुई है। परन्तु प्रथमतः इस काव्य का उद्देश्य धातुओं के वर्त्तमान काल की बनावट का उदाहरण देना ही है। कृष्ण तृतीय का शासन-काल लगभग ९४० ईस्वी से ९५६ ईस्वी तक है। इसलिए हलायुध भी इसी काल में हुआ होगा।

शिवस्वामी

इस काल के कुछ पूर्व ही सभवतः नवीं सदी के अन्त में काश्मीरी बौद्ध कवि शिवस्वामी ने 'कप्फणाभ्युदय' नामक एक बौद्ध महाकाव्य लिखा। काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल मे ही यह काव्य लिखा जा चुका था। अवदानशतक मे एक कथा है, जिसमें एक दाक्षिणात्य राजा का श्रावस्ति-नृपति के प्रति विरोध प्रदर्शित है। बाद में उसकी बौद्ध धर्म में दीक्षा हो जाती है। कप्फणाभ्युदय का प्रबन्ध इसी अवदान पर अवलम्बित है। शिवस्वामी ने इस बौद्ध काव्य को निबाहा खूब है, यद्यपि इसमे सन्देह नही कि उस पर भारवि और माघ दोनों का प्रचुर प्रभाव है।

वासुदेव

इस समय से कुछ ही काल बाद सभवतः दसवीं शताब्दी के किसी भाग मे वासुदेव नामक एक कवि हुआ, जिसने 'युधिष्ठिर-विजय' और उसी की क्रम-श्रृंखला में 'धातुकाव्य' लिखा है। हलायुध की ही भाँति इस कवि ने भी काव्य को व्याकरण का वाहन बनाया। यह महा-भारत की कथा वास्तव मे व्याकरण के नियमों और धातुओं के सबध में कही गई है। वासुदेव का समय ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।

रत्नाकर

वागीश्वर रत्नाकर (राजानक) नामक एक दूसरा काश्मारी कवि संभवतः शिवस्वामी का समकालीन था। वह काश्मीर-नृपति बृहस्पति अथवा चिप्पट जयापीड और अवन्तिवर्मा का आश्रित था। इस प्रकार वह लग भग ८५० ईस्वी में हुआ होगा। रत्नाकर के महाकाव्य का नाम है—'हरविजय'। पश्चात्कालीन कवियों पर यथाप्रबन्ध भारवि और माघ ने काफी प्रभाव डाला है। हरविजय पर भी शिशुपाल-वध की छाप दीख पडती है।

५० सर्गों में प्रस्तुत हरविजय शायद सस्कृत-साहित्य का सबसे विशद महाकाव्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कवि का काव्य यदि घटिया नही तो कम से कम उच्च कोटि का भी नहीं है। निरर्थक वर्णनों से प्रबन्ध-तन्तु ढीला हो गया है, कई स्थलों पर नितान्त कृत्रिम। यमकों के प्रयोग ने हरविजय की शैली को नितान्त बोझिल कर दिया है। रत्नाकर मे प्रचुर पाण्डित्य है, परन्तु पाण्डित्य और काव्य के लाक्षणिक ज्ञानबाहुल्य से प्रबन्धकौशल की अनुपस्थिति मे महाकाव्य किस प्रकार विकृत हो सकता है इस बात का ज्वलत उदाहरण हरविजय है। हरविजय असंबद्ध प्रबन्ध का एक अद्भुत काव्य-विप्लव है, साहित्य में बेजोड!

अभिनन्द

नैय्यायिक जयन्त भट्ट का पुत्र अभिनन्द भी इसी नवीं शताब्दी में हुआ। वह भी काश्मीर का ही कवि था।

अभिनन्द स्वयं अपने कथनानुसार राजशेखर का समकालीन था। उसने बाण की कादम्बरी के आधार पर अपने महाकाव्य 'कादम्बरीकथासार' की रचना की। उसी के नाम का एक और कवि शतानन्द का पुत्र और 'रामचरित' का रचयिता था।

क्षेमेन्द्र

काश्मीर देश में इस समय साहित्य का विशेष प्रचार था। उसका कानन निरन्तर फूल-फल रहा था। ग्यारहवी सदी मे वहाँ उस कवि का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रयास का संस्कृत-साहित्य पर्याप्त ऋणी है। इस कवि क्षेमेन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसमें कथा कहने की विचित्र क्षमता थी और यद्यपि उसकी काव्य-शैली विशिष्ट न थी, फिर भी उसकी कृतियों की उपादेयता में किंचित् भी संदेह नही किया जा सकता। उसका सामर्थ्य और श्रम दोनों सराहनीय हैं। उसका प्रारम्भिक प्रयास 'रामायणमञ्जरी' है। निस्सन्देह इस काव्य मे शैली अथवा कला का सौन्दर्य तो इतना नही हैं, परन्तु इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक प्रशस्त वस्तु-सकलन है। क्षेमेन्द्र ने बाण की कादम्बरी को भी अपनी पद्यमय 'कादम्बरी' मे परिवर्तित कर दिया था। इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमे कही-कही चतुर कवि का हस्तलाघव दृष्टिगोचर होता है, पर वास्तव में इसका यत्किंचित् चमत्कार बाण के कथावैचित्र्य का ही है। साधारणतया काव्यक्षेत्र में क्षेमेन्द्र का ऊँचा स्थान उसकी दो विशिष्ट रचनाओं पर अवलम्बित है। वे हैं—(१) भारतमञ्जरी और (२) दशावतारचरित। इनमे से पहली रचना १०३० ईस्वी और दूसरी १०६६ की है। भारतमञ्जरी मे महाभारत की कथा का होना तो नाम से ही स्पष्ट है और दशावतारचरित मे विष्णु के दसों अवतारों की कथा निरूपित है। इन अवतारों मे नवाँ अवतार बुद्ध है, जिससे जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के समय तक ब्राह्मणों की मेधा ने बुद्ध को अपने विष्णु की अवतार-पक्ति मे बिठा लिया था। बौद्ध धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था-भजक नीति ने ब्राह्मणधर्म पर निस्सन्देह गहरा आघात किया था और बौद्धों की तर्कशक्ति निश्चय ही ब्राह्मणों की अपेक्षाकृत बुद्धि को तिरोहित कर चुकी थी। परन्तु जान पड़ता है कि इसी समय ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म पर अपना वह अचूक अस्त्र फेंका, जिसके कारण बौद्धों का केन्द्रीय आराध्यदेव ब्राह्मणों का साधारण देव मात्र बन गया! इसमे शायद ही कोई सन्देह कर सकता है कि दशावतारों की पक्ति मे बुद्ध की प्रभा धूमिल हो गई है। ब्राह्मणों ने बौद्धों के इष्टदेव को अपने देवताओं मे डालकर उन्हे खपा लिया। यह ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक 'साधारणीकरण' क्षेमेन्द्र से शायद कुछ ही काल पूर्व हुआ होगा—सभवतः गुप्त सम्राटों के शीघ्र बाद ही। मध्ययुग का उत्तर-काल का प्रारंभ वास्तव में क्षेमेन्द्र के कुछ ही पूर्व होता है।

मङ्ख

बारहवी सदी में होनेवाले काश्मीरी कवि मङ्ख का नाम भी स्मरणीय है। मङ्ख अलकारों के पण्डित रुय्यक का शिष्य था। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलङ्कार-सर्वस्व' मे मङ्ख के काव्य 'श्रितकण्ठचरित' का हवाला दिया है। श्रितकण्ठचरित पचीस सर्गों मे प्रस्तुत शिव द्वारा त्रिपुरासुरवध की कथा है। इस महाकाव्य का सबसे सुन्दर वर्णन १५ वे सर्ग में है, जिसमे मङ्ख की यथार्थ विशेषता झलकती है। इसमे तत्कालीन राजा जयसिह के मंत्री अलङ्कार का, जो कवि का भाई था, दरबार वर्णित है। यह दरबार तत्कालीन विद्वानों का है। यह दरबार उस समय के विद्वानों की तालिका के लिए अद्भुत सामग्री प्रस्तुत करता है। इससे मङ्ख का काल भी साफ-साफ निश्चित हो जाता है। वह राजा जयसिह का समकालीन था और इस जयसिह ने सन् ११२६ ई० से ११५० ई० तक राज्य किया था।

जयरथ

जयरथ भी काश्मीर की ही काव्य-परम्परा का कवि था और हुआ भी वह लगभग मङ्ख के ही काल मे। उसने 'हरचरितचिन्तामणि' नामक एक काव्य लिखा। परन्तु इससे न तो तत्कालीन ऐतिह्य पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है और न काव्याध्ययन का ही आनन्द सम्पन्न होता है। यह शैव संप्रदाय की पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों से निस्सदेह भरा पडा है।

अमरचन्द्र

इस काल मे ब्राह्मणधर्म मे कुछ विशेष क्षमता आ गई थी। पहले तो उनके जैसे ही पुराण उन्ही के प्रभाव से बौद्धों और जैनों ने भी अपने-अपने सम्प्रदायों के लिए प्रस्तुत कर लिए थे। इसका मुख्य कारण यह था कि आरभ मे जब इन धर्मों के पुराण बने तब उनकी सामग्री ब्राह्मण अनुश्रुतियों और पुराणों से ही ले ली गई थी। बुद्ध नए अवश्य थे परन्तु बौद्ध अपने देवता कहाँ से ले? उन्हे ब्राह्मणों के देवता ही स्वीकार करने पड़े। न्याय और तर्क मे तो इन देवताओं की आवश्यकता नही पड़ती, परन्तु जब सम्प्रदाय लोकप्रिय होने लगता है, तब पुराणों और इतर देवताओं

की आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त के अनुकूल व्यक्तिगत इष्टदेव की खोज मे मानव बुद्ध-मूर्त्ति की प्रतिष्ठा हुई और हीनयान से महायान की ओर साम्प्रदायिक प्रगति हुई। इसके अलावा ब्राह्मण देवताओं को बुद्ध के समक्ष निकृष्ट सिद्ध करने के लिए उन्होंने इन्हे उनके चमरधारी और अन्य अनुचर-वर्ग बना लिया। परन्तु काल के प्रभाव से कुछ ऐसा घटा कि ये अनुचर ही इष्ट को खा गए! इन्द्र-ब्रह्मादिक तो मुख्य हो गए और बुद्ध ब्राह्मणों के दशावतारों मे खो गए! यही स्थिति जैनों की भी हुई। दूसरी बात यह थी कि वाल्मीकि के बाद काव्य-परपरा मे बौद्ध अश्वघोष का स्थान प्रथम होते हुए भी वास्तव मे उस परम्परा के स्तभ बने ब्राह्मण प्रबन्ध-कवि और नदी की भाँति पहले उनका स्रोत पतला होते हुए भी बाद मे प्रशस्त हो चला। अब बौद्ध और जैन कवियों ने जो प्रबन्ध और विषय के आदर्श के लिए अपने पीछे देखा तो उनके अश्वघोष तो कब के खो चुके थे और उनके विजित काव्य-ससार पर कालिदास अपना जयस्तभ गाड़कर रघुवश का साका चला चुके थे। फिर उसी स्रोत के प्रखर प्रवाह को अपनी कला और पाण्डित्य से भारवि, कुमारदास और माघ ने और प्रशस्त किया। अब जो बौद्ध और जैन साहित्यिक काव्य की ओर फिरे तो उन्हे अपने आदर्श ब्राह्मण साहित्यकारों ही मे दिखाई दिए। शिवस्वामी के 'कप्फणाभ्युदय' की सामग्री का आभास अवदानशतक में प्राप्य होने पर भी काव्य-कला का पूरा संभार उसे शिशुपालवध मे ही मिला। माघ की कृति की वह मानों प्रतिच्छाया है। सामिप्य के कारण शिशुपालवध जैसे इस युग के अन्य ब्राह्मण-साहित्यकारों के काव्यों को प्रभावित करता है उसी प्रकार उसकी मुद्रा बौद्ध और जैन प्रयासों पर भी गहरी बैठी है।

जैनों के अमरचन्द्र ने इसी परम्परा मे और इसी ऋण से उपकृत हो अपना 'बालभारत' लिखा। छन्दों के विचार से यह काव्य स्तुत्य है, यद्यपि प्रबन्ध और लालित्य इसमे शिथिल हैं। यह काव्य सभवतः तेरहवीं सदी के मध्य मे प्रणीत हुआ, क्योंकि अमरचन्द्र का काल १२५० ई० के लगभग माना जाता है।

लोलिम्बराज

लोलिम्बराज ने १०५० ईस्वी के लगभग अर्थात् अमरचन्द्र से करीब दो सौ वर्ष पूर्व अपना 'हरिविलास' नामक काव्य लिखा, जिसमे कृष्णचरित का वर्णन है। यह भी प्राचीन काव्यों की ही एक साधारण काव्यानुकृति है।

सन्ध्याकर नन्दी, धनञ्जय, कविराज, हरदत्त, चिदम्बर, वेंकटाध्वरिन्

बारहवी शताब्दी में उस श्लेषात्मक काव्य का पूरा-पूरा विकास हुआ, जिसका आरंभ कविवर भट्टि ने कर दिया था। इस प्रकार के काव्य से दो कथाओं का बोध होता है। सन्ध्याकर नन्दी द्वारा विरचित 'रामपालचरित्र' उसी प्रकार का एक काव्य है। इस प्रकार की काव्य-परम्परा में शायद 'रामपालचरित्र' प्रथम ग्रन्थ है। इसमें रामायण की कथा और बगाल के पालवश के नृपति रामपाल की जीवनी एक साथ लिखी मिलती है! एक ही श्लोक से रामायण की कथा और ऐतिहासिक रामपाल की जीवन-घटनाओं का बोध होता है। रामपाल ने ग्यारहवीं सदी के अन्त में राज्य किया था। इस प्रकार सन्ध्याकर नन्दी उसका समकालीन या उसके कुछ ही बाद का रहा होगा। धनञ्जय दिगम्बर जैन था और उसका दूसरा नाम सभवतः श्रुतकीर्त्ति था। उसने अपने काव्य की रचना ११२३ ई० और ११४० ई० के बीच की। उसके काव्य का नाम था 'राघवपाण्डवीय।' इसी प्रकार के एक और नाम का अन्य ग्रन्थ माधव भट्ट (अथवा सूरि और पण्डित उपनामधारी) 'कविराज' ने लिखा। समाननामा इन दोनों 'राघव-पाण्डवीयों' का उद्देश्य एक ही है—अर्थात् श्लेषात्मक रूप से एक ही श्लोक द्वारा रामायण और महाभारत दोनों की कथाओं को व्यक्त करना। सस्कृत की समर्थ पदावली ही इस प्रकार के नट-काव्य को सपन्न कर सकती थी। कविराज के काव्य में फिर भी काफी चमत्कार है, यद्यपि इस प्रकार के काव्य प्रणयन में काव्य का विकास इतना नहीं होने पाता, जितना असाधारण मेधा का। कविराज ने यदि साधारण एकार्थक काव्य पर लेखनी उठाई होती तो शायद उसका यश अधिक व्यापक होता और उसकी भारती अधिक कान्तिमती होती!

इन तीनों के अतिरिक्त दो और कवियों ने इसी प्रकार के श्लेषात्मक काव्य रचे हैं। उनमे से एक का नाम है हरदत्तसूरि और दूसरे का चिदम्बर। हरदत्तसूरि ने 'राघव-नैषधीय' की रचना की, जिसकी एक कथा रामचरित और दूसरी नल की कथा से संपर्क रखती है। हरदत्त के काल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु चिदम्बर निस्सन्देह बहुत पीछे का है। चिदम्बर ने इस काव्य-सम्बन्धी बाजीगरी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, क्योंकि उसके 'राघवपाण्डवीययादवीय' नामक काव्य में रामायण और महाभारत की कथाओं के साथ ही एक तीसरी

कथा भी चलती है, भागवत पुराण मे वर्णित यादव-कुल (अथवा कृष्ण) की। इसके विपरीत परन्तु इसी वर्ग में वेंकटाध्वरिन नामक एक अन्य कवि ने एक अनोखा काव्य लिखा। उसका नाम 'यादवराघवीय' है। यह छोटा-सा काव्य ३० श्लोकों में ही समाप्त हो गया है। इसे सीधा पढ़ने से राम की कथा और उल्टा पढ़ने से कृष्ण की कथा का बोध होता है! इस प्रकार का एक दूसरा ग्रन्थ लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र ने सन् १५४२ ईस्वी में अयोध्या में लिखा। इसका नाम है 'रसिकरञ्जन', जिसे एक ओर से पढने से शृंगारपरक वर्णन मिलता है और दूसरी ओर से पढ़ने से वैराग्यपरक। विद्यामाधव नामक एक फलित ज्योतिष का ग्रन्थकार हो गया है। उसने भारवि पर टीका लिखी है। इस प्रकार की बाजीगरी मे वह बाण, सुबन्धु, कविराज, और स्वयं अपने को आदर्श मानता है। इसी प्रकार के एक काव्य 'पार्वतीरुक्मिणीय' मे उसने शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी दोनों के विवाहों का एक साथ वर्णन किया है! यह विद्यामाधव चालुक्यराज सोमदेव के संरक्षण में था।

श्रीहर्ष

बारहवीं शती के उत्तरार्ध में होनेवाले श्रीहर्ष ने अपना 'नैषधचरित' लिखकर फिर एक बार महाकाव्यों की परम्परा का पुनरुद्धार किया। परन्तु उसके बाद शायद इस परंपरा का अन्त ही हो गया। श्रीहर्ष के संरक्षक कन्नौजाधिपति विजयचन्द्र और जयचन्द्र थे। जयचन्द्र पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी का समकालीक था और मुसलमान नृपति द्वारा युद्ध मे ११६४ ई० मे मारा गया। श्रीहर्ष ने स्वयं बताया है कि उसके पिता का नाम हरि और माता का मामल्लदेवी था। इस महाकाव्य के अतिरिक्त श्रीहर्ष अन्य ग्रन्थों के भी रचयिता थे। उन्हीं में से एक 'खण्डनखण्डखाद्य' भी है, जिसमे उन्होंने वेदान्त का निरूपण किया है। खण्डनखण्डखाद्य इस बात का सबल प्रमाण है कि किस किस प्रकार जहाँ कवि एक ओर परिमार्जित काव्य पर लेखनी चलाते थे, वहीं दूसरी ओर न्याय और तर्क सम्बन्धी विषयों पर भी अवाधरूप से लिख सकते थे! श्रीहर्ष मध्यकाल के बाजीगर-कवियों को लाँघ आसानी से उस युग के प्रबल काव्यकारों के समक्ष पहुँच जाते हैं जिसमें ,भारवि और माघ हैं। श्रीहर्ष का छन्द और अलकारों पर प्रभुत्व है। भाषा और शैली पर भी उनका असाधारण अधिकार है। अन्तःपुर और वन दोनों के उनके वर्णन सुन्दर और असामान्य हैं। जिस स्वाभाविकता से वह प्रासादान्तर्गत घटनाओं का वर्णन करते हैं उसी प्रकार उनकी लेखनी अरण्य के प्रसंगों पर भी चलती है। वन-वर्णन तो उनका कई स्थलों पर वाल्मीकि और कालिदास से टक्कर लेने लगता है। कामसूत्र के भी वह मार्मिक पण्डित हैं। श्रीहर्ष की भी गणना कालिदास, भारवि और माघ की श्रेणी में ही की जाती है, जो उचित है। उनके काव्य में ६० से १२० सर्गों तक की संख्या बताते हैं। परन्तु यह विश्वसनीय नही प्रतीत होता कि श्रीहर्ष-सा श्रेष्ठ और असामान्य कवि अपने प्रबन्ध को इतना बोझिल करेगा। पता नहीं, यह कहाँ तक सत्य है। एक 'उत्तरनैषधीय' नामक काव्य भी मिला है, जो सोलह सर्गों मे है और जिसका प्रणयन वन्दारु भट्ट ने किया है। नैषधीय का वर्त्तमान काव्य केवल नल और दमयन्ती के वैवाहिक जीवन के आनन्दोपभोगों तक ही पहुँच कर रह जाता है।

ऊपर छन्दालकारों के विषय मे इस कवि की प्रौढ़ता का हम बखान कर आए हैं। श्रीहर्ष की शैली नितान्त परिमार्जित है और यद्यपि श्लेष का उन्होंने भी प्रचुर उपयोग किया है परन्तु इस क्षेत्र मे उनकी प्रभुता शायद अद्वितीय है। यमकों का अतिशय प्रयोग अवश्य कुछ असयत सा दीखता है। फिर भी श्रीहर्ष सस्कृत के उत्तम कवियो मे से एक हैं। उनकी एक उक्ति चन्द्रमा के सम्बन्ध मे इस प्रकार है—

पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रेरधीत्यकाभूमितिरस्करिण्या।
प्रवर्षति प्रेयसि चन्द्रकाभिश्चकोरचन्चूचुलुकम्प्रतीन्दुः॥

एक अभिसार सम्बन्धी वर्णन नीचे के श्लोक में है:—

ध्वान्तद्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं शङ्कस्व संकेतनिकेतमालाः।
छायाछलादुञ्भितनीलचेला ज्योत्स्नानुकूलैश्चलितादुकूलैः॥

श्रीहर्ष ने छन्दों का जो सुन्दर प्रयोग किया है, उसमे प्रमुख स्थान उन्होंने केवल १६ को ही दिया है। इनमें से इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति प्रमुख है, जो लगभग सात सर्गों में प्रचुरता से प्रयुक्त हुई है। वशस्था का भी प्रमुख उपयोग कवि ने प्रायः चार सर्गों में किया है। दो-दो सर्गों में श्लोक, वसंततिलक और स्वागता का विशिष्ट प्रयोग हुआ है और इसी प्रकार द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय, और हरिणी का एक-एक मे। अन्य छन्दों मे कवि ने अचलधृति, तोटक, दोधक, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी, और स्रग्धरा का उपयोग किया है।

यहाँ पर उस किवदन्ती का उल्लेख कर देना उचित होगा जो मम्मट और श्रीहर्ष के सम्बन्ध मे कही जाती है। कहते हैं, श्रीहर्ष मम्मट का भतीजा था और जब उसने अपना नैषधीय गर्वपूर्वक उसे दिखाया तो मम्मट ने कहा कि "तुमने मेरे 'काव्यप्रकाश' लिखने के पूर्व इसे क्यों नहीं

दिखाया। यदि तुम ऐसा करते तो मुझे काव्यदोष वाले प्रकरण के लिए विविध काव्यों मे अशुद्धियों के लिए भटकना न पडता। सब एक ही स्थल पर प्राप्त हो जातीं और मेरा श्रम बच जाता।" परन्तु श्रीहर्ष इस प्रकार की आलोचना से बहुत ऊपर हैं. यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं।

उत्तरकाल मे जैन-साहित्य भी खूब फूला-फला। जैन लोग अधिकतर संस्कृत ही में लिखते थे, यद्यपि प्राकृतों मे भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। कनकसेन-वादिराज नामक एक द्राविड जैन ने 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा। इसमे चार सर्ग और २९६ श्लोक हैं। यशोधरचरित की सामग्री कुछ समय बाद होनेवाले सोमदेव के 'यशस्तिलक' से मिलती है। कनकसेन श्रीविजय का गुरु था। यह श्रीविजय ९५० ईस्वी के लगभग जीवित था और यह काफी प्रसिद्ध भी हो गया है। उसका गुरु होने के कारण कनकसेन दसवी सदी के दूसरे चरण मे रहा होगा। ग्यारहवी सदी के गुजरात के एक श्वेताबर जैन माणिक्य सूरि ने प्रायः इसी विषय पर एक अन्य ग्रन्थ उसी 'यशोधरचरित' नाम का लिखा। यह वादिराज कनकसेन के दिगम्बर साम्प्रदायिक वर्णन के विरोध मे श्वेताम्बरीय है, परन्तु दोनों के वर्णन, कुछ हद तक सामग्री भी, भिन्न हैं। हेमचन्द्र नाम का प्रख्यात जैनाचार्य भी लगभग इसी काल में हुआ। उसका समय १०८८ ई० से ११७२ ई० तक है। उसका विशद काव्य-ग्रन्थ, 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित,' सन् ११६० और ११७२ ई० के बीच लिखा गया। इसके दस पर्वों ने ६३ जैन आदर्श पुरुषों के जीवनचरित दिए हुए हैं। इनमे से २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ वलदेव, और ९ विष्णुद्विष हैं। इस काव्य की भाषा सरल, किन्तु शैली बोझिल है। इसके अन्तिम पर्व मे महावीर-सम्बन्धी कुछ ऐतिहासिक सामग्री है।

हरिश्चन्द्र नामक एक अन्य जैन आचार्य ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक इक्कीस सर्गों के एक काव्य में जैनों के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित लिखा। हरिश्चन्द्र का समय अज्ञात है। बारहवी सदी के अलकारों के ग्रथकार वाग्भट ने तेरह सर्गों मे नेमिनाथ पर 'नेमिनिर्वाण' नामक एक काव्य लिखा। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के देवप्रभसूरि ने 'पाण्डवचरित्र' और 'मृगावती चरित्र' नामक काव्य लिखे। ११५९ श्लोकों और चौदह सर्गों में समाप्त 'महीपालचरित्र' नाम का एक महाकाव्य चारित्रसुन्दरगणि का बताया जाता है। इन काव्यों मे केवल कथानक की प्रमुखता है, भाषा अथवा शैली की नहीं। वास्तव मे इस काल मे सम्पन्न एक महाकाव्य काफी अच्छा है। इसका नाम है 'पद्यचूडामणि' और इसका रचयिता है बुद्धघोषाचार्य। यह बुद्धघोषाचार्य कौन है यह कहना कठिन है। बुद्धघोष नाम का एक प्रकाण्ड पण्डित पाली का हुआ है। दोनों के एक होने में कुछ प्रमाण भी दिए गए हैं, परन्तु वे अकाट्य नहीं जान पडते और इन दोनों व्यक्तियों की एकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। आश्चर्य नहीं कि दोनों दो व्यक्ति हों।

बिल्हण

पूर्व-मध्य-काल में जो शतकों या अन्य गेय काव्यों (Lyrics) की परम्परा चली थी, वह उत्तर-काल में भी चलती रही। हमने ऐतिह्य की सुविधावश उस प्र. को छोड़कर बीच में साधारण अथवा निम्नकोटि के काव्यों का ऐतिहासिक विवेचन ले लिया था। अब फिर उन शतकों और सुभाषितों के प्रसारक्रम पर विचार करना उपादेय होगा। भर्तृहरि और अमरु के पश्चात् बिल्हण का काल आता है। बिल्हण काश्मीरी कवि था। उसका विशेष परिचय अन्यत्र दिया जायगा, ऐतिहासिक कृतियों के सबध में। यहाँ उसकी स्फुट कविताओं का ही हवाला दिया जायगा। बिल्हण की एक रचना का नाम है 'चौरपञ्चाशिका' अथवा 'चौरीसुरतपञ्चाशिका'। इसमें प्रेमसम्बन्धी ५० श्लोक हैं। यह 'चौरपञ्चाशिका' 'बिल्हण-काव्य' नामक रचना का एक अन्तरङ्ग है। कहते हैं कि इसके ५० श्लोकों की रचना एक राजकुमारी के गुह्य प्रेम के सबध में हुई थी। जब उस प्रेम का पता चल गया तब राजा ने बिल्हण के वध की आज्ञा दे दी। परन्तु जब उसे वधस्थल की ओर ले जाने लगे तब वह अपने प्रणय-सबधी विहारों के शृंगारमय वर्णन का भावपूर्ण और रोमाञ्चक गायन करने लगा। तब उसकी प्रेम-कातरता से प्रभावित होकर राजा ने न केवल उसे छोड़ ही दिया वरन् उसका विवाह भी राजकुमारी के साथ कर दिया। यह कथा बिल्हण-काव्य के काश्मीरी और दक्षिण-भारतीय दोनों पाठो मे उस प्रसग तक समान रूप से मिलती है। परन्तु इसके बाद दोनों के प्रबन्ध मे कुछ अन्तर पड़ता है। काश्मीर वाले पाठ में लिखा है कि राजकुमारी का नाम चन्द्रलेखा था और वह महिलपत्तन के राजा वीरसिंह की कन्या थी। दक्षिण के पाठ में इसके विरुद्ध राजकन्या का नाम यामिनीपूर्णतिलका बताया है और उसे पञ्चाल के राजा मदनाभिराम की पुत्री कहा है। अठारहवीं सदी के अन्त (१७९८) मे

होनेवाले टीकाकार रामतर्कवागीश का कहना है कि वास्तव में यह चौरपञ्चाशिका देवी कालिका के प्रति चौर-पल्ली के राजकुमार सुन्दर का स्तोत्र है। यह स्तोत्र-पाठ उसने राजा वीरसिंह की पुत्री विद्या के प्रणय-षड्यन्त्र के कारण प्राणदण्ड से त्राण पाने के लिए किया था। इसके शीर्षक के संबध में वह टीकाकार कहता है कि इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसका रचयिता चौर नामक कवि था। इसमें सन्देह नहीं कि एक चौर नामक कवि की अनेक कविताएँ सुभाषितों में मिलती हैं। परन्तु स्वय बिल्हण की व्याख्या इन दोनों के विपरीत है। 'विक्रमांकदेवचरित' में वह कहता है कि उसका संबध किसी राजकीय षड्यन्त्र से न था। जान यह पड़ता है कि बिल्हण ने इस कविता मे किसी चोर या दस्यु का प्रेम एक राजकुमारी पर दर्शाया है। कविता से यह सिद्ध है कि इसकी नायिका राजकुमारी थी। वध वाले श्लोक प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। चाहे जितना अंश इस कविता का प्रक्षिप्त हो, पर इतना निस्सन्देह सत्य है कि इसका केन्द्रीय भाग बिल्हण का ही है। 'विक्रमांकदेवचरित' और 'पञ्चाशिका' दोनों ही की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। वसन्ततिलक का जितना सुन्दर और सुष्ठु प्रयोग 'पञ्चाशिका' में बिल्हण ने किया है उतना अन्यत्र कम देखने मे आता है।

जयदेव

जयदेव संस्कृत-गगन का सुधाकर है। उसका-सा मधुर कवि सस्कृत भाषा ने दूसरा नहीं जन्माया। कालिदास का प्रबन्ध, उनका पाण्डित्य, उनकी शब्दयोजना, काव्यमर्मज्ञता सब कुछ जयदेव से ऊंची है, परन्तु ध्वनि-माधुर्य और पदलालित्य में जयदेव स्वयं कालिदास से बढ़ गया है। सस्कृत-काव्य में जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर, अन्तिम सोपान है—उत्तरकालीन कवियों की पिछली शृंखला में सबसे बड़ा। जयदेव सेनवश के अन्तिम नृपति लक्ष्मण सेन का समकालीन और दरबारी कवि था। लक्ष्मण सेन ने सन् १११९ ईस्वी में लक्ष्मण संवत् नाम से अपना एक संवत् चलाया था। इस प्रकार जयदेव का काल बारहवीं सदी के आरंभ से लेकर मध्य के आस-पास तक ठहरता है। जब भारत के सिंहद्वार पर मुसलमान विजेताओं के भयंकर आघात हो रहे थे तब जयदेव अपनी मधुर भारती से कृष्ण का स्तवन कर रहा था, और संस्कृत-साहित्य मे अद्वितीय अपने 'गीतगोविन्द' का प्रणयन कर रहा था। वैसे काव्य-क्षेत्र में उस समय वह सर्वथा अकेला भी न था। लक्ष्मण सेन विद्यापारखी और विद्वानों का आदर करनेवाला नरेश था। उसकी राजसभा में जयदेव, गोवर्धन, धोई, शरण, और उमापति-धार नामक पाँच रत्न थे। उन्हीं रत्नों में मुकुटमणि जयदेव था।

जयदेव किन्दुबिल्व का रहनेवाला था और उसके पिता का नाम भोजदेव था। जयदेव कृष्ण का अनुपम भक्त था। सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में हिन्दी में एक हरिगोविन्द का स्तोत्र है, जिसे हिन्दी की प्राचीनतम कविता कहते हैं। * उसमें और भक्तमाल की कितनी ही अनुश्रुतियों में जयदेव के कृष्णभक्त होने का उल्लेख है। कहते हैं कि राधा के सौन्दर्य-वर्णन मे जब कवि की मानव शक्तियाँ समर्थ न हो सकी तब स्वयं कृष्ण ने उस कार्य मे उसकी सहायता की। इसमें सन्देह नहीं कि 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त उसने अन्य काव्य नहीं लिखा, परन्तु निस्सन्देह अकेला यह ग्रंथ ही जयदेव को मूर्धाभिषिक्त कर देने मे पर्याप्त है। 'गीतगोविन्द' काव्य में सुईकारी है, साहित्य में कलावन्त का सफल शिल्पकार्य। गीतगोविन्द भारतीय साहित्य में अनुपम, असाधारण और अद्वितीय है। इस काव्य में गोपाल कृष्ण के गोपियों के साथ राग-विलास का गायन है। इस बात से ही उस महाकवि का यश प्रतिष्ठापित है कि उसके जन्मस्थान पर उसकी स्मृति में सदियों तक प्रत्येक वर्ष मेला लगता और रात्रि में गीतगोविन्द का पाठ होता रहा है। सन् १२९१ ईस्वी के ही एक उत्कीर्ण लेख में गीतगोविन्द का एक श्लोक उद्धृत है, जिससे जयदेव के यश का आशु-प्रसार सिद्ध है। पन्द्रहवीं शती के अन्त तक तो वह इतना लोकप्रिय हो गया कि १४९९ ईस्वी में प्रतापरुद्रदेव ने एक विज्ञप्ति निकालकर नर्त्तकों और वैष्णव गायकों के लिए एकमात्र उसके पदों को गाने की घोषणा कर दी। जयदेव ने स्वयं अपने लिए 'कविराज-राज' पद का व्यवहार किया है। इस प्रयोग का औचित्य तब से भले प्रकार स्थापित हो चुका है।

जयदेव का यह काव्य, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नितान्त अनुपम है। विद्वानों ने इसे नाटकीय गुणों से 'यात्रा' तक कह डाला है। वास्तव में गीतगोविन्द को गान और नाटक के किसी मिश्रित स्तर मे रखना उचित होगा, परन्तु संस्कृत आलोचना-शास्त्र में इस प्रकार के मिश्रकाव्य-

*** इसे हिन्दी की प्राचीनतम कविता मानना अनुचित है। हिन्दी की वास्तविक प्राचीनतम कविता बज्रयानी सिद्धों की है, जिनके दोहों की ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।**

निबन्ध के लिए कोई सज्ञा नही है। कवि ने गीतगोविन्द को सर्गों में विभाजित किया है, इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कम से कम उसका उद्देश्य इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत करना न था। वह इसे काव्य ही मानता था। गीतगोविन्द के पद गेय हैं और प्रत्येक के आरभ में उसके राग, ताल, तथा सहगामी नृत्य का लाक्षणिक सकेत भी कवि ने सर्वत्र कर दिया है। इस रूप मे गीतगोविन्द सस्कृत साहित्य मे रूपरेखा और भावनिदर्शन में सर्वथा नवीन और नितान्त मौलिक है। काव्यजगत मे गीतगोविन्द लिखते समय जयदेव के लिए कोई आदर्श न था। 'यात्राओं' के ग्राम्य जन-साधारण रूप को अत्यन्त ऊपर उठाकर उनसे पर्याप्त पृथक् होकर जयदेव ने इस अपूर्व काव्य विशेष की रचना की और इसके सरल माधुर्य ने ही इसे लोकप्रिय बना दिया। किस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से नितान्त नागरिक और ऊर्ध्वस्तरीय साहित्य को भी जनप्रिय बना सकता है, गीतगोविन्द उसी का उदाहरण है।

गीतगोविन्द का गायन सर्वथा श्रुतिमधुर और इसकी पदावली सहज सुकुमार है। प्रसाद का जितना उज्ज्वल तरल रूप इस काव्य मे मिलता है, उतना सारे सस्कृत-साहित्य मे अन्यत्र खोजे भी कही नही मिलता। इस गीति-काव्य में कथोपकथन और गायन अद्भुत सरलता से मिश्रित हैं। प्रत्येक स्थल पर आरभ मे वक्तव्यश्लोक पहले प्रसग-विशेष का निरूपण कर देते हैं, फिर गेय श्लोक आते हैं, जो कृष्ण, राधा और उनकी प्रिय सखी के भावों की मृदु व्यञ्जना करते हैं। विदेशी आलोचकों ने जयदेव के काव्य को कामविदग्ध कहा है। कुछ ने देवता के दैहिक विलास का भक्त द्वारा वर्णन भी अनुचित माना है। परन्तु भारतीय काव्य-प्रथा में यह आचार न तो कुछ नवीन है और न अनुचित। स्वय कालिदास ने कुमारसभव के आठवें सर्ग में अपने इष्टदेव शिव के विलास का इसी प्रकार का स्पष्ट मानव-वर्णन किया है। अनेक अन्य कवियों ने भी इस तरह की अनौचित्य चर्चा की है। जयदेव इसमे कुछ अपूर्व अथवा असाधारण नही हैं। बाद की प्रान्तीय भाषाओं मे भी इसी प्रकार के वर्णन के प्रयास हुए हैं। हिन्दी अष्टछाप के कुछ कवियों की कृतियाँ भी इसी विषय से अनुप्राणित हैं। मथुरा-वृन्दावन के सोलहवी-सत्रहवीं सदी के ब्रजभाषा के कवि बेनीमाधव मे तो यह वर्णन इतना चित्र-परक हो उठा है कि उसे पढ़कर इस प्रव्रजित कवि मे श्रद्धा नहीं उससे घृणा हो आती है। वास्तव में बिना प्रणय और विलास की कामना हृदय में छिपाए कवि इस प्रकार का अनर्गल वर्णन नहीं कर सकता। सच तो यह है कि अधिकांश में आसक्ति वर्णन अनासक्त नहीं हो सकता और इन 'साधु'-कवियों ने जो रति वर्णन किए हैं वे यथार्थतः अतृप्ति के उद्रेक हैं। यौवन के भरे विलास के पूर्व ही जो प्रव्रजित या सन्यस्त होते हैं, बहुधा उनकी दबी प्रवृत्ति जग उठती है और चूँकि मानवादर्श में उनका स्खलन निन्द्य समझा जाता अपने सचित प्रणय और विलास का केन्द्र वे इष्टदेव को ही बनाते हैं। स्वय जयदेव भी इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते। फिर भी उनकी कृति में एक धार्मिक स्पदन है।

गीतगोविन्द काव्य की दृष्टि से अनुपम है। भारतीय साहित्य मे कोई कृति ऐसी नहीं जिससे इसकी तुलना की जा सके। अधिकारी कवि के हाथ से यह अद्भुत कला की वस्तु बन पडा है। जहाँ यह वर्ण-चित्र रत्नों की राशि उपस्थित करता है वहाँ उनको यह इधर-उधर बखेरता नहीं वरन् वास्तुविशारद की कुशलता से एक-एक को यथास्थान जडता है। गीतगोविन्द निस्सन्देह काव्यकला की पच्चीकारी है। इसमे प्रबन्ध को भी भले प्रकार निबाहा गया है। काम लालसा जब पात्रों में समागम के भाव भरती है तब कलावन्त कवि उन्हें विरहाग्नि से तपाता है और नायक के उपस्थित होने पर मान का चेष्टित क्रोध सच-झूठ जाग-सा उठता है। परन्तु सजग प्रणयी कृष्ण अपने मनोहर मृदुल उपचारों से उसे शान्त कर नायिका को ठग ही लेता है। राधा की सखी उनकी सहायता करती है। कामना, विरह और मिलन के गान हृदय को झकझोर देते हैं। गीतों में जो ध्वनि बसी है, वह केवल शब्द-ध्वनि नहीं, चेष्टा की सस्कृत प्रच्छन्न ध्वनि है। ध्वनि-माधुर्य मानो हृदय को थिरका देता है। गीतगोविन्द के वर्ण-चित्र और शब्द-ध्वनि निस्सन्देह अन्य अप्राप्य हैं। जयदेव की लेखनी मे अमृत का निवास है। उदाहरण के लिए हम केवल निम्न कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं:—

> ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
> मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
> विहरतिहरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन समं
> सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥

ऊपर की दोनों पक्तियाँ पूरी-पूरी समस्त हैं, परन्तु उनकी मधुरता अनुपम है और निचली मे तो नृत्य का बढता हुआ वेग जैसे सुन पडता है। जयदेव मधुर गुजन में निस्सन्देह करुण काव्य का मौलमणि है!
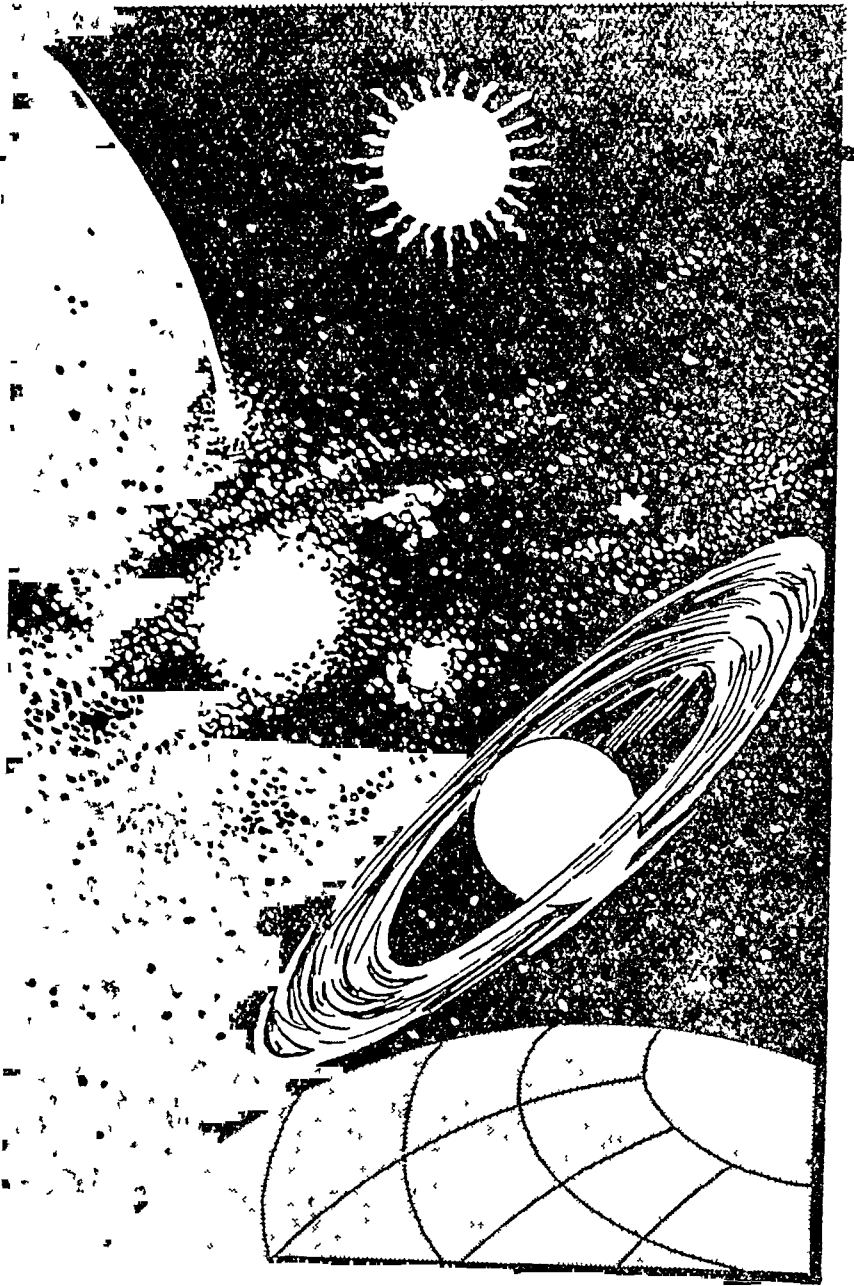
विश्व की कहानी
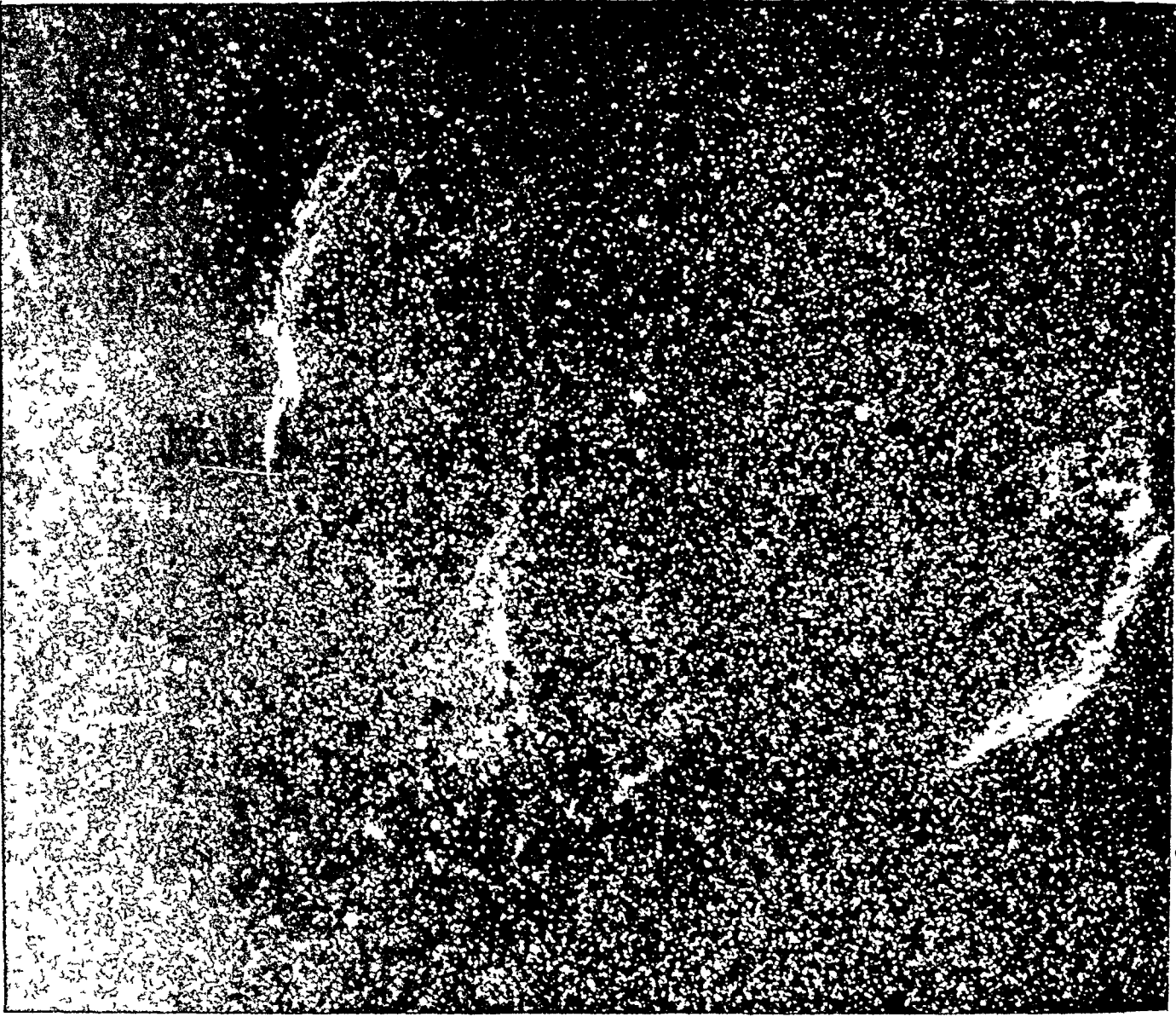
आकाशगंगा के एक भाग का दूरदर्शक में दिखाई पड़नेवाला दृश्य

यह 'हंस' तारा-समूह में दिखाई पडनेवाले इस महान् नक्षत्र-मेखला के एक अंश का दूरदर्शक-फ़ोटो है। इससे आप स्पष्टतः जान सकते हैं कि प्रकाशित कुहरे जैसी यह वस्तु वास्तव में अनगिनत सुदूर तारों की सघन राशि है।

तारापुंजों के दो पुराने चित्र

उपयुक्त यंत्रों के अभाव में पहले भ्रमवश इनमें से कई एक नीहारिका माने जाते रहे। बाईं ओर के चित्र में उन्नीसवीं शताब्दी के अर्ल आफ़ रॉस के सुप्रसिद्ध दूरदर्शक द्वारा देखे गए 'कुंभ' तारा-समूह के एक तारापुंज का दृश्य अंकित है।

तारापुंज और नीहारिकाएँ

आकाशगंगा

अँधेरी रात में, बरसात के बाद जब हमारा वायुमंडल धुलकर स्वच्छ हो जाता है, आकाश में एक प्रकाश की नदी-सी दिखलाई पड़ती है, जिसे आकाशगंगा, मदाकिनी, या सुरनदी कहते हैं। ग्रामीण लोग इसे 'डहर' कहते हैं, जिसका अर्थ है मार्ग। योरप मे इसे 'दूधिया मार्ग' कहते हैं। यह मार्ग मोती के समान श्वेत प्रकाश से झलकता हुआ क्षितिज के किसी एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचता है और प्रत्येक अँधेरी रात में देखा जा सकता है, यद्यपि जब आकाश पूर्णतया स्वच्छ नहीं रहता तब इसकी चमक दब जाती है। आकाशगंगा अपनी पूरी लंबाई भर एक चमक की नहीं है। हंस तारा-समूह से लेकर नराश्व तारा-समूह तक यह बहुत अधिक चमकीली है। यदि हम सारे आकाश का चित्र किसी गोल सतह पर बनाएँ तो हम देखेंगे कि आकाशगंगा मेखला की तरह व्योममंडल को दो बराबर भागों में बाँट देती है।

दूरदर्शक से देखने पर, या फ़ोटो खीचने पर, तुरंत पता चलता है कि आकाशगंगा अनेक नन्हे-नन्हे तारों की राशि है, जिसमें तारे इतने घने हैं कि कोरी आँख से वे पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते। दूरदर्शक में आकाशगंगा ऐसी जान पड़ती है मानों काले कपड़े पर चाँदी की महीन बुकनी इस प्रकार छिड़की हो कि कहीं-कही एक-एक कण अलग दिखलाई पडते हों और कहीं-कहीं रजत-कणों का ढेर लग गया हो।

आकाशगंगा की चौड़ाई सर्वत्र एक-सी नहीं है। यह कहीं सँकरी कहीं चौडी है और कही-कहीं इसकी दो धाराएँ हो गई हैं। फिर, कहीं-कही इसमें काले धब्बे भी पड़ गए हैं, जो निस्संदेह आकाशगगा और हमारे बीच स्थित काली नीहारिकाओं के कारण बने होंगे।

तारामेघ

आकाशगगा के अतिरिक्त नभोमंडल में कई एक चमकीले धब्बे हैं जो बड़े दूरदर्शक से देखने पर या फोटो खींचे जाने पर असंख्य तारों के घने समूह जान पड़ते हैं। इनको 'तारामेघ' कहते हैं। इस प्रकार के कई तारामेघ स्वयं आकाशगंगा में ही हैं। सबसे सुन्दर ऐसा मेघ धनु तारासमूह में है, परंतु कुछ तारामेघ आकाशगंगा से हटकर भी हैं। दो चमकीले तारामेघ आकाश के दक्षिणी ध्रुव से २०° पर हैं और भूमध्यरेखा के दक्षिण में स्थित देशों से ही अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। इनको 'मैगेलानिक तारामेघ' कहते हैं। यह नाम प्रसिद्ध नाविक मैगेलन के नाम पर पड़ा है।

तारापुंज और नीहारिकाएँ

नभोमंडल में प्रकाश के अन्य धब्बे भी दिखलाई पडते हैं, जिनमें से अधिकांश इतने छोटे हैं कि हमको उनका पता केवल दूरदर्शक से चलता है। इनमें से वे जो केवल तारों के झुंड हैं 'तारापुंज' या कंदुकाकार तारापुंज कहे जाते हैं; शेष 'नीहारिका' (अंग्रेजी में नेबुला) कहलाते हैं। प्रत्येक तारापुंज में हजारों तारे दिखलाई पड़ते हैं और उनका दृश्य दूरदर्शक में अत्यंत सुन्दर जान पड़ता है।

आकाश में लगभग सौ तारापुंज हैं। ये सब बहुत पहले ही देखे जा चुके थे। हमारे यंत्रों की शक्ति बढ़ने पर भी हाल में नवीन तारापुंजों का पता नहीं लगा है। इससे समझा जाता है कि और अधिक तारापुंज हैं ही नहीं। अधिकांश तारापुंज इतने मंद प्रकाश के हैं कि कोरी आँख से वे दिखलाई नही पड़ते, केवल पाँच-छः ही ऐसे हैं जो कोरी आँख से अत्यत मंद तारे की तरह देखे जा सकते हैं। इनमें से वह जो सब से अधिक चमकीला है 'व नराश्व' है। वह नक़्शे की सहायता से पहचाना जा सकता है।

कंदुकाकार तारापुंजों में एक विशेष बात यह है कि सभी मे बहुत से सीफिआइड परिवर्त्ती हैं—वे तारे जिनका प्रकाश विशेष रूप से घटा-बढ़ा करता है। इससे इन तारापुंजों की दूरी सुगमता से जानी जा सकी है। उनके अनुसधान से जो उत्तर मिला है वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है! निकटतम तारापुंज से भी प्रकाश के आने में १८००० वर्ष से ऊपर

समय लगता है। सब से दूरवाला तारापुंज इससे दस गुनी दूरी पर है। जिस प्रकाश से हम दूरतम तारापुंज को देखते हैं वह वहाँ से उस क्षण चला होगा जब पृथ्वी पर मनुष्य ही न रहा होगा। वहाँ से प्रकाश के प्रस्थान के बाद इस पृथ्वी पर मनुष्य का विकास, सभ्यता का उदय, विभिन्न राज्यों का उत्थान और पतन, ये सभी लीलाएँ घटित होती रही हैं और उधर उस प्रकाश की किरण पौने दो लाख मील प्रति सेकंड के वेग से बराबर दौड़ती रही है और ऐसी तीव्र गति से दौड़ने के बावजूद भी केवल आज हमारे पास तक वह पहुँच पाई है।

हम देख चुके हैं कि तारे अनंत दूरी तक नहीं बिखरे हैं; कुल तारे मिलकर एक बाटी के रूप में हैं जिसे हम 'मंदाकिनी संस्था' कहते हैं। गणना से पता चला है कि कंदुकाकार तारापुंजों का विस्तार भी लंबाई-चौड़ाई में वहीं तक है जहाँ तक हमारी मंदाकिनी-संस्था का है, परंतु मोटाई में विस्तार अधिक है। सर-जेम्स जीन्स ने तारों और कंदुकाकार तारापुंजों की सम्मिलित संस्था की उपमा किशमिश पड़ी एक गोल परंतु कुछ चिपटी पावरोटी से दी है, जिसे बीच से काटकर और मक्खन से चुपड़कर फिर जोड़ दिया गया हो। इसमें मक्खन तो हुआ तारों की वह घनी बस्ती जो हमारी मंदाकिनी-संस्था है और प्रत्येक किशमिश उसमें का एक-एक कंदुकाकार तारापुंज। हमारा सूर्य इस पावरोटी के ठीक बीच में नहीं है। उसके ऊपर और नीचे तो प्रायः उतना ही स्थान है, जिससे सूर्य मक्खनवाली तह में ही पड़ता है, परंतु बाजू में एक ओर को कुछ अधिक स्थान है। जीन्स की सम्मति तो यह है कि सूर्य केंद्र और सतह के लगभग बीच में है, जिससे एक ओर व्यास का कुल एक-चौथाई और दूसरी ओर तीन-चौथाई स्थान छूटा है, परंतु अन्य ज्योतिषियों के मतानुसार सूर्य केंद्र से इतना हटा हुआ नहीं है।

'शौरी' नामक तारा-समूह के एक प्रसिद्ध तारापुंज का माउण्ट विल्सन के ६० ॅची दूरदर्शक द्वारा दिखाई पड़नेवाला भव्य स्वरूप (फ़ो०-'माउण्ट विल्सन वेधशाला')

जीन्स लिखते हैं—"यह अत्यंत घरेलू नमूना वह सरलतम प्रतीक है जिसे मैं रात्रि के आकाश के राजसी वैभव के पीछे छिपी परिपाटी को समझाने के लिए रच सका हूँ। इस प्रतीक से वास्तविकता तक पहुँचने के लिए हमें बड़े और उससे बड़े और उससे भी बड़े पैमाने पर जाना पड़ेगा, यहाँ तक कि प्रतीक के भीतर के स्थान का एक-एक नन्हा कण करोड़ों मीलों में परिवर्तित हो जाय; एक-एक किशमिश के बदले हमें सैकड़ों-हजारों तारों से भरे पुंजों को रखना होगा; और मक्खन के स्तर के बदले कई करोड़ तारों को रखना होगा। फिर, इस पावरोटी के शेष सारे दृश्य को घुलकर आकाश का काला शून्य बन जाना पड़ेगा। यदि हम अपनी कल्पना-शक्ति को इन सब परिवर्तनों को दृष्टिगोचर करने के लिए प्रेरित कर सकें तो परिणाम फिर घरेलू नहीं रह जायगा। वह मनुष्य की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हुए दृश्यों में से महानतम दृश्य को खोलने की कुंजी बन जायगा। वह हमें आकाश की अद्भुत यवनिका के अर्थ को एक नई समझ से देखने के योग्य बना देगा।"
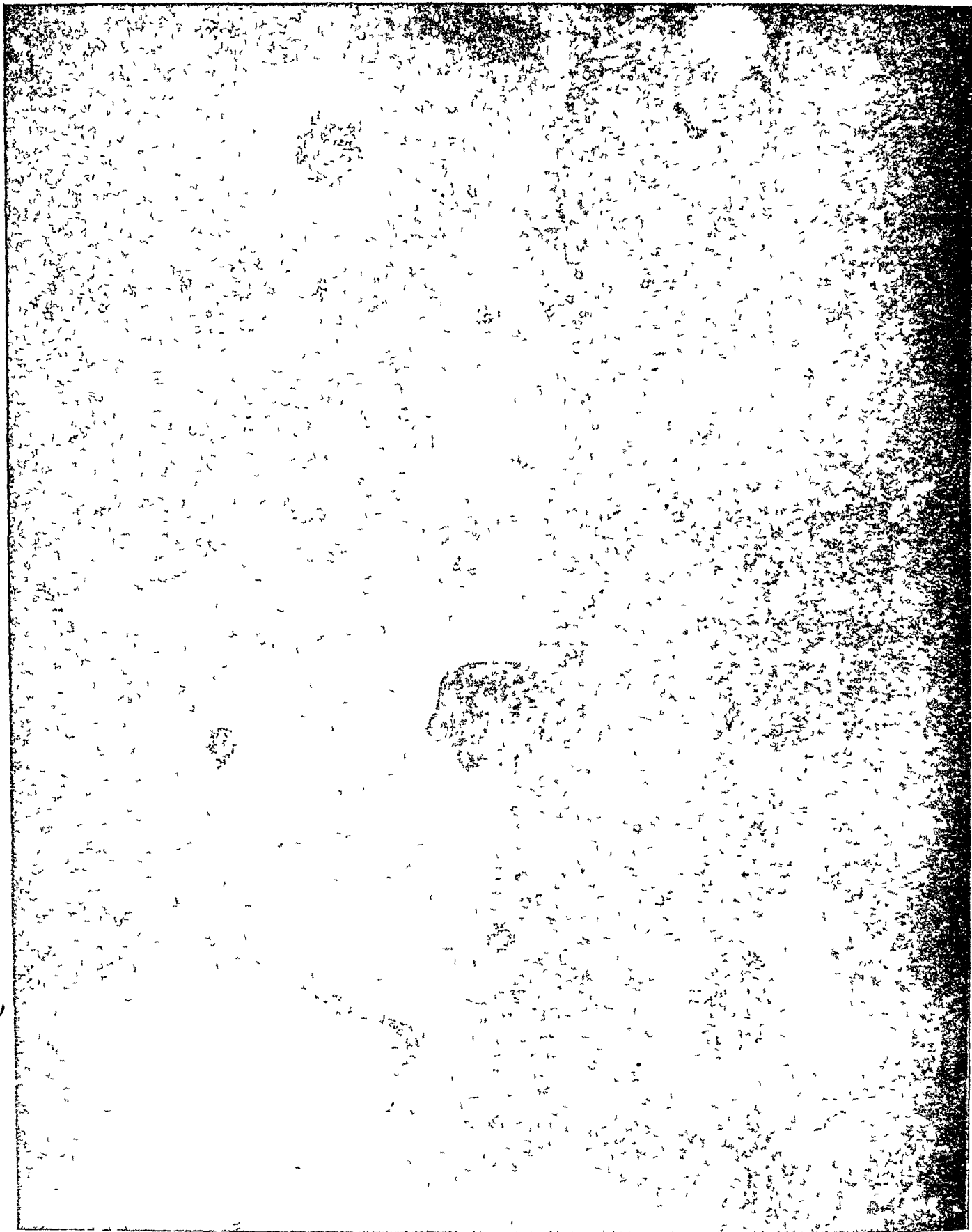
एक आश्चर्यजनक काली नीहारिका

ऐसी कई अदृष्ट नीहारिकाएं आकाश में हैं। ये प्रकाश के लिए अपारदर्शक होती हैं।

खुले तारापुंज

कदुकाकार तारापुंजों में हजारों तारे एक दूसरे के इतने समीप दिखलाई पड़ते हैं कि उनके एक ही संस्था के सदस्य होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। परंतु कई खुले तारापुंज हैं, जिनके सदस्य दूर-दूर पर दिखाई देते हैं। बहुधा इनके सदस्यों की संख्या अल्प होती है, बहुत अधिक हुई तो यह संख्या एक हजार तक पहुंच जाती है। लगभग २०० खुले तारापुंज हमें ज्ञात हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध कृत्तिका तारापुंज है, जिसे हिन्दी में 'किचपिचिया' भी कहते हैं। अँगरेजी में इसे 'प्लाईऐडीज' कहते हैं। यह वृष नामक तारा-समूह में है। कोरी आँख से प्रथम दृष्टि डालने पर इस पुंज के समूह अस्पष्ट, एक दूसरे में मिले हुए और किचपिच दिखलाई पड़ते हैं, परंतु ध्यान से देखने पर, इसमें छः तारे पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ते हैं। असाधारण तीव्र दृष्टिवाले व्यक्ति छः से अधिक तारे भी देख सकते हैं। छोटे दूरदर्शक में कृत्तिका तारापुंज बहुत सुंदर लगता है। इसमें तब पचीसों तारे दिखलाई पड़ते हैं। फ़ोटोग्राफ़ खीचने पर तो हज़ार से ऊपर तारे व्यक्त हो जाते हैं।

वृष-तारा-समूह में 'हाईऐडीज' नामक एक दूसरा तारापुंज भी है। यह नाम एक यूनानी शब्द से निकला है, जो स्वयं वर्षा शब्द से उत्पन्न हुआ है। इसलिए इस तारापुंज को हम 'जलदेविका' कहें तो अनुचित न होगा। यह तारापुंज रोहिणी तारे के पास है, परंतु यह दूरदर्शक में भी विशेष सुंदर नहीं लगता, क्योंकि तारे कुछ दूर-दूर पर हैं। कर्क में चषाल (मधुमक्खियों का छत्ता) नामक एक तारापुंज है, जो दूरदर्शक में बहुत सुंदर जान पड़ता है।

कुछ तारापुंजों के सदस्य तो इतने बिखरे हुए हैं कि हम उनकी निजी गतियों और दूरियों के प्रायः बराबर होने के कारण ही अनुमान करते हैं कि वे किसी पुंज के सदस्य हैं। उदाहरणतः, सप्तर्षि के सात चमकीले तारों में से पाँच एक ही दिशा में और एक ही वेग से चल रहे हैं। निस्संदेह वे एक ही पुंज के सदस्य होंगे। वे आकाश में वैसे ही उड़ते चले जा रहे हैं जैसे पक्षियों की एक मंडली के विभिन्न पक्षी। इसलिए ऐसे पुंजों को 'चल पुंज' कहते हैं। उनकी चाल से ही हम ऐसे पुंजों को पहचानते हैं।

कुछ ज्योतिषी संदेह करते हैं कि सूर्य स्वयं एक पुंज का सदस्य है, और केवल इस पुंज के बीच में रहने के कारण हम अपने पुंज को अन्य पुंजों की तरह नहीं देख पाते। इसके प्रमाण में वे बतलाते हैं कि बहुत से चमकीले तारे एक पतली धारा में हैं, जिसका धरातल आकाशगंगा के धरातल से कुछ भिन्न है। यह धारा मृग, श्वान और वृश्चिक तारासमूहों से होकर जाती है। सब ब्योरों की जाँच करने से पता चलता है कि हमारा पुंज फूली हुई कचौड़ी की तरह—कुछ चिपटा और वृत्ताकार घेरे में—सीमित है। इस पुंज का व्यास दस-पद्रह नील मील होगा! तो भी अपनी मंदाकिनी-संस्था की नाप के आगे यह बहुत साधारण-सा पुंज है!

स्थिरता हमारे विश्व के भाग्य में मानों बदी ही नहीं है! सभी पिंड चलते दिखाई देते हैं। तब हमारा सूर्य ही क्यों स्थिर रहे? यह भी चलता है। कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले सब तारों के औसत के हिसाब से हमारा सूर्य (हमें साथ लेकर) १२ मील प्रति सेकंड के वेग से शौरी नामक तारासमूह की ओर भागा जा रहा है। यह बात सिद्धान्त-आश्रित कल्पना नहीं है; वेग ऐसी नापों की नींव पर स्थापित है, जिसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। कुछ ज्योतिषियों की धारणा है कि यह वेग समस्त मंदाकिनी-संस्था के नाचने के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि हमारा सूर्य इस संस्था के केंद्र पर स्थित नहीं है। संभव है कि पाठक समझें कि संस्था के केंद्र पर कोई विशालकाय पिंड होना चाहिए था, जिसकी प्रदक्षिणा हमारा सूर्य तथा अन्य तारे करते, परंतु ज्योतिषियों का कहना है कि हमारी मंदाकिनी-संस्था सौर परिवार की तरह नहीं है, जिसके केंद्र में एक विशाल पिंड (सूर्य) स्थित है और अन्य सदस्य नन्हें बच्चों की तरह उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। हमारी मंदाकिनी संस्था के नाच की तुलना गरबा-नृत्य से करनी चाहिए, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति बहुत-कुछ एक समान होते हैं। जीन्स ने तो हमारी संस्था के घूमने के काल तथा इसके विस्तार और गुरुत्वाकर्षण-बल पर विचार करके सारी संस्था को तौल भी डाला है! उनकी गणना के अनुसार हमारी मंदाकिनी-संस्था की तौल हमारी सूर्य की तौल से लगभग १ खरब गुनी होगी!

नीहारिकाएँ

नीहारिकाएँ आकाश में मंद प्रकाश के हलके बादल की तरह दिखलाई पड़ती हैं। साधारणतः वे इतनी छोटी होती हैं कि कोरी आँख से वे दिखलाई नहीं पड़तीं; और थोड़ी-सी जो दिखलाई भी पड़ती हैं, केवल तारे-सी जान पड़ती हैं—उनके वास्तविक रूप की कोई झलक हमको नहीं मिलती। केवल बड़े-बड़े दूरदर्शकों से फ़ोटो लेने पर ही हमको उनके असली स्वरूप का पता चलता है। अधिकतर

कई घटों का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) देना पड़ता है, अन्यथा सब ब्योरे उतर नहीं पाते।

नीहारिकाओं की सख्या कई लाख होगी। ज्यों-ज्यों हमारे यंत्रों की शक्ति और फोटो के प्लेट की तेजी बढती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञात नीहारिकाओं की गिनती बढती जा रही है। फोटो के प्लेट मे यह गुण है कि फीका प्रकाश जितने ही अधिक समय तक उस पर पड़ेगा, चित्र का कालापन उतना ही अधिक हो जायगा। इसलिए ऐसी फीकी नीहारिकाओं का फोटोग्राफ भी उतर सकता है, जिन्हें हम घटों घूरते रहने पर भी बड़े-से-बडे दूरदर्शक में नही देख सकते।

धूम्रसम नीहारिकाएँ

कुछ नीहारिकाएँ काली होती हैं। उनका पता हमे केवल इसलिए चलता है कि उनके पीछे पड़नेवाले तारे छिप जाते हैं या मंद पड़ जाते हैं। प्राचीन समय मे लोगों का विचार था कि आकाश के ये काले स्थान आकाशीय पृष्ठ के छेद हैं, परतु आधुनिक फोटोग्राफों को देखते ही पता चल जाता है कि काली नीहारिकाएँ अवश्य काले बादलों की तरह हैं, जो अपारदर्शक हैं और तारों के सामने पडने से उनको पूर्णतया या अंशतः छिपा देती हैं। ऐसी नीहारिकाएँ विशेष रूप से आकाशगगा में दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि वहीं तारों की संख्या इतनी अधिक है कि तारों के छिपने से हमारा ध्यान उधर आकर्षित हो। आकाशगगा में एक बड़ा और प्रायः गोल धब्बा इतना काला लगता है कि उसका नाम 'कोयले की बोरी' पड़ गया है। काली नीहारिकाओं से कहीं-कहीं लम्बी लम्बी 'गलियाँ' बन गई हैं। कही-कहीं किसी काली नीहारिका के पीछे पड़नेवाला तारा नीहारिका के इतना निकट है कि नीहारिका के किनारे प्रकाशित हो उठते हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य से हमारे पार्थिव बादलों के किनारे। ज्योतिषियों का विश्वास है कि ये काली नीहारिकाएँ अत्यन्त सूक्ष्म धूलि से बनी हैं। यह धूलि गुरुत्वाकर्षण नियम से प्रेरित होकर केवल इसलिए एकत्रित न हो पाती होगी कि काली नीहारिकाएँ भी अन्य पिंडों की तरह अपनी धुरी पर घूमती होंगी।
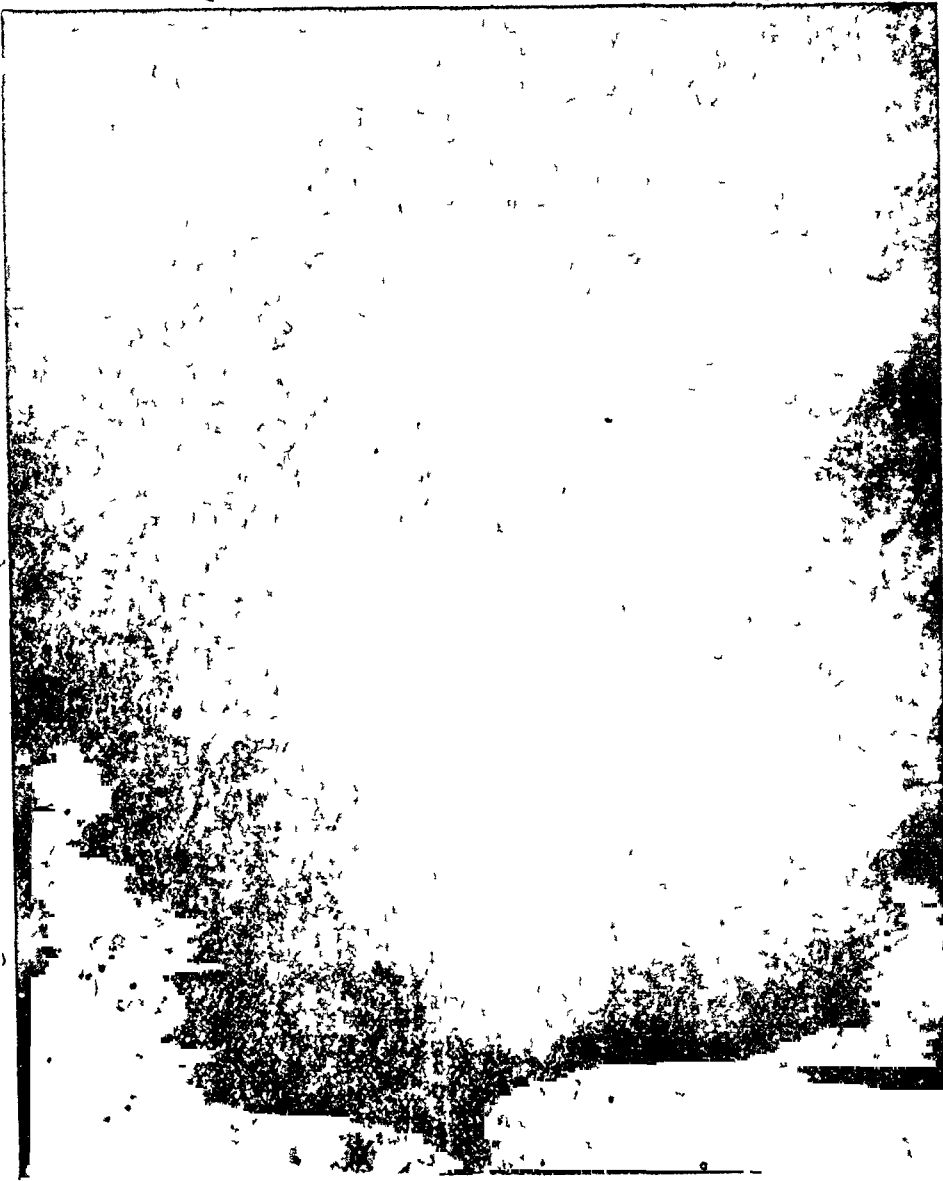
कृत्तिका तारापुंज की नीहारिका
[फ़ो०—'माउण्ट विलसन वेधशाला' की कृपा से]

श्वेत नीहारिकाओं मे से बहुत-सी अत्यन्त अनियमित रूप की हैं। इनकी घनता सब प्रकार की होती है। कुछ नीहारिकाएँ तो मकडी के जाले के समान हलकी हैं, जिनका फोटो बहुत समय तक प्रकाश-दर्शन देने पर ही उतरता है। दूसरी ओर ऐसी नीहारिकाएँ भी हैं, जो बहुत बडी और प्रकाशवती हैं। मृग तारा-समूह की नीहारिका कोरी आँख से दिखलाई पडती है। फोटोग्राफों से पता

मृग तारा-समूह की महान् नीहारिका का भव्य दृश्य

दूरदर्शक में चमकीले श्वेत मेघ के समान दिखाई पडनेवाली यह सुदर नीहारिका एक अनियमित आकार की धूम्रसम नीहारिका है। इसकी दूरी का कुछ अंदाज़ आप इस बात से लगा सकते हैं कि लगभग पौने दो लाख मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाली प्रकाश किरण को इससे हमारे पास तक पहुँचने में कई लाख वर्ष का समय लगता है। नगी आँखो से देखने पर यह आकाश में एक धुंधले बिन्दु मात्र-सी दिखाई पडती है, किन्तु ज्योतिषियो का अनुमान है कि यह इतनी विशद है कि यदि बीस करोड मील व्यासवाले एक पिण्ड की कल्पना की जाय और उस आकार के दस लाख पिण्ड इकट्ठे करके रक्खे जाएँ तो भी वे सब उतनी जगह न घेर पाएँगे, जितनी कि इस नीहारिका ने घेर रक्खी होगी!

चलता है कि वस्तुतः यह आकाश मे इतना क्षेत्र घेरती है जितना कि पूर्णिमा का चन्द्रमा। छोटे दूरदर्शक में यह नीहारिका श्वेत मेघ के समान और बहुत सुन्दर दिखलाई पड़ती है। कुछ नीहारिकाओं में तो स्पष्ट जान पड़ता है कि नीहारिकाओं की चमक निजी नहीं है, समीपस्थ तारे की चमक के कारण वे प्रकाशित हो उठी हैं। इसका एक उदाहरण कृत्तिका की नीहारिका है, जो कृत्तिका तारापुंज के तारों को घेरे हुए है और केवल फ़ोटोग्राफ़ों में दिखलाई पड़ती है। ज्योतिषी अनुमान करते हैं कि काली नीहारिकाएँ और अनियमित रूपवाली सभी श्वेत नीहारिकाएँ वस्तुतः एक ही जाति की हैं, अन्तर इतना ही है कि श्वेत नीहारिकाएँ चमकीले तारों के पास हैं और उनके प्रकाश से वे चमकती रहती हैं।

नीहारिकाएँ नाप में बहुधा बहुत बड़ी होती हैं और तौल में अपेक्षाकृत बहुत कम। उदाहरणतः गणना से पता चला है कि मृग की नीहारिका का व्यास १ नील मील होगा! एक चक्कर के लगाने में उसे ३ लाख वर्ष लगते होंगे और उसका घनत्व इतना कम होगा कि उसके हिसाब से हमारी वायु १० शंख गुना भारी होगी! हम किसी बरतन की हवा को निकालने के लिए चाहे कितना भी पंप चलावें, उसके घनत्व को हम इतना न घटा पावेंगे कि बरतन के भीतर की वायु इस नीहारिका की तुलना कर सके। तो भी अत्यत दीर्घकाय होने के कारण समूची नीहारिका हमारे सूर्य से दस हजार गुनी भारी है। यदि इस नीहारिका का द्रव्य घनीभूत होकर तारों में परिणत हो जाय और प्रत्येक तारा हमारे सूर्य के समान भारी हो तो इस नीहारिका से दस हजार तारे बन जायँगे।

नियमित नीहारिकाएँ

अनियमित रूप की नीहारिकाएँ एक जाति की नीहारिकाएँ हैं। दूसरी जाति की नीहारिकाएँ वे हैं, जो नियमित रूप की होती हैं। इनका रूप विविध प्रकार का होता है, कुछ गोल, कुछ तनिक चिपटा, कुछ और चिपटा, कुछ बहुत चिपटा, कुछ स्पष्ट रूप से सर्पिलाकार।

इन नीहारिकाओं में कई तारे भी रहते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन तारों में से अधिकांश सीफ़िआइड परिवर्त्ती हैं, जिनका प्रकाश विशेष रीति से घटा-बढ़ा करता है। हम देख चुके हैं कि सीफ़िआइडों के चक्रकाल से हम उनकी दूरी जान सकते हैं। इसलिए हमें इन नीहारिकाओं की भी दूरी ज्ञात हो जाती है।

परन्तु नीहारिकाओं की भी क्या दूरी है! यद्यपि प्रकाश एक सेकंड मे पौने दो लाख मील से अधिक ही चल लेता है—वस्तुतः १ लाख ८६ हजार मील—तो भी उसे निकटतम नीहारिका से आने में ७,५०,००० वर्ष लगते हैं।

ये नीहारिकाएँ हमारी मंदाकिनी-संस्था के बाहर हैं। हमने देखा है कि हमारी मंदाकिनी-सस्था बाटी के रूप में है और बहुत बड़ी है। हमने यह भी देखा है कि कंदुकाकार तारापुंज हमारी चिपटी मंदाकिनी-सस्था के आसपास ही है; और हमारी मंदाकिनी-संस्था के तारे तथा कंदुकाकार तारापुंजों की सम्मिलित संस्था फूली हुई कचौड़ी के आकार की है। तंतुमय और धूम्रसम नीहारिकाएँ सभी इस कचौड़ी के भीतर ही हैं। परन्तु नियमित नीहारिकाएँ सब इस कचौड़ी के बाहर हैं। हम देख चुके हैं कि कंदुकाकार तारापुंज हमसे बहुत दूर हैं, परन्तु निकटतम नियमित नीहारिका भी दूरतम तारापुंज की चौगुनी दूरी पर है। इसलिए नीहारिकाएँ हमारी मंदाकिनी-संस्था से पूर्णतया पृथक् हैं। वस्तुतः ये नीहारिकाएँ सभी स्वतंत्र मंदाकिनी-सस्थाएँ हैं। दूर से देखने पर हमारी मदाकिनी-संस्था भी अवश्य एक नियमित नीहारिका की ही तरह लगेगी।

निकटतम नीहारिका वह है, जो त्रिकोण नामक तारासमूह में है और जिसे 'एम ३३' नंबर दिया गया है। दूरी के हिसाब से द्वितीय नीहारिका देवयानी नामक तारासमूह में है। सौंदर्य में यह अद्वितीय है। यह कोरी आँख से भी देखी जा सकती है। परन्तु कोरी आँख से देखने पर निराशा ही होती है, क्योंकि यह फीके तारे की तरह ही जान पड़ती है। तो भी इसे एक बार देखना अवश्य चाहिए और देखते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सभी तारों से दूर है; इससे हमारे पास तक आने में प्रकाश को ८,००,००० वर्ष लगे हैं! इतने वर्षों में प्रकाश कितने मील चला होगा!

अन्य नीहारिकाएँ इनसे कहीं दूर हैं। पता चला है कि कई का प्रकाश आने में २५ करोड़ वर्ष समय लगता है! इन नीहारिकाओं की तौलें भी आँकी गई हैं, क्योंकि वे घूमती भी रहती हैं। यदि वे घूमती न रहतीं तो इतनी विस्तृत न रहतीं। उनका सब द्रव्य गुरुत्वाकर्षण के कारण एकत्रित होकर एक पिंड हो गया होता। गणना से पता चला है कि तौल में ये नीहारिकाएँ लगभग हमारी ही मंदाकिनी-संस्था के समान हैं। नाप में भी वे हमारी मंदाकिनी-संस्था की ही तरह हैं। इसलिए कोई संदेह नहीं रह जाता कि ये नीहारिकाएँ भी हमारी मंदाकिनी-संस्था की ही तरह स्वतंत्र मंदाकिनी-संस्थाएँ हैं। इनको लोग द्वीप-विश्व

(अंग्रेज़ी मे 'आइलैंड यूनिवर्स') भी कहते हैं । परंतु यह न समझना चाहिए कि प्रत्येक नीहारिका की भीतरी रचना या बाहरी रूप ठीक हमारी ही मदाकिनी-सस्था की तरह है । फ़ोटोग्राफो से पता चलता है कि नियमित नीहारिकाओं के रूप एक-से नहीं होते । वस्तुतः सब नीहारिकाओं के रूपों पर मनन करने से हम महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे साखू के जगल के नन्हे पौधों और विविध नाप के वृक्षों को देखकर हम साखू के जन्म और जीवन-इतिहास की कथा को घंटे, दो घटे में जान सकते हैं, वैसे ही विविध नीहारिकाओं के रूप आदि का अध्ययन करके उनके जन्म और जीवन-इतिहास की कथा को वैज्ञानिकों ने कुछ ही वर्षों में जान लिया है।

अब हम देख सकते हैं कि हमारा नाक्षत्र संसार कैसा है। तारे सम रूप से सर्वत्र नहीं बिखरे हुए हैं। वे झुडों में बँटे हुए हैं। जिस झुंड में हम हैं वह बाटी या थोड़ी-सी फूली कचौड़ी की तरह है। यदि हम कंदुकाकार तारा-पुंजों को भी अपने में गिन लें तो हमारा झुंड अच्छी तरह फूली हुई कचौड़ी के रूप का है। हमारे ही झुड की तरह तारों के प्रायः असख्य अन्य झुंड हैं। ये झुड या द्वीप-विश्व एक दूसरे से दूर-दूर पर बसे हैं।

यदि हम पैमाने के अनुसार इन विश्वों का निरूपण करना चाहे और हम दिल्ली शहर को अपनी मंदाकिनी-संस्था का केन्द्र माने तथा अपने निकटतम द्वीप-विश्व को मेरठ पर रक्खें, तो इस पैमाने पर हमारी मदाकिनी सस्था दिल्ली शहर से कुछ ही बड़ी ठहरेगी। मेरठ शहर हमारे निकटतम द्वीपविश्व को निरूपित करने के लिए काफी बड़ा है। हम देखते हैं कि द्वीपविश्व बहुत दूर-दूर पर छिटके हुए हैं और उनके बीच बहुत-सा स्थान खाली छूटा है। साथ ही सब ज्ञात द्वीपविश्व इतनी दूर तक फैले हुए हैं कि पूर्वोक्त पैमाने पर सबको पृथ्वी पर निरूपित नहीं किया जा सकेगा; पृथ्वी छोटी पडेगी।

यदि इसी पैमाने पर हम पृथ्वी का भी निरूपण करना चाहे तो वह इतनी छोटी होगी कि किसी भी सूक्ष्मदर्शक यत्र से हम इसे देख न पाएँगे !!
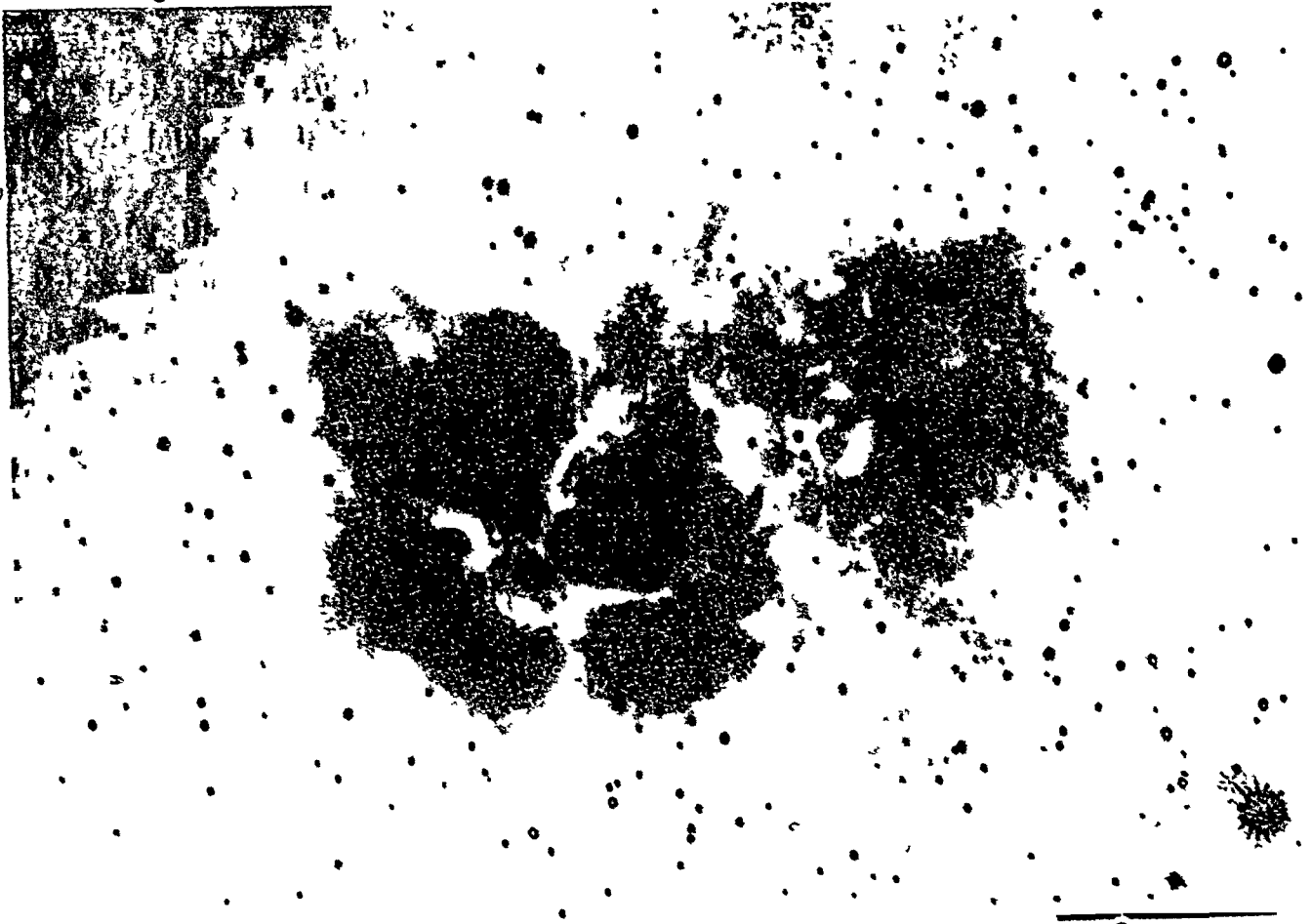
तीन सुस्पष्ट विभागों मे बँटी हुई अन्य एक नीहारिका (फो०—'लिक वेधशाला')
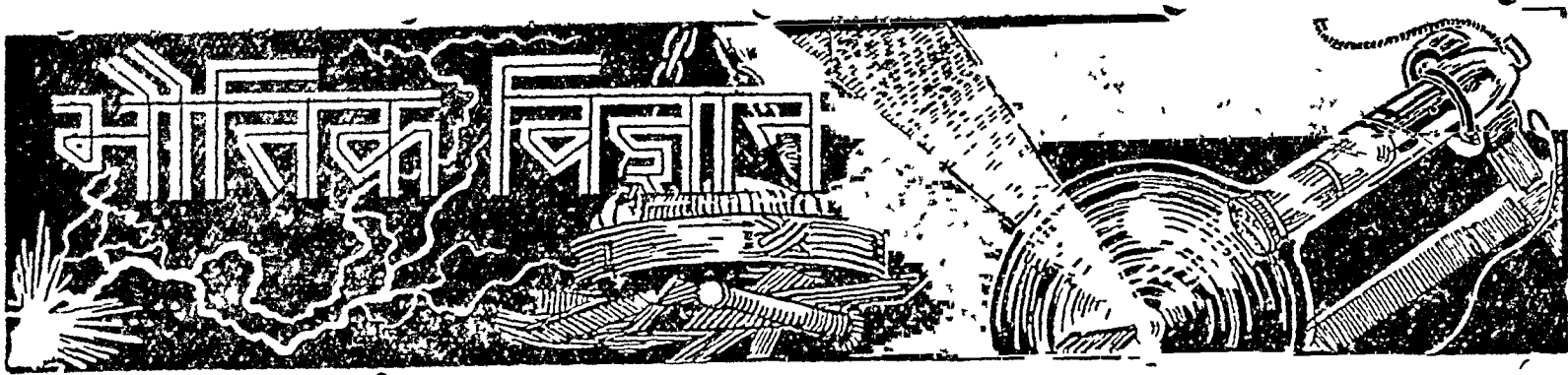
विद्युत् का उत्पादन

विद्युत् के विकास की कहानी आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले आरम्भ होती है जबकि यूनानियों ने 'ऐम्बर' के टुकड़ों के एक विशेष गुण की परख की थी। उन्होंने देखा कि यदि ऐम्बर को ऊन से रगड़े तो उसमें (ऐम्बर में) एक अद्भुत् आकर्षण शक्ति का समावेश हो जाता है—वह नन्हे-नन्हे तिनकों को अपनी ओर खींच लेता है। उस प्राचीन युग में लोगों ने सहज ही स्वीकार कर लिया कि ऐम्बर में कोई दैवी शक्ति मौजूद है, जिसके कारण यह इस प्रकार के आकर्षण की शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है। इसी लिए वे आभूषणों में ऐम्बर का प्रयोग करने लग गए थे। ऐम्बर के इस गुण विशेष को वे 'एलेक्ट्रीसीटी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि ऐम्बर का यूनानी नाम 'एलेक्ट्रान' था। हिन्दी में इसी गुण को 'विद्युत्' का नाम दिया गया है।

यद्यपि उस सुदूर अतीत में ही विद्युत् के विकास का प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु सैकड़ों वर्ष तक इस क्षेत्र मे कुछ विशेष प्रगति न हो सकी। १६वीं शताब्दी में डा० गिल्बर्ट नामक एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने इस समस्या मे विशेष दिलचस्पी दिखाई। उसने प्रयोगों के सिलसिले में देखा कि घर्षण द्वारा आकर्षण की शक्ति का समावेश न केवल ऐम्बर बल्कि गन्धक, काँच, लाख, चपड़ा तथा हीरे में भी किया जा सकता है। अतः इस गुण को 'घर्षण-विद्युत्' का
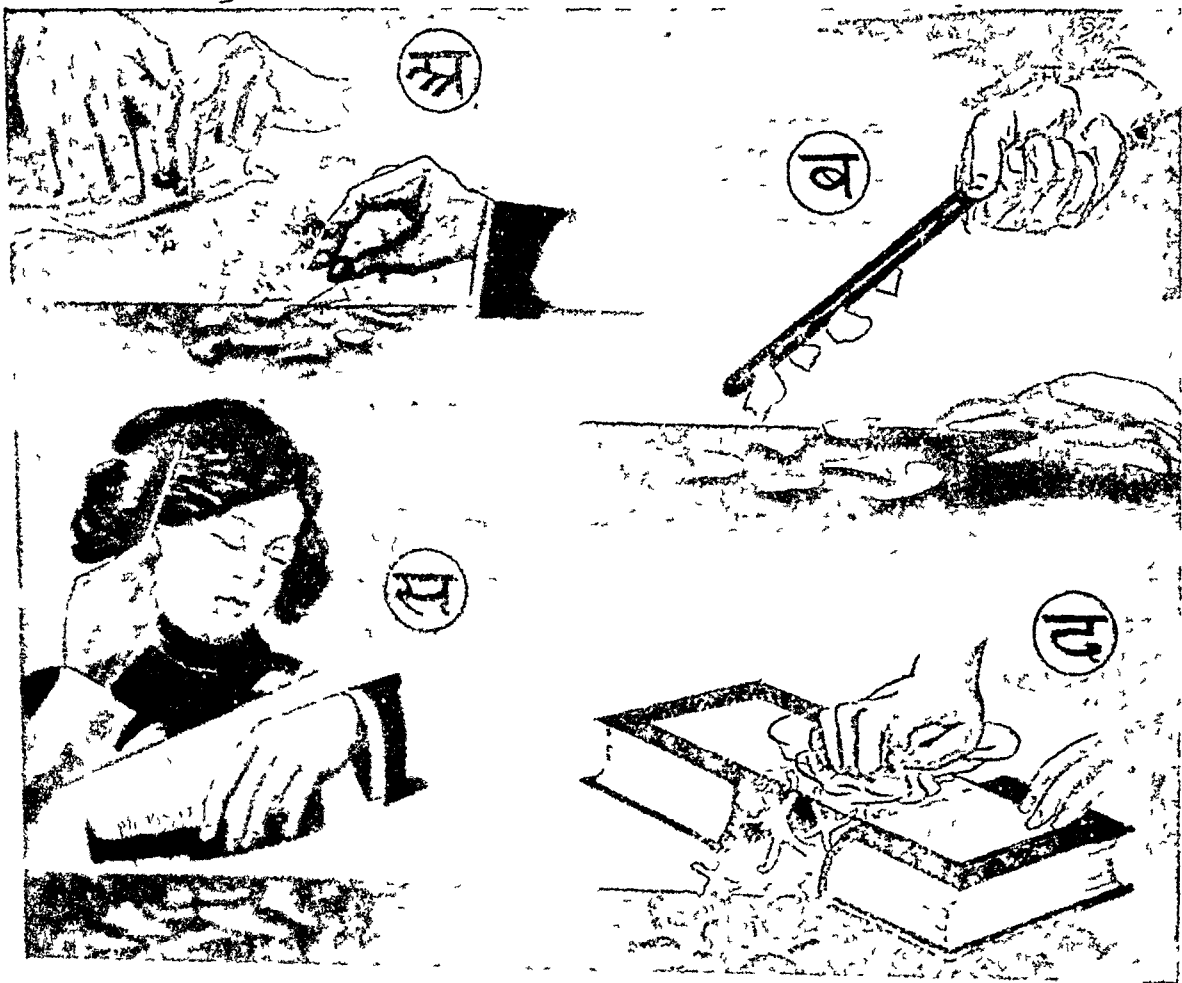
(अ) ऐम्बर के टुकड़े को ऊन से रगड़ने पर वह नन्हें काग़ज़ के टुकड़ों को अपनी ओर खींचने लगता है; (ब) आबनूस या काँच का डंडा भी क्रमशः रेशम या फलालैन से रगड़ने पर इसी प्रकार विद्युत् से आविष्ट किया जा सकता है; (स) मसाले के कंघे को सूखे बालों में फेरने से भी इसी प्रकार बिजली पैदा हो जाती है; (द) इस प्रकार एक शीशे की प्लेट को आड़ी रखकर ऊपर रेशम से रगड़ने पर उसके नीचे रक्खे हुए काग़ज़ के हल्के पुतले आप ही आप नाचने लगते हैं! ये सभी घर्षण-विद्युत् के ही चमत्कार हैं।

नाम दिया गया । डा० गिल्बर्ट की गणना तत्कालीन चोटी के वैज्ञानिकों में हुआ करती थी, इसीलिए इनके अनुसन्धानों की चर्चा शीघ्र ही समस्त योरप में फैल गई और भिन्न-भिन्न देशों मे वैज्ञानिक इस क्षेत्र में तरह-तरह के अनुसन्धान करने लगे।

स्वयं आप भी घर्षण-विद्युत् के सम्बन्ध में तरह-तरह के दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। अपनी फाउन्टेन-पेन को ऊनी कोट की आस्तीन पर थोड़ी देर तक रगड़िए—आपकी फाउण्टेन-पेन कागज के टुकड़ों को मेज पर से उठा लेगी। देहात में लड़के अपने सिर के सूखे बालों पर सरकडे को रगड कर सरकडे मे घर्षण-विद्युत् पैदा कर लेते हैं। सरकडे का टुकडा नन्हे-नन्हे तिनकों को उठा लेता है। रात के अँधेरे में दर्पण के सामने यदि आप मसाले के कघे को अपने सिर के सूखे बालों में कई बार फेरें तो दर्पण में आपको बाल और कघे के स्पर्श से चिनगारियाँ उत्पन्न होती दिखलाई देंगी। इसका भी कारण कघे की घर्षण-विद्युत् ही है। काँच के गिलास को रेशमी रूमाल से रगड़िए और तब कुछ मुलायम पख गिलास के समीप ले जाइए—पख के बाल गिलास द्वारा आकृष्ट हो जायँगे। अपनी पालतू बिल्ली को हाथ से सहलाइए। आप देखेंगे कि उसकी पीठ के बाल आपके हाथ द्वारा आकर्षित होकर खड़े हो जाते हैं। लाख को फलालैन के टुकड़े से रगड़िए, फिर उसे अपने सिर के बाल के ऊपर ले जाइए—लाख की विद्युत् सिर के बालों को ऊपर खींचे लेती है।

आकाश में कौधनेवाली विद्युत् भी प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई विद्युत् जैसी ही होती है, इसे सिद्ध करने के लिए बैंजेमिन फ्रैन्कलिन ने पतंग उडाकर एक प्रयोग किया था। व्याख्या के लिए पढ़िए पृ० २७४८ का मैटर ।

फ्रैन्कलिन के उपर्युक्त प्रयोग के बाद एक फ्रैन्च विद्वान् डा० रोमास ने भी इसी तरह पतंग उड़ाकर एक प्रयोग किया था। उसके फलस्वरूप ज़ोर के धड़ाके के साथ पतंग की कील द्वारा ज़मीन में एक गड्ढा बन गया था और तार छू जाने से एक व्यक्ति को ज़ोर का धक्का भी लगा था। इसका विस्तृत विवरण पृ० २७४८ पर पढ़िए।

इस सिलसिले के प्रयोगों में यह भी देखा गया कि घर्षण-विद्युत् में केवल आकर्षण ही नहीं, वरन् विकर्षण का गुण भी मौजूद है। यदि शीशे की छड़ को हम रेशम से रगड़ें और उसे रेशमी धागे के सहारे आड़ी लटका दें, और रेशम से रगड़ी हुई दूसरी शीशे की छड़ उसके समीप ले आएँ तो हम देखेंगे कि लटकी हुई छड़ दूर हट जाती है—अर्थात् दोनों छड़ों में विकर्षण (हटाव) होता है। स्पष्ट है कि दोनो छड़ों पर समान जाति की ही विद्युत् उत्पन्न हुई होगी और ऐसी समान विद्युत् में परस्पर विकर्षण होता है।

इसके प्रतिकूल यदि हम आबनूस के एक छड़ को फलालैन से रगड़कर उसी प्रकार रेशम के धागे के सहारे लटकाएँ और तब उसके समीप रेशम
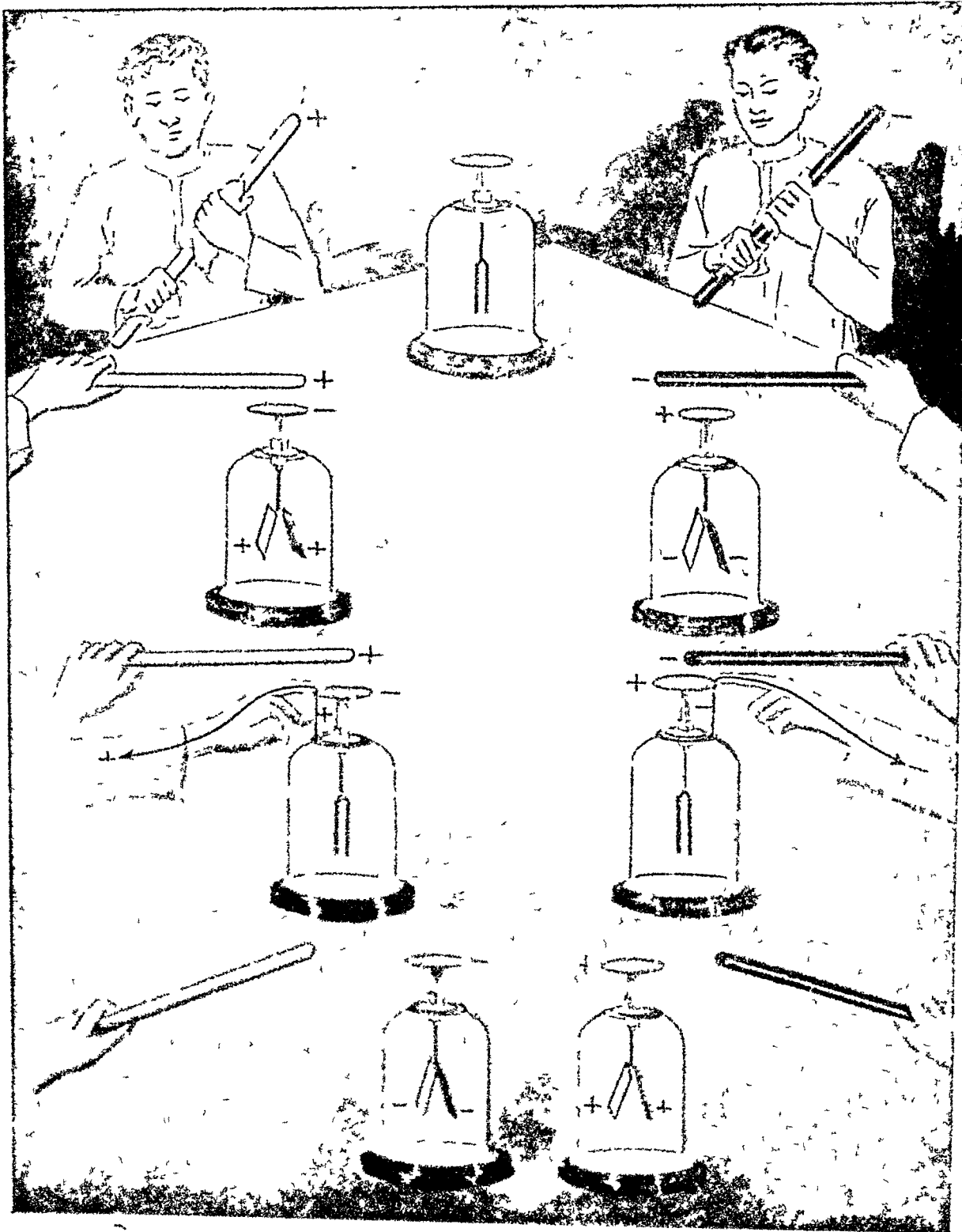
स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप और उसे विद्युताविष्ट करने की क्रिया

प्रस्तुत चित्र में 'स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप' नामक महत्त्वपूर्ण यंत्र और उसे क्रमशः ऋणात्मक अथवा धनात्मक विद्युत् से आविष्ट करने की प्रक्रियाएँ प्रदर्शित की गई हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में यह यंत्र अपनी अक्रियाशील दशा में दिखाया गया है। बाईं ओर दिखाया गया है कि किस प्रकार रेशम द्वारा रगड़कर धनात्मक विद्युत् से आविष्ट किए गए काँच के एक डंडे को इस यंत्र के समीप लाने पर उसके सिरे में ऋणात्मक और पत्तियों में धनात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। फलस्वरूप उसकी पत्तियाँ विकर्षित हो फैल जाती हैं। अब यदि यंत्र के सिरे को हाथ से छू लिया जाय तो धनात्मक विद्युत् शरीर में होकर धरती में चली जायगी और पत्तियाँ सिमट जाएँगी। तदनंतर उँगली और डंडा दोनों को हटा लेने पर एलेक्ट्रोस्कोप के सिरे से पत्तियों तक ऋणात्मक विद्युत् ही रह जायगी और पत्तियाँ पुनः विकर्षित हो फैल जाएँगी। दाहिनी ओर ठीक इसी प्रकार फलालैन द्वारा रगड़कर ऋणात्मक विद्युत् से आविष्ट किए गए आबनूस के डंडे के [illegible] इस यंत्र को किस प्रकार धनात्मक विद्युत् से आविष्ट किया जा सकता है, इसकी क्रिया दिखाई गई है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप भी अंत में एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियाँ विकर्षित होते दिखाई देंगी, परन्तु इस बार वे आविष्ट होंगी धनात्मक विद्युत् द्वारा।

से रगड़कर शीशे की छड़ लाएँ तो इन दोनों में आकर्षण उत्पन्न होता है। और भी देखिए—फलालैन से रगड़ी हुई आबनूस की छड़ को लटकाकर उसके समीप यदि फलालैन की रगड़ी हुई आबनूस की छड़ ले आएँ तो इस बार भी विकर्षण ही पैदा होता है। इन तीनों प्रयोगों से सिद्ध होता है कि समान जाति की विद्युत् में परस्पर विकर्षण होता है किन्तु असमान जाति की विद्युत् में आकर्षण। अतः घर्षण विद्युत् की दो जातियाँ हुईं; एक वह जो शीशे को रेशम से रगड़ने से उत्पन्न होती और इस प्रकार उत्पन्न विद्युत् से विकर्षित होती है तथा दूसरी वह जो फलालैन द्वारा आबनूस पर रगड़ने से उत्पन्न होती है अथवा आबनूस पर उत्पन्न हुई विद्युत् से विकर्षित होती है।

काफ़ी दिनों बाद अमेरिका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक बेन्जमिन फ्रैन्कलिन ने शीशेवाली विद्युत् को धनात्मक घर्षण-विद्युत् का नाम दिया और आबनूसवाली को ऋणात्मक विद्युत् का नाम। क्यों ये नाम चुने गए, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

घर्षण-विद्युत् की इस विवेचना ने एक और पहेली को भी सुलझाया। घर्षण के प्रयोगों में यह देखा गया था कि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़ने पर यह छड़ जब कागज़ के टुकड़ों के पास ले आयी जाती है तो कागज के टुकड़े इससे आकर्षित होकर छड़ में जा चिपकते हैं, किन्तु एकाध क्षण बाद ही वे गिर पड़ते हैं। छड़ की विद्युत् अभी उसमें मौजूद ही रहती है, क्योंकि छड कागज के और टुकड़ों को आकर्षित करने में समर्थ होता है। फिर क्या कारण है कि ये कागज के टुकड़े छड़ से चिपके पर अलग हो गए? उपर्युक्त व्याख्या इस प्रश्न पर समुचित प्रकाश डालती है। कागज के टुकड़े छड़ को स्पर्श करने पर छड़ की विद्युत् ग्रहण कर लेते हैं। अतः छड़ की तरह ही ये भी ऋणात्मक विद्युत्मय हो जाते हैं। अब समान जाति की विद्युत् कागज और छड़ दोनों पर विद्यमान है। अतः दोनों में विकर्षण होता है और कागज दूर हटकर गिर जाता है। शीशे की छड से प्रयोग करने पर भी यही बात देखने में आती है—कागज के टुकडे आकर्षित होकर छड से चिपक जाते हैं, किन्तु तत्काल ही ये पुनः नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि इनमें भी शीशे की छड़वाली धनात्मक विद्युत् का समावेश हो जाता है।

समान जाति की विद्युत् के विकर्षण तथा असमान विद्युत् के पारस्परिक आकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए सरकण्डे के गूदे की गोलियों द्वारा एक रोचक प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रदर्शन के लिए सरकण्डे के गूदे को सुखाकर उसकी दो गोलियाँ बना लीजिए। इन्हें रेशम के धागों से एक इंच की दूरी पर लटका दीजिए—अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उस छड़ को एक गोली से छुला दीजिए। फौरन् ही दोनों गोलियाँ आकर्षित होकर एक दूसरे को छू लेती हैं, किन्तु तत्काल ही वे अलग भी हो जाती हैं, क्योंकि स्पर्श के बाद दूसरी गोली से भी ऋणात्मक विद्युत् चली जाती है। इसी तरह एक और प्रयोग कीजिए—इस बार दोनों गोलियों को रगड़ी हुई आबनूस की छड़ से छुला दीजिए। आप देखेंगे कि अब दोनों गोलियाँ एक दूसरे से दूर हट जायँगी, क्योंकि प्रारम्भ से ही समान विद्युत् दोनों में मौजूद है। अतः उनमें विकर्षण हो रहा है।

घर्षण-विद्युत् के आकर्षण-विकर्षण के गुणों की परीक्षा

कागज़ के एक तख्ते को ब्रुश से रगड़कर रेशम के धागे द्वारा लटकाया जाय तो वह धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हो जायगा। अब उसे धज्जियों में विभाजित कर दीजिये। उनमें विकर्षण होगा, क्योंकि वे सभी समान धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हैं। इन धज्जियों के पास धनात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर वे विकर्षित होंगी और ऋणात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर आकर्षित।

करने के सिलसिले में वान गेरिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि उसने घर्षण-विद्युत् अधिक परिमाण मे उत्पन्न करने के लिए एक मशीन का निर्माण किया। इस सीधी सादी मशीन में गन्धक के एक बड़े टुकड़े को छुरी पर आरूढ कराकर धुरी को हैन्डल के सहारे तेजी के साथ घुमाते थे तथा हथेली को गन्धक पर रखते थे। तेज घर्षण के कारण गन्धक पर काफ़ी ऋणात्मक विद्युत् उत्पन्न हो जाती थी।

इस क्षेत्र में किए गए अनुसन्धानों के सिलसिले में यह भी मालूम किया गया कि पीतल या ताँबे अथवा लोहे की छड़ को हाथ मे पकड़कर यदि उसे रगड़ा जाय तो उसमें किसी प्रकार की विद्युत् का समावेश नहीं हो पाता। अवश्य लोगों को अचरज हुआ कि ऐसा क्यों होता है। इस उधेड़बुन में कुछ अनुसन्धानकों ने पीतल या धातु की एक छड़ ऐसी तैयार की, जिसका हैन्डल काँच का बना था। अब देखा गया कि काँच के हैन्डल को हाथ में पकड़कर यदि धातु की छड़ को रगड़ा जाय तो धातु की छड़ मे भी विद्युत् उत्पन्न हो जाती है और यह अन्य चीजों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। अतः यह सिद्ध हो गया कि धातुएँ भी घर्षण द्वारा विद्युत्मय बनायी जा सकती हैं—केवल यह अवश्य है कि उनकी विद्युत् उनके अन्दर से भाग जाती है। यदि काँच या आबनूस का हैन्डल धातु की छड़ मे लगा दिया जाय तो धातु की विद्युत् भाग सकने में समर्थ नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि सभी पदार्थों को हम दो श्रेणियों मे विभाजित कर सकते हैं—एक वे पदार्थ, जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो सकता। गन्धक, शीशा, आबनूस, ऐम्बर इस श्रेणी मे आते हैं। इन्हे हम विद्युत् के 'अधम सचालक' कह सकते हैं। दूसरे वे पदार्थ जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह आसानी के साथ हो सकता है—ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी आदि इस श्रेणी में आते हैं। इन्हे हम विद्युत् के 'उत्तम सचालक' कह सकते हैं। हमारा शरीर भी मध्यम श्रेणी का विद्युत् सचालक है। यही कारण है कि फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर यदि छड़ पर हम हाथ फेर दें तो छड़ की विद्युत् शक्ति हमारे शरीर में से प्रवाहित होकर धरती में चली जाती है और छड़ विद्युत्हीन हो जाती है। आर्द्रता भी विद्युत् की सचालक है। इसलिए घर्षण-विद्युत् के प्रयोग के पहले सभी चीज़ों को भली भाँति सुखा लेना चाहिए, अन्यथा उन वस्तुओं पर घर्षण के उपरान्त विद्युत् ठहरेगी नहीं। रेशम अधम सचालक है, इसी कारण घर्षण-विद्युत् के प्रयोग में आकर्षण विकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए छड़ आदि को रेशम के धागे से ही लटकाते हैं। सूत मे यह गुण मौजूद नहीं है।
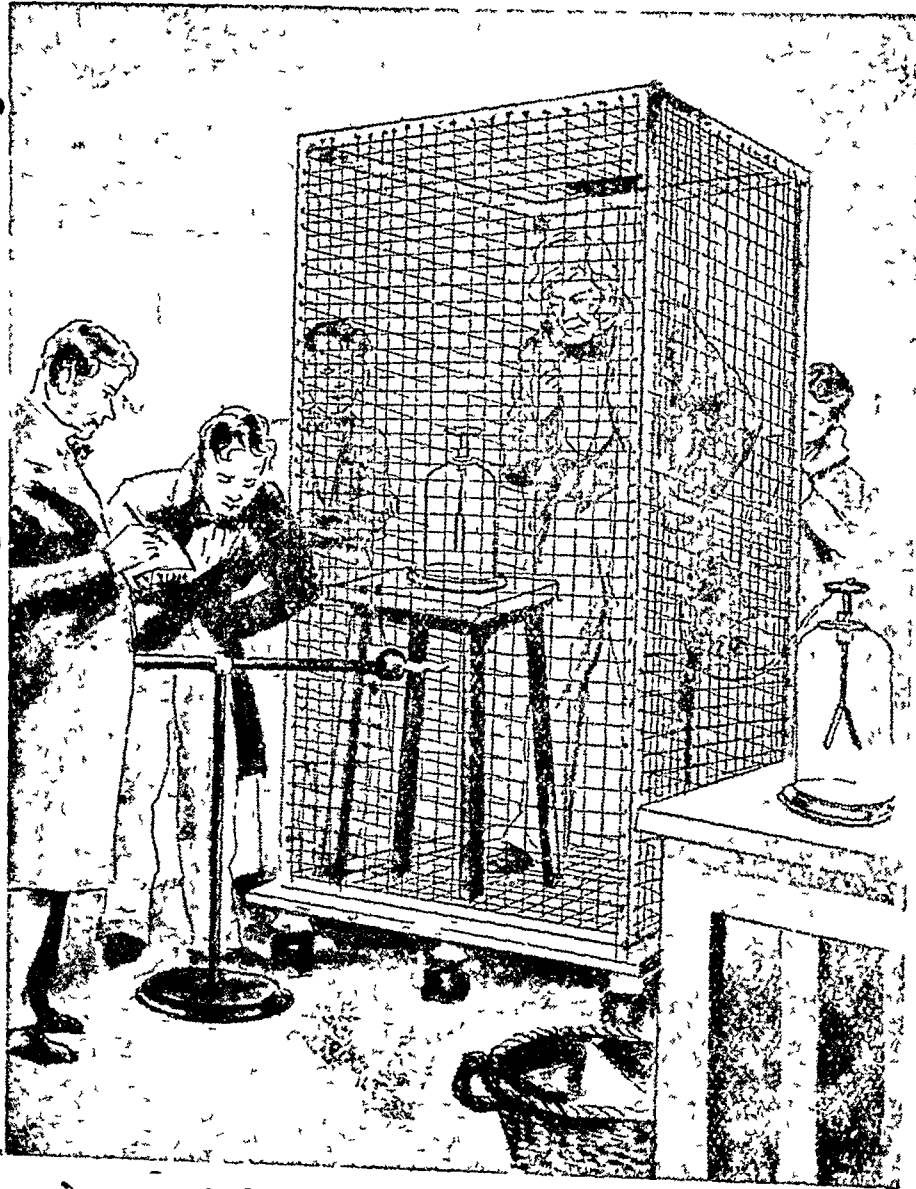
धातु के आवरण से किसी वस्तु को घेरने पर बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर नहीं पड सकता। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए फैरेडे ने जो प्रयोग किया था, वही यहाँ दिग्दर्शित है। व्याख्या के लिए पृ० २७४६ का मैटर पढ़िए।

अनुसन्धानकों ने अब एक और महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने फलालैन की खोलनुमा टोपी बनाकर उससे आबनूस को रगड़ा और सरकण्डे के गूदे को लटकाकर उसे रेशम से रगड़े हुए काँच के डण्डे से छुलाया। सरकण्डे की गोली में अब धनात्मक विद्युत् आ गई। तदुपरान्त फलालैन की उस टोपी को जब इस सरकण्डे की गोली के पास

ले आया गया तो इन दोनों में विकर्षण हुआ। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि फलालैन की टोपी में धनात्मक विद्युत् उस समय उत्पन्न हुई जबकि आबनूस में ऋणात्मक उत्पन्न हुई थी। इसी तरह यह भी सिद्ध किया जा सका कि काँच और रेशम के परस्पर घर्षण से काँच में तो धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है, किन्तु साथ ही साथ रेशम में ऋणात्मक विद्युत् की उत्पत्ति होती है। फिर तो शीघ्र ही यह दिखलाया जा सका कि जब दो विभिन्न पदार्थों में घर्षण होता है तो साथ ही एक पदार्थ में धनात्मक और दूसरे पदार्थ में ऋणात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। आगे हम देखेंगे कि ऐसी दशा में ये दोनों जाति की विद्युत् समान मात्रा में उत्पन्न होती हैं।
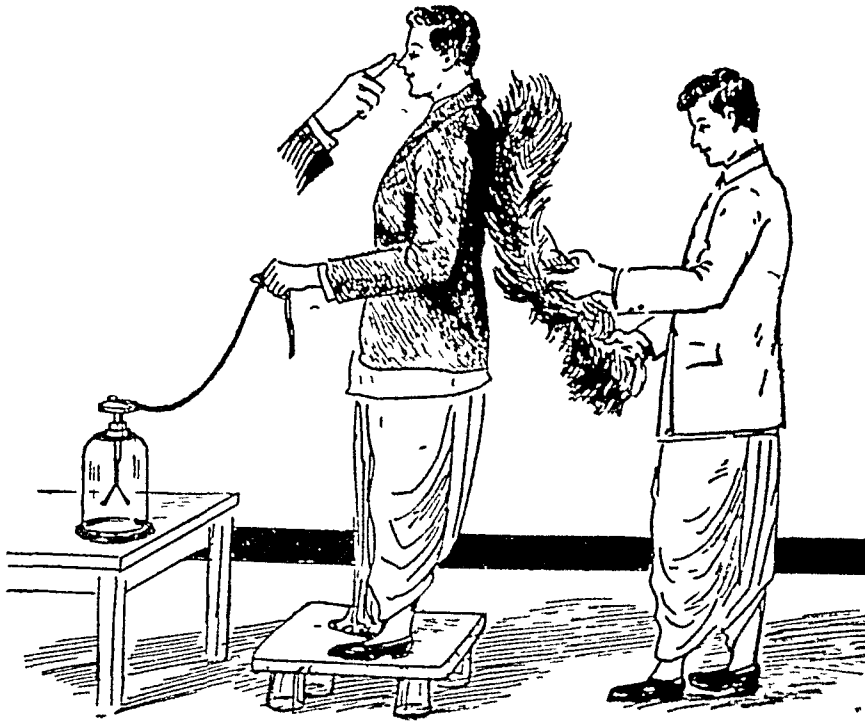
ऊनी वस्त्र पहने किसी व्यक्ति को शीशे की चौकी पर खडा कर यदि उसके कोट को समूर से रगडा जाय तो वह व्यक्ति घर्षण-विद्युत् से आविष्ट हो जायगा, जिसका पता उसके हाथ में स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप से संलग्न एक रेशम की डोरी देकर लगाया जा सकता है। ऐसे विद्युताविष्ट व्यक्ति की नाक के पास अन्य कोई व्यक्ति अपनी उँगली ले जाय तो विद्युत् की हल्की-सी चिनगारी प्रकट होते देखी जा सकती है!
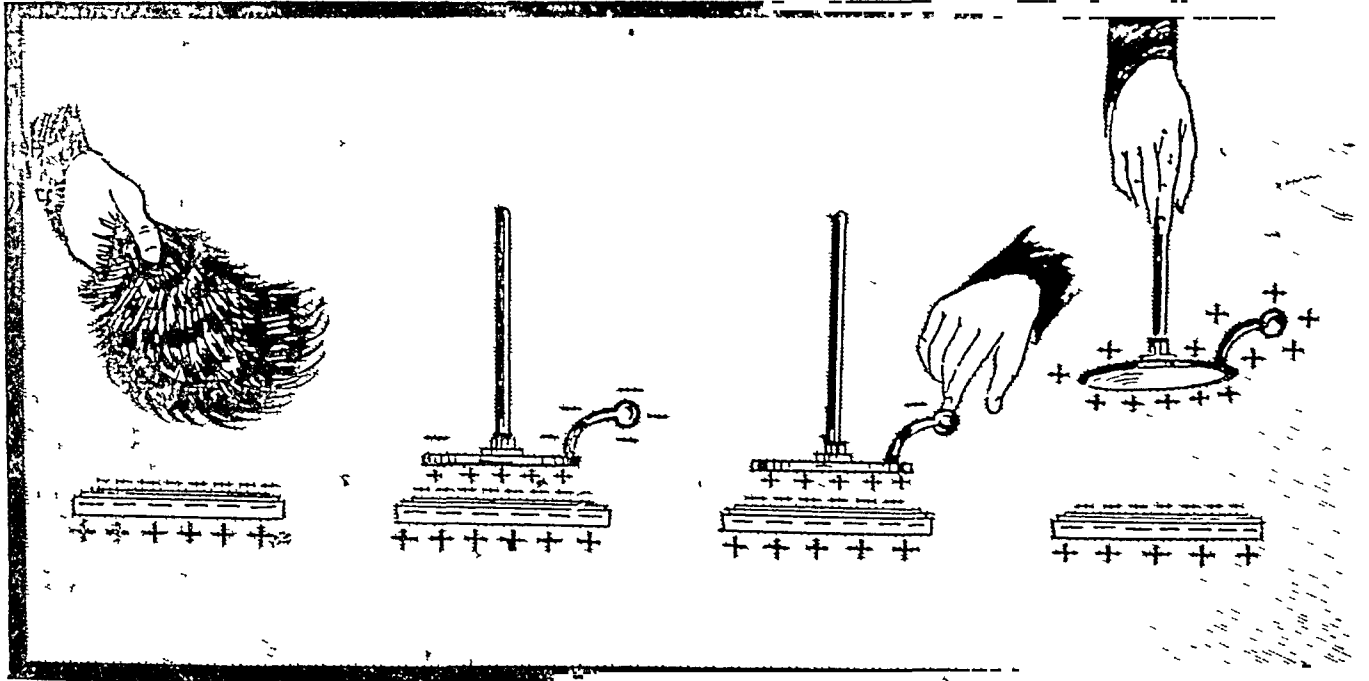
प्रस्तुत चित्र में एलेक्ट्रोफोरस नामक विद्युतोत्पादक सरल यंत्र और उसकी क्रिया दिग्दर्शित है। इस यंत्र में चपड़े की एक गोल प्लेट पर धातु की एक गोल प्लेट रखी रहती है, जिसमें काँच का हैण्डल लगा होता है। विद्युत् उत्पन्न करने के लिए ऊपरी प्लेट को अलग हटाकर फलालैन या समूर से चपड़े को रगड़ते हैं, जिससे उसमें ऋणात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। अब पुनः ऊपरी प्लेट को चपडे पर रख देते हैं, जिससे फ़ौरन् ही प्लेट के निचले भाग में धनात्मक और ऊपरी सतह पर ऋणात्मक विद्युत् आ जाती है। तदनंतर धातु की प्लेट को हाथ से छू देते हैं, जिससे स्वतंत्र ऋणात्मक विद्युत् शरीर में होकर धरती में चली जाती है और यंत्र धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हो जाता है।

घर्षण-विद्युत् के सम्बन्ध में जानकारी बढ़ने के साथ ही यह स्वाभाविक था कि लोग यह जानने के लिए उत्सुक हों कि आखिर विद्युत्मय पदार्थ को जब अन्य पदार्थों के समीप ले जाते हैं, जिनमें विद्युत् नहीं है, तो उनके बीच आकर्षण क्यों होता है। इस प्रश्न का उत्तर वान गेरिक ने अपनी घर्षण-मशीन द्वारा प्रयोग करके मालूम किया था। उसने देखा कि नन्हीं-नन्हीं वस्तुएँ जब विद्युत्मय गन्धक के टुकड़े के समीप लायी जाती थीं तो उनमें स्वयं विद्युत् का समावेश हो जाता था। निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति की विद्युत उत्पन्न होती है और दूरवाले भाग में समान जाति की। यही वजह है कि प्रतिकूल ढंग की विद्युत् के आकर्षण से वह वस्तु खिच आती है।

विद्युत्मय वस्तु से बिना छुलाए हुए जब किसी वस्तु में विद्युत् का आविर्भाव केवल उन दोनों को निकट ले आने से ही हो जाता है तो इस क्रिया को 'उपपादन' कहते हैं। इस क्रिया को समझने के लिए निम्न प्रयोग किया जा सकता है:—पीतल का एक बेलनाकार पिण्ड काँच के स्टैण्ड पर आरूढ़ किया जाता है। अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उसे पीतल के पिण्ड के एक सिरे के समीप ले आते हैं। सरकण्डे की गोली पर ऋणात्मक विद्युत् चढ़ाकर उसे पिण्ड के दूरवाले सिरे के नज़दीक ले आने पर विकर्षण होता है। इससे स्पष्ट है कि पिण्ड के दूरवाले भाग में ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है। छड़ के हटा लेने पर पिण्ड की यह विद्युत्शक्ति भी लुप्त हो जाती है। उपपादन द्वारा उत्पन्न हुई विद्युत् उतनी ही देर तक स्थिर रहती है, जितनी देर तक निकट में कोई विद्युत्मय पदार्थ रहता है।

लेकिन ऐसा होता क्यों है? उपर्युक्त प्रयोग मे यदि आबनूस की छड़ को पीतल के पिण्ड के निकट रखकर पिण्ड को हाथ से छू दें तो अब इससे सरकण्डे की ऋणात्मक विद्युत्वाली गोली प्रभावित नहीं होती। किन्तु इसके बाद छड़ हटा लेने पर यही पिण्ड धनात्मक विद्युत्वाली सरकण्डे की गोली के प्रति विकर्षण और ऋणात्मक के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन करता है। स्पष्ट है कि अब यह स्वयं धनात्मक विद्युत्मय हो गया है।

उपपादन की क्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए कल्पना कीजिए कि प्रत्येक पदार्थ नन्हें-नन्हे धनात्मक और
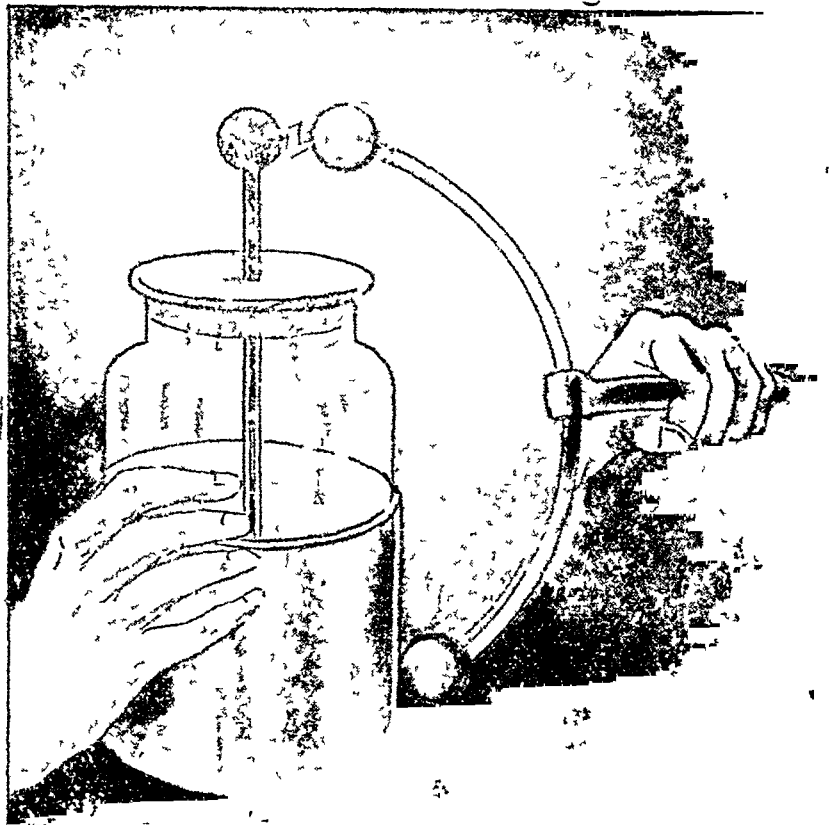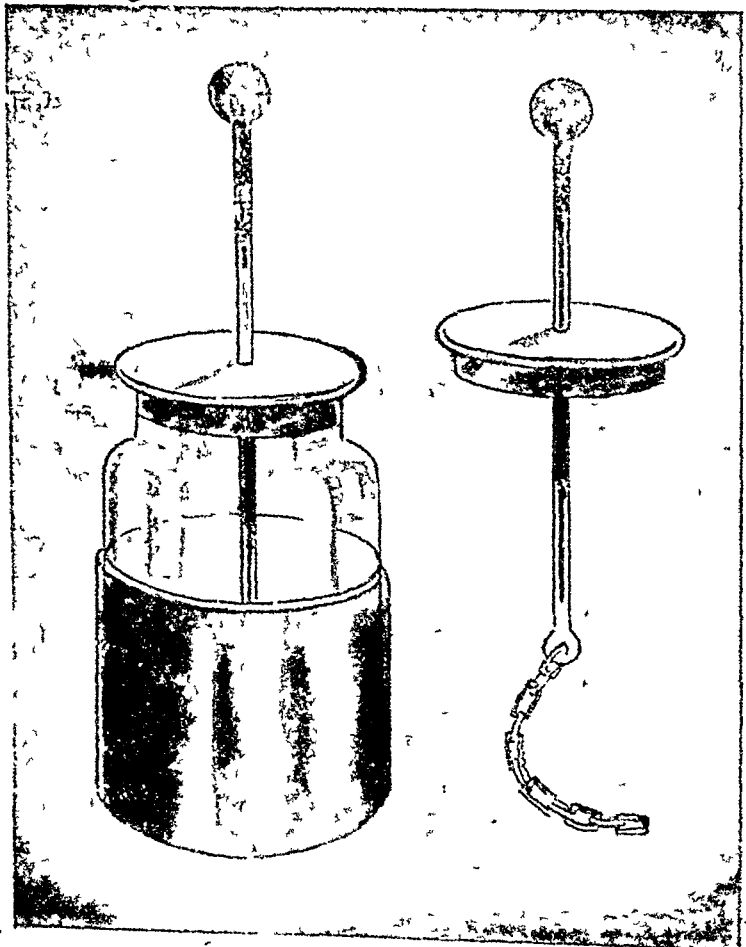
विद्युत् का संचय करने के लिए काम में लाया जाने वाला 'लीडन जार' नामक पात्र

बाईं ओर इस बोतलनुमा पात्र की रचना, उसके ऊपरी ढकन को अलग से दिखाकर, प्रदर्शित की गई है; दाहिनी ओर एक चिमटानुमा उपकरण द्वारा उसकी घुण्डी और बाहर की सतह की टिन को एक-दूसरे से संबद्ध करने पर विद्युत् चिनगारी पैदा होते दिखाई गई है। व्याख्या के लिए पढ़िए पृ० २७४८ का मैटर।

ऋणात्मक विद्युत्-कणों से मिलकर बना है। इन कणों की संख्या धनात्मक और ऋणात्मक दोनों तरह की बराबर होती है, इसीलिए साधारणतः पदार्थों में उनके विद्युत्गुण प्रदर्शित नही होते। यदि कोई विद्युत्मय पदार्थ निकट आता है तो वह प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कणों को आकर्षित करके अपने निकटवाले सिरे पर एकत्रित कर लेता है, और अपनी जाति के विद्युत्-कणों को दूरवाले सिरे पर हटा देता है। प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण उसके आकर्षण से एक तरह बँधे रहते हैं, किन्तु उसी जाति के कण स्वतंत्र रहते हैं। अतः इस अवस्था में पिण्ड उसी जाति के विद्युत् का प्रभाव दिखलाता है। हाथ से छू लेने पर अनुकूल जाति के ये स्वतंत्र विद्युत्-कण हाथ और शरीर मे से होते हुए धरती मे चले जाते हैं। अब यदि आबनूस के ऋणात्मक विद्युत्मय डडे को हटा लें, तो पिण्ड के बँधे हुए धनात्मक विद्युत्कण स्वतत्र होकर पिण्ड पर फैल जाते हैं, और पिण्ड धनात्मक विद्युत् का प्रभाव दिखलाता है, क्योंकि अब इनके प्रभाव को नष्ट करनेवाले ऋणात्मक विद्युत्-कण पिण्ड में नहीं रहे।

इसी प्रकार जब दो पदार्थों में परस्पर घर्षण होता है तो एक से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकलकर दूसरे में चले जाते हैं। अतः जिसमें से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकल जाते हैं, वह धनात्मक विद्युत् के गुण का प्रदर्शन करता है और दूसरे पदार्थ मे ऋणात्मक विद्युत्कण के बढ़ जाने से ऋणात्मक विद्युत् का प्रभाव प्रकट होता है। यही कारण है कि फलालैन और आबनूस जब एक दूसरे से रगड़े जाते हैं तो फलालैन में धनात्मक और आबनूस मे ऋणात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है। कॉँच की छड़ को रेशम से रगडने पर कॉच में धनात्मक और रेशम मे ऋणात्मक बिजली पैदा होती है।

महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक फैरेडे
जिसका नाम विद्युत्-अनुसंधानों के सिलसिले में अमर रहेगा।

अब हम इस प्रश्न का भी उत्तर दे सकते हैं कि विद्युत्मय पदार्थ के निकट लाने पर नन्हें-नन्हें काग़ज के टुकड़े या तिनके आदि क्यों पहले खिचकर उस पदार्थ से चिपक जाते हैं और फिर जल्दी ही अलग हो जाते हैं? विद्युत्मय पदार्थ के निकट जब कोई चीज़ लायी जाती है तो उपपादन द्वारा उस चीज के निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण इकट्ठे हो जाते हैं और दूरवाले सिरे पर अनुकूल जाति के। चूँकि निकट प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण हैं, इसलिए दोनों पदार्थों के बीच आकर्षण होता है। किन्तु इस आकर्षण-शक्ति के कारण खिचकर जब वह नन्हीं चीज विद्युत्मय पदार्थ को छू लेती है तो विद्युत्मय पदार्थ से उस चीज़ में समान जाति के कुछ विद्युत्-कण चले जाते हैं। समान जाति की विद्युत् में विकर्षण भी होना आवश्यक है, अतः अब इन दोनों के बीच विकर्षण होता है और वह चीज़ दूर या अलग हो जाती है।

यह ज्ञात करने के लिए कि किसी पदार्थ में विद्युत् है या नहीं और है तो किस जाति की, अर्थात् ऋणात्मक या धनात्मक है, साधारणतः एक खास ढग के यंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह 'स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप' कहलाता है। इस यत्र मे चौड़े मॅह की कॉँच की बोतल मे सोने की दो पत्तियाँ पीतल की छड के निचले छोर से लटकती हैं। इस छड़ का दूसरा सिरा चपटा रहता है, जो कि बोतल के बाहर निकला होता है। बोतल के अन्दर पत्तियाँ इसलिए लटकायी जाती हैं कि हवा का झोंका उन्हें न लग पाए। जिस वस्तु की जाँच करनी हो उसे एलेक्ट्रोस्कोप की छड के ऊपरी सिरे से छुला देते हैं—यदि उस वस्तु में विद्युत् मौजूद हुई तो उसका कुछ अश छड़ में से होकर दोनों पत्तियों मे चला जाता है। समान जाति की विद्युत् दोनों पत्तियों मे चली जाती है,

अतः उनमें विकर्षण होता है और वे दोनों एक दूसरे से दूर हटकर चौड़ी हो जाती हैं। यदि उस वस्तु मे बिजली मौजूद न हुई तो पत्तियाँ पूर्ववत् अवस्था में ही लटकती रहती हैं, उनमें विकर्षण नहीं होता।

विद्युत्मय वस्तु को यदि एलेक्ट्रोस्कोप की छड़ से हम छुआएँ नहीं, केवल उसे छड़ के सिरे के निकट लेभर आएँ, तो भी पत्तियों में विकर्षण होगा, क्योंकि उपपादन के द्वारा विरुद्ध जाति की विद्युत् निकटवाले सिरे पर उत्पन्न होगी और समान जाति की विद्युत दूर के सिरे में पत्तियों पर चली जायगी, अतः वे एक दूसरे से अलग हट जायँगी। किन्तु उस वस्तु को हटा लेने पर पत्तियाँ फिर इकट्ठा हो जायँगी।

यह मालूम करने के लिए कि किसी वस्तु मे धनात्मक विद्युत् या ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है, यह आवश्यक है कि एलेक्ट्रोस्कोप पर किसी एक जाति की विद्युत् आरूढ़ करा ली जाय। मान लीजिए, आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़कर इससे एलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को छू दिया गया, तो पत्तियों में ऋणात्मक विद्युत् चली जायगी और वे फैल जायँगी। अब यदि धनात्मक विद्युत्मय वस्तु निकट लायी जाय तो वह उपपादन द्वारा पत्तियों मे धनात्मक विद्युत् भेजेगी, अतः पत्तियों की पहले की ऋणात्मक विद्युत् का कुछ अंश धनात्मक विद्युत
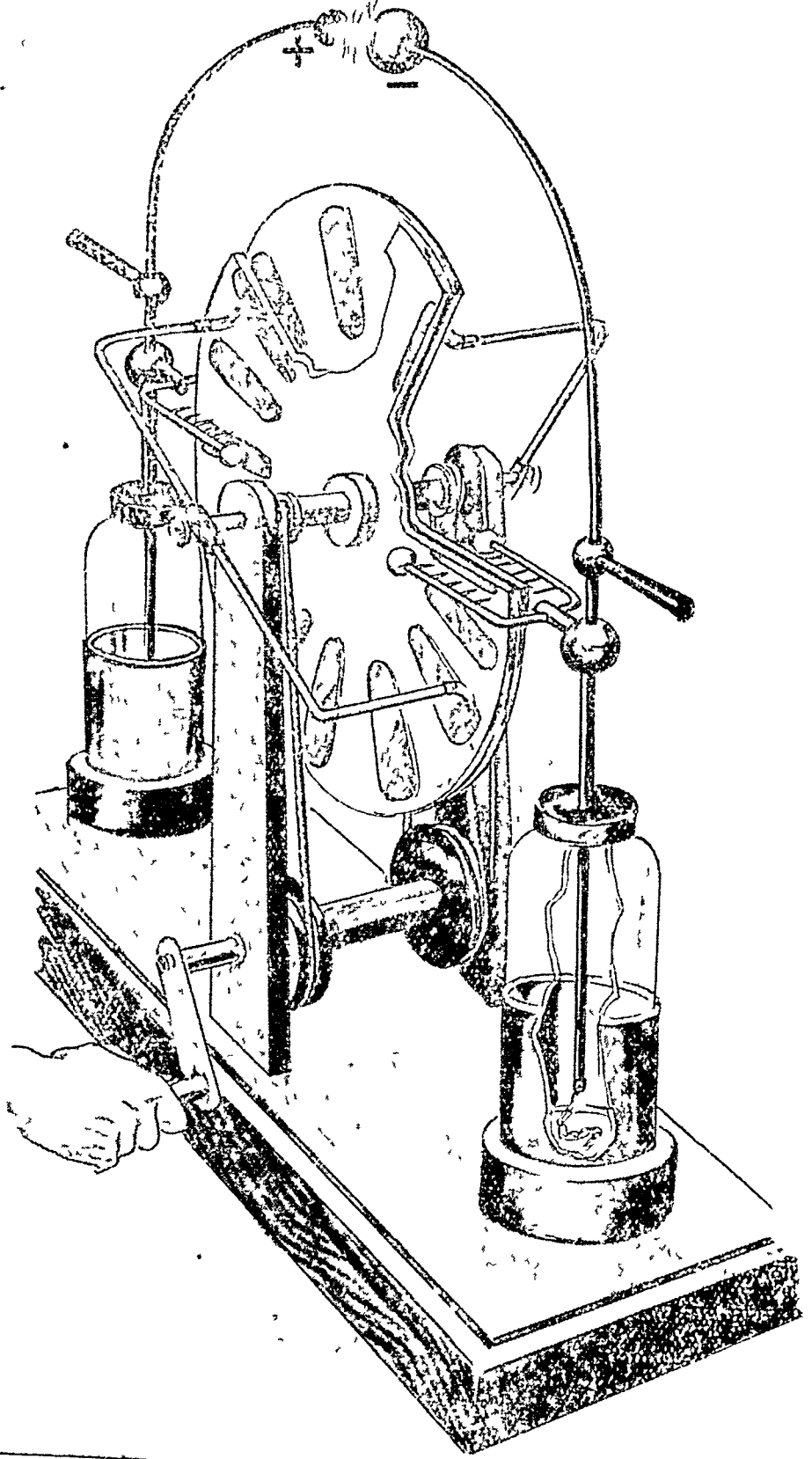
ह्विमशर्स्ट मशीन

इस यंत्र का प्रयोग प्रयोगशालाओं में अधिक परिमाण मे घर्षण-विद्युत् उत्पन्न करने के लिए होता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, इस मशीन में ऊर्ध्व धरातल में हैण्डिल द्वारा घुमाई जानेवाली काँच की दो वृत्ताकार प्लेटे लगी हैं, जिनकी बाहरी सतह पर समान दूरी पर धातु की कुछ पत्तियाँ चिपकाई हुई हैं। इसके अगल-बगल समकोण में दो पीतल की छड़ की भुजाएँ लगी हैं, जिनके सिरे पर प्लेट को छूते हुए ब्रुशनुमा तार के गुच्छे लगे रहते हैं। साथ ही अगल-बगल धातु के दो विशेष प्रकार के कंघे भी लगे हैं, जिनके दाँत दोनों प्लेटों को बाहर से घेरे हुए हैं, परन्तु उसके फ्रेम को छू नहीं रहे हैं। ये कंघे एक-एक लीडन जार से संबद्ध हैं और उनसे दो टेढ़ी छड़ें ऊपर को जाकर दो गोल घुंडीनुमा सिरों के रूप मे समाप्त होते दिखाई दे रही हैं। यह तो इस यंत्र की रचना हुई। इसका किस प्रकार उपयोग किया जाता है, इसका सुविस्तृत विवरण पृ० २७४८ के मैटर में पढ़िए!

के कारण नष्ट हो जायगा और फलस्वरूप पत्तियों के विकर्षण में कमी हो जायगी तथा वे पहले की अपेक्षा निकट आ जायँगी। इसके प्रतिकूल यदि ऋणात्मक विद्युत् वाली वस्तु निकट लायी जाय तो वह धनात्मक विद्युत् को निकट के सिरे पर इकट्ठा करेगी और ऋणात्मक विद्युत् को पत्तियों में भेजकर उनके पारस्परिक विकर्षण को और भी अधिक कर देगी, जिससे उनका फैलाव बढ़ जायगा।

एलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ कराने के निमित्त यह आवश्यक नहीं कि उसके छड़ के सिरे को किसी विद्युतमय पदार्थ से छुआया ही जाय। विद्युतमय वस्तु को निकट लाकर केवल उपपादन द्वारा भी पत्तियों में प्रतिकूल जाति की विद्युत् आरूढ़ करायी जा सकती है। यह क्रिया पृं० २७३६ के चित्र मे दिखलायी गयी है। काँच की छड़ को रेशम से रगड़ने पर उसमें धनात्मक विद्युत् आ गई है। इसे एलेक्ट्रोस्कोप के ऊपरी सिरे के निकट लाने पर उसके पीतल में ऋणात्मक विद्युत् उपपादन द्वारा आ जाती है और दूसरे सिरे पर पत्तियों में धनात्मक विद्युत् चली जाती है, जिससे कि वे फैल जाती हैं। अब उस काँच की छड़ को वहीं रखिए, और हाथ से एलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को छू दीजिए तो तुरन्त पत्तियों की धनात्मक विद्युत् आपके हाथ से होती हुई शरीर मे से होकर धरती में चली जायगी, जबकि ऋणात्मक विद्युत् काँच की धनात्मक विद्युत् द्वारा आकृष्ट अवस्था मे होने के कारण वहीं बँधी रह जायगी। इस हालत मे पत्तियों का विकर्षण भी लुप्त हो जाता है और वे पूर्ववत् इकट्ठी लटकने लग जाती हैं। तब काँच की छड़ को वहीं रखे-रखे अपने हाथ को, जिससे आप पीतल की छड़ छू रहे थे, हटा लीजिए और तदनतर काँच की छड़ को हटाइए। अब पीतल के ऊपरी सिरे की ऋणात्मक विद्युत् स्वतत्र हो जाने के नाते नीचे तक आकर पत्तियों में प्रविष्ट हो जाती है और उनमें विकर्षण उत्पन्न करती है। इस प्रकार एलेक्ट्रोस्कोप पर ऋणात्मक विद्युत् आरूढ हो गई। यही क्रिया यदि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़कर की जाती है तो अन्त में एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों पर धनात्मक विद्युत् आरूढ हो जाती है। इस ढंग से एलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ़ कराने मे लाभ यह है कि जिस वस्तु की सहायता से विद्युत् इसमें आरूढ करायी जाती है उसकी विद्युत् में ह्रास नहीं होने पाता।

एलेक्ट्रोस्कोप एक अत्यन्त ही चेतनशील यंत्र है। अतः इसके आविष्कार से घर्षण-विद्युत के गुणों की जाँच बारीकी से की जा सकी। इस सिलसिले मे देखा गया कि धातु के खोखले बर्तनों पर जब विद्युत् उत्पन्न की जाती है तो वह विद्युत् पूर्णतया बाह्य धरातल पर ही स्थित होती है, भीतरी धारतल पर किसी भी मात्रा में वह मौजूद नहीं होती। पीतल की एक खोखली गेंद लीजिए और उसमें छोटी चवन्नी के बराबर एक सूराख कर दीजिए। तब काँच की सूखी मेज पर उसे रखकर उस पर ऋणात्मक विद्युत आरूढ करा दीजिए। अब काँच की पतली छड़ लेकर उसके एक सिरे पर छोटी दुअन्नी के बराबर पीतल का एक टुकड़ा मोम से चिपका लीजिए। तदनंतर विद्युतमय गेंद के विभिन्न भागों से शीशे की छड़ के धातुवाले सिरे को छुलाकर उसमें आई हुई विद्युत् की जाँच एलेक्ट्रोस्कोप से कीजिए। आप पाएँगे कि गेंद के बाहरी धरातल पर हर कहीं ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है, किन्तु गेंद की भीतरी सतह के किसी भाग से भी विद्युत् प्राप्त नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि गेंद की भीतरी सतह पर विद्युत् मौजूद नहीं है। ब्रिटिश वैज्ञानिक फैरेडे ने इस तथ्य का प्रदर्शन निम्न रोमांचकारी प्रयोग द्वारा किया था।

उसने लोहे के तार का एक बड़ा पिंजड़ा तैयार किया और उसे काँच की एक चौकी पर रखकर वह स्वय उसके अन्दर एलेक्ट्रोस्कोप को लेकर चला गया। बाहर से उसके मित्रों ने पिंजड़े पर इतनी अधिक विद्युत् आरूढ कराई कि आसानी से पिंजड़े से विद्युत्-चिनगारियाँ पैदा की जा सकती थीं। बाहर से पिंजड़े को छूना निरापद न था, किन्तु भीतर फैरेडे को कुछ मालूम न पड़ा और न अन्दर रखे हुए एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों पर ही किसी प्रकार का प्रभाव पड़ा (दे० २७४१ का चित्र)। इस प्रयोग ने भली भाँति यह सिद्ध कर दिया कि धातु के आवरण से चारों ओर से किसी वस्तु को यदि घेर दिया जाय तो बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर की उस वस्तु पर किसी हालत में नहीं पड सकता। उदाहरण के लिए बारूदखाने के चारों ओर यदि तार की जाली का घेरा खड़ा कर दिया जाय तो आकाश की बिजली गिरने पर भी बारूदखाने पर कोई असर न पड़ेगा।

इन्हीं दिनों अधिक मात्रा में विद्युत् उत्पन्न करने के निमित्त मशीनें भी बनाई गईं। ये मशीनें उपपादन क्रिया पर आश्रित थीं। इस ढग की सबसे सीधी-सादी मशीन एलेक्ट्रोफोरस है। इसका सर्वप्रथम निर्माण इटैलियन वैज्ञानिक वोल्टा ने सन् १७७५ मे किया था। इसमें चपड़े की एक गोल चकरी धातु की एक प्लेट पर रक्खी होती है। इस चकरी पर पुनः धातु की

अन्य एक गोल प्लेट रक्खी रहती है, जिसका व्यास चपड़े के व्यास से थोड़ा कम ही होता है। धातु की इस प्लेट में काँच का हैन्डिल लगा होता है। विद्युत् उत्पन्न करने के लिए धातु की प्लेट को अलग हटाकर फलालैन या बिल्ली की खाल से चपड़े को रगड़ते और उस पर ऋणात्मक विद्युत् पैदा कर लेते हैं। अब धातु की प्लेट को चपड़े पर रख देते हैं—फ़ौरन् ही प्लेट के निचले भाग में धनात्मक विद्युत् तथा ऊपरी सतह पर ऋणात्मक विद्युत् आ जाती है। अब धातु की प्लेट को हाथ से छू देते हैं, अतः स्वतन्त्र ऋणात्मक विद्युत् शरीर में से होकर धरती में चली जाती है। तब काँच का हैन्डिल पकड़कर धातु की प्लेट को उठा लेते हैं और जिस वस्तु पर विद्युत् आरूढ कराना हुआ उससे इसे छुआ देते हैं। प्लेट को पुनः चपड़े पर रखकर पूर्ववत् उसमें धनात्मक विद्युत् का समावेश कराकर इसे उसी वस्तु से छुआकर उसमें और भी अधिक विद्युत् प्रविष्ट करा सकते हैं। यह क्रिया दुहराकर धीरे-धीरे करके ढेर-सी विद्युत् उस वस्तु में प्रविष्ट करा देते हैं (दे० पृष्ठ २७४२ का चित्र)।

प्रयोगशालाओं मे अत्यधिक परिमाण मे विद्युत् उत्पन्न करने के लिये व्हिमशर्स्ट मशीन का प्रयोग होता है (दे० पृष्ठ २७४५ का चित्र)। इस मशीन में काँच की दो वृत्ताकार प्लेटें लगी होती हैं, जो ऊर्ध्व धरातल में प्रतिकूल दिशाओं में एक ही हैन्डिल द्वारा घुमायी जा सकती हैं। प्रत्येक प्लेट की बाहरी सतह पर समान दूरी पर धातु की पत्तियाँ चिपकाई हुई रहती हैं तथा दोनों ओर पीतल की छड़ की भुजाएँ लगी होती हैं, जिनके सिरों पर तार के गुच्छे होते हैं जो प्लेट को छूते रहते हैं। ये भुजाएँ लगभग एक दूसरे से समकोण बनाती हैं। बगल में दोनों ओर धातु के कंघे लगे होते हैं, जिनके दाँत दोनों प्लेटों को बाहर से घेरे रहते हैं। ये कंघे मशीन के ढाँचे को छूते नहीं हैं। प्रत्येक कंघा एक-एक लीडन-जार से सम्बद्ध रहता है तथा कंघों से ही धातु की दो टेढ़ी छड़ें ऊपर को जाती हैं, जहाँ उनके सिरे गोल घुण्डियाँ बन जाते हैं।
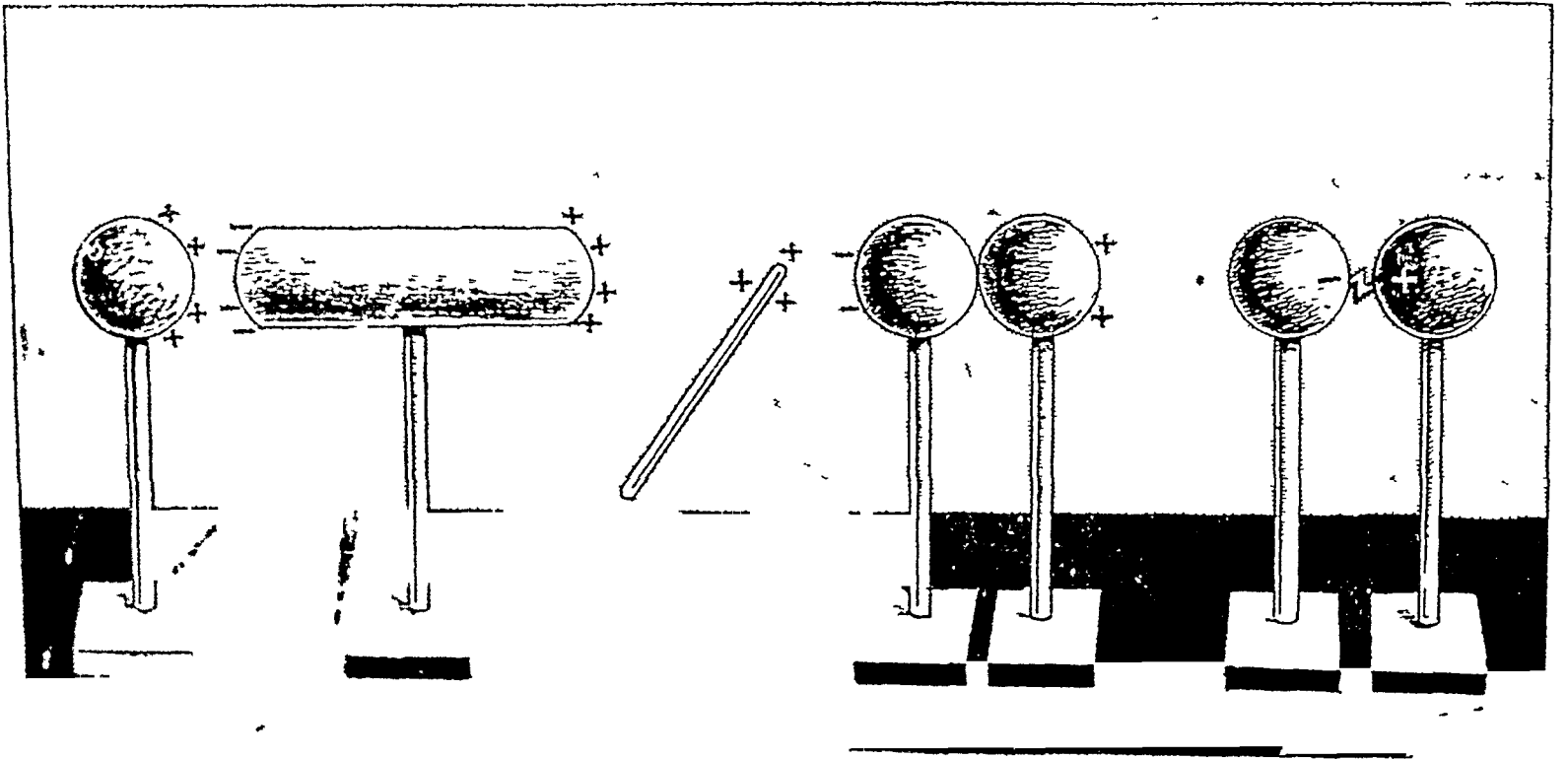
टिन से मढ़े लकड़ी के एक गेंदनुमा पिंड को मोम के एक चौकोर आधार पर खड़ा करके धनात्मक विद्युत् से आविष्ट कर लीजिए और तब उसे इसी प्रकार के एक अन्य लंबाकार पिण्ड के समीप ले जाइए। आप देखेंगे कि बिना छुआए ही, केवल उपपादन की क्रिया द्वारा, यह दूसरा पिंड भी विद्युताविष्ट हो जाता है—उसका निकट का सिरा विपरीत या ऋणात्मक विद्युत् से और दूरस्थ सिरा समान या धनात्मक विद्युत् से आरूढ हो जायगा। चित्र के बाएँ भाग में यही बात दिग्दर्शित की गई है। दाहिनी ओर यह दिखाया गया है कि यदि ऐसे दो पिंड एक-दूसरे से सटाकर रखे जाएँ और तब धन-विद्युत् से आविष्ट काँच का एक डंडा उनमें से एक की बाजू के समीप लाया जाय तो वह बाजू तो ऋणात्मक विद्युत् से, पर साथ ही इस युगल जोड़ी की दूसरी बाजू धनात्मक विद्युत् से आविष्ट पाई जाएगी। अब यदि डंडा हटा लिया जाय और सटे हुए दोनों पिंड एक-दूसरे से अलग कर लिए जाएँ तो एक पिंड ऋणात्मक विद्युत् से युक्त पाया जायगा और दूसरा धनात्मक से। पुनः यदि ये दोनों पिंड एक-दूसरे के संस्पर्श में लाए जाएँगे तो उनके बीच एक चिनगारी पैदा होते देखी जायगी।

कल्पना कीजिए कि घर्षण के कारण सामनेवाली प्लेट की एक पत्ती पर थोडी धनात्मक विद्युत् मौजूद है। जब यह बाईं ओर घूमेगी, तब यह पिछली प्लेट की उस पत्ती के सामने आएगी जो कि पीछे की धातुवाली भुजा के गुच्छे के स्पर्श मे है। अतः तुरन्त पीछे वाली प्लेट की इस पत्ती में उपपादन द्वारा ऋणात्मक विद्युत् का प्रवेश होगा और भुजा के दूसरे छोर के स्पर्श में आनेवाली पत्ती में धनात्मक विद्युत् प्रकट होगी। अब दोनों प्लेटें ज्यों-ज्यों घूमती हैं, बाएँ कंघे में धनात्मक विद्युत् इकट्ठी होती जाती है और दाहिने कंघे मे ऋणात्मक विद्युत्।

फिर सामनेवाली भुजा का एक गुच्छा ऋणात्मक विद्युत् वाली पत्ती के सामने आता है और दूसरा गुच्छा धनात्मक वाली पत्ती के। ऊपर वाले गुच्छे के स्पर्श मे आनेवाली पत्ती मे धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है और नीचे वाले गुच्छे के स्पर्श में आने वाली पत्ती मे ऋणात्मक विद्युत्। और ये ही धातु के कंघों द्वारा एकत्रित की जाती हैं। इस प्रकार जिस वक्त प्लेटें घूमती हैं, सामने वाली प्लेट के ऊपरी भाग की तमाम पत्तियों में और पीछेवाली प्लेट के निचले हिस्से की तमाम पत्तियों में धनात्मक विद्युत् रहती है और शेष पत्तियों मे ऋणात्मक विद्युत्, जो दाहिने कंघे मे एकत्रित होती है। कंघों से विद्युत् दोनों लीडन जारों में जाकर सञ्चित होती है। लीडन जार का गुण यह है कि ढेर सी विद्युत् इसमे सञ्चित की जा सकती है। लीडन जार वास्तव में एक चौड़े मुँह की काँच की बोतल होती है, जिसकी दीवालों की बाहरी और भीतरी सतह पर टिन की पत्ती कुछ दूर तक चढी होती है (दे० पृष्ठ २७४३ का चित्र)। उसके लकड़ी के ढक्कन में से पीतल की छड़ गुजरती है, जिसके निचले भाग से एक पीतल की ज़ंजीर लटकती रहती है और यह जंजीर टिन की पत्ती को छूती है। लीडन जार मे विद्युत् सचित करने के लिए इसकी पीतल की घुण्डी को तार द्वारा ह्विमशर्स्ट मशीन के कघे से सम्बद्ध कर देते हैं और जार के बाहरी टिन की सतह को हाथ से पकडे रहते हैं ताकि उसका सम्बन्ध धरती से हो जाय। विद्युत् भर जाने पर एक चिमटेनुमा यत्र से लीडन जार की घुण्डी और बाहरी सतह की टिन को एक दूसरे से सम्बद्ध करने पर विद्युत चिनगारी और साथ ही कडक की आवाज उत्पन्न होती है। लीडन जार की विद्युत् अब विनष्ट हो चुकी होती है।

ह्विमशर्स्ट मशीन में लीडन जार लगाने का तात्पर्य यह है कि मशीन की ऊपरवाली घुंडियों के बीच चिनगारी उस वक्त तक नहीं उत्पन्न होती जब तक कि दोनों ओर के लीडन जारों में पर्याप्त मात्रा में विद्युत् संकलित न हो जाय। यदि लीडन जार न लगाये जायँ तो मशीन की घुंडियों पर अधिक मात्रा में विद्युत् एकत्रित नहीं हो पाती, अतः चिनगारी भी लम्बी नहीं उत्पन्न होती।

ह्विमशर्स्ट मशीन द्वारा उत्पन्न विद्युत् चिनगारियों को देखकर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि आकाश में कौंधनेवाली विद्युत् भी क्या वास्तव में प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई विद्युत् सदृश ही है? सन् १७५२ में सुप्रसिद्ध अमेरिकन बेन्जेमिन फ्रैन्कलिन ने एक साहसपूर्ण प्रयोग इस सिलसिले में किया था। रेशम की पतग बनाकर उसके सिरे पर पतले तार का छोटा टुकड़ा उसने लगा दिया और तब सूत की डोर में, जिसमें उसने पतंग बाँधा था निचले छोर पर उसने लोहे की एक चाभी बाँधी और वहाँ पर रेशमी फ़ीते को बाँधकर उस फीते को हाथ में पकड़कर ऊँचे आकाश में उसने पतग उड़ाया। उसने अपने इस प्रयोग के लिए ऐसा समय चुना जब कि आकाश में बिजली चमक रही थी। पानी बरस जाने पर जब डोर गीली हो गई तब चाभी के निकट उँगली ले जाने पर उसे एक जबर्दस्त झटका मिला और नन्हीं-सी चिनगारी उत्पन्न हुई (दे० पृष्ठ २७३८ का ऊपरी चित्र)। इस प्रयोग ने निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया कि आकाश की बिजली भी प्रयोगशाला की विद्युत् की तरह ही है।

इस नवीन अनुसन्धान से प्रभावित होकर दूसरे ही साल एक फ्रेंच विद्वान् डा० रोमास ने इसी तरह का एक और प्रयोग दुहराया, किन्तु उसकी पतग का क्षेत्रफल काफ़ी ज़्यादा था तथा सूत की डोर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसने एक बारीक तार बट दिया था। अच्छे मौसम में जब कि न पानी बरस रहा था और न आकाश में बिजली ही चमक रही थी, उसने अपनी पतंग ऊँचे बादलों के बीच उड़ाई। लेकिन डोर को उसने लोहे की एक कील मे बाँध दिया। थोड़ी देर में बडे जोर का धड़ाका हुआ, बिजली की चमक उत्पन्न हुई और कील के नीचे जमीन में एक सूराख बन गया। थोड़ी देर में पतग जमीन पर गिरी तो जिस किसी ने डोर को छुआ उसे ही जबर्दस्त धक्का (शॉक) लगा (दे० पृष्ठ २७३८ का निचला चित्र)। डा० रोमास के इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि जिस वक्त बिजली आसमान में नहीं भी चमकती होती है उस वक्त भी बादल विद्युत्मय रहते हैं क्योंकि पतग और उसकी डोर में बादलों में से ही विद्युत् का समावेश हुआ था।

जब कोयला जलता है

कार्बन के पूर्ण और अपूर्ण दहन द्वारा क्रमशः उत्पन्न होनेवाली कार्बन डाइऑक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों की कथा।[१]

यह आपको बताया जा चुका है कि अन्य अनेक तत्त्वों की भाँति जब कोयला अथवा कार्बन का कोई अन्य रूप हवा अथवा ऑक्सिजन मे जलता है तो वह अपनी ऑक्साइडों मे परिवर्तित हो जाता है। ऑक्सिजन के पर्याप्त परिमाण में वह कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) गैस, और अपर्याप्त परिमाण में कार्बन मोनॉक्साइड (CO) गैस में परिणत होता है। कार्बन मोनॉक्साइड के अणु में ऑक्सिजन के एक और परमाणु से संयुक्त होने की क्षमता होती है, अतएव यह गैस प्रज्वलनशील होती है, और हवा अथवा ऑक्सिजन में जलकर डाइऑक्साइड में बदल जाती है। कार्बन मोनॉक्साइड गैस वास्तव मे अधजला कोयला होती है। कार्बन डाइऑक्साइड गैस अदाह्य होती है, कारण उसमें कार्बन अपनी संयोजन-शक्ति भर ऑक्सिजन से संयुक्त हो चुका है। इन तीनों रासायनिक क्रियाओं अर्थात् कार्बन से कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन से कार्बन मोनॉक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड से कार्बन डाइऑक्साइड के उत्पादनों में शक्ति का तापरूप में उद्भव होता है। इसी ताप को हम नाना प्रकार से प्रयुक्त करते हैं।

ऑगीठी में कोयला कैसे जलता है

(१) कार्बन और ऑक्सिजन के संयोग से बनती हुई कार्बन डाइऑक्साइड गैस; (२) कार्बन पर कार्बन डाइऑक्साइड की क्रिया से बनती हुई कार्बन मोनॉक्साइड गैस; (३) हवा मे नीली लौ के साथ जलकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्तित होती हुई कार्बन मोनॉक्साइड।

जब ऑगीठी में कोयला जलता है तो, हलकी गर्म हवा के ऊपर उठते रहने के कारण, ताजी हवा नीचे के द्वार से उसमें प्रविष्ट होती रहती है। यह हवा जब सबसे नीचे वाले अंगारों के संसर्ग में आती है तो कार्बन डाइऑक्साइड गैस बनती है—

$$C + O_2 = CO_2$$
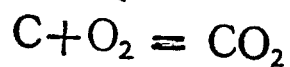
यह कार्बन डाइऑक्साइड ऊपर के अंगारों द्वारा कार्बन मोनॉक्साइड में अवकृत हो जाती है—

$$CO_2 + C = 2CO$$
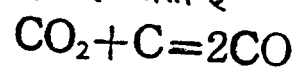
और यह कार्बन मोनॉक्साइड ऊपर निकलकर जैसे ही हवा के संसर्ग में आती है, जलकर फिर कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत हो जाती है—

$$2C + O_2 = 2CO_2$$

ऑगीठी मे अंगारों के ऊपर जो नीली ज्वालाएँ दिखाई

पड़ती हैं वे जलती हुई कार्बन मोनॉक्साइड की ही होती हैं। इस प्रकार कोयला डाइऑक्साइड में परिणत होता हुआ हवा में मिलता रहता है, और इस परिवर्त्तन में जिस ताप का उत्पादन होता है वही कोयले के टुकड़ों को रक्त-तप्त रखता है और पानी उबालने, भोजन पकाने, आदि के कामों में लाया जाता है।

कार्बन का कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्त्तन प्रकृति में नाना प्रकार से निरन्तर हुआ करता है। भोजन से संयुक्तावस्था में प्राणियों के रक्त में परिक्षीण तंतुओं के रूप में पहुँचनेवाले कार्बन का मन्द दहन साँस द्वारा बराबर होता रहता है, और इस प्रकार बनी हुई कार्बन डाइऑक्साइड फेफड़ों से बाहर निकलकर हवा में मिलती रहती है। प्राणियों को अपने शरीर की गर्मी और कार्यशक्ति इसी दहन से मिलती है (दे० पृ० १६)। अँगीठी, चूल्हा, भट्ठी, आदि जहाँ-कहीं भी आपको कोयला अथवा लकड़ी अथवा कोई भी कार्बनिक पदार्थ मुक्त हवा में जलता हुआ दिखाई दे तो समझ लीजिए कि जलनेवाली वस्तु का कार्बन ताप उगलता हुआ कार्बन डाइऑक्साइड गैस में बदल रहा है, और यह गैस हलकी गर्म हवा के साथ ऊपर उठती हुई हवा में मिलती जा रही है। हवा में पड़ा हुआ कोयला भी मंद दहन द्वारा, अर्थात् बहुत ही धीरे-धीरे ऑक्सीकृत होकर, कार्बन डाइऑक्साइड में बदलता रहता है। कोयले के जलने के अलावा जीव-पदार्थों के मंडीकरण अथवा सड़ने, तथा चूना बनाने की विधियों में
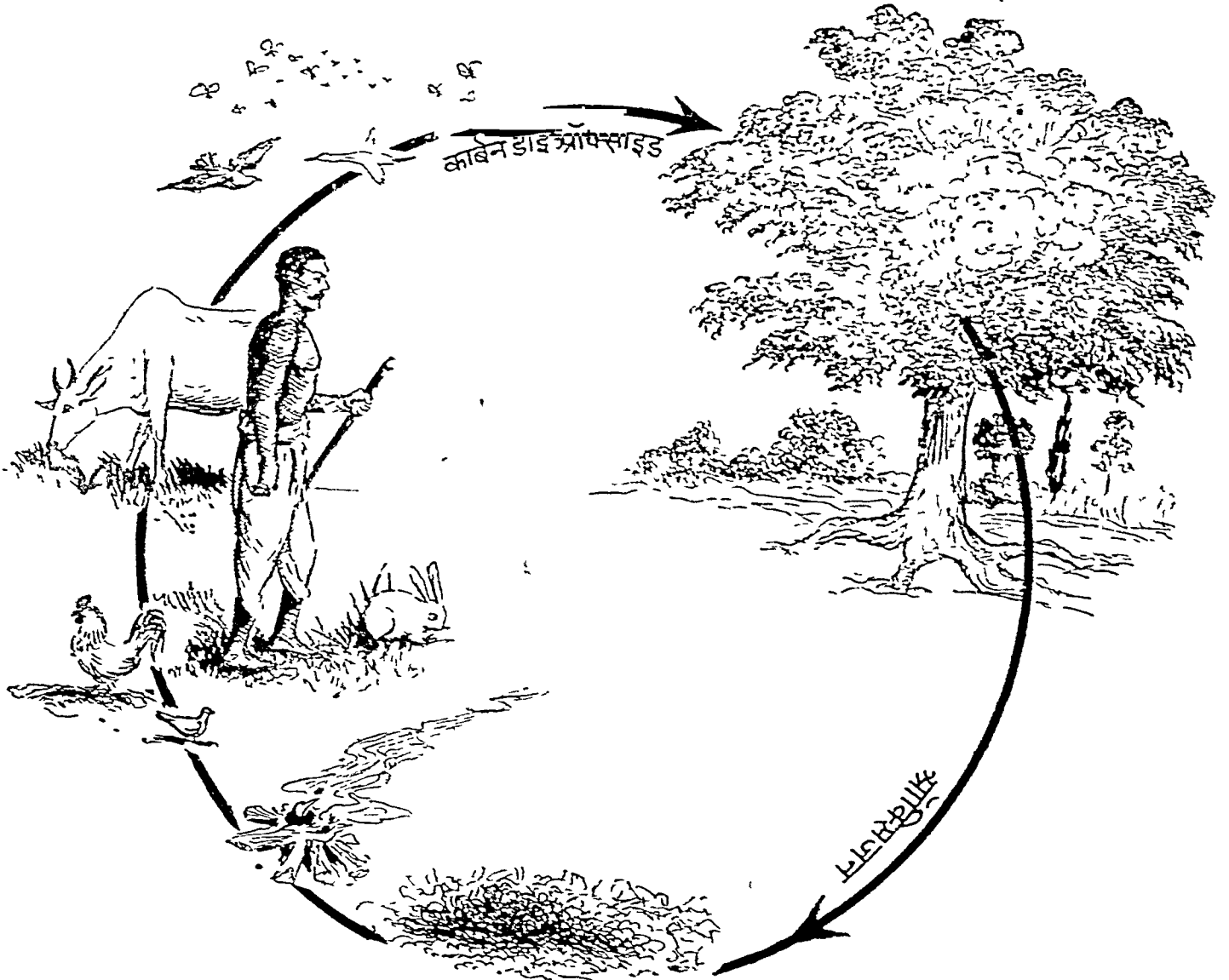
हवा में कार्बन डाइऑक्साइड चक्र

कार्बनिक पदार्थ के सड़ने, जलने अथवा प्राणियो की साँस द्वारा ऑक्सीकरण से बनती हुई कार्बन डाइऑ[illegible]इड को पेड़-पौधे अपनी पत्तियो द्वारा शोषित करते रहते हैं, और कार्बन को अपने कलेवरों के निर्माण के लिए रोककर ऑक्सिजन गैस निकालते रहते हैं। यह चक्र हवा में निरंतर परिचालित होता रहता है।
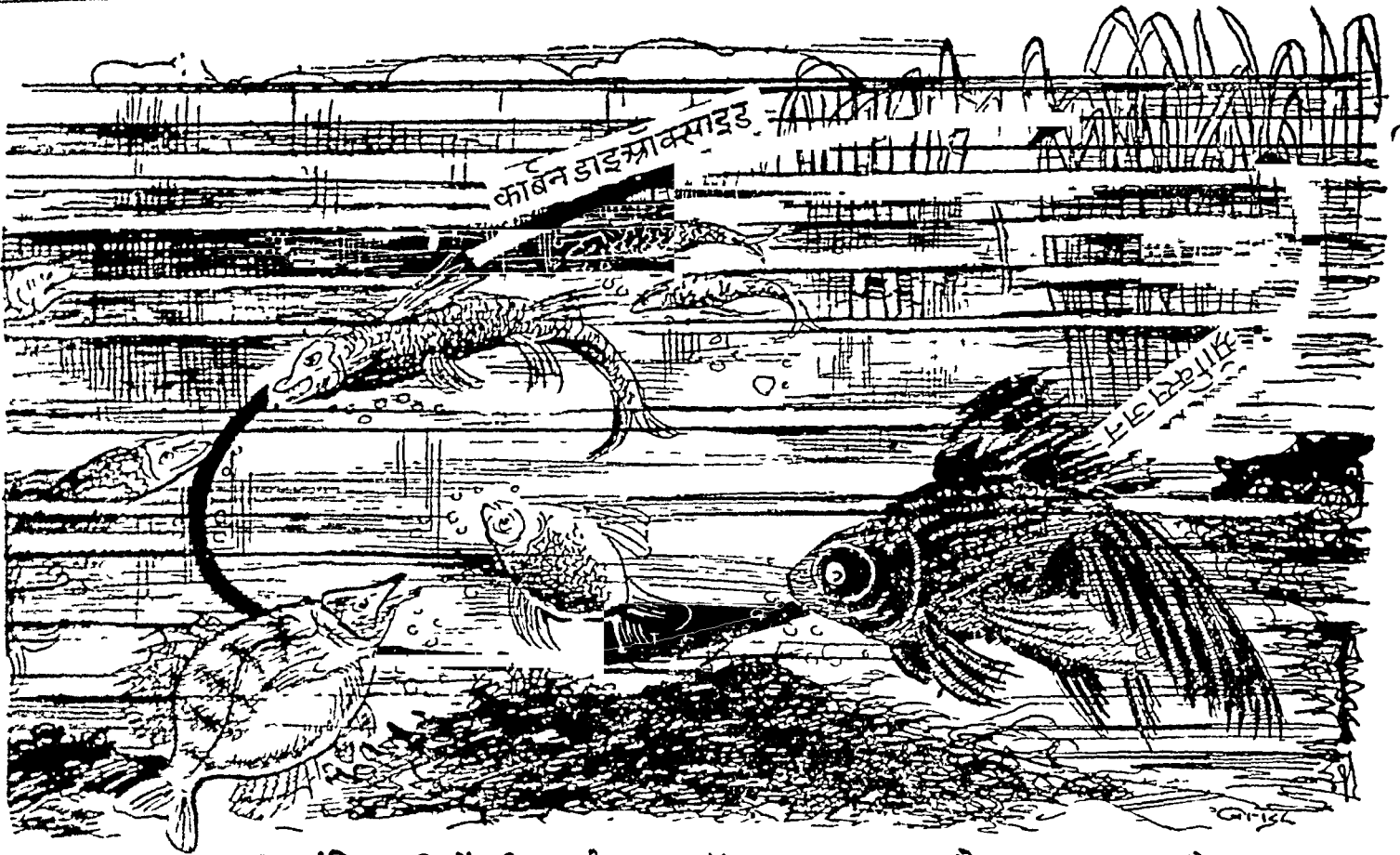
हवा की भाँति पानी में भी कार्बन डाइऑक्साइड चक्र सदैव चला करता है

कंकड़ अथवा चूने के पत्थर के फूँकने में भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकलती और हवा में मिलती रहती है। कहीं-कहीं भू-विवरों से भी यह गैस बड़े परिमाणों में निकलती रहती है।

कार्बन डाइऑक्साइड चक्र

यदि इस प्रकार कार्बन डाइऑक्साइड गैस हवा में मिलती रहे, और हवा में ऑक्सिजन का अंश, इसके कार्बन डाइऑक्साइड में बदलते रहने के कारण, घटता रहे, तो शीघ्र ही सारे प्राणियों का दम घुट जाय! वास्तव में जितना कार्बन, जो वनस्पति-कलेवरों से ही निकला हुआ होता है, ऑक्सीभूत होकर हवा में मिलता रहता है, उतना ही कार्बन हवा की कार्बन डाइऑक्साइड से वनस्पति-कलेवरों में लौटता भी रहता है। हम पहले ही लेख (पृ० २०) में बता चुके हैं कि पेड़-पौधों की पत्तियाँ किस प्रकार अपने क्लोरोफ़िल यंत्र तथा सूर्य-प्रकाश की शक्ति द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड से अपने कलेवरों के लिए आवश्यक कार्बन निकालती रहती हैं। कार्बन और ऑक्सिजन के संयोग में शक्ति का उद्भव होता है, इसके विपरीत कार्बन डाइऑक्साइड के कार्बन और ऑक्सिजन में विच्छिन्न होने में शक्ति का शोषण आवश्यक होता है। यह शक्ति सूर्य-प्रकाश से मिलती रहती है। कार्बन डाइऑक्साइड की बनी हुई ऑक्सिजन पत्तियों के छिद्रों से उच्छ्वास द्वारा निकलकर हवा में लौटती रहती है। इस प्राकृतिक व्यवस्था को कार्बन डाइऑक्साइड का चक्र कहते हैं। इसके फलस्वरूप खुली हवा में कार्बन डाइऑक्साइड का अंश वही बना रहता है (दे० पृ० २६५६)। यह चक्र केवल हवा में ही नहीं, पानी में भी परिचालित होता रहता है। नाइट्रोजन चक्र (दे० पृ० १०६५) की भाँति इस चक्र में भी वनस्पति और प्राणिवर्गों में पूर्ण सहयोग स्थापित रहता है—पेड़ों द्वारा छोड़ी हुई ऑक्सिजन प्राणियों के लिए और प्राणियों द्वारा छोड़ी हुई कार्बन डाइऑक्साइड पेड़ों के लिए आवश्यक होती है।

जीवन और अग्नि को बुझा देनेवाली गैस

कार्बन डाइऑक्साइड गैस जीवन अथवा दहन की पोषक नहीं होती, इसलिए उसका अंश अधिक हो जाने पर हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो जाती है। वह हवा से ड्योढ़ी से भी कुछ अधिक भारी होती है, अतः विशेषकर गहरे अथवा बेहवादार स्थानों में हवा के नीचे की तहों मे वह कुछ समय तक इकट्ठी रह सकती है। पुराने गहरे अनुपयुक्त कुओं, घाटियों, गड्ढों, गुफाओं, आदि में, जहाँ जीव-पदार्थों के ऑक्सीकरण अथवा सड़ने के कारण भूविवरों या ज्वालामुखियों से निरंतर निकलते रहने के कारण कार्बन डाइऑक्साइड इकट्ठी होती रहती है, उसकी मात्रा इतनी अधिक और ऑक्सिजन की इतनी कम हो जाती है कि प्राणियों का दम शीघ्र ही घुट जाता है (दे० पृ० १४२८)।

कार्बन डाइऑक्साइड के वातावरण में प्रायः सभी हवा मे जलनेवाली वस्तुएँ अदाह्य हो जाती हैं, इसीलिए यह गैस आग बुझाने के काम मे लाई जाती है। आपने आग बुझाने के यन्त्रों को कतिपय स्थानों में दीवालों पर टँगे हुए देखा होगा। मजबूत धातु के, बहुधा शङ्कु के आकार के, एक पात्र में सोडियम बाइकार्बोनेट का एक गाढा घोल भरा रहता है। उसके अंदर सल्फ़्यूरिक ऐसिड से भरी हुई शीशे की एक नली लगी रहती है (पृ० २७५४ का चित्र)। काम पड़ने पर नीचे का लट्टू फर्श पर ज़ोर से ठोक दिया जाता है, जिससे उससे लगी हुई छड ऊपर की ओर बढकर शीशे की नली को तोड़ देती है। इस प्रकार सोडियम बाइकार्बोनेट और गधक का तेजाब मिल जाते हैं, और इन दोनों की रासायनिक प्रतिक्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड गैस जोर से निकलने लगती है—

$2NaHCO_3 + H_2SO_4$
सोडियम बाइकार्बोनेट, सल्फ़्यूरिक ऐसिड

$= Na_2SO_4 + 2H_2O + 2CO_2$
सोडियम सल्फ़ेट, पानी, कार्बन डाइऑक्साइड
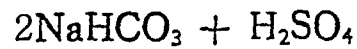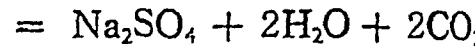
बुझाने के यन्त्र के मुख को खोलकर आग की ओर कर देने से कार्बन डाइऑक्साइड गैस, अधिक भारी होने के कारण, हवा को हटा देती है और जलती हुई वस्तु को ढककर उसे बुझा देती है।

फोमाइट नामक आग बुझाने के यन्त्रों में सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल के साथ 'लिकरिस' पौधे की जड़ों का रस अथवा कोई अन्य झाग को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ मिला रहता है, और एक लबे बेलन मे गधक के तेज़ाब की
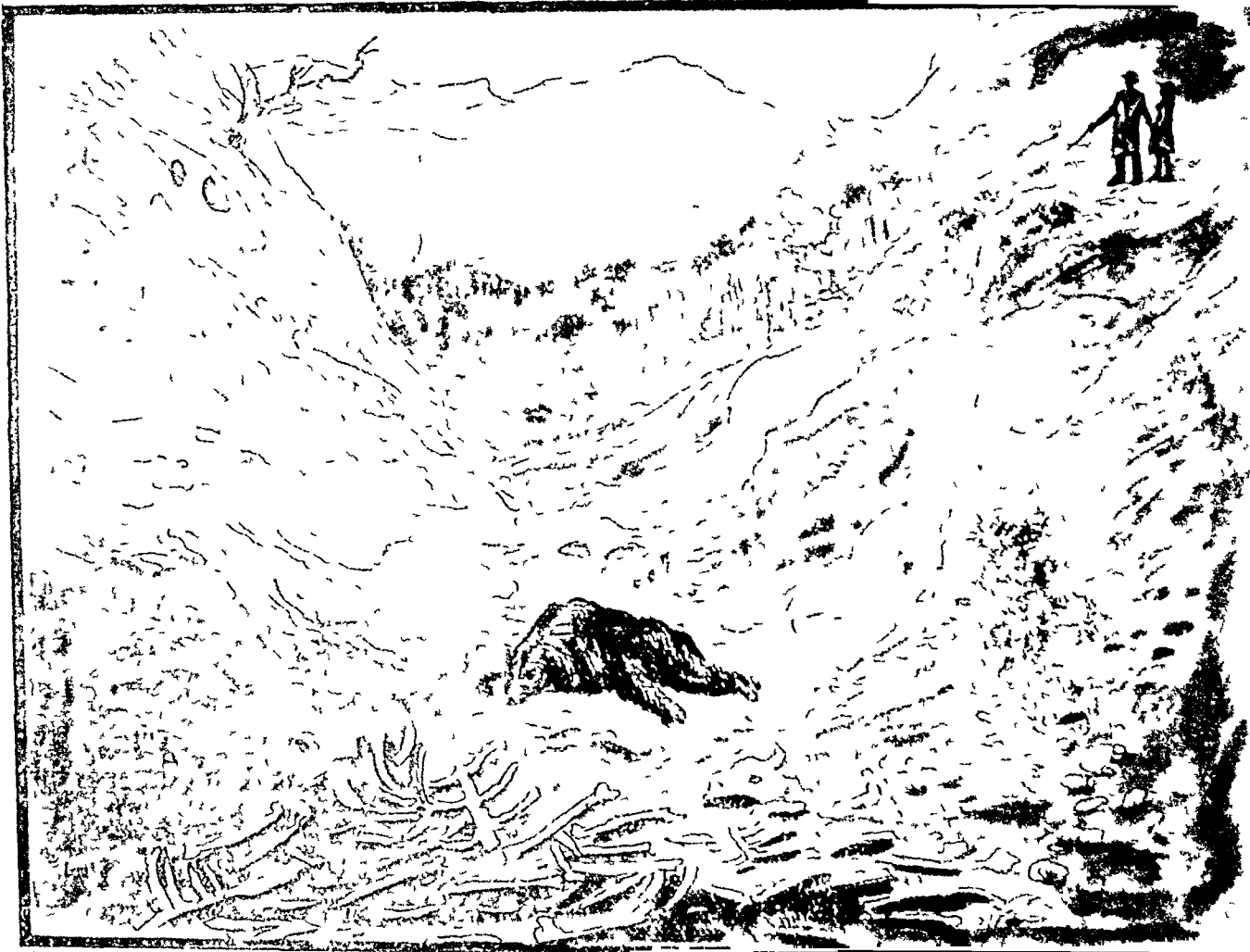
संयुक्त राज्य अमेरिका के येलोस्टोन पार्क की एक घाटी में भूविवरों से कार्बन डाइऑक्साइड निकलकर इकट्ठी होती रहती है। इस घाटी के अंदर पहुँच जानेवाले प्राणियो का दम शीघ्र ही घुट जाता है। इस प्रकार मरे हुए प्राणियों के अस्थि-पंजर उसमे पड़े रहते है। बहुधा रॉकी पर्वतमाला में रहनेवाले भूरे रीछ उसमे मरे पड़े हुए देखे गए है।
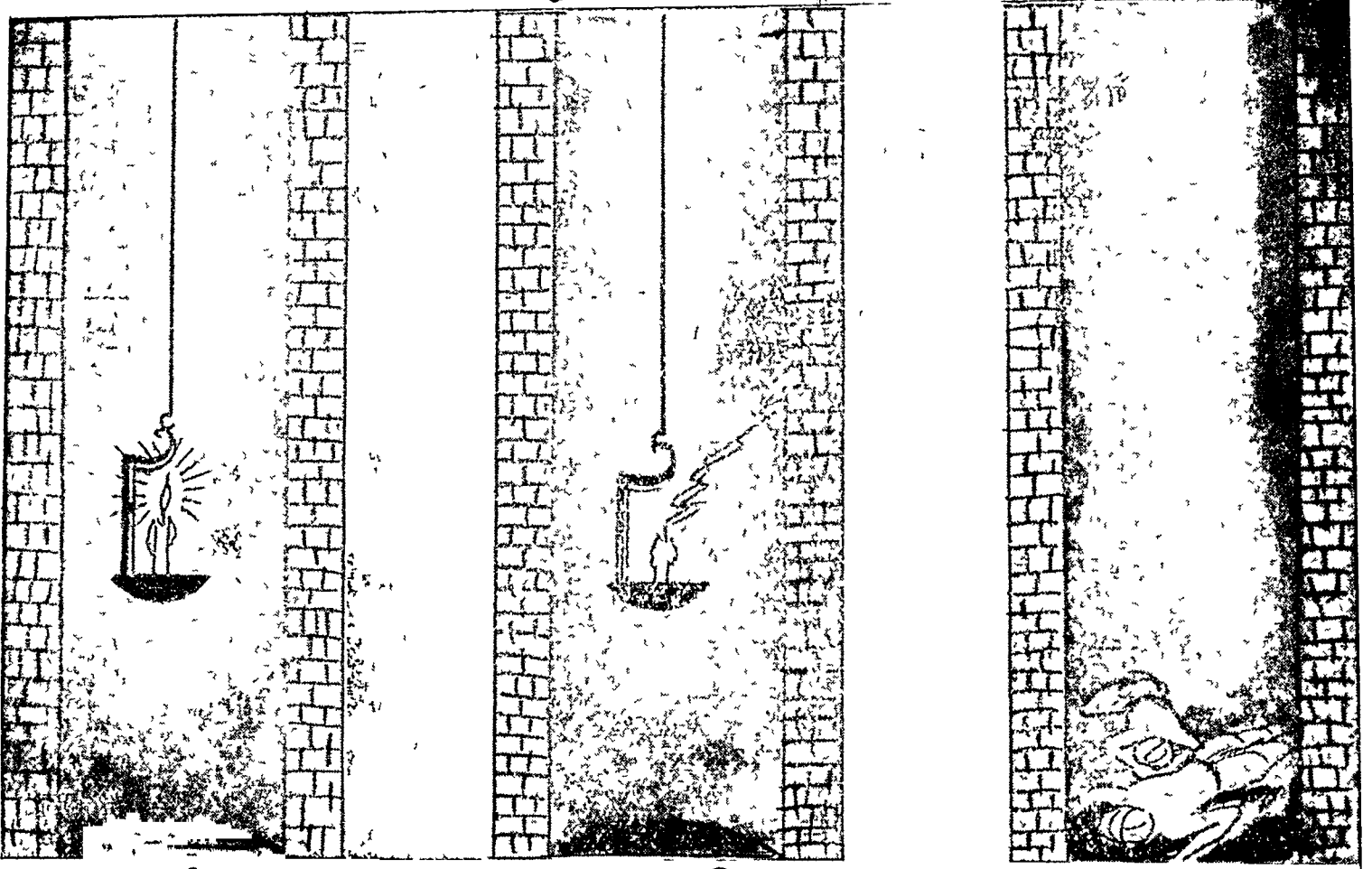
बहुत दिनों से बेकार पड़े हुए कुओं में पैठना ख़तरनाक होता है, कारण बहुधा उनमें कार्बन डाइऑक्साइड इकट्ठी हो जाती है। इनमें पैठने के पहले एक जलती हुई मोमबत्ती अथवा लैम्प को नीचे तक लटकाकर देख लेना चाहिए। यदि वह बुझ जाय तो उसमें तब तक न पैठना चाहिए जब तक पंप द्वारा उसकी हवा बदल न दी जाय, नहीं तो पैठनेवाला उसके अंदर जाकर बाहर जीता हुआ न लौटेगा!

जगह अलुमीनियम सल्फ़ेट का घोल भरा रहता है। अलुमीनिय सल्फ़ेट पर पानी की क्रिया से अलुमीनियम डाइऑक्साइड और सल्फ़्यूरिक ऐसिड का उत्पादन होता है; अतएव जब किसी यांत्रिक विधि से अलुमीनियम सल्फ़ेट का घोल सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल से मिला दिया जाता है, तो इस बाइकार्बोनेट के साथ सल्फ़्यूरिक ऐसिड की प्रतिक्रिया से सोडियम सल्फ़ेट और कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न होते हैं। सोडियम सल्फ़ेट घुलनशील होने के कारण घोल ही में रहता है, किन्तु अलुमीनियम हाइड्रॉक्साइड एक लबलबे अवक्षेप के रूप में पृथक् हो जाता है। अलुमीनियम हाइड्रॉक्साइड और लिकरिस के रस का मिश्रण कार्बन डाइऑक्साइड गैस से मिलकर झाग के रूप में बुझानेवाले यंत्र से जोर से निकलने लगता है। यह झाग जलती हुई वस्तु को मजबूती से ढककर आग को तुरंत बुझा देता है। तेल में लगी हुई आग को बुझाने में यह यंत्र बहुत ही सफल प्रमाणित हुआ है।

कार्बोनिक ऐसिड गैस

आपने देखा होगा कि जब सोडावाटर की बोतल खोली जाती है तो उसमें से एक गैस निकलती है। यह गैस कार्बन डाइऑक्साइड ही होती है। दबाव में यह गैस पानी में बहुत अधिक घुल जाती है, और दबाव के हटते ही उसमें से निकल पड़ती है। साधारण दबाव में ठण्डे पानी में उसी के आयतन के बराबर कार्बन डाइऑक्साइड घुल सकती है। पानी के साथ संयुक्त होकर वह कार्बोनिक ऐसिड में परिणत हो जाती है—

$$H_2O + CO_2 = H_2CO_3$$
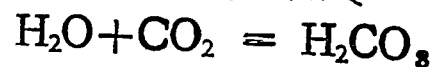
कार्बन डाइऑक्साइड की गणना इसीलिए अम्लीय ऑक्साइडों में होती है, और उसे कार्बोनिक ऐसिड गैस इसीलिए कहते हैं। अम्लीय ऑक्साइड वही है जो पानी में घुलकर किसी अम्ल को उत्पन्न कर दे। जिस पानी में काफ़ी कार्बन डाइऑक्साइड घुली होती है, उसका स्वाद खट्टा इसीलिए होता है। खनिज स्रोतों के पानी में भी कार्बन डाइऑक्साइड काफ़ी घुली होती है। कार्बोनिक अम्ल के अणु अस्थायी होते हैं। वे केवल घोल में ही रह सकते हैं। घोल को सुखाने अथवा गर्म करने अथवा उसके ऊपर के दबाव को कम करने से उपरोक्त क्रिया

पलट जाती है और कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकल जाती है।

कार्बोनिक ऐसिड गैस अपने अम्लीय गुण के कारण क्षारों को अपने लवणों कार्बोनेटों में परिणत कर देती है। सबसे प्रबल क्षार कास्टिक पोटाश के घोल में वह इस प्रकार पूर्णतः शोषित हो जाती है—

$$2\,KOH + CO_2 = K_2CO_3 + H_2O$$

कास्टिक पोटाश | कार्बन डाइऑक्साइड | पोटैशियम कार्बोनेट | पानी
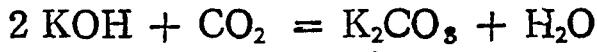
कास्टिक पोटाश इसीलिए उसे शोषित अथवा पृथक् करने के लिए व्यवहृत होता है। चूने के साथ होती हुई कार्बन डाइऑक्साइड की यह रासायनिक प्रतिक्रिया हमें अपने दैनिक जीवन में बहुधा दिखाई देती है।

कार्बन डाइऑक्साइड गैस और चूना

बहुत दिनों तक खुली हवा में रक्खे रहने से चूने की तेजी (क्षारीयता) इसीलिए नष्ट हो जाती है कि हवा की कार्बन डाइऑक्साइड उसे खड़िया-जैसी वस्तु—कैल्शियम कार्बोनेट—मे बदल देती है। चूने से आप लिख नहीं सकते, किंतु इस प्रकार बना हुआ कैल्शियम कार्बोनेट किसी पृष्ठ पर रगड़ने से खड़िया की भाँति सफेद निशान डालने लगता है। पिछले अंक मे हम बता चुके हैं कि खड़िया अति सूक्ष्म सामुद्रिक घोंघियों से बना हुआ कैल्शियम कार्बोनेट ही होती है।

आग बुझाने का एक यंत्र

कुछ दिन तक हवा में खुला हुआ रक्खे रहने देने से चूने के पानी (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड के घोल) पर एक सफेद पपड़ी जम जाती है। इस परिवर्त्तन में भी हवा की कार्बन डाइऑक्साइड की प्रतिक्रिया से कैल्शियम कार्बोनेट बनता है। यह पानी मे नही घुलता, और इसीलिए चूने के पानी और हवा के संसर्ग-पृष्ठ पर बनकर पपड़ी के रूप मे पृथक् होता है—

$$Ca(OH)_2 + CO_2 = CaCO_3 + H_2O$$
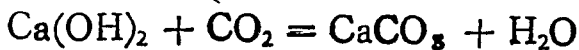
यही परिवर्त्तन दीवाल पर पुते हुए चूने पर भी होता है। ताजा पुता हुआ चूना रगड़ने से सफ़ेद निशान नहीं डालता, किन्तु कुछ ही दिन बाद वह, यदि उसमें पर्याप्त मात्रा मे गोंद अथवा सरेस नहीं मिला होता, खड़िया की भाँति छूटकर कपड़ों आदि में लगने लगता है।

थोड़े से साफ चूने के पानी को एक शीशे के गिलास में ले लीजिए और उसमें एक नली डालकर मुँह से फूँकिए। आप देखेंगे कि चूने का पानी दूधिया रंग का हो जाता है। यह परिवर्त्तन भी उपर्युक्त रासायनिक क्रिया के कारण होता है। कैल्शियम कार्बोनेट के पृथक् होते हुए सफ़ेद कण चूने के पानी को दूधिया रंग का कर देते हैं (दे० पृ० १३८)। कार्बन डाइऑक्साइड को पहचानने के लिए इसी रासायनिक क्रिया का व्यवहार हुआ करता है।

किसी चौडे मुँह की बोतल में मोमबत्ती का एक छोटा-सा जलता हुआ टुकड़ा दीप-चमची पर रखकर अथवा तार की सहायता से अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रविष्ट कीजिए। थोडी ही देर में मोम के जलने से बनकर इकट्ठी होती हुई कार्बन डाइऑक्साइड गैस उसे बुझा देगी। अब उस मोमबत्ती को निकाल लीजिए और बोतल में थोड़ा चूने का पानी छोड़कर उसे बंद कर दीजिए। बोतल को ऊपर नीचे हिलाने से आप देखेंगे कि चूने का पानी दूधिया हो गया। यह इस बात का एक प्रमाण है कि मोमबत्ती के जलने से बननेवाले पदार्थों मे से कार्बन डाइऑक्साइड भी एक है।
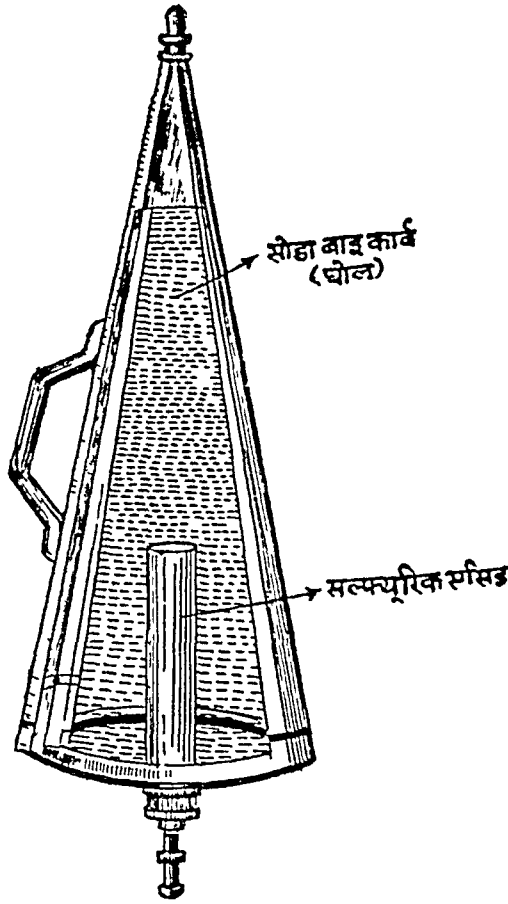
यदि आप चूने के पानी मे देर तक मुँह से फूँकते रहे, तो देखेंगे कि चूने का पानी रंगहीन से दूधिया होकर फिर दूधिया से रंगहीन होने लगता है। इसका कारण यह है कि कैल्शियम कार्बोनेट कार्बोनिक ऐसिड से संयुक्त होकर कैल्शियम बाइकार्बोनेट में परिवर्तित होने लगता है, और यह घुलनशील होता है—

$$H_2O + CO_2 = H_2CO_3$$

$$CaCO_3 + H_2CO_3 = Ca(HCO_3)_2$$
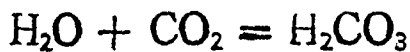
वास्तव में, बाइकार्बोनेट में कार्बोनेट से दुगुनी कार्बन डाइऑक्साइड रहती है। आग बुझाने के यंत्रों में सोडियम बाइकार्बोनेट इसीलिए व्यवहृत होता है।

यदि आप दूधिया से फिर साफ़ हो गए हुए इस चूने के पानी को गर्म करें, तो देखेंगे कि वह फिर दूधिया हो जाता है। कारण यह है कि बाइकार्बोनेट अस्थायी होते हैं। घोल को गर्म करने अथवा सुखाने से उपर्युक्त प्रतिक्रिया पलट जाती है, और अघुलनशील कैल्शियम कार्बोनेट अवक्षिप्त हो जाता है—

$$Ca(HCO_3)_2 = CaCO_3 + H_2O + CO_2$$

पानी को उबालने से उसकी अस्थिर कठोरता का निकल जाना (दे० पृ० ५४१) और कतिपय गुफाओं में पाषाण-स्तंभों का बनना (दे० पृ० ५४४) इसी विच्छेदन के कारण सभव होता है।

कार्बोनिक ऐसिड के लवण—कार्बोनेट

खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट), धोनेवाला सोडा (सोडियम कार्बोनेट) अथवा खानेवाला सोडा (सोडियम बाइकार्बोनेट), आदि कोई भी कार्बोनेट लवण थोड़ा-सा ले लीजिए; और उस पर नींबू का रस, सिरका, नमक का तेज़ाब, गंधक का तेजाब, आदि कोई अम्ल छोड़िए। आप देखेंगे कि बुदबुदे उठने लगते हैं, और बुदबुदों का उठना किसी गैस के निकलने का द्योतक होता है। वास्तव मे किसी भी कार्बोनेट पर तेजाब छोड़ने से उस तेज़ाब के लवण, पानी और कार्बन डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन होता है। किसी धातु का कार्बोनेट उसकी भास्मिक ऑक्साइड और कार्बोनिक ऐसिड गैस के संयोग से बना होता है। अतएव उस पर तेज़ाब छोड़ते ही धातु की ऑक्साइड पर उसकी क्रिया द्वारा लवण और पानी का उत्पादन होता है, और कार्बन डाइऑक्साइड गैस अधिक वाष्पशील होने के कारण निकल जाती है। भास्मिक ऑक्साइड उस धातव ऑक्साइड को कहते हैं, जिसकी अम्लों के साथ रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा लवण और पानी उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, कैल्शियम कार्बोनेट ($CaCO_3$ अथवा $CaO.CO_2$) कैल्शियम ऑक्साइड और कार्बन डाइऑक्साइड के योग से बना होता है। उस पर नमक का तेज़ाब छोड़ने से कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकल जाती है, और कैल्शियम क्लोराइड और पानी रह जाते हैं—

$$CaCO_3 + 2HCl = CaCl_2 + H_2O + CO_2$$
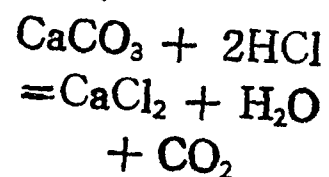
प्रयोगशाला मे कार्बोनेट की पहचान परीक्षा-नली में शुष्क पदार्थ को लेकर उसमें नमक अथवा गंधक का हलका तेजाब डालकर होती है। यदि गैस के बुदबुदे उठते हैं, और गैस रगहीन और गंधहीन होती है और चूने के पानी से मिलाने पर उसे दूधिया कर देती है, तो वह लवण कार्बोनेट मान लिया जाता है।

गैसोत्पादक पेयों में
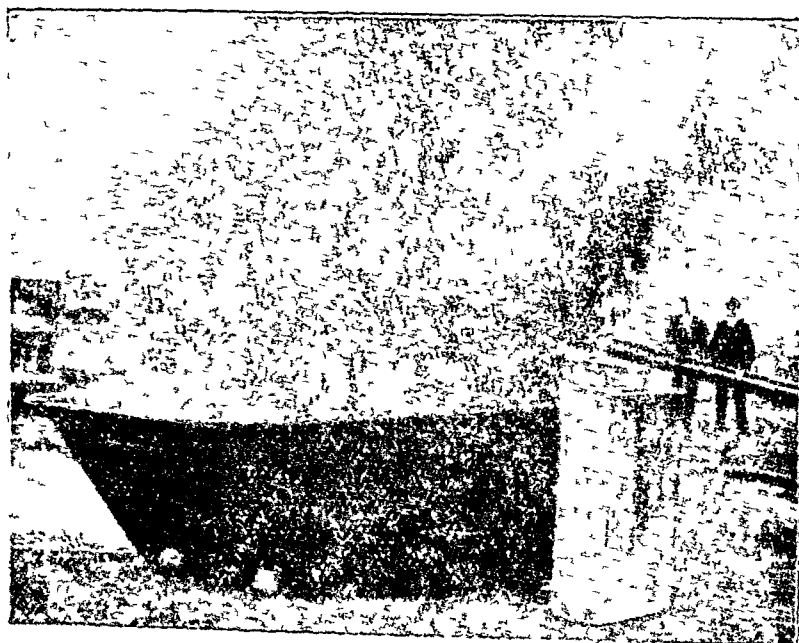
इस टैंक में भरे हुए पेट्रोल में आग लग गई है!

आग बुझाने के फ़ोमाइट नामक यंत्र द्वारा वही पेट्रोल में लगी आग बुझा दी गई है! देखिए, फ़ोमाइट के झाग ने किस प्रकार तेल को आच्छादित कर लिया है!

(खानेवाला सोडा), मैग्नीशियम कार्बोनेट, मैग्नीशियम सल्फेट, साइट्रिक ऐसिड (नींबू का अम्ल) और टार्टरिक ऐसिड (इमली का अम्ल) चूर्ण रूप में मिले रहते हैं। पानी डालते ही दोनों अम्ल घुलकर कार्बोनेटों पर आक्रमण करते हैं, और कार्बन डाइऑक्साइड निकलने लगती है। इस प्रकार बने हुए साइट्रेड और टार्ट्रेट लवण शरीर की अम्लीयता को दूर कर देने, और मैग्नीशियम सल्फेट, हलका जुलाब होने के कारण, पेट को साफ करने में सहायक होते हैं। ऐसे गैसोत्पादक चूर्णों को ठोस रूप में कभी न खाना चाहिए, कारण पेट में कार्बन डाइऑक्साइड के भर जाने से मृत्यु तक हो सकती है।

रोटी पकाने के पाउडर में सोडियम बाइकार्बोनेट कतिपय अम्लीय लवणों, यथा पोटैशियम बाइटार्ट्रेट (क्रीम आफ टार्टार), के साथ मिला रहता है। गर्म करने पर ही पोटैशियम बाइटार्ट्रेट घुलता है और सोडियम बाइकार्बोनेट से कार्बन डाइऑक्साइड निकाल देता है। इस निकलती हुई गैस से रोटी फूलकर उठ आती है।

तैयारी और परीक्षा

प्रयोगशाला मे कार्बन डाइऑक्साइड गैस सगमरमर की चिपाकों अथवा पिसी हुई खड़िया पर नमक के तेजाब की क्रिया से लगभग उसी प्रकार तैयार की जा सकती है, जैसे जस्ता और गधक की तेजाब से हाइड्रोजन (दे० पृ० २७२)। अंतर केवल यह रहता है कि कार्बन डाइऑक्साइड घुलनशील होने के कारण पानी के ऊपर नहीं, किन्तु हवा से भारी होने के कारण हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस (दे० पृ० १६४६) अथवा क्लोरीन की भाँति हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी की जाती है।

घर पर भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस सरलता से और बिना किसी डर और खतरे के बनाई जा सकती है। इसके लिए आपको बाजार से शायद तीन ही वस्तुएँ खरीदनी पड़ेंगी—दो छेद वाली एक काग, जो किसी गोंददानी अथवा अन्य किसी चौड़े मुँह की बोतल के नाप की हो, एक थिसिल कीप, और समकोण में दो बार झुकी हुई शीशे की एक नली। काग में सूराख इतने ही चौडे हों कि एक में कीप और दूसरे में नली कसकर लग जाय। अब उस बोतल में सगमरमर के कुछ टुकडे अथवा पिसी हुई खड़िया ले लीजिए, और काग, कीप और नली इस प्रकार लगा दीजिए जैसा कि पृ० २७५७ के चित्र में प्रदर्शित है। थिसिल कीप से अब इतनी हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़िए कि उसका नीचे का सिरा ऐसिड में अच्छी तरह डूबा रहे। गैस को किसी चौड़े मुँह की बोतल अथवा
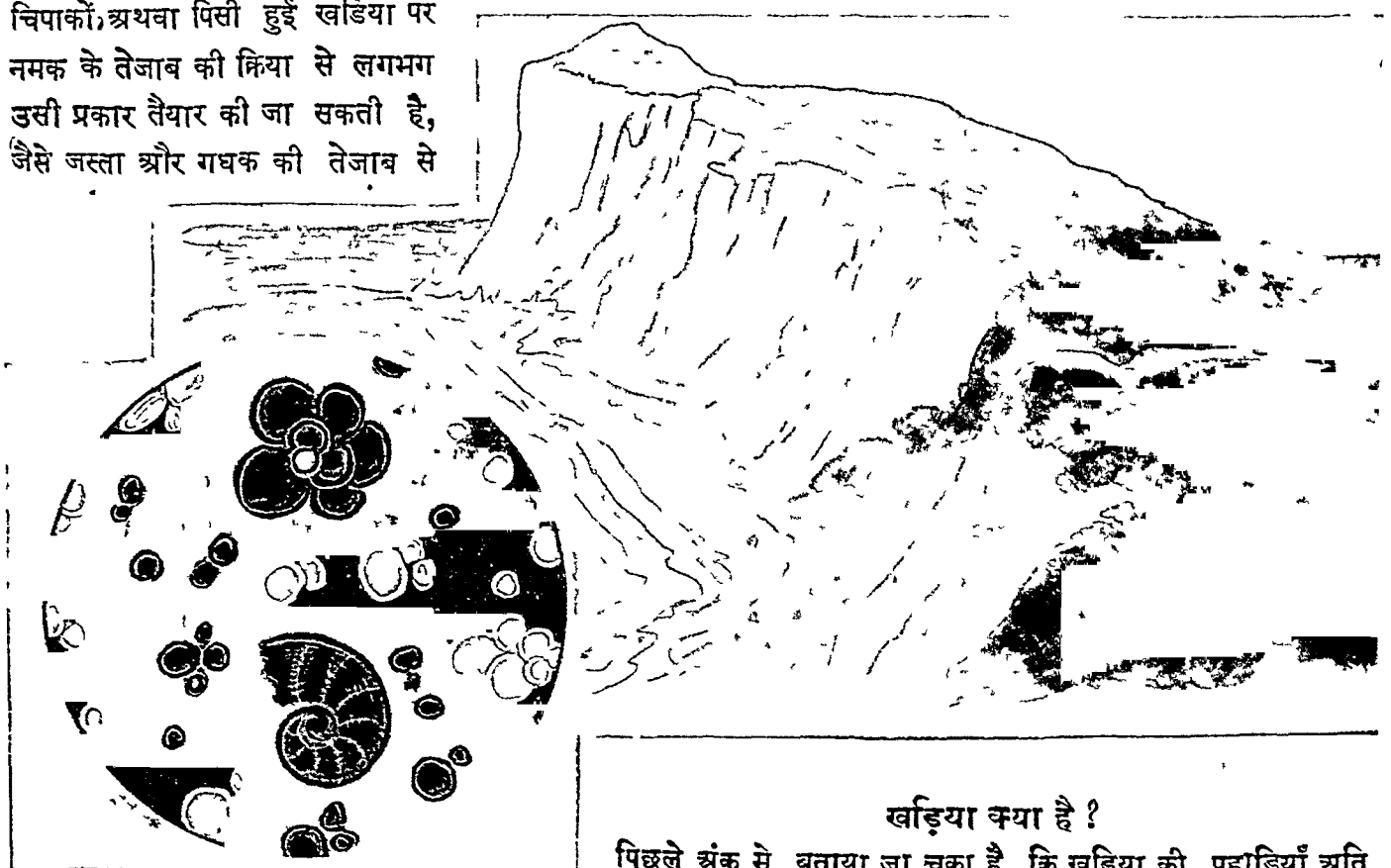
खड़िया क्या है ?

पिछले अंक मे बताया जा चुका है कि खड़िया की पहाड़ियाँ अति सूक्ष्म जल-प्राणियों की ठठरियो से बनी होती है। सूक्ष्मदर्शक द्वारा पता लगता है कि खड़िया के एक घन इंच में लगभग दस लाख ठठरियाँ रहती हैं। यह कैलिशयम कार्बोनेट की बनी होती हैं।

काँच के गिलास में इकट्ठा कीजिए। इसे गत्ते के एक चँदे द्वारा ढके रखिए, जिससे गैस हवा से सरलता से न मिल सके। यह जानने के लिए कि पात्र गैस से कब पूर्णतः भर जाता है, एक जलती हुई मोमबत्ती की लौ को उसके मुँह के खुले हुए सिरे की ओर ले जाइए। उसका बुझ जाना इस बात का संकेत होगा कि पात्र कार्बन डाइऑक्साइड गैस से भर गया। उससे शीशे की नली को गैसोत्पादक बोतल उठाकर निकाल लीजिए, और पात्र को चँदे द्वारा पूर्णतः ढक दीजिए। इस प्रकार जब तक गैस निकलती रहे, आप उससे कई पात्र भर सकते हैं।

एक जलती हुई दियासलाई, सीक अथवा मोमबत्ती को गैस भरे पात्र के अन्दर प्रविष्ट कीजिए। वह तुरन्त बुझ जायगी। एक जलती हुई मोमबत्ती पर गैस को उँड़ेलिए, वह बुझ जायगी। एक प्लेट पर थोड़ा-सा पेट्रोल अथवा मिट्टी के तेल से भीगी हुई रुई जलाइए। उस पर गैस को उँड़ेलते ही लौ बुझ जायगी। गैसभरे पात्र में एक चुहिया को छोड़िए। उसका दम तुरन्त घुट जायगा। थोड़ा चूने का पानी एक गैसभरे पात्र में डालिए, और उसे बन्द करके ऊपर-नीचे हिलाइए। चूने का पानी दूधिया हो जायगा। उसी दूधिया द्रव में गैस की निकास-नली का सिरा डुबा दीजिए। कुछ समय तक उसमें गैस बुलबुलाती रहने से वह फिर साफ़ हो जायगा। इस साफ़ द्रव को किसी पात्र में गर्म कीजिए, वह फिर दूधिया रंग का हो जायगा।

घर में कार्बन डाइऑक्साइड आप इस प्रकार तैयार कर सकते हैं।

यदि आपको मैग्नीशियम के फीते का एक टुकड़ा मिल सके तो उसे चिमटी से पकड़कर और जलाकर कार्बन डाइऑक्साइड गैस से भरे पात्र में प्रविष्ट कीजिए। वह सफ़ेद धुआँ और कुछ छोटे-छोटे काले टुकड़ों को निकालते हुए जलेगा (दे० पृ० १४०)। सफ़ेद वस्तु मैग्नीशियम ऑक्साइड होती है और काली वस्तु कार्बन—

$$CO_2 + 2\,Mg = 2\,MgO + C$$
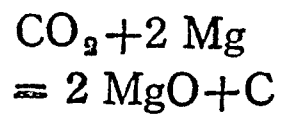
थोड़ी सी गर्म हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पात्र में डालिए और उसे बंद करके हिलाइए। मैग्नेशियम ऑक्साइड घुल जाता है, किन्तु कार्बन के टुकड़े नहीं घुलते। छान लेने से यह कार्बन अलग निकल आता है। कार्बन डाइऑक्साइड से कार्बन निकालने अथवा उसमें कार्बन की उपस्थिति को सिद्ध करने के लिए यह प्रतिक्रिया प्रयुक्त होती है।

मैग्नीशियम के अलावा ऑक्सिजनसे प्रबलता से संयुक्त होकर जलनेवाली धातुएँ सोडियम और पोटैशियम भी कार्बन डाइऑक्साइड में इसी प्रकार जलती हैं; लेकिन इनकी ऑक्साइडें प्रबल क्षारीय होने के कारण कार्बन डाइऑक्साइड से संयुक्त होकर कार्बोनेटों में परिणत हो जाती हैं।

तरल और ठोस कार्बन डाइऑक्साइड—सूखी बर्फ़

आजकल जहाजों में हिमीकरण के निमित्त अमोनिया (दे० पृ० १३०८-१३०९) के स्थान में कार्बन डाइऑक्साइड का उपयोग होता है। अमोनिया की तीक्ष्ण दुर्गन्ध यात्रियों को कष्टदायी होती है, अतएव यदि इसका व्यवहार होता

भी है तो इस बात की सावधानी रक्खी जाती है कि वह फैल न सके। नीचे तापक्रमों पर ऊँचे दबाव में संकुचित करने पर कार्बन डाइऑक्साइड गैस सरलता से द्रवीभूत की जा सकती है; यथा, बर्फ के तापक्रम (O°C) पर द्रवीभूत करने के लिए उसे वायुमंडल से लगभग ३४ गुने दबाव पर संकुचित करना पड़ता है। वायुमंडल के साधारण दबाव में वह लगभग – ८०°C पर द्रवीभूत होती है, अथवा यों कहिए कि तरल कार्बन डाइऑक्साइड – ८०°C पर उबलती है। कार्बन डाइऑक्साइड द्रव के वाष्पीकरण से ताप का शोषण अथवा शीत का उत्पादन – हिमीकरण – किया जाता है। जहाज के हिमीकरण-कक्ष में लगी हुई नलियों में अमोनिया अथवा कार्बन डाइऑक्साइड द्रव का वाष्पीकरण होता रहता है। ताप के शोषण के कारण वह अत्यन्त ठंडा बना रहता है, और उसमें रखकर मांस, मछली, अंडे, फल, आदि जल्दी सड़ जानेवाले पदार्थ बिना खराब हुए दूर देशों में भेजे जा सकते हैं।

जब तरल कार्बन डाइऑक्साइड सवेग वाष्पीभूत की जाती है तो वह स्वयं अत्यंत ठंडी होकर सफ़ेद बर्फ़ में जम जाती है। यह बर्फ़ एक मनोरंजक और उपयोगी वस्तु होती है। हवा में रखने से वह बिना पिघले ही गैस-रूप में उड़ जाती है। इसीलिए उसे 'सूखी बर्फ़' कहते हैं। वह अन्य घनीभूत गैसों की भाँति इतनी ठंडी होती है कि उसे कसकर पकड़ लेने से हाथ उसी प्रकार जल जाता है और उसमें फफोले पड़ आते हैं जैसे आग से! बगैर दबाए हुए वह बिना किसी डर के छुई जा सकती है; कारण, उसके और हाथ के बीच में कार्बन डाइऑक्साइड गैस का एक पर्त बना रहता है जो ताप का कुचालक होता है। आजकल सूखी बर्फ़ का उपयोग आइसक्रीम बनाने, मछलियों के पार्सलों को ठंडा रखने, आदि कामों में तथा रेलवे के हिमीकारक डब्बों में बहुत होने लगा है। अतः व्यापारिक उपयोगिता के कारण उसका निर्माण बड़े परिमाणों में होने लगा है।

प्राणघातक विष—कार्बन मोनॉक्साइड गैस

हवा में सामान्यतः कार्बन मोनॉक्साइड नहीं होती, क्योंकि अस्थायी होने के कारण वह ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत हो जाती है। वह ऐसे ही स्थानों में उत्पन्न हो सकती है, जहाँ कार्बन का अपर्याप्त हवा में ऑक्सीकरण हो रहा हो। बहुधा समाचार मिलते हैं कि कतिपय व्यक्ति ठंड से बचने के वास्ते बंद कमरे में अँगीठी जलाकर सो गए और दूसरे दिन दरवाजे के तोड़े जाने पर मरे हुए पाए गए! इस प्रकार की मृत्युओं का कारण कार्बन मोनॉक्साइड गैस ही होती है, जो अपर्याप्त हवा में कोयले के जलने से बनने लगती है। यह गैस बड़ी ही विषाक्त होती है, और रंगहीन और गंधहीन होने के कारण उसकी उपस्थिति पहचानी भी नहीं जा सकती। फेफड़ों में पहुँचकर वह रुधिर के रक्त-पदार्थ हीमोग्लोबिन से संयुक्त होकर उसे एक ऐसे चटक लाल रंग के स्थायी पदार्थ—कार्बोनिल हीमोग्लोबिन—में बदल देती है, जिससे परिक्षीण तंतुओं का साँस द्वारा ऑक्सीकरण संभव नहीं होता। $\frac{१}{२०}$ प्रतिशत कार्बन मोनॉक्साइड मिली हुई हवा में लगभग एक घंटे साँस लेते रहने से जी मतलाने लगता है, $\frac{१}{१०}$ प्रतिशत में चलने की सामर्थ्य नहीं रहती, $\frac{१}{५}$ प्रतिशत में बेहोशी आ जाती है और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है, $\frac{२}{५}$ प्रतिशत में बहुधा मृत्यु हो जाती है, और १ प्रतिशत में कुछ ही मिनटों में बेहोशी आ जाती है और थोड़ी ही देर में मृत्यु हो जाती है। विलायती देशों में, जहाँ कोल गैस, जल-गैस, उत्पादक गैस आदि गैसीय ईंधन गैस के चूल्हों, स्टोवों और लैम्पों में जलाए जाते हैं, कार्बन मोनॉक्साइड के फैल जाने का सदैव डर रहता है। कारण, इन सब गैसीय ईंधनों में कार्बन मोनॉक्साइड अवश्य रहता है। यदि कमरा बंद हुआ अथवा हवादार न हुआ, और टोंटी खराब होने अथवा अपर्याप्त हवा में गैस जलाई जाने के कारण कार्बन मोनॉक्साइड फैलने लगी तो समझ लीजिए कि कमरे में रहनेवालों को यमदूतों ने आ घेरा।

यदि कोई व्यक्ति कार्बन मोनॉक्साइड के विष से पीड़ित हो तो उसे तुरन्त कृत्रिम श्वास देते हुए ९५% ऑक्सिजन और ५% कार्बन डाइऑक्साइड गैस के मिश्रण की साँस देना चाहिए। उसे गर्म भी रखना चाहिए, और यदि बेहोश होने लगे तो थोड़ी ब्रांडी अथवा व्हिस्की पिला देना चाहिए।

धातुओं आदि के निर्माण करने की उन भट्ठियों से, जिनमें कोयला अपर्याप्त ऑक्सिजन की उपस्थिति में जलता है, कार्बन मोनॉक्साइड अवश्य निकलती है। लम्बी चिमनियों से उनकी गैसें हवा के ऊपर के स्तरों में फेंक दी जाती हैं। कार्बन मोनॉक्साइड हवा से थोड़ी-सी अधिक हलकी होती है, अतः वह नीचे नहीं आती और हवा में मिलकर कार्बन डाइऑक्साइड में ऑक्सीभूत हो जाती है।

प्रयोगशाला मे कार्बन मोनॉक्साइड गैस फ़ॉर्मिक ऐसिड (HCOOH) अथवा ऑक्सलिक ऐसिड $[(COOH)_2]$ अथवा इनके किसी लवण तथा सांद्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म करके तैयार की जाती है। गन्धक का तेज़ाब फ़ार्मिक ऐसिड से पानी के अवयव खींच लेता है और बची हुई कार्बन मोनॉक्साइड निकल जाती है—

$$HCOOH = H_2O + CO$$

ऑक्सलिक ऐसिड से कार्बन. मोनॉक्साइड और डाइ-ऑक्साइड का मिश्रण निकलता है—

$$(COOH)_2 = H_2O + CO + CO_2$$
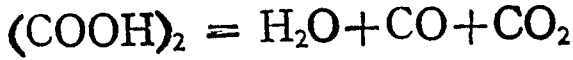
किन्तु यह कार्बन डाइ-ऑक्साइड कास्टिक पोटाश के घोल में बुल-बुलाकर शोषित करके पृथक् की जा सकती है। पानी मे अघुलनशील होने के कारण कार्बन मोनॉ-क्साइड पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है। इस गैस को तैयार करने मे इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि वह सूँघी न जाय और न उससे मिली हवा में साँस ली जाय।

गैसीय ईंधन

कार्बन मोनॉक्साइड का सबसे बड़ा महत्व उसके एक उपयोगी गैसीय ईंधन होने में है। इसी लेख के शुरू में आप देख चुके हैं कि अँगीठी में कार्बन मोनॉक्साइड गैस ही ऊपर निकलकर हवा मे जलती है। यदि अँगीठी ऊपर से बंद कर दी जाय और ढक्कन में एक निकास-नली लगा दी जाय तो यह गैस बिना जले हुए अर्थात् बिना कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित हुए ही निकलेगी। ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का निर्माण इसी प्रकार किया जाता है। आजकल मोटरकारों में लगाए जानेवाले गैस-प्लाटों में कार्बन मोनॉक्साइड इसी प्रकार उत्पन्न होती है। इन्हें ऊपर से बन्द अँगीठियाँ ही समझिए!

यदि आप जलती हुई मोमबत्ती पर कार्बन डाइऑक्साइड गैस उँड़ेलें, तो वह तुरंत बुझ जायगी!

ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का बड़े परिमाणों मे उत्पादन करनेवाली बन्द भट्ठियों को 'उत्पादक' और इनसे निकलनेवाली गैस को 'उत्पादक गैस' कहते हैं। उत्पादक भट्ठी में कोक भर दिया जाता है और नीचे से हवा प्रविष्ट की जाती है। ऑक्सिजन का एक अणु कार्बन से संयुक्त होकर कार्बन मोनॉक्साइड के दो अणुओं मे परिणत होता है—

$$2C + O_2 = 2CO$$

अतः ऐवेगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार (दे० पृ० १५३८) ऑक्सिजन के एक आयतन से कार्बन मोनॉक्साइड के

दो आयतन बनते हैं। हवा में लगभग ४ भाग नाइ-ट्रोजन के और १ भाग ऑक्सिजन का रहता है, अतएव उत्पादक गैस लगभग दो भाग नाइट्रोजन और एक भाग कार्बन मोनॉक्साइड का मिश्रण होती है। उत्पादक गैस काँच, जस्ता, इस्पात आदि पदार्थों के बनाने की भट्ठियों मे तथा गैस-इंजिनों को चलाने मे ईंधन की भाँति व्यवहृत होती है।

कार्बन मोनॉक्साइड-युक्त एक दूसरे गैसीय ईंधन को 'जल-गैस' कहते हैं। इसमें आयतनों के अनुसार लगभग ५०% हाइड्रोजन, ४०% कार्बन मोनॉक्साइड, और शेष १०% में नाइट्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड गैसें रहती हैं। जल-गैस उत्पादक गैस से कहीं अधिक गर्मी देती हुई जलती है। जल-गैस और तेल-गैस के मिश्रण का व्यव-हार घरेलू चूल्हों तथा गैस-लैम्पों मे होता है। इससे हाइ-ड्रोजन गैस भी निकाली जाती है। पृ० १०७०-७२ पर यह सचित्र बताया जा चुका है कि हवा द्वारा कोक को श्वेत-तप्त करके और फिर उसके बीच भाप प्रवाहित करके जल-गैस किस प्रकार उत्पन्न की जाती है। भाप की क्रिया

उत्पादक गैस

ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का बड़े परिमाणों में उत्पादन करनेवाली बन्द भट्टियों को 'उत्पादक' और उनसे निकलनेवाली गैस को 'उत्पादक गैस' कहते हैं। उत्पादक भट्टी में कोक भर दिया जाता है और नीचे से हवा प्रविष्ट की जाती है। ऑक्सिजन का एक अणु कार्बन से संयुक्त होकर कार्बन मोनॉक्साइड के दो अणुओं में परिणत होता है। अतः ऐवेगेड्रो के सिद्धान्त के अनुसार ऑक्सिजन के एक आयतन से कार्बन मोनॉक्साइड के दो आयतन बनते हैं। हवा में लगभग ४ भाग नाइट्रोजन के और १ भाग ऑक्सिजन का रहता है, अतएव उत्पादक गैस लगभग दो भाग नाइट्रोजन और एक भाग कार्बन मोनॉक्साइड का मिश्रण होती है। उत्पादक गैस काँच, जस्ता, इस्पात आदि पदार्थों के बनाने की भट्ठियों में तथा गैस-इंजिनों को चलाने में ईंधन की भाँति व्यवहृत होती है।
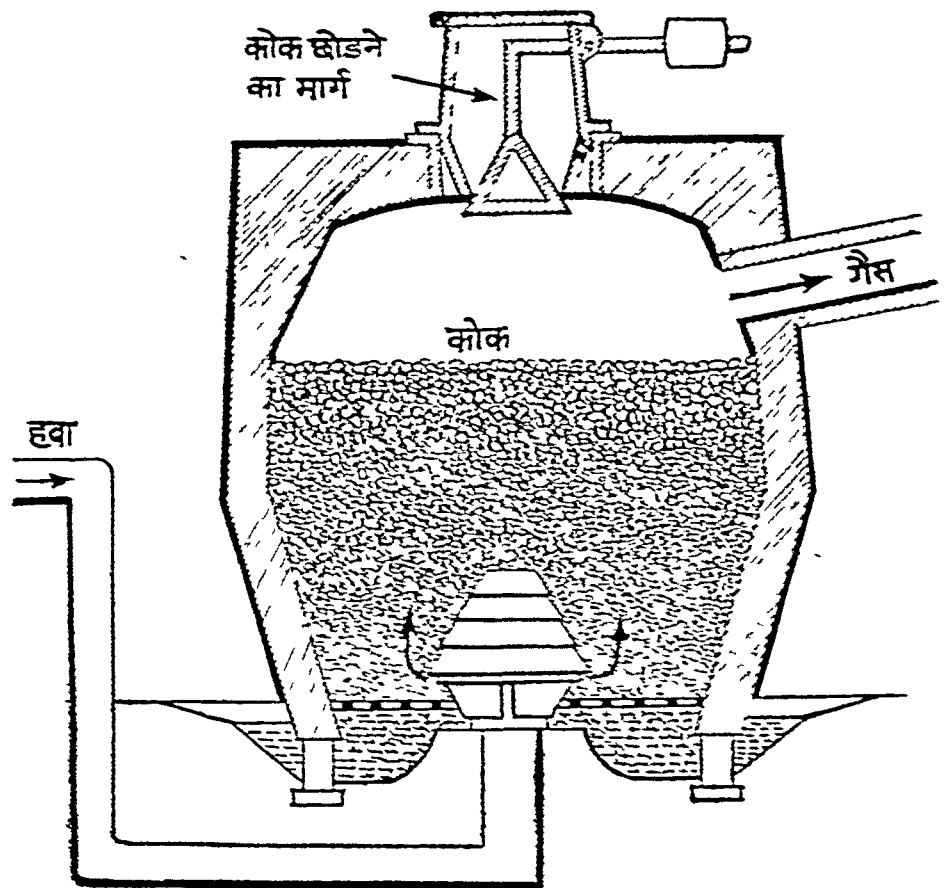
से उत्पन्न होती हुई जल-गैस अलग गैस-होल्डरों में एकत्र कर ली जाती है। उन्हीं पृष्ठों पर और उसी चित्र में हैबर की अमोनिया के निर्माण के लिए हाइड्रोजन को पृथक् करने की विधि भी प्रदर्शित है। आप उसमें देख चुके हैं कि अमोनिया में बनाया हुआ क्यूप्रस क्लोराइड का घोल कार्बन मोनॉक्साइड का शोषक होता है।

जल गैस से मेथिल अल्कॉहल का भी निर्माण होता है। जब जल-गैस के दो आयतनों और हाइड्रोजन के एक आयतन का मिश्रण लगभग २०० वायुमंडलों के दबाव पर संकुचित करके लगभग ४००°C तक गर्म किए हुए जिङ्क ऑक्साइड और क्रोमिक ऑक्साइड के मिश्रण पर प्रवाहित किया जाता है तो, इन ऑक्साइडों के उत्प्रेरक प्रभाव द्वारा, कार्बन मोनॉक्साइड और हाइड्रोजन संयुक्त होकर मेथिल अल्कॉहल में परिवर्तित हो जाते हैं—

$$CO + 2H_2 = CH_3OH$$
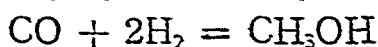
इस प्रकार निकलता हुआ मेथिल अल्कॉहल का वाष्प ठंडे पात्रों में द्रवीभूत करके इकट्ठा कर लिया जाता है। इसी मेथिल अल्कॉहल को स्पिरिट (एथिल अल्कॉहल) में मिलाकर मेथिलेटेड स्पिरिट बनाई जाती है।

बहुधा ईंधन-गैस कोक की भट्टी में हवा और भाप के मिश्रण को प्रवाहित करके बनाई जाती है। इस विधि में हवा की नाइट्रोजन और कोक पर उसकी क्रिया से बनी हुई कार्बन डाइऑक्साइड पृथक् नहीं हो पाती। इसलिए इसमें लगभग ५०% नाइट्रोजन, २५% कार्बन मोनॉक्साइड, १५% हाइड्रोजन, और शेष कार्बन डाइऑक्साइड होती है। इस गैसीय ईंधन को अर्द्ध-जल-गैस कहते हैं। इसके जलने पर जल-गैस से कम गर्मी का उत्पादन होता है।

कार्बन मोनॉक्साइड गैस निकल, कोबाल्ट, लोहा, आदि धातुओं से संयुक्त होकर कार्बोनिल नामक यौगिक [यथा, निकल कार्बोनिल $Ni(CO)_4$] बनाती है, जो ऊँचे तापक्रम पर फिर धातु और कार्बन मोनॉक्साइड गैस में विच्छिन्न हो जाते हैं। खनिजों से निकल धातु के निकालने में कार्बन मोनॉक्साइड की इस रासायनिक क्रिया का उपयोग होता है।

पृ० १७६३ पर यह बताया जा चुका है कि कार्बन मोनॉक्साइड और क्लोरीन के संयोग से फ़ास्जीन नामक विषाक्त गैस कैसे बनती है, और पहले महायुद्ध में वह कैसे प्रयुक्त हुई थी।

पृथ्वी की कहानी
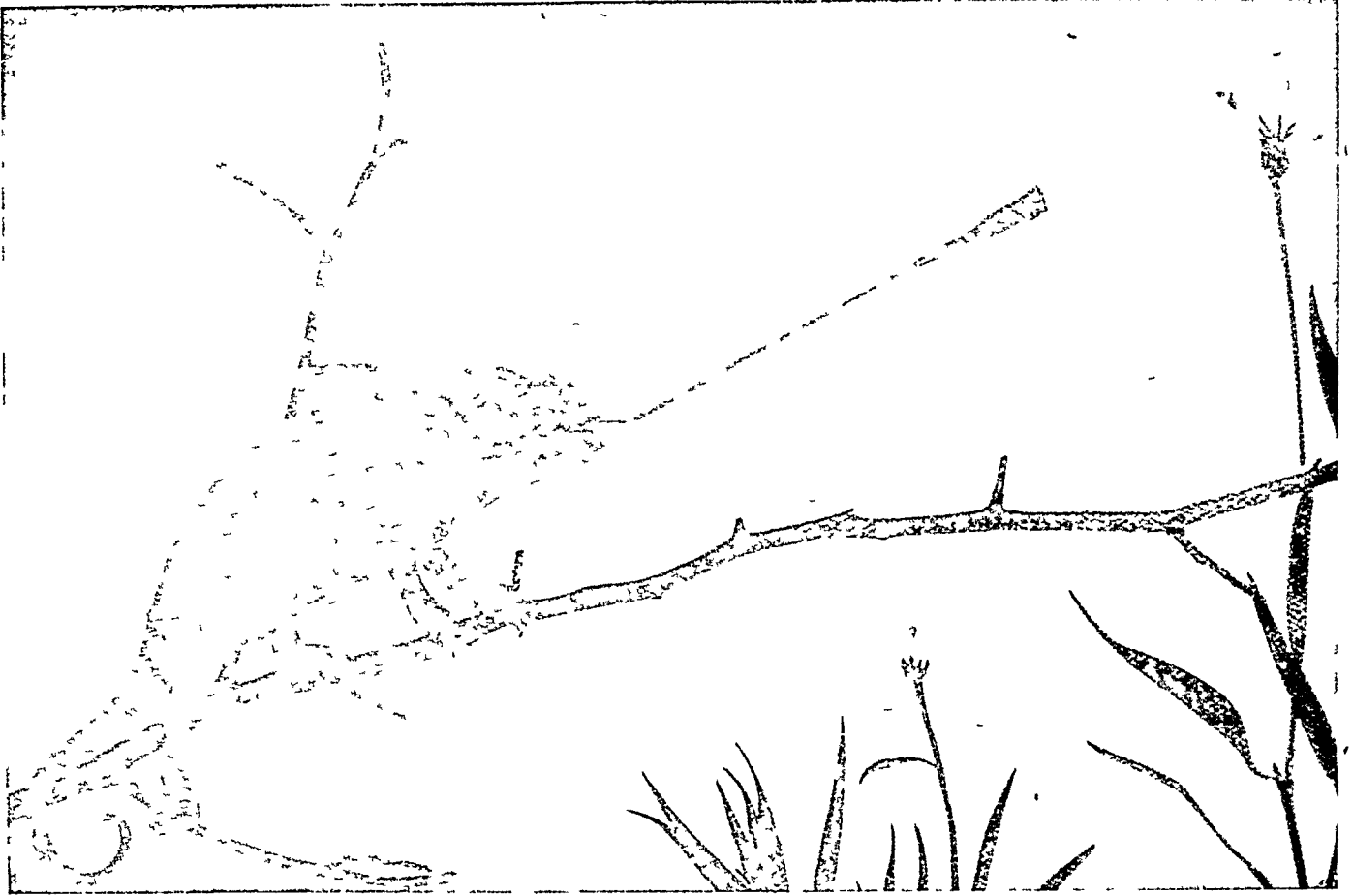
अफ़्रीका की कैमीलियन (गिरगिट) जाति की एक छिपकली अपनी विचित्र जिह्वा को आगे बढ़ाकर एक मक्खी को पकड़ने का प्रयत्न कर रही है। इसकी यह जीभ कई फ़ीट तक आगे बढ़ाई जा सकती है, और उस पर एक लसलसा द्रव रहता है, जिससे चिपक जाने पर फिर शिकार उससे छूट नहीं सकता!

(बाईं ओर)
न्यूज़ीलैण्ड की टुआटेरा नामक अद्भुत छिपकली! यह अत्यन्त प्राचीन काल के उरंगमों की याद दिलानेवाला एक अनोखा जीव है। चित्र मे यह अपने बिल के मुहाने पर बैठा दिखाई दे रहा है।

(दाहिनी ओर)
मलाया की उड़नेवाली छिपकली। इसके बदन के आसपास फैले हुए चमगादड़ के-से पंख उसे उड़ने में सहायता देते हैं।
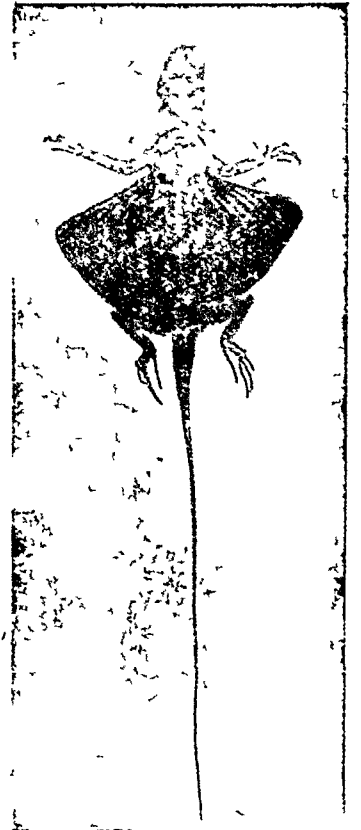
भारतवर्ष तथा अन्य देशों के वर्तमान और प्राचीन उरंगम

३—छिपकलियाँ

इस लेखमाला के पिछले दो प्रकरणों में आप कच्छप, मगर और सर्प जाति के वर्तमान प्राणियों तथा उन भीमकाय प्राचीन उरंगमों के संबंध में भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने इस भूमण्डल पर किसी समय अपना साम्राज्य-सा स्थापित कर लिया था, किन्तु जिनके अब केवल हड्डियों के अवशेष ही मिलते हैं। प्रस्तुत प्रकरण इस लेखमाला का तीसरा और अंतिम खंड है और इसमें उरंगम जाति के अन्य एक प्रधान वर्ग के प्राणियों का वर्णन किया गया है, जिन्हें जीव-विज्ञान के अंतर्गत छिपकलियों के नाम से पुकारा जाता है और जिनकी लगभग १८०० जातियाँ मिलती हैं।

घरों में रहनेवाली छिपकलियों को हम नित्य देखते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं, किन्तु वास्तव में ये सब घृणा की पात्र नहीं। बहुत-सी छिपकलियाँ रंग-रूप में अति सुन्दर हैं; कुछ अति घातक प्रतीत होने पर भी निर्दोष हैं; साथ ही साथ कुछ ऐसी भी हैं जो निष्कपट दिखने पर भी घातक आक्रमण करती हैं। कुछ छिपकलियों में रंग बदलने की अद्भुत शक्ति होती है, कुछ उड़नेवाली भी छिपकलियाँ हैं, कुछ बिना पैर की हैं और कुछ ऐसी भी हैं, जो इच्छानुसार अपनी दुम को धड़ से अलग कर लेती हैं। इस लेख में हम इन्हीं अद्भुत जीवों का परिचय आपको देंगे।

एक लेखक का कथन है कि छिपकलियों का भविष्य उज्ज्वल है—यद्यपि डील-डौल में वे कोई उन्नति नहीं कर रही हैं, परन्तु उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है! मानव-जाति का भूमंडल पर दिन प्रतिदिन अधिकार बढ़ते देखकर हम यह मानने को तैयार नहीं कि इस प्रकार का कोई जीव भविष्य में उन्नति कर सकेगा। पर जो भी हो, इस समय लगभग अठारह सौ से भी अधिक इनकी जातियाँ भूमंडल पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ समुद्र में विचरनेवाली भी हैं। इनमें से कुछ तो बहुत छोटी हैं और कुछ तीन [illegible] फुटों से भी अधिक लम्बी हैं। ये प्रायः सभी पूँछदार होती हैं और अधिकांश का शरीर परतों [illegible] से आच्छादित रहता है, जो नुकीले और खुरदरे होते हैं। कुछ छिपकलियों के छिलके चिकने होते हैं और कुछ के शरीर पर परत होते ही नहीं।

अधिकांश छिपकलियों के चार चरण होते हैं, पर कुछ के केवल दो और कुछ के पैर होते ही नहीं। छिपकलियों के पंजों के नाखून तेज नहीं होते। घरेलू छिपकलियों की अंगुलियों में गुदगुदी गद्दियाँ होती हैं, जिनके सहारे ये सीधी दीवार पर आसानी से चढ़ जाती हैं। मरुस्थल में रहनेवाली छिपकलियों की अँगुलियों पर चारों ओर सिन्ने होते हैं, जिनके कारण वे सरलता से बालू पर चल-फिर सकती हैं। कुछ छिपकलियों की पूँछ लघु और स्थूल होती है तथा कुछ की लम्बी व पतली। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ उनके धड़ और सिर की लम्बाई से दुगनी या तिगुनी तक बड़ी होती है। ये अपनी बड़ी दुम को फटफटाकर जोर से अपने शत्रु को मारती हैं। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ में सबसे विचित्र बात यह पाई जाती है कि वह शरीर से अलग हो जाती है! वे शत्रु का आक्रमण होने पर शरीर को ऐसे जोर से झटकती हैं कि पूँछ अलग जा गिरती है! पर धड़ से अलग होने पर भी वह कुछ देर तक छटपटाती रहती है, जिससे शत्रु का ध्यान उस उछलती कूदती दुम पर जा पड़ता है और वह छिप-

अपने शरीर का रंग बदलने के लिए मशहूर कैमीलियन या गिरगिट नामक छिपकली वर्ग के प्राणी की विचित्र जीभ, जिसे दूर तक बाहर निकालकर यह मक्खियों आदि का शिकार करता है!
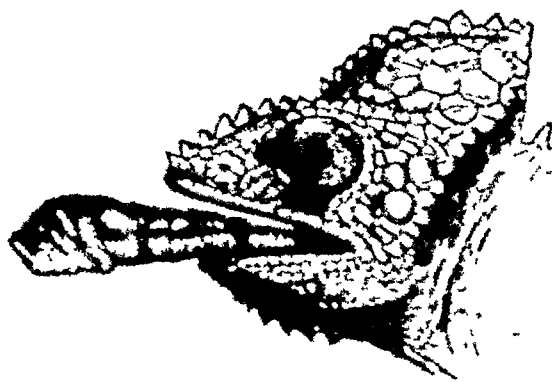
कली के धोखे मे उसे ही पकड लेता है। इस बीच छिपकली भागकर प्राण बचा लेती है। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उस छिपकली के फिर एक नवीन पूँछ उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि वह पहले की भाँति अच्छी नहीं होती। कभी-कभी एक दुम के स्थान पर दो-तीन दुम भी निकल आती हैं।

छिपकलियों की जीभ अनेक प्रकार की होती है। कुछ की मोटी व चौडी होती है, पर अधिकांश की पतली, लम्बी और सर्प की जीभ के समान आगे की ओर दो भागों में विभाजित रहती है। रग-परिवर्त्तन करनेवाले गिरगिट की जीभ सबसे अधिक अद्भुत होती है। जब वह किसी पतिगे को पकड़ना चाहता है तो अपनी जीभ को बड़ी तेजी से ७-८ इच आगे निकाल लेता है। उस जीभ के फैले हुए छोर पर एक प्रकार का चिपचिपा रस होता है, जिस पर पतिगा चिपक जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीभ खींचने पर शिकार अप्रयास ही मुख मे प्रवेश कर जाता है। गिरगिट की इस जीभ के बाहर निकलने और भीतर जाने की क्रिया इतनी तेजी से होती है कि बहुधा मनुष्य खाली आँखों से उसका निरीक्षण नहीं कर पाता। अतः कैमरे की सहायता लेनी पड़ती है।

छिपकलियों के दाँतों की बनावट सर्पों के दाँतों की भाँति होती है। बड़ी छिपकलियों के काटने पर घाव हो जाते हैं, जिनके पकने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं। लोगों का यह खयाल है कि साधारण छिपकलियों में से कुछ विषैली भी होती हैं और गिरगिट, बिसखोपरा या गोह के काटने से मनुष्य प्रायः मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं, परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः इन जीवों के किसी भी अग मे विष नहीं पाया जाता। केवल दो जातियों की छिपकलियों में ही विष होता है, जो कि मैक्सिको या उसके समीपवर्त्ती भागों में पाई जाती हैं। इनके मुख में विष की थैली और विषदत भी होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे।

प्रायः सब छिपकलियों के नेत्रों में पारदर्शक झिल्लियाँ रहती हैं, किन्तु उनमे पलक नही होते। कुछ जातियों को छोड प्रायः सभी छिपकलियाँ रात्रि में शिकार के लिए निकलती हैं और दिन मे छिपी रहती हैं। बहुत-सी छिपकलियाँ तेज आवाज करने के लिए प्रसिद्ध हैं। कदाचित् वे अपनी जीभ को तालू पर मारकर पट-पट-सी आवाज़ उत्पन्न करती हैं। घरेलू छिपकलियों की गति मन्द होती है, किन्तु कोई-कोई अत्यंत फुर्तीली भी होती हैं। कुछ इतनी शीघ्रता से दौडती हैं कि दृष्टिगोचर ही नहीं होतीं। शरीर के अगले भाग को उठाकर वे पिछले पैरों के बल पूँछ की सहायता से दौड़ती हैं। अधिकांश छिपकलियाँ स्थलवासी हैं, परन्तु कुछ वृक्षों पर, कुछ जल में तथा कुछ जल और थल दोनों में ही निवास करती हैं। कुछ छिपकलियाँ अंडे देती हैं और कुछ के अडे गर्भ मे ही फूट जाते हैं, जिसके कारण जीवित बच्चे उत्पन्न होते हैं।

सबसे प्राचीन छिपकली

न्यूजीलैंड और उसके समीपवर्त्ती द्वीपों में छिपकली जैसा एक विचित्र उरंगम पाया जाता है, जो शरीर-रचना और स्वभाव में कुछ-कुछ कछुओं और कुछ-कुछ पक्षियों से मिलता-जुलता है। यह उन प्राचीन पुरखों का एक बचा हुआ स्मारक है, जिनसे वर्त्तमान जातियों की छिपकलियों का विकास हुआ है। इसका नाम 'टुआटेरा' अथवा 'स्फेनोडोन' है। एक समय न्यूजीलैंड में छिपकलियाँ बहुतायत से थीं, किन्तु आजकल वे वहाँ लुप्तप्राय-सी हो गई हैं। प्रकृति के इन स्मारकों को लुप्त होने से बचाने के हेतु वहाँ की सरकार ने उनकी रक्षा का काफी प्रबन्ध किया है। वहाँ के निकटवर्त्ती कुछ टापुओं में उनकी ऐसी कड़ी रक्षा की जाती है कि वैज्ञानिकों को भी इन छिपकलियों के नमूने प्राप्त करने के लिए आज्ञा लेने में बड़ी कठिनाई उठानी पडती है। ये डरपोक जीव समुद्री पक्षियों के साथ बिलों में रहते हैं और अपने जीवन का विशेष समय बिलों के द्वार पर ही व्यतीत कर देते हैं। छेड़े जाने पर ये काटने और पजा मारने का प्रयत्न करते हैं। बदी होने पर ये केंचुए, घोंघे आदि खाते हैं, परन्तु कभी-कभी मेंढक और चूहे पर भी जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। वर्ष के आरम्भ में मादा लगभग एक दर्जन अडे देती है, जिनकी खोल चीमड़ और कड़ी होती है। कहा जाता है कि इन अंडों में से एक वर्ष बाद बच्चा निकलता है।

टुआटेरा की एक असाधारण विचित्र बात उसकी तीसरी आँख है। कुछ उरंगमों में यह सिर के बीच में मस्तिष्क के ऊपर पाई जाती है। बहुत सम्भावना है कि प्राचीन उरगम इस नेत्र द्वारा सिर के ऊपर भी देख सकते रहे होंगे। दूसरी असाधारण बात जो टुआटेरा और रग बदलनेवाली कैमीलियन (गिरगिट) नामक छिपकली मे भी पाई जाती है, यह है कि वे अपनी अँगुलियों को दो भागों में विभाजित कर वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। जब कोई चीज वे पकड़ते हैं तब अगली टाँग की तीन अँगुलियाँ भीतर और दो बाहर की ओर रहती हैं। परन्तु पिछली टाँग में यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। टुआटेरा और

कैमीलियन के अतिरिक्त अन्य कोई भी छिपकली अपना भोजन पंजों द्वारा पकड़कर नहीं करती।

रंग बदलनेवाली छिपकलियाँ—कैमीलियन

साधारण कैमीलियन उत्तरी अफ़्रीका, सीरिया, एशिया माइनर, स्पेन, दक्षिणी भारत, लंका आदि प्रदेशों में पायी जाती हैं। रंग बदलना ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कुछ अन्य छिपकलियों में इनसे भी अधिक रंग बदलने की शक्ति होती है, उदाहरणस्वरूप अमेरिका की अनोलिस नामक छिपकली में। वह वास्तव में कैमीलियन नहीं है, परन्तु वहाँ के निवासी उसके रंग बदलने की शक्ति के कारण ही उसे भी कैमीलियन नाम से पुकारते हैं। एक महाशय लिखते हैं कि उन्होंने स्वय अनोलिस जाति की एक छिपकली को हरे रंग वाले एक डठुल पर चढ़ते देखा और जब एक पके पत्ते पर वह दृष्टिगोचर हुई तब वह उसी पत्ते के समान पीली दिखाई दी! देखते ही देखते पत्ता टूट गया और छिपकली नीचे गिर गई। जब वह भूरी मिट्टी के ऊपर आई तब उसका रंग मिट्टी के समान भूरा हो गया! इस चमत्कार में कठिनाई से पाँच मिनट लगे होंगे। साधारणतः देखने में आया है कि वास्तविक कैमीलियन हर परिस्थिति के अनुसार रंग बदल लेती है। प्रकाश तथा तापक्रम में परिवर्त्तन होने से ही नहीं, वरन किसी आकस्मिक घटना से घबड़ा जाने या एकाएक भय खा जाने अथवा क्रोधित होने से भी उसके रंग में परिवर्त्तन आ जाता है।

कैमीलियन की रंग बदलने की इस परिवर्त्तन की अद्भुत क्रिया को खूब जाँचा-परखा गया है। इस संबंध में कुछ अनुभव अत्यन्त रोचक है। एक समय तीन कैमीलियनों को भिन्न-भिन्न शीशे के बर्तनों में रक्खा गया। पहले बर्तन में हरी पत्तियाँ छोड़ी गईं, दूसरे मे भूरी, और तीसरे में सफ़ेद रेत डाली गई। तीनों का रंग एक-सा बना रहा, परन्तु जब उनमें से एक को एक काले डब्बे में बंद कर दिया गया और उसका तापक्रम ७५° रक्खा गया तो कुछ समय पश्चात् उसका रंग हरा हो गया! दूसरे को ऐसे ही डब्बे में जब ५०° तापक्रम में बन्द कर दिया गया, तब उस कैमीलियन का रग भूरा हो गया। उसी डब्बे में जब आधी ओर प्रकाश कर दिया गया तो उसमें की छिपकली का अर्ध-प्रकाशित शरीर हरा-पीला हो गया और दूसरा आधा भाग भूरा ही बना रहा! ऐसे ही परीक्षणों से विदित हुआ है कि कैमीलियन के शरीर पर हरा या हरा-नीला प्रकाश डालने से तुरन्त ही उसका रंग-परिवर्त्तन होने लगता है, परन्तु लाल या हरे प्रकाश का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। इससे यह प्रमाणित होता है कि तापक्रम और प्रकाश के रंगों द्वारा ही उसका रंग परिवर्त्तित होता है। भय, क्रोध और निद्रा द्वारा भी बहुधा देखा गया है कि यह उरंगम हरे रंग का हो गया है। भूखे और निर्बल रहने की दशा में उसकी खाल पर काले धब्बे पड़ जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् शरीर साधारणतः काले धब्बेदार हरे रंग का हो जाता है।
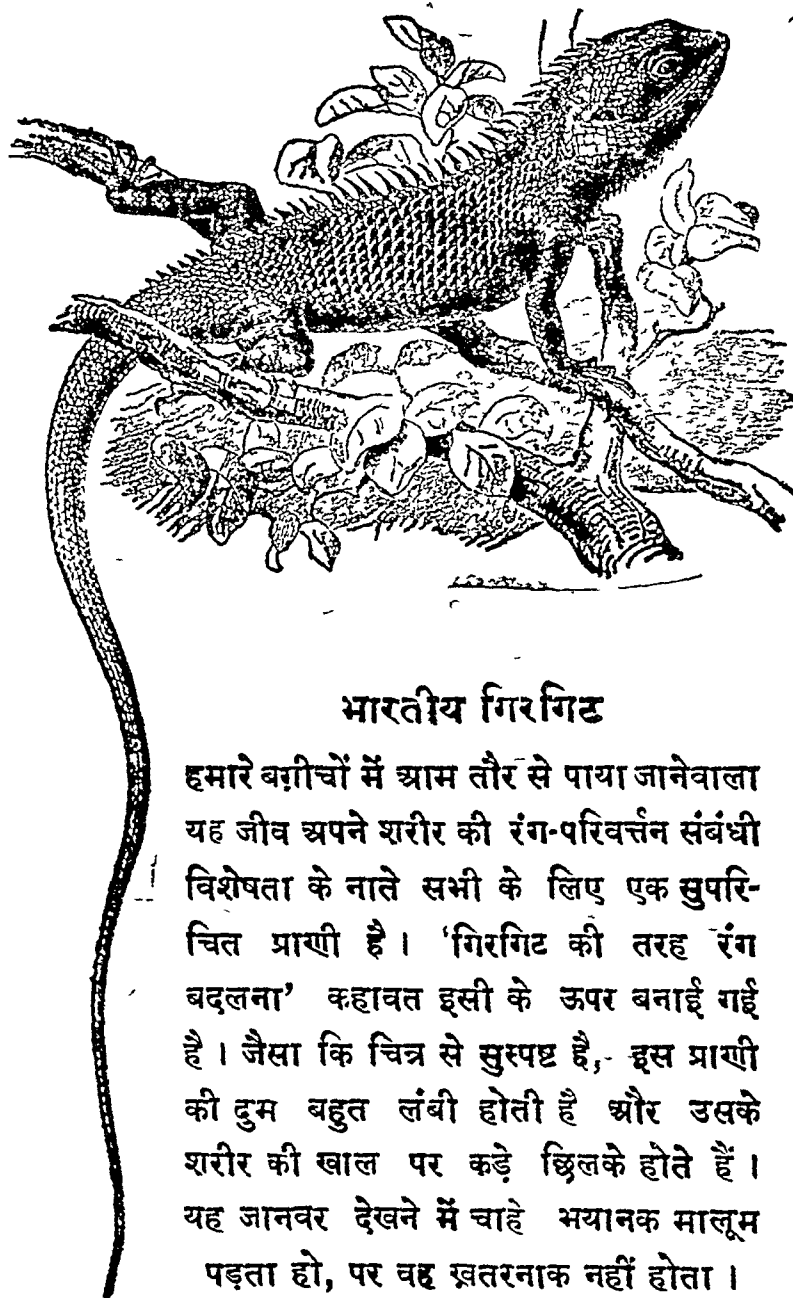
भारतीय गिरगिट

हमारे बग़ीचों में आम तौर से पाया जानेवाला यह जीव अपने शरीर की रंग-परिवर्त्तन संबंधी विशेषता के नाते सभी के लिए एक सुपरिचित प्राणी है। 'गिरगिट की तरह रंग बदलना' कहावत इसी के ऊपर बनाई गई है। जैसा कि चित्र से सुस्पष्ट है, इस प्राणी की दुम बहुत लंबी होती है और उसके शरीर की खाल पर कड़े छिलके होते हैं। यह जानवर देखने में चाहे भयानक मालूम पड़ता हो, पर वह ख़तरनाक नहीं होता।

निरीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि कैमीलियन के चर्म मे अनेक प्रकार की बहुत-सी छोटी-छोटी गुत्थियाँ अथवा कण होते हैं, जिनके एकत्रित एवं अलग हो जाने से चमड़े का रग विभिन्न प्रकार का हो जाता है। ये ही कण एकत्रित या अलग-अलग होकर त्वचा का रंग बदलने में सहायक होते हैं।

कैमीलियन की जीभ और अँगुलियों की विशेषता हम ऊपर बता ही आए हैं। अब उनकी आँख पर भी ध्यान

दीजिए। कैमीलियन के नेत्र बहुत बड़े और ऊपर की ओर उभरे हुए होते हैं, तथा उनके ऊपर एक झिल्ली ढकी रहती है, जो दोनों पलकों के मिलने से बनती है। उनमें पुतली के स्थान पर महीन-महीन छिद्र होते हैं। कैमीलियन अपने नेत्रों को चारों ओर घुमा सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके दोनों नेत्र एक ही ओर देखें—एक आँख आगे की ओर देख सकती है तो दूसरी ऊपर या पीछे की ओर। अतः यह जीव ऊपर-नीचे, आगे पीछे, बिना गर्दन घुमाए ही देख सकता है। दृष्टि की इस अद्‌भुत शक्ति का पलकों के सूक्ष्म छिद्रों से सम्बन्धित होना एक रहस्यपूर्ण प्राकृतिक बात है।

कैमीलियन बड़ी आलसी होती हैं। वे बहुत धीरे-धीरे चलती-फिरती हैं। घंटों तक वे वृक्ष की डाल पकड़े लटकी रहती हैं, किन्तु उनकी आँखें सदैव इधर-उधर मक्खियों या किसी अन्य कीड़े की खोज में लगी रहती हैं। आलसी होते हुए भी ये होती हैं बड़ी लड़ाकू। ये लड़ते समय अपने फेफड़ों को वायु से भर लेती हैं, जिसके कारण इनकी आकृति बड़ी दिखाई देती है।

कैमीलियन प्रायः १० इंच से अधिक लम्बी नहीं होतीं, परन्तु मैडागास्कर द्वीप की दो जातियाँ २४ इंच से भी अधिक लम्बी होती हैं। संसार की सबसे छोटी कैमीलियन दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती है, जो केवल ५ इंच ही लम्बी होती है। उसका रंग अत्यन्त सुन्दर होता है। इसके हरे रंग के शरीर पर गहरे लाल रंग के धब्बे बड़े सुहावने लगते हैं। कैमीलियन वर्ग मे केवल यही जाति बच्चे देती है, शेष सब अंडे देती हैं। अक्टूबर मास मे मादा पेड़ की डालियों से नीचे उतर आती है और एक गड्ढा खोदकर उसमें अंडे देती है। इन अंडों से वसन्त ऋतु तक बच्चे निकलते हैं। इस बीच मादा कैमीलियन पृथ्वी के भीतर बिल में पड़ी रहती है। इस प्रकार वह शीतकाल की ठंड से बच जाती है। शीतकाल के समाप्त होते ही वह फिर वृक्षों पर आकर रहने लगती है। कैमीलियन पकड़कर पाली भी जाती हैं और शीघ्र ही मनुष्य के हाथों से भोजन लेना सीख जाती हैं। कीड़े-मकोड़ों आदि को वे बड़े चाव से खाती हैं। बहुत-से व्यक्ति इन्हे जबरन् शर्बत पिलाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु अत्यन्त प्यासी होने पर ही ये उसे ग्रहण करती हैं, अन्यथा नहीं। हाँ, ये जल अवश्य ही पर्याप्त मात्रा मे पीती हैं और शीघ्र न मिलने पर निर्बल होकर मर जाती हैं। परन्तु वे किसी बर्तन से पानी नहीं पीतीं। पत्तों पर गिरी हुई ओस की बूँदों से ही ये अपनी तृषा शान्त करती हैं। इसीलिए इनके पिंजड़ों में प्रतिदिन जल छिड़कना अनिवार्य-सा होता है।

घरेलू छिपकलियाँ

घरों में रहनेवाली छिपकलियों की लगभग तीन सौ जातियाँ विदित हैं। ये मुख्यतया गर्म देशों में ही पाई जाती हैं। इनका मुख्य वर्ग 'गैको' कहलाता है, जिसमें की बड़ी से बड़ी छिपकली पन्द्रह इंच लम्बी होती है। साधारणतः घर मे रहनेवाली छिपकली चार-पाँच इंच तक लम्बी होती है। इसकी सबसे बड़ी जाति बंगाल, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वीय द्वीपों व दक्षिणी चीन में पाई जाती है। ये छिपकलियाँ कीट-पतिंगों पर ही निर्भर नहीं रहतीं, वरन् छोटी-छोटी चिड़ियों, चमगादड़ों, चूहों तथा छोटी छिपकलियों को भी बड़े आनन्द से खाती हैं।

घरेलू छिपकलियों की जातियाँ एक दूसरे से केवल पैरों की ही रचना में विभिन्न होती हैं। कुछ जातियों में नाखून अँगुलियों के छोर पर खाल में घुसे रहते हैं। अन्य कुछ में नख गद्देदार चक्र के पर्त से निकले रहते हैं। कुछ मे नख होते ही नहीं, उनके स्थान पर अँगुली के छोर चौड़े हो जाते हैं। और कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनकी अँगुलियों के बीच झिल्ली रहती है, मानो वे तैरने के लिए बनी हों, यद्यपि वे तैरती नहीं (दे० पृ० २७६६ का चित्र)।

गैको वंश की सब छिपकलियाँ घरों में ही नहीं रहतीं; कुछ सूखे मरुस्थल मे बालू के अन्दर बिल बनाकर रहती हैं, और कुछ जंगली भागों मे भी पाई जाती हैं। वे वृक्षों या नीची झाड़ियों में अथवा पत्थरों या पेड़ों की छाल में दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि के समय बाहर निकल आती हैं। कुछ छिपकलियाँ पर्वतों की चट्टानों मे भी पाई जाती हैं, किन्तु प्रायः सभी दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि मे शिकार की खोज में इधर-उधर घूमा करती हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जो दिन मे घूमा करती और रात्रि में सोया करती हैं। घरेलू छिपकलियों को वर्षा ऋतु की रात्रि में बत्ती के समीप छत अथवा दीवार पर असंख्य पतिंगों को बड़ी तेज़ी से हड़प करते समय तो प्रायः सभी ने देखा होगा।

ये छिपकलियाँ हमारे घरों में पता नहीं कब से निवास कर रही हैं! इन निर्दोष जीवों को बहुधा मनुष्य अकारण ही भय और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कहीं-कहीं इनका शरीर पर गिर जाना ही अशुभ माना जाता है और कहीं-कहीं पर लोग इन्हे विषैला भी समझते हैं। उत्तरी अफ्रीका, अरब तथा सीरिया की एक घरेलू छिप-

नई दुनिया की दो अनोखी छिपकलियाँ
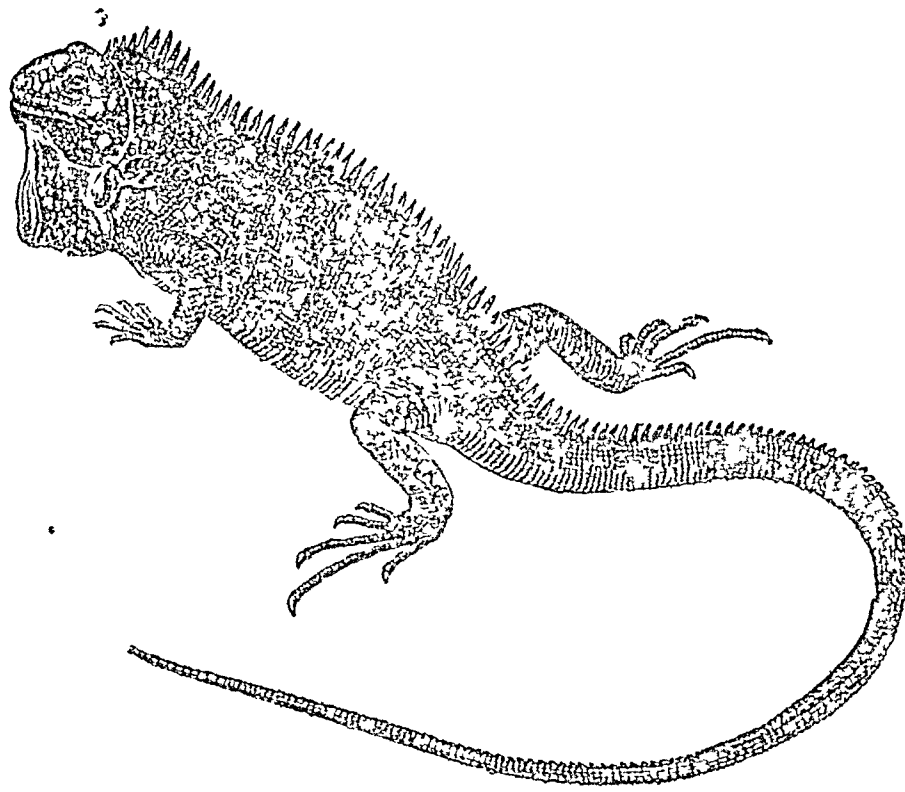
ऊपर के चित्रों में बाईं ओर इगुआना नामक बृहदाकार छिपकली का भयावना-सा रूप प्रदर्शित है और दाहिनी ओर बैसलिस्क नामक अद्भुत स्वरूपवाली छिपकली का। परन्तु इतनी डरावनी-सी दिखाई पड़ने पर भी ये वस्तुतः खतरनाक नहीं होतीं।
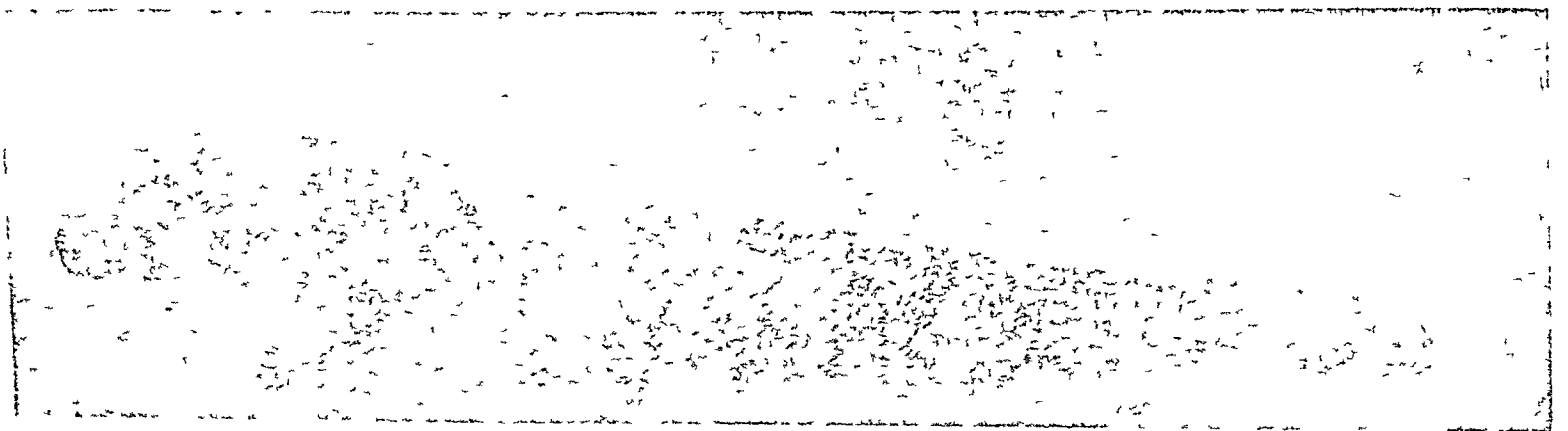
'गिला मान्स्टर' नामक विषैली छिपकली

अभी तक छिपकलियों के केवल एक वर्ग की दो जातियों के प्राणियों में ही घातक विष पाया गया है। ये दोनों जातियाँ नई दुनिया ही में मिलती हैं। ऊपर का घिनौना सा प्राणी उन्हीं में से एक जाति का है।

'मॉनीटर' नामक गोह जाति की छिपकली
ये काफी बड़े आकार की होती हैं और वृक्षों पर चढ़कर रहती है।

कली को मिस्रवासी कोढ़ उत्पन्न करनेवाली समझते हैं ! इतना ही नहीं, उनकी यहाँ तक धारणा है कि वह अपने पैने दाँतों से फ़ौलाद की गर्डरों या छड़ों को भी हानि पहुँचा सकती है ! किन्तु यह केवल भ्रम या कल्पना मात्र ही है। घरेलू छिपकलियों मे एक प्रकार के नलदण्ड होते हैं, जिनकी सहायता से वे चिकने धरातल पर भी चिपक सकती हैं और छत पर उल्टी होकर चलती हैं। बिल-निवासी छिपकलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और डीलडौल मे भी ये घरेलू छिपकलियों से निर्बल होती हैं।

मैकोनडी वंश मे कई अद्भुत गुणवाली छिपकलियाँ पाई जाती हैं। इनमें से एक छोटी जाति की किन्तु अत्यन्त मोटी और लघु पूँछवाली है, जो ऑस्ट्रेलिया, एशिया, दक्षिणी योरप, तथा दक्षिणी अमेरिका में मिलती है। इसकी अँगुलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और पूँछ में चर्बी की तह जमी रहती है, जिसके कारण भोजन न मिलने पर भी यह जीवित रहती है। इसके चलने की रीति भी बड़ी विचित्र है। यह अपने पैरों के बल शरीर को ऊपर उठाकर अर्धगोलाकार में धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। शेष सभी छिपकलियाँ पेट के बल चलती हैं। ऑस्ट्रेलिया की ऐसी ही एक छोटी तथा मोटी पूँछवाली छिपकली की पूँछ इतनी लघु और चौड़ी होती है कि वह सिर के समान जान पड़ती है ! उसके सिर और पूँछ में इतनी समानता होती है कि देखनेवाला सुगमता से यह नही पहचान पाता कि किधर इसका सिर और किस तरफ इसकी पूँछ है ! यह छिपकली भी बड़ी आलसी होती है। किसी शत्रु के आने पर भी वह अपने स्थान से नहीं हटती। शीतकाल मे महानिद्रा के समय वह खाना-पीना त्याग देती है और पूँछ में मौजूद चर्बी के सहारे ही पड़ी रहती है। अन्य ऋतुओं मे यह केंचुओं, छिपकलियों, छोटे सर्पों तथा फलों पर निर्भर करती है। ऑस्ट्रेलियावासी इसे 'निद्रालु छिपकली' के नाम से भी पुकारते हैं।

दीवारों पर रहनेवाली कई जाति की साधारण घरेलू छिपकलियों के पंजों के नमूने

उड़नेवाली छिपकली

छिपकली का दूसरा बड़ा वंश अगेमडी है, जिसमें दो सौ से अधिक जातियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं। इस वंश की कई जातियाँ बहुत ही विचित्र हैं, जिनमें प्रथम स्थान उड़नेवाली छिपकलियों का है। इनकी लगभग बीस जातियाँ मद्रास, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीपों में पाई जाती हैं। ये लगभग दस इंच लम्बी होती हैं और इनकी पूँछ पाँच इंच की होती है। इनकी पिछली छः-सात पसलियाँ धड़ के बाहर दोनों ओर खाल में निकली हुई रहती हैं और उन पसलियों के मध्य की झिल्ली फैलने पर अत्यन्त उपयोगी पैराशूट का-सा कार्य करती है। उसकी ये बढ़ी हुई हड्डियाँ आगे और पीछे की ओर हिल-डुल सकती हैं। जब यह वृक्षों की चोटियों से नीचे की ओर उतरती है या वायु में उड़ते हुए पतिंगों को खाने की चेष्टा करती है तब पर के सदृश दोनों ओर की उसकी पसलियाँ फैल जाती हैं और वह बड़े साहस से हवा मे आ जाती है। इस भाँति वह साठ फ़ीट से भी अधिक ऊँचाई तक वायु में उड़ती चली जाती है और फलतः एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर भी पहुँच जाती है। विश्राम करते समय उसकी पसलियाँ तथा खाल कागज़ के बन्द होनेवाले पंखे की भाँति तह होकर गर्दन और पीठ के दोनों ओर सिकुड़ जाती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वायु-उड़ान के विकास में इस प्रकार की उड़ान प्रथम स्थान रखती रही होगी। चमगादड़ व

ऑस्ट्रेलिया की सुप्रसिद्ध झालरदार छिपकली
चित्र में वह दशा दिग्दर्शित है जब कि झालर फैली नहीं रहती।

इस छिपकली की उडनेवाली क्रिया में स्पष्ट भेद यह है कि चमगादड़ों के कर पंख के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, किन्तु उडाकू छिपकलियों में पसलियाँ फैली हुई झिल्ली को साधकर उन्हें उडने मे सहायता प्रदान करती हैं। उनका शरीर गहरा भूरा होता है, जिस पर काले-काले धब्बे और धारियाँ रहती हैं। उनके पर गहरे नारंगी रग के होते हैं और उनमें कई एक काली धारियाँ होती हैं। अधिकतर ये घने वनों मे पाई जाती हैं। तितली के-से रगीन पर होने के कारण ये रंग-बिरंगे पुष्पों मे अनायास ही छिप जाती हैं, जिससे इनके शत्रुओं को इन्हे पकड़ने मे बड़ी कठिनाई उठानी पडती है।

झालरदार छिपकलियाँ

अगेमडी वश में दूसरा विचित्र स्थान ऑस्ट्रेलिया की झालरदार छिपकलियों का है, जिनका कि निवासस्थान इस टापू का उत्तरी भाग और क्वीन्सलैंड है। इस छिपकली के शरीर की बाहरी खाल भी अद्भुत है, किन्तु उडाकू छिपकली की अपेक्षा इसकी झिल्ली इसके गर्दन और कण्ठ के चारों ओर बढ़ी हुई होती है और पसलियों के स्थान पर इसकी उपास्थि (Cartilage) की छडें ही, जो कि विशेष मांस पेशियों द्वारा खुलती और बन्द होती हैं, उसे फैलाने में सहायक होती हैं। इस विचित्र रचना का तात्पर्य या कार्य उडना नहीं है, यह तो एक प्रकार का परदा है जो उसके सम्पूर्ण शरीर को छिपा लेता है। जब यह छिपकली इस झालर को फैलाए हुए अपना पूर्ण मुख खोलकर सिर उठाए खडी हो जाती है, तब उसकी रूपरेखा वास्तव मे इतनी भयानक हो जाती है कि उसका शत्रु भयभीत होकर उसे छोड़ भागता है। खटका दूर होते ही यह झालर पहले की भाँति गर्दन के दोनों ओर चिपट जाती है। इतना भयावह रूप रखते हुए भी यह किसी को हानि नहीं पहुँचाती। दौड़ते समय यह अपने सिर और पूँछ को ऊपर उठा लेती है। झालर का रग पीला-लाल धब्बेदार होता है जो कि इसके तीन फीट लम्बे शरीर के सौंदर्य को बढाता है।

ऑस्ट्रेलिया तो आश्चर्यजनक वस्तुओं का घर है। मलोक नामक एक और विशाल कपटी जीव पश्चिमी तथा दक्षिणी द्वीप में पाया जाता है। इस भयकर-सी प्रतीत होनेवाली छिपकली को वहाँ के निवासी 'कटीला मूस' भी कहते हैं। इसका शरीर सिर से पूँछ तक टेढ़े सींग-जैसे शूल और खुरदरी रक्षक-गाँठों से युक्त होता है तथा इसके सिर पर आध इच लम्बे काँटे होते हैं। यद्यपि विधाता ने ये शूल उसकी रक्षा के ही हेतु बनाए होंगे, किन्तु यह जीव शत्रु पर इन काँटों से आघात नहीं करता। इसका शरीर देखने में अवश्य भयानक होता है, पर वह खतरनाक नहीं है। प्राचीन प्रकृति-वैज्ञानिक ऑस्ट्रेलिया और वहाँ के चमत्कारी जीवों से अपरिचित ही थे, अन्यथा इस निर्दोष छिपकली के विषय में वे अनेक भयानक कथाएँ न लिख जाते। इसका भोज्य पदार्थ विशेष रूप से चींटियाँ ही हैं, यद्यपि कभी-कभी यह साग-पात भी ग्रहण कर लेती है।

नई दुनिया की अनोखी छिपकलियाँ

पुरानी दुनिया की अगेमडी वश की छिपकलियों का स्थान नई दुनिया में इग्वैनडी वश की छिपकलियों ने ले लिया है। इनमे भी भाँति-भाँति के आकार, रग और लक्षणों से युक्त छिपकलियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ का वर्णन यहाँ पर किया जा रहा है। आश्चर्य की बात है कि इस वश के दो वर्ग पुरानी दुनिया (अफ्रीका के निकट मेडागास्कर द्वीप) मे अब भी पाए जाते हैं। इस वंश की छिपकलियों मे से बहुत-सी ऐसी हैं, जो थोड़ा-बहुत अपना रग बदल सकती हैं। इनमें से कुछ के रग तित-

लियों के समान इतने सुन्दर और चटक होते हैं और समीपवर्ती चीज़ों से वे ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि जब तक ये छिपकलियाँ किसी पतिंगे को पकडने के लिए उछलतीं नहीं, तब तक वे देखने में आतीं ही नहीं !

प्रसिद्ध बैसलिस्क नामक छिपकली भी इसी वर्ग की एक सदस्य है। इसके विषय में एक कवि ने लिखा है कि इसकी घातक फूँक ठोस संगमरमर में भी प्रवेश कर जाती है और उसकी नाशक दृष्टि स्वस्थ से-स्वस्थ प्राणी को भी घायल करके मृत्यु का ग्रास बना देती है। किन्तु यह धारणा या कथन सत्य नहीं। कारण न तो इसकी फूँक ही भयानक होती है और न दृष्टि ही। इसके विषय में कभी इतनी अद्भुत बातें प्रचलित थीं कि कदाचित् किसी कल्पित प्राणी के लिए भी न रही होंगी ! जब इन भयानक कथाओं से परिचित व्यक्ति सर्वप्रथम नई दुनिया में आया होगा और उसकी दृष्टि इस विचित्र रूपवाली छिपकली पर पड़ी होगी तभी उसने समझ लिया होगा कि क्यों वे सब कल्पित बातें इस के विषय में गढी गई होंगी।

बैसलिस्क है तो एक बड़ी सीधी छिपकली, जिसे एक बच्चा भी पकड़ सकता है, पर उसका रूप अवश्य अद्भुत होता है। उसकी दुम और पीठ की खाल झालर की तरह ऊपर की ओर उठी रहती है, मानों उस पर किसी ने मछली का डैना काटकर लगा दिया हो। उसका सिर भी अनोखा होता है—उसके पीछे की खाल ऊपर को उभरी रहती है। पर इसके केवल रूप में ही विचित्रता है, स्वभाव में नहीं। ये छिपकलियाँ शाकाहारी होती हैं और वृक्षों पर ही निवास करती हैं। जल में झुकी हुई डालो पर वे बडे आनन्द से विश्राम करती हैं और खटका पाते ही फुर्ती से पानी में कूद पड़ती हैं। जल मे ये सिर और पूँछ ऊपर निकालकर भली भाँति तैर लेती हैं।

अन्य ध्यान देने योग्य इग्वैनडी छिपकलियों में एक तो वे हैं, जिनके नाक के ऊपर दो छेद होते हैं और दूसरी वे, जिन्हे हम साधारणतः (ग़लती से) 'सींगवाला मेंढक' कहते हैं। ये केलीफ़ोर्निया में पायी जाती हैं। इनके शरीर पर भी चित्ताकर्षक कँटीले खोल होते हैं। किन्तु ये केवल स्थानीय (नई दुनिया के बालू के मैदानों में रहने वाले) मन्द गतिवाले पतिंगो के अतिरिक्त और किसी पर आघात नहीं करतीं। इन छिपकलियों के विषय में एक आश्चर्य-जनक बात प्रसिद्ध है कि जब ये किसी पर आक्रमण करती हैं तब अपनी आँखों के कोनों से कई फ़ीट तक रुधिर जैसे लाल रंग की धार फेंकती हैं ! बचाव का यह कितना अद्भुत उपाय है ! इसी प्रकार बचाव के कई उपाय अन्य जीवों में भी मिलते हैं। अफ़्रीका के कुछ सर्प थूक फेंकते हैं, बहुत-से समुद्री पक्षी अपने नथुनों से दुर्गन्धित तेल ज़ोर से निकालते हैं, कोई-कोई कीड़े-मकोड़े अपने को बचाने के हेतु अपने शरीर से आम्लिक रस निकालते हैं, किन्तु इस छिपकली के नेत्रों से रुधिर सी वस्तु फेंके जाने की यह क्रिया सबसे

झालरदार छिपकली का झालर फैलाने की दशा का भयावह स्वरूप
पिछले पृष्ठ के चित्र से तुलना करके देखिए !

निराली है ! इससे छिपकली को कोई हानि होती हो ऐसा नहीं जान पड़ता, किन्तु यह ठीक-ठीक समझ मे नहीं आता कि ऐसे कँटीले शस्त्रधारी जीव को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता क्यों पडती है ! सम्भावना है कि कँटीले कवच के साथ-साथ प्रकृति ने युद्ध का यह नवीन साधन भी उसे दिया हो जो कि एक समय इतना उन्नतिशील हो जाय कि उसके कारण भारी कवच भी व्यर्थ प्रतीत होने लगे।

विषैली छिपकलियाँ

अभी तक तो छिपकलियों के केवल एक ही वर्ग के (दो जातियों के) प्राणियों में विष पाया गया है और ये दोनों ही जातियाँ नई दुनिया में मिलती हैं। इनमें से एक जाति मध्य मैक्सिको से लेकर मध्य अमेरिका तक और दूसरी जाति न्यू मैक्सिको और ऐरिज़ोना मे पाई जाती है। प्रथम जाति का शरीर अधिक सुगठित होता है और पूँछ छोटी व मोटी होती है, किन्तु दोनों के शरीर पर हल्के नारंगी और काले रग के धब्बे अथवा धारियाँ होती हैं । ये सुस्त तथा कुरूप छिपकलियाँ दो फीट लम्बी होती है । इनके विष से छोटे-छोटे जीव-जन्तु तो शीघ्र मर ही जाते हैं, बहुधा मनुष्य भी काल के ग्रास बन जाते हैं। सर्प के समान इनकी विष-ग्रन्थियाँ नीचे के जबड़े में होती हैं और इनके शरीर की खाल पर माला के-से छोटे-छोटे दाने उभरे रहते हैं, जिसके कारण इन्हें मालाकार भी कहते हैं।

बिना पैरवाली छिपकलियाँ

बिना पैरवाली छिपकलियों का उल्लेख तो हम लेख के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अब हम यहाँ पर इनमें के एक-दो नमूनों का वर्णन भी करेंगे। ये विचित्र छिपकलियाँ सर्प-सी दृष्टिगोचर होती हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी की छिलकेदार पैरवाली छिपकलियों में अगली टाँगें तो बिलकुल लुप्त रहती हैं, परन्तु पिछली टाँगें बहुत छोटी-सी रहती हैं। मादाओं में तो ये बड़ी कठिनता से प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। नरों में ये छिलकों से ढकी रहती है, किन्तु किसी कार्य के योग्य नहीं होतीं । दक्षिणी अफ्रीका की कँटीली और घेरदार दुमवाली छिपकलियों में भी एक ऐसी ही जाति पाई जाती है, जिसके अगली टाँगें नहीं होतीं। ये छिपकलियाँ बीस-बाइस इंच तक लम्बी होती हैं। बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। इनकी दो तिहाई दुम प्रायः टूट जाती है।

हमारे देश के घरों की दीवारों पर पाई जानेवाली चर्बीली दुमवाली छिपकली, जिसकी मोटी दुम मे एकत्रित चर्बी कई दिनों तक आहार न मिलने की दशा में भी उसका भरणपोषण करने में सहायक होती है।

बिना पैरवाली छिपकलियों में सबसे प्रसिद्ध ऐगम्फूडी वश की वे छिपकलियाँ हैं, जो साधारणतः 'अन्धे कीड़े' अथवा 'आलसी कीट' के नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसा ऊटपटाँग नाम कदाचित् किसी भी प्राणी का न होगा, क्योंकि इनकी दृष्टि भी खासी अच्छी है और ये आलसी भी नहीं हैं ! ये अपने बराबर के सर्प के समान ही फुर्तीली होती हैं। इनके चारों पैर पूर्ण रूप से लुप्त रहते हैं और उनका कोई बाहरी चिह्न भी नहीं होता। ये सर्पों की भाँति केंचुली उतारकर फेंकती हैं। इनका आकार गोल अथवा लम्बा होता है, अतः बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। परन्तु सर्प से बिल्कुल विपरीत इनके बाहरी कानों मे छेद और चलती हुई पलकें होती हैं।

काँच-सा सर्प

एक और बिना पैरवाली छिपकली, जो अन्धे कीड़े की तरह साँप समझकर कभी-कभी मार डाली जाती है, दक्षिणी-पूर्वी योरप, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और अमेरिका के अतिरिक्त उत्तरी-पूर्वी भारतवर्ष तथा ब्रह्मा में भी पाई गई है। चूँकि यह काँच के समान चिकनी होती है, अतः 'काँच-सर्प' भी कहलाती है। इसकी लम्बाई चार फीट होती है और सारा शरीर चौकोर पीले तथा भूरे रग के छिलकों से ढका रहता है। अगले पैर तो इसके भी नहीं होते, परन्तु पिछले पैर बहुत छोटे होते हैं, जो कि नोक के समान दिखाई देते हैं। साँप-जैसी भयानक दिखाई देने पर भी यह छिपकली मानव-जाति के लिए

आँस्ट्रेलिया की अद्भुत कवचधारी छिपकली—मलोक

बहुत हितकारक होती है, क्योंकि यह हानि पहुँचानेवाले चूहों, छछूँदरों, कीड़े-मकोडों आदि जीवों को खा लेती है। कभी-कभी यह वाइपर जैसे जहरीले सर्प को भी मारकर खा जाती है। इस छिपकली की दुम मे एक विशेषता यह है कि जब यह अपने को किसी शत्रु के हाथों मे या मुख में पाती है तब अपने शरीर को मोड़कर पूँछ का बहुत-सा भाग अचानक शरीर से अलग कर देती है! उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों इसका शरीर काँच के सदृश टूटनेवाला है! इसीलिए इसे 'काँच-सर्प' कहा गया है। एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि यह अपने टूटे हुए भाग को फिर से जोड लेती है और यदि उसके शरीर के टुकड़े-टुकडे भी हो जायँ तो भी वह जीवित रहती है! परन्तु ऐसा अभी तक देखने मे नहीं आया है।

बृहदाकार छिपकलियाँ

संसार की सब छिपकलियाँ छोटी ही नहीं हैं। कुछ तो इतनी बड़ी हैं कि हम बिना देखे उनका ठीक अनुमान कर ही नही सकते। बड़ी-बड़ी छिपकलियों की लगभग ३० जातियाँ भारतवर्ष, अफ्रीका, मलाया और आॅस्ट्रेलिया में पायी जाती हैं। इनको गिरगिटान, बिसखोपरा और गोह कहते हैं। उरगमों की उन्नति की चरमावस्था के दिनों में प्राचीन समय की बड़ी-से-बड़ी गोह भारतवर्ष मे पाई जाती थी और आॅस्ट्रेलिया में छिपकली की एक जाति ठीक तीस फीट लम्बी होती थी! आज की कुछ बड़ी जातियाँ रेगिस्तानो में रहती हैं, किन्तु अधिकांश दलदलवाले मैदानों में रहती हैं। इन छिपकलियों की बड़ी और मज़बूत दुम स्थल पर आक्रमण करने के लिए शस्त्र-सदृश होती है और जल में तैरने के लिए भी वह सहायक होती है। सभी बडी छिपकलियाँ मांसाहारी होती हैं। चिड़ियाँ और उनके अडे, छोटी छिपकलियाँ, मेढक आदि छोटे-छोटे जीव ही इनका आहार हैं। घड़ियाल और मगर के अडों को भी ये खोज-खोजकर हडप कर लेती हैं।

गिरगिटों के नाम से तो सभी भारतवासी परिचित होंगे।
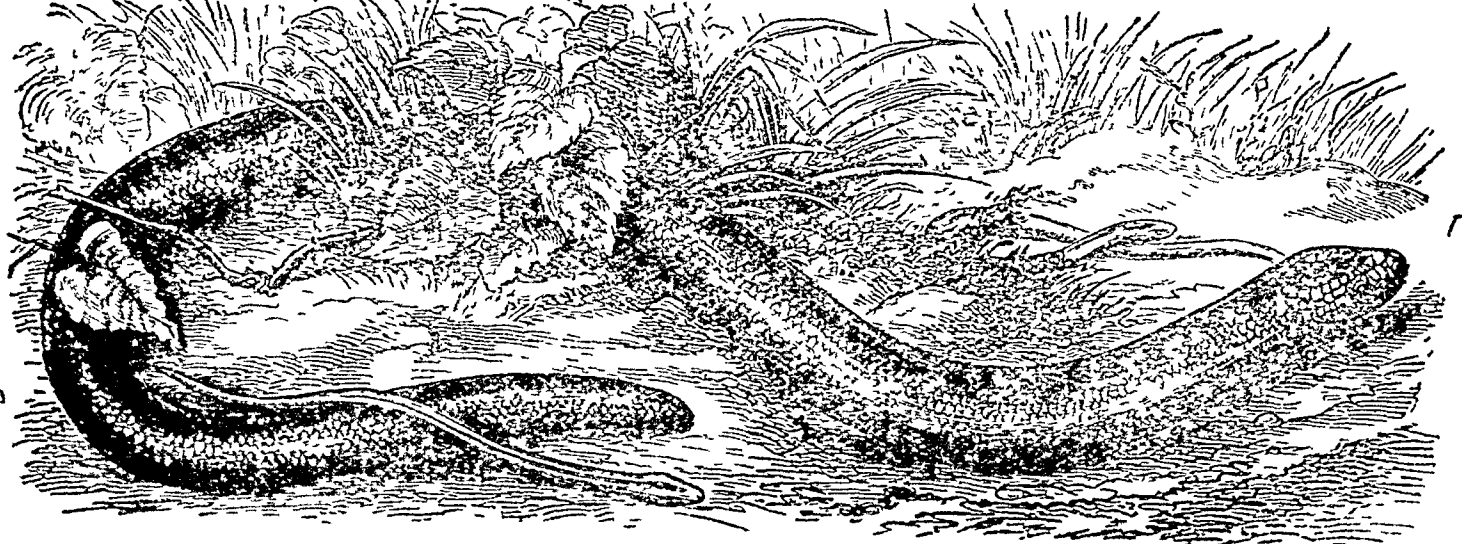
साँप जैसी दिखाई पड़नेवाली बिना पैरवाली छिपकली, जिसे भ्रमवश लोग 'काँच-सर्प' के नाम स पुकारते है! यह संकट के समय अपनी दुम को शरीर से अलग कर देती है।

(दाहिनी ओर)
संसार की सबसे बड़ी गोह
यह छिपकलियों की जाति का सबसे बड़ा वर्त्तमान उरंगम है और कमोडो द्वीप में मिलने के कारण 'कमोडो ड्रेगन' के नाम से विख्यात है।
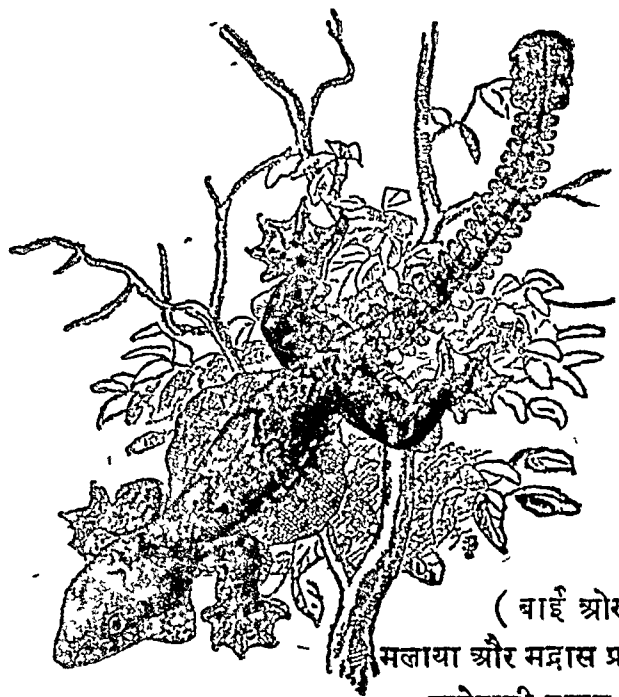
(बाईं ओर)
मलाया और मद्रास प्रान्त में पायी जानेवाली उड़ाकू छिपकली
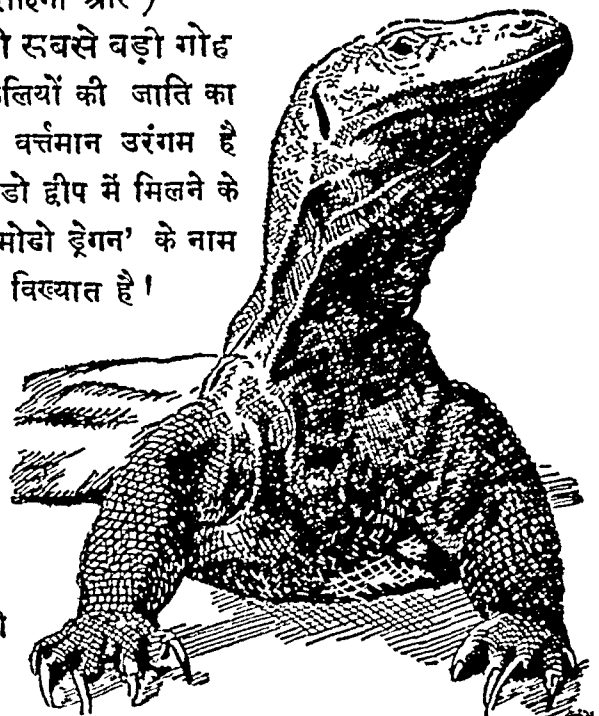
उनमे रग बदलने की अपूर्व शक्ति होती है, किन्तु उनकी यह क्रिया केवल घबडाने के ही समय होती है। नर गिरगिट बड़ा लडाकू होता है और लड़ते समय ही रग बदलता है। उसकी पूँछ की लम्बाई शरीर से लगभग चौगुनी होती है।

विसखोपरा स्थलवासी जीव है, परन्तु इस जाति के कुछ जीव स्थल तथा जल दोनों में निवास करते हैं। इसकी लम्बाई सात आठ फीट तक भी होती है। जिस जीव को यह मारता है, उसे खा भी लेता है। बहुत से व्यक्तियों का दृढ विश्वास है कि यह उरगम विषैला होता है, किन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हुई है।

गोह सबसे बडी छिपकली है, जो कभी कभी पन्द्रह फीट तक लम्बी पाई गई है। इसके शरीर पर काँटे नहीं होते, पर खाल खुरखुरी होती है। यह घरों में, पानी में और वृक्षों की डालियों पर रहती हैं। जल में तैरते समय इसके पैर शरीर से चिपक जाते हैं और पूँछ पतवार का काम देती है। यह अपने दाँतों, मजबूत पजों और कोडे-जैसी दुम से हथियारों का सा काम लेती है। कभी-कभी पकड़ी हुई गोहों ने दुम मारकर मनुष्यों को भी घायल किया है। भारतवर्ष में कुछ गोहे विषैली समझी जाती हैं, परन्तु वैज्ञानिकों को इनके किसी भी अग मे विष नही प्राप्त हुआ है, अतः उनकी सम्मति है कि ये विषैले प्राणी नहीं हैं।

पुराने जमाने मे, विशेषकर भारतवर्ष में, गोहों का उपयोग लडाई में क़िलों की ऊँची दीवारों पर चढने के लिए भी किया जाता था। इस कार्य के लिए खास तौर से गोहें पाली जाती थीं और उन्हे शिक्षा दी जाती थी। ऐसी सिखाई हुई गोह की दुम में रस्सी बाँधकर उसे दीवार पर छोड़ दिया जाता था और जब वह ऊपर चढ़कर मजबूती से अपने पजे जमाकर दीवार के सिरे पर चिपक जाती थी, तब नीचे लटकती हुई रस्सी के सहारे लोग ऊपर चढ जाते थे!

गोह अनेक प्रकार का भोजन करती हैं। जीवों पर आक्रमण कर उनका मांस-भक्षण करना ही इनका मुख्य निर्वाह साधन है। चिडियों और कछुओं के अडों को ये बड़ी रुचि से खाती हैं। अडे को मुख में रखकर ये अपना सिर ऊपर उठा लेती है और तब अडे को तोड़ती हैं, जिससे उसका सार-भाग कण्ठ मे चला जाता है। लिडेकर साहब ने लिखा है कि बगाल की एक गोह ने वर्ष भर में साठ चूहे, छः अडे, पाँच सेर मांस और चार खरगोश खाए थे!

दुनिया की सबसे बड़ी गोह डच पूर्वीय द्वीप-समूह मे मिलती है और 'कमोडो' नाम से पुकारी जाती है। कमोडो नाम के द्वीप में सर्वप्रथम पाई जाने के कारण ही यह इस नाम से प्रख्यात है। सम्भव है, ऐसी बृहदाकार छिपकलियों से ही उन परदार अजगरों की कल्पना चीन के कलाकारों ने की होगी, जो हमे अब भी बहुतायत से वहाँ के चित्रों में दिखाई देते हैं। इस गोह की बडी लचीली गर्दन और चिमटे की भाँति फटी हुई लम्बी लपलपाती हुई जीभ अपने भारी और कुरूप शरीर के साथ बडी भयंकर जान पडती है! तो फिर क्या आश्चर्य कि इस जीव के बारे में अनेक अपूर्व झूठी कहानियाँ और कहावतें बन गई हों। बाल्यावस्था से ही हम ऐसे काल्पनिक भयकर अजगरों या ड्रेगनों की कहानियाँ पढ़ते आये हैं।

मनुष्य
की कहानी
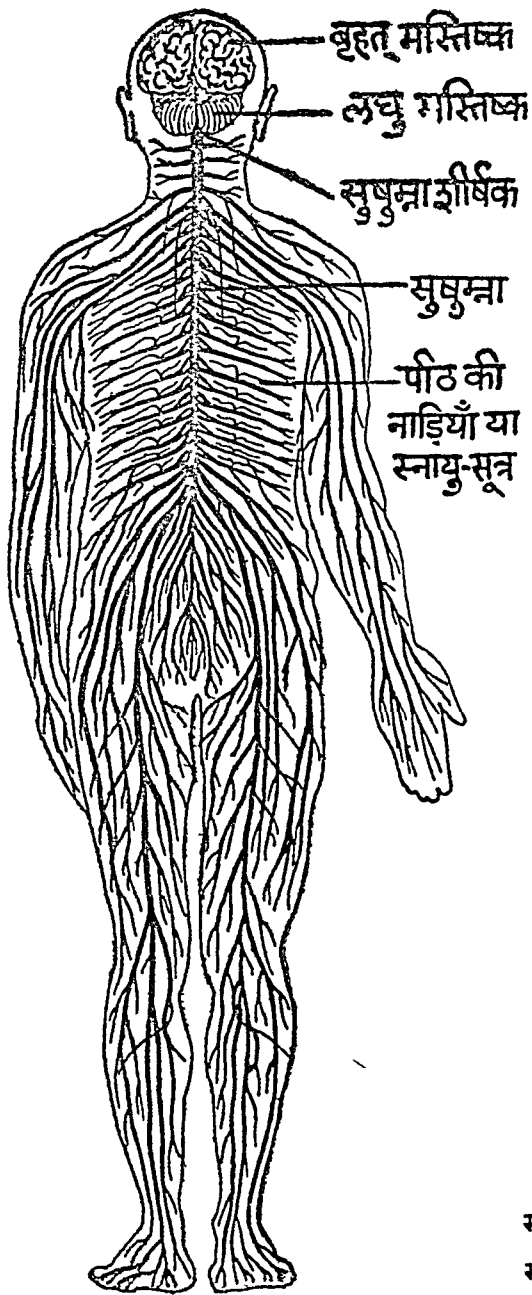
केन्द्रीय स्नायु संस्थान
(Central Nervous System)

प्रस्तुत मानचित्र में मानवीय स्नायु-संस्थान के तीनों मुख्य भाग —मस्तिष्क, सुषुम्ना और स्नायु-जाल दिग्दर्शित हैं। बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) और लघु मस्तिष्क (Cerebellum) की स्थिति भी प्रदर्शित है। इस मोटे मानचित्र द्वारा आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मस्तिष्क और सुषुम्ना किस प्रकार एक दूसरे से संबंधित हैं और किस प्रकार सुषुम्ना से निकलकर स्नायुसूत्र या वात-नाड़ियाँ असंख्य शाखा प्रशाखाओं के रूप में चारो ओर सारे शरीर में फैल गई हैं।
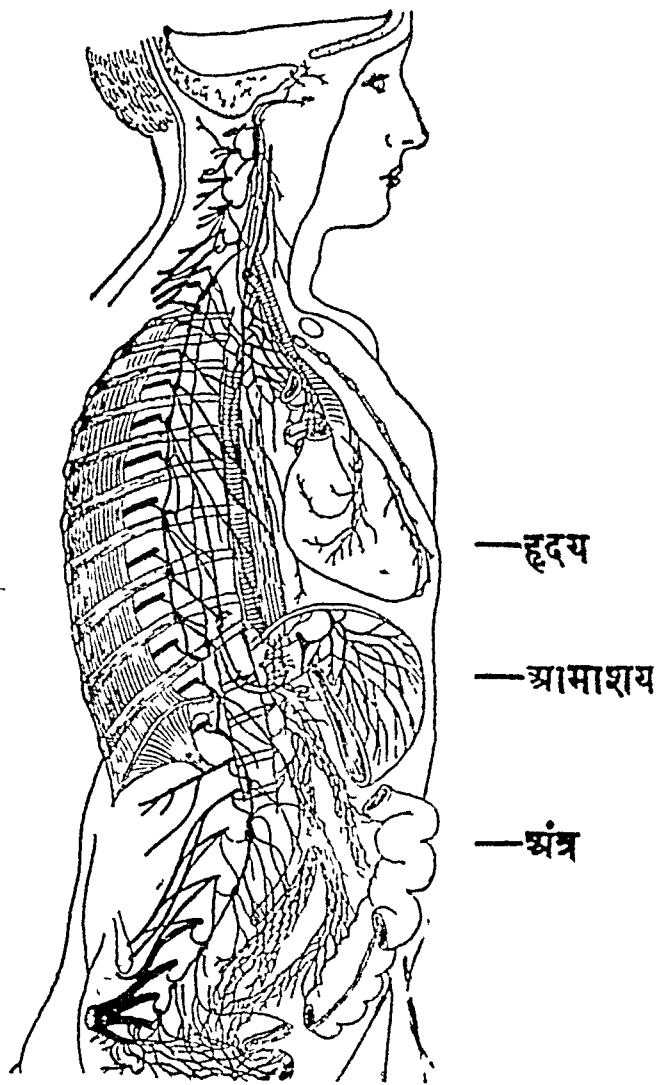
सहानुभूतिक स्नायु-संस्थान
(Sympathetic Nervous System)

मस्तिष्क और सुषुम्ना के अतिरिक्त स्नायु-संस्थान का एक और भी महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे हम सहानुभूतिक अथवा स्वतंत्र स्नायु-संस्थान कहते हैं। इस संस्थान में छोटी-छोटी गाँठों की एक दोहरी माला सम्मिलित है, जो मेरुदंड (शरीर की रीढ़) के दोनों तरफ कपाल से लेकर पेड़ू तक फैली हुई है। इस माला की एक लड़ रीढ़ की हड्डी के बाईं ओर और दूसरी दाहिनी तरफ़ पड़ी रहती है। प्रत्येक लड़ में थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्नायु-कोषों के एकत्रित होने से छोटी-छोटी गाँठें बन गई हैं, जो कुछ-कुछ पिंगल वर्ण की होती हैं, अतएव यह भाग 'पिंगल नाड़ीमंडल' भी कहा जाता है। इन गाँठों से कई नाड़ियाँ निकलती हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटकर सभी भीतरी अंगों और रक्त-रगों में जाल के सदृश फैल जाती हैं। इन जालों में से सबसे बड़ा और श्रेष्ठतम जाल वह है, जो पाँचवें से लेकर दसवें गंड से निकलनेवाले सूत्रों के मिलाप से बनता है और जिसको 'सौर जाल' कहते हैं। यह आमाशय के पीछे के गड्ढे में रहता है और इसकी शाखाएँ पेट के सब अंगों और ख़ून की नसों में जाती हैं।
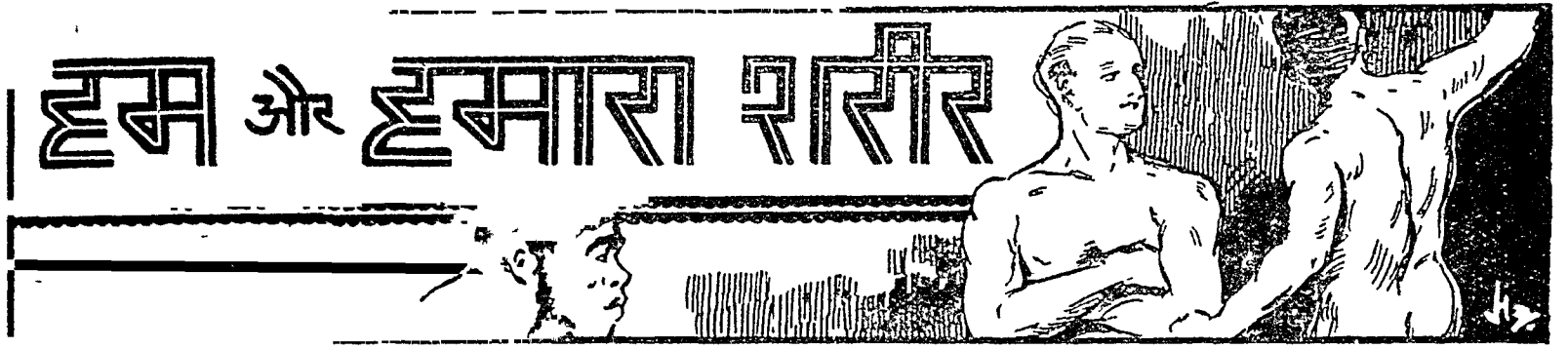
हमारे शरीर-यंत्र का प्रधान संचालक—(१)

स्नायु-संस्थान, उसकी रचना तथा क्रियाएँ

सहानुभूतिक स्नायु-संस्थान

पिछले लेखों में हम शरीर के मुख्य-मुख्य संस्थानों और उनके कार्य करने की रीतियों के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। अब हम एक ऐसे संस्थान के विषय में लिख रहे हैं, जो उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संस्थान की तुलना राज्य के उस सदर मुकाम से की जा सकती है, जहाँ से राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के समस्त कार्यों के संचालन का काम किया जाता है। मानवीय शरीर-यंत्र के सभी पुर्जे अपना कार्य मिल-जुलकर उन संदेशों द्वारा करते हैं, जो कपाल में सुरक्षित मस्तिष्क और रीढ की हड्डी मे बन्द सुषुम्ना से शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के क्रियाशील अंगों तक टेलीफोन के तारों की तरह फैली हुई नाड़ियों द्वारा आते-जाते हैं।

मस्तिष्क और सुषुम्ना के अतिरिक्त स्नायु-संस्थान का एक और भी महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे हम सहानुभूतिक अथवा स्वतंत्र स्नायु-सस्थान कहते हैं। इस संस्थान में छोटी छोटी गाँठों की एक दोहरी माला सम्मिलित है, जो मेरुदड (शरीर की रीढ़) के दोनों तरफ कपाल से लेकर कोख तक फैली हुई है। इस माला की एक लड़ रीढ़ की हड्डी के बाईं ओर और दूसरी दाहिनी तरफ़ पड़ी रहती है। प्रत्येक लड़ में थोडी-थोड़ी दूर पर स्नायु-कोषों के एकत्रित होने से छोटी-छोटी गाँठे बन गई हैं, जो कुछ-कुछ पिंगल वर्ण की होती हैं, अतएव यह भाग 'पिंगल नाड़ीमंडल' भी कहा जाता है। इन गाँठों से कई नाड़ियाँ निकलती हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटकर सभी भीतरी अंगों और रक्त-रगों में जाल के सदृश फैल जाती हैं। इन जालों में से सबसे बड़ा और श्रेष्ठतम ज़ाल वह है, जो पाँचवें से लेकर दसवें गंड से निकलनेवाले सूत्रों के मिलाप से बनता है और जिसको 'सौर जाल' कहते हैं। यह आमाशय के पीछे के गड्ढे मे रहता है और इसकी शाखाएँ पेट के सब अंगों और खून की नालियों में जाती हैं। यही कारण है कि आमाशय के ऊपर प्रचंड घूँसा लग जाने से कभी-कभी इस सौर जाल में ऐसा धक्का लगता है, कि कुछ पल साँस लेना भी कठिन हो जाता है।

सहानुभूतिक गाँठों से निकले हुए स्नायु-सूत्रों में से कुछ सुषुम्ना से निकलनेवाली नाड़ियों की शाखाओं से भी मिलते हैं, किन्तु यह संस्थान अपना कार्य अलग करता है। इसी संस्थान की प्रेरणा से हृदय, फेफडे, आमाशय और आँत जैसे अंगों की स्वाधीन गतियाँ होती हैं। यह उन कार्यों को भी नियंत्रित एवं सचालित करता है, जो मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है। यह संस्थान ख़ून की रगों की दीवारों की स्वाधीन पेशियों की गति को वश मे करके रक्त के बहाव को अथवा शरीर के ताप को घटाता-बढ़ाता भी है। अचानक भयभीत होने या चिंता में पड जाने से हमारा चेहरा पीला पड़ जाता है, किन्तु ख़ुश होने पर चमक उठता है, यह क्यों? इसका कारण यह है कि भयभीत होने पर चेहरे में फैली हुई ख़ून की नलियों पर इन स्नायु-सूत्रों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनमें खून कम हो जाता है और ख़ुशी मे इसका बिल्कुल उल्टा प्रभाव पड़ता है।

सहानुभूतिक स्नायु-सस्थान कुछ अंश में पाचन, श्वास और ग्रंथियों में रस बनने की क्रियाओं को भी नियंत्रित करता है। इसके विषय मे अभी तक बहुत खोज बाकी है, लेकिन यह विश्वास किया जाता है कि यह संस्थान इच्छा और वश के बाहर होते हुए भी हमारे भावों से प्रभावित होता है, जैसे कि शोक मे डूबे हुए मनुष्य की भूख मारी जाती है। इस संस्थान मे भाव स्वयम् उत्पन्न नहीं होते, वरन् मस्तिष्क और सुषुम्ना से भेजे हुए आदेश या संदेश के प्रभाव से ही जाग्रत होते हैं। स्वतंत्र स्नायु-संस्थान के तार वहीं से होकर उन पेशियों, अवयवों या ग्रंथियों

तक पहुँचते हैं, जो मनुष्य की इच्छा के वश मे नहीं हैं। यही कारण है कि हम इस संस्थान को स्वतंत्र सहानुभूतिक संस्थान कहना उचित समझते हैं। पर यह कोई अलग नाडी-मंडल नहीं है, वरन् मध्यस्थ या केन्द्रीय नाड़ी-मंडल का ही एक बाहरी भाग है।

मानवीय स्नायु संस्थान अन्य जीवों की तुलना में सबसे अधिक जटिल है और उसने उन्नति भी अधिक की है। मनुष्य अपने डीलडौल के अनुसार संसार के समस्त प्राणियों में अधिक बुद्धिमान् है। उसके मस्तिष्क का बोझ सारे शरीर के बोझ का साठवाँ भाग है, जब कि बडे सिरवाले हाथी के मस्तिष्क का बोझ उसके शरीर के बोझ से छः सौ भाग से भी कम है! मानव स्नायु संस्थान के तीन भाग हैं—मस्तिष्क, सुषुम्ना और वे स्नायु-नाडियाँ, जो सुषुम्ना से निकलकर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं। प्रस्तुत लेख में हम प्रत्येक भाग का वर्णन अलग-अलग करेंगे।

मस्तिष्क

मस्तिष्क सारे स्नायु संस्थान का सरदार, उसका प्रधान केन्द्र तथा शरीर का मुख्य नियंत्रण-अंग है। वह इंजिन के इंजीनियर के तुल्य है। वह विशेषतया एक नर्म पदार्थ से निर्मित्त होता है, अतएव उसे एक हड्डीदार खोपड़ी का बक्स सुरक्षित रखता है। इस हड्डीदार ढाँचे का सबसे कमजोर स्थान है आँख के ऊपरी गड्ढे का भाग, जिसकी हड्डी पतली और दुर्बल है। मस्तिष्क की विशेष रक्षा उन तीन झिल्लियों से होती है, जिससे कि वह मढा रहता है। इनमे सबसे भीतरी झिल्ली बहुत पतली और कोमल रहती है, जिसमें छोटी-छोटी धमनियों और शिराओं का घना जाल बिछा रहता है। इन्हीं के द्वारा मस्तिष्क को रुधिर तथा भोजन मिलता हैं। इस झिल्ली का नाम 'अन्तावरण' है। यह मस्तिष्क से इतनी अधिक चिपटी रहती है कि उसे अलग करना बहुत ही कठिन होता है। अन्तावरण के बाहर की झिल्ली पारदर्शी और मकडी के जाले के समान कोमल होती है। इस झिल्ली से एक तरल पदार्थ बनता है, जो इसके तथा अन्तावरण के मध्य की तंग जगह में भरा रहता है। यह तरल पदार्थ रुधिर से बनता है, और पानी की गद्दी का सा काम करता है, जो खोपड़ी की कड़ी हड्डी के दबाव और उछलने-कूदने-जैसी गतियों के धक्कों से भीतरी स्नायविक पदार्थ को बचाये रहती है तथा मस्तिष्क के व्यर्थ पदार्थों को दूर करने में भी सहायक होती है।

सबसे बाहरी झिल्ली चीमड़ और रेशेदार होती है। उसके बाहरी आवरण की ऊपरी सतह खुरखुरी होती है और कपाल के भीतर चिपटी रहती है। तीनों झिल्लियों को मिलाकर आवरण कहते हैं। इनमें सूजन आ जाने से मैनिनजाइटिस (मस्तिष्क ज्वर) नामक भयानक रोग हो जाता है।

क्या आवश्यक है कि बड़ा मस्तिष्क अधिक बुद्धि का ही द्योतक हो?

एक युवा पुरुष के मस्तिष्क का औसत बोझ लगभग १॥ सेर होता है, किन्तु एक युवती का इससे लगभग ढाई छटाँक कम होता है। यह सत्य है कि बुद्धि बहुत-कुछ मस्तिष्क के भार तथा डीलडौल पर ही निर्भर है, किन्तु यह बात नितान्त सत्य नहीं, कारण ऐसे भी व्यक्ति हुए हैं, जिनमें बडे मस्तिष्क रहते हुए भी बुद्धि बहुत ही न्यून रही और ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें छोटे मस्तिष्क होने पर भी असाधारण योग्यता देखने में आई है।

गुणी पुरुषों में सबसे भारी मस्तिष्क, जिसका कि अभी तक पता हमें चला है, ऐडवोकेट ब्रूने का था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी विचित्र थी और उसके मस्तिष्क का वजन १६१ तोला से भी अधिक था। एशिया के गुणवान व्यक्तियों में सर्वप्रथम टूगूची नामक जापानी का मस्तिष्क जाँचा गया था, जो दैहिक गठन संबंधी विद्या में निपुण था। उसका मस्तिष्क ठीक २ सेर भारी था। रूस के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक तुर्गनेव के मस्तिष्क का बोझ लगभग १४८ तोला था। श्रेष्ठ वैज्ञानिक क्यूवियर का मस्तिष्क ६३ वर्ष की अवस्था में १४६ तोला का पाया गया था। ठीक इसके प्रतिकूल प्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता हेल्महोट्ज का मस्तिष्क औसत से भी हल्का था। ७३ वर्ष की आयु में भी उसके मस्तिष्क का वजन ११० तोला ही था। शरीर के अंगों के गुणों तथा कर्त्तव्यों को जाननेवाले प्रसिद्ध जीवविज्ञानवेत्ता गोल्डस के मस्तिष्क का तौल १०८ तोला था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक डौलिन्जर का मस्तिष्क ६४ तोला से कुछ अधिक और सबसे चतुर लेखकों मे से एक, एनातोले फ्रान्स, का मस्तिष्क ८५ तोला भर ही भारी था! अपने छोटे मस्तिष्क के अनुसार तो उसे मूर्ख होना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं!

मूर्खों के मस्तिष्क प्रायः औसत से बहुत कम हल्के होते हैं। एक मूर्ख स्त्री के मस्तिष्क का वज़न ३१ तोले से भी कम था! औरंगउटॉग नामक बनमानुस का मस्तिष्क इससे कुछ ही कम वज़नी होता है। मूर्खों में भी मस्तिष्क के बोझ के सम्बन्ध में कई अपवाद मिले हैं। २१ वर्ष की अवस्था में एक मूर्ख का मस्तिष्क हेल्महोट्ज़ के

मस्तिष्क से दूना भारी पाया गया था। रस्टन नामक एक मजदूर का मस्तिष्क ऐडवोकेट ब्रूने के मस्तिष्क से भी ५ तोला भारी था। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल मस्तिष्क के वजन को अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। एक और महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि बुद्धि केवल मस्तिष्क पर ही निर्भर नही है और मस्तिष्क एक स्नायविक यंत्र मात्र नहीं है, वरन् संचालन-यंत्र और इन्द्रिय-ज्ञान करानेवाला अंग भी है, जो भाँति-भाँति की उत्तेजनाओं को नियंत्रित करता है। उसका डील शरीर की क्रिया-विशेषता पर निर्भर है। घोड़ा सुस्त गेंडे से कहीं अधिक फुर्तीला जन्तु है, इसलिए उसके मस्तिष्क का गति से सम्बन्ध रखनेवाला भाग बहुत बड़ा होता है। भूमि के अन्दर रहनेवाले छछूँदर, सेई आदि जीवों में बन्दर के संपूर्ण मस्तिष्क से भी अधिक विशाल सूँघनेवाले क्षेत्र पाए जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जिस जाति ने जितनी अधिक उन्नति की है उसका मस्तिष्क उतना ही अधिक भारी होता है और उस जाति में विद्वान् व्यक्तियों के सिर मूर्ख व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े होते हैं। किन्तु इसमें भी कुछ असाधारण अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रवेता शोपेनहार का सिर असाधारणतया बड़ा था। उसका घेरा लगभग ६० सेंटीमीटर था। इसके विपरीत रेफेल जैसे प्रतिभावान पुरुष के सिर का घेरा केवल ५२'८ सेंटीमीटर ही था। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धिमान् मस्तिष्क सदैव बड़े ही नहीं होते।

मनुष्य के मस्तिष्क का शीर्ष भाग
बीच की विभाजक दरार और ऊपरी सतह पर पड़ी हुई खाइयों पर ग़ौर कीजिए!

क्या दिमाग़ी काम से सिर फूल जाता है?

मस्तिष्क शरीर का एक ऐसा अंग है, जो अभ्यास करने से बढ़ता है। जिस प्रकार लगातार अभ्यास से पेशियाँ बड़ी हो जाती हैं, उसी तरह दिमाग़ी काम करने से मस्तिष्क बढ़ता जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक गैटे में हमे मिलता है। गैटे का सिर अन्तिम समय तक बढ़ता ही चला गया था। ६५ वर्ष की आयु में भी वह नव उमंग से ओत-प्रोत था और तब उसने विश्व-साहित्य में सबसे आश्चर्यजनक काव्य की रचना की थी। जब वह ८० वर्ष का हुआ, तब उसने और भी भावपूर्ण पुस्तकें लिखीं। ८२ वर्ष की आयु में, मृत्यु से कुछ सप्ताह पूर्व, उसने अपनी 'फॉस्ट' नामक अंतिम स्मरणीय पुस्तक पूरी की थी! ऐक्सनर नामी जीवतत्ववेत्ता ने गैटे की १६६ तसवीरों से पता लगाया था कि उसके सिर का घेरा २४ से ३० वर्ष की आयु मे ६४ सेंटीमीटर था, ३० से ५० के बीच में वह बढ़कर ११० सेंटीमीटर हो गया था तथा ७० वें वर्ष में ११२ और ८० वें वर्ष में ११६ सेंटीमीटर तक पहुँच गया था! इससे स्पष्ट है कि बाक़ी शरीर की वृद्धि के रुक जाने पर भी मस्तिष्क बहुत दिनों तक बढ़ सकता है। मस्तिष्क ६० से ७० की आयु में सबसे उत्तम दशा को प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः मनुष्य ४५ वर्ष की उम्र के पश्चात् अध्ययन करना बंद कर देते हैं, जिससे वह कड़ा पड़ जाता है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ४० से ५० वर्ष की आयु में मस्तिष्क की सबसे अधिक उन्नति होती है। यदि कोई व्यक्ति इस आयु में अध्ययन करना बन्द कर दे तो उसका मस्तिष्क बूढ़ा होने लगता है। यह सच है कि शरीर को वृद्धावस्था प्राप्त करने से कोई रोक नहीं सकता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने मस्तिष्क को अभ्यास द्वारा बूढ़ा होने से रोक सकता है।

बृहत् या बड़ा मस्तिष्क

मस्तिष्क के मुख्य चार भाग हैं—बृहत् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, सेतु या पुल और सुषुम्ना-शीर्षक। बृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है, जो कपाल के ऊपरी व अगले भाग में स्थित है। यह शेष मस्तिष्क को ढके रहता है। इसमें मस्तिष्क के समस्त भार का ⅞ भाग सम्मिलित है। यह दो इञ्च गहरी एक दरार द्वारा दो बराबर-बराबर भागों में विभाजित है। ये भाग दाहिने और बायें गोलार्द्ध कहलाते हैं। दोनों गोलार्द्धों को विभाजित करनेवाली दरार के नीचे एक श्वेत स्नायु-पदार्थ रहता है, जो महासंयोजक कहलाता है। बृहत् मस्तिष्क में बाहर की ओर एक धूसर पदार्थ की मोटी तह होती है, जिसके भीतर एक श्वेत पदार्थ इस प्रकार भरा रहता है, जिस तरह फलों में छिलके के भीतर गूदा होता है। यह धूसर भाग स्नायु-कोषों से निर्मित है और उसका भीतरी भाग उन स्नायु-सूत्रों से बनता है जो बाहरी भाग से निकलकर उसमें प्रवेश करते हैं। इस धूसर क्षेत्र का प्रत्येक भाग भिन्न-भिन्न कार्य्यों को करता और अपने-अपने विशेष कार्य का केन्द्र कह-

लाता है। इनका विस्तृत वर्णन हम आगामी लेख में करेंगे। यहाँ पर हम केवल यही बता देना चाहते हैं कि बृहत् मस्तिष्क ही बुद्धि तथा ज्ञान का केन्द्र है। इसके सहारे ही हम सोचते, सीखते, बातों को स्मरण रखते और अपनी समीपवर्ती वस्तुओं का निरीक्षण कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऊपर से देखने में बृहत् मस्तिष्क पर बहुत-सी घाइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि उसकी ऊपरी सतह कहीं तो उभरी है और कहीं गहरी। इसका कारण यह है कि उसका बाहरी धूसर भाग, जो वल्क कहलाता है, शिकनदार होता है। इसी वल्क से हमें अधिक सरोकार है। मुड़ाव के कारण उसकी सतह अधिक बढ़ जाती है, यद्यपि घनत्व उतना अधिक नहीं बढ़ता। इससे मस्तिष्क मे रुधिर की अधिक मात्रा प्रवेश कर जाती है और स्नायु-सूत्र सुगमता से वल्क की भीतरी सतह तक पहुँच जाते हैं। मस्तिष्क के सबसे भीतरी आवरण तक असख्य रुधिर-नलिकाएँ फैली हुई हैं।

आप भूल न गए होंगे कि अन्तावरण की झिल्ली बृहत् मस्तिष्क की प्रत्येक घाई मे घुसी रहती है। बन्दर, कुत्ते, खरगोश आदि पर किए गए प्रयोगों और मनुष्य के मस्तिष्क के निरीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि बृहत् मस्तिष्क ही बुद्धि, इच्छा, भाव और इंद्रियज्ञान का प्रधान केन्द्र है। उसके क्षत-विक्षत हो जाने से मानसिक योग्यता नष्ट हो जाती है। बृहत् मस्तिष्क ही से पेशियों की सारी गतियाँ उत्पन्न होती हैं और बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है।

तीन हजार केनिया-निवासियों पर लगातार प्रयोग करने के पश्चात् और उनमे के १०० मनुष्यों के मस्तिष्कों का मृत्यु के पश्चात् निरीक्षण करके डाक्टर विन्ट ने यह ज्ञात किया कि गोरे मनुष्यों की अपेक्षा उन काले मनुष्यों के मस्तिष्क मे धूसर पदार्थ १५ फीसदी कम होता है। इसी कारण इन दोनों जातियों की बुद्धि में इतना अन्तर है। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि हम मस्तिष्क की इन शिकनों को सीधा करके उनकी बाहरी तह को फैला सकें तो वही मस्तिष्क सबसे अधिक बुद्धिमान् पाया जायगा जिसका वल्क सबसे अधिक क्षेत्र घेरेगा। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की बुद्धि का सम्बन्ध उसके मस्तिष्क के धूसर पदार्थ से ही है।

सम्भव है कि भविष्य मे स्त्रियाँ पुरुषों की अगुआ बन!

ऊपर हम यह बता चुके हैं कि पुरुष से स्त्री का मस्तिष्क हलका होता है। स्त्रियों का मस्तिष्क छोटा और हलका या कम घाइयोंवाला होता है। सभ्यता के आरम्भ से ही पुरुष सदैव शत्रुओं से अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा करने तथा जीविका कमाने के हेतु कठोर परिश्रम करता रहा है, इसलिए उसे स्त्रियों की अपेक्षा, जिनको कि सदैव हलका व साधारण काम ही करना पड़ा है, अपने मस्तिष्क से अधिक कार्य लेना पड़ा है। स्त्री अधिकतर घर में ही रहती रही है और पुरुष इधर-उधर घूमता रहा है। मानव-समाज की जो दशा सहस्रों वर्ष पूर्व थी, आज भी बहुत-कुछ वैसी ही है। परन्तु अब से दो-चार सौ वर्ष बाद क्या होगा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नर और नारी दोनों में ही काफी परिवर्त्तन हो रहा है। आधुनिक महिलाएँ पुरुषों के विशेष कार्यों में प्रतिदिन भाग ले रही हैं। वर्त्तमान महायुद्ध मे महिलाओं ने रोगियों की सेवा से लेकर लॉरियाँ दौड़ाने, वायुयान उड़ाने, यन्त्र बनाने और उनको युद्ध में कार्यान्वित करने में भी अपनी शक्ति का परिचय दिया है। मस्तिष्क एक नर्म और नम्य पदार्थ है। जिस तरह एक चतुर कारीगर के हाथों नर्म मोम अनेक नए रूपों में परिवर्त्तित हो सकता है, उसी भाँति सम्भव है कि एक समय ऐसा भी आए कि जब स्त्रियों के मस्तिष्क की घाइयाँ पुरुषों के मस्तिष्क की घाइयों से बढ़ जाएँ और वे पुरुषों से बुद्धि में बाजी मार उनसे पीछे रहने के बजाय उनकी अगुआ बन जाएँ।

लघु या छोटा मस्तिष्क

लघु मस्तिष्क आकार में बड़े मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। यह उसके नीचे पीछे की ओर दबा रहता है। इसमें भी दो गोलार्द्ध होते हैं और इसका धूसर पदार्थ श्वेत पदार्थ को ढके हुए रहता है। उसके ऊपर भी सीताएँ या घाइयाँ होती हैं, जो बृहत् मस्तिष्क की सीताओं से अधिक गहरी और पास-पास होती हैं। लघु मस्तिष्क की शिकनें छोटी और अधिक समानान्तर होती हैं। इसमें भी बृहत् मस्तिष्क को ढके रहने वाली तीनों झिल्लियाँ मौजूद हैं। यह मस्तिष्क भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। यह चलने-फिरने, उछलने-कूदने, तैरने और बोझ उठाने सबधी गतियों को ठीक रखता है। पेशियों की गति ठीक न रहने पर शरीर अपनी समता और समतुलन-शक्ति खो सकता है। शराबी का लघु मस्तिष्क नशे से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह (शराबी) लड़खड़ाने लगता है। जब बिना किसी कारण के कोई व्यक्ति लड़खड़ाने लगता है अथवा ठीक-ठीक नहीं चल पाता तो डॉक्टर का ध्यान लघु मस्तिष्क की ओर ही आकर्षित होता है!

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लघु मस्तिष्क में इच्छाधीन गतियाँ नहीं उत्पन्न होतीं। इसमें केवल पेशियों की गतियों को सम रखने की शक्ति होती है। लघु मस्तिष्क
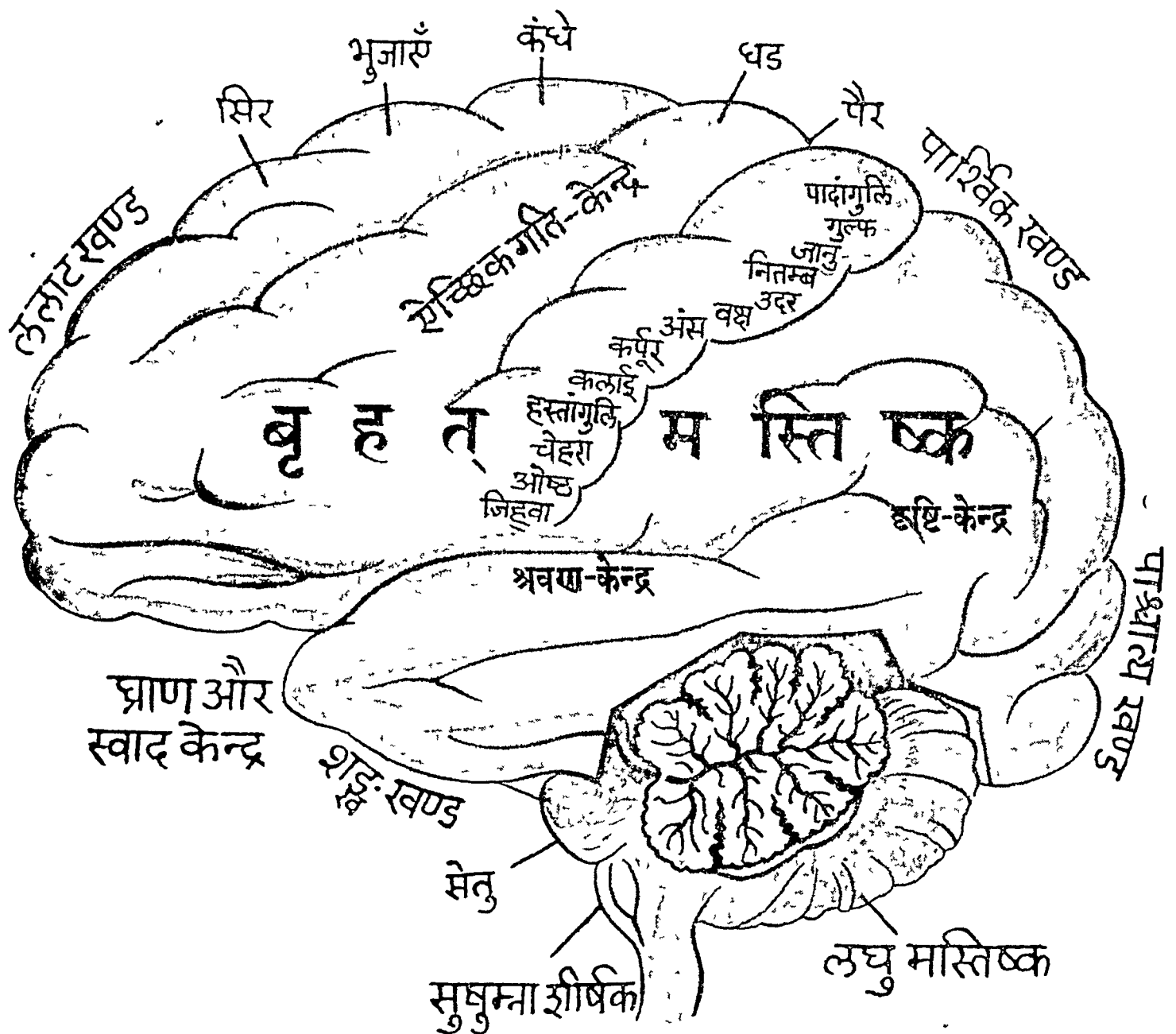
प्रस्तुत मानचित्र में मानव-मस्तिष्क की बाजू की ओर से दिखाई पडनेवाली आकृति तथा उसके विविध भाग दिग्दर्शित हैं। इसके द्वारा बृहत् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना-शीर्षक आदि की स्थिति और आकार-प्रकार की मोटे तौर से बहुत-कुछ जानकारी आप पा सकेंगे। मस्तिष्क के इन प्रधान विभागों के अतिरिक्त चित्र में वे प्रमुख खण्ड भी दिग्दर्शित हैं, जिनमें सुविधा के लिए उसे विभाजित कर दिया गया है, और साथ ही भिन्न-भिन्न अंग संबंधी वे केन्द्रस्थल भी सूचित किए गए हैं, जहाँ से उन विशेष अंगों की क्रियाओं का नियंत्रण होता है।

का दाहिना भाग बृहत् मस्तिष्क के बाएँ भाग का और बायाँ भाग उसके दाहिने भाग का सहायक होता है। अतएव शरीर के दाहिने भाग की गतियों का लघु मस्तिष्क के दाहिने भाग से व बाएँ भाग की गतियों का उसी मस्तिष्क के बाएँ भाग से सम्बन्ध होता है।

सेतु और सुषुम्ना-शीर्षक

लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाता हुआ, सामने की ओर पुल के मेहराब की भाँति मुड़ा हुआ-सा, श्वेत रंग का एक चौड़ा स्नायविक भाग होता है, जिसे सेतु या पुल कहते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण नाड़ी-सूत्र आकर मिलते हैं। मस्तिष्क का सबसे पिछला भाग सुषुम्ना-शीर्षक कहलाता है, जो सेतु के पीछे खोपड़ी के अंदर रहता है और मस्तिष्क को सुषुम्ना से मिलाता है। यह स्नायविक पदार्थ से निर्मित्त एक गोलाकार अंग है और मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच रहता है। इसीके निचले भाग से सुषुम्ना आरम्भ होती है। मस्तिष्क के अन्य भागों में धूसर पदार्थ बाहर होता है और श्वेत पदार्थ भीतर, पर सुषुम्ना-शीर्षक में श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ अन्दर होता है।

मस्तिष्क के अन्य भागों से जितनी नाड़ियाँ निकलती हैं, उससे कहीं अधिक नाड़ियाँ इस एक इंच लम्बे अंग से निकलती हैं, साथ ही जितने स्नायु-सूत्र सुषुम्ना से निकलकर मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं, वे सभी इसमें होकर ही जाते

हैं। सुषुम्ना-शीर्षक में से ही स्नायु-सूत्र एक ओर से दूसरी ओर को पार करके निकलते हैं। बृहत् मस्तिष्क के दाहिने गोलार्द्ध से आए हुए स्नायु-सूत्र सेतु के मध्य भाग की राह से सुषुम्ना-शीर्षक के बायें हिस्से में से निकलते हुए शरीर के बायें भाग की पेशियों तक पहुँचते हैं और बायें गोलार्द्ध से आए हुए स्नायु-सूत्र सुषुम्ना के दाहिने भाग मे से होते हुए शरीर के दाहिने भाग की पेशियों तक पहुँचते हैं। इसी कारण शरीर के दाहिने अग मस्तिष्क के बायें भाग द्वारा नियन्त्रित होते हैं और बाये अग दाहिने भाग द्वारा। यदि दाहिने गोलार्द्ध में कोई खराबी आ जाती है तो शरीर के बायें भाग में लकवा मार जाता है तथा बायें गोलार्द्ध में खराबी हो जाने से शरीर के दाहिने भाग की इच्छाधीन गतियाँ रुक जाती हैं।

सुषुम्ना-शीर्षक भी एक बडा महत्वपूर्ण अग है। यह जीवन को चलानेवाली कई आवश्यक क्रियाओं का केन्द्र-स्थान है। साँस व हृदय की गतियाँ, भोजन-पचन तथा शरीर में रक्त-सचार की क्रियाएँ, इसी के आज्ञानुसार एवं इसी के द्वारा होती हैं। इस मार्मिक अंग में किंचित्मात्र आघात पहुँचने से या कोई रोग होने से प्रचंड लकवा मार सकता है और इसके नष्ट होने से शीघ्र ही मृत्यु होने की संभावना होती है।

वात-नाड़ियाँ और नाड़ी-कोष

नाड़ियाँ पतले-पतले स्नायु-सूत्रों के एकत्रित रज्जुओं की-सी होती हैं, जो टेलीफोन या टेलीग्राफ के तारों की भाँति स्नायविक आदेशों को शरीर भर में पहुँचाती हैं। इन्हीं स्नायु-सूत्रों की सहायता से मस्तिष्क को बाहरी सूचनाएँ मिलती हैं और उन्ही के सहारे भिन्न-भिन्न अंगों की पेशियों तक प्रेरणाएँ और आदेश आते हैं। स्नायु-सूत्र दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की पेशियों को सदेश पहुँचाते हैं तथा जिनकी प्रेरणाओं से ही पेशियों मे उचित गतियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसे सूत्रों को गति-सम्बन्धी या चालक स्नायु कहते हैं। चूँकि ये स्नायु मस्तिष्क के केन्द्रों से किसी पेशी या गिल्टी तक आते हैं, अतएव इन्हे केन्द्रव्यापी स्नायु भी कहते हैं। दूसरे वे हैं जो मस्तिष्क की ओर जाते हैं और दुःख-सुख, सर्दी-गर्मी आदि की समवेदनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। इन्हें सावेदनिक या केन्द्रगामी स्नायु भी कहते हैं। कुछ स्नायु केवल सावेदनिक ही और कुछ केवल चालक ही होते हैं, किन्तु अधिकांश स्नायु मिश्रित होते हैं, जिनमें दोनों प्रकार के सूत्र रहते हैं। वे दोनों ओर प्रेरणाएँ ले जा सकते हैं।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र से यदि हम धूसर पदार्थ को देखें तो वह स्नायु-कोषों से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है। स्नायु कोषों की भी रचना बहुत महत्वपूर्ण है। उनके बिलकुल बीच में जीवोज और उसके मध्य भाग में मींगी होती है। कोषों से कई शाखाएँ निकली रहती हैं, और उन शाखाओं से कई प्रशाखाएँ प्रस्फुटित होती हैं, जो एक दूसरे से उलझी रहती हैं। किन्तु एक शाखा ऐसी होती है, जिसके केवल अत के भाग से ही शाखाएँ निकलती हैं। यह बहुत लम्बी होती है और इसको ही स्नायु सूत्र कहते हैं।

इन्हीं भूरे रग के स्नायु कोषों से प्रस्फुटित स्नायु-सूत्रों से श्वेत पदार्थ बना होता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि स्नायु सस्थान कोषों का ही एक समूह है, जिसमें सारा कार्य स्नायु-कोषों द्वारा ही होता है। स्नायु-सूत्र वधक ततु के सहारे एक-दूसरे से भली-भाँति मिले एव बँधे रहते हैं।

मस्तिष्क की नाड़ियाँ

मस्तिष्क के निचले भाग से नाड़ियों के बारह जोड़े निकलते हैं, जो छोटे-छोटे छेदों में होकर खोपड़ी से बाहर आ जाते हैं और तब ज्ञानेन्द्रियों या पेशियों की खाल में बिखर जाते हैं। इनमें से बहुत-सी नाड़ियाँ सावेदनिक हैं और कुछ चालक तथा कुछ दोनों के मिश्रण-सी हैं। इनकी संख्याओं को सामने से पीछे की ओर गिनते हैं। इनका कार्य हम नीचे बता रहे हैं और पृष्ठ २७८३ के चित्र में इनके उद्गम-स्थान दिखाए गए हैं।

इन वात-नाड़ियों का पहला जोड़ा गन्ध से सम्बन्ध रखता है और इसके सूत्र नाक के भीतर श्लैष्मिक झिल्ली में जाते हैं। दूसरा जोड़ा देखने की नाड़ियों का है, जो नेत्र के गोले तक जाता है। तीसरा जोडा आँख की गति से सम्बन्धित है। इसके सूत्र आँख के गोले को हिलानेवाली अधिकाश पेशियों मे तथा पुतलियों को सिकोड़नेवाली पेशियों मे प्रवेश करते हैं। इसके स्नायु चालक हैं। चौथा जोड़ा भी आँख की उस पेशी में जाता है, जिससे आँख का गोला नीचे तथा बाहरी ओर घुमाया जाता है। पाँचवाँ जोड़ा बड़ी नाड़ियों का है, जिसकी तीन प्रधान शाखाएँ हैं, जिनमें से एक सांवेदनिक है और आँख, नाक, मुँह, दाँत, गाल के समीपवर्ती भागों और जीभ पर फैली हुई खाल में समाप्त हो जाता है। इस स्नायु से हमे चेहरे, दाँत आदि के दर्द का बोध तथा स्वाद का अनुभव होता है। शेष दो शाखाएँ चालक स्नायु की हैं और उन पेशियों तक जाती हैं, जो भोजन चबाते समय जबड़ों को घुमाती हैं।

प्रस्तुत चित्र में वात-नाड़ियों के उन बारह जोड़ों के उद्गम-स्थल दिखाए गए हैं, जो मस्तिष्क के निचले भाग में से निकलकर क्रमशः विविध अंगों तक जाते हैं। प्रत्येक जोड़ा चित्र में विशिष्ट संख्याओं द्वारा निर्दशित है, उदाहरणार्थ नं० १ जोड़ा घ्राण-नाडियों का है। शेष नाड़ियों के परिचय के लिए लेख का मैटर देखिए।

छठा जोड़ा नेत्र की उस पेशी तक जाता है, जो आँख के गोले को बाहरी ओर घुमाता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्नायु के तीन जोड़ों का सम्बन्ध आँख की पेशियों से है। सातवाँ जोड़ा चेहरे की पेशियों में अपने सूत्र फैलाता है, जिससे चेहरे की पेशियों की गति होती है। आठवाँ जोड़ा सुनने से सम्बन्ध रखता है। इसके सूत्र कान के भीतरी भाग में जाते हैं। नवें जोड़े का सम्बन्ध गले से है। इसकी एक शाखा, जो कि संवेदनिक है, जीभ के पिछले भाग में फैली होती है। इससे भी हमे स्वाद का बोध होता है। इसकी दूसरी शाखा चालक है और कंठ की पेशियों को संचालित करती है। यह भोजन निगलने में सहायक होती है। दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित स्नायुओं का है। इसके सूत्र कंठ, हृदय, फेफड़े, आमाशय और यकृत तक जाते हैं। ग्यारहवाँ जोड़ा चालक स्नायुओं से निर्मित है और गर्दन की कुछ पेशियों की गतियों से सम्बन्धित है। बारहवाँ जोड़ा भी चालक स्नायुओं का है और जीभ के नीचे की पेशियों में अपने सूत्र भेजता है।

सुषुम्ना

सुषुम्ना स्नायविक सूत्रों की एक लम्बी सुकुमार रज्जु है। यह मस्तिष्क के पिछले भाग, सुषुम्ना-शीर्षक, से प्रारम्भ होकर रीढ़ की हड्डी के भीतर ही भीतर उसके अंत तक चली जाती है। एक बड़े छिद्र से होकर वह मस्तिष्क के बाहर आती है। इसकी मोटाई एक साधारण उँगली के लगभग और लम्बाई लगभग अठारह इंच के होती है।
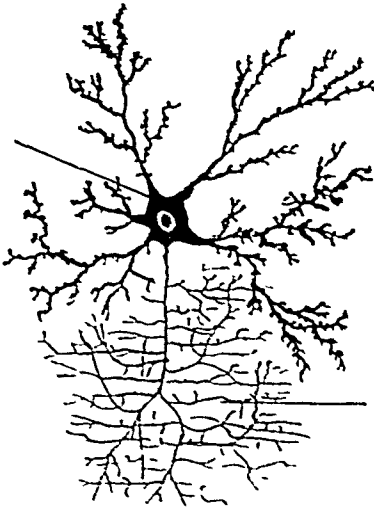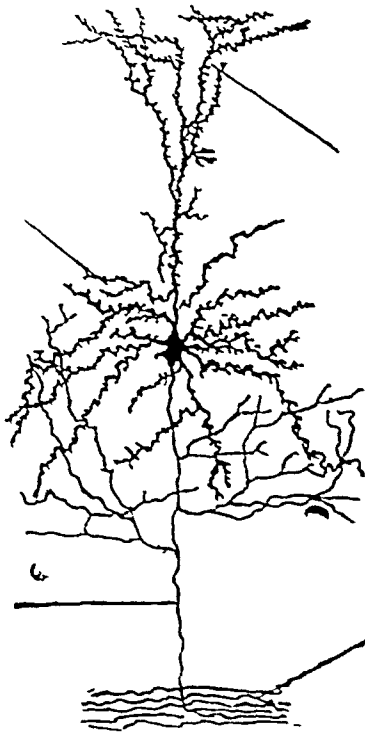
दो प्रकार के स्नायु-कोष

ऊपर एक लघुसूत्रीय और नीचे एक दीर्घसूत्रीय कोष दिग्दर्शित है। इन कोषों की रचना बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा कि चित्र से सुस्पष्ट है, उनके मध्यभाग मे केन्द्र या मींगी स्थित है और आसपास अनेक शाखा-प्रशाखाएं फूट निकली हैं, जो एक-दूसरे से उलझी हुई हैं। इनमे एक शाखा सबसे लंबी और सीधी दिखाई देती है। यही मुख्य स्नायु-सूत्र है। यदि हम मस्तिष्क के धूसर पदार्थ को सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखें तो हमें उसमें ऐसे असंख्य स्नायु-कोष दिखाई देंगे। ये कोष निरन्तर बढ़ते-बिगड़ते रहते हैं।

यदि हम इसके आड़े कटे हुए भाग को देखें तो वह आकार में चपटी-सी तथा दाहिने-बाँये भागों मे दो तंग घाइयों द्वारा विभाजित दृष्टिगोचर होगी और दोनों भागों के बीच में उसमें एक शून्य-सा स्थान दिखाई पड़ेगा। यह पोला स्थान सुषुम्ना के बीच की उस नली का होता है, जो मस्तिष्क से मिली रहती है। सुषुम्ना में उसी भाँति के स्नायु-क पदार्थ पाए जाते हैं जैसे मस्तिष्क में होते हैं। किन्तु मस्तिष्क के विपरीत इसमें श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ भीतर होता है। श्वेत पदार्थ धूसर को पूर्ण रूप से घेरे रहता है और इसके बाहर वही तीन आवरण होते हैं, जो मस्तिष्क में रहते हैं। सफेद भाग में सूत्र होते हैं और धूसर भाग में स्नायु-कोष। ये सूत्र मस्तिष्क के विविध भागों से आकर भिन्न-भिन्न भागों को जाते तथा मस्तिष्क से शरीर में प्रेरणाएँ पहुँचाते हैं। सुषुम्ना का अधिकांश भाग इन्हीं नाड़ी-सूत्रों से निर्मित है और अलग-अलग रज्जुओं या स्तम्भों में बँधा हुआ है। वे स्तम्भ जो मस्तिष्क से नीचे की ओर प्रेरणाएँ भेजते हैं तथा जिनके कारण पेशियाँ सिकुड़ती हैं और हाथ-पैरों की गतियाँ होती है, सुषुम्ना के सामने के भाग मे होकर जाते हैं। वे स्तम्भ जो त्वचा और अन्य भागों से मस्तिष्क की ओर प्रेरणाएँ ले जाते हैं, सुषुम्ना के पिछले भाग में होकर जाते हैं।

यदि सुषुम्ना के किसी भाग में चोट लग जाए तो उस स्थान के नीचे के अंगों की इच्छाधीन गतियाँ और प्रेरणाओं की शक्ति गायब हो जाती है, मानों उन अंगों को लकवा मार गया हो। यदि ऐसी दशा सुषुम्ना के उस भाग की होती है जो गर्दन से नीचे है तो मृत्यु नहीं होती, किन्तु यदि गर्दन के क्षेत्र के सुषुम्ना-भाग में खराबी आ जाय तो शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कारण, इस भाग से जो स्नायु-सूत्र निकलते हैं वे उन पेशियों में जाते हैं, जिनसे हम साँस लेते हैं, और साँस न ले सकने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि सुषुम्ना में से ही होकर रणाएँ मस्तिष्क में जाती हैं और उन प्रेरणाओं का उत्तर भी मस्तिष्क से इसी के द्वारा या इसी के मध्य से शरीर के विभिन्न भागो में पहुँचता है। यह स्पष्ट है कि सुषुम्ना शरीर की साधारण या प्राणाधार क्रियाओं को नियन्त्रित करने में मस्तिष्क के अधीन है।

यदि सुषुम्ना में चोट लग जाने पर उसके अवयवों पर पट्टी बाँध दी जाय अथवा उन्हें किसी प्रकार छेड़ा जाय तो वे बिना इच्छा के ही सिकुड़ जाते हैं। इस प्रकार की गति एवं क्रिया को परावर्त्तित क्रिया कहते हैं। यह क्रिया या गति बिना मस्तिष्क के जाने हुए, बिना हमारी अभिलाषा के, सांवेदनिक स्नायु की उत्तेजना से होती है। इस क्रिया की प्रवृत्ति के कई उदाहरण हमें दैनिक जीवन में मिलते हैं। उत्तम भोजन को देखकर मुख मे स्वयं ही लार आ जाती है और आमाशय में आमाशयिक रस बनने लगता है। जब हम अँधेरे से एकदम प्रकाश में आते हैं उस समय हमारी आँख की पुतली अपने आप सिकुड़कर छोटी हो जाती है और जब हम प्रकाश से अन्धकार में जाते हैं तब पुतली फैलकर चौड़ी हो जाती है। यद्यपि इस परिवर्त्तन का ज्ञान हमें नहीं होता, पर यह होता अवश्य है।

सुषुम्ना की भीतरी रचना

प्रस्तुत मानचित्र में सुषुम्ना को आड़ी काटकर उसकी भीतरी रचना दिग्दर्शित की गई है। यदि हम इसके आड़े कटे हुए भाग को देखे तो वह आकार में चपटी-सी तथा दाहिने-बाँयें भागों में दो तंग घाइयों द्वारा विभाजित दृष्टिगोचर होगी और दोनों भागों के बीच में उसमें एक शून्य-सा स्थान दिखाई पड़ेगा। यह पोला स्थान सुषुम्ना के बीच की उस नली का होता है, जो मस्तिष्क से मिली रहती है। सुषुम्ना में उसी भाँति के स्नायविक पदार्थ पाए जाते है जैसे मस्तिष्क में होते हैं। किन्तु मस्तिष्क के विपरीत इसमें श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ भीतर होता है। श्वेत पदार्थ धूसर को पूर्ण रूप से घेरे रहता है और इसके बाहर वही तीन आवरण होते हैं, जो मस्तिष्क में रहते हैं। सफ़ेद भाग में सूत्र होते हैं और धूसर भाग में स्नायुकोष। ये सूत्र मस्तिष्क के विविध भागों से आकर भिन्न-भिन्न भागों को जाते तथा मस्तिष्क से शरीर में प्रेरणाएँ पहुँचाते हैं। सुषुम्ना का अधिकांश भाग इन्हीं नाड़ी-सूत्रों से निर्मित है।

सुषुम्ना से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर दोनों ओर कई नाड़ियाँ निकलती है, जिनके इकत्तीस जोड़े होते हैं। प्रत्येक स्नायु दो जड़ों द्वारा सुषुम्ना से जुड़ी होती है—एक अगली और दूसरी पिछली। ये दोनों जड़ें बहुधा ऊपर और नीचे के दो मोहरों के मध्य मिल जाती हैं। सुषुम्ना के स्नायु मिश्रित स्नायु हैं। हरएक स्नायु का एक तार सांवेदनिक और दूसरा चालक है। अगली जड़ों के तार सुषुम्ना के भीतर से निकलकर अंगों की ओर जाते हैं—इनका सम्बन्ध पेशियों की गति से है। पिछली जड़ों के तार सांवेदनिक हैं और अंगों की ओर से आकर सुषुम्ना में घुस जाते हैं, तथा उन अंगों की सूचनाएँ सुषुम्ना तक पहुँचाते हैं।

यहाँ हमने सरल रूप में स्नायु संस्थान का आरम्भिक वर्णन किया है। आगामी लेख में हम इस संस्थान की क्रियाओं के विषय में अन्य मनोरंजक बातें बताएँगे। तब आप भली-भाँति यह अनुभव कर सकेंगे कि इसका हमारे शरीर मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसे ठीक-ठीक बनाए रखना हमारे लिए कितना अधिक आवश्यक है।
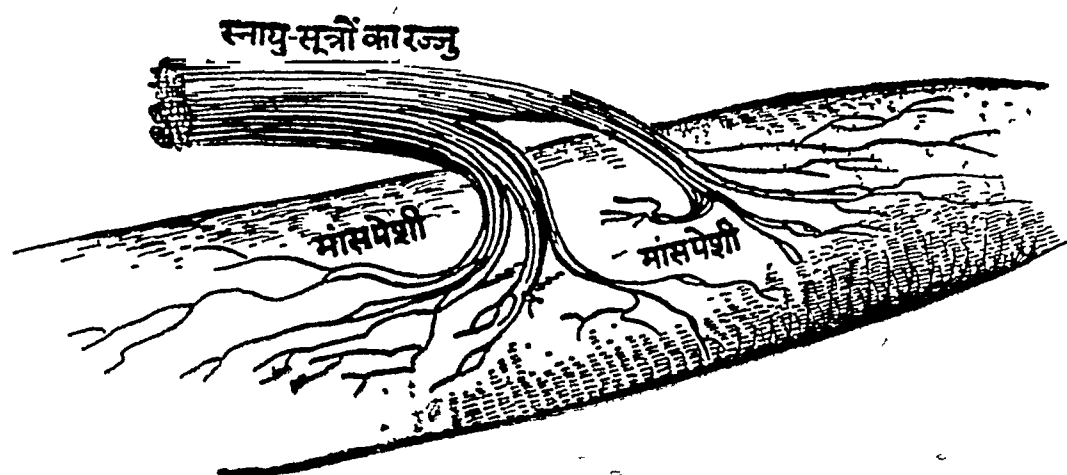
(बाईं ओर)
स्नायु-सूत्र किस प्रकार आकर मांसपेशी में फैल जाते हैं, यह इस चित्र में समझाया गया है। यह चित्र कई गुना परिवर्द्धित है।
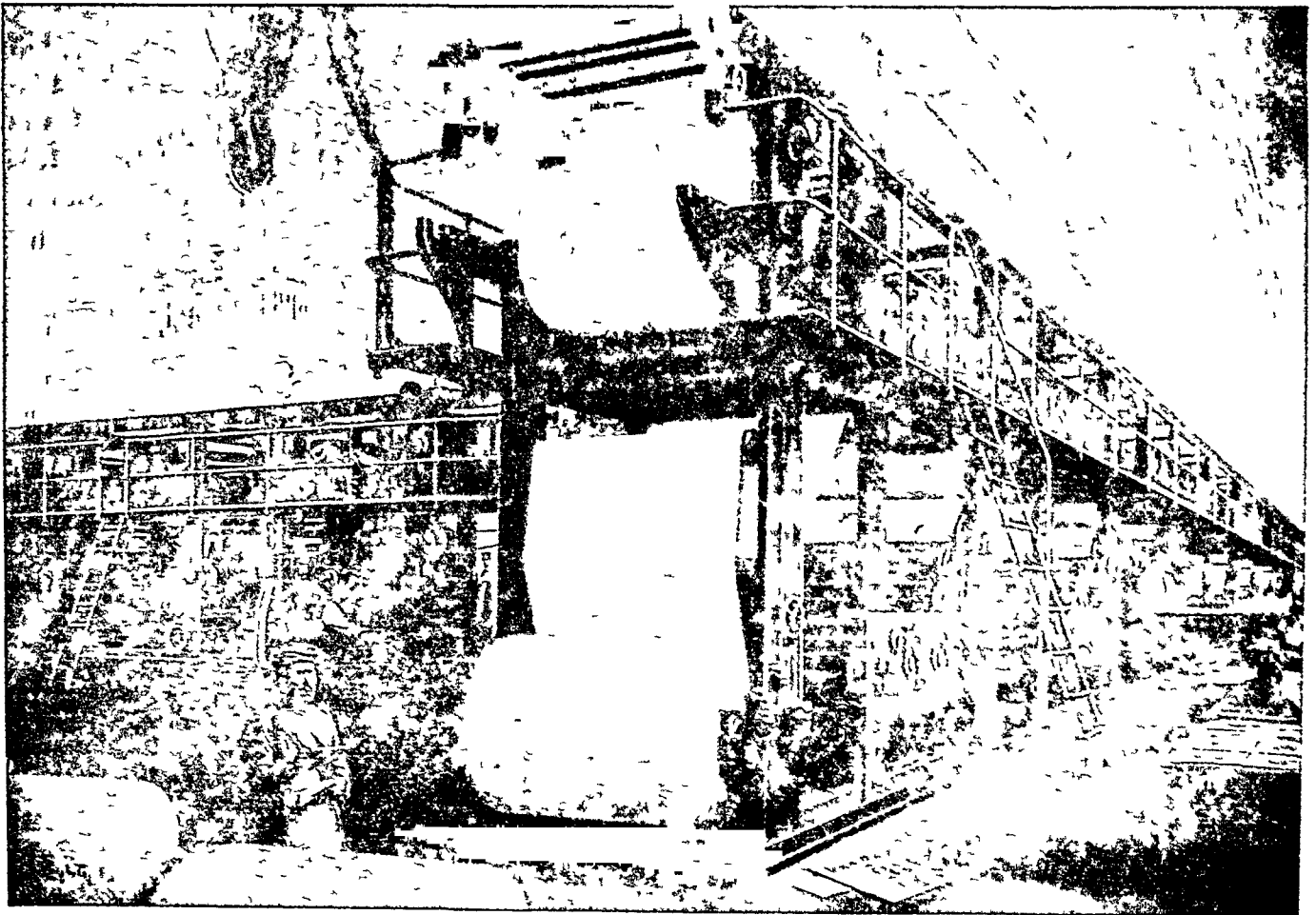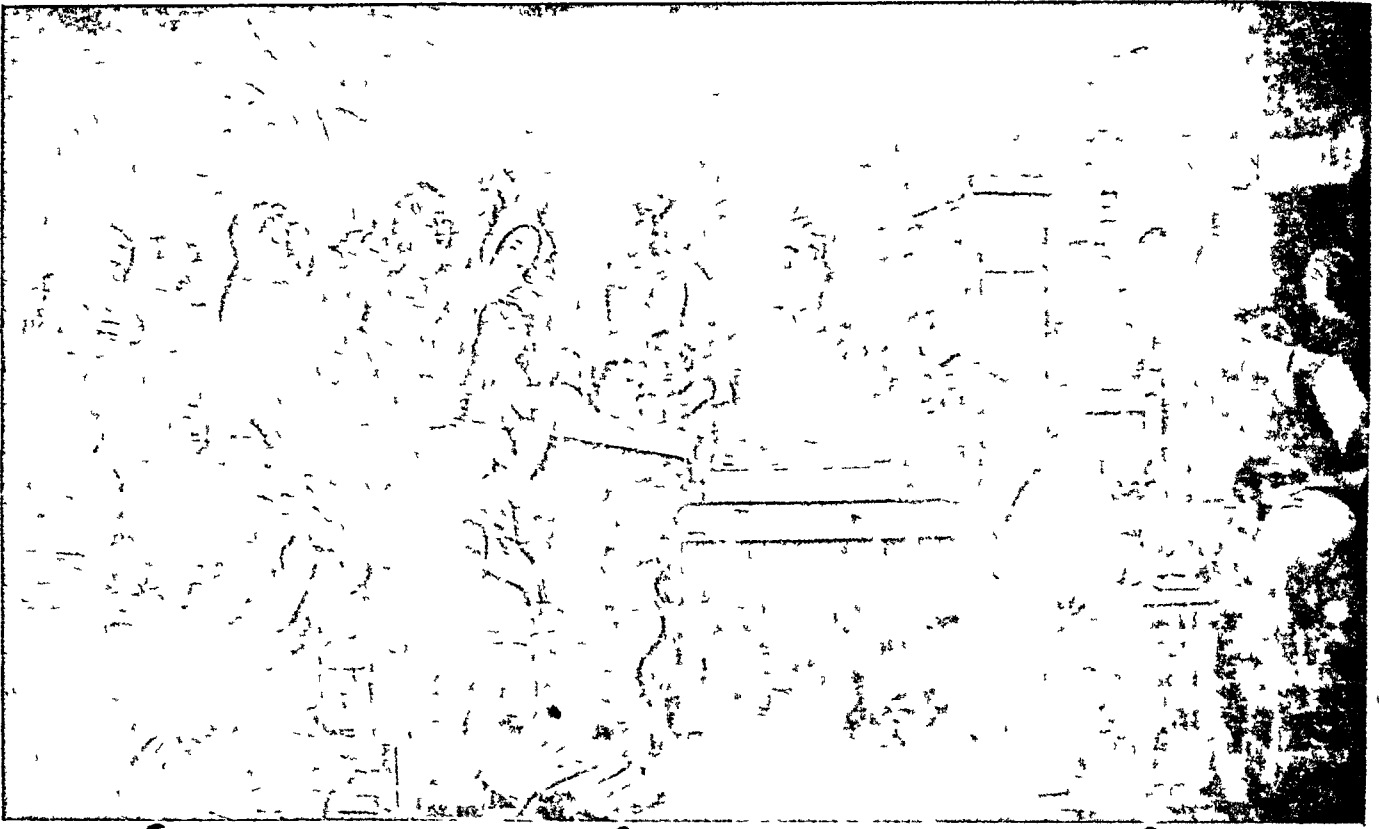
(ऊपर) पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में इंगलैण्ड में मुद्रण-कला का पहले-पहल प्रसार करनेवाले सुप्रसिद्ध विलियम केक्स्टन के छापेख़ाने का दृश्य। मुद्रण-कला के इस अग्रदूत के लकड़ी से बने हैण्डप्रेस की तुलना (नीचे के चित्र में दिग्दर्शित) हमारे देश के सबसे बड़े छापेख़ाने 'टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस' की 'रोटरी' मशीन से कीजिए !

मुद्रण-कला

इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि मुद्रण-कला एक महान् क्रान्तिकारी आविष्कार है, जिसने ज्ञान की ज्योति को असंख्य व्यक्तियों तक पहुँचाने में योग दिया है। छापे की मशीनों के आविष्कार के पूर्व केवल मुँह के शब्दों द्वारा ही एक बड़े जनसमूह तक संदेश पहुँचाए जा सकते थे। पुस्तकें उन दिनों भी थीं अवश्य, किन्तु वे हस्तलिखित होने के कारण बेहद महँगी पड़ती थीं और वे केवल ऊँची श्रेणी के लोगों के ही पास उन; दिनों हुआ करती थीं। पुस्तकों के महँगी और अप्राप्य होने के कारण उन• दिनों पढ़ना-लिखना अति दुष्कर कार्य था। वस्तुतः पढ़-लिख सकना उस युग में विद्वत्ता का चिह्न समझा जाता था।

मुद्रण-कला ने ज्ञान के प्रसार में सचमुच ही अपूर्व सहायता पहुँचायी है, क्योंकि उसने ही पुस्तकों और समाचारपत्रों को जनसुलभ बनाया है। विज्ञान की प्रगति में भी मुद्रण-कला का विशेष हाथ रहा है। विविध देशों के वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों को पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही एक दूसरे के पास पहुँचाते हैं। यदि ऐसा न होता तो अन्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति से वे कभी लाभ न उठा पाते।

अधिक संख्या मे पुस्तकों की प्रतियाँ तैयार करने का सर्वप्रथम प्रयत्न चीन मे किया गया। कहते हैं, छठी शताब्दी ई० में चीन के लोग लकड़ी में उभरे हुए अक्षर खोदकर उनसे एक-एक करके पुस्तकों के पृष्ठ छापते थे, ठीक वैसे ही जिस तरह कपड़ों पर लकड़ी के ठप्पों से आजकल बेल-बूटे छापे जाते हैं। इस विशेष विधि को 'ब्लॉक प्रिन्टिङ्ग' का नाम दिया गया है। इस क्रिया से उन दिनों धार्मिक ग्रन्थ प्रचुर संख्या में छापे गए। योरप में मुद्रण-कला देर से पहुँची, किन्तु पाश्चात्य देशों में ही आकर वह विकास की चरम सीमा तक पहुँच पाई।

लकड़ी के ब्लॉकों से छापने के लिए ब्लॉक के अक्षरों पर एक विशेष ढंग की स्याही पोतकर तथा उस पर गीला काग़ज रखकर काग़ज की दूसरी ओर गद्दीनुमा पैड से दबाया जाता। इस प्रकार काग़ज़ पर अक्षर छप जाते। किन्तु इस प्रकार काग़ज़ के एक ओर ही अक्षर छापे जा सकते थे। अतः ब्लॉक प्रिन्टिङ्ग द्वारा छपी पुस्तकों के पृष्ठ एक ओर खाली ही रहते। कभी-कभी खाली पृष्ठों को एक दूसरे के साथ चिपकाकर साधारण ढंग की पुस्तकें भी तैयार की जातीं। इस प्रकार चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में योरप के विभिन्न देशों में ब्लॉक-प्रिन्टिङ्ग से सैकड़ों पुस्तकें छापी गईं। किन्तु इस ढंग से छापी गई पुस्तके भी काफी महँगी पड़तीं, क्योंकि ऐसी पुस्तकों के प्रत्येक पृष्ठ की छपाई के लिए एक-एक ब्लॉक अलग से तैयार करना पड़ता था।

योरप में पहलेपहल मुद्रण-कला का प्रसार करनेवाला जर्मन आविष्कारक गुटेनबर्ग
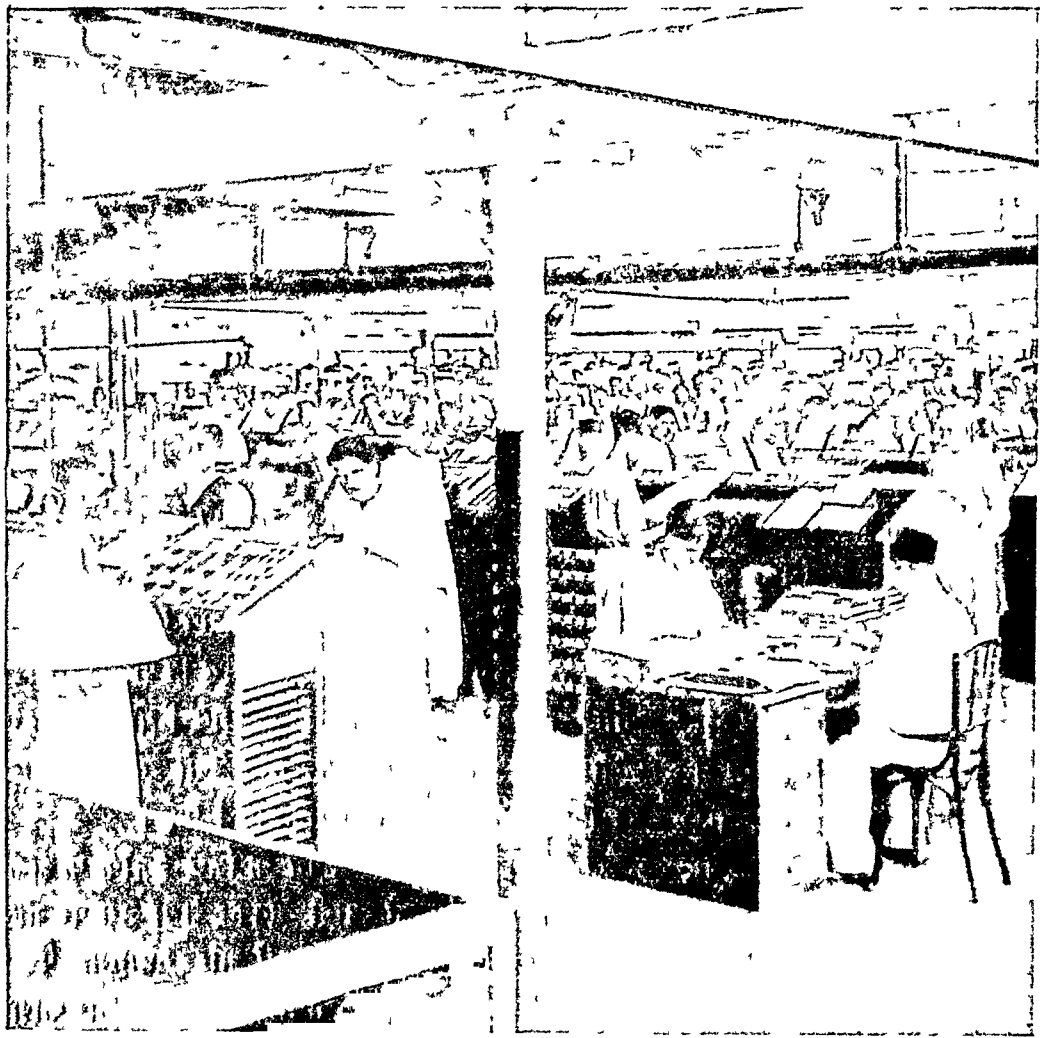
छापेखाने में हाथ से मैटर कम्पोज़ किया जा रहा है

इस चित्र में प्रत्येक खड़े हुए व्यक्ति के सामने जो खानेदार मेज़ें-सी रक्खी हैं, उन्हीं में अलग-अलग खानों में विभिन्न अक्षरों के टाइप भरे रहते है, जिन्हें उठा-उठाकर कम्पोज़ किया जाता है।

योरप मे सबसे पहले मुद्रण-कला का प्रसार किसने किया, इस सबध मे इतिहासकारों मे कोई एक सर्वसम्मत मत नहीं है। परन्तु प्रायः इस महान् युगान्तरकारी आविष्कार का श्रेय गुटेनबर्ग नामक एक जर्मन को दिया जाता है, जिसका जन्म सन् १३६७ ई० मे हुआ था और मृत्यु १४६८ ई० मे। कहते हैं, गुटेनबर्ग ही ने योरप में पहले-पहल उल्टे अक्षरों के लकड़ी के टाइप बनाकर तथा उनसे मैटर कपोज़ कर एक भौंडे लकड़ी के प्रेस के दबाव द्वारा छपाई करने का काम जारी किया था। उसने मैंज नगर के जॉन फस्ट और पीटर शॉफर नामक व्यक्तियों के साझे में सन् १४५० ई० मे छपाई का कारबार शुरू किया और छः वर्ष बाद बाइबिल का एक संस्करण छापकर प्रकाशित किया। कुछ लोगो की राय मे योरप में मुद्रण-कला का आरंभ जर्मनी में नहीं, बल्कि हॉलैण्ड में हुआ और इस सबध में हार्लेम नगर के कोस्टर नामक एक व्यक्ति का नाम लिया जाता है। पहली बार छपाई के लिए लकड़ी के पृथक् टाइप का प्रयोग वहाँ १५वीं शताब्दी में किया गया था। इन लकड़ी के पृथक् अक्षरों के टाइपों के बीच में सूराख करके उन्हें धागे से पिरो लिया जाता और इस तरह वे कम्पोज कर लिये जाते। पर उन अक्षरों के नमूने निश्चित न थे। ये अक्षर उच्च श्रेणी के विद्वानों के लिखे अक्षरों की नकल पर ही खोदे जाते, अतः विभिन्न मुद्रक द्वारा छापे गए अक्षर विभिन्न शैली के होते। अवश्य ही इन पृथक् टाइपों के प्रयोग से पुस्तकों की छपाई का खर्च पहले की अपेक्षा कम हो गया। कालान्तर में धातु के टाइप भी ढाले जाने लगे, जो अधिक प्रतियाँ छाप सकते थे। इस प्रकार पुस्तकों की छपाई का खर्च और भी कम हो गया। ये टाइप हाथ से ही कम्पोज किये जाते थे, जैसा कि अभी भी हमारे देश के छोटे-छोटे प्रेसों में होता है, और उन दिनों टाइप पर स्याही फेरने के लिए स्याही से चुपड़े हुए बडे-बडे गोले उस पर फिराये जाते थे, जिससे स्याही फेरनेवाले के हाथ काले पड़ जाते थे।

इस स्थान पर छापने की दूसरी विधि 'लिथोग्राफी' का भी उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। इस विधि मे एक प्रकार के मुलायम पत्थर के धरातल पर एक विशेष प्रकार की स्याही द्वारा जो कुछ छापना हो उसे उल्टा लिख देते हैं। इस पत्थर पर कागज रखकर दबाने से वे अक्षर सीधे छप जाते हैं। प्रायः हमारे देश मे उर्दू की छपाई इसी विधि से की जाती है। अनेक प्रकार के नक्शे, चित्र आदि भी इस विधि से छापे जाते हैं। टाइपों की विधि की छपाई की तरह इस प्रणाली का भी आज के युग मे आकर काफी विकास हुआ है।

लीथो में अवश्य ही कम्पोज़िग का खर्च नहीं पड़ता, किन्तु पत्थर पर लिखनेवाले को पारिश्रमिक तो देना ही पड़ता है। फिर उस में ग़लती सुधारने की वह सहूलियत भी नहीं मिलती, जो टाइप में है, क्योंकि कम्पोज़ किए हुए टाइप के एकाध शब्द को उखाड़कर आसानी से उसकी जगह दूसरे टाइप लगाए जा सकते हैं, पर लीथो में छपनेवाले अक्षरों को बदलते समय पत्थर के धरातल को खुरचना पड़ता है। टाइप के मुक़ाबले में लीथो में छापते समय दबाव की भी अधिक आवश्यकता पड़ती है।

छपाई की मशीनें पहले हाथ से ही चलायी जाती थीं। इसके लिए काग़ज को दबाने के लिए हैण्डप्रेस में स्क्रू का प्रयोग होता था। भारत में इन दिनों भी छोटे प्रेसों में इसी ढंग की छापे की मशीनों से काम लिया जाता है। कुशल कारीगर हैण्डप्रेस से प्रति घण्टे अधिक-से-अधिक २०० प्रतियाँ छाप सकता है। अतः समाचारपत्रों के छापने के निमित्त ये प्रेस उपयुक्त साबित न हो सके, क्योंकि उनकी हजारों प्रतियाँ चन्द घण्टों के ही अन्दर छापी जानी चाहिये। छापे की मशीन के परिचालन के लिए वाष्प-शक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम १८१४ ई० में किया गया। इङ्गलैण्ड के 'टाइम्स' पत्र के कार्य्यालय में इस प्रकार की पहली मशीन फ़िट की गयी थी। इस मशीन के आविष्कार का श्रेय कोनिङ्ग नामक व्यक्ति को प्राप्त है। प्रारम्भिक दिनों में छपाई के सिलसिले में सबसे अधिक श्रम टाइप-सेटिंग या कम्पोजिंग में लगता था और छोटे प्रेसों में हमारे देश में आज भी कम्पोज़िंग का काम अधिकांशतः हाथ से ही किया जाता है। इसके लिए बायें हाथ में 'स्टिक' लेकर दाहिने हाथ से कम्पोजीटर एक-एक करके अक्षरों के टाइप को बक्स के विभिन्न खानों से उठाता है और उन्हें सही क्रम से उस स्टिक पर सजाता चला जाता है। यद्यपि कुशल कम्पोजीटर अपना काम बहुत तेजी से कर सकता है, फिर भी उसकी गति एक सीमा तक ही बढ़ सकती है।

हैण्डप्रेस के बजाय वाष्प या बिजली की शक्ति से परिचालित छापे की मशीनों के आविष्कार का पूरा फायदा उठाने के लिए यह आवश्यक था कि कम्पोजिंग की भी गति बढ़ाने के लिए तेज रफ़्तार से काम करनेवाली मशीनें ईजाद की जायँ। फलस्वरूप दो तरह की कम्पोजिंग मशीनों का निर्माण हुआ—लाइनोटाइप और मॉनोटाइप।

लाइनोटाइप मशीन में टाइपराइटर की भाँति एक की-बोर्ड लगा रहता है। ऑपरेटर उसके जिस बटन को दबाता है, उसी अक्षर का ठप्पा अपनी जगह से निकलकर किनारे आ जाता है। इस प्रकार एक पूरी लाइन के शब्दों के ठप्पे क्रम से सेट हो जाते हैं। अब ऑपरेटर एक लीवर को दबाता है। उस लीवर को दबाते ही पिघला हुआ शीशा सेट किए टाइप के सामने आ जाता है। उस पर ठप्पे जाकर दब जाते हैं और साँचे में से पूरी लाइन ढल जाती है। इसी प्रकार एक-एक करके पूरे कालम की लाइनें तैय्यार हो जाती हैं। एक लाइन तैय्यार हो जाने पर ऑपरेटर जब दूसरी लाइन के ठप्पे सजाने लगता है तो पहली लाइन के ठप्पे मशीन के पुर्जों की मदद से अपने आप अपनी-अपनी जगह पर चले जाते हैं। समाचार-पत्रों की कम्पोजिंग के लिए लाइनोटाइप ही अधिकतर काम में लाया जाता है।

पुस्तकों की छपाई के लिए मॉनोटाइप का अधिक प्रयोग होता है। यह मशीन भी लाइनोटाइप के ही सिद्धान्त पर काम करती है। केवल इसमें एक एक अक्षर अलग ढलते हैं।
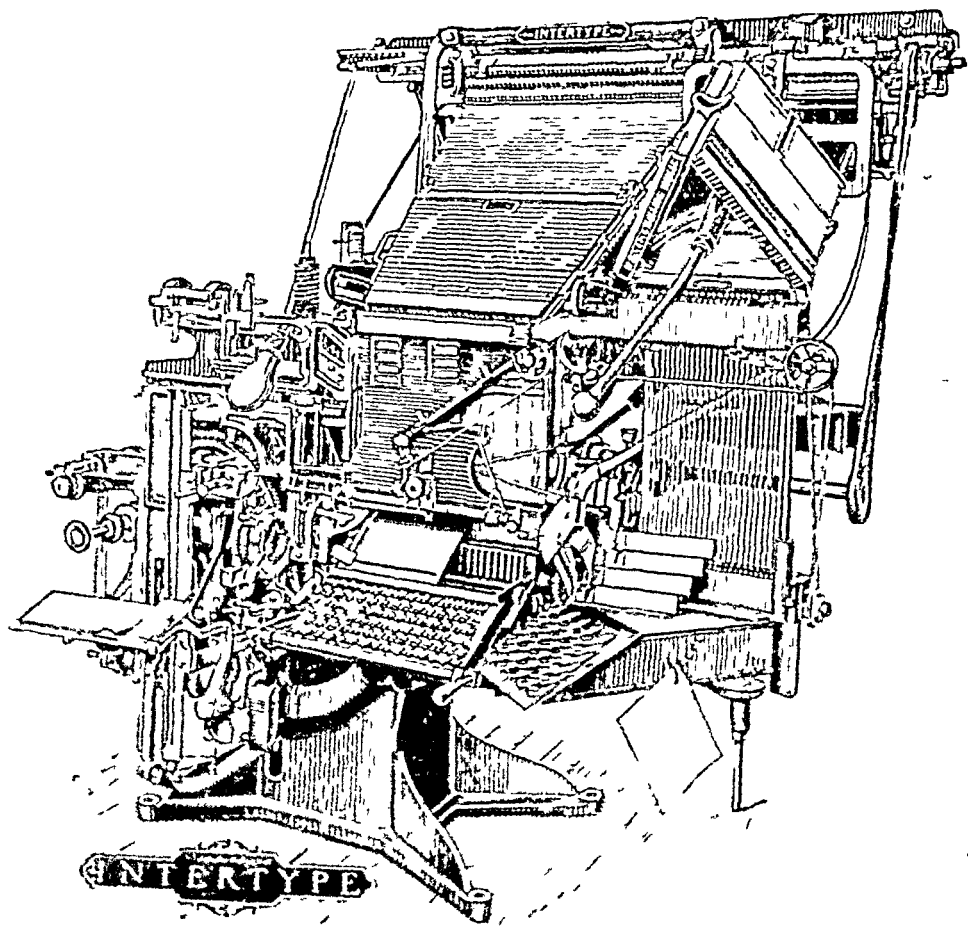
एक आधुनिक स्वयंक्रिय कम्पोज़िंग मशीन

इस मशीन का नाम 'इंटरटाइप' मशीन है और इसका सिद्धान्त वही है जो लाइनोटाइप मशीन का होता है। सामने टाइपराइटर की भाँति जो 'की-बोर्ड' लगा है, उस पर टाइपों के विभिन्न अक्षरों के संकेतचिह्न बने हैं।

ऑपरेटर की-बोर्ड के बटनों को जब दबाता है तो कागज के एक फीते पर सूराख़ बन जाते हैं। ये सूराख़ एक प्रकार की संकेत-लिपि-से होते हैं जैसा टेलीग्राफी में होता है। अब यही फीता जब ढालनेवाली मशीन में से गुजरता है तो सूराखों की मदद से मनोवाञ्छित अक्षर के ठप्पे अपने आप उठकर पिघले हुए सीसे द्वारा एक-एक करके अक्षर ढाल देते हैं। इस प्रकार अलग-अलग अक्षरों से क्रमशः पूरी लाइन कपोज होकर तैयार हो जाती है।
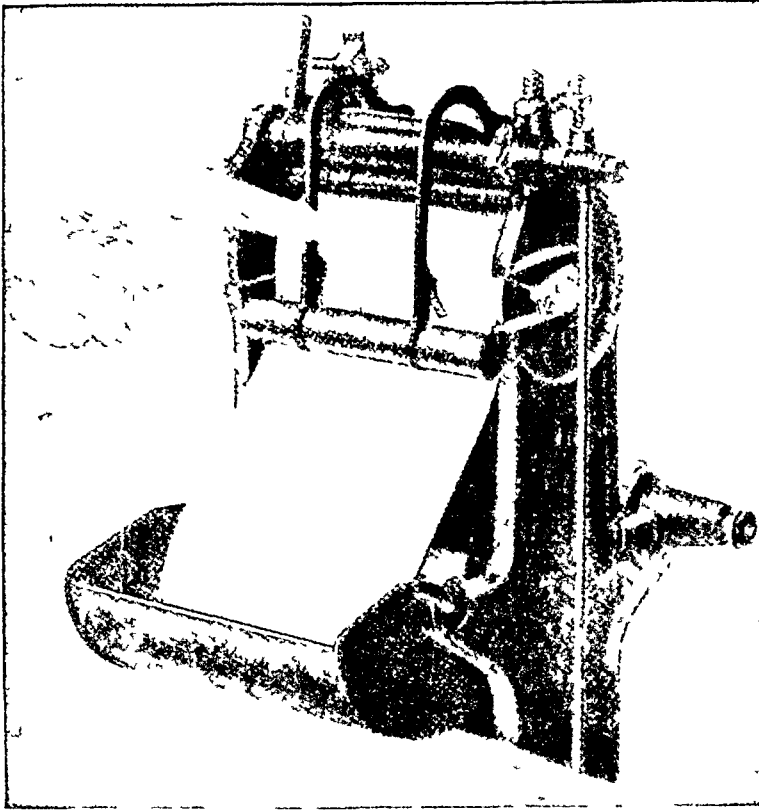
स्वयंक्रिय कम्पोज़िंग मशीन में कम्पोज़िंग का काम तो तेजी से होता ही है, इसके साथ ही उसमे बहुत-से टाइप की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। मशीन में दो-तीन लाइनों की जरूरत भर के लिए ठप्पे लगे रहते हैं। इन्हीं की मदद से सैकड़ों पृष्ठ का मैटर कुछ ही मिनटों मे कम्पोज हो जाता है। मॉनोटाइप की मशीन द्वारा छोटे प्रेसों के लिए हाथ से कम्पोजिंग के निमित्त नए और सुडौल टाइप के अक्षर भी तनिक-सी देर और सस्ते दाम में ढाले जा सकते हैं। स्वयक्रिय कम्पोज़िंग मशीनों का वज़न लगभग एक टन होता है और अंग्रेजी अक्षर कम्पोज़ करनेवाली मशीन में कुल की-बोर्ड में ६० बटन ही होते हैं। हाथ से कम्पोज़ करनेवाले अच्छे-से-अच्छे कारीगर की तुलना में इस मशीन की गति लगभग सात गुनी होती है। स्वयंक्रिय मशीन में लाइनों के असमान होने की सम्भावना ही नहीं रहती। यदि लाइन छोटी बड़ी हुई तो मशीन में लगा हुआ एक पुर्ज़ा स्वय ही मशीन को बन्द कर देता है। लाइन की लम्बाई दुरुस्त करके पुनः ऑपरेटर मशीन को चालू
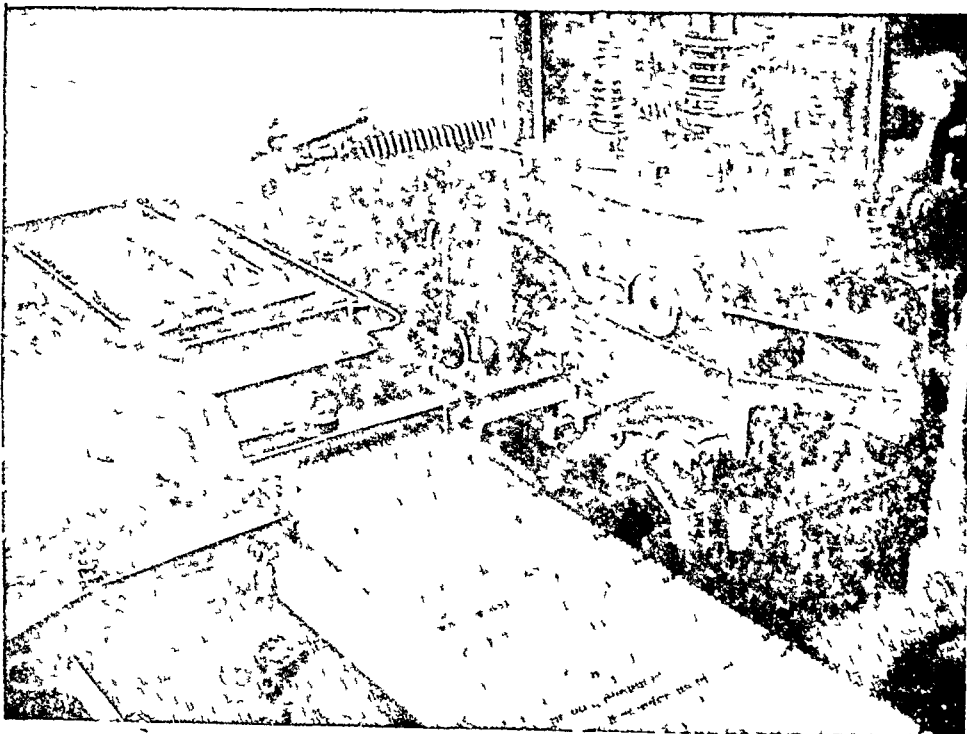
(ऊपर) मॉनोटाइप कम्पोज़िंग मशीन के कागज़ के फ़ीते पर ऑपरेटर ने मनोवाञ्छित अक्षरों को ढालने के लिए एक विशिष्ट संकेत-लिपि-सूचक सूराख़ बना लिए हैं। इस फीते को पुनः टाइप ढालनेवाली मशीन में लगा दिया जाता है और उसके सूराख़ों के निर्देशानुसार ही अक्षरों के ठप्पे अपने आप उठकर पिघले हुए सीसे के सामने आ जाते हैं और मनोनीत टाइप ढलने लगते हैं। (नीचे) इसी मशीन के ढालनेवाले यन्त्र-द्वारा धड़ाधड़ टाइप ढल रहे हैं।

कर सकता है। प्रयुक्त टाइप को पुनः पिघलाकर लाइनोटाइप या मॉनोटाइप मशीन में ढालकर नया मैटर कम्पोज किया जाता है। इस प्रकार छप चुके मैटर के टाइप के अक्षरों को पुनः हाथ से उठा-उठाकर खानों मे रखने का व्यर्थ का परिश्रम तथा समय बच जाता है। मशीन द्वारा कम्पोज़ करने से ऑपरेटर के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव नहीं पड़ता। हाथ से कम्पोज करनेवाले कम्पोज़ीटर के फेफड़ों में सीसे के नन्हें नन्हे कण जाकर उसके स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाते हैं, किन्तु लाइनोटाइप या मॉनोटाइप से कम्पोज़ करने पर सीसे के कण हवा में उड़ने नहीं पाते।

आधुनिक छापे की मशीनें दो प्रकार की होती हैं—चिपटे धरातल की और बेलनाकार धरातल की, जिसे रोटरी कहते हैं। इन आधुनिक मशीनों की उपयोगिता समझने के लिए इस बात का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि हैंडप्रेस में हाथ से छापते वक्त निम्नलिखित क्रियाएँ सम्पादित करनी होती हैं—(१) रोलर पर स्याही लगाना, (२) टाइप के फर्मे पर रोलर से स्याही फेरना, (३) काग़ज़ को चौरस धरातल पर रखना, (४) फिर इस धरातल को फर्मे के नीचे ले आना, (५) फर्मे को लीवर की मदद से काग़ज पर दबाना, ताकि टाइप की छाप काग़ज पर उभरे, (६) फर्मे को स्प्रिंग की मदद से ऊपर उठाना, (७) धरातल को एक ओर खिसकाना, और अंत मे (८) छपे हुए काग़ज़ को उठाना।

आधुनिक मशीनों में ये सभी क्रियाएँ उनके विभिन्न पुर्ज़ों की मदद से सम्पादित की जाती हैं।

साधारण हैंडप्रेस का ही परिष्कृत रूप 'ट्रेडिल प्रेस' है। इस छापे की मशीन का परिचालन एक पहिए द्वारा होता है, जिसे पाँव की मदद से चलाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस तरह सिलाई की मशीन को दर्ज़ी अपने पाँवों की मदद से चलाता है। इस मशीन मे रोलर में स्याही
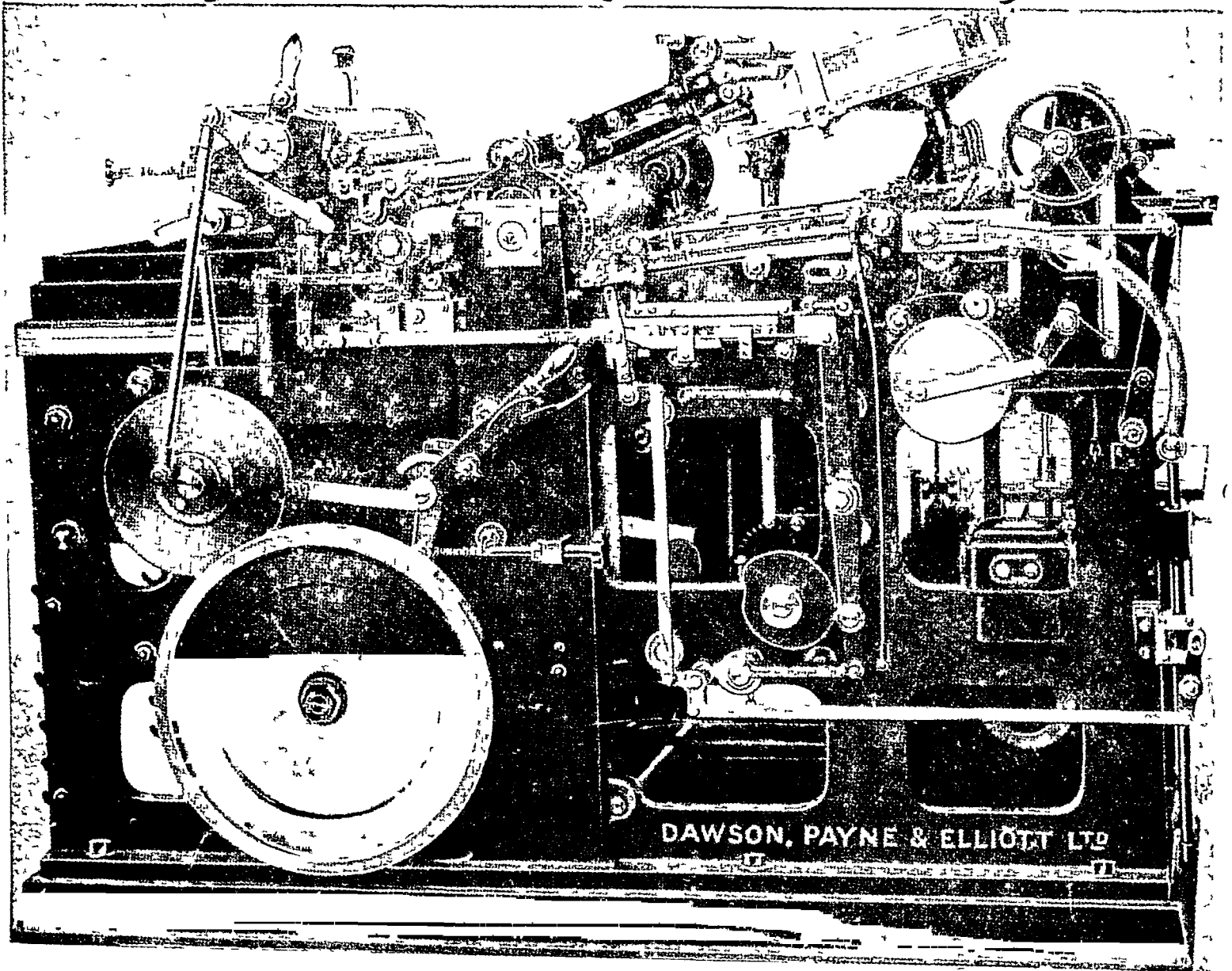
आधुनिक ढंग की चिपटे धरातल की एक छापे की मशीन

यह मशीन स्वयंक्रिय है, अर्थात् इसमें काग़ज़ को मशीन स्वयं ही ले लेती और छापकर अलग इकट्ठा कर देती है।

लगने और उससे टाइप के फर्मे पर स्याही पुतने की स्वयक्रिय व्यवस्था होती है। साथ ही उसमें जिस धरातल पर कागज रखते हैं वह स्वय ही पहिए के घूमने पर उठकर टाइप के फर्मे पर जा लगता है और फिर तुरन्त ही अपनी पहली जगह पर वापस आ जाता है। इसके बाद छपे हुए काग़ज को हटाकर ऑपरेटर दूसरा कागज़ वहाँ रख देता है। इसी क्रिया की बार बार पुनरावृत्ति होती रहती है। अवश्य ही ट्रेडिल प्रेस द्वारा छोटे आकार के ही कागज पर छपाई हो सकती है, किन्तु गति के विचार से हैण्डप्रेस की तुलना मे यह श्रेष्ठतर है। हैण्डप्रेस पर दो आदमी काम करते हैं और तब भी प्रति घण्टे २५० पृष्ठ ही छप सकते हैं, जबकि ट्रेडिल प्रेस पर एक लडका अकेले १००० प्रतियाँ प्रति घण्टे छाप सकता है। ट्रेडिलप्रेस पर टाइप पर स्याही फेरने का स्वयक्रिय प्रबन्ध होने के कारण सभी प्रतियाँ लगभग एक-सी उतरती हैं, जब कि हैण्डप्रेस में किसी प्रति में अधिक स्याही आती है, किसी में कम, क्योंकि इस मशीन में टाइप पर स्याही हाथ से ही फेरी जाती है।

गत वर्षों में छापे के इन यन्त्रों में सैकडों सुधार किए गए हैं और अब प्रायः सभी छापे की कलें बिजली की शक्ति ही से चलाई जाने लगी हैं। साथ ही अब चिपटे धरातल की आधुनिक छापे की मशीन में कागज़ के वरक़ स्वयं ही मशीन में एक के बाद एक छपने के लिए लगते जाते हैं, और स्याही भी इस अन्दाज़ से लगती है कि प्रत्येक प्रति पर एक-सी गाढी स्याही के अक्षर उभरते हैं। फिर छपने पर ये वरक अपने आप
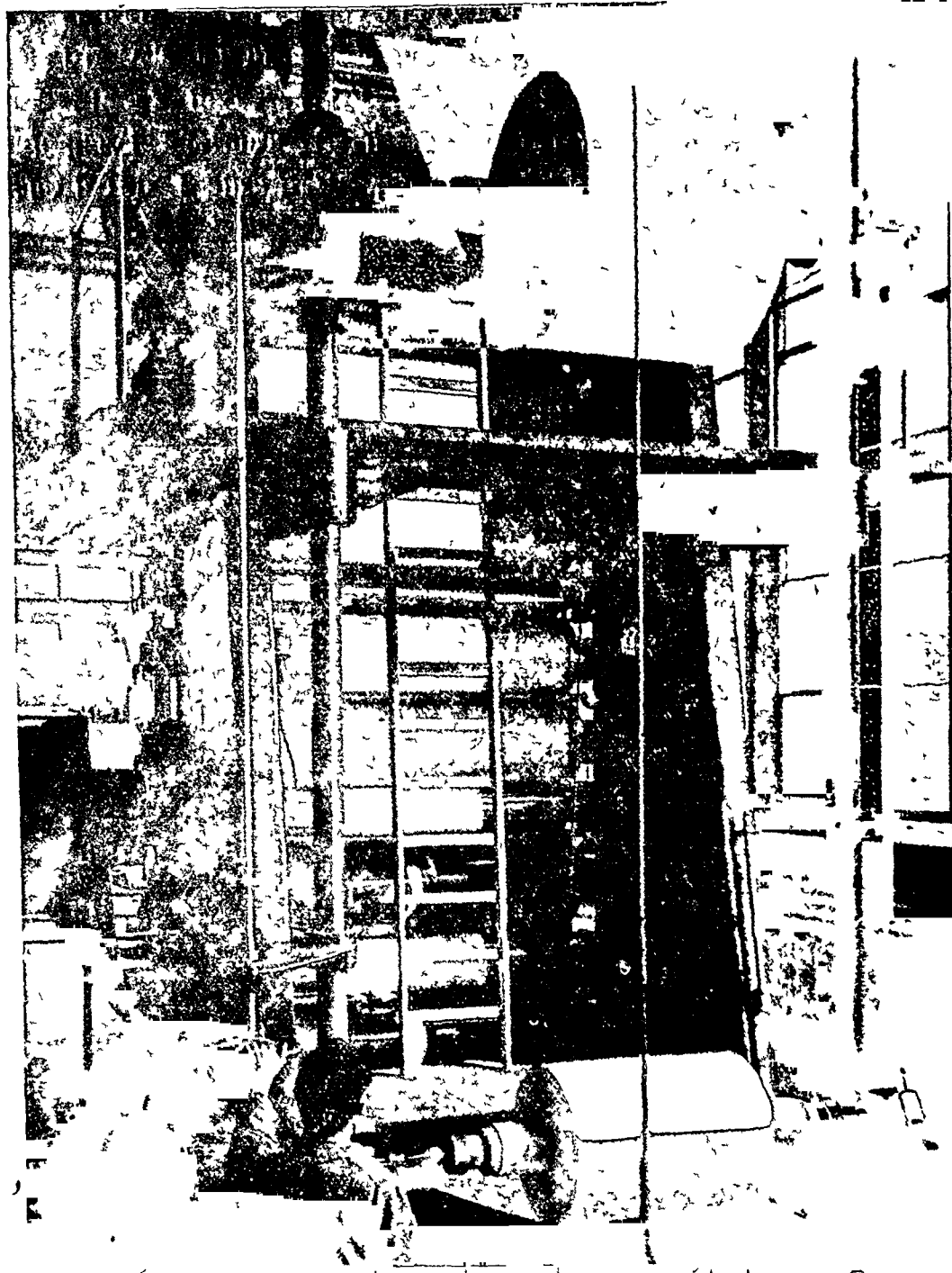
रोटरी मशीन पर छापते समय काग़ज़ अलग-अलग साधारण तख़्तों के रूप में नहीं, बल्कि मीलों लंबी लिपटी हुई रीलों के रूप में लगाया जाता है। इस कार्य के लिए विशेष रूप से रीलो में लिपटा हुआ काग़ज़ मिलों से बनकर आता है। बाईं ओर के चित्र में एक पेपर-मिल में काग़ज़ की ऐसी ही रीलें तैयार होते दिखाई दे रही है। यदि ये रीलें न हों तो रोटरी की छपाई असंभव हो जाय।

(ऊपरी चित्र) रोटरी प्रिन्टिङ्ग मशीन पर छापने के लिए मैटर की स्टीरियो प्लेटें तैयार की जा रही हैं। ऐसी कई अर्द्ध-बेलनाकार स्टीरियो प्लेटें एक साथ रोटरी के बेलनों पर लगा दी जाती हैं और इस प्रकार कुछ ही समय में निर्धारित मैटर की लाखों प्रतियाँ मुद्रित हो जाती हैं। (नीचे) एक रोटरी मशीन पर अख़बार छप रहा है। (फ़ोटो—'टाइम्स आफ़ इंडिया प्रेस', बंबई की कृपा से)
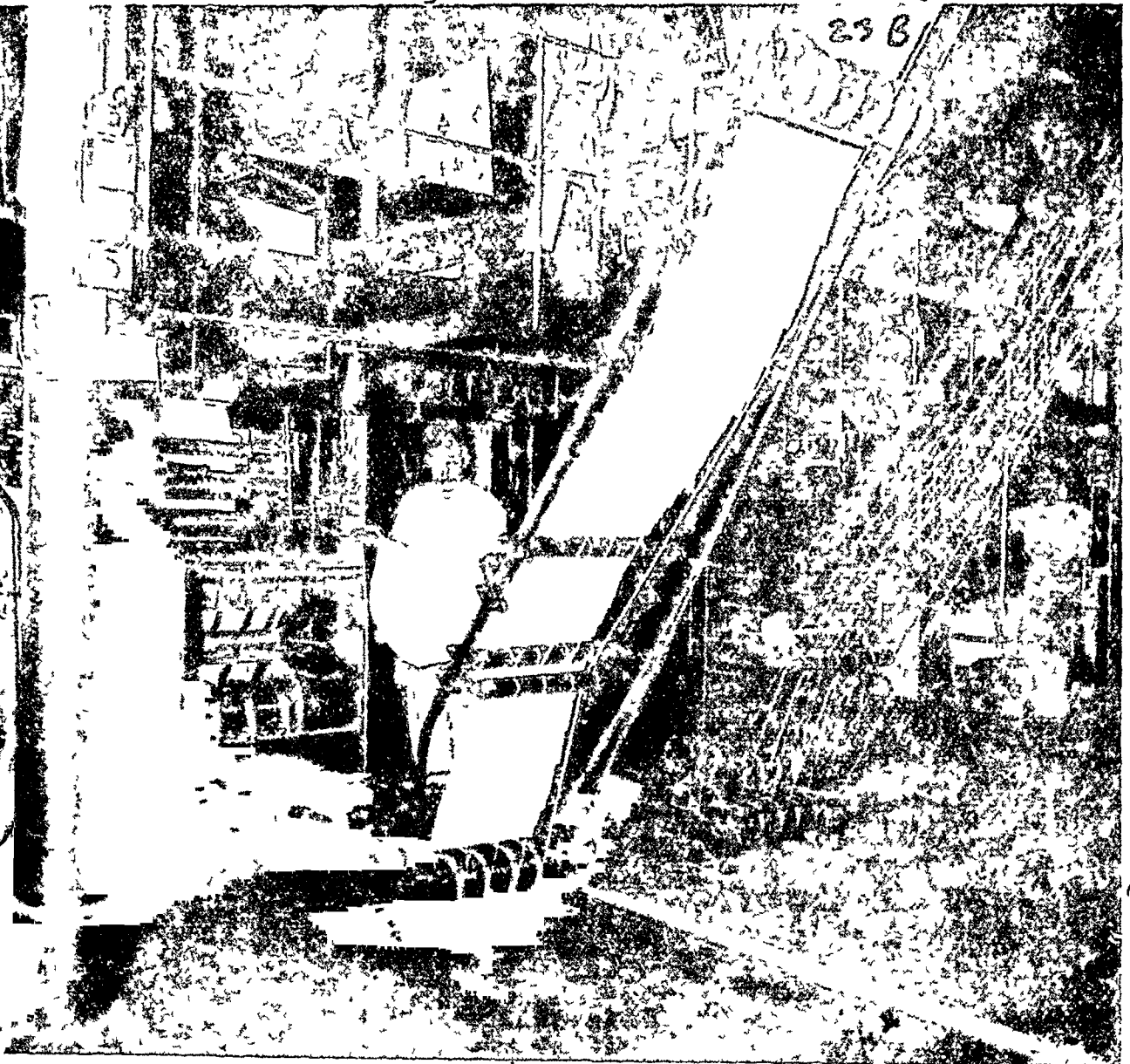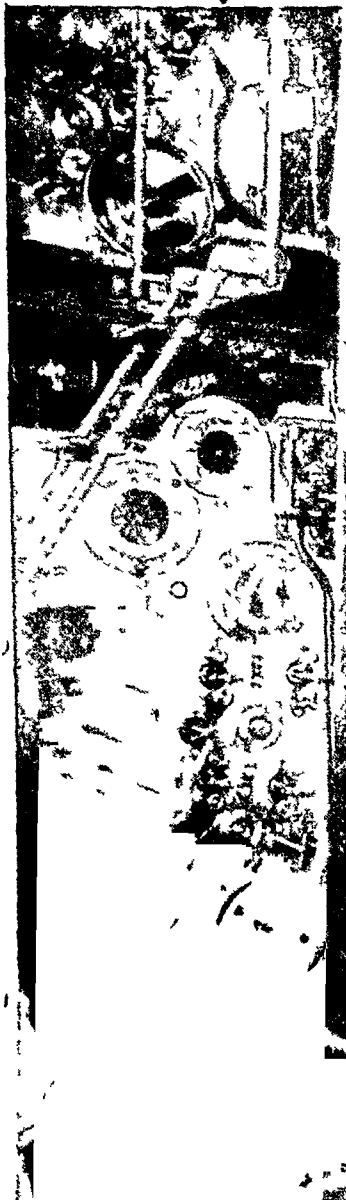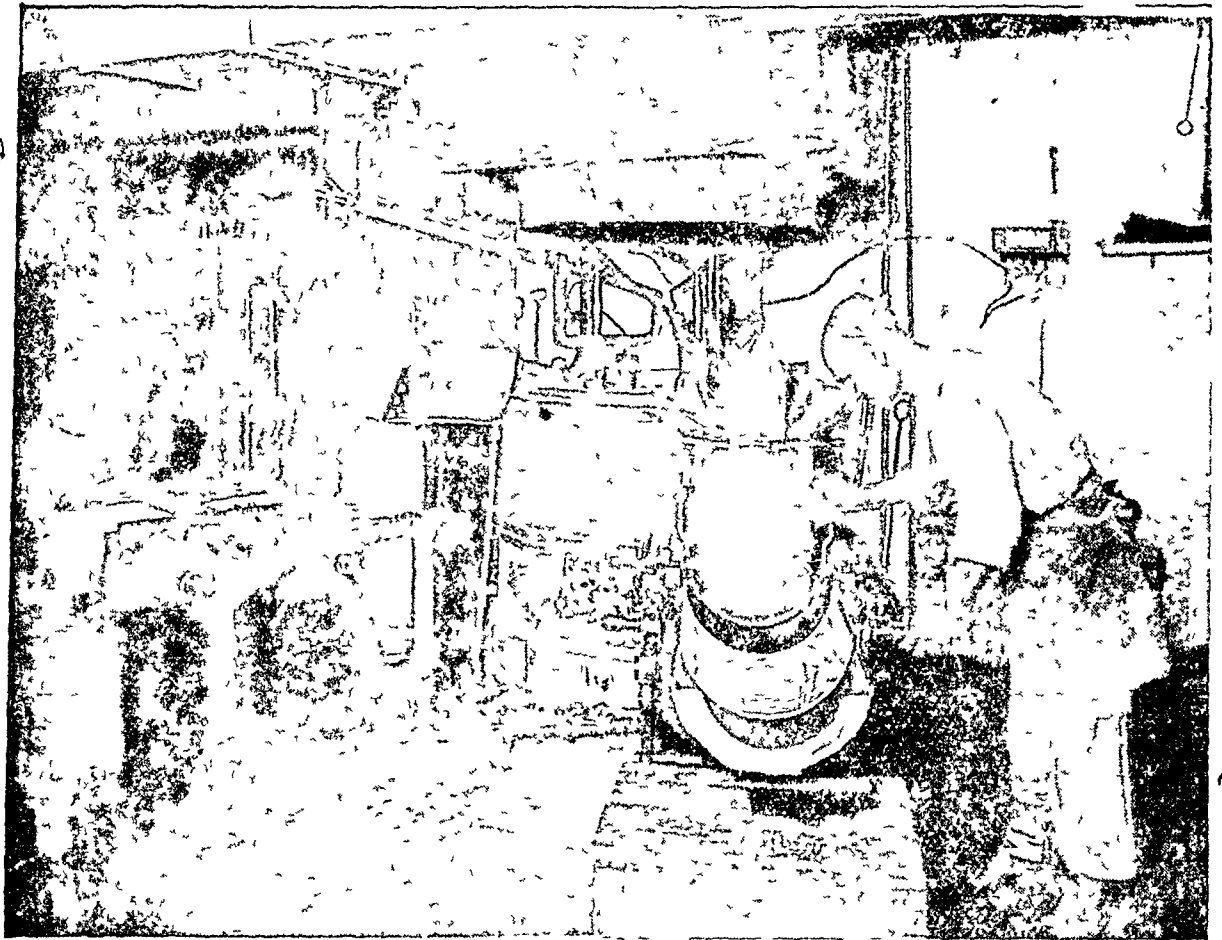
एक दूसरे के ऊपर ठीक से बैठते जाते हैं। इस मशीन में टाइप के फर्मे का मुँह ऊपर की ओर होता है और काग़ज वाला धरातल ऊपर से जाकर इस पर दबता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पहले जो काम २० व्यक्ति कर पाते थे उसे इस मशीन द्वारा अकेला एक ही ऑपरेटर अब पूरा कर लेता है!

रोटरी मशीन में छपाई की गति और भी तेज़ होती है, अतः दैनिक पत्रों के छापने के लिए प्रायः सभी जगह रोटरी मशीनें ही काम में लाई जाती हैं। इस मशीन में टाइप के अक्षर चिपटे धरातल पर नहीं, बल्कि एक बेलन के अर्द्ध-भाग पर लगे होते हैं। वास्तव में इस मशीन के लिए टाइप का फर्मा ढालकर अर्द्ध-बेलनाकार प्लेटों की शक्ल में तैयार किया जाता है, जिसका झुकाव ठीक मशीन के बेलन के झुकाव के बराबर होता है ताकि यह प्लेट बेलन के धरातल पर ठीक-ठीक बैठ जाय। इस प्लेट को 'स्टीरियो प्लेट' के नाम से पुकारते हैं। इसके लिए पहले हाथ से या लाइनोटाइप मशीन से चिपटे धरातल पर मैटर कम्पोज करते हैं, फिर काग़ज की लुगदी पर इस टाइप के फर्मे से ठप्पा मारकर उलटा साँचा तैयार कर लेते हैं। अब ढालनेवाली मशीन में लुगदी के इस साँचे को बेलन के अर्द्धव्यास के अनुसार झुकाकर लगाते हैं और उसमें पिघले हुए सीसे को डालकर बीसियों स्टीरियो प्लेट तैयार कर लेते हैं। तब कई रोटरी मशीनों के बेलनों पर एक ही प्रकार की स्टीरियो प्लेटें स्क्रू द्वारा कस दी जाती हैं और एक ही साथ सब मशीनों पर वही मैटर छपता जाता है। समाचारपत्र छापनेवाली मशीनों में काग़ज़ के वरक़ अलग-अलग एक-एक करके नहीं लगते, बल्कि उसकी मीलों लम्बी एक रील ही लगा दी जाती है। इसी पर प्रतियाँ छपती जाती हैं और उनके वरक़ अलग-अलग कटते जाते हैं। यही नहीं, यह मशीन सफ़ाई के साथ उनकी तह भी कर देती है। स्टीरियो प्लेट द्वारा रोटरी मशीनों पर प्रति घण्टे २ लाख से भी अधिक प्रतियाँ छाप ली जाती हैं। ये मशीनें कागज को दोनों ओर भी छापती हैं। साथ ही इनमें फोटो-एलेक्ट्रिक सेल के ऐसे यंत्र लगे होते हैं, जो कागज की रील के अचानक टूट जाने पर फौरन् ही दो सेकण्ड के अन्दर मशीन को रोक देते हैं।

आधुनिक मुद्रणालयों का एक महत्त्वपूर्ण विभाग वह होता है, जहाँ पत्र पत्रिकाएँ अथवा पुस्तकें छपाई के बाद कटाई, जिल्दसाज़ी आदि के लिए जाती हैं। प्रस्तुत चित्र में बंबई के टाइम्स आफ़् इंडिया प्रेस के दफ़्तरीख़ाने का दृश्य है।

स्टीरियो टाइप की विधि से एक बार के कम्पोज किए गए मैटर की कई प्रतिलिपियाँ शीघ्र ही कम खर्च पर ही तैयार कर ली जाती हैं, और इन प्रतिलिपियों में किसी प्रकार की ग़लती होने की भी सम्भावना नहीं रहती—जबकि उसी मैटर को दुबारा कम्पोज करने में खर्च भी ज़्यादा बैठता और उसमें ग़लती होने की भी सम्भावना रहती है। फिर इस क्रिया में सबसे बड़ा लाभ यह है कि उससे टाइप के अक्षरों की भी बचत होती है। थोड़ा-सा मैटर कम्पोज कर लेने के बाद उसकी स्टीरियो प्लेट तैयार कर लेने पर मैटर को खोलकर टाइप खाली किये जा सकते हैं और उनसे दूसरा मैटर कम्पोज किया जा सकता है। बाद में उपयोग करने के निमित्त ये प्लेटें आसानी के साथ सञ्चित भी की जा सकती हैं, जबकि अलग-अलग अक्षरों से कम्पोज किए गए मैटर के फर्मे से एकाध अक्षर के गिरने की भी सम्भावना हो सकती है, तथा टाइप के अक्षर उसमें एक तरह से व्यर्थ ही फँस-से जाते हैं।

संस्कृत-वाङ्मय—६

विविध काव्य—इतिहासपरक

इतिहासपरक कुछ काव्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इतिहास-पुराण इसी प्रकार के एक वर्ग के प्रति संकेत करते हैं। रामायण और महाभारत इसी श्रृंखला की दो अनमोल कड़ियाँ हैं। फिर भी रामायण, महाभारत और पुराणों को इतिहास कहना आधुनिक ऐतिहासिक विचार से अनुचित जान पड़ता है। इसका कारण प्रथम तो यह है कि पुराणों को छोड़कर अन्य दोनों काव्यों में कुल अथवा व्यक्ति-विशेष का ही वर्णन है और दूसरे उस वर्णन मे भी अलौकिकता पर कवि ने अधिक जोर दिया है। इस प्रकार अतिमानवीय प्रसंगों से युक्त इन काव्यों का इतिहास अत्यन्त अग्राह्य हो जाता है। विशेषकर इस कारण कि उसमे कवि का व्यक्तित्व अपनी कल्पना को अधिकाधिक स्थान देने लगता है। बौद्धों के 'दीपवंश' और 'महावंश' भी इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। फिर इतिहासपरक ग्रथों का अनुशीलन ही भारतीयों को अरुचिकर प्रतीत हुआ है। 'रघुवंश' और 'नैषधीय' पर तो अनेक टीकाकार मिलेंगे, परन्तु 'नवसाहसांकचरित' और 'गौड़वहो' पर मानों टीकाकारों की भारती स्तंभित हो जाती है। कुछ व्यक्तिगत जीवनचरित अवश्य सस्कृत और प्राकृत में उपलब्ध हैं, परन्तु थोड़ी राजनीतिक सामग्री के अतिरिक्त उनमें और कुछ नही मिलता और जो राजनीतिक अथवा सामाजिक स्थिति उनसे ज्ञात भी होती है वह अधिकतर राजा के व्यक्तिगत जीवन से अधिक सबंधित होता है तथा उसका सामाजिक रूप भी साधारणतया ऊपरी श्रेणी का ही होता है। एक प्रयत्न संस्कृत में इतिहास लिखने का निस्सन्देह प्रचुर स्तुत्य हुआ है और समसामयिक अथवा कुछ काल पूर्व की सामग्री के संबध में तो वह सचमुच ही अनुपम है—वह है कल्हण की 'राजतरङ्गिणी'। परन्तु इतिहास-विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण से देखने पर यह भी निर्दोष नहीं प्रतीत होता। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि कल्हण ने काश्मीर के इतिहास की खोज मे अत्यधिक परिश्रम किया है, फिर भी वह 'पुराण' और रुचि-कल्पना से अपने को मुक्त न कर सका। फिर भी उसकी राजतरङ्गिणी को हम बारहवीं सदी के लगभग पहले की सदियों के काश्मीरी इतिहास का प्रतिविम्ब कह सकते हैं।

१. प्रशस्तियाँ

इतिहास-पुराण, रामायण-महाभारत, दीपवश-महावश के अतिरिक्त जिन काव्यों ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा सँवारी है, उनमें प्रशस्तियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। ये शिला-स्तभ, ताम्रपत्र, प्रस्तर-धातु-काष्ठ-मृत्तिका-निर्मित मूर्त्तियों अथवा मन्दिरों और प्रासादों की दीवालों पर उत्कीर्ण मिलती हैं। राजनीतिक रूप में वे राजाओं के पारस्परिक सघर्ष, जय-पराजय, वंशावली अथवा शासन-संबंधी घोषणाएँ है। इन प्रशस्ति-काव्यों में सबसे ऊँचा स्थान गुप्तकालीन कृतियों का है, जब गुप्त-सम्राटों ने अपनी मुद्राओं तक पर छन्दयुक्त वाक्यावली उत्कीर्ण कराई। कभी-कभी इन उत्कीर्ण लेखों मे स्तोत्र भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार का एक स्तोत्र आठवीं सदी के कवि राम द्वारा विरचित खुदा मिला है। राम अपने को 'कवीश्वर' कहता है। उसकी गर्वमयी उक्ति है कि अभी उसके मुख में माता के दूध का स्वाद बना ही था कि उसकी बाल-जिह्वा पर सरस्वती का नर्त्तन होने लगा! परन्तु उसके स्तोत्र-काव्य में काव्योचित गुणों का पर्याप्त अभाव है। वत्सभट्टी उससे कहीं ऊँचा है। पर उसकी भी कविता में वैचित्र्य का प्राचुर्य है, क्योंकि उसके चौदह श्लोकों का स्तोत्र पार्वती और शिव दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और आखिर वर्णन-वैचित्र्य काव्य का कलेवर मात्र है और सो भी कुरुचिपूर्ण। कालिदास और जयदेव में वह हमें नहीं मिलता। इसी प्रकार का एक अन्य स्तोत्र नवीं सदी के ललितसुरदेव का उत्कीर्ण मिला है (दे० इण्डियन ऐन्टि-

क्वेरी, खण्ड २५, पृष्ठ १७७ से आगे)। ऐहोल का प्रसिद्ध शिला-लेख, जिसमें चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय द्वारा सम्राट् हर्षवर्धन की पराजय का विरुद खुदा है, बड़ा सुन्दर और तरल है। एक उदाहरण इस श्लोक में है—

युधिपतित गजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकार हर्षः।

२. कुछ फुटकर ग्रन्थ

इस प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थों में से दो, 'हर्षचरित' और 'गौड़वहो', प्रमुख हैं। 'हर्षचरित' राजा हर्षवर्धन के सभासद् कवि बाण की संस्कृत-कृति है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह हर्ष के संबंध में भी नितान्त अपर्याप्त है। उसके पूर्वपुरुषों के संबंध की कुछ राजनीतिक बातें इसमें अवश्य उपलब्ध होती हैं, परन्तु इसे इतिहास कहना इतिहास की विडम्बना है। इससे कहीं अच्छा प्रयास 'गौड़वहो' के रचयिता प्राकृत कवि वाक्पतिराज का है। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा का दरबारी कवि था। इसमे यशोवर्मा द्वारा गौड़ (बंगाल) पर चढाई और वहाँ के राजा का वध वर्णित है। यशोवर्मा का काल हमें मालूम है। काश्मीर-नृपति ललितादित्य से पहले उसकी घनिष्ठ मित्रता थी, परन्तु ललितादित्य ने बाद में उसे मारकर ७४० ईस्वी के लगभग कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। वाक्पतिराज का समय भी इस प्रकार आठवीं शती के मध्य मे होना चाहिए। इस काव्य में भी अधिकतर ऋतुओं के सौन्दर्य, राजाओं के विलास और पौराणिक कथानकों का वर्णन है। महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा 'गौडवहो' चरित से अधिक एक काव्यग्रन्थ है और अपूर्ण-सा है। ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा का पराभव और वध सम्भवतः इसकी ऐतिहासिक अपूर्णता का कारण सिद्ध हुआ होगा। पद्मगुप्त (परिमल) द्वारा विरचित 'नवसाहसाकचरित' तो इस दृष्टि से और भी अपर्याप्त है। इस काव्य मे अठारह सर्ग हैं और यह लगभग १००५ ई० मे लिखा गया था। इसमे यद्यपि शशिप्रभा के प्रणय संबध में पौराणिकी कथा है तथापि यह एक प्रकार से मालवन्तपति सिन्धुराज नवसाहसाक का चरित है। पद्मगुप्त मुञ्ज (ईस्वी ९७४ ९४) और सिन्धुराज (ईस्वी ९९५-१०१०) का दरबारी कवि था। सिन्धुराज राजा भोज का पिता था। पद्मगुप्त की भाँति ही बिल्हण ने भी 'कर्णसुन्दरी' नामक एक नाटक लिखा, जिसमें विद्याधरों की एक राजकन्या से एक चालुक्य राजा के विवाह का वर्णन है। यह विवाह वास्तव मे एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। चालुक्यराज अन्हिलवाड़ा का कर्णदेव है और विद्याधरराज की कन्या है यथार्थतः कर्णात (कर्नाटक)-नरेश जयकेशी की पुत्री मियनल्लदेवी। इस नाटक में भी काव्यों की भाँति ही ऐतिहासिक विवरण अत्यन्त न्यून है। परन्तु इसमें जहाँ-तहाँ बिल्हण की हृदय-लहरी तरंगित हो पडी है और भाव तरल हो गए हैं।

'भुवनाभ्युदय' नामक एक और ऐतिहासिक काव्य का उल्लेख कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में मिलता है। इस काव्य का रचयिता शङ्कुक नाम का कवि था। कल्हण के अनुसार इस काव्य में मम्म और उत्पल के झेलम तट पर घोर संग्राम का वर्णन था। उस युद्ध में आहत शवों से वितस्ता का प्रवाह अवरुद्ध हो गया था—

रुद्धप्रवाहा यत्रासीद्वितस्ता सुभटैर्हतैः।

इस वितस्ता-तट के योद्धाओं में से उत्पल का समय लगभग ८५० ईस्वी है, अतः कवि शङ्कुक को भी इसके आसपास ही रखना होगा। सुभाषितों में शङ्कुक नामक एक कवि के कुछ श्लोक उद्धृत हैं, परन्तु उस शङ्कुक और 'भुवनाभ्युदय' के रचयिता के एक ही व्यक्ति होने में सन्देह है। कवि मयूर के पुत्र एक और शङ्कुक का उल्लेख भी सुभाषित के एक श्लोक के संबध में हुआ है। परन्तु मयूर-पुत्र शङ्कुक और उत्पल-सम्बन्धी कवि तो किसी प्रकार भी एक व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि इनमे से पहले का पिता तो सातवीं सदी के प्रथम चरण के हर्षवर्धन के समकालीन बाण का साला था और दूसरा प्रायः ८५० ईस्वी के उत्पल का समसामयिक या उससे बाद का है। एक तीसरे शङ्कुक का हवाला उस श्लोक से मिलता है, जो विक्रमादित्य के रत्नों के सम्बन्ध मे उपलब्ध है। यह तीसरा ऊपर के दोनों शङ्कुओं में से कोई भी हो सकता है, यद्यपि उसका तीसरा होना भी कुछ अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शङ्कुक के काव्य 'भुवनाभ्युदय' के ऊपर अभिनव गुप्त ने 'अभिनव-भारती' नाम की एक टीका लिखी है। इस पर एक और टीका भट्टनायक की भी मिलती है।

३. बिल्हण

संस्कृत-काव्यकारों की अधिकतम संख्या काश्मीर प्रदेश की है। यहाँ की कानन-परम्परा और हिममण्डित पर्वतमालाओं ने भावुकों मे काव्य संचार किया और इन कवियों ने काव्यमर्मज्ञों की भी वहाँ एक शृंखला-सी बाँध दी। जिस प्रकार वहाँ कवि उत्पन्न हुए, उसी प्रकार काव्य के पारखी भी। अलंकारों और काव्यालोचना पर ग्रन्थ लिखनेवाले पंडित अधिकतर काश्मीरी ही थे। इसी प्रकार

भारतवर्ष के आरंभिक इतिहासकार भी काश्मीर के ही दो पण्डित कवि हुए। इनमें से पहला था बिल्हण और दूसरा कल्हण। अनेक प्रसंगों मे हम पहले ही बिल्हण से परिचित हो चुके हैं। परन्तु अब उसके विशिष्ट इतिहास-काव्य 'विक्रमांकदेवचरित' के संबंध में हम उसका विशिष्ट परिचय प्राप्त करेंगे। बिल्हण का जन्म तो उस कुंकुम-प्रसवा भूमि काश्मीर मे हुआ, परन्तु वह वहाँ टिका नहीं। संभवतः कलश के राज्यकाल मे काश्मीर छोड़ वह बाहर निकल गया, और चिर-काल तक मथुरा, कन्नौज, प्रयाग तथा काञ्ची आदि नगरों में भ्रमण करता रहा। कुछ काल तक वह डाहल के नृपति कर्ण (संभवतः चेदि का, कर्ण-सुन्दरी का कर्ण नहीं) की राजसभा मे रहा, फिर अन्हिलवाड़ा के चालुक्य-नरेश कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६४-९४) के दरबार में। अन्त मे कल्याण के चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठम्) ने बिल्हण को 'विद्यापति' की उपाधि देकर अपने पास रख लिया। विक्रमादित्य (ईस्वी १०७६-११२७) ने उसे एक नीला छत्र और गज देकर समादृत किया। कर्ण के दरबार मे उसने गंगाधर नामक एक कवि को काव्यरचना में परास्त किया था। वहीं उसने राम के ऊपर शायद कोई काव्यरचना भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है। एक स्थान पर वह कहता है कि उसके काव्यचमत्कार को देखकर धारानगरी का राजा भोज भी उसका अपनी राजसभा में स्वागत करता। इस प्रकार मालूम होता है कि वह भोज का समकालीन था, यद्यपि भोज का यह अन्त्यकाल रहा होगा।

बिल्हण का सबसे सुन्दर काव्य-ग्रन्थ 'विक्रमाङ्कदेवचरित' ही है, जिसे उसने अपने संरक्षक चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठम्) की प्रशस्ति मे लिखा था। यह काव्य सन् १०८८ ईस्वी के पूर्व ही समाप्त हो चुका होगा। इसके कई कारण हैं। पहले तो उस तिथि के शीघ्र बाद ही विक्रमादित्य ने दक्षिण पर जो भयंकर आक्रमण किया था, उसका कोई संकेत इस काव्य में नहीं है। दूसरे, काश्मीर के हर्षदेव को वह राजा नहीं वरन् केवल कुमार कहता है। हर्षदेव १०८८ ईस्वी में ही काश्मीर की गद्दी पर बैठा था और यदि यह काव्य इस वर्ष के बाद समाप्त हुआ होता तो निश्चय कवि उसे कुमार न कहकर राजा कहता। ऐसा भी नहीं हो सकता कि बिल्हण ने हर्षदेव का राजा होना न सुना हो, वह पहले ही मर गया हो, क्योंकि कल्हण का स्पष्ट कथन है कि बिल्हण उसके राजा होने के बाद तक जीवित था। इससे सिद्ध है कि 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की रचना सन् १०८८ के पूर्व ही हो चुकी थी। बिल्हण ब्राह्मण था और उसके कुल में वैदिक यज्ञ, अग्निहोत्र आदि करने की प्रथा थी। उसके पिता का नाम ज्येष्ठकलश, पितामह का राजकलश और प्रपितामह का मुक्तिकलश था। उसकी माता का नाम नागदेवी था। बिल्हण के दो अन्य भ्राताओं के नाम थे इष्टराम और आनन्द। दोनों ही पण्डित और कवि थे। स्वयं बिल्हण ने वेद, पतञ्जलि के महाभाष्य और अलङ्कार के विषय मे शिक्षा पाई थी।

बिल्हण का यह महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' आरंभ में पुराणपरक है। उसका कहना है कि देश और काल जब कुकर्मों से विपन्न हो गया तब उनकी रक्षा के लिए ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु से एक वीर उत्पन्न किया जो चालुक्य-कुल का प्रतिष्ठापक हुआ। अपनी प्राचीन राजधानी अयोध्या को छोड़कर उसके पश्चात्कालीन उत्तराधिकारी दक्षिण की ओर कल्याण में जा बसे। कहाँ तक इस किंवदन्ती में ऐतिहासिक सार है यह कहने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यह माना जा सकता है कि चालुक्यों का आदि-स्थान अयोध्या रहा होगा। कम-से-कम यह स्वीकार करने में अलौकिकता बाधा नहीं डालती। फिर बीच के इतिहास और ख्यातों को छोड़कर कवि एकदम दसवीं सदी के राजा तैलप (९७३-९७ई०) के समीप आ जाता है, यद्यपि वह उसके मालवराज द्वारा पराभव की बात का संकेत भी नहीं करता। हमें इतिहास से विदित है कि धारा के भोज के चाचा और सिन्धुराज के ज्येष्ठ भ्राता वाक्पति मुञ्ज ने इस तैलप (द्वितीय) को कम-से-कम छः बार हराया था। अन्त में जब अपने मंत्री की सम्मति की सर्वथा अवहेलना कर मुञ्ज गोदावरी के दक्षिण मे अन्धाधुन्ध बढ़ता गया, तभी चालुक्यराज तैलप उसे हराकर बन्दी कर सका। मुञ्ज अन्त में हाथी द्वारा कुचलवा डाला गया। बिल्हण अपने महाकाव्य में तैलप द्वारा राष्ट्रकूटों का पराभव तो लिखता है, परन्तु उस मुञ्ज की विजय का हवाला नहीं देता—इसमें उसका इतिहास-विरुद्ध पक्षपात सिद्ध है। बाद के सारे राजाओं का, सिवा एक के, इसमें उल्लेख हुआ है। विक्रमादित्य के पिता आहवमल्ल (ईस्वी १०४०-६९) पर आकर ही कवि की लेखनी रुकी है और उसके संबंध में वर्णन काफी नाट्यपूर्ण और विशद हो गया है। आहवमल्ल के पुत्र नहीं हैं। वह अपनी रानी के साथ शिव की आराधना करता है। शिव प्रसन्न होकर उसे तीन पुत्र सोमेश्वर, विक्रमादित्य

और जयसिंह नामक देते हैं। बडे होने पर आहवमल्ल विक्रमादित्य को युवराजपद स्वीकार करने को कहता है, परन्तु वह ज्येष्ठ भ्राता के अधिकारों को छीनना नहीं चाहता, इसलिए ऐसा करने से इन्कार कर देता है। अपने पिता के राज्यकाल मे विक्रमादित्य कई युद्धों मे उसकी सहायता करता और अनेक विजय प्राप्त करता है। इन्हीं विजयों के बीच एक बार उसे ज्वर हो आता है और उसका पिता घबराकर अपना जीवन-विसर्जन करना निश्चित कर लेता है। मन्त्रियों के बहुत रोकने पर भी आहवमल्ल पुत्र की मृत्यु की आशका करता हुआ दक्षिण की गगा तुगभद्रा में प्रविष्ट होता है और शिव पर चित्त स्थापित कर स्वर्गारोहण करता है। इस स्थल पर कवि का वर्णन बहुत सुन्दर हो जाता है। पिता की मृत्यु पर विक्रमादित्य बडा दुःखी होता है, परन्तु शान्तिपूर्वक वह अपने बडे भाई का राज्यारोहण कराता और उसके साथ कुछ काल तक रहता है। बाद मे जब उसके ज्येष्ठ भ्राता सोमेश्वर को उस पर सदेह होता है तो वह अपने अनुज जयसिंह को लेकर तुंगभद्रा की ओर जाता है और वहाँ एक स्थल जीतकर बस जाता है। इसके बाद वह चोलराज से मैत्री करता है। चोलराज के मरने पर बचाव की कोशिश करने पर भी चोलों का राज्य राजिग नामक व्यक्ति हस्तगत कर लेता है। राजिग विक्रमादित्य के विरुद्ध उसके भाई चालुक्य-राज सोमेश्वर से मैत्री कर लेता है। इस पर युद्ध होता है और विक्रमादित्य चोलराज और भ्राता की सम्मिलित वाहिनी को पराजित कर चालुक्य सिंहासन हस्तगत करता है। अपने अनुज जयसिंह को वह फिर वनवासी का शासक नियुक्त करता है। तदनतर विक्रमादित्य एक (राजपूत) राजकन्या के स्वयवर मे जाकर वधू को जीत लेता है। इसके बाद इस काव्य में राजा के विहार, ऋतुओं के सौंदर्य और वधू के नखशिख के वर्णन हैं। इसके अनतर आपानकों का वर्णन है, जिनमे राजपूत रमणियाँ भी खुलकर सुरापान करती हैं। राजा कल्याण को लौटकर जलविहार करता है। जयसिंह फिर विद्रोह करता है, पर राजा उसे जीतकर क्षमा कर देता है। उसके बाद राजा के आखेटों के चित्राङ्कन हैं। विक्रमादित्य के पुत्र जन्मते हैं। वह विक्रमपुर नामक नगर और कमलाविलासिन विष्णु का मन्दिर निर्मित कराता है। इस अवसर पर चोलों के उपद्रव आरंभ हो जाते हैं। विक्रम उन्हे जीतकर कुछ काल के लिए उनकी राजधानी काञ्ची पर अधिकार कर लेता है। इस काव्य के अन्तिम अर्थात् अठारहवें सर्ग मे बिल्हण के स्वय अपने कुल तथा अपने पर्यटनों का वर्णन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक शिलालेख बिल्हण के चरित-विस्तार को प्रमाणित करते हैं, परन्तु उसका तिथिक्रम नितान्त दोषपूर्ण है। उसे वास्तव में तिथिगणना का कोई ज्ञान नहीं। प्रायः वह घटनाओं के क्रम को 'कुछ काल बाद' अथवा 'बहुत काल पश्चात्' कहकर परिचालित करता है, परन्तु इस प्रकार के कथन से उसके काल-ज्ञान की कमी ही प्रकट होती है। बात यह है कि बिल्हण की यह कृति भारतीय काव्य-परम्परा के अनुरूप ही है। सरक्षक नायक का प्रशस्ति-गान और काव्याङ्कन ही इसका उद्देश्य है, चरित में तिथिक्रम-निदर्शन नहीं।

काव्य की दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरित' साधारणतः निर्दोष है। बिल्हण की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। उसका वर्णन अनिन्द्य और कथन स्पष्ट है। दुरूहता उसमें नहीं के बराबर है। उसकी वृत्ति वैदर्भी है और उसने समस्त पदों का यथासभव कम प्रयोग किया है। इस काव्य का सबसे सुन्दर स्थल, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आहवमल्ल का तुंगभद्रा-प्रवेश है। उसका वर्णन पाँचवें सर्ग में अत्यन्त गम्भीर और करुण है। मन्त्रियों के अनुनय के विरुद्ध दशरथवत् आचरण करनेवाले इस पिता का गौरव और साहस सराहनीय है।

बिल्हण ने अपने काव्य के ६ सर्गों मे इन्द्रवज्रा, तीन में वंशस्था, दो में श्लोक, दो में रथोद्धता और एक-एक में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, और स्वागता का प्रयोग किया है। वैतालीय का मुख्यतः व्यवहार पन्द्रहवें मे है। इनके अतिरिक्त हरिणी, स्रग्धरा, शिखरिणी, पृथ्वी और औपच्छन्दसिक, मालिनी, वसन्ततिलका, और शार्दूलविक्रीडित का भी क्रमशः उत्तरोत्तर प्रयोग है।

४. कल्हण

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' प्राचीनकालीन इतिहासनिर्माण का स्तुत्य भारतीय प्रयत्न है। हम इसके ऐतिह्य दृष्टिकोण और काव्य-शैली पर तो यथास्थान विचार करेंगे, यहाँ पहले कल्हण के व्यक्तिगत जीवन से सबध रखनेवाले आँकडों को एकत्र कर लें। राजतरगिणी जहाँ ऐतिहासिक प्रयास का एक कुशल उदाहरण है, वहाँ इसमें इसके रचयिता के सबध में भी पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। सस्कृत कवियों ने साधारणतया अपने विषय मे कुछ नही लिखा है। कालिदास इस बात के सबल प्रमाण हैं। बिल्हण ने अपने विषय मे कुछ वृत्तान्त बताकर साहित्य के इतिहासकार को काफ़ी अनुगृहीत किया है और कल्हण ने इस सबध के

आँकड़े और भी अधिक मात्रा में तथा सप्रमाण छोड़े हैं। कल्हण काश्मीरी ब्राह्मण था। उसका पिता काश्मीर के राजा हर्ष (ईस्वी १०८६-११०१) का स्वामिभक्त अनुचर था। वह अपने स्वामी हर्ष की विपत्ति मे भी उसके साथ बना रहा। हर्ष उस पर इतना विश्वास करता था कि अपनी हत्या के पूर्व उसने उसे ही अपना विश्वासपात्र बनाकर दौत्य के लिए चुना था। वह अपने स्वामी की मृत्यु के बहुत काल बाद तक जीवित रहा, परन्तु बाद में उसने राजनीतिक वातावरण छोड दिया। कल्हण सन् ११०० ईस्वी के लगभग जन्मा और पिता की राजनीतिक उदासीनता के कारण वह न तो राजसभ्य हो सका और न उसे काश्मीर का राजनीतिक वातावरण ही मिल सका। यदि उसका पिता राजनीतिक कार्यक्षेत्र मे होता तो संभवतः कल्हण को भी मन्त्रिपद प्राप्त हो जाता, परन्तु अब अधिकतर उसकी सम्भावना जाती रही। कल्हण का पितृव्य कनक भी हर्ष का स्वामिभक्त सेवक था। राजा संगीत का प्रेमी और उसका आचार्य था। कनक ने उससे संगीत सीखा और उसके शुल्क के ब्याज से राजा को एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट की। कल्हण संभवतः परिहासपुर का था। वहाँ की बुद्धमूर्त्ति को जब राजा ने क्रोधपूर्वक नष्ट करना चाहा तब कनक ने अपनी प्रार्थना से उसे प्रसन्न कर मूर्त्ति की रक्षा की। स्वामी की मृत्यु के पश्चात् कनक काशी चला गया। कल्हण और उसके पिता दोनों शिव के उपासक थे। कल्हण को काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय (प्रत्यभिज्ञा) और शैवशास्त्र प्रिय थे, परन्तु तान्त्रिक शैवों के प्रति उसके हृदय में आदर न था। बौद्ध धर्म के प्रति अवश्य उसकी प्रचुर श्रद्धा ज्ञात होती है और कतिपय काश्मीरी राजाओं की पशुहिंसानिवृत्ति की वह बड़ी प्रशंसा करता है। इसमे कोई सन्देह नही, और ऐसा उसके कथन से भी सिद्ध है, कि बौद्ध संप्रदाय के आचरण अब प्रायः हिन्दू-सिद्धान्तों के अनुकूल हो गए थे। तभी शैव होते हुए भी कल्हण को उस संप्रदाय के संबंध मे अनुकूल भावना हो सकी। क्षेमेन्द्र ने स्वयं बुद्ध की दशावतारों में गणना करके उनकी स्तुति की थी और उसके काफी पहले बौद्ध श्रमण विवाहित गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे थे। इस प्रकार अब आचार मे बौद्धों और हिन्दुओं में बहुत अंतर न रह गया था।

काश्मीरी कवि मङ्ख ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' मे कल्हण के संरक्षक अलकदत्त का नाम लिया है। कल्हण का संस्कृत नाम उसने अपने काव्य मे 'कल्याण' दिया है। संभवतः इसी संरक्षक अलकदत्त के कहने से कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी के निर्माण में हाथ लगाया। कहना न होगा कि इस कथन मे कोई प्रमाण नहीं है। इसकी केवल संभावना ही मानी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण विद्वान् था और अपने पूर्व के कवियों तथा साहित्यकारों की कृतियाँ वह पढ़ चुका था। बिल्हण का उसे भली भाँति ज्ञान था और उसने उसके 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' का उपयोग भी किया है। मङ्ख स्पष्टतया कहता है कि कल्हण की शैली इतनी परिमार्जित हो गई थी कि उसमें बिल्हण की काव्य-कला साफ़-साफ़ प्रतिबिम्बित होती थी। रामायण और महाभारत तो कल्हण के इष्ट ग्रन्थ रहे होंगे, क्योंकि उनके—विशेषकर महाभारत के—पात्रों की ओर वह बार-बार संकेत करता है। गणित और फलित ज्योतिष का भी वह जानकार मालूम होता है, क्योंकि उसने वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के प्रति कितने ही निर्देश किए हैं। इतिहास के प्रति निश्चय कल्हण की विशेष अभिरुचि रही होगी। जैसा कि उसकी राजतरङ्गिणी से व्यक्त है, काश्मीर का इतिहास रक्तमय था और उसका वह लहू-लुहान रूप कल्हण के काल में अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था। कल्हण का समसामयिक राजनीतिक वातावरण अत्यन्त कलुषित और लोमहर्षक था। उससे जलते रक्त-मांस और चिरायँध की गन्ध आती थी! राजा हर्ष की हत्या के अनन्तर उसके शत्रुओं, उच्चल और सुस्सल, ने राज्य को परस्पर विभाजित कर लिया था। तत्कालीन काश्मीर में जमीदार डामरों के घराने बड़े शक्तिशाली थे। उच्चल ने फूट की शासन-नीति पर चलकर, डामरों को परस्पर लड़ाया और अपनी शक्ति क़ायम रखी। इस कार्य मे उसका प्रमुख सहकारी गर्गचन्द्र था। इस काल में हत्याओं का काफी बोलबाला था और हत्याएँ जितनी दरबारियों अथवा मंत्रियों की आसान थी उतनी ही राजाओं की भी। वास्तव में, जहाँ एक राजा अपने पूर्ववर्त्ती की हत्या कर उसका राज्य हड़पता था, वहाँ वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए मानों आदर्श उपस्थित कर देता था, जिसको अपनाने मे न उन्हे किसी प्रकार की असुविधा होती थी, न आशंका। हर्ष को मारकर उच्चल गद्दी पर बैठा था, परन्तु सन् ११११ ई० में राजकर्मचारियों के षड्यन्त्र से स्वयं उसकी भी हत्या हो गई। उसके हत्याकारियों मे से रड्डु नामक एक व्यक्ति उसके बाद सिंहासन पर बैठा। पर वह उस कण्टकाकीर्ण स्थान पर एक दिन से अधिक न बैठ सका। उसके बाद गर्गचन्द्र ने प्रायः चार महीनों

तक राजा के बदले शासन चलाया, और तब शीघ्र उससे मैत्री स्थापित कर सुस्सल राजगद्दी पर जा बैठा, जिसके समय में काश्मीर विप्लव और मार-काट का केन्द्र बन गया। जब गर्गचन्द्र की भी हत्या कर डाली गई, तब भिक्षाचर के नेतृत्व में डामर उठ खड़े हुए। भिक्षाचर हर्ष का पौत्र था और उसने सुस्सल से गद्दी छीनकर प्रायः दो वर्ष (११२०-२१ई०) तक राज्य किया। पर सुस्सल ने शीघ्र उससे राज्यरज्जु लौटा ली। उसके राजकाल में फिर पहले जैसे ही उत्पात होने लगे और तब तक होते रहे जब तक सन् ११२८ ई० में वह स्वय न मार डाला गया। मनोरंजक बात तो यह है कि उसकी हत्या उन्हीं षड्यंत्र-कारियों द्वारा हुई, जिन्हे उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या के लिए तैय्यार किया था। सुस्सल के पश्चात् उसका पुत्र जयसिह राजा हुआ, परन्तु उसमे पिता की साहसिकता न थी। फिर भी कूटनीति और सामन्तों की मैत्री से उसने अपने हाथों मे कुछ काल तक राजदण्ड बनाए रखा। दो साल बाद भिक्षाचर मार डाला गया, और उसके स्थान में एक नया हकदार खडा हो गया। सन् ११३५ के बाद थोडी बहुत शान्ति रही, परन्तु ११४३ ईस्वी में फिर एक बखेड़ा खड़ा हो गया। उस साल कुमारभोज की अध्यक्षता मे दरदों ने विद्रोह कर दिया। पर कूटनीति ने इस झगडे को भी किनारे लगा दिया। इन्हीं दिनों सन् ११४६ ईस्वी मे कल्हण ने राजतरङ्गिणी की रचना प्रारभ की और वर्ष भर बाद ही उसने उसे पूरा कर लिया। कल्हण प्रायः काश्मीर की उथल-पुथल से दूर रहा। उसने अपना प्रसिद्ध इतिहास-काव्य राजा जयसिहके समय मे लिखा। परन्तु निस्सन्देह वह था वीरधर्मा, नितान्त निर्भीक। उसने अन्य दरबारी कवियों की भाँति समकालीन राजा के विरुद नहीं गाए, बल्कि अपने राजा के पिता और क्रूर-कर्मा काश्मीर के पूर्वनृपति सुस्सल के कृत्यों की घोर निन्दा ही की। काश्मीर की राजगद्दी के जयसिह-कालीन हक़दार, लोठन और मल्लार्जुन, को भी उनके अनाचारों के कारण उसने आड़े हाथों ही लिया। हाँ, भिक्षाचर के प्रति उसका आदर-भाव प्रकट होता है, परन्तु इससे यह हरगिज न समझना चाहिए कि उस राजा द्वारा उपकृत होकर उसने ऐसा किया हो, क्योंकि उसके कथन से स्पष्टतया प्रमाणित है कि भिक्षाचर के मितकालिक शासन मे कल्हण के कुल को किसी प्रकार का लाभ राजकुल की ओर से नहीं हुआ। इसी प्रकार भोज के प्रति भी उसकी सहानुभूति प्रकट होती है।

कल्हण की मेधा ने इतिहास के आँकडों को पक्षपात-रहित दृष्टिकोण से देखा, विशेषकर समसामयिक सामग्री को, जबकि संभावना इस बात की हो सकती थी कि वह स्वय तात्कालिक सघर्ष में खिच जाता अथवा कम-से-कम उस सघर्ष के पात्रों के प्रति उसका रागद्वेष उसे अपने इतिहास में उनके प्रति विशेष सद्भाव या शत्रुभाव रखने को बाध्य करता। पक्षपातरहित होकर इतिहास लिखने का एक कारण उस समसामयिक सघर्ष से उसका दूर रहना भी था। उसने स्वयं काश्मीरी चरित्र को यथातथ्य सुन्दर, वञ्चक और चञ्चल कहा है। वह काश्मीरी सेना की कायरता की खूब भर्त्सना करता है और कहता है कि यदि किसी प्रकार कोई व्यक्ति राजा की हत्या कर सका तो अप्रयास राजप्रासादरक्षक, सेना और राजकर्मचारी सभी उसके अनुचर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध विदेशी सैनिकों और राजपुत्रों को वह वीर और विश्वासपात्र कहता है। नागरिकों को वह प्रमादी, विलासी, वञ्चक और चञ्चल कहता है। डामरों ने काश्मीर की प्रजा पर क्रूरतापूर्ण अत्याचार किए थे, सारे देश को उजाड़ कर दिया था। स्वयं कल्हण के कुटुम्ब को उनके हाथों बहुत-कुछ झेलना पड़ा था। अतः कल्हण ने उनकी क्रूरता और अत्याचार का लोमहर्षक और हृदय-विदारक वर्णन किया है। साथ ही पदाधिकारी वर्ग को भी उसने नहीं छोड़ा है। उसे आडे हाथों लेते हुए उसके लोभ, तृष्णा, देश-द्रोहिता और क्रूरता का खुला वर्णन उसने किया है। पुरोहितों की भी उसने बडी निन्दा की है। इनके पास दान मे मिली अथवा देवोत्तर सम्पत्ति होती थी, जिससे ये ऐश्वर्य मे रहते थे और लोगों को अनशन (प्रायोपवेश) की धमकी देकर मनमानी करते थे। पर जो भले थे उनकी भलाई ने भी कल्हण को आकर्षित किया और वह रिल्हण और अलङ्कार नामक मंत्रियों की काफ़ी प्रशंसा भी करता है। अलङ्कार तो मङ्ख के कथनानुसार कवियों का सरक्षक भी था। स्वयं मङ्ख का उल्लेख कल्हण ने केवल मत्री की हैसियत से किया है, कवि की हैसियत से नहीं। अन्तपाल उदय के प्रति उसका बड़ा आदर है। काश्मीर की गद्दी के दोनों हक़दार, भोज और राजवदन, कल्हण के मित्र जान पड़ते हैं। इनमें से राजवदन ने राजा जयसिह पर आक्रमण किया था। इन सब आँकड़ों से जान पड़ता है कि कम से कम समसामयिक और शीघ्र-पूर्व के काश्मीरी इतिहास की प्रचुर सामग्री कल्हण के हाथ मे थी। इसमे सन्देह नहीं कि राजतरङ्गिणी में भी भ्रान्तियाँ हैं, प्रचुर और गम्भीर; परन्तु कल्हण ने अपनी ओर से सामग्री के संग्रह

मे पर्याप्त प्रयास और परिश्रम किया है। उसका दृष्टिकोण पक्षपातरहित है और उसकी त्रुटियाँ अधिकतर ऐसी ही हैं, जो कल्हण की व्यक्तिगत नहीं प्रत्युत् भारतीय जाति की हैं।

राजतरङ्गिणी की सामग्री और उसका ऐतिह्य—कल्हण के कथनानुसार पहले काश्मीर मे इतिहास की सामग्री पर्याप्त थी। उस पर लिखे हुए अनेक ग्रन्थ थे, जो कालान्तर मे नष्ट हो गए थे। सुव्रत नामक एक कवि ने उनमे से अनेक की सामग्री को काव्यबद्ध भी किया था। कल्हण ने प्राचीन विद्वानो के ग्यारह ग्रन्थों से अपने काव्य के लिए सामग्री ली। इनके अतिरिक्त काश्मीर का 'नीलमतपुराण,' जो आज भी प्राप्त है, नामक ख्यातों का भण्डार भी उसे उपलब्ध था। बिल्हण का 'नृपावलि' नाम का एक ग्रन्थ भी कल्हण के सामने था, यद्यपि वह उसकी ऐतिहासिक असावधानी की निन्दा करता है। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। राजतरङ्गिणी के पहले अध्याय में पैंतीस राजाओं के लुप्त प्रसगों के बाद लव आदि आठ राजाओं के प्रसग आते हैं। उनके संबंध की सामग्री कल्हण को पद्ममिहिर से मिली थी और स्वयं पद्ममिहिर का भण्डार पाशुपत हेलाराज की कृति थी, जो तरङ्गिणीकार के समय तक नष्ट हो चुकी थी। अशोक-सबधी सामग्री छविल्लाकर नामक एक ग्रन्थकार से मिली थी। इनके अतिरिक्त कल्हण ने प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से भी ऐतिहासिक मसाला प्राप्त किया था। मन्दिरों, राजप्रासादों, दानादि के ताम्रपत्र, प्रशस्तियों के लेखों और प्राचीन हस्तलिपियों से भी उसने काफी सामग्री एकत्र की थी। अपने देश के कोने-कोने का वह जानकार था और आधुनिक इतिहासकार की भाँति उसने सिक्कों और विविध कुलों के कागज-पत्रों को भी देखा-भाला था। कल्हण कहता है कि आरभ के ५२ राजाओं का उल्लेख प्राचीनों ने नहीं किया था। उनमे से पहले चार का उसने 'नीलमतपुराण' से, लुप्त पैंतीस राजाओं केबाद के आठ का हेलाराज से और बाद के पाँच का छविल्लाकर से पुनरुद्धार किया। पहला राजा गोनन्द उसी वर्ष राज्याभिषिक्त हुआ, जिस वर्ष युधिष्ठिर ने राज्यारोहण किया था। राज्यतरङ्गिणी का तिथिक्रम अभाग्यवश गोनन्द और युधिष्ठिर की असंभावित समसामयिकता पर बाँधा गया है। यह गोनन्द मथुरा के कृष्ण पर आक्रमण करता है और बलराम द्वारा मारा जाता है। उसका पुत्र दामोदर अपने पिता का बदला लेना चाहता है, पर मारा जाता है। उसकी गर्भवती स्त्री को कृष्ण गद्दीपर बिठा देते हैं। गोनन्द बालक होने के कारण महाभारत-युद्ध में शामिल नहीं हो सकता। तीसरे अध्याय में गोनन्द तृतीय को काश्मीरी राजपरम्परा का आरंभिक पुरुष माना गया है। पहले अध्याय में अन्य राजाओं के साथ राजा अशोक के पुत्र जलौक का उल्लेख है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। फिर वहीं कुषाण राजाओं के नाम—हुष्क, जुष्क और कनिष्क—उलटे क्रम से मिलते हैं। महाभाष्य के अध्ययन का पुनरुद्धार करनेवाले राजा अभिमन्यु के समय मे एक ब्राह्मण नीलनाग की सहायता से काश्मीर की बौद्धों और हिम से रक्षा करता है। दूसरे अध्याय मे राजाओं का एक नया कुल चलता है, जो अनैतिहासिक प्रतीत होता है। तीसरे अध्याय में गोनन्द की शाखा फिर चलती है। मेघवाहन उसी कुल का बताया जाता है। आगे एक नई तालिका चलती है, जिसमे कवि मातृगुप्त के अल्पकालिक राज्य का निर्देश है। इसी समय छठी सदी ईस्वी के मालव शीलादित्य का हवाला मिलता है। आश्चर्य यह है कि गोनन्द की कुल-परम्परा में ही तोरमाण राज्य करता है और हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि तोरमाण हूण था, जिसका पिता मिहिरकुल बालादित्य द्वारा भारत में हराया गया था। उसकी तिथि ७०० वर्ष ई० पूर्व दी हुई है! बालादित्य के बाद दुर्लभवर्धन प्रथम राज करता है। इस नए कुल के साथ ऐतिहासिक युग के सही आँकड़ों का प्रवाह चलता है। यह सातवीं सदी का काल है। दुर्लभवर्धन शायद हुएनत्सांग का समकालीन था। काश्मीर के लौकिक संवत् (३०७६-७५ ई० पू०) का प्रयोग पहले-पहल चिप्पट जयापीड़ अथवा बृहस्पति के संबंध में किया गया है। उसे कल्हण ८०१-३३ ईस्वी मे रखता है, जो प्रमाणतः अशुद्ध है, क्योंकि 'हरविजय' का रचयिता रत्नाकर स्पष्टतया कहता है कि उसने अपना ग्रंथ जयापीड़ की सरक्षता में लिखा, यद्यपि कल्हण लिखता है कि रत्नाकर अवन्तिवर्मा के समय में था और निस्संदेह अवन्तिवर्मा ने ८५५ ई० में राज्यारोहण किया। यह २५ से ५० वर्षों की स्पष्ट भूल है। उत्पल के पौत्र और सुखवर्मा के पुत्र अवन्तिवर्मा ने इस कुल का अन्त किया। अवन्तिवर्मा साधारण परिवार का था और उसके समय से राजतरङ्गिणी का इतिहास स्पष्ट और पर्याप्त शुद्ध हो जाता है। अध्याय पाँच में इस कुल का इतिहास ईस्वी ९३९ तक चलता है और छठे में सन् १००३ में रानी दिद्दा के साथ इस वंश का अन्त होता है। दिद्दा की मृत्यु के बाद लोहर कुल का उसका भतीजा काश्मीर के सिंहासन पर आरूढ़ होता है। सातवें अध्याय में हर्ष का लोम-

हर्षक अन्त वर्णित है और आठवें मे उच्चल के समय से ५० वर्षों बाद तक का पूरा इतिहास है। यहाँ कल्हण ने फिर एक भूल की है। त्रिलोचनपाल ने महमूद गजनवी के विरुद्ध जो राजाओं का एक दल प्रस्तुत किया था, उसमें काश्मीर भी शामिल हुआ था और कल्हण तुंग कीअध्यक्षता में शाहिराजा की सहायता के लिए भेजी गई काश्मीरी सेना का हवाला तो देता है, परन्तु उसके बाद के ही १०१५ ईस्वी के मुसलमानों द्वारा काश्मीर पर आक्रमण के प्रति वह संकेत तक नही करता ! यह आक्रमण लोहर कुल के प्राचीन दुर्ग द्वारा रोक लिया गया और मुसलमान लौट गए। परन्तु कल्हण की तत्सबंधी चुप्पी इस बात को प्रकट करती है कि वह उस प्रबल प्रवाह की शक्ति को समझ न सका था, जिसने भारत को आगे चलकर अपनी ऊँची लहरों मे डुबा लिया।

कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण—कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण निस्सन्देह वैज्ञानिक नही है। निश्चय ही इस दृष्टि से न तो वह आधुनिक ऐतिहासिकों की पक्ति में खडा हो सकता है और न हिरोडोटस, लिवि और प्लिनी आदि प्राचीन विदेशी इतिहासकारों की पक्ति मे ही। इससे यह हरगिज न समझना चाहिए कि स्वय हिरोडोटस आदि आधुनिक ऐतिहासिकों की शृखला में हैं। स्वयं हेरोडोटस ने अनेक गढी हुई गप्पों को इतिहास की सच्ची घटनाओं का कलेवर दे दिया है। एक स्थल पर वह भारत मे होनेवाले दो पूँछोंवाले सिह का उल्लेख करता है और दूसरी जगह यहाँ की दीमकों की ऊँचाई वह लोमडियों के बराबर बताता है ! कल्हण को हम जानबूझकर ऐतिहासिक भूलों का सृष्टिकर्त्ता नहीं कह सकते। जो कुछ उसकी भूल है वह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यक्तिपरक नही, जातिपरक है। यदि वह ऐतिहासिक घटनाओं के परिघटन मे प्रारब्ध की परिणति और पूर्वकर्मों का फल देखता है तो वास्तव मे वह केवल भारतीय विश्वास-परम्परा की ही शृखला का वहन करता है, ऐतिहासिक वृत्ति को विकृत करने का प्रयास नहीं। इसके साथ ही उसका एक अन्य मौलिक दोष यह है कि प्राचीन किवदन्तियों और पौराणिक गप्पों को वह इतिहास की सामग्री मानता है। वह ३०० वर्ष तक राजा के राज्य करने की कल्पना भी कर सकता है ! प्राचीन अधविश्वासों और अप्रमाणित ख्यातों को आरभ के इतिहास में वह घटी घटनाओं की श्रेणी मे ही स्वीकार कर लेता है ! पुरश्चरण से मृत्यु हो सकती है, ऐसा भी उसका विश्वास है ! फिर भी पिछले इतिहास की शृखला प्रस्तुत करने में उसने ऐतिहासिक युक्ति और प्रयास दोनों का अद्भुत सहारा लिया है। वह पक्षपातरहित दृष्टि से अपने पात्रों को देखता है। उसके चरित्र औचित्य की कसौटी पर कसे जाते हैं। यद्यपि राजा हर्ष उसके पिता और पितृव्य दोनों का ही सरक्षक था तथापि उसकी सशक्त आलोचना करने से वह नहीं चूकता। बाद के युद्धों और स्थल वर्णनों के सबध में तो उसकी जानकारी नितान्त अपूर्व है। काश्मीर का कोना-कोना जैसे उसका जाना हुआ है। इस दृष्टि से वह लिवी से कहीं ऊपर उठ जाता है, क्योंकि वह रोमन इतिहासकार कमरे में बैठा-बैठा ही इतिहास का निर्माण करता था—उन सैकड़ों युद्धों में से किसी का घटनास्थल उसने न देखा था, जिनका उसने वर्णन किया है। कल्हण पश्चात्कालीन प्रत्येक युद्ध के घटनास्थल से सुपरिचित था। कल्हण सचमुच भारत का पहला और प्रबल इतिहासकार है, यद्यपि उसकी त्रुटियाँ कम नहीं है। इस सबध में पद्मगुप्त, बिल्हण और उनके पूर्ववर्ती बाण को उसने कोसों पीछे छोड़ दिया है।

राजतरङ्गिणी की काव्य शैली—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण अन्य कवियों की भाँति नहीं था और उसने अपने ग्रन्थ को उनके आधार पर लिखा भी नही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह काव्य नही बल्कि इतिहास लिख रहा था। इसी कारण उसके लिए कल्पना में रमण करने की गुजायश नही थी। पर इसमे सन्देह नहीं कि यदि वह चाहता तो पूरा-पूरा काव्यनिरूपण भी कर सकता था, इसकी उसमे क्षमता थी। युधिष्ठिर के वनगमन और सुस्सल के राजधानी-प्रवेश के विवरण निश्चय ही ऐसे चित्रण हैं, जिनसे उसकी काव्य-क्षमता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु साधारणतः उसका शेष काव्य गद्यपरक-सा ही है, काव्याकन से अपरिचित-सा। फिर भी स्थल-स्थल पर राजतरंगिणी प्रसाद, व्यञ्जना, और शक्ति की परिचायिका है। इस प्रकार के कुछ स्थल हिममण्डित पर्वत पर दरदों के प्रति भोज के प्रयाण, अनन्त के दाह और सती सूर्यमती के चितारोहण, ब्राह्मणों के कथोपकथन, जयापीड़ के चरित्र और हर्ष के विपद्वर्णन आदि मे हमे दिखाई देते हैं। कई स्थानो पर तो नाटकीय संवाद का-सा दृश्य उपस्थित होता है। अपने कथा-प्रवाह को कल्हण अनेक उपमाओं, विरोधी भावों, श्लेषों और अन्य अलकारों से सजाता है। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।

स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रह-
म्प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥
येऽप्यासन्निभकुम्भशायितपदा येऽपिश्रियं लेभिरे
येषामप्यवसन्पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः।
तांल्लोकोऽयमवैति लोकतिलकान्स्वप्नेऽप्यजातानिवः
भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्वां विना ॥

कर्मों का निश्चितफल नीचे के श्लोक में तारापीड़ के संबंध में कहा गया है—

योऽयं जनापकरणाय सृजत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद्विनाशः।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुद' स शमयेत्सलिलैस्तमेव।

देवी भ्रमवासिनी का एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

भास्वद्बिम्बधरा कृष्णकेशी सितकरानना।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा ॥

५. अन्य ऐतिहासिक काव्य

भारतीय इतिहास-काव्य के क्षेत्र मे कल्हण अकेला है। पद्मगुप्त, बिल्हण आदि ने जो प्रयास किए, उन्हे शायद इतिहासपरक तो कुछ हद तक कह सकते हैं, परन्तु इतिहास वे किसी रूप में नहीं हैं। कुछ और प्रयास बिल्हण आदि की ही भाँति औरों ने भी किए हैं, जिनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

जल्हण नामक एक और काश्मीरी कवि ने 'सोमपाल-विलास' नामक एक ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मंख जल्हण को अलंकार की राजसभा का सभ्य कहता है। सोमपालविलास (सोमपाल नहीं) राजपुरी के राजा का नाम था, जिसे काश्मीरराज सुस्सल ने पराजित किया था। जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने भी अन्हिलवाड़ा के चालुक्य नृपति कुमारपाल पर लगभग ११६३ ईस्वी में अपना 'कुमारपालचरित' अथवा 'द्वयाश्रय काव्य' नामक इतिहास-काव्य लिखा। इस काव्य के दो नाम होने का एक कारण है। 'द्वयाश्रय काव्य' इसे इसलिए कहते हैं कि इसमे दो भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। यह २८ सर्गों मे प्रस्तुत है, परन्तु इसके पहले २० सर्ग संस्कृत में और शेष आठ प्राकृत भाषा में हैं। इसके अतिरिक्त यह द्वयार्थक भी है, इस प्रकार कि यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का उपसहार सा है! इसमें सस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के नियमों के उदाहरण और स्पष्टीकरण हैं। चालुक्यों के इतिहास पर यह काव्य कुछ प्रकाश डालता है। कुमारपाल के पूर्वजों का भी इसमें थोड़ा बहुत समावेश है। परन्तु जैन होने के कारण हेमचन्द्र सब बातों को जैन दृष्टिकोण से ही देखता था। अधिकतर उसने कुमारपाल के उन्हीं कृत्यों का वर्णन किया है, जिनमें जैन-धर्म का प्रचार दर्शित है। इस काव्य से ज्ञात होता है कि कुमारपाल की जैनधर्म की ओर प्रवृत्ति हो गई थी, उसने जीवहिंसा के लिए कठोर से कठोर दण्ड घोषित किया था, और अनेक जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। उसकी नीति जैनधर्मानुकूल थी।

अज्ञातनामा कवि द्वारा रचित एक और ऐतिहासिक काव्य 'पृथ्वीराजविजय' नाम का उपलब्ध है। इसकी जो अकेली हस्तलिपि मिली है वह असमाप्त है, जिससे यह कहना कठिन है कि इसे कवि ने अपूर्ण ही छोड़ दिया गा अथवा कालान्तर में इसका अन्त्यांश नष्ट हो गया है। जो भी हो, यह काव्य चौहानवंशीय पृथ्वीराज तृतीय की शहाबुद्दीन ग़ोरी पर विजय पर अवलंबित है। यह विजय ११९१ ईस्वी में पृथ्वीराज को प्राप्त हुई थी और यदि यह इतना ही लिखा गया तो इसे इस विजय के शीघ्र बाद ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि इसमें अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर होनेवाली मुहम्मद ग़ोरी की विजय और उसके निधन की बात नहीं लिखी गई है। इसका कवि अधिकतर बिल्हण की शैली का अनुसरण करता है, इससे जान पड़ता है कि वह काश्मीरी रहा होगा, यद्यपि इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। जयरथ ने इस काव्य का उल्लेख अपनी पुस्तक 'अलङ्कारविमर्शिनी' (लगभग १२०० ई०) में किया है। काश्मीर के जोनराज (लगभग १४४८ ई०) ने इस पर एक टीका भी लिखी है।

गुजरात में बघेल राजपूतों के घराने में लवणप्रसाद और वीरधवल नामक दो राजा हो गए हैं। उनका वस्तु-पाल नामक एक मत्री था, जिसके प्रोत्साहन से दो काव्य लिखे गए, जिनमें से एक 'कीर्त्तिकौमुदी' स्वय उसी की प्रशस्ति है। 'कीर्त्तिकौमुदी' का रचयिता सोमेश्वरदत्त है। सोमेश्वरदत्त (११७९-१२६२ ई०) ने कितने ही उत्कीर्ण प्रशस्ति लेखों की भी रचना की थी, जिनमें उसकी 'कीर्त्ति-कौमुदी' के अनेक श्लोक मिलते हैं। उसी कवि ने पन्द्रह सर्गों मे 'सुरथोत्सव' नाम का एक और काव्य लिखा, जो वस्तुतः है तो पुराणपरक, पर जिसमे श्लेष रूप मे तात्का-लिक राजनीतिक दशानिरूपण भी किया गया जान पड़ता है। इसके अन्त मे कवि ने बाण और बिल्हण की भाँति अपने कुल की कथा भी दी है और वस्तुपाल का भी उल्लेख किया है।

इस तेरहवीं सदी मे ही अरिसिंह नाम का एक और कवि हुआ, जिसने 'सुकृतसंकीर्त्तन' लिखा। ग्यारह सर्गों में प्रस्तुत यह सोमेश्वरदेव की प्रशस्ति है। सन् १२५६-५८ में गुजरात मे एक दुर्भिक्ष पडा था। उसमें एक पुण्यात्मा जैन गृहस्थ ने लोगों की बड़ी सहायता की थी और नगर की प्राचीरें उठा दी थी। उसकी प्रशस्ति में सर्वाणन्द ने अपना 'जगडूचरित' लिखा। सात सर्गों में सपन्न यह काव्य कविता की दृष्टि से नितान्त नगण्य है। काश्मीर के राजा हर्षदेव की राजसभा मे शम्भु नामक एक कवि था। उसने भी 'राजेन्द्रकर्णपूर' नामक एक प्रशस्ति-काव्य अपने राजा के सबध में लिखा। साथ ही 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक' नामक एक और साधारण काव्य भी उसने लिखा था। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' को जहाँ समाप्त किया है उसके आगे भी ऐतिहासिक वृत्तान्त के क्रम से अनुवृत्ति जोडी जाती रही। जोनराज (मृत्यु १४५६ ईस्वी) ने सुल्तान जैनुल आबिदीन के समय तक का ऐतिहासिक विवरण इसमें जोडा और उसके शिष्य श्रीवर ने चार अध्यायों मे अपनी 'जैन-राजतरङ्गिणी' लिखकर सन् १४५६ से १४८६ तक का वृत्तान्त पूरा किया। उसके बाद प्राज्य भट्ट और उसके शिष्य शुक ने 'राजावलिपताका' में अकबर द्वारा काश्मीर-विजय तक का ऐतिहासिक विवरण जोडा। कहना न होगा कि कल्हण के बाद के इन कवियों में जोनराज को छोडकर न इतिहासकार की सूझ है और न काव्य की चित्तहारिणी शैली ही। इनमें से कइयों ने तो स्वय कल्हण के ही कितने प्रसंगों की नकल कर ली है।

बिल्हण और कल्हण ने जिस इतिहास-परम्परा का निर्माण किया था, वह एक प्रकार से काश्मीरी थी। कालान्तर में वह सर्वथा टूट ही गई। बाद में कुछ प्रयास हुए भी, परन्तु यदि उनमें किसी अश तक कविता थी भी, तो इतिहास न था। उस काल के कवियों ने अधिकतर लालबुझक्कडी का सहारा लिया। उनमें इतिहासकार की मेधा न थी। कल्हण के पूर्व भी जो ऐतिहासिक प्रयत्न हुए थे, वे अत्यन्त असन्तोषजनक थे। उनमें बाण का 'हर्षचरित', जो गद्य में है और जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे, विशिष्ट है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह भी असन्तोषजनक है। ये ऐतिहासिक काव्य अधिकतर अपनी सामग्री के साथ मनमानी करते हैं। जब वे शिलालेखों आदि के अनुकूल हों तभी उनकी सत्यता कुछ अश तक असदिग्ध हो सकती है, और सो भी कुछ ही अंश तक, क्योंकि स्वयं शिलालेख भी प्रायः प्रशस्तियों ही के रूप में हैं।

उत्तरकाल—गेय और सुभाषितादि

उत्तरकालीन काव्य अवश्य करके बाद का ही नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह समय के बजाय परम्पराबोधक अधिक है। इस उत्तरकालीन कविता में हम शृंगारिक, गेय-सुभाषितादिक, धार्मिक और नीतिपरक रचनाओं पर विचार करेंगे।

१. शृंगारिक

शृंगार के प्रसंग के कुछ काव्यों और रचनाओं का हवाला हम ऊपर दे आए हैं। यहाँ उत्तरकालीन और अन्य फुटकर शृगारिक कविताओं का अध्ययन उपादेय होगा। शृंगारिक कविताओं से तात्पर्य उन गार्हस्थ्य कविताओं से है, जिनका इष्ट काम है। ऐसी रचनाओं की सख्या थोडी नहीं, अत्यन्त अधिक है और स्थानाभाव से यहाँ उनका केवल सक्षिप्त निरूपण ही किया जायगा।

कालिदास के नाम पर जो अनेक कविताएँ हमें आज उपलब्ध हैं, उनमें एक विशिष्ट रचना 'शृंगारतिलक' है। निस्संदेह यह रचना कालिदास की नहीं है। फिर भी इसमें सौन्दर्य और मिठास है। इसमें प्रणयपरक २३ श्लोक हैं। इसी प्रकार का, यद्यपि इससे अरोचक, एक काव्य घटकर्पर का है। २२ श्लोकों में प्रस्तुत इस काव्य का नाम भी 'घटकर्पर' ही है। इसमें वर्षागम पर एक नवयौवना प्रोषितपतिका मेघ द्वारा पति के समीप सदेश भेजती है। इसे पढते ही कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण हो आता है। अन्तर केवल इतना है कि मेघदूत में पति अपनी पत्नी के पास सदेश भेजता है और इसमे उसके विपरीत पत्नी ही पति के पास सवाद भेजती है। निस्सन्देह इस पर 'मेघदूत' का प्रभाव पड़ा है। रचना का शीर्षक 'घटकर्पर' इसलिए पड़ा है कि कवि अन्त मे प्रण करता है कि यदि कोई उससे यमकों के प्रयोग में बढ जाय तो वह उसके लिए टूटे घड़े में पानी ढोए! जैकोबी ने घटकर्पर को कालिदास का पूर्ववर्त्ती कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसा स्वीकार करना कठिन है। किवदन्ती के अनुसार भी अधिक-से-अधिक उसे कालिदास का केवल समकालीन

होना चाहिए, क्योंकि उसका नाम भी विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाया जाता है। परन्तु जैसे अन्य रत्न परस्पर अथवा विक्रमादित्य के समकालीन नहीं, प्रायः बाद के हैं, वैसे ही यह भी बाद का हो सकता है। यह बात विशेषकर न भूलनी चाहिए कि 'घटकर्पर' का पूर्ववर्त्ती मेघदूत है। कवि घटकर्पर का संबंध 'नीतिसार' नामक २१ श्लोकों की एक और रचना से भी है, जो उसकी मानी जा सकती है।

इस कवि के बाद कालक्रम से अन्य स्थान मयूर का है, जो सातवीं सदी के राजा हर्षवर्धन का सभासद था। किवदन्तियाँ मयूर को बाणभट्ट का साला या ससुर घोषित करती हैं। कहते हैं कि अपनी कन्या (बाण की पत्नी) का सौन्दर्य-वर्णन करने के कारण उसके द्वारा अभिशप्त हो वह कोढ़ी हो गया और जब उसने 'सूर्यशतक' लिखकर सूर्य की स्तुति की तभी उस रोग से वह छूट सका। कहानी इस प्रकार है। मयूर कोई रचना लेकर सुबह ही बाण के पास पहुँचा। बाण की स्त्री मान कर रही थी और पति उसे मना रहा था, वह साथ ही एक श्लोक भी रच रहा था। इस श्लोक के तीन चरण तो बाण ने रच लिए थे, पर चौथा नहीं बन रहा था। वह बार-बार अपने तीनों चरणों को दोहराता, फिर भी चौथा बन न पड़ता। मयूर आकर चुपचाप उसे थोड़ी देर तक तो सुनता रहा, फिर उसे चौथा चरण झट सूझ गया और उसने बाण को उसे सुना दिया। इस पर उसकी कन्या या भगिनी ने उसे शाप दे दिया।

इसी प्रकार की कविता फिर जयदेव के समकालीन गोवर्धन की भी मिलती है। गोवर्धन की रचना की जयदेव ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने आर्या छन्द में ७०० श्लोकों का एक अपूर्व संग्रह लिखा और इनको उसने वर्णानुक्रम से उसमें स्थान दिया। ये फ़ुटकर कविताएँ हैं, जिनका प्रबन्ध की भाँति परस्पर संबंध नहीं है। इस संग्रह को 'आर्यासप्तशती' कहते हैं और इसका आदर्श पहली सदी के सातवाहन राजा हाल की 'सत्तसई' (गाथा सप्तशती) था। गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' से ही मसाला लेकर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल ने सत्रहवी शताब्दी मे अपनी 'सतसई' लिखी और इस हिन्दी सतसई के आधार पर फिर परमानन्द नामक एक संस्कृत-कवि की 'शृंगार सप्तशतिका' नाम की एक रचना हुई। गोवर्धन के उदयन और बलभद्र नामक दो भाइयों ने उसकी कृति को प्रकाशित दिया, परन्तु पाठ की अशुद्धियाँ इस सप्तशती में काफ़ी हैं।

सुभाषितों में पाणिनि नामक एक कवि की भी कविता जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। यद्यपि यह भारतीय अनुश्रुति है कि वैयाकरण पाणिनि कवि भी थे, परन्तु कुछ विद्वानों ने वैयाकरण पाणिनि और कवि पाणिनि को भिन्न माना है, विशेषकर इसलिए कि इन रचनाओं मे व्याकरण की त्रुटियाँ हो गई हैं। परन्तु ये अशुद्धियाँ वास्तव में मूल पाठ में भी थी कि नहीं यह कहना कठिन है। सुभाषितों में भी उन्हीं कविताओं का सग्रह किया गया जो लोगों के मुख मे थीं और इस प्रकार उनमें त्रुटियाँ हुए बिना नहीं रह सकती थी, मूल में वे रही हों या न रही हो। फिर जिस कवि ने पाँचवीं सदी ईस्वी से पूर्व में लिखा हो, उसकी रचनाओं मे कालान्तर में पाठ बदल जाने से त्रुटियाँ होना संभव है। पर इन त्रुटियों के अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी इन दोनों को दो भिन्न व्यक्ति मानने का हो सकता है। वह है भाषा का प्रश्न। पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि की भाषा काव्यकालीन भाषा से अवश्य भिन्न रही होगी। उनके कई सौ वर्ष बाद लिखे कौटिलीय अर्थशास्त्र अथवा भरत के नाट्यदर्पण की भाषा पर्याप्त पुरानी स्पष्टतः जान पड़ती है, परन्तु सुभाषित के पाणिनि की भाषा निस्सन्देह काव्यकालीन है। उसमें और अन्य उत्तर अथवा मध्यकालीन कवियों में ध्वनि अथवा लक्षण में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह मानना पड़ता है कि दोनों सभवतः दो व्यक्ति थे।

सुभाषितों मे अनेक श्लोक तो अज्ञातनामा कवियों के है और कुछ ऐसे हैं जिन्हे विविध कवियों का बताया गया है। इस स्थिति में कौन श्लोक किस कवि का है यह बताना असंभव है। नीचे का श्लोक कितना सुन्दर है—

अङ्कुरिते पल्लविते कोरकिते विकसिते सहकारे।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितो विकसितश्च मदनः॥

प्रसाद, मधुरता, लालित्य और मृदुलता मे यह बेजोड़ है। एक और नमूना देखिए—

अच्छिन्नं नयनाम्बुबन्धुषुकृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता,
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते,
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया॥

इसमें परितोष के साथ-ही-साथ परिहास का भी पुट है। नीचे का वर्णन भी कितना सशक्त है—

उदयगिरिसौधशिखरे ताराचयचित्रितास्वरविताने।
सिंहासनमिव निहितं चन्द्रः कन्दर्पभूपस्य॥

नीचे के श्लोक में विरह और सयोग के मन्थर और शीघ्रगामी दिनों के विरोधी भाव संचित हैं। रात्रि की बड़े ढंग की इसमे निन्दा से गई है—

प्राग्यामिनि प्रियवियोगविपत्तिकाले
त्वय्येव वासरशतानि लयंगतानि ।
दैवात्कथं कथमपि प्रियसं गमेऽद्य
चण्डालि कि त्वसि वासर एव लीना ॥

निम्नलिखित श्लोक मे इसी प्रकार अन्य एक कवि ने करुणारस का कितना सुन्दर प्रवाह किया है—

भीमेनात्र विजृम्भितं धनुरिह द्रोणेन मुक्तं शुचा
कर्णस्यात्र हया हता रथपतिर्भीष्मोऽत्र योद्धुं स्थितः ।
विश्वं रूपमिहार्जुनस्य हरिणा संदर्शितं कौतुका—
दुद्देशास्त इमे न ते सुकृतिनः कालो हि सर्वंकषः ॥

सुभाषितों में सातवीं सदी के बौद्धाचार्य धर्मकीत्ति की रचनाएँ भी मिलती हैं । ये रचनाएँ अमरु और भर्तृहरि के सग्रहों मे भी है । धर्मकीर्त्ति नास्तिक और प्रबल तार्किक था । बौद्ध दार्शनिकों में उसकी जोड़ के कम विद्वान हैं । कुछ कम कुतूहल का विषय नहीं कि उसने भी कविता की है । पर उनमे भी उसके तर्क और आलोचनात्मिका प्रवृत्ति के पुट मिलते हैं । रामायण और महाभारत में वर्णित वाल्मीकि और व्यास के कुछ प्रसगों की, असंभाविता के कारण, उसने निचले श्लोक में खिल्ली उड़ाई है—

शैलैर्बन्धयतिस्म वानरहतैर्वाल्मीकिरम्भोनिधि
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयोरत्युक्तिरुद्भाव्यते ।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाप्यस्मत्प्रबन्धानयं
लोको दूषयितुम्प्रसारितमुखस्तुभ्यम्प्रतिष्ठे नमः ॥

इसी युग के कवि शाश्वत का एक श्लोक असाधारण परिमित शब्दों में मिलता है—

स मे समासमो मासः समे माससमा समा ।
यो यातया तया याति या यात्यायातया तया ॥

"वह मास मुझे वर्षवत् प्रतीत होता है, जो उसके जाने पर आता है । इसके विपरीत वह वर्ष मासवत् जान पड़ता है, जा उसके लौटने पर आता है ।"

अन्य एक कवि ने नीचे के श्लोक मे वैद्य के ऊपर कैसा अच्छा व्यग किया है । वह कहता है कि 'हे मानवसहारक वैद्यनाथ, तुम्हे नमस्कार है। कृतान्त (मृत्यु) तुम्हारे ऊपर अपना भार डालकर स्वय सुखपूर्वक सोता है ।'—

वैद्यनाथ नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव ।
त्वयि विन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते ॥

२. सुभाषित

सुभाषितावलियों से कुछ उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं । इनमें गेय और नीतिपरक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ संग्रहीत हैं । ये स्वयं तो पर्याप्त पश्चात्कालीन हैं, पर इनमें सगृहीत रचनाएँ निस्सन्देह पुराने कवियों की हैं । इनमें से प्राचीनतम सग्रह 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' है । इसको बारहवीं सदी की एक नैपाली हस्तलिपि से शुद्ध करके श्री एफ० डब्ल्यू० टामस ने छापा है । इस संग्रह के ५२५ श्लोकों मे से किसी का भी कवि १००० ईस्वी के बाद का नहीं है । वटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने १२०५ ईस्वी मे 'सदुक्ति-कर्णामृत' अथवा 'सूक्तिकर्णामृत' नामक एक और सग्रह प्रस्तुत किया । ये पिता-पुत्र दोनों बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन और सेवक थे । 'सदुक्तिकर्णामृत' में ४४६ कवियों की रचनाएँ सगृहीत हैं । ये कवि अधिकतर बंगाल के ही हैं । कवि गंगाधर भी इन्हीं मे से एक है । इस सग्रह के पाँच कवि १०५० ईस्वी और ११५० के बीच के हैं ।

काश्मीरी कवि जल्हण ने भी 'सुभाषितमुक्तावली' नामक एक सग्रह प्रस्तुत किया था, जो आज लघु और बृहत् दो आकारों में मिलता है । जल्हण लक्ष्मीदेव का पुत्र था और पिता-पुत्र दोनों बारी-बारी से कृष्ण के मंत्री हुए । कृष्ण ने १२४७ ईस्वी में राज्यारोहण किया था । इस सग्रह में कवियों और उनकी रचनाओं के संबध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है । इसका प्रणयन कुशल करों द्वारा हुआ है । पहले इसमे सपत्ति, उदारता और प्रारब्ध सबधी संग्रह है, फिर विषाद, प्रणय, राजसेवादि सबंधी । इस प्रकार के सुभाषित सग्रहों में शार्ङ्गधर द्वारा प्रस्तुत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' प्रचुर प्रसिद्ध है । शार्ङ्गधर दामोदर का पुत्र था और उसने यह सग्रह १३६३ ईस्वी में सम्पादित किया था । इस बृहद्ग्रन्थ में १६३ प्रकरण और ४६८६ श्लोक हैं । इनमें कुछ रचनाएँ स्वय संग्रहकर्ता की भी है । पन्द्रहवीं सदी के वल्लभदेव ने 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के ही आधार पर १०१ अध्यायों में लगभग ३५० कवियों की ३५२७ रचनाओं का 'सुभाषितावलि' नामक एक सग्रह प्रस्तुत किया । इसमें भी सग्रहकर्ता ने अपने नाम से कुछ रचनाएँ दी हैं, परन्तु यह फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे सचमुच उसी की हैं अथवा किसी और की उद्धृत की गई हैं । उसी शताब्दी में जोनराज के शिष्य श्रीवर ने भी एक 'सुभाषितावली' संगृहीत की । इसमें ३८० से अधिक कवि-कृतियों का सग्रह है । इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी अनेक कवियों द्वारा विरचित कृष्ण-संबधी श्लोकों का अपनी 'पद्यावली' मे सग्रह किया । इनके अतिरिक्त और भी कई सुभाषित सग्रह आज उपलब्ध हैं ।

३. धार्मिक

इन्हीं दिनों देवी-देवताओं की आराधना-स्तुति में अनेक

स्तोत्र भी रचे गए, जिनमें अनेक स्थलों पर सुन्दर, प्रायः सरल और सुरुचिपूर्ण कविता मिल जाती है। इस काल तक हिन्दुओं का देव-समूह बहुसख्यक हो गया था और उनके गुणगान करनेवालों की भी संख्या परिमित न थी। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा, चण्डी आदि पर अनेक स्तोत्र आज उपलब्ध हैं। बाण का 'चण्डीशतक' इन्हीं प्राचीन स्तोत्रों में से एक है। इसमे १०२ श्लोक हैं। ये अधिकतर स्रग्धरा छन्द मे रचित हैं। महिषासुरमर्दिनी चण्डी की स्तुति मे रचे ये श्लोक बाण की कविशक्ति का दर्शन कराते हैं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुवेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमकिरुषपौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितम्भूरिभावा भवानी।

बाण की कविता से भी कहीं सुन्दर उसके संबंधी मयूर की कविता है। उसका 'सूर्यशतक' निस्सन्देह उच्चकोटि का है। मयूर की कुछ रचनाएँ सुभाषितों में भी मिल जाती हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रसे किम्प्रवर्तयस्येवम्।
देव्यै यदि रुचितमिद नन्दिन्नाहूयतां राहुः॥
आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिवतः प्रस्नुतम्मातुरुधः
किंचित्कुञ्चैकजानोरनवरतचलच्चारु पुच्छस्य धेनुः।
उत्तीर्णं तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुंकारमुद्रा
विस्रंसिक्षीरधारालवशबलमुखस्याङ्गमातृप्ति लेढि।

मयूर की काव्यशैली गौड़ी है। अनुप्रास और यमकों के प्रयोग में वह सिद्धहस्त है। उसमे उपमाएँ और अतिशयोक्तियाँ काफ़ी हैं। व्यतिरेक, विरोध, दीपक और तुल्ययोगिता भी उसमे काफ़ी देखने को मिलते हैं।

राजशेखर के अनुसार हर्ष की राजसभा में बाण और मयूर के अतिरिक्त मातग-दिवाकर नामक कवि भी था, जिसे 'चाण्डाल' भी कहते थे। किस प्रकार उसका ऐसा नाम पड़ा, यह कहना कठिन है। उसकी रचना का एक नमूना यह श्लोक है—

आसीन्नाथ पितामही तव मही माता ततोऽनन्तरं
सम्प्रत्येव हि साम्बुराशिरशना जाया जयोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समस्तशास्त्रविदुषां लोकेश्वराणामिदम्॥

कुछ विद्वानों ने मातंग-दिवाकर को जैन ग्रन्थकार मानतुङ्ग माना है। मानतुङ्ग 'भक्तामरस्तोत्र' का रचयिता था। कहते हैं कि उसने सूर्य के प्रति इतना सुन्दर स्तोत्र लिखा कि वह कुष्ट रोग से मुक्त हो गया। तब ईर्ष्या के वशीभूत होकर बाण ने अपने हाथ और पाँव काट डाले और फिर 'चण्डीशतक' लिखकर उसने यह प्रदर्शित किया कि उसकी इष्टदेवी मे सूर्य से अधिक सामर्थ्य है, क्योंकि जहाँ सूर्य केवल कुष्ट अच्छा कर सकता है, वहाँ चण्डी कटे हाथ-पाँव फिर से दे सकती है! इस पर मानतुङ्ग जिनों की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अपने को ४२ श्रृंखलाओं से बँधवाकर एक घर मे पड़ गया। फिर उसने अपनी कविता पढ़ी। पढ़ने के साथ ही वह छूटकर निकल आया। इस किवदन्ती पर विचार करना निरर्थक है। इससे इतना ही जान पड़ता है कि बाण और मानतुंग समकालीन हैं, यद्यपि कुछ प्रामाणिक सामग्रियाँ इस बात के लिए उपलब्ध हैं, जिनके बल पर मानतुंग डेढ़-दो सौ वर्ष वाद भी रखा जा सकता है।

मानतुङ्ग काव्यशैली का आचार्य है। उसकी कृति की नकल भी की गई है। सिद्धसेन दिवाकर नामक एक अन्य जैन पण्डित ने उसकी रचना के आधार पर ४२ श्लोकों का अपना 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' लिखा। जैनों के अन्य स्तोत्र भी हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे नितान्त नगण्य हैं। अपने समकालीन कवियों के साथ-ही-साथ स्वयं हर्षवर्धन ने भी शायद नाटकों के अतिरिक्त कुछ फुटकर कविता लिखी थी। उसके द्वारा कुछ बौद्ध सूक्तों का लिखा जाना तो प्रायः सिद्ध हो चुका है। कहा जाता है कि उसी ने 'अष्टामहाश्रीचैत्य स्तोत्र' और 'सुप्रभात स्तोत्र' लिखा। परन्तु ये दोनों ही नैषधीयकार श्रीहर्ष के भी रचित कहे जाते हैं। पश्चात्कालीन बौद्ध सप्रदाय की इष्टदेवी तारा की आराधना में बाद के सर्वज्ञमित्र नामक एक बौद्ध कवि ने अपना 'स्रग्धरा स्तोत्र' लिखा। सर्वज्ञमित्र के विषय में यह अनुश्रुति है कि पहले वह धनवान् था, परन्तु प्रव्रज्या लेकर दरिद्र हो गया। राह में उसे एक ब्राह्मण मिला और उसने अपनी कन्या के विवाहार्थ उससे कुछ द्रव्य माँगा। परन्तु वह उसे कुछ दे न सका। तभी उसने सुना कि एक राजा को नरयज्ञ के लिए सौ मनुष्यों की आवश्यकता है। उसने अपने को भी अन्य अभागों के साथ वलि के अर्थ अर्पण कर दिया। परन्तु उनके विलाप से वह इतना दुःखी हुआ कि उसने तारा के लिए एक स्तोत्र ही रच डाला। प्रसन्न होकर तारा ने सबके प्राण बचा दिए।

स्तोत्र तो और भी कई हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे कृपण और अशक्त हैं। हाँ, काश्मीरी कवि रत्नाकर ने अपनी 'वक्रोक्ति पञ्चाशिका' के ५० श्लोकों में काव्य की अद्भुत क्षमता दिखाई है।

दार्शनिक शङ्कर (शंकराचार्य) ने स्तोत्रों के रूप में अत्यन्त सरस कविता की है। धार्मिक धारा मे बह जाने पर भी उनकी रचना मे काव्यमाधुर्य का विशद प्रवाह है। अपने 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र' मे शङ्कर कहते हैं—

'आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं यातिक्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
यस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना॥

सुन्दर वैदर्भी शैली में प्रसाद गुण सहित बड़ी स्वाभाविकता से इन पंक्तियों में काल की शक्ति को व्यक्त किया गया है। इसी क्षमता से 'द्वादशपञ्जरिकास्तोत्र' मे जीवन की क्षणभंगुरता पर शङ्कर का वक्तव्य है—

मा कुरु जनधनयौवनगर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वम्।
मायामयमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा॥

इसी प्रकार 'देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र' मे शङ्कर की भक्ति और विश्वास-श्रद्धा चरम सीमा पर पहुँच गए हैं—

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्याच्युतिरभूत्।
तदेतत्क्षान्तव्यं जननि सकललोकोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

इसी ध्वनि और शृंखला में निचला श्लोक भी है—

पृथिव्यास्पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषाम्मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

इनके अतिरिक्त शङ्कर के नाम पर अनेक अन्य स्तोत्र भी उपलब्ध हैं। उनमे से आठ श्लोकों का 'भवान्यष्टक' और बीस शिखरिणी छन्दों में 'आनन्दलहरी' पर्याप्त-रूपेण प्रसिद्ध हैं।

अज्ञातनामा कवियों द्वारा दुर्गा की आराधना में रचित 'अम्बाष्टक' और 'पञ्चस्तवी' नाम के दो और स्तोत्र हैं। कालिदास के नाम से भी कितने ही स्तोत्र विख्यात हैं। 'श्यामलादण्डक', 'सरस्वतीस्तोत्र' और 'मङ्गलाष्टक' इन्हीं में से तीन हैं। इनको पढते ही पता चल जाता है कि ये रघुवंशकार कालिदास के नहीं हो सकते। यदि ये किसी कालिदास के ही हैं तो निस्सन्देह इनका रचयिता कालिदास उससे भिन्न है।

मूक नाम का भी एक कवि हो गया है, जो शङ्कर का समकालीन बताया जाता है। उसकी और शङ्कर की सम-सामयिकता में काफ़ी सन्देह है। मूक के नाम पर ५०० श्लोकों की 'पञ्चस्तवी' नाम की एक रचना उपलब्ध है। अलङ्कार-शास्त्र के महान् पण्डित आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) ने भी 'देवीशतक' में पर्याप्त अलकृत काव्य लिखा है। इसमें १०० श्लोक हैं। परन्तु वास्तव में आनन्दवर्धन को सुकवि नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शिव की आराधना में लगभग ९२५ ईस्वी में बीस स्तोत्रों में लिखी उत्पलदेव की 'स्तोत्रावली' भी कोई उत्तम काव्यरचना नहीं है। दसवीं शती में ही वैष्णव कुलशेखर ने विष्णु की प्रशस्ति में अपनी 'मुकुन्दमाला' लिखी। 'मुकुन्दमाला' का एक श्लोक पागान के दूरवर्ती देश में तेरहवीं सदी के एक लेख में खुदा मिला है। कुलशेखर से पूर्व ग्यारहवीं सदी में ही लीलाशुक अथवा बिल्वमङ्गल ने कृष्ण की स्तुति में ११० श्लोकों में अपना 'कृष्णकर्णामृत' अथवा 'कृष्णलीलामृत' रचा। बारहवीं सदी के लक्ष्मणसेन और जयदेव के समकालीन कवियों ने भी धर्मपरक काव्य लिखे। चैतन्य के अनुयायी और परम वैष्णव रूपगोस्वामी की 'पद्यावली' का उल्लेख पहले हो चुका है। शायद स्वयं लक्ष्मणसेन ने भी इसी ढंग की कविता की थी।

जयदेव ने अपने समकालीन कवि उमापतिधर और शरण की काफी प्रशसा की है। शरण आशुकवि था। उसकी रचना शीघ्रकृत होती थी। जयदेव ने उसे 'दुरूहद्रुत' कहा है। लक्ष्मणसेन के ही रत्नों में से एक धोयी नामक कवि भी था। वह 'कविराज' कहलाता था और उसके अन्य कवि नाम 'श्रुतधर' अथवा 'श्रुतिधर' थे।

शिव और सूर्य की प्रशस्ति में 'महिम्नःस्तव' नाम की रचना कवि पुष्पदन्त ने की है। इस रचना का उल्लेख जयन्त भट्ट ने अपनी 'न्यायमञ्जरी' मे किया है। अतः यह कवि नवीं सदी के बाद का नहीं हो सकता। एक धर्मपरक रचना ५० श्लोकों में 'चण्डीकुचपञ्चाशिका' नाम की है। इसका रचयिता लक्ष्मण आचार्य नामक व्यक्ति था। शिव-दास अथवा उत्प्रेक्षावल्लभ नामक एक अन्य कवि ने 'भिक्षा-टन काव्य' लिखा, जिसमें इन्द्रलोक में यती के वेश में भिक्षा माँगते शिव के रूप का अप्सराओं के ऊपर प्रभाव वर्णित है। सभवतः उत्प्रेक्षावल्लभ शिवदास का काव्य-नाम था। सुभाषितों मे भी कुछ धर्मपरक रचनाएँ मिल जाती हैं। भट्टासुनन्दन और गंगादत्त नामक दो और कवियों का निर्देश सुभाषितों में हुआ है। श्री बाल-कृष्ण के प्रति कहा हुआ नीचे का सुन्दर सुमधुर श्लोक किसी अज्ञातनामा कवि का है—

करारविन्देन पदारविन्दम्मुखारविन्दे निवेशयन्तम्।
अश्वत्थपत्रस्य पुटे शयानं बालम्मुकुन्दं सततं स्मरामि ॥

इन सुभाषित कवियों में एक विक्रमादित्य का भी उल्लेख है, पर वह कौन है यह कहना कठिन है। उसके नाम पर सुभाषितों में अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जो सब एक कवि द्वारा निर्मित्त नहीं प्रतीत होतीं। वे अधिकतर धर्मपरक ही हैं।

४. नीतिपरक

नीतिपरक रचनाओं की संस्कृत मे प्रचुरता है। अनेक नीतिग्रन्थ, राजनीति अथवा साधारण आचार-नीति से संबंध रखनेवाले उसमें रचे गए। आज भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनका उद्देश्य राजा को आदर्श नीति सिखाना अथवा व्यक्ति को उचितानुचित का बोध कराना है। पहले इनमें उल्लिखित श्लोकों का लौकिक और मौखिक प्रचार रहा होगा और बाद में उन्हें संग्रहों के रूप में एकत्र कर लिया गया होगा। इनमें से अनेकों की संज्ञा में चाणक्य की ध्वनि मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्य का कूट-नीतिविशारद मन्त्री कौटिल्य राजनीति का अनुपम आचार्य माना जाता था। उसके विष्णुगुप्त, चाणक्यादि अनेक नाम मिलते हैं। इससे अपनी कृतियों को प्राचीनता और गौरव प्रदान करने के लिए लोगों ने अपनी-अपनी रचनाएँ चाणक्य के मत्थे ही मढ़ दीं, और फलतः आज चाणक्य के नाम पर अनेक नीतिग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ ये हैं—'चाणक्यनीति,' 'चाणक्यराजनीति' 'वृद्ध-चाणक्य,' 'लघुचाणक्य'। 'राजनीतिसमुच्चय' भी इसी प्रकार का एक नीतिपरक ग्रन्थ है। इस प्रकार के एक दूसरे ग्रन्थ में सत्रह अध्यायों में ३४० श्लोक संगृहीत हैं। हस्तलिपियों में प्राप्त एक संग्रह भोजराज का मिलता है। यह शारदा लिपि, आठ अध्यायों, और ५७६ श्लोकों में प्रस्तुत है और अन्य नीतिपरक काव्यों की भाँति ही इसमें भी धन, दारिद्र्य, प्रारब्ध, उद्योगादि पर नीति कही गई है। इस प्रकार के नीति श्लोकों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी ॥

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तप्यते रवि।
सत्येन याति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत्कन्या प्रदीयते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

एतदर्थम्कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न त्यजंति च ते नृपम् ॥

निम्नलिखित श्लोक में कुराज्य, कुमित्र, कुदारा, और कुशिष्य की उपस्थिति में मानवविडम्बना दर्शित है—

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं कुमित्रमित्रेण कुतोऽस्ति निर्वृतिः।
कुदारदारे च कुतोगृहे रतिः कुशिष्यमध्यापयतः कुतोयशः ॥

सुपुत्र की प्रशंसा में एक श्लोक इस प्रकार है—

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥

इस श्लोक में शब्दों का आद्यन्तक उहापोह सुन्दर है—

सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां न चखलसंगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवम्मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न च कुसुमानि धारयन्ति ॥

अत्यन्त सरलता अवांछनीय है और अपमान का जीवन घृणित है, ये प्रसंग निचले श्लोकों में दिग्दर्शित हैं—

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥

वरं प्राणपरित्यागो न मानपरिखण्डनम्।
प्राणत्यागः क्षणं चैव मानभङ्गो दिने दिने ॥

एक श्लोक में भवितव्यता की शक्ति का उद्घोष है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायस्तादृश एव यादृशी भवितव्यता ॥

भाग्य की विधि के विधान का अमिट फल दर्शित करने में नीचे का श्लोक अत्यन्त समर्थ है। यह भोजराज के संग्रह का नहीं 'पञ्चतन्त्र' का है—

शशि दिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपिबन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रता
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

भोजराज के संग्रह के अतिरिक्त वररुचि, घटकर्पर, और वेतालभट्ट के भी नीति-संग्रह प्रचलित हैं। इनके नाम हैं 'नीतिरत्न', 'नीतिसार', और 'नीतिप्रदीप'। इनमें कुछ श्लोक तो निस्सन्देह बड़े सुन्दर हैं। परन्तु इन रचनाओं का काल अज्ञात है। भर्तृहरि का 'नीतिशतक' इन नीति ग्रन्थों में सर्वोत्तम है। उसका हवाला पहले दिया ही जा चुका है। काश्मीरराज शङ्करवर्मा के राज्यकाल (८८३-९०२ ई०) में भल्लट नाम का एक कवि हुआ। राजा अत्यन्त लोभी था और कवियों को परितुष्ट नहीं करता था। भल्लट ने अपना जीवन ग़रीबी में बिताया। राजा ने उसे कुछ नहीं दिया।

भल्लट ने भी सरल शैली में एक शतक लिखा है। एक श्लोक का उदाहरण यह है—

ये जात्या लघव. सदैव गणनां याता न ये कुत्रचित्
पद्भ्यामेव विमर्दिता. प्रतिदिनं भूमौनिलीनाश्चिरम्।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षे सखे
तुङ्गानामुपरिस्थितं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः॥

काश्मीरी कवि शिल्हण ने भी इस प्रकार की रचनाएँ रची हैं। उसकी रचनाएँ मौलिक नहीं हैं और प्रायः उनमें अन्य प्राचीन कवियों की ध्वनि सुन पड़ती है। उसने अधिकतर भर्तृहरि और कहीं-कहीं हर्ष के 'नागानन्द' को आधार बनाया है। उसने विशेषकर सन्यस्त जीवन पर लिखा है और उसमें हिन्दू, बौद्ध, और जैन तीनों धर्मों की छाया मिलती है। उसका काल निश्चित नहीं है, परन्तु उसे १२०५ ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा, क्योंकि उस वर्ष में रचित 'सदुक्तिकर्णामृत' में उसका हवाला मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् पिशेल ने शिल्हण और विल्हण को एक ही व्यक्ति माना है, परन्तु उनके इस निश्चय का कोई प्रमाण नहीं है। शिल्हण ने सभवतः बंगाल में अपनी रचना की थी।

उपरोक्त कृतियों के अतिरिक्त इस वर्ग के अंतर्गत शम्भु नामक कवि का 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक', कुसुमदेव का 'दृष्टान्तशतक', भाव नामक कवि का 'भावशतक', गुमानि का 'उपदेशशतक' आदि अन्य अनेक रचनाएँ मिलती हैं, पर स्थानाभाववश उनका सविस्तर विवरण यहाँ देने में हम असमर्थ है। इन नीतिपरक काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक अध्यात्मपरक काव्य-ग्रन्थों की भी बहुलता संस्कृत के पश्चात्कालीन वाङ्मय में है, जिनमें शान्तिदेव का 'बोधिचर्यावतार', शंकर की 'शतश्लोकी,' 'मोहमुद्गर', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

५. प्राकृत गेय काव्य

यद्यपि प्राकृत काव्य हमारे अध्ययन के बाहर है, तथापि यहाँ उसके प्रति भी सकेत कर देना उपादेय होगा। संस्कृत गेय काव्य के विकास के समानान्तर ही एक वैसी ही धारा प्राकृत गेय काव्य की भी बह चली थी, जो बाद में अपभ्रंश में लुप्त हो गई। विदेशी विद्वानों ने इसका कारण आभीरों, गुर्जरों और हूणों आदि का भारत में प्रवेश बताया है। इस सिद्धान्त को मानना जरा कठिन है। भाषा का विकास अनिवार्य है जब तक कि उसको संस्कृत की भाँति व्याकरण के कड़े नियमों से जकड़ न दिया। वैदिक भाषा वही नहीं थी, जो उपनिषदों और विशेषकर काव्यों के उत्तरकाल में हो गई। आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के वर्तमान रूप और अतीत के विकास का कारण जीवित भाषा की अप्रतिहत गति का स्वाभाविक धर्म ही है। हाँ, विदेशियों का प्रभाव भी उसमें एक प्रतिशत माना जा सकता है।

सातवाहन राजा हाल की कृति—'सत्तसई'—प्रथम शती ईस्वी में ही प्रस्तुत हो गई थी। भारतीय 'सतसइयों', 'सप्तशतियों' और 'शतकों' की पूर्ववर्ती यही है। जयदेव के समकालीन गोवर्धन ने इसी को अपनी 'सप्तशती' का आदर्श बनाया था। राज हाल के काल को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस आध्र सातवाहन कुल का वह राजा था, उस कुल के तिथिक्रम में ही अभी नितान्त भ्रम है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हाल को लगभग प्रथम शती ईस्वी में रखा जा सकता है। सातवाहन-कुल का राज्य-काल, प्रायः २४० ई० पूर्व से लेकर लगभग २२५ ईस्वी तक है और हाल इस वश के बीच में आता है। जिन विद्वानों ने उसकी प्राकृत शैली और भाषा के विकास के आधार पर तीसरी और पाँचवी सदी ईस्वी के बीच उसे रखा है, वे संभवतः भ्रम में हैं, क्योंकि यद्यपि भाषा विकास के नियमों से बदलती रहती है, पर इस परिवर्तन की गति इतनी शीघ्र नहीं होती। सौ वर्षों में भाषा नहीं बदला करती, चाहे वह नितान्त लोकप्रिय क्यों न हो। इतना और है कि हाल की इस 'सत्तसई' में प्रक्षिप्त श्लोकों की भी कमी नहीं है। 'सत्तसई' प्रेमपरक है और अत्यन्त सरस तथा सजीव काव्य है। प्रेम का इसमें अत्यन्त सुकुमार वर्णन है। इसमें प्रकृति का भी अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन है। ऋतु, वृक्ष, लता, बन, ग्रामादि पर अत्यन्त रोचक काव्य इस प्राकृत-कवि ने प्रस्तुत किया है। दृश्य अत्यन्त स्वाभाविक और उनका चित्रण पूरा सजीव है। कृत्रिमता उसमें देखने को भी नहीं मिलती। नर-नारी का इसमें सच्चा जीवन-सम्बन्धी अकन है।

इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'वज्जालग्ग' नामक एक और संग्रह प्राप्य है। इसका रचयिता श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ था। जयवल्लभ का काल अज्ञात है। उसने अपने संग्रह को मानव आचार, व्यवहार और प्रेम तीनों के दृष्टिकोण से संपादित किया है। हाल की रचना की भाँति हो उसकी कृति भी महाराष्ट्री प्राकृत में है और उस पर अपभ्रंश का भी कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह आर्या छन्द में प्रस्तुत किया गया है।

अमेरिका के आदिम निवासी—(२)

अल्गोन क्विआन लोगों में, जो उत्तर-पूर्व के भूभागों में रहने लगे थे, पशुओं का शिकार, मछली मारना और बीज इकट्ठा करना, जीवन-निर्वाह का प्रमुख उद्यम गिना जाता था। ऐसे प्रदेश मे, जहाँ आज दिन भी शिकार की अपेक्षाकृत अधिकता पाई जाती है, श्वेत जातियों के आग्नेय शस्त्रोंसहित आगमन से पूर्व शिकार की कितनी प्रचुरता रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। हरिण, बारहसिंगे तथा अन्य पशुओं का वहाँ बाहुल्य था। हंस, बत्तख और सारसों की गणना करना असंभव था और न-जाने कितने प्रकार के पक्षी वहाँ अधिक से अधिक सख्या में पाए जाते थे। फिर भी रेड इंडियन को वर्ष के सभी दिनों मे पर्याप्त आहार नहीं प्राप्त होता था और वह सदैव कठिनाइयाँ झेलता रहता था। धनुष-बाण ही उसका मुख्य हथियार था। गर्मियों मे पत्थर के फलवाले बाणों से घात लगाकर बड़े जानवरों का शिकार करना उसके लिए एक दुस्तर कार्य होता था। अवसर मिलने पर, बारहसिंगे और हरिण आदि जंगली पशु जलाशयों में खदेड़ दिए जाते थे, जहाँ से नौकाओं मे बैठकर उनका शिकार करना सरल होता था। जाड़ों में, बर्फ पर चलने के जूते पहनकर, शिकारी लोग भारी पशुओं को हाँककर मार लेते थे। इनके अतिरिक्त खरगोश आदि छोटे-छोटे जानवरों का भी शिकार करना उस ऋतु मे सहज हो जाता था। नदियों और झीलोंवाले भूभागों के निवासी लोगों के लिए मछली मारना अत्यन्त आवश्यक होता था। जलस्रोतों में पुश्ते बाँधकर और जाल लगाकर ढेर-की ढेर मछलियाँ पकड़ी जाती थीं। विशेषतया जब 'सालमन' मछलियाँ समुद्र-तटवर्ती नदियों में बह आती थीं और जब वसंत ऋतु में 'स्टर्जियन' मछलियाँ झीलों से निकलकर सरिताओं मे आ जाती थीं, शिकार की ये युक्तियाँ अधिक सफल होती थीं। बर्छों, धनुष-बाणों और काँटों से भी मछलियों का शिकार किया जाता था। शीतकाल में, मछली का शिकार करते समय बर्फ़ में छेद करके उस पर छाया कर दी जाती थी। तब शिकारी छेद के ऊपर खाने की कोई वस्तु रखकर पास ही बर्छा हाथ में लिये, ताक लगाये, छिपा बैठा रहता था और मछली के ऊपर मुँह निकालते ही उसे तत्काल मार लेता था। ग्रीष्म ऋतु में बर्छे से मछली मारने की एक और नई युक्ति भी काम में लाई जाती थी। रात के समय, दो आदमी एक नाव में बैठकर किसी जलाशय में निकल जाते थे। नाव के एक सिरे पर छाल की बनी हुई मशाल जलाकर बाँध दी जाती थी। एक आदमी डाँड़ों के सहारे नाव खेता रहता था और दूसरा मशाल का प्रकाश देखकर नौका के निकट आनेवाली मछलियों का बर्छे से शिकार करता रहता था।

शिकार करने, मछली मारने और अस्त्र-शस्त्र चलाने में जो व्यक्ति जितना ही निपुण और सिद्धहस्त होता था, उतना ही उच्च स्थान वह अपनी जाति में प्राप्त कर लेता था। इन्डियन जातियों और श्वेतांगों में भूमि के स्वामित्व-सम्बन्धी विरोधी धारणाओं के फलस्वरूप ऐसी तनातनी सी उत्पन्न हो गई, जिसके कारण उनमें पारस्परिक नासमझी फैलने के पश्चात् भयंकर रक्तपात की नौबत कितनी ही बार आई और जिसका शोचनीय परिणाम पराजित इन्डियन लोगों को ही भोगना पड़ा। अमेरिका में जातीय सीमाओं के अन्तर्गत भूमि जाति विशेष की सम्पत्ति मानी जाती थी। किसी इन्डियन जाति के व्यक्ति या परिवार विशेष को भूमि-संबंधी अधिकार प्राप्त नहीं थे, यद्यपि प्रत्येक परिवार को उसकी अपनी आवश्यकताओं व भरण-पोषण के हेतु खेती-बारी के प्रयोजनार्थ पर्याप्त भूमि मिला करती थी। इस प्रकार किसी सरदार, कुटुम्ब या जातीय वर्ग के लिए समस्त जाति की उस भूमि को या उसका अंशमात्र बेचना या किसी दूसरे को दे देना नियमानुसार असम्भव था। स्वभावतः कोई भी वसीयतें या दानपत्र प्राचीन इन्डियन लोगों की दृष्टि में कुछ भी महत्व नहीं रखते थे। प्रारम्भ में श्वेत जातियों के जो प्रतिनिधि वहाँ आकर बसे, वे या तो इन नियमों से परि-

तियों के आगमन के पश्चात्, अन्य देशी जातियों में फैल गए। सिर का चमड़ा उतारने की प्रकृति को उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली योरोपीय जातियों ने अधिक प्रोत्साहन दिया, क्योंकि उनके द्वारा मित्र-इंडियन जातियों को शत्रुओं के सिर का चर्म, चाहे वे देशी हों या विदेशी, उतार लाने पर पुरस्कार और उपहार देने की घोषणाएँ कर दी जाती थीं! पश्चिम के भूभागों में तो अभी १६वीं शताब्दी के मध्यकाल तक विरोधी इंडियन लोगों के सिर के चर्म उतारनेवालों को प्रचुर पुरस्कार देने की घोषणाएँ बराबर होती रहती थीं।

रणशूर होने के अतिरिक्त शान्ति के भी व्यवसायों में रेड इंडियन बड़ा कुशल होता था। शिकार और मछली मारने के अतिरिक्त वह उच्चकोटि की कलाओं में भी निपुण हुआ करता था। वह एक प्रभावशाली वक्ता और नाट्य-कार था। अनेक प्राप्त आलेखों से उसकी ओजभरी वक्तृत्व-कला और काव्यमय भाषा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उसकी कविता में सुन्दर कल्पना, प्रकृति की साधना और उसकी अपनी धार्मिक दार्शनिकता प्रतिबिम्बित होती है। संगीत और नृत्य-कलाएँ भी पर्याप्त रूप में इंडियनों में विकसित हो चुकी थीं, किन्तु वाद्य-संगीत तदनुरूप सीमा तक नहीं पहुँच पाया था। साधारणतया वंशी, ढोल और खड़-खड़ाहट का शब्द करनेवाले झुनझुने आदि ही वाद्य-यन्त्रों की जगह प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त इंडियन कलाकारों ने मूर्त्ति, वास्तु और चित्र-कलाओं में भी ऐसी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि उनकी कुछ कृतियाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ कला-कृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। पेरू प्रदेश की ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर से जल का प्रवाह गिराकर उसे सिंचाई के लिए नियंत्रित करने की विचित्र प्रणाली, अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी प्रांतों में खोदी हुई नहरें और पेरू की पर्वतमालाओं तथा यूकेतान् के जंगलों से होकर निकाले गए लम्बे प्रशस्त जनमार्ग इंडियनों की मौलिक इंजीनियरिंग-कला के मौन साक्षी बने हुए हैं। इसी प्रकार तरह-तरह के कपड़ा बुनने, टोकरियाँ बनाने और बिना कुम्हार के चाक की सहायता लिए सुन्दर, कलापूर्ण, चित्र-विचित्र मिट्टी के बर्त्तन तैयार करने में भी इंडियन बड़ा कुशल होता था। यद्यपि उसने सूत कातने का चर्खा बना लिया था, किन्तु यांत्रिक आविष्कारों की सीमा तक उसकी प्रगति न हो सकी थी। विश्व को अमेरिकावासी इंडियन की सबसे बड़ी देन उसकी स्थानीय प्रागैतिहासिक-कालीन वैज्ञानिक कृषि-प्रणाली है। उन प्राचीन वनस्पति-विज्ञानवेत्ताओं द्वारा जिन पौधों की उन्नति की गई थी, उनमें मक्का, फली, आलू और शकरकन्द प्रधान गिने जाते हैं, और ये चारों ही संसार के प्रमुख खाद्यों में हैं। इंडियन ने ही पहलेपहल कुनैन, कोकेन, तम्बाकू और रबड़ का अनुसंधान किया था, जो आधुनिक युग की अत्यन्त उपयोगी वस्तुएँ मानी जाती हैं। मक्का या मकाई की खेती द्वारा इंडियन ने मानव-जाति को एक सस्ते आहार का परिचय कराया। अमेरिका महाद्वीप के एक बहुत बड़े भूभाग के निवासी जीविका के लिए इसी के आश्रित रहते थे। मेक्सिको से संयुक्त-राज्य अमेरिका के दक्षिणी भागों में प्रवेश करके यह कृषि व्यवसाय गल्फ-कोस्ट के चारों ओर उत्तर में मिसिसिपी नदी के आसपास और अटलांटिक तट के समानान्तर सेंटलारेंस नदी तक बराबर फैलता गया। पूर्वी वन्य प्रदेशों के रहनेवाले इंडियन लोग खेती-किसानी के काम में सीधे सादे किन्तु कारगर उपायों का आश्रय लेते थे। हलों के बजाय वे सख्त लकड़ी के बने फावड़े-जैसे औजार का उपयोग करते थे। मई के महीने में गाँव के निकट उपयुक्त भूमि खोजकर बाग लगाने की प्रथा उनमें थी। वृक्षों और लताओं को पास-ही पास आरोपित किया जाता था। खेतों और बागों की देखभाल तथा फसलों का काटना और फलों को तोड़कर लाना केवल परिवार की स्त्रियों का काम समझा जाता था, क्योंकि उन ऋतुओं में पुरुष अधिकतर शिकार खेलने में व्यस्त रहा करते थे।

अनाज का खाद्य के रूप में कई प्रकार से उपयोग होता था। हरी बालियाँ भूनकर या उबालकर अथवा बीजों को कूटकर पानी में घोलने के बाद शर्बत की तरह लोग खाते-पीते थे। सुखाने के पश्चात् अनाज धरती में खोदे हुए गढों या बखारों में जमा करके रख लिया जाता था और अभाव के समय उसका उपयोग होता था। सूखे अनाज को लकड़ी की ओखली में कूटकर या पत्थर की छिछली रकाबी में पीसकर इंडियन लोग आटा बना लेते थे। भोजन बनाने के अनेक ढँग प्रचलित थे, किन्तु साधारणतया आटे की रोटियाँ या उबले अनाज का दलिया अधिक खाया जाता था। अनाज के चोकर और भूसे से चटाइयाँ, चेहरे, खिलौने और जूते तैयार किये जाते थे। पौधों के डंठल आग बनाने के काम में आते थे।

इंडियन लोग खेल-कूद में भी बड़ी दिलचस्पी लेते थे। दो प्रकार के खेलों का उनमें अधिक प्रचार था—एक तो वे जिनमें केवल दाँव ही लगता था, जैसे पाँसे आदि, और दूसरे वे जिनमें निपुणता और पटुता की आवश्यकता

होती थी। शारीरिक कौशल और सहन-शक्ति पर निर्भर खेलों का नई दुनिया के समस्त प्रदेशों मे बड़ा प्रचलन था। पैदल दौड़ और कुश्तियाँ भी हुआ करती थी, जिनमे सामूहिक रूप से देशी जातियाँ हिस्सा लेती थीं। संयुक्त-राज्य के पूर्वी प्रदेशों के अधिकाश भागों में "लैक्रासे" का खेल बहुत लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था, जिसे श्वेत जातियों ने भी अपना लिया है। सभी खेलों में दाँव लगाने और बाज़ी बदने का लोगों में चलन था। प्रायः बड़े लम्बे दाँव लगा करते थे और लोग अपनी सारी जायदाद व मालमता पाँसे के खेलों व कुश्तियों मे दाँव पर रख दिया करते थे। सब कुछ हार जाने पर जुआड़ी अपनी स्त्रियों तथा स्वयं अपने को भी दाँव पर लगा देते थे और हार होने पर उनको विजेता का दासत्व स्वीकार करना पड़ता था!

विदेशी यात्रियों ने अपने संस्मरणों में इंडियन स्त्रियों को पुरुषों की दासियाँ, पशु-तुल्य और दुर्भाग्यग्रसित बतलाया है। उनकी जीवनचर्या का चित्रण उनको कठिन शारीरिक श्रम से आक्रान्त, सन्तानोत्पत्ति के भार से दबी हुई तथा पतियों की प्रत्येक इच्छा का मूक पालन करती हुई बतलाकर किया गया है। आदिम युग मे स्त्रियों का शासन घर और उसके आसपास तक ही सीमित था। वे खेत जोततीं, भोजन बनातीं और गृहस्थी के काम धन्धे मे जुटी रहती थीं। पुरुष शिकार में, मछली मारने में और युद्ध मे व्यस्त रहा करते थे। अतः विदेशी यात्रियों ने प्रायः स्त्रियों को घर के आसपास अपने काम में दत्तचित्त लगा देखा और यदि वहाँ पुरुष भी हुए तो उनको आलस्य में चुपचाप ऊँघते पाया। स्त्रियों और पुरुषों में परम्परा से सारे काम नियमित ढग से बँटे चले आते हैं, अतएव जब श्वेत जातियों ने आकर शिकार के योग्य पशुओं को नष्ट कर डाला, आखेट-वनों को घेरकर अपने अधिकार में कर लिया और आदिम निवासियों को दबाकर उनमें युद्ध की शक्ति का अन्त कर दिया, तब पारस्परिक कामों का विभाजन-क्रम एकदम अस्तव्यस्त हो गया। स्त्री का कार्य उतना ही रहा, परन्तु पुरुष निष्क्रिय बन गया अथवा विजेताओं के लिए परिश्रम करने को बाध्य हो गया।

पूर्वकाल में इंडियन स्त्रियाँ बड़ी मेहनत से घर का सारा कामकाज करती थीं। उनको अपनी कार्यक्षमता पर गर्व होता था। वे प्रसन्न रहतीं, पति-पुत्रों और स्वजनों से स्नेह-पूर्ण व्यवहार रखती, और अवकाश के समय अपनी हम-जोलियों और पड़ोसियों मे बैठकर उसी प्रकार हँसी-दिल्लगी करती रहती थी जिस प्रकार संसार की अन्य देशीय स्त्रियाँ आज भी करती हैं। मुख्यतः घर से बाहर के कामों में

पुराने ज़माने में रेड इंडियन लोग प्रायः इसी प्रकार के ख़ेमों या तंबुओं में रहा करते थे। इस इंडियन परिवार की वेशभूपा पर ध्यान दीजिए।

रेड इंडियनों द्वारा बड़े उत्साह के साथ खेला जानेवाला 'लैक्रासे' नामक खेल, जिसे वे एक प्रकार के जालीदार रैकेटों या बल्लों द्वारा खेलते थे। इसे संशोधित कर गोरो ने अपना लिया है।

वर-वधू पक्षों के परस्पर भेंट-उपहारों के स्वेच्छा से आदान प्रदान तक सीमित थी। अथवा कहीं-कहीं वर-पक्ष को कुछ विशेष मूल्यवान् भेंट वधू-पक्षवालों को इस हेतु देनी पड़ती थी जिसमें कि उक्त पक्ष की अपने घर की कन्या की सेवाओं से वञ्चित होने की हानि की उस भेंट से आंशिक पूर्ति हो सके। अधिकांश इंडियन जातियों में वंश का विकास मातृ-पक्ष से ही पाया जाता है, जिसमें सब प्रकार के पैतृक अधिकारों का उपभोग स्त्रियों के माध्यम द्वारा ही करना सम्भव रहा करे। कुछ वर्गों में, जैसे इरोकुओई जाति में, जातिगत मामलों और मसलों में, स्त्रियों की आवाज भी सुनी जाती थी और वे समिति के अधिवेशनों में नियमित सदस्याओं के पद ग्रहण करती थीं!

नई दुनिया में, एक बार श्वेत जातियों के पैर जम जाने के

लगी रहने के कारण उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था। पत्नी पर पति का कोई वास्तविक शासन नहीं था और विभिन्न जातियों के रस्मोरिवाज अलग-अलग होते हुए भी नियमानुसार स्त्री अपने पति को जब चाहे तब स्वेच्छा से छोड़ सकती थी। विवाह में उभय पक्षों की सम्मति, उस युग में भी, उतनी ही आवश्यक हुआ करती थी जितनी कि आज हमारे समाज में पाई जाती है। विदेशियों द्वारा कथित स्त्रियों के खरीदने की प्रथा का जब हम स्पष्टीकरण करते हैं तो हमें पता चलता है कि वास्तव में यह प्रथा

पश्चात् वहाँ की देशी सभ्यता का छिन्न भिन्न हो जाना अनिवार्य हो गया। दोनों जातियों के पारस्परिक सम्पर्क का सबसे भयकर परिणाम नये-नये रोगों—जैसे चेचक, खसरा, मोतीझिरा आदि—के रूप में प्रकट हुआ, जिनसे बचने की कोई युक्ति परम्परा से इंडियन लोगों ने सीखी ही न थी। फलतः, समूची की-समूची जातियों और वर्गों का अस्तित्व नष्ट हो गया और जो बचीं भी, उनके प्रतिनिधियों की सख्या अब बहुत कम रह गई है।

महावीर और अन्य तीर्थंकर

धर्म, योग और तप द्वारा दिव्य जीवन प्राप्त करनेवाले मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले उन व्यक्तियों की संज्ञा जैन साहित्य में तीर्थंकर है, जो आसानी से संसार-सागर से पार होने की क्षमता रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'अरहत' शब्द का भी प्रयोग होता है। आध्यात्मिक जीवन-विकास की सीढ़ियों के अनुसार सबसे ऊँची सीढ़ी सिद्धों की है। उससे उतरकर निचली सीढ़ी अरहतों की है, जिनका सम्बन्ध प्रमुख रूप से लोकजीवन के बीच विचरण करनेवाले सतों से है। अपने साथ अन्य व्यक्तियों का कल्याण करना और समय-समय पर ज्ञान का प्रकाश फैलाना उनका प्रमुख उद्देश्य इस जीवन में हुआ करता है। इसी क्रम मे अरहत से निचली सीढ़ी 'आचार्य' की, आचार्य से निचली 'उपाध्याय' की और सबसे निचली सीढ़ी 'साधु' की मानी जाती है। सिद्ध, अरहत, आचार्य, उपाध्याय, और साधु सामूहिक रूप से 'पंचपरमेष्ठिन्' कहे जाते हैं, और क्रिया-व्यापार की दृष्टि से इनकी पाँच स्थितियाँ पंच कल्याण के नाम से पुकारी जाती हैं। ये पंच कल्याण (१) स्वर्गावतरण, (२) मन्दराभिषेक, (३) दीक्षाकल्याण, (४) केवलोत्पत्ति, और (५) परिनिर्वाण कल्याण हैं। गति की दृष्टि से प्रत्येक जीव की देव, नर, नरक और त्रियक ये चार गतियाँ हैं। जन्म-मृत्युपूर्ण संसारचक्र से मुक्त स्वर्ग में पहुँची हुई शुद्ध देवगति की आत्माओं की सज्ञा सिद्ध है। सिद्ध-स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वर्गीय देव-आत्माओं को भी पृथ्वी पर मानव रूप मे आकर व्रतपूर्वक धर्म, योग और तप द्वारा अपना और लोक का जीवन-कल्याण करना होता है। ये आत्माएँ जानती हैं कि शरीर-बन्धन के कारण मनुष्य को अपूर्ण इन्द्रियग्राह्य ज्ञान हुआ करता है। इसी से इंद्रिय-सुख की वस्तुओं से मनुष्य को राग होता है, जिनका अभाव दुःख का कारण बन जाता है। इसलिए दुःख से मुक्ति रागहीन होने में है। रागहीन होने के लिए इन्द्रिय-दमन, धर्म, योग और तप का मार्ग अपनाना पड़ता है। लोक में ज्ञान के प्रकाश को फैलाने के लिए ही समय-समय पर तीर्थंकरों का उदय हुआ, जिनमे चौबीस अत्यन्त प्रधान हैं। अनुश्रुति के अनुसार महावीर जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर थे और वह ईस्वी पूर्व छठी शताब्दि में विद्यमान थे। सबसे पहले तीर्थंकर ऋषभ (वृषभ) देव अथवा आदिनाथ थे।

ऋषभदेव का जन्म श्रावस्ती की विनिता नगरी के इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय राजा नाभिराय चौदहवें कुलकर के घर में मरुदेवी के गर्भ से हुआ। इनकी माता को स्वप्न में बैल के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम वृषभ (ऋषभ) देव हुआ। इनके सौ पुत्रों में सबसे बड़े चक्रवर्त्ती भरत थे। इन्हे बरगद के पेड़ के नीचे अष्टपाद (कैलाश) में मुक्ति मिली। बैल इनका चिह्न है। इन्होंने पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ सिखलाईं। साहित्यिक और औद्योगिक उपयोगी कलाएँ स्त्रियों को नहीं सिखलाई गई। उन्हे केवल घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कलाएँ ही सिखलाई गईं। यह सतयुग के अंत में उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वराहपुराण, और भागवत में भी इनकी कथा आती है। यह नारायण के अवतार और लिपिविद्या के आविष्कर्ता भी माने जाते हैं। यह महायोगिन् और 'योगीश्वर' कहे गये हैं। योगपरम्परा में 'शिव' नाद-परम्परा के आदि योगी होने से आदिनाथ और 'योगीश्वर' कहलाते हैं। कैलाश में उनका वास है। वृषभ उनका वाहन है, जो कि 'काम' पर विजय प्राप्त करने का स्थूल प्रतीक है। 'वृषभ' शब्द का अर्थ काम भी होता है। बरगद के नीचे समाधि में वह लीन रहते हैं। नारायण के अवतार भी साहित्य में शिव ही माने गये हैं। शिवमार्गी योगियों के साथ नादतत्त्व का प्रतीक 'नाथ' शब्द नाम के साथ जोड़ने की एक परम्परा है। क्या आश्चर्य यदि 'वृषभ देव' तथा अन्य 'नाथ' नामधारी तीर्थंकर

शैक्ष योग-परम्परा के ही प्रतिनिधि रहे हों ! सम्भवतः महावीर ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस मार्ग में कुछ नवीनता लाकर वास्तविक जैन धर्म की स्थापना की।

दूसरे तीर्थंकर अजीतनाथ का जन्म अयोध्या के इक्ष्वाकुवशीय क्षत्रिय-परिवार में जितशत्रु के घर विजय माता के गर्भ से हुआ था। इनका जन्म होने पर शत्रु पराजित हो गए, इसलिए इनका नाम अजीतनाथ हुआ।

तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ श्रावस्ती के इक्ष्वाकुवशीय क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम जितारि और माता का नाम सेनमाता था। राज्य में अन्न के अकाल और महामारी का अत होने और सुख के दिनों के आन की संभावना इनके जन्म से ही होने लगी, इसलिए सभवनाथ सज्ञा इनकी हुई। अश्व इनका चिह्न था। एक हज़ार साधुओंसहित पार्श्वनाथ पर्वत पर इन्होंने प्रयाल वृक्ष के नीचे मुक्ति पाई।

अयोध्या के (वनिता देश के) इक्ष्वाकुवशीय राजा सवर के घर सिद्धार्थ नाम्नी रानी के गर्भ से चतुर्थ तीर्थंकर अभिनदननाथ का जन्म हुआ।

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ इक्ष्वाकुवशीय क्षत्रिय राजा मेघरथ की सुमगला रानी से उत्पन्न हुए थे। अयोध्या के ककणपुर मे इनका जन्म हुआ था। जन्म से पूर्व सुमगला अत्यंत कुशाग्रबुद्धि हो गई थी। इसलिए पुत्र का नाम सुमतिनाथ हुआ।

कौशाम्बी के इक्ष्वाकुवंशी राजा श्रीधर की पत्नी सुसीमा को दोहदकाल मे रक्ताभ कमल के बिछौने पर सोने की चाह हुई, जो कि पूरी की गई। बच्चे में कमल की रक्त आभा की झलक आई, इसलिए उसका नाम पद्मप्रभु हुआ। यही छठें तीर्थंकर हुए।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ बनारस के इक्ष्वाकुवंशी प्रथिस्तराज के घर पृथिवी देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए। इनकी माता के दोनों पार्श्वों (भागों) में कुष्ठ रोग के चिह्न थे। इनके जन्म पर वह रोगमुक्त हो गई। बालक भी इन चिह्नों से मुक्त उत्पन्न हुआ, इसलिए सुपार्श्वनाथ उसका नाम पडा।

चन्द्रप्रभु नामक आठवे तीर्थंकर चद्रपुरी के इक्ष्वाकुवशी राजा महासेनराज के पुत्र थे और लक्ष्मणा रानी से उत्पन्न हुए थे। इनके जन्म के पूर्व इनकी माता को चद्रमा को पी जाने का दोहद हुआ। इसके लिए रात को पानी भरा थाल, जिसमें चद्र प्रतिबिंबित हो रहा था, इस ढग से दिया गया कि रानी को चद्रमा का भ्रम हुआ। वह जल पी गई, जिससे चंद्रकांतियुक्त पुत्र रानी के उत्पन्न हुआ। वही चन्द्रप्रभु कहलाया।

नवे तीर्थंकर सुविधिनाथ अथवा पुष्पदत हुए। इनका जन्म ककदी अथवा किष्किदपुर में सुग्रीवराज के घर रामा रानी के गर्भ से हुआ था। श्वेताम्बरों के अनुसार इनका चिह्न कच्छप है। जन्म के पूर्व इनके कुलवालों मे कलह चल रहा था, जिसका अंत इनके जन्म के बाद हुआ। इनके जन्म से सुविधि (शातिमय रीति) परिवार में आ गई, इसलिए इनका नाम सुविधिनाथ हुआ। साथ ही इनके दाँत पुष्पकली की भाँति सुंदर होने के कारण पुष्पदत भी इनका नाम हुआ।

दसवें तीर्थंकर भद्रिकपुर, भद्रपुर, भद्दिलपुर, अथवा वच्छिलपुर के इक्ष्वाकुवशी क्षत्रिय राजा दृढ़रथराज के पुत्र थे। जन्म के पूर्व एक दिन इनके पिता ज्वराक्रांत थे। उसी समय माता ने अपने हाथ से उनका स्पर्श किया। शीतल स्पर्श से राजा को पर्याप्त शाति मिली और ज्वर भी दूर हो गया। माता की यह विशेषता पुत्र में आजीवन बनी रही। इसी विशेषता के कारण वह शीतलनाथ कहलाए।

श्रेयमाशनाथ सिंहपुरी (सारनाथ) के इक्ष्वाकुवंशी राजा वासुदेव अथवा विष्णुराज के पुत्र थे। राजा के पास एक अत्यत सुंदर सिंहासन था, जिस पर किसी प्रेत ने अधिकार कर लिया, इससे किसी की भी हिम्मत अब सिंहासन पर बैठने की न होती थी। किंतु रानी विष्णु की इस सिंहासन पर बैठने की अत्यंत प्रबल इच्छा थी। वह उस पर बैठी और उसका कुछ भी अनिष्ट न हुआ, इसलिए उसके पुत्र होने पर उसका नाम श्रेयमांशनाथ रक्खा गया।

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य चंपापुरी (भागलपुर) के इक्ष्वाकु राजा वसुपूज्य की रानी जयादेवी से उत्पन्न हुए थे। इन्द्र ने वसुपूज्य के प्रति अपनी 'वसु' मणि देकर श्रद्धा प्रकट की थी, इसलिए इनके पुत्र का नाम वासुपूज्य हुआ।

तेरहवे तीर्थंकर विमलनाथ माने जाते हैं। ये कपिलपुर (फर्रुखाबाद) के राज्य के थे। इनका चिह्न वाराह है। इनकी माता विमलबुद्धि की थीं।

चौदहवें तीर्थंकर अनतनाथ अयोध्या के रहनेवाले थे। इनके पिता सिंहसेन थे। माता सुजसा थी। इनके प्रभाव से अयोध्या मे एक बड़ा विस्तृत सूत बीमारियों को दूर करनेवाली शक्ति से पूर्ण हो गया, इसलिए ये अनतनाथ कहलाए। इस नामकरण का एक कारण यह भी था कि माता को अनत रत्नों की माला के दर्शन हुए थे।

पद्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ हुए। यह रत्नपुरी के इक्ष्वाकुवशीय क्षत्रिय राजा भानुराज की सुव्रता रानी से उत्पन्न पुत्र थे। माता-पिता की धर्मवृत्ति पुत्र होने से पहले अत्यंत

प्रबल हो चली थी, इसलिए पुत्र का नाम धर्मनाथ पड़ा।

सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से उत्पन्न हुए थे। हस्तिनापुर में जब महामारी का प्रकोप हुआ तो अभिषिक्त जल से भूमि को सिंचित कर रानी ने अपने निवास की रक्षा की और पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र भारत का पहला चक्रवर्ती सम्राट् हुआ।

सत्रहवें कुंथूनाथ हस्तिनापुर में गजपुरी के राजा सूरजराज अथवा शिवराज की श्रीरानी अथवा श्रीदेवी से उत्पन्न इक्ष्वाकुवंशी पुत्र थे। अज (बकरी) इनका चिह्न है। इनकी माता को स्वप्न में रत्न की ढेरी (कुंथ) के दर्शन हुए थे। इसलिए वे कुंथूनाथ कहलाए।

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ थे, जिनका जन्म गजपुर (हस्तिनापुर) के राजा सुदर्शन की पत्नी देवी रानी के गर्भ से हुआ था। इनकी माता को स्वप्न में रत्नों के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम अरनाथ पड़ा।

मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। पूर्वजन्म में तीर्थंकर होने के लिए इन्होंने अपने पाँच सहचारियों सहित एक-सी साधना की। पाँचों साधकों से आगे बढ़ने के लिए बिना उन्हें बताए एक दिन उन्होंने उनसे अधिक उपवास व्रत किया। फलतः वे तीर्थंकर तो हो गए किंतु इस छल के कारण उन्हें स्त्री रूप लेना पड़ा। ये मिथिला अथवा मथुरा में कुंभराज अथवा राजा कुबेर के घर में प्रभावती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। देवी-देवताओं ने प्रभावती के मनोनुकूल सुमनों की माला दोहदावस्था में रानी को प्रदान की थी, इसलिए मल्लि (माला) से संबंधित होने के कारण इनका नाम मल्लिनाथ हुआ।

बीसवें तीर्थंकर मुनिव्रत हरिवंशीय क्षत्रिय थे और राजगृह के राजा सुमित्र अथवा सुमित्रराज के पुत्र थे। इनकी माता पद्मावती ने कठिन व्रत किए थे, इसलिए इनका नाम मुनिव्रत हुआ।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हैं, जिनका जन्म मिथिला अथवा मथुरा में हुआ था। नीलोत्पल अथवा अशोक इनका चिह्न है। इनके पिता राजा विप्र अथवा विजय जब युद्ध में लगे थे तब रानी विप्रा गर्भवती थी। रानी के दर्शन कराने से शत्रु ने युद्ध करना छोड़ दिया। वह नमित हो गया (झुक गया), इसलिए पुत्र का नाम नमिनाथ हुआ।

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि थे, जो सौरीपुर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता को काले रत्नों (अरिष्ट) के चक्र (नेमि) के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ हुआ। शंख इनका चिह्न है। इन्हें काठियावाड़ गुजरात में महाविष्णु अथवा वेत वृक्ष के तले मोक्ष-लाभ हुआ। ये बाल ब्रह्मचारी थे। राजमती अथवा राजल कन्या इनकी मँगतेरी थी। बारात के भोज के लिए मारे जानेवाले पशुओं की पंक्ति देखकर इन्हें विरक्ति हुई और कंगन तोड़कर यह वैरागी हो गए। यह देखकर राजमती भी संसार त्यागकर विरक्त हो गई।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं। भद्रबाहु-रचित कल्पसूत्र के अनुसार, जो कि ईसा से तीन सौ पूर्व वर्ष की रचना है, पार्श्वनाथ काशी के इक्ष्वाकु वंशी राजा अश्वसेन की बामा नामक रानी से उत्पन्न हुए थे, और हेमकोष के अनुसार कुशस्थल (दक्षिणी पांचाल) की राजधानी कान्यकुब्ज के राजा नरवर्मन की पुत्री प्रभावती से, जो कि हेमचंद्र के त्रिषष्टि शलाका ग्रंथ के नवम पर्व के आधार पर प्रसेनजित की बहिन थी, उनका विवाह हुआ था। राजकुमार पार्श्व प्रजा के प्रियपात्र थे। अपनी इस लोकप्रियता के कारण ही वह 'पुरिसादाणीय' (लोगों के प्रिय) के नाम से पुकारे जाते थे। तीस वर्ष की आयु में ही इन्हें विरक्ति हो गई और राज्य त्यागकर वह साधु हो गए। विशाला नामक पालकी पर बैठकर ये आश्रमपद उपवन में पहुँचे, जहाँ साढ़े तीन दिन तक व्रत रखकर इन्होंने संन्यास लिया और तिरासी दिन के ध्यान-तप के बाद चौरासीवें दिन इन्हें 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ। आठ गण और उनके गणाधार शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सौम्य, श्रीधर, वीरभद्र और यश इनके भक्त हो गए। आर्यदत्त के साथ सोलह हजार श्रमण थे, पुष्पकुला के साथ अड़तीस हजार भिक्षुणियाँ, सुव्रत एक लाख चौसठ हजार सामान्य गृहस्थ लोगों का मुखिया था और सुनंदा तीन लाख सत्ताइस हजार स्त्रियों की अधिनेत्री थी। ये सबके सब पार्श्वनाथ के अनुयायी हो गये।

पार्श्व के अनुसार ज्ञान, श्रद्धा और सदाचार ही मोक्ष प्राप्ति के सच्चे हेतु हैं। किंतु पहचान की आवश्यकता के लिए बाहरी बाना भी आवश्यक हो जाता है। श्रमण और गृहस्थों का धर्म एक-सा नहीं हो सकता। गृहस्थ के लिए अति कठोर साधना को निभा सकना अत्यंत कठिन है और सामान्य वस्त्रों की आवश्यकता श्रमणों को भी पड़ जाती है। साधना के मार्ग में श्रमणों को कठिन व्रत से काम लेना आवश्यक होता है। जन्म-मरण के दुःख से मुक्त होने के लिए संचित कर्मों का नाश करना अत्यंत आवश्यक है, जिसके लिए मनोयोगपूर्ण तप-ध्यान की

आवश्यकता है। इंद्रियदमन भी कम आवश्यक नहीं। मोह से मुक्त होना और इद्रियासक्तियों से बचना ये दो बातें ऐसी हैं जिनके बिना साधक का काम नहीं चल सकता। इसलिए प्रत्येक साधक के लिए पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—चार व्रतों का विधान किया था। प्रत्येक पार्श्वमतानुयायी को—और इस सप्रदाय में आने के लिए सभी के द्वार खुले हुए थे—चार प्रतिज्ञाएँ करनी होती थी—

(१) मैं प्राणियों की हिसा नहीं करूँगा (अहिंसा)।
(२) मैं सदा सत्य बोलूँगा (सत्य)।
(३) मैं चोरी नहीं करूँगा (अस्तेय)।
(४) मैं कोई संपत्ति नहीं रक्खूँगा (अपरिग्रह)।

पार्श्वानुयायी श्रमणों को अधोवस्त्र और उत्तरीय पहनने की अनुमति थी। सौ वर्ष की आयु भोगकर पार्श्वनाथ ने समवेत शिखर पर देवदारु अथवा घत वृक्ष के तले तिरासी साधुओं सहित मोक्षलाभ किया।

पार्श्वनाथ के लगभग दो सौ वर्ष बाद हमारे चरितनायक चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ। चौबीसों तीर्थंकरों में वर्द्धमान महावीर और पार्श्वनाथ ही ऐसे हैं, जिनकी ऐतिहासिकता में किसी को भी सन्देह नहीं और धार्मिक इतिहास में जिनका विशेष महत्व है।

वर्द्धमान महावीर का जन्म विदेह राज्य के गण-तन्त्र में कुंद-ग्राम नामक नगर में, सम्भवतः ईसा से ५७० वर्ष पूर्व, उस ग्राम के मुखिया सिद्धार्थ के घर त्रिशला क्षत्राणी के गर्भ से हुआ था। सिद्धार्थ इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे, कश्यप इनका गोत्र था और शाखा ज्ञात्रिक थी। त्रिशला वैनग्राम के वशिष्ठ-गोत्री मुखिया चेट्टक की बहिन थी। बौद्ध-साहित्य में महावीर को निगंठ नायपुत्त, नामपुत्त वा नाटपुत्र (निग्रन्थनाथपुत्र अथवा ज्ञातिपुत्र) कहा गया है। वैनग्राम वैशाली (वर्तमान बसाढ) के समीप था। बसाढ पटना से सत्ताईस मील उत्तर की ओर है। रागातीत होने के कारण बच्चे का नाम वर्द्धमान पड़ा। वीर, जिन, अरहत, शाशनायक, बुद्ध, वैशालीय और भगवत आदि शब्दों का प्रयोग भी साहित्य में महावीर के लिए मिलता है। चेट्टक का सम्बन्ध उस समय के बड़े-बड़े राज-घरानों से था। अजातशत्रु के अनुकरण पर चेट्टक ने भी अपना नाम जियशत्रु (जीतशत्रु) रक्खा था। त्रिशला के लिए साहित्य में लिच्छवीकुमारी, विदेहदत्ता, प्रियकारिणी, आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है और सिद्धार्थ के लिए श्रेयास और यशास शब्दों का। कुंदग्राम के लिए कुंदपुर अथवा कोल्लाग शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। सिद्धार्थ की दो और संतानें, जो महावीर से बड़ी थीं, नदिवर्द्धन और सुदर्शना थीं।

आचारांग सूत्र (२, १५, १६) के अनुसार महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। महावीर के जन्म के विषय में कल्पसूत्र तथा सूत्र कृदंग में अनेक विचित्र कथाएँ हैं। कल्पसूत्र के अनुसार पूर्वजन्म के वासस्थान पुष्पोत्तर से उतरकर जब महावीर ससार में आने लगे तो उनकी आत्मा ने ब्राह्मण रिषभदत्त की धर्मपत्नी देवानन्दा के गर्भ में प्रवेश किया, किन्तु कोई भी तीर्थंकर ब्राह्मण के घर में नहीं पैदा हुआ था, इसलिए शक्र (इन्द्र) ने देवानदा के गर्भ को लिच्छवि राजकुमारी के गर्भ में प्रविष्ट करवा दिया।* इस अवसर पर त्रिशला को एक-से-एक विचित्र स्वप्न हुए। उसे चौदह अथवा सोलह स्वप्न हुए। इन स्वप्नों में उसने क्रम से उज्वल गौरवर्ण हाथी, शुभ्र बैल, श्वेत सिंह, हाथीपूजित श्वेतकमलासीन लक्ष्मी, मंदार-माला, अन्धकार को चीरते चन्द्र, दिव्य सूर्य, मोरपंख से युक्त सुवर्णमयी इद्रध्वजा अथवा युगल मत्स्य, जलभरा सुवर्ण-घट अथवा रत्नजटित पुष्पयुक्त कलश-युग्म, भौंरों से विभूषित कमल-सरोवर, लहराता हुआ दूध का सागर, लाल-मणिजटित दिव्य सिंहासन, पुष्पविभूषित रत्नजटित स्वर्गीय शय्या, पाताललोक के अधीश्वर देवता, मेरुपर्वताकार रत्नमंजूषा तथा होमाग्नि प्रज्वलित अग्नि को देखा। देवज्ञों ने इन स्वप्नों का अर्थ लगाकर बतलाया कि बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट् होगा या विश्वकल्याणकारी महान् तीर्थंकर।†

---

* बुद्ध के जन्म के विषय में भी इस प्रकार की कहानी बौद्ध साहित्य में है। दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा इत्यादि दश परिमिताओं की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद स्वर्ग में बुद्ध जब बुद्धत्व के पूर्ण अधिकारी हो गए तो पृथ्वी पर मानव रूप में जन्म लेने के लिए उपयुक्त देश, समाज, जाति आदि चुनने की सोचने लगे। उन्होंने मगध देश के अंतर्गत शाक्य भूमि और इक्ष्वाकु क्षत्रिय-वश ही चुना। ब्राह्मणों के एकांतिक विरोध में, अध्यात्म-विद्यामूलक क्षत्रियो में उठी हुई चेतना की सुदृढ लहर का पता इन कथाओं से चलता है।

† बुद्ध तथा अन्य तीर्थंकरों की माताओं के द्वारा भी इस प्रकार के स्वप्न देखे जाने की बात साहित्य में मिलती है। लोकविश्वास की समान ध्वनि की सूचना भी इससे मिलती है।

स्वप्नों की यह कथा उस लोक-पुकार को ध्वनित करती है, जो किसी दुःखनिवारक महान् धर्म संस्थापक क्रांतिकारी के जन्म की कामना कर रही थी।

पुत्र की उत्पत्ति पर बड़ा आनन्द मनाया गया। क़ैदी मुक्त किये गये। भूमि, अन्न, धन दान किए गए।

तीन दिन का होने पर बच्चे को चन्द्र-सूरज दिखलाये गये। छठे दिन छठी संस्कार हुआ। बारहवें दिन बड़े समारोह और प्रीतिभोज के साथ बालक का नाम ऐश्वर्य-वृद्धि के कारण 'वर्द्धमान' रक्खा गया। किंतु देवताओं ने महावीर नाम रक्खा, जो कि लोगों में प्रचलित हुआ। अनश्रुति के अनुसार महावीर जब गर्भ में सीधे रहे तो माता को सन्देह हुआ और वह दुःख मानने लगी कि कोख शायद इस बार खाली रह गई है। तब दुःखी माता को प्रसन्न करने के लिए महावीर हिले डोले और उन्होंने निश्चय किया कि माता-पिता के जीते जी वह घरबार नहीं छोड़ेंगे।

बाल्यकाल में अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य महावीर ने किए। इन कथाओं का विशद वर्णन जैन-साहित्य में मिलता है। आठ वर्ष की अवस्था मे इन्हें विद्याध्ययन के लिए पाठशाला में भेजा गया। हेमचंद्र (सन् १०८८ ई० से सन् ११७४ ई० तक) के "त्रिसष्टिशलाका पुरुष-चरित्र" के अनुसार पूर्वसंस्कारों के कारण स्वतः ही महावीर सर्वविद्यासम्पन्न हो गए। उन्हे पाठशाला की शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं हुई।

दिगंबरों के अनुसार महावीर ब्रह्मचारी ही रहे, किन्तु श्वेताम्बरों के आचारांग सूत्र (२, १५) के अनुसार महावीर का विवाह कुंडिन्यगोत्र की यशोदा नामक कन्या से हुआ था, जिससे उनकी अणोज्जा (अनुजा) नाम की पुत्री भी हुई थी, जिसका विवाह जमालि से हुआ था। जमालि बाद को महावीर के अनुयायी हुए। जमालि की अनुजा से एक पुत्री हुई थी, जिसके शेशवती और यशोवती ये दो नाम थे।

महावीर का यौवन काल बड़े आनंद और सुख से बीता। जब वह अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब इनके माता-पिता का देहांत हो गया। भाई तथा जनता के नये दुःख के खयाल से महावीर कुछ और समय तक घर में रुके रहे, पर तीस वर्ष के होने पर उन्होंने कुटुंबियों की अनुमति लेकर परिवार त्याग साधु-जीवन अपना लिया। कल्प-सूत्र के अनुसार इस समय उन्होंने तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान कीं। अपने दोनों हाथों से स्वयं केश नोचकर उन्होंने अपना केशलोचनसंस्कार किया और पार्श्वनाथ-संप्रदाय में दीक्षित होकर प्रतिज्ञा की कि बारह वर्ष तक मैं अपने शरीर की चिंता न करूँगा और महान् शक्तियों से आई हुई सभी आपदाओं को बिना किसी विरोध के स्वीकारूँगा। अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग ५६३ ई० पूर्व की है, किंतु विद्वानों ने महावीर का जो समय-अनुसधान किया है, उसके हिसाब से ५४० ई० पूर्व की होनी चाहिए। कुंडनग्राम के बाहर के वन में अशोक वृक्ष के नीचे महावीर ने ढाई दिन उपवास कर पहली दीक्षा ली। शरीर सुखाकर जीवन-मरण के दुःख-चक्रों से निर्वाण पाना ही इस घोर तप का उद्देश्य था, जिसे महावीर अपना रहे थे। कई दिनों तक जल भी उन्होंने नहीं पिया। उन्होंने अपनी सब सपत्ति दे डाली। कहा जाता है कि इस समय इंद्र ने उन्हें वस्त्र दिये और देवताओं तथा विश्रमण देव ने साक्षी दी। महावीर को मति-ज्ञान, श्रुति-ज्ञान और अवधि-ज्ञान पहले से ही था। अतः वे अब मनः-पर्याय और केवल-ज्ञान की प्राप्ति मे लग गए, ऐसा श्वेतांबरों का कथन है। किंतु दिगंबरों के अनुसार छः महीने के योग और निश्चेष्ट समाधि के बाद भी जब वे इन दो ज्ञानों को नहीं प्राप्त कर सके तो वे कुलपुर गये, जहाँ के राजा कुलाधिप ने उन्हें भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित किया, उन्हे दूध और भात भोजन में दिया, जिसका पारायण बड़ी प्रसन्नता से महावीर ने किया। इसके उपरांत वन में लौटकर घोर तप उन्होंने किया, फिर भी ज्ञान सिद्ध न हुआ। तब वे उज्जैन चले गये, जहाँ शिव-मन्दिर में उन्होंने घोर तप किया। महादेव-पार्वती ने अनेक परीक्षाएँ उनकी लीं, पर सब प्रकार से महावीर अडिग रहे और अब तप योग के बाद उन्हें मनःपर्याय ज्ञान सिद्ध हुआ। शांति-पूर्ण केवल ज्ञान की यह प्राप्ति, जिसके बाद वे अरिहंत, परमश्रेष्ठिन, अर्हत, जिन, तीर्थंकर और महावीर कहलाये, उन्हें पार्श्वनाथ पर्वत के समीप बहनेवाली रिजुपालिका नदी के तट पर स्थित जृंभक गाँव के एक किसान के खेत में बने एक पुराने मंदिर में हुई थी!

केवल-ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही महावीर घर-बार-सुख दुःख रहित सच्चे साधु बन पाये। साधु जीवन में उनकी रहनी क्या थी, इस विषय में जैन एकमत नहीं हैं। कुछ के अनुसार तेरह वर्ष तक कम-से-कम एक वस्त्र का उपयोग वे अवश्य करते रहे, जिसे अंत में सोमदत्त नामक किसी ब्राह्मण ने ले लिया। पार्श्वनाथ के अनुया-यियों में अनेक आध्यात्मिक जीवन-विरोधिनी दुर्बलताएँ भर गई थीं, इसीलिए पार्श्वनाथ ने उनका साथ छोड़कर
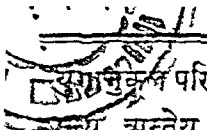
युगानुकूल परिवर्त्तन किए थे। पार्श्वनाथी चार व्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) के साथ महावीर ने पाँचवाँ व्रत ब्रह्मचर्य का और जोड़ दिया। पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्रों का उपयोग किया करते थे। महावीर ने इसकी आवश्यकता नहीं बतलाई।

पार्श्वनाथ और महावीर के अनुयायियों के पारस्परिक सबध का पता केशी-गौतम सवाद से चलता है। केशी पार्श्वनाथ का अनुयायी था और गौतम (इद्रभूति) महावीर का। श्रावस्ती के तिंडुक और कोष्ठक वनों में दोनों क्रमशः रहा करते थे। दोनों के पर्याप्त सख्या में अनुयायी भी थे। केशी के सिद्धातों की व्याख्या करते हुए गौतम युगोचित परिवर्त्तनों की आवश्यकता बतलाता है और पंचम व्रत की भी पुष्टि करता है। उसके अनुसार बाह्य चिह्न ही सब कुछ नहीं हैं—सद्ज्ञान, सद्विश्वास और सदाचार का महत्व मोक्ष मे प्रमुख है। पर पार्श्व-मतावलंबी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे थे।

महावीर सभवतः ६ वर्ष तक आजीविक संप्रदाय के प्रमुख समर्थक मंखलिपुत्र गोशाल के भी संपर्क में रहे। आजीविक संप्रदाय के सिद्धान्तों का पता अशोक के शिलालेखों, दशरथ के दानपत्रों, बराबर तथा नागार्जुन की पहाडियों के शिलालेखों, भगवती-सूत्र, मज्झिमनिकाय, सुत्तपिटक निद्देश, उवासगदशाओ, दीघनिकाय, विनयपिटक, जैनसूत्रों तथा चीनी और जापानी भाषा के 'आसीकि दर्शन' आदि से चलता है।

ग्रीस के इपिक्यूरियन तथा भारत के चार्वाकों की भाँति इनके सिद्धांत भौतिक भोगवादी थे। नियतिवाद को अकर्मण्य बना देनेवाली विचारधारा सिद्धात रूप मे ही नही, व्यावहारिक रूप में भी इनमें प्रबल थी। यद्यपि समय समय पर ये लोग भी नियम से तप-उपवास आदि करते और मासमदिरा-मोहिनी से दूर रहने का यत्न करते थे, किंतु अन्य समयों मे अपनी अतृप्त लालसाओं की पूर्ति ये अति की सीमा तक कर लेते थे। इनके अनुसार दुनिया में न उत्थान है, न कर्म है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषकार है, न पराक्रम है, सब बातें पहले से ही नियत हैं। मज्झिमनिकाय के सचक गौतम प्रसग से पता चलता है कि ये लोग नगे रहा करते थे। शीतल जल का उपयोग, अन्न ग्रहण करना, अपने लिए विशेष रूप से तैयार की गई वस्तु स्वीकार करना, तथा स्त्रियों का सहवास आदि इन आजीविकों में वर्ज्य नहीं था। स्वयं मंखलिपुत्र गोशाल भी नाचने-गाने, शराब पीने, और भोग-विलास मे अपना समय बिताया करता था।

इन्हीं दुराचारी कृत्यों तथा अहितकारी विचारों के कारण महावीर ने इस सप्रदाय का सपर्क त्याग दिया था और एक समय गोशाल को खूब फटकारा भी था। भगवती सूत्र से पता चलता है कि श्रावस्ती में महावीर तथा उनके अनुयायियों से गोशाल ने युद्ध भी किया, किंतु अंत में वह महावीर का अनुयायी हो गया। इसी भाँति चडकौशिक भी महावीर का शिष्य हुआ।

उनका सबसे पहला शिष्य गौतम इन्द्रभूति नामक एक कर्मकाडी ब्राह्मण हुआ, जिसके विषय में अनेक कहानियाँ चलती हैं। एक कहानी यह है कि गौतम अपने दश भाइयों सहित पावा (अपापा) नगर में यज्ञ में पशुबलि करनेवाला था। इस समय महावीर भी वहाँ थे। महावीर ने उस हिंसक यज्ञ का घोर विरोध किया, जिससे इन्द्रभूति और उसके दशों भाई महावीर से विवाद करने लगे। महावीर से सभी प्रश्नों का शात, संतोषजनक उत्तर उन्हे मिला और फलतः वे दशों महावीर के शिष्य हो गये और आगे चलकर महावीर के संघ के दश प्रधान गणाधार बने। दूसरी कथा के अनुसार किसी ब्राह्मण ने एक श्लोक का अर्थ पूछा, जिसे कि उसने महावीर से सुना था और जिसमें काल, द्रव्य, पचअस्तिकायातत्त्व और लेश्य जैसे जैन पारिभाषिक शब्द थे। गौतम इनको समझने के लिए महावीर के पास गया और उनका शिष्य हो गया। इसके पाँच सौ अनुयायी थे। भाइयों और इन अनुयायियों सहित वह महावीर का सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रधान शिष्य बन गया। उत्तराध्यायन में महावीर ने इन्द्रभूति को जो उपदेश दिया था, उसका विवरण इस प्रकार है। "जीवन वृक्ष से पत्तों की तरह झड़ जाएगा। कमलपत्र पर ओस की बूँद की भाँति वह क्षण-स्थायी है। कर्म के प्रभाव से मुक्त होने की क्षमता मनुष्य-योनि में ही जीव में आती है। मनुष्य-योनि अनन्त तपस्याओं के बाद मिलती है, इसे प्राप्त करने से पहले न जाने कितने युगों तक जड रूप में जल, पत्थर, वृक्ष, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत, नरक आदि की योनियों मे जीव भटकता रहा होगा। स्वर्ग मे जन्म लेने से भी विशेष लाभ नहीं। केवल मानव-योनि ही ऐसी है, जिसमें आकर जीव अपना मोक्ष साध सकता है। गौतम, तुमने जीवनधारा के अथाह सागर को लगभग पार कर लिया है, केवल किनारे पर अब पहुँचना शेष है। तब क्यों समय नष्ट कर रहे हो? बुढापे के आने पर शक्तियाँ क्षीण हो जाएँगी। सुख-दुःख से परे कर्म-बन्धनों से मुक्त केवल दशा के ज्ञानवान जीवन की सिद्धि में

लगने का अब समय है, क्यों नहीं इस महान् कार्य में लग जाते ?" इस उपदेश का इतना गहरा प्रभाव गौतम पर पड़ा कि वह महावीर का अनन्य भक्त हो गया। पर कल्पसूत्र का कहना है कि आजीवन महावीर पर उसका राग बना रहा। अतः महावीर के निर्वाण के बाद ही उसे सच्चा ज्ञान हुआ और उसने केवल-ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया।

गौतम ने बानवे वर्ष की अवस्था में राजगृह में मोक्ष पाया। इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बारह वर्ष बाद तक वह जीवित रहा। उसकी जीवन अवधि ई० पूर्व ५४८ से ई० पूर्व ४५६ तक आती है। अनुश्रुति के अनुसार यह तिथि ई० पूर्व ६०६ से ई० पूर्व ५१४ तक निकलती है।

गौतम को दिये गये उपदेश से महावीर के सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है, पर वे अधिक स्पष्ट मज्झिमनिकाय में आये महानाम-बुद्ध प्रसंग से होते हैं, जहाँ महावीर निग्रथों को उपदेश देते हुए कहते हैं—"निग्रथों, तुमने पूर्व जन्म में पाप कर्म किए हैं, उनकी इस घोर तपस्या से जड़ ही उखाड़ डालो। मन, वचन और काया की समवृत्ति से नये पाप नहीं बनते और तपस्या पुराने पापों को क्षीण करती है। इस प्रकार पुराने पापों के क्षय और नये पापों के रुकाव (संवर) से आयति रुक जाती है। आयति रुक जाने से मनोयोग में स्थिति होती है और धीरे-धीरे पुरातन कर्मों का क्षय होता है, जिससे वेदना से परे की भूमि में मनुष्य जा पहुँचता है।"

कल्पसूत्र में बतलाया गया है कि सांसारिक जीवन को त्यागने के बाद महावीर ने पहली वर्षा आस्थिक ग्राम में, तीन वर्षाएँ चंपा में, बारह वैशाली तथा बनिज ग्राम में, चौदह राजगृह तथा नालंदा के आस पास, छः मिथिला में, दो भद्रीक में, एक अलभीक में, एक पुनीत भूमि में, एक श्रावस्ती में और एक पावा (चंपा) में राजा हस्तिपाल के रस्थागार में बिताईं। पावा की वर्षा अंतिम वर्षा थी। वहीं ई० पूर्व ५२६ में उन्होंने निर्वाणलाभ किया। परंपरा के अनुसार ७२ वर्ष की महावीर की जीवन-अवधि है और ई० पूर्व ५९९ में उनका अवतरण माना जाता है। किंतु इतिहास के कुछ तथ्य इसके विपरीत जाते हैं, अतः उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। अजातशत्रु बुद्ध के निर्वाण से आठ वर्ष पूर्व अपने पिता को मारकर गद्दी पर बैठा था। इस हिसाब से इस समय बुद्ध की अवस्था बहत्तर वर्ष की थी, क्योंकि बुद्ध की कुल जीवन-अवधि अस्सी वर्ष की रही। बिंबिसार से गौतम ने पहली भेंट बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद पैंतीस वर्ष की अवस्था में की थी। इस समय बिंबिसार को राज्य करते पंद्रह वर्ष हो गये थे। इसलिए बिंबिसार के राज्यारोहण के समय गौतम की आयु बीस वर्ष की थी। बौद्ध साहित्य के अनुसार बिंबिसार गौतम से पाँच वर्ष छोटे थे, इसलिए राज्यारोहण के समय बिंबिसार की अवस्था पंद्रह वर्ष की थी।

इतिहास की नवीनतम खोजों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-काल ईस्वी पूर्व ३२५ से आरंभ होता है। चंद्रगुप्त ने चौबीस वर्ष राज्य किया और बिंबिसार ने अट्ठाईस वर्ष। इसलिए अशोक का राज्य-काल चंद्रगुप्त के बावन वर्ष बाद ई० पूर्व २७३ से आरभ होता है। सिंहली बौद्ध-ग्रन्थ महावंश के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक राज्यारंभ के चार वर्ष बाद और बुद्ध निर्वाण के दो सौ अट्ठारह वर्ष बाद हुआ। इसलिए अशोक का राज्याभिषेक ईस्वी पूर्व २६९ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण ई० पूर्व ४८७ में। इस आधार पर बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५६७ में और बिंबिसार का ई० पू० ५६२ में हुआ। ई० पूर्व ५४७ में बिंबिसार गद्दी पर बैठा। ५३२ ई० पूर्व पहली बार बिंबिसार बुद्ध से मिले थे। बुद्ध के जीवन-काल में सैंतीस वर्ष बिंबिसार ने राज्य किया। इसलिए ई० पूर्व ४९५ में बिंबिसार को मारकर अजातशत्रु गद्दी पर बैठा।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध, महावीर और कुणीक (अजातशत्रु) समसामयिक गिनाये गये हैं। इतना ही नहीं दीघनिकाय के पासादिक सुत्त (३—६) में शामगाम में चुंद वर्षावास के दिनों में आनंद को समाचार सुनाता है कि पावा में अभी-अभी निगंठ नाथपुत्र (महावीर) का अवसान हुआ है और निगंठों में फूट फैलने लगी है और आनंद जाकर इस समाचार को गौतम को सुनाते हैं। महावीर की मृत्यु के ताजे समाचार की सूचना इसी ग्रंथ में पावा के मल्लों को (परियाय सुत्त ३—१०में) सारिपुत्र देते हैं। इस प्रसंग से यही पता चलता है कि गौतम अब अत्यंत वृद्ध हो चले हैं। कमर पिराने से अधिक समय तक उपदेश नहीं दे सकते। दीघनिकाय के महावग्ग के महापरिनिर्वाण सुत्त के चुंद (कर्मार=सुनार) के अंतिम भोजन-प्रसंग से यह भी अनुमान हो सकता है कि चुंद ने इसी अवसर पर निगंठ की मृत्यु का समाचार आनंद को सुनाया होगा। इस भोजन के उपरांत कुछ ही दिनों बाद गौतम को निर्वाण-लाभ हुआ था। इसलिए ई० पूर्व ४८७ में ही संभवतः महावीर का भी निर्वाण हुआ।

बौद्ध-साहित्य में प्रसेनजित एक स्थल पर महावीर को
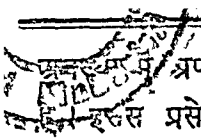
[illegible] अपने से बड़े और बुद्ध को समवयस्क बतलाते [illegible] प्रसेनजित का भी जन्म ई० पूर्व ५६७ मे होना चाहिए। प्रसेनजित को स्पष्ट रूप से यह कहने की आवश्यकता पड़ी कि महावीर उम्र में बड़े हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इतना अधिक अंतर दोनों की अवस्था में न रहा होगा कि भेद स्पष्ट पहिचाना जा सके। दोनों में दो तीन वर्ष तक का अतर हो सकता है। इसलिए महावीर का जन्म गौतम के जन्म से तीन वर्ष पूर्व यदि मानें तो ई० पू० ५७० में उनका आविर्भाव होना चाहिए।

उत्तरकालीन जैन-साहित्य में महावीर के जीवन कार्यों का जो व्यौरा मिलता है, उससे महावीर की जीवन-अवधि बहत्तर वर्ष की आँकी जाती है, किंतु ऊपर के आधार पर उनकी अवस्था लगभग तिरासी वर्ष की निकलती है और जीवन-अवधि ई० पू० ५७० से ई० पू० ४८७ तक आ जाती है। परम्परा के अनुसार महावीर का अवसान आसोज कृष्णपक्ष अमावस को हुआ था। किंतु यदि हेमचद्र की परपरा को माना जाय तो महावीर की जीवन-अवधि ई० पू० ५४५ से ई० पूर्व ४६८ तक आती है। और विक्रम-सबधी जैन-साहित्य के आधार पर वही ई० पूर्व ६१८ से ई० पू० ५४६ तक आती है।

अब यदि पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के आविर्भाव-काल का अतर एक सौ अठत्तर वर्ष ठीक है और पार्श्वनाथ ने सौ वर्ष की आयु भोगी तो पार्श्वनाथ की जीवन-अवधि ई० पूर्व ८४८ से ७४८ तक आती है।

जैन सिद्धान्तों का सुसगठित सबद्ध रूप से लेखा ईस्वी पूर्व तीन सौ से आरंभ होता है। इसलिए उन रचनाओं में अपने समय तक की क्रियाशीलता का पता चल सकता है। सभवतः ऐसा सबसे पहला यत्न भद्रबाहु ने चद्रगुप्त मौर्य के समय मे किया था। भद्रबाहु के साथ चद्रगुप्त मौर्य भी दक्षिण की ओर चला गया था। मैसूर के श्रवण वेलगोला स्थान के शिलालेख इस बात की ओर सकेत करते हैं। और यहीं चद्रगुप्त की मृत्यु हुई थी। चद्रगुप्त का जैनधर्म स्वीकार करने का यह एक प्रबल प्रमाण है।

बौद्धों और जैनों की विचारधारा ने उन विश्वासों पर आघात किया था, जिसमें सामान्य जनता के युगों के संस्कार संचित थे। बौद्धों का मध्यम मार्ग राजाओं को अधिक रुचिकर हुआ था सही, किन्तु उसकी व्यापकता तथा आतरिक दुर्बलताओं ने उसे कालान्तर में भारत से बाहर जा खदेड़ा। 'सब मनुष्य समान हैं, राजा होने से अच्छा तो मनुष्य होना है' की विचारधारा अधिक समय तक उच्च वर्गों और राजाओं को भली नहीं लग सकती थी। वेदों, देवी-देवताओं और अहिंसा में उन्हें युगों से विश्वास था। ब्राह्मणों की मान्यता को भी वे मानते थे। इहलोक और परलोक दोनों को बनाने की चाह उन्हें थी। वर्ण-व्यवस्था के बिना उनका काम नहीं चल सकता था। अवतारवाद, जादू-टोना, मन्त्र तन्त्र में लोकजीवन का सहज विश्वास था। जीवन की बदली हुई परिस्थितियों में बौद्ध धर्म जब युग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सका तो उसका घोर विरोध भारत मे किया गया और यहाँ से बाहर जाते जाते वह अपनी काया ही पलट गया। यवनों के आक्रमण ने उसकी रही-सही जड़ें भी काट डालीं और भारत से बौद्ध धर्म गायब ही हो गया।

जैन-धर्म की लहर भी ब्राह्मण-धर्म की एकच्छत्र एकांगी सत्ता के विपरीत उठी हुई प्रतिक्रिया थी सही, किन्तु प्राचीन वैदिक धर्म के मेल मे होने से वह अतिवादी न थी। वेदों की सत्ता न मानने पर भी जैन ब्राह्मणों द्वारा खदेड़े नहीं गये, क्योंकि जैनों ने हिन्दुओं और खासकर ब्राह्मणों के देवताओं की अवहेलना नहीं की थी। अम्ब, अम्बरस, शाम, सबल, रुद्र,, महारुद्र, महाकाल, असिपत, धनु, कुंभ, महाघोष, खर स्वर, असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, दीपकुमार, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, ज्योतिषी, विमानवासी, तिर्यक, जाम्बूक, और लोकन्तिक, आदि आदि अनेक प्रकार के देवता उनमें माने जाने लगे थे। जाति-पाँति की विशेष परवाह न करने पर भी ब्राह्मणों के क्रोधभाजन जैन लोग न हुए, क्योंकि उन्होंने जन्म, विवाह, मृत्यु, आदि के सस्कारों तथा मन्दिरों की पूजा में ब्राह्मणों की क्रियाओं को रहने दिया, उसमें दखल न दिया। केवल धर्म के सिद्धांतों और दर्शनशास्त्र को जैन साधु अपने हाथ में रखते थे। दर्शन में भी प्राचीन कर्मवाद और जन्मांतरवाद उन्होंने अपना लिए थे। इन सब कारणों से भारत में उनका विरोध नहीं हुआ और जैन धर्म जीवन का शक्तिदायक अग बना रहकर भारत में जीवित रह सका।

दर्शन ज्ञान और आचार के साथ अहिंसा तत्व, कर्मवाद और जन्मांतरवाद को मिलाकर जीव की नैसर्गिक अनंत सामर्थ्य और अनंत सौख्य का आशामय सदेश तथा स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा तीर्थंकरों तथा जैन धर्म की महत्वपूर्ण देन है। काल्पनिक देवत्व पर मनुष्यत्व की यह विजय दुःखपूर्ण विश्व के लिए एक अमृत संजीवनी है।